श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन

छठा, सातवां, आठवां, दसवां, ग्यारहवां भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक :—

खेमचन्द जैन, सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उत्तर प्रदेश)

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स,
संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी
श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	,,	सेठ भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,,	सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर	मेरठ
१७	,,	मंत्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन, संघी,	जयपुर
२२	,,	मत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, जैन	गिरिडीह
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,,	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर

२७	श्रीमान	मुसद्दीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२९	,,	दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर,	कानपुर
३०	,,	मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	,,	संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमक की मंडी,	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,,	मक्खनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,,	मो०हड्डमल श्रीपाल जी, जैन, जैन प्रेस	सहारनपुर
३६	,,	बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,, ❀	गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
३९	,, ❀	बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	कूमरीतिलैया
४०	,, ❀	इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४१	,, ❀	सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या,	जयपुर
४२	,, ❀	बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
४३	,, ❀	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४४	,, ×	जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
४५	,, ×	जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट:—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यता का रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ।। १ ।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।। २ ।।

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।। ३ ।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ।। ४ ।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।। ५ ।।

नियमसार प्रवचन सप्तम भाग

[प्रवक्ता:— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज]

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं ।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥१॥

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥६५॥

प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यानका पूर्वापर सम्बन्ध— परमार्थप्रतिक्रमणाधिकारके पश्चात् निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार कहा जा रहा है। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानका ऐसा निकट सम्बन्ध है कि प्रत्येक विवेकी पुरुष किसी दोषके प्रति जो चिंतन करता है, उसके रूपप्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानके रूपमें क्रमशः आ जाया करते हैं। प्रतिक्रमणका अर्थ है लगे हुए दोषोंको मिथ्या करना और प्रयाख्यानका अर्थ है आगामीकाल में उन दोषोंको न लगने देना। पूर्णतः संक्षिप्तरूप यह है कि जैसे किसी पुरुषसे पहिले बहुत अपराध हो गया है और जिस अपराधका फल उसके सिर पर आ पड़ने वाला है तो वहां वह यह कहता है कि मैंने बहुत बुरा किया, अब ऐसा न करूँगा। किसी दोषके प्रति जो यह भावना होती है कि मैंने बहुत बुरा किया, अब न करूँगा, यह प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानकी झलक है। प्रतिक्रमणमें यह भावना भी भीतर में पड़ी हुई रहती है कि बुरा तो मैंने किया, पर यदि बुरा न करता तो मेरी कुछ अटकी न थी, मैंने व्यर्थ ही बुरा किया, अब ऐसा न करूँगा। मैं न करता दोष तो क्या ऐसा निर्दोष रह नहीं सकता था? रह सकता था। विशुद्ध शांत रहना तो मेरी निजकी बात है; किन्तु किन्हीं परिस्थितियों और कुबुद्धिवश ऐसा कर गया। ठीक नहीं किया, वह मेरा मिथ्या हो अर्थात् जो मेरे अंतरंगमें न किये जानेकी स्थिति का चिंतन है, वही हो; मेरे दोष मिथ्या हों, अब मैं ऐसे दोष कभी न करूँगा।

प्रत्याख्यानके आशयसे प्रत्याख्यानकी आवश्यकता— प्रतिक्रमणके बाद यह जो प्रत्याख्यानाधिकार चल रहा है, इसमें प्रत्याख्यानका वर्णन आएगा। प्रत्याख्यानके मायने त्याग है। आगामीकालमें इस दोषको न करूँगा अथवा अमुक चीजका ग्रहण न करूँगा, ऐसा जो वर्तमानमे सकल्प है, दृढ़ता है, उसे कहते हैं प्रत्याख्यान भाव। प्रत्याख्यान भावके बिना व्रत, तप, संयम, सर्वदीक्षाका जमाव नहीं रह पाता है। जिस पुरुषके वर्तमानमें तो त्याग है, पर भावीकालमें पाप करनेका आशय पड़ा हुआ है; उसके वर्तमानमें भी मूलतः निर्दोषता नहीं है। जिसे वैराग्य तो नहीं है। पर जैसे सभी लोग अनन्तचतुर्दशीका उपवास करते हैं, हम भी जैन हैं, हमें भी करना चाहिए, इससे कुछ अपनी गोष्ठीमें वातावरण भी बनता है और धर्म

करनेसे कुटुम्ब भी अच्छा रहता है। अतः उपवास तो ठान लिया, पर तेरसकी रात्रिसे पूनमके सुबहका बराबर ध्यान है, आएगा पूर्णिमाका दिन तो यह भी बनेगा, वह भी बनेगा, यह भी कर लेंगे, दूधका प्रबन्ध करना है, अमुक जगहसे लायेंगे, थोड़ा हलुवा बना लेंगे, काली मिर्चका काढा बना लेंगे—सारे प्रोग्राम अभीसे बसे हुए हैं। उसके उस वर्तमान उपवासमें कौनसी दृढ़ता है और कौनसी प्रशंसाकी चीज है? प्रत्याख्यानमें अवधि सहित भी त्याग होता है; पर अवधिके बाद में इस इस तरहकी प्रवृत्ति करूँगा, इस प्रकार प्रत्याख्यान के विरुद्ध कोई विकल्पजाल न उठाये तो वहां वर्तमान प्रत्याख्यान ठीक चल रहा है।

विभावविजयमें प्रत्याख्यानकी प्राथमिकता— प्रत्याख्यानका भाव तो प्रथम होना ही चाहिए। वर्तमान त्यागकी दृढ़ता प्रत्याख्यान भावके बिना नहीं आ सकती। इसकी तो यों शोभा समझिए कि जैसे युद्ध करने वाली सेनामें जो विजय-पताका होती है, उस विजय-पताकाका आधार दण्ड है; इसी प्रकार व्रत संयम आदि द्वारा जो आत्मविजयकी पताका फहरायी जा रही है, उस विजय-पताकाका मूलआधार यह प्रत्याख्यान भाव है। आगामीकालमें दोषोंका न होने देना सो प्रत्याख्यान भाव है। प्रत्याख्यानका अर्थ है त्याग। जहां सकल संयम हो जाता है, ५ पापोंका सर्वथा त्याग हो जाता है, उसे भी प्रत्याख्यान कहते हैं। उस प्रत्याख्यानका आवरण करने वाला जो कषाय है, उसे प्रत्याख्यानावरणकषाय कहते हैं। इस प्रकरण के प्रत्याख्यानमें वह महाव्रतरूप प्रत्याख्यान भी गर्भित है और भविष्यकालमें कभी पाप न करेंगे, इस प्रकारकी दृढ़ता भी गर्भित है। साथ ही अवधिसहित मन, वचन कायकी प्रवृत्तियोंका त्याग करना, आहार-पानका तैयार करना; यह भी गर्भित है। वास्तविक प्रत्याख्यान तो समस्त रागद्वेषादि भावोंका त्याग करना है, ऐसे ही वास्तविक प्रत्याख्यानको लक्ष्यमें लेकर यह निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार कहा जा रहा है।

प्रत्याख्यानका अधिकारी— इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि जो मुनि समस्त वचनालापको छोड़कर भविष्यकालमें शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकारके भावोंका परित्याग करके, निवारण करके जो आत्माका ध्यान करता है, उस मुनिके यह निश्चयप्रत्याख्यान होता है। यह प्रत्याख्यान समस्त कर्मोंकी निर्जराका कारण है। प्रत्याख्यान बिना मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह तो मोक्ष-मन्दिरमें पहुंचनेके लिए सीढ़ीकी तरह है। मुक्तिमें होने वाली परमनिराकुलताके बर्तनेके लिए यह सर्वप्रथम उपाय है। निश्चय-प्रत्याख्यान भी उस पुरुषके सम्भव है, जिसने जिनमार्गके अनुसार विधिपूर्वक व्यवहारप्रत्याख्यानमें भी दक्षता पायी है। प्रत्याख्याना महामुनिके व्यवहारप्रत्याख्यानकी वृत्ति भी चलती है और उस सहज प्रत्याख्यानवृत्तिको करते हुए निश्चयप्रत्याख्यानकी ओर उनका चित्त रहता है।

व्यवहारप्रत्याख्यान--व्यवहारप्रत्याख्यानका स्वरूप है मर्यादारहित अर्थात् जीवनपर्यंत पापोंका परिहार करना और जो प्रवृत्तियां जीवनमें करनी आवश्यक हो गयी हैं, उनका कुछ अवधि तक परित्याग करना। जैसे मुनिजन आहार ग्रहण करते हैं, वे आहार ग्रहण करके ८ पहरके लिए तो त्याग कर ही देते हैं चारों प्रकारके आहारका। यदि भावना हुई तो दो दिन, चार दिन, पक्ष, मास आदिक अवधि लेकर भी त्याग कर देते हैं। आहार चार प्रकारका होता है--अन्न, पान, खाद्य और लेह्य। अन्न नामक आहार रोटी, दाल, भात आदिक हैं और पान नामक आहार दूध, पानी, शिकञ्जी, फलोंका रस आदिक हैं। खाद्य नामक आहार लड्डू, पेडा, बर्फी आदिक हैं, जो स्वाद भी प्रधानतासे रखते हैं और खाये जाते हैं। लेह्य नामक आहार चटनी, मलाई, रबड़ी आदिक हैं। इन चार प्रकारके आहारोंका मुनियोंके आठ

प्रहरके लिए तो त्याग ही है, यह उनका मूल गुण है, पर आत्मसाधनकी सुविधाके अनुसार वे अनेक दिनों तकको भी त्याग कर देते हैं। यह सब है व्यवहारप्रत्याख्यान।

मुद्रा और अन्तर्वृत्तिका महत्त्व— व्यवहारप्रत्याख्यान होते हुए निश्चयप्रत्याख्यानकी दृष्टि रहती है तो विधिपूर्वक व्यवहारप्रत्याख्यान बन जाता है। पर्यायबुद्धि रखकर कि मैं साधु हूं, मैंने साधुव्रत लिया है, मुझे भोजन करके फिर ८ प्रहरका त्याग करना चाहिए—ऐसी पर्यायबुद्धिकी प्रमुखतासे जो परिहार किया जाता है, उसे मार्गसहायक व्यवहारप्रत्याख्यान भी कैसे कहा जाए? वहां तो मिथ्यात्वकी वर्तना हो रही है। जहां पर्यायबुद्धिकी अज्ञानता चल रही है, वहां तो सम्यक्त्व भी नहीं है। वास्तवमें साधुपद तो होगा ही क्या? किन्तु दर्शक पुरुष किसी भी साधुकी बाह्यवृत्तिको ही निरखता है, उससे फिर अन्तर्वृत्तिको कुछ जानता है। हां, बाह्यवृत्ति भी इतनी अयोग्य दीखे कि जिससे अन्तरंग भावका स्पष्ट अनुमान हो जाए और उस अनुमानमें यदि साधुपद नहीं रहता है तो न मानेगा उसको साधुरूपमें। किसी भी साधुको निरखकर ऐसा अपनेको दूधका धुला माने कि पहिले मैं साधुकी परीक्षा करलूँ कि यह वास्तवमें साधु है या नहीं, पीछे इसकी सेवा करेंगे—ऐसा परिणाम श्रावकका नहीं होता है। जिस मुनिसे परिचय नहीं है और वह मुनि आज सामने आया है तो उसकी निर्ग्रंथमुद्राको निरखकर उसकी सेवा, वंदना करना कर्तव्य है। हां, आपको सेवा-वंदना करते हुएमें अथवा कुछ काल बाद आपको उसके मिथ्याभावका, खोटे आशयका पता पड़ जाए तो फिर आप उसकी उपेक्षा कर लो।

अन्यथा वृत्तिमें आत्मवञ्चकता— कोई साधु जैसे बाह्य आरम्भोंमें, परिग्रहोंमें आसक्त हो रहा हो, जिसने ज्ञान, ध्यान और तपकी साधनाको उपेक्षित कर दिया हो, जो स्वयं अपने आपको शांतिमें न रख सकता हो, जिसे निरन्तर विह्वलताएँ-चिंताएँ लग रही हों, जो थोड़ी-थोड़ीसी बातों पर दूसरोंसे झगड़ा करने लगता हो, जिसके भाषा समिति बिलकुल न हो, गाली-गलौज अथवा अन्य प्रकारसे असद्व्यवहार करता हो—ऐसी प्रवृत्तियोंको देखकर यह स्पष्ट अंदाज हो जाता है कि यह साधु नहीं है; किन्तु अपनी मान्यताके लिए अथवा अपने आरामके लिए साधुभेष ही रखा है। ऐसे साधुवोंकी सेवामें खुदकी ठगाई कर रहा है यह सेवक। चित्तमें तो नहीं बसा हुआ है कि यह मुनि है और लोकलाजके लिए अथवा लोग मुझे कहीं अधर्मी न कह दें, अनेक कारणोंवश सेवामें जुट रहा है। अतः वह सेवक अपने आपको ठग रहा है। जो ग्रन्थोंमें यह वर्णन है कि अनेक मुनि नरक निगोद जायेंगे और उनके सेवक भी नरक निगोद जायेंगे—ऐसी स्थिति उस वचककी हो जाती है, जो अपने आपको ठग रहा है और जो श्रावक अपने आपको ठग रहा है।

परम अहिंसाकी मूर्ति— साधु अहिंसाकी मूर्ति होते हैं। उन्हें संसार, शरीर और भोगोंसे परम वैराग्य होता है। साधुवोंकी धुन केवल एक आत्महितके लिए रहती है। उनकी यह आत्मा हर घड़ी सेकिण्डके बाद दृष्ट होता रहता है, जो चलते हुएमें भी परमध्यानस्थ हो जाते हैं, खाते हुएमें भी यदाकदा परमध्यानस्थ हो जाते हैं। छठे गुणस्थानका काल कुछ सेकिण्डोंका है और सप्तम गुणस्थानका काल उससे भी आधा है। कोई मुनि आहार कर रहा है तो उसे २०-२५ मिनट तो लगते ही हैं। २०-२५ मिनटके आहारमें की जाने वाली क्रियावोंके अन्दर-अन्दर कितने ही बार इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका ध्यान पहुंचता है। यह वृत्ति इतनी शीघ्र हो जाती है कि कोई ही मर्मदर्शी पुरुष यह अन्दाज कर सकता है कि इस समय इनका ध्यान उत्कृष्ट बन गया है। कोई भी उनकी क्रियावोंको निरखकर या उनकी मुद्राको देखकर साधारणतया नहीं परख सकते हैं। जिनका ज्ञान और वैराग्य इतना उत्कृष्ट है—ऐसे साधु-संत

जिस वातावरणमें, जिस स्थानमें विराजे हों, उस स्थानका वातावरण शांत निराकुलतापूर्ण हो जाता है। ऐसे साधुवोंकी उपासनामें, उनकी संगतिमें जो श्रावक अथवा साधु रहा करते हैं, वे भी इस लौकिक तत्त्वका दर्शन करके सफल हो जाते हैं।

परम गुरुका शरण— वास्तविक साधु, परमार्थतत्त्वका ज्ञाता, आत्महितका अभिलाषी मुनिराज तो हम सब लोगोंका परम गुरु है, पिता है, शरण है, सर्वस्व है, उसका ही सहारा सच्चा सहारा है। इस अशरण संसारमें भ्रमण करते हुए हम आपको सिद्धोंका सहारा तो क्या मिल सकता है; वे तो लोकके अन्तरमें विराजे हैं, उनका तो स्मरणमात्रका ही एक बड़ा सहारा है। वे अपन लोगोंसे न कुछ बात करते हैं और न हम आपको कुछ प्रेरणा देते हैं, उनकी ओरसे तो हम आप कुछ नहीं पा रहे हैं। अरहत भगवान जब कभी हों तब उनका सहारा है, बाकी तो उनका सहारा दिव्यध्वनिकी परम्परासे चला आया हुआ जो यह आगम है, उसकी उपासनाके रूपमें यह तो महान सहारा मिल रहा है; पर मैं विचलित होऊँ और अरहत आकर यह कहें, प्रेरणा दें कि तुम धर्मसे विचलित न होवो। जैसे कहते हैं कि हाथ पकड़कर सहारा देना अथवा कुछ उनसे चर्चा कर लें, यह बात हमें अरहंतकी ओरसे भी साक्षात् कहां मिल रही है ? ऐसा व्यवहार तो जब अरहंत भी विराजे हों, तब भी नहीं हो सकता। साक्षात् सहारा तो हमें गुरुजनोंका मिल रहा है।

गुरुकी निरपेक्ष उपकारशीलता— यदि कोई वास्तविक ज्ञान और वैराग्य गुणोंका निधान गुरु है तो वह हमारा निरपेक्ष बंधु है। अन्य मित्रजन तो किसी स्वार्थवश, किसी अपेक्षासे हमारे हितभरी बातें बोला करते हैं, वे अपनी बुद्धिके अनुसार हितभरी बातें बोलते हैं, परन्तु हितभरी बातें वे निकाल नहीं सकते। जो स्वयं स्वार्थी हैं, कुछ अपेक्षा रखते हैं—ऐसे पुरुष दूसरेके वास्तविक हितकी करने वाली बातें कह नहीं सकते हैं। ये संसार, शरीरभोगोंसे विरक्त ज्ञान, ध्यान, तपस्याकी धुन वाले गुरुजन हमारे निरपेक्ष बन्धु हैं। हम उनकी क्या उपासना कर सकते हैं, हम उनकी क्या सेवा कर सकते हैं ? जो उपकार गुरुजनोंके द्वारा अपना होता है, उसका बदला, सेवा हम लोग निभा नहीं सकते हैं। संसारमें सबसे महान् कार्य है संसार-संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा पानेका उपाय कर लेना। इससे बढ़कर अन्य कुछ सारव्यवसाय नहीं है। यह बात परमगुरुवोंके प्रसादसे प्राप्त होती है। वे परमगुरु हम लोगोंके वास्तविक शरण हो रहे हैं। ऐसे ये मुनि शुभ-अशुभ भावोंका निवारण करके शुद्ध अंतस्तत्त्वकी आराधनामें लगे रहते हैं। ऐसे साधुवोंके निश्चयप्रत्याख्यान होता है।

निश्चयत प्रत्याख्यानका आलोक— निश्चयसे प्रत्याख्यान नाम है समस्त द्रव्यकर्मोंका और भावकर्मोंका रुक जाना। द्रव्यकर्म तो हुआ पुण्यपापरूप १४८ प्रकारकी प्रकृतियां और भावकर्म हुआ शुभ अशुभ भावरूप असंख्यात प्रकारके विभाव। इन कर्मोंका रुक जाना सो प्रत्याख्यान है। द्रव्यकर्म और भावकर्मके रुकनेका उपाय एक है, वह है शुद्ध ज्ञानभावनाकी सेवा करना। यह आत्मा अपने आप अपने सत्त्वके कारण जिस स्वरूपरूप है, उसकी ही भावना रखना, यह है समस्त द्रव्यकर्म और भावकर्मके अभावका कारण। मोक्षमार्गमें केवल इसकी ही प्रमुखता है शुद्ध ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वके भावनाकी। मोक्षमार्गके प्रारम्भसे लेकर मोक्षमार्गके अन्त तक सर्वत्र इसका ही प्रसाद है, बीचमें जितने भी व्यवहार, व्रत, तप, संयम, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि जो कुछ भी किए जाते हैं, वे सब इस शुद्ध ज्ञानकी भावना रखनेके लिए किए जाते हैं। निराकुल दशा इस शुद्ध ज्ञानकी भावनामें ही होती है, अन्य किसी में नहीं।

शुद्ध ज्ञानप्रभुका मिलन— शुद्ध ज्ञानकी भावनाके लिए शुभ-अशुभ सर्वप्रकारकी वचनरचनावोंके विस्तारके त्यागकी आवश्यकता है। जब तक यह जीव वचनरचनाका परिहार नहीं करता है, तब तक वचनरचना किसी परको उपयोगमें लेनेके पश्चात् ही हो सकती है, अतः वचनरचनाका उद्यमी जीव बहिर्मुखताके निकट रहता है। जहा उपयोग अपने स्वरूपको त्यागकर किसी भी परपदार्थकी ओर लगा, वहां शुद्ध ज्ञानकी भावना नही रह सकती है। शुद्ध ज्ञान ही कारणसमयसार है और इस शुद्ध ज्ञानका शुद्ध विकास ही कार्यसमयसार है। लोग परमात्माके नाम पर यत्र-तत्र दृष्टि लगाए रहते हैं और उसे किसी आकारमे अमुक रंगके वस्त्रसे सजे हुए अमुक हथियार या साधन रखे हुए अमुक स्त्री-पुत्रके साथ बैठे हुए इत्यादि नानारूपमे परमात्माको निरखना चाहते हैं, पर निरखनेकी यह पद्धति बिलकुल विपरीत है। प्रभु तो ज्ञानविलासका नाम है। जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव है, जिसकी दृष्टिके प्रसादसे यह मोक्षमार्ग चलता है; वह तो है कारणप्रभु और उस शुद्ध ज्ञानस्वभावका जहा असीम शुद्ध विकास हो गया है, वह है कार्य-प्रभु। परमात्माका मिलन तब तक नहीं हो सकता है, जब तक हम अपने आपमें अपने आपको ज्ञानमात्र रूप निरखनेका उपयोग न करे। परमात्माका दर्शन कर लेना दर्शककी कलाका प्रताप है। वह अन्यत्र स्थित परमात्माकी कलाका प्रताप नहीं है।

प्रत्याख्यानकी पात्रता— जो पुरुष सर्वप्रकारकी शुभ अशुभ वचनरचनावोंको छोड़कर शुद्ध ज्ञानमात्र-आत्मतत्त्वकी भावनामें लगता है और इस भावनाके प्रसादसे शुभ अशुभ द्रव्यकर्म और भावकर्मका सम्वर करता है, वह पुरुष निश्चयप्रत्याख्यानस्वरूप है। उनके ही सदा प्रत्याख्यान रहता है, जो अन्तर्मुख परिणतिसे परमज्ञानकलाके आधारभूत इस अपूर्व आत्मतत्त्वको ध्याते हैं। प्रत्याख्यान निश्चयसे ज्ञातृत्व-भावका ही नाम है। परपदार्थोंका त्याग हो जाना तो उसका आनुषंगिक परिणाम है। इस जीवके साथ बाह्यवस्तु लगी ही कहां है, जिससे बाह्य वस्तुके त्यागका महत्त्व परमार्थसे दिया जाए? बाह्यवस्तुके सम्बन्ध में जो अहकार ममकारका संकल्प-विकल्प बनाए हैं, वह है आत्मामें लगी हुई परिणति। अतः अहंकार ममकारकी परिणतिका त्याग करनेका नाम प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यानका विधि व निषेधमुखेन वर्णन-- अहकार-ममकारविभावोंका परित्याग होना और ज्ञाता-दृष्टारूप परिणमन होना--ये दोनों एक साथ होते हैं। इसका कारण यह है कि विधि और निषेध ये केवल अपेक्षासे कही जाने वाली चीजें हैं। जैसे अगुली टेढ़ी हो और सीधी कर दी जाए तो उसको चाहे इन शब्दोंमें कह लो कि अंगुलीकी टेढ़ मिट गयी और चाहे इन शब्दोंमें कह लो कि अगुलीमें सीधा परिणमन हो गया। बात वहां एक है, उस एक ही विलासको हम विधि और निषेधसे कहते हैं। इस निश्चयप्रत्याख्यानमें जो आत्मविलास है, उसको चाहे यों कह लीजिए कि समस्त विभावोंका परिहार हो गया और चाहे यों कह लीजिए कि यह मात्र ज्ञातादृष्टारूप परिणमन कर रहा है।

ज्ञानरूप प्रत्याख्यान— अब जरा कुछ थोड़ासा विकल्प बनाकर आगे विचार कीजिए कि जो कोई पुरुष किसी भी परवस्तुका प्रत्याख्यान करता है, वह उन परवस्तुवोंको जानकर अहित जानकर ही तो त्यागता है। अतः उनको पर जान लेना, अहित जान लेना, भिन्न समझ लेना, असार ज्ञात कर लेना— ऐसा जो ज्ञानका विलास है, वह ही वास्तवमें प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान ज्ञानस्वरूप ही हुआ करता है। कोई कहे कि रागद्वेष छोड़ो, इसका अर्थ यह ही तो हुआ कि तुम केवल जाननहार रहो। जाननहार रहो, ऐसा कहनेमें व रागद्वेषसे परे रहो, ऐसा कहनेमें जो एक विलासका परिचय कराया गया है, वह वस्तुतः अवक्तव्य है। निश्चयसे प्रत्याख्यान ज्ञाताद्रष्टा रहनेका नाम है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानकी सन्धि— ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है कि जो दोष पहिले किये थे, वे दोष तो हो गए थे; मेरे स्वभावमें न थे। निमित्तनैमित्तिक भावसे हमारे अशुद्ध उपादानमें दोष प्रकट हो गया था; पर मूलमें मैं तब भी शुद्ध निरपराध ज्ञानस्वभावमात्र था। यों निरखने वालेके वे दोष आज उपयोगमें प्रतिष्ठा नहीं पा रहे हैं। यों प्रतिक्रमण भावको करके यह ज्ञानी यह दृढ़ संकल्प कर रहा है कि अब ये दोष, अब ये विभाव मुझमें न होंगे। मैं उन सब विभावोंका द्रव्यरूप, भावरूप कर्मोंका त्याग करके मोहरहित होता हुआ अपने चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मामें ही वर्तता हूं अर्थात् ज्ञातामात्र रहता हूं।

निष्कर्मकी निष्कर्मता— यह आत्मा निष्कर्म है अर्थात् न तो इसमें शुभ-अशुभ भावोंके रंग हैं और न मन, वचन, कायकी क्रियावोंकी, आत्मप्रदेशपरिस्पदकी तरंग है। नीरंग और निस्तरंग यह आत्मतत्त्व है। रंगीली चीजमें भी दर्शक का स्वरूप प्रतिभात नहीं होता और तरंग वाली चीज से भी दर्शक का स्वरूप प्रतिभात नहीं होता। किसी नदीका पानी यदि मैला है, समुद्रका पानी मैला है तो उस पानीमें दर्शकका मुख दर्शकको नहीं दिख सकता है। यदि पानी गदला न हो, किन्तु हवाके वेगसे उसमें बड़े वेगसे लहरें उठ रही हों तो भी उस जलमें दर्शकका मुख दर्शकको नहीं दिख सकता है। ऐसे ही इस जीवमें जब तक कषायोंका रंग लगा है, कषायोंके रंगसे यह ज्ञानसमुद्र मलिन बन रहा है तो इस ज्ञानसमुद्रमें इस ज्ञानमय आत्माका स्वरूप नहीं प्रतिभात हो सकता है। कदाचित् यह रंग भी न रहे, ऐसा कषाय भी न रहे, किन्तु तरंग रहे, अस्थिरता रहे तो उस अस्थिरतामें भी इस आत्माका पूर्ण विकासरूप शुद्ध झलक नहीं हो पाता। तब तो जो आत्मा रंगीला भी है और उसमें तरंग भी बहुत-बहुत उठ रही हैं, ऐसी मिथ्या परिणतिमें तो आत्मस्वरूपकी झलक ही कहांसे हो? यह मैं आत्मा निष्कर्म हूं, भावकर्मके रंगसे रहित हूं और मन, वचन, कायकी क्रियाएं अथवा आत्मप्रदेश परिस्पद इनकी तरंगोंसे भी रहित हूं, ऐसा यह मैं नीरंग ज्ञानसमुद्र हूं।

विचित्र और विकट समस्या— अहो देखो तो भया! विचित्रताको। यह दिखने वाला भी ज्ञान है और जो देखा जाने वाला है, वह भी ज्ञान है। एक ही पदार्थ है, पर कैसा मिथ्याजाल है कि उस एक ही पदार्थ के बीचमें भ्रमकी चादर पड़ी हुई है। कहां ऐसा अवकाश हो गया, कहांसे ऐसी गुञ्जायश निकल आयी कि एक ही पदार्थमें भ्रमकी चादर आड़े हो गई? कोई दो पदार्थ हों और उनके बीचमें कोई अन्तर वाली तीसरी चीज आ जाए वह तो लोगोंमें सुप्रसिद्ध हो जाता है, पर एक ही पदार्थ और उसके बीचमें एक भ्रम आड़े आ गया, जिससे यह उपयोग बहिर्मुख हो गया और यह अन्तस्तत्त्व तिरोहित हो गया, यह कितनी विचित्र बात है अथवा विचित्र भी कुछ नहीं है या इससे भी और विचित्र बात यह है कि यह भ्रम की चादर भी कहीं दूसरी-तीसरी चीज नहीं हो गयी, कहीं दूसरी तीसरी जगह नहीं आयी, यह ही भ्रम की चादर बन गयी। यह ही विमुख होता हुआ बहिर्मुख दर्शक हो गया और यह अपने आपमें तिरोहित अन्तस्तत्त्व तो बना हुआ है ही। ऐसी विकट समस्यामें पड़ा हुआ यह जीव अपनी सुध-बुधको भूलकर चारों गतियोंमें विषयचक्रको अपनाकर भ्रमण कर रहा है, दुःखी हो रहा है।

आत्मग्रहणमें परप्रत्याख्यान— जो सम्यग्दृष्टि पुरुष होते हैं, वे समस्त कार्य और नोकर्मके समूहको त्याग देते हैं। आत्माके हाथ-पैर, अंगोपांग तो हैं नहीं कि किसी अंगसे किसीको ग्रहण कर लेते हों, किंतु परपदार्थोंको यह मैं हूं, यह मेरा है—ऐसा माननेका ही तो नाम ग्रहण है। तब यह मेरा नहीं है—ऐसा माननेका ही नाम त्याग है। साधुजन बाह्यपरिग्रहोंका त्याग कर देते हैं, यह लोगोंको बहुत स्पष्ट हो रहा है, पर वह साधु शरीरका भी त्याग कर चुका है, यह लोगोंको समझमें नहीं आ पाता है, किन्तु वहां साधु अपने शरीरका भी त्याग कर चुका है, यह बात वहां पड़ी हुई है। त्याग करना कोई क्षेत्रसे क्षेत्रांतर कर

देनेका नाम नहीं है, किन्तु यह मेरा है--ऐसी भावना न रहना, यह मेरा नहीं है, इस प्रकारकी दृढता सहित अपने आकिञ्चन्य ज्ञानस्वभावमात्र अपनी प्रतीति रखना, इसका नाम त्याग है। अब इस त्याग भावके होते सन्ते जो चीज क्षेत्रान्तर हो सकती है, वह क्षेत्रांतर हो जाती है। जो अन्य क्षेत्रको नहीं पहुंच सकता है, वह क्षेत्रान्तरित नहीं होता है। क्षेत्रान्तरित हो अथवा न हो, जिस संतने अपने आपमें अपने आपको ग्रहण किया है, उसने तो सबका त्याग कर दिया है।

निश्चयत. त्याग-- यह सम्यग्दृष्टि पुरुष समस्त कर्म और नोकर्म समूहका प्रत्याख्यान कर देता है, इन्द्रियविषयोंके साधनभूत इन पुद्गल ढेरोका त्याग कर देता है, अपने आपसे चिपटे हुए एकक्षेत्रावगाही इस शरीरका भी त्याग कर देता है और नाना परिणमन जो इस पर गुजर रहे हैं उन विभावोंका भी यह त्याग कर देता है। त्याग होना श्रद्धाके ऊपर निर्भर है, श्रद्धा परपदार्थसे हट गयी तो उसका नाम त्याग हो गया, यह भीतरकी कहानी कही जा रही है। आपके पास भूलसे किसी दूसरेका पेन रखा हुआ है, आपकी भी कलम जेबमे रखी है, एकसा रंग था, एकसी सारी बात थी, किसी प्रकार भूलसे बदलेमें आपकी जेबमें आ गया, आपको पता नहीं है। अतः यह मेरा पेन है--ऐसा संस्कार बनाया है। उससे लिखना, उसके साथ जेबमे रखे रहना आदि सारी बातें हो रही हैं। कदाचित् जिसका वह पेन है, पता लगाता हुआ आपके पास पहुच जाए और बताए कि यह पेन तो मेरा है, तुम्हारा नहीं है। इसकी पहिचान कर लो, इसको खोल लो, इसके भीतरकी रबड़ सफेद है और अनेक चिन्ह बताए। अब आपने सही जान लिया कि हा यह पेन इसका ही है। अब भले ही लोभवश आप ऊपरसे लड़ाई करते हैं, बहस करते हैं कि कैसे है तुम्हारा पेन? यह हमारा है, पर अन्तरङ्गमें, उस ज्ञानप्रकाशमें तो देखो कि आपके उस पेनका त्याग हो गया है। भीतरमें यह निर्णय हो गया है कि इसे मैं अपने पास रख नहीं सकता देना पडेगा। यों यथार्थज्ञानके विलासमे उसका त्याग हो चुका है।

ज्ञानीकी वन्द्यता व अज्ञानकी निन्द्यता -- सम्यग्दृष्टि पुरुष उन समस्त ज्ञानातिरिक्त भावोंका प्रत्याख्यान करता है, त्याग करता है, ऐसे ही सम्यग्दर्शनकी मूर्तिस्वरूप सम्यग्दृष्टिके ही वास्तवमें प्रत्याख्यान होता है और ऐसा निश्चयप्रत्याख्यान करने वाले ज्ञानी पुरुषके ही पापसमूह दूर होते हैं। अज्ञानी पुरुष तो बाह्यमें धर्मकी प्रवृत्ति कर रहा है, पूजा कर रहा है, अभिषेक कर रहा है, जाप दे रहा है, विधान कर रहा है, यज्ञ कर रहा है, कुछ भी कर रहा है, किन्तु अन्तरङ्गमें भेदविज्ञान नहीं है। विषयोंसे व विषयसाधनों से प्रीति बनी हुई है तो उसके पापसमूह नष्ट नहीं हो रहे हैं, किन्तु वह तो पापोंको बढ़ा रहा है। वह बाह्यमें धर्मको करके अंतरङ्गमें विषयोंकी प्रीति खूब हो, मुझे खूब मौज मिले, मुझे संसारके सुख खूब मिलें--ऐसी कुबुद्धि कर रहा है। जो ज्ञानी पुरुष है, विवेकी है, उसके ही पापसमूह दूर हो सकते हैं। ऐसी जो सम्यग्ज्ञानकी मूर्ति हैं, प्रत्याख्यानस्वरूप है, निजको निज और परको पर जानकर केवल निजस्वरूप ही अपना अनुभवन कर रहा है, रागद्वेषसे परे है--ऐसा ज्ञानपुञ्ज सम्यग्दृष्टि पुरुष हिताभिलाषी जनों द्वारा वंदनीय है। ऐसा ज्ञानी पुरुष ही अपना हित कर सकता है और दूसरोंके परमार्थभूत हितका साधक होता है। रागद्वेषमें बढ़ा हुआ पुरुष न अपना हित कर सकता है और न अन्य दूसरों का हित कर सकता है। इस प्रकारके प्रत्याख्यानस्वरूप साधु-सन्त सदा मुमुक्षु पुरुषोंके द्वारा वदनीय हैं।

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतये णाणी ॥९९॥

ज्ञानीका चिंतन-- ज्ञानी पुरुष इस प्रकार विचार कर रहा है कि मैं केवल ज्ञानस्वभाव हू, केवल दर्शनस्वभाव हू, सहजानन्दस्वरूप हू, केवल शक्तिस्वभाव हूं। इस चिंतनमें ज्ञानीने अपनेको सहज अनन्त

चतुष्टयरूप निरखा है और व्यक्त अनन्त चतुष्टयरूप होनेकी इसमें स्पष्ट योग्यता है, इस प्रकार निरखा है। अपने आत्माका इस रूपमें ध्यान करना इस रूपके विकासका कारण है। जो अपने आपको जिस रूपमें ध्यान करता है, वह अपने आपमें उसही तत्त्वका विकास करता है। जो मनुष्य अपनेको कुटुम्ब वाला, इज्जत वाला आदिक रूपमें विभावरूप अनुभव करता है, विभावरूपको देखता है, उसके विभाव परम्परा चलती रहती है और जो समस्त परभावोंसे रहित केवल ज्ञाताद्रष्टा, सहज ज्ञानदर्शनस्वरूप अपनेको निरखता है; उसके केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्रकट होता है।

भावनाके अनुसार प्रवृत्तिके कुछ लोकदृष्टान्त— भैया ! थोड़ा बहुत यहा भी दिख जाता है कि जो बालक अपनेको ऐसा विश्वास किए हुए है कि हम तो बेवकूफ लड़कोंमें से हैं, मुझे पाठ नहीं याद होगा; उसकी ऐसी ही कुबुद्धि चलती है, बनती है कि वह सफल नहीं हो पाता है। जिसमें इतना साहस है कि यह काम तो मैं कर सकता हू, मनुष्य ही तो कहते हैं कि अपनेमें सामर्थ्यका अनुभव है, इस कार्यको मैं कर सकूँगा; अत' वह उस कार्यमें सफल हो सकता है। मत्र ध्यानमें और बात विशेष है क्या ? जो सर्प का विष उतारने वाले हैं, जो किसी प्रकारके मत्र द्वारा किसी सर्पके काटे हुएका विष उतारते हैं, वे अपने आपमें ऐसा ही उपयोग बनाते हैं कि यह विष तो यों दूर हो गया, यों दूर हुआ, यह हटा, यह विष अब यहा आ गया है, इस प्रकारकी अपने आपमें भावना बनायी, मत्र उच्चारणरूप उत्साह जगाया, विश्वास बनाया। क्या विचित्र बात हो जाती है कि प्राय. यदि वहा भी उपादान निर्विष होनेको है तो उसका निमित्त पाकर वह विष उतर जाता है।

ध्यानका प्रभाव— पहिले समयमें जब गजरथ चला करते थे। (आजकल भी बुन्देलखण्डमें प्रथा है है पंचकल्याणकके बाद हाथीका रथ चलाना।) उन रथोंके अवसर पर कुछ मत्रवादी लोग इसके लिए तैयार हो जाते थे कि मैं इसके रथको तोड़ दूँगा। उस समय समारोह कराने वाले पुरुष भी ऐसे मत्रवादियोंको संतुष्ट करते थे। यदि वे संतुष्ट न हो पायें तो अपने मत्रप्रयोग द्वारा कुछ बाधा डालते थे। उनकी क्या प्रणाली थी ? वे खेल जैसा गजरथ बनाते थे। कोमल ठठेरोंसे या ज्वारके पेड़ोंसे या मक्का वगैरह के पेड़ोंको छीलकर उनके गूदे व पत्तोंसे गोल रथाकार बना लेते थे। फिर मत्र करके, ध्यान करके, रौद्र परिणाम करके उस रथके कुछ अंगोपांग तोड़ते थे। ऐसी करीब-करीब प्राय होनेकी बात सुनी जाती है कि असली रथमें भी प्रायः ऐसा विघ्न हो जाता था। कैसा निमित्तनैमित्तिक योग है ? हम उस विषयको ज्यादा नहीं समझते हैं, पर वहा भी तारीफकी बात थी एक अपने आपके ध्यानकी।

भावना पर बालकोंका प्रभाव— जब बच्चे ऊधम मचाते हैं, तब उनको यों कहा जाता है कि अरे ! तू तो राजाभैया है, राजा कहीं ऐसा ऊधम मचाते है ? वे तो बहुत शांत रहते हैं। वे लड़के तब अपने आपमें कुछ ऐसा अनुभव बनाते हैं कि ओह, मैं तो राजाभैया हू, राजाभैयाको इस तरह ऊधम नहीं मचाना चाहिए। अतः वे शात हो जाते हैं। बच्चे कभी कभी घुटना टेककर घोड़ा घोड़ा खेल इस प्रकार से खेलते हैं—वहांसे घोड़ा बना हुआ एक बालक आया, यहांसे भी एक बालक घोड़ा बनकर चला, फिर वे रास्तेमें मिले, मु हसे मु ह मिलाकर हिनहिनाये और हाथापाई की। वहा बच्चे थोड़ी देरके लिए अपने बच्चेपनको भूल जाते हैं। हम तो घोड़े हैं—ऐसा कुछ देरके लिए अपना अनुभव बना लेते हैं। मैं घोड़ा हूं--ऐसी तीव्र वासना बना लेनेके कारण उन बच्चोंमें मार-पिटाई हो जाती है और फिर रो-धोकर ही वह खेल खत्म होता है।

ध्यानका असर— कोई पुरुष किसी कमरेमें बैठा हो और ऐसा ध्यान कर रहा हो कि मैं महिषासुर

हूं, मै एक भैंसा हूं, भैंसेकी शक्ल मेरी है और उस ही रूप अपने प्रयोगमें ढांचा बना ले और बहुत विशालरूप अपने आपको सोच ले कि मैं बहुत विशालकाय रूप वाला भैंसा हूं और मेरे ये सींग तीन तीन हाथ लम्बे लगे हुए हैं--ऐसा भैंसेका रूप सोचे और उस ही चिंतनके तुरन्त बाद कमरेके दरवाजे पर ध्यान जाए कि यह तो ढाई फुटका ही चौड़ा दरवाजा है तो थोड़ी देरको यह व्यग्रता मानता है कि मैं इस दरवाजेसे कैसे निकलूँगा ? अरे तू तो मनुष्य है, दुबला-पतला आदमी है, चिंताकी क्या बात थी, पर अपने आपको जैसा सोचा तैसा ही उपयोग बना डाला।

सुख-दुःखकी ध्यानानुसारिता— भैया ! ध्यानमे ऐसी शक्ति है कि अभी अपने आपको किसी दुःखसे दुःखी सोचने लगें तो वह दुःख पहाड़ जैसा बन जाएगा। मैं बडा दुःखी हूं, इस मुहल्लेमें मेरी कुछ इज्जत ही नहीं है, कोई मुझे ज्यादा पूछता ही नहीं है और धन कुछ भी नहीं है, यह देखो पड़ौसी कैसा लखपति है, मौज मार रहा है, हम बड़े हीन हैं, बडे गरीब हैं; इस प्रकार कुछसे कुछ सोच लें दुःखभरी बात तो दुःख पहाड़सा बन जाता है। यदि अपनेमें सुखभरी बात सोचने लगे कि कितना सुन्दर अवसर मिला है, श्रेष्ठ मनुष्य जीवन और कितना समर्थ मन मिला है, इन कीड़े मकौड़ोंकी जिन्दगी तो व्यर्थ है; हम सोच सकते हैं कि जो कल्याणमार्ग है, आत्मतत्त्वका स्वरूप है वह भी हम सुनते हैं, गुनते हैं; यह मैं आनन्दस्वरूप हू, हमें तो कहीं दुःख है ही नहीं, हममें तो कहीं दुःखोंका नाम ही नहीं है, ऐसा मैं समर्थ सुखसम्पन्न हू, कौनसे सुखमें कमी है, भूख प्यासकी वेदना भी बडे आरामसे मिटाई जा रही है, अनेक पुरुषोंसे बहुत ज्यादा सुविधाएँ हैं और सत्य धर्मका मिलना यह तो सबसे बड़ा वैभव है, मैं सुखी हूं--ऐसी अपनी भावनाएँ बनायें तो इससे सुख ही सुख है। जैसा यह ध्यान करता है, तैसी ही बात इस पर गुजरती है।

मुक्तिके लिए मुक्तिके अनुरूप ध्यान— मोक्षप्राप्तिके प्रकरणमे मुझे क्या बनना है ? यह बात जब तक चित्तमें न उतरे, तब तक इसका उद्यम भी कुछ न हो सकेगा। मुझे मुक्त होना है अर्थात् केवल बनना है, प्योर बनना है, अन्य चीजोंके सम्बन्धसे रहित जो कुछ मैं हू, वही मात्र असम्पृक्त शुद्ध रह जाऊँ यह बनना है। ऐसा बननेके प्रोग्राममें यह भी तो ध्यान रहना चाहिए कि ऐसा मैं बन सकने योग्य हूं, क्योंकि मैं स्वभावत केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हू। जो अनन्तचतुष्टय केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द प्रकट होगा, वह सब इसकी ही निधि हैं। ऐसा होनेका मेरा स्वभाव है; इस प्रकार सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजशक्ति, सहज आनन्दरूप अपने आपका ध्यान करना ही मुक्ति होनेका उपाय है। यह बात उनके ही विचारमें उतरती है, जो समस्त बाह्यविषय प्रपंचोंकी वासनासे दूर हैं। जिसने घरमें पुत्र, मित्र, स्त्रीमे, इन मायामय लौकिक पुरुषोंकी दृष्टिमें इज्जत पानेमे ही अपना बड़प्पन माना है उसको यह मुक्तिकी बात नहीं सुहाती है। उस अज्ञानावस्थामे इस मोही पुरुषको ये विषयकषाय और विषयोंके साधन ही हितरूप और सार विदित होते हैं।

हितका मूल उपाय निर्मोहता— जो भव्यात्मा सर्व विषय वासनावोंके प्रपचसे दूर हैं और भली प्रकार सर्व यत्नपूर्वक अपने अन्त स्वभावकी ओर उन्मुख हैं, जिसने अपने आपमें विराजमान शाश्वत परमतत्त्वका परिज्ञान किया है--ऐसे जीवके लिए यह शिक्षा बतायी गई है कि अपने आपमें ऐसी भावना बनावें कि मैं सहज ज्ञानस्वरूप हूं, सहज दर्शनस्वरूप हू, सहज आनन्दरूप हू और सहज चैतन्यशक्तिस्वरूप हू। यह देह न रहे, यह वैभव उपयोगमें न रहे, केवल शुद्धानन्दनिर्भर यह ज्ञानप्रकाश ही उपयोग मे रहे, मैं एतावन्मात्र हू एसी दृष्टि बने, वहा मोह नहीं रह सकता है। मोह न रहे यह सबसे बड़ा लाभ है, इससे बढकर वैभव कुछ नहीं है। मोह होना ही विपत्ति है और निर्मोह होना ही कल्याण है। जो अपने आपको सहज अनन्तचतुष्टयात्मक निरख रहा है, उसके मोह कैसे रह सकता है ?

शुद्ध परमाणुके दृष्टान्तपूर्वक शुद्धस्वरूपभावनाका कथन— यह मैं आत्मा विशुद्ध केवलज्ञानदर्शनशक्तिमय व आनन्दस्वरूप हूं। जैसे मुक्त परमाणु अर्थात् केवल परमाणु जो किसी स्कंधपर्यायमें नहीं है, स्कंधसे छूटा हुआ है, मात्र अणु है और उस परमाणुमें कभी शुद्ध स्पर्शरसगंधवर्ण रह जाए अर्थात् जघन्यगुण वाला स्पर्शरसगंधवर्ण रह जाए, जिसके रहने पर इसमें स्कन्धरूप होनेकी योग्यता नहीं है--ऐसा शुद्ध स्पर्शरसगन्धवर्णमय, जैसे परमाणु विशुद्ध है, ऐसे ही सहजज्ञानदर्शनशक्तिआनन्दस्वरूप यह मैं विशुद्ध आत्मतत्त्व हूं—ऐसी भावना ज्ञानी पुरुषको करनी चाहिए। ज्ञानी पुरुष इस प्रकारकी भावना किया करता है।

अहप्रत्ययवेदन—भैया ! यह जीव किसी न किसी रूपमें अहका प्रत्यय बनाये ही रहता है। मैं क्या हू ? इसकी प्रतीति कुछ न कुछ प्रत्येक जीवको है। चाहे कोई जीव अपनेको कीड़ा-मकौड़ा रूपकी प्रतीति रखे और चाहे मनुष्य आदिक रूपसे अपनी खबर रखे, किन्तु प्रतीति सबको है कि मैं क्या हूं ? यहां भी जितने मनुष्य हैं, सबको अपनी खबर है। मैं अमुक लाल हूं, अमुक चन्द हू, अमुक प्रसाद हू, ऐसे घर वाला हू, अमुक जगह मेरा घर है, ऐसे व्यवसाय वाला हूं, ऐसी पोजीशनका हू—ये सब बातें भीतरमें धंस-धंसकर भरी हुई हैं। कदाचित् ये धर्मकी बातें भी यदि करते हैं तो उनके लिए तो कुछ नियत टाइम किया जाता है कि मैं पूजा २० मिनट तक करूँगा अथवा प्रवचन सुननेका इतना समय नियत किया है, अध्ययनका इतना टाइम नियत किया है। प्रथम तो यह ही निर्णय नहीं है कि जो पूजन, प्रवचन, अध्ययन, ध्यानके लिए समय नियत किया है, उसके बीचमें भी हम अपनी बात न रक्खें। मैं अमुक चन्द हू, अमुक लाल हू, ऐसी पोजीशनका हूं, इस बातकी दृष्टि न रखे तो यह भी नहीं बनता है और कदाचित् इतनी देरको न भी रक्खें ऐसी स्वार्थमयी दृष्टि अथवा पर्यायबुद्धिकी प्रतीतिका उपयोग, लेकिन नियत समय व्यतीत होने पर किसी ओर प्रकृत्या यह जीव लगता है। अपने आपको किसी न किसी दशारूप अनुभव किए हुए रहता है। अज्ञानी अपनेको पर्यायरूप अनुभव किए रहता है, किन्तु ज्ञानी जीव अपने आपसे विविक्त, सर्व परपदार्थोंसे रहित केवलज्ञानदर्शनशक्तिआनन्दस्वरूप अपने आपकी प्रतीति बनाये रहता है।

अज्ञानी और ज्ञानीका सकल्पित कार्य— भैया ! अब प्रोग्रामकी भी बात देखो— अज्ञानीको कई प्रोग्राम पड़े हुए हैं—अब अमुक जगह जाना है, अमुक काम करना है, अमुक दूकान जाना है। अनेक प्रोग्राम बना रहा है यह अज्ञानी, किन्तु ज्ञानी जीवका केवल एक ही प्रोग्राम रहता है अन्तरमें, चाहे उसकी साधनाके लिए व्यवहारधर्मरूप अनेक बातें हों, पर प्रधानतया एक ही काम बना रहता। वह क्या ? मैं अपने आपकी यथार्थरूपसे श्रद्धा करूँ और यथार्थरूपको ही जानता रहू, यही उसके अन्दर प्रोग्राम रहता है। इस दुनियासे बाहर जहा सुख गया, जहा मायामय लौकिक जीवोंने अपनेको फँसाया, वहासे तो विडम्बनाएँ शुरू हो जाती हैं, अपने आपमें नहीं रह पाता है, अधीर हो जाता है, विह्वलता बढ़ने लगती है। ज्ञानी जीव अपनेको ज्ञायकमात्र उपयोग रखनेका यत्न करता है, इससे ज्ञानी जीवके शान्ति बढ़ने लगती है।

निर्दोषताकी प्रतीतिमहल पर निश्चयप्रत्याख्यानका शृङ्गार— ज्ञानी जीव निश्चयप्रत्याख्यानके प्रसङ्गमें यह चिंतन कर रहा है कि मैं केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल आनन्द और केवल शक्तिस्वरूप हू। प्रत्याख्यान करना है दोषोंका। जब तक यह विश्वासमें न आये कि ये दोष तो मेरेमें हैं ही नहीं, ये तो जरासी दृष्टिमें टल सकते हैं, मेरे घरके नहीं हैं, ये मेहमानरूप आये हुए हैं, ये तो जरासी युक्तिसे दूर हो सकते हैं, जब तक अपनी श्रद्धा ये न बने और इस श्रद्धाका मूल उपाय है अपने आपको निर्दोषस्वरूपमात्र ज्ञानदर्शनात्मक तत्त्वरूप अनुभवमें आना, यह भी वृत्ति जब तक न आये तब तक प्रत्याख्यान

वास्तवमें हो नहीं सकता है। इसी कारण आचार्यदेवने प्रत्याख्यानके प्रकरणमें यह मूलभावना कही है। समस्त पुरुषार्थप्रसार इस भावनाके बाद होगा अथवा जितना भी पुरुषार्थप्रसार है, इस भावनाका ही प्रसार है।

भावनाका अधिकार— भैया! जीव भावनाके सिवाय और कुछ नहीं करता है। सांसारिक काम भी जहा हो रहे हैं, वहा पर भी यह जीवमात्र भावना बनाता है कि परवस्तुमें परवस्तुका कर्तृत्व नहीं होता है। यह जीव न शरीर बना सकता है, न घर-दूकान बना सकता है, यह केवल अपनी भावना बनाता है, वासना बनाता है जो भावात्मक है। अब उसका ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि वासना बनानेके साथ अपने आपमें योगपरिस्पद हुआ और खलबली मची। अब उसका सम्बन्ध शरीरसे है, इस समय तो शरीरके अंगोंमें भी स्फुरणा हुई है, उसके बाद ये अगोपांग चले। इन सब क्रियावोंके प्रसंगमें भी इस जीवने केवल भावना बनायी, किया कुछ नहीं। भावनासे ही यह ससार चला। जिन भावनावोंसे यह ससार बनता है, चतुर्गतिभ्रमण होता है, विपत्तियां आती हैं; उनके विरुद्ध अथवा यों कहो कि सहज-स्वभावके अनुरूप अपनी भावना बने तो यह विपत्ति दूर हो जाती है। इसी भावनाका यहां वर्णन किया है। ज्ञानी पुरुष ऐसा चितन कर रहा है कि मैं केवल ज्ञान, दर्शन, सुख, आनन्दस्वरूप हूं, इस भावनाको दृढ़ कर रहा है, जिसके फलमें निश्चयप्रत्याख्यान प्रकट होता है।

वास्तविक अभिरामता— ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञान, केवल दर्शन केवल सुख और केवल शक्तिके स्रोत-भूत सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजसुख और सहजशक्तिस्वरूपका चितन कर रहा है। पदार्थमे सुन्दरता पदार्थके एकत्वमें है। अन्य पदार्थोंके सम्बन्धसे निरुपाधि स्वतःसिद्ध जो निजस्वभाव है, उस स्वभावके उपयोगमें ही सुन्दरता है।

श्रुतपूर्व और अश्रुतपूर्व— जगत्के जीवोंने आज तक विसंम्बाद करने वाली भोगोंकी कथाएँ तो सुनी हैं। जिन वचनोंसे विषयोंमें आसक्ति होवे, जिन वचनोंसे विषयभोगमें उत्साह जगे—ऐसे वचनोंके श्रवणमें तो इस जीवने चित्त दिया, परन्तु इस तत्त्वकी कहानीमें जो स्वयं सुखरूप है, उसमें चित्त न लगाया, यह तो रुचता ही नहीं है। कैसा व्यामोहजाल इस जगत् पर पड़ा हुआ है? अभी कोई खेल तमाशा ही होने लगे, राग-रागिनी राग भरी होने लगे तो सुननेकी उत्सुकता अनेकोंको जग जाएगी, किंतु अपने आपके अतःस्वरूपकी, अन्तःप्रभुकी कहानी जिसके प्रसादसे संसारके समस्त संकट मिटते हैं, उसके सुननेकी रुचि नहीं जगती है। इस जीवने विषयोंकी कहानी तो बार-बार सुनी, परन्तु केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुखस्वभावरूप जो अपना अद्भुत परमतेज है, उसकी चर्चा नहीं सुनी। जगत्मे सब जगह की बातें सुनते जावो, पर सुननेसे तृप्ति नहीं होती है, सुननेका काम पूरा नहीं होता है। कितनी ही गप्पें कीजिए, पर गप्पोंका काम पूरा नहीं होता है। कदाचित् रात्रि व्यतीत ज्यादा हो जाए और निद्रा आने पर सो जायेंगे, किन्तु जागने पर फिर वही गप्पे प्रारम्भ हो जायेंगी। कितनी ही गप्पें सुनते जावो, पर सुननेका काम पूरा नहीं होता। यह अन्तस्तत्त्वकी चर्चा इतनी विशुद्ध चर्चा है कि इसके सुनने पर तृप्ति हो जाती है, सब कुछ सुना हुआ हो जाता है।

दृष्टान्त और अदृष्टपूर्व— इसी प्रकार लोकमें कहीं भी कुछ भी रूप देखा, देखते जावो; पर देखनेसे तृप्ति नहीं होती है, परन्तु एक केवल ज्ञानदर्शनसुखस्वभावरूप निज अन्तस्तत्त्वका अवलोकन हो जाए तो वहां परमतृप्ति होती है और उसके देखने पर सब कुछ देख लिया समझ लीजिए। एक अपने आपके अन्तःस्वरूपका मर्म न देख पाया तो बाहरमें सब जगह देखने-देखनेकी कमी रहती है। एक आत्मस्वभावके देख लेने पर सब कुछ देख लिया गया।

परिचितपूर्व और अपरिचितपूर्व— जगत्में किसी भी पदार्थको जाननेकी उत्सुकता बनायें। बच्चोंको

भी बहुत-बहुत बातें जाननेकी उत्सुकता रहती है, बडे और वृद्ध लोगोंको भी जाननेकी उत्सुकता होती है; किन्तु जाननेकी पूर्ति नहीं हो पाती है यत्नपूर्वक जाननेका यत्न करते रहने पर। निष्कपाय निश्चेष्ट स्वतंत्र स्वयंसिद्ध चैतन्यतेजको जान लेने पर फिर कुछ जाननेको शेष नहीं रहता है। यों यह ज्ञानी पुरुष अपने आपके स्वभावका चिंतन कर रहा है।

निर्दोष भावके उपयोगमें प्रत्याख्यानकी पूर्णता— यह है प्रत्याख्यानका अधिकार। भविष्यकालके समस्त कर्मोंका त्याग करना, उनसे निवृत्त होना, यह है प्रत्याख्यान। यह जीव मोहावस्थामें गई गुजरी बातोंका भी मोह रखता है, वर्तमानमें मिलेका भी मोह रखता है और भविष्यकालमें जिसके मिलनेकी आशा की हो, उससे भी मोह रखता है। यह तीनों प्रकारका मोह एक साथ खत्म होता है एक इस निर्मोह आत्मस्वभावके जानने पर। ऐसी सुसिद्ध स्थितिमें प्रतिक्रमण आलोचना और प्रत्याख्यानकी पूर्णता होती है। जब तक दोषोंसे रहित शुद्ध ज्ञानप्रतिभासमात्र निस्तरंग नीरंग आत्मस्वभावका अवलोकन नहीं होता, तब तक प्रत्याख्यान सही मायनेमें नहीं बन सकता।

सहज स्वभावके आश्रय बिना प्रत्याख्यानका अभाव— कोई पुरुष अपने धर्मात्मापनकी धुनमें बड़ा धर्म करता हो, धर्म करनेसे स्वर्ग मोक्ष मिलता है इसलिए धर्मकी धुन बनाए है और उस धर्मकी धुनमें बडे बडे त्याग भी कर ले तो भी मैं धर्म कर रहा हू, मैं धर्मात्मा हू उस प्रकारकी जो एक कल्पना लगी है तो उसके प्रत्याख्यान कहांसे हो? परमार्थसे प्रत्याख्यान तब तक नहीं हो सकता, जब तक अपने आपमें स्वतःसिद्ध निर्विकल्प सहजस्वभावका अवलोकन नहीं होता है।

कारणसमयसारकी उपासनाके प्रसादसे कार्यसमयसारपना— इस कारणसमयसारकी उपासनाके प्रसादसे अरहंत और सिद्ध अवस्था प्रकट होती है। कैसा है सर्वज्ञ परमात्माका विकास? हम आप सबकी भांति अमूर्त चैतन्यमय पदार्थ है, किन्तु निर्दोष निरावरण होनेसे इसका विकास हो गया है कि समस्त लोक और अलोक उसके ज्ञानमें एक साथ प्रतिभास हो गया है और जितने जो कुछ परिणमन थे व होंगे, वे अनन्तरूपसे प्रतिभात हुए हैं। ऐसा केवलज्ञानकी मूर्तिरूप सर्वज्ञदेव जयवन्त हो।

कार्यसमयसारकी अनन्तचतुष्टयात्मकता— इस सर्वज्ञ परमात्माका आत्मदर्शन भी अलौकिक है। केवलज्ञानके साथ ही साथ निरन्तर केवलदर्शन भी वर्तता रहता है। कैसी निर्विकल्पावस्था है? जहां निर्विकल्प प्रतिभास और सविकल्प प्रतिभास दोनों प्रकारके ज्ञान दर्शन एक साथ वर्त रहे हों, उसके चमत्कारोंको कौन कह सकता है? यह प्रभु सर्वज्ञदेव शाश्वत आनन्दस्वरूप है। आनन्द नाम है अपने समस्त गुणोंसे समृद्ध हो जानेका। वह प्रभु समस्त विश्वको जानता है, फिर भी निज आनन्दरसमें लीन रहता है। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माको कहा गया है। सत्, चित् और आनन्द तीनों गुणोंका उसमें पूर्ण विकास है। यहां सत् मायने शक्तिके हैं और चित् नाम ज्ञान दर्शनका है और आनन्द नाम आनन्द का है। सच्चिदानन्द शब्दमें अनन्तचतुष्टयकी ध्वनि भरी हुई है। सत् मायने सद्भूत है। क्या वह है कुछ? चित् मायने ज्ञानदर्शनात्मक और और आनन्द समस्त गुणोंके शुद्ध विकाससे समृद्ध होनेका है। ऐसा सच्चिदानन्दस्वरूप शाश्वत अनन्तवीर्यात्मक परमात्मा मेरे उपयोगमें विराजमान रहे जिस स्वरूप का बडे-बडे पुरुष भी अपने चित्तमें ध्यान कर रहे हैं।

शान्तिप्रद ध्येय— भैया! लोकमें ध्यान करने योग्य क्या पापी मलिन जीव हैं? उनका ध्यान करने में कौनसी सिद्धि है? व्यवहार लोकका है, यह ठीक है; व्यवहारके वचन बोले जायें, यह ठीक है; किन्तु ध्येयरूप तो मलिन पुरुष नहीं हैं, बल्कि भगवान है और उसमें भी भगवानका जो शुद्ध विकास है, वह जिसके ध्यानके प्रतापसे होता है, ऐसा जो कारणभगवान है, वह हम आप सबके घट घटमें विराजमान है, वह परम ध्येय है। उस स्वभावके ध्यान करनेमें ये समस्त प्रत्याख्यान हो जाते हैं। यह स्वभाव

समस्त मुनियोंके ध्यान करनेके योग्य है। कितनी महान् दृष्टि भरी है अपने आपके एकत्वस्वभावके दर्शन में? वे चक्रवर्ती जिनकी सेवामें ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा लगे रहा करते थे, उन्हें भी वहां उस समागम के बीच आनन्द नहीं आया। जब सबका संन्यास करके निर्जन वनमें आत्मध्यान करते हुए विराजे, जिनको बात करनेके लिए स्वयंकी आत्मा थी; यही पूजक, यही पूज्य, यही भावक, यही भाव्य, यही ध्याता, यही ध्येय—ऐसी उत्कृष्ट स्थितिमें उन्हें आनन्द मिला; किन्तु इतना बड़ा समागम ६ खण्डका राज्य जिसके अधिकारमें समझो—ऐसे उस पुरुषको वहां शान्ति नहीं मिली। परसे सम्बन्धसे शान्ति हो ही नहीं सकती। शान्ति वहां होती है जहां शान्तस्वभावका उपयोग रहता है। इस प्रकार इस निश्चय-प्रत्याख्यानके प्रसंगमें ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख और केवल शक्तिस्वरूप आत्मतत्त्व का चिंतन कर रहा है।

प्रत्याख्यानमय प्रकाश— प्रत्याख्यान चारित्रका ही एकरूप है। सम्यक्त्व होने पर भी प्राक् पदवीमें कितने ही दोष लगते रहते हैं। सम्यक्त्वमें केवल एक ज्ञानप्रकाश ही तो हुआ। जो पदार्थ जैसा है उस पदार्थका सही परिज्ञान और विश्वास होता है; किन्तु पूर्वकालीन जो वासना और सस्कार चला आ रहा है, उसकी वजहसे जो कुछ शेष रागवासना है, उसके कारण अपराध हो रहे हैं। उन अपराधोंका प्रत्याख्यान होना मोक्षमार्गकी प्रगतिमें अत्यन्त आवश्यक है। मैं आगे स्वरूपविरुद्ध कार्य न करूँगा, ऐसी दृढ़ता बिना दोषोंकी शुद्धि नहीं होती है। प्रत्याख्यानस्वरूप अन्तस्तत्त्व समस्त मुनिजनोंका ध्येय है। अब ज्ञानी पुरुष प्रत्याख्यानके प्रसंगमें और क्या चिंतन कर रहा है, इसका वर्णन कर रहे हैं।

णियभावण हि मुंचदि परभावं णेव गिण्हदे जो हु।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतये णाणी ॥९७॥

ज्ञानीका स्वात्मचिंतन— मैं कौन हू? मैं वह हूं जो सबको जानता और देखता हू। यहां ग्रहण करना और छोड़ना कुछ भी नहीं है। ग्रहण करने और छोड़नेकी बात भी यदि समझी जाए तो यह है कि मैं अपने भावको कभी नहीं छोड़ता हू और परभावका कभी ग्रहण नहीं करता हूं। जो न निजभावको छोड़ता है, न परभावको ग्रहण करता है, केवल सबको जानता और देखता है, वह मैं हू। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है।

निजभावका अपरिहार और परभावका अग्रहण-- भैया! अपना तत्त्व, अपना स्वभाव कभी छूट नहीं सकता है। यह कोई जीव भी ससारी अथवा मुक्त अपने भावको छोड़ नहीं सकता है; किन्तु अपना स्वभाव अपने आपमें तन्मय है। फिर भी जो अपने स्वभावका ज्ञाता नहीं है, स्वभावका उपयोग नहीं कर सकता है, उस पुरुषको अज्ञानी कहा है। उसने अपने भावको छोड़ दिया है यह कहा जाता है। इसने अपने स्वभावको छोड़ दिया इसका अर्थ यह है कि यह उपयोगमें अपने स्वभावको ग्रहण नहीं करता है, जानता नहीं है, इस प्रकार कोई भी जीव परपदार्थको ग्रहण नहीं कर सकता है। और भी अन्तरमें निरखो तो परपदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए जो परभाव हैं, उन परभावोंका भी ग्रहणकर्ता हुआ नहीं रह सकता है। यद्यपि रागद्वेषादिक परभाव आत्मामें होते हैं और उस कालमें आत्मामें तन्मय रहते हैं, किंतु उन्हें तुरन्त छूटना पड़ता है। कोई भी रागद्वेष पर्याय ऐसा नहीं है कि वह होकर रह गई, छूटे नहीं। छूटते ही हैं, भले ही दूसरा रागद्वेष आ जाए, परन्तु जो रागद्वेष परिणमन होता है वह परिणमन टिक नहीं सकता, छूट जाता है।

वस्तुस्वरूपमें स्वभावका सत्त्व व परभावका असत्त्व-- मैं किसी भी परपदार्थको और परभावको ग्रहण नहीं करता हू। यह तो वस्तुका स्वरूप है। मैं ही क्या, जगत्में जितने भी अनन्त पदार्थ हैं, कोई भी पदार्थ अपने स्वरूपको छोड़ता नहीं है और परके स्वरूपको ग्रहण नहीं करता है। यदि कोई पदार्थ अपने

स्वरूपको छोड़ने लगे तो वह असत् हो जाएगा या परके स्वरूपको कोई ग्रहण करने लगे तो वह असत् हो जाएगा। ये सब पदार्थ अब भी मौजूद हैं। यही इसी बातका प्रमाण है कि अनादिकालसे प्रत्येक पदार्थ अपने ही सत्में रहा आया है। किसी परसत्त्वको ग्रहण नहीं कर सका।

परमार्थकी आन्तरिक चर्चा— यह ज्ञानी पुरुष अपने आपके बहुत अन्तरमें प्रवेश करके यह देख रहा है कि मेरा जो शाश्वत परमपारिणामिक भावरूप ज्ञायकस्वभाव है, वह स्वभाव निजभाव है, उसको मैं कभी नहीं छोड़ सका, न छोड़ सकता हू, न छोड़ सकूँगा। उस ज्ञायकस्वरूपके अतिरिक्त जितने भी अन्य तत्त्व हैं अथवा परभाव, औपाधिक भाव हैं, उनको यह मैं ग्रहण नहीं कर रहा हू। मैं क्या हू ? इस का ठीक निर्णय करके इस प्रकरणको सुनना। मैं मनुष्य नहीं हू अथवा रागद्वेषादिकमय जो परिणमन हैं वे परिणमन मैं नहीं हूं अथवा किसी प्रकारका अपूर्ण पूर्ण स्वभावपरिणमन है, उस स्वभावपरिणमनको यहां यह मैं नहीं कह रहा हूं, किन्तु मैं अपने आपका ध्रुव यथार्थ जो तत्त्व है, उसकी बात कर रहा हू। वह यह मैं निजभावको छोड़ता नहीं हू और किसी परभावका ग्रहण नहीं करता हू, केवल ज्ञाताद्रष्टा रहा करता हूं।

आत्मभावकी अभिमुखता व परभावकी विमुखता— भैया ! इस जीवने मुफ्त ही संकट अपने आप पर लाद रक्खे हैं, यह तो केवल भाव ही बना पाता है। अमूर्त आत्मा जो न किसीको पकड़ सकता है, जिसे न कभी कोई दूसरा पकड़ सकता है, जिसका किसी परपदार्थसे स्पर्श भी नहीं होता है, देहमें बधा है, फिर भी उसका एक आश्रय-आश्रयी बधन है, निमित्तनैमित्तिक बंधन है। आत्मा इस शरीरको छू रहा हो, जकड़ रही हो, इसमें शरीरकी कहीं गाठ लग रही हो— ऐसा कुछ नहीं है। कितना विचित्र खेल है कि शरीरके प्रदेशोंसे बाहर अभी यह टससे मस भी नहीं हो सकता, फिर भी यह आत्मा इस शरीरको छुवे हुए नहीं है। यह किसीको छूने वाला नहीं होता है, फिर ग्रहण करने और छोड़नेका कथन कहांसे हो ? जो न निज शाश्वतस्वभावको छोड़ सकता है और जो न किसी परको अथवा परभावको ग्रहण कर सकता है, केवल सर्वदा निरन्तर जानता और देखता रहता है, ज्ञातृत्व और दृष्टित्व स्वभावरूप है, वह मैं हूं। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है। इस चिंतनमें परमभावकी अभिमुखता पड़ी हुई है और समस्त परभावोंसे विमुखता पड़ी हुई है। दोषोंका परित्याग विधिपूर्वक तब ही सम्भव है, जब दोषोंसे पूर्ण विमुखता हो और निर्दोष शाश्वतस्वरूपकी अभिमुखता हो। वही समस्त प्रकारका कार्य धर्म है, जिस में आत्मभावकी तो अभिमुखता हो और परभावोंकी विमुखता हो। धर्म किसका नाम है ? अपने स्वभाव के निकट आये और परभावोंसे विमुखता आये, उसका नाम है धर्म। धर्मके साधक जितने उपाय हैं, वे सब कुछ इस धर्मके लिए हैं, इसीमें प्रत्याख्यान भी है।

मनसे प्रत्याख्यान— यह ज्ञानी पुरुष व्यवहारप्रत्याख्यानमें दक्ष हो चुका है। विधिपूर्वक दोषोंका प्रत्याख्यान करके जो शुद्ध हृदय वाला हुआ है, ऐसा पुरुष निश्चयप्रत्याख्यान करनेका पात्र है। प्रत्याख्यान नवकोटिसे किया जाता है। मनसे दोषोंका विचार न करना, दोषोंका मनमें न रखना और न ही अपनाना, दोषोंमें उत्साह न जगना-यह मन द्वारा प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान भविष्यकालके दोषोंका हुआ करता है और यह मानसिक प्रत्याख्यान भी तीन प्रकारसे रहता है—उस दोषको न मनसे करूँगा, न मनसे कराऊँगा और न करते हुए को मनसे अनुमोदन दूंगा। प्रतिक्रमण करने वाला पुरुष दोषोंको असार जानकर अपने आपके स्वरूपको पवित्र निहारकर भविष्यकालमें सदाके लिए स्वयं दृढ़ स्वरूप हो जाता है। यों मनसे कृतकारित अनुमोदनाविषयक दोषोंका प्रत्याख्यान करता है।

वचन और कायसे प्रत्याख्यान – ज्ञानी पुरुष वचनोंसे भी कृतकारित अनुमोदनाका प्रत्याख्यान करता है। मैं वचनोंसे न किसी अपराधको करूँगा न वचनोंसे किसी अपराधको कराऊँगा और अपराध करते

हुएको वचनोंसे अनुमोदना भी न करूँगा। जहां कृतकारित और अनुमोदनाविषयक भी अपराधका त्याग होता है, शुद्धि वहां प्रकट होती है। ज्ञानी काय द्वारा भी भविष्यत कृतकारित अनुमोदनाके पापका परित्याग करता है। मैं शरीरसे किन्हीं अपराधोंको न करूँगा, न किसीसे कराऊँगा और न करते हुएकी अनुमोदना करूँगा।

मन वचन कायसे अनुमोदनाके रूप और उनका प्रत्याख्यान-- अनुमोदना भी मनसे, वचनसे और कायसे हो जाती है। अपराध करने वालेके प्रति मनमें अनुराग जगाना, मनमें भला चिंतन करना, यह मनकृत-अनुमोदना है। वचनोंसे अनुमोदना तो प्रकट जाहिर होती है। वचनोंसे किसीको शाबासी देना, भला कहना, यह सब वचनकृत अनुमोदना है। अपने शरीरकी चेष्टा करके, हाथकी अगुली हिलाकर, थोड़ा सिर नीचेकी ओर हिलाकर, कायकी चेष्टा करके बढ़ावा देना, यह कायकृत अनुमोदना है। इन सब प्रकारके अपराधोंका जिसने प्रत्याख्यान किया है और केवल निज अतरतत्त्वके दर्शनके लिए ही जो उद्यत हुआ है, ऐसा पुरुष अपने आपसे क्या चिंतन करता है, उसकी बात कही जा रही है।

निजभावके वियोगका त्रिकाल अभाव— यह कारणपरमात्मा, अन्तरात्मा, महात्मा, मोक्षमार्गी जीव अपने आपके परमभावको कभी नहीं छोड़ता है। जो मुझसे छूट जाये, वह मेरी चीज नहीं है। जो मुझसे कभी भी न छूटे वह मेरी चीज है। मेरी चीज मुझसे छूट जाये यह त्रिकाल नहीं हो सकता। जो छूट गये हैं अथवा जो छूट सकते हैं, उन्हें अपना मानना यह तो अज्ञान है, मिथ्यात्व है। मिथ्यावासनामें शान्ति कभी आ ही नहीं सकती है, बल्कि मिथ्यावासनामें रहकर जितनी बाहर उपयोगकी दौड़ लगा ली जाए, उतना ही उसे लौटना पड़ेगा और तब यथा स्थिति पर आएगा, जहांसे आत्महितका काम प्रारम्भ हो सकेगा। यह कारणपरमात्मा ज्ञानी पुरुष कभी भी अपने भाव को नहीं छोड़ता है। इस भावको तो कोई भी जीव नहीं छोड़ता है, किन्तु जिसका निजभाव पर उपयोग नहीं, उसे छोड़ने वाला कहा गया है।

त्रिकाल निरावरण निरजन भाव-- आत्माका स्वभाव त्रिकाल निरावरण है। स्वभावका आवरण नहीं होता। स्वभावके विकासका आवरण हो सकता है। स्वभाव शक्तिरूप है और वह शाश्वत अन्तः-प्रकाशमान् है, वह तो सत्तासिद्ध स्वरूप है। त्रिकाल निरावरण यह अन्तस्तत्त्व सदा निरंजन है। इसमें किसी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावका स्पर्श नहीं होता, स्वभावरूप ही रहता है यह। कैसा है वह आंतरिक तत्त्व कि जिसमें परउपाधिका निमित्त पाकर कितना ही विपरीत परिणमन भी हो जाए, फिर भी स्वभाव स्वभाव ही रहता है, उसमे अन्तर नहीं आता ? यह जीव रागद्वेषमय, आकुलतामय हो रहा है। कितने विरुद्ध परिणमनमें चल रहा है ? इतने विपरीत परिणमनके बावजूद भी इस आत्मस्वभावमें अणुमात्र भी अन्तर नहीं आया। स्वभावका विकास तिरोहित हो गया है, अल्प विकसित है, फिर भी स्वभावमें अणुमात्र भी परिवर्तन नहीं है। यह शक्तिरूप है और द्रव्यका प्राणभूत है—ऐसा त्रिकाल निरावरण निरजन जो निज परमभाव है, परमपारिणामिक भाव है, जिसका परिणमन ही प्रयोजन हैं, किन्तु वह शक्तिरूप शाश्वत वहीका वही है--ऐसे इस परमभावको जो कभी नहीं छोड़ता है, वह मैं अन्तस्तत्त्व हू।

अपरिणामी पारिणामिक भाव – भैया ! यह आत्महितका प्रकरण है। इसमें आत्माके शुद्ध शाश्वत-स्वरूपकी चर्चा की जा रही है। इस स्वरूपको ही पूर्णरूप मानकर अनेक सिद्धान्तोंमें इस ब्रह्मतत्त्वको सर्वव्यापक और अपरिणामी बताया है। ठीक है एक दृष्टिसे और इस दृष्टिमे कल्याण निहीत है, किन्तु वस्तुकी पूर्णता इतने में नहीं है। इसी कारण इस ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न जीव पदार्थ और मन पदार्थकी कल्पना करनी पड़ती है, किन्तु वास्तवमें यह ही ब्रह्मतत्त्व जो स्वभावतः अपरिणामी है परिणमता नहीं

है, परिवर्तित नहीं होता, अन्यरूप नहीं बनता, फिर भी चूंकि परिणमन बिना कोई भी पदार्थ अपना अस्तित्व ही नहीं रख सकता; अतः इसका जो परिणमन है, वह सब है अन्य सिद्धान्तोंके द्वारा कल्पित जीव। चीज एक है, जिसका परिणमन है उसे तो ब्रह्म कह लो और जो परिणमन है उसे जीव कह लो। परिणमन और परिणामी कोई भिन्न नहीं हुआ करते हैं।

अन्तः परमब्रह्म दर्शनका निर्देशन— अहा, अंत स्वरूपमें समाया हुआ यह परमब्रह्म अज्ञानियोंको अप्रकट और ज्ञानियोंको विशदरूपसे प्रकट दिखता है। इस कारणप्रभुकी जो उपासना करता है, वह ही पुरुष कार्यप्रभु होता है। ईश्वरके नाम पर, ईश्वरकी भक्तिके नाम पर आज यह विवेकी जगत् यत्नशील हो रहा है, किन्तु बाहर कहीं ईश्वरको ढूँढने जायें और बाहरमें किसी व्यक्तिमें ईश्वरकी कल्पना करके भक्ति किया करें तो वहां संतोष न मिल सकेगा। संतोष मिल जाता तो फिर देखने खोजनेकी व्यग्रता न रहती। क्यों नहीं मिल पाया उन्हें संतोष ? इसका कारण यह है कि जहां ईश्वर है वहां देखता नहीं, जो ईश्वरस्वरूप है उसे देखता नहीं, इस कारण व्यग्रता है।

भक्तिदृष्टान्तपूर्वक अन्त.प्रभुदर्शनका समर्थन— ईश्वरस्वरूप अपने आपके अन्तरंगमें है। जैसे मन्दिर में मूर्तिके आगे हाथ जोड़कर भी यदि चित्तमें यह कल्पना न जगे कि ऐसे निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ अरहंत देव आकाशमें ऊपर विराजमान् रहा करते हैं, उनको मेरा नमस्कार हो, उनकी भक्तिके प्रसादसे मेरेमें परम निर्मलता हो, उस अरहंत प्रभुको यहां अरहंत प्रभुकी स्थापनारूप मूर्तिके समक्ष अपने निर्दोषताके प्रकट होनेकी भावना करते हुए नमस्कार करता हूं, यह दृष्टि न जगे; किन्तु केवल सामने जो कुछ मूर्ति दिख रही है, यही भगवान है, यही मेरे समस्त कार्योंकी सिद्धि करेगा, उसको मेरा नमस्कार हो। इतनी ही मात्र जिसकी दृष्टि हो, वहां प्रभुभक्ति नहीं कही जा सकती है। ऐसे ही अपने आपमें शाश्वत अन्तः प्रकाशमान् **जो चैतन्यस्वरूप है**, परमऐश्वर्य है, शुद्ध ज्ञानविकास है, सहजभाव है, उसका उपयोग न करे और व्यग्र होकर बाहर ही बाहर ऊपर नीचे कहीं ईश्वरको खोजा करे तो उसे ईश्वरका मिलन नहीं हो सकता है। ईश्वर हमें जब मिलेगा, तब हमारा बनकर मिलेगा, वह हमसे अलग होता हुआ नहीं मिल सकता है, वह तत्त्व इस कारण .मयसारमें है।

अघसमूहके विलयनमें कारणप्रभुकी समर्थता— यह कारणप्रभु चैतन्यस्वरूप समस्त पापोंकी वृत्तिको जीतनेमें समर्थ है। आत्मक्षेत्रको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें अपना बड़प्पन देखनेकी वासना करना, यही है पापसमूह। विषयोंमें प्रवृत्ति करके अपनेको सुखी मान लेनेकी वासना होना, यही है पापसमूह। इन पाप-वैरियोंने अपनी विजयपताका इस जगत्में स्वच्छन्द होकर; उद्दण्ड होकर फहरा दी है और ये समस्त वराक जीव उनकी पताकाओंके नीचे रहकर अपनेको सशरण माने हुए हैं। ऐसे उद्दण्ड पापवैरियोंकी इस पताकाको लूट लेनेमें समर्थ, निर्मूल नष्ट करनेमें समर्थ यह कारणपरमात्मपदार्थ है। निर्दोष निर्लेप स्वतंत्र आत्मतत्त्वकी भावना जगे, वहां एक भी क्लेश, एक भी पाप ठहर नहीं सकता है।

निजभावमयता और परभावविविक्तता— इस त्रिकाल निरावरण निरंजन परमपारिणामिक भावरूप शुद्ध जीवत्वस्वरूप निजभावको यह जीव कभी नहीं छोड़ता है। जो निजभावको कभी नहीं छोड़ता है, वह मैं हूं। यह मैं निजभावको छोड़ता नहीं हूं और परभावको त्रिकाल कभी भी ग्रहण करता नहीं हूं। यहां 'मैं' शब्द कहकर उस सहज शुद्ध "मैं" पर दृष्टि डालना, अन्यथा मैं अमुकचन्द, अमुकप्रसाद यह मैं हूं —ऐसी दृष्टि रहेगी तो वहां यह तत्त्व कुछ नजर न आएगा। वहां तो केवल संसारके क्लेश ही अनुभूत होंगे। मैं यह कौन हूं ? इसको उपयोग द्वारा पकड़िये। इस नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मको पार करके तथा स्वभावपर्यायसे भी परे भीतर चलकर शाश्वत विराजमान् परमब्रह्मस्वभावको लक्ष्यमें लेकर कहिये कि यह मैं हूं। यह मैं परभावको त्रिकाल भी नहीं ग्रहण करता हूं।

रागादिकोंकी परभावरूपताका विवरण— परभाव रागादिक हैं। परपदार्थोंका निमित्त पाकर होने वाले भावको परभाव कहते हैं। वे कैसे उत्पन्न होते हैं ? इसकी मुख्यता यहां नहीं लेनी है, किन्तु ये पर का निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ करते हैं, इस कारण ये रागादिक परभाव कहलाते हैं। जैसे धूपमें हाथ करने पर जमीन पर छाया पर्याय बन जाती है। वह छाया किसकी है ? उपादानदृष्टिसे तो यह उत्तर मिलेगा कि वह छाया उस पृथ्वीकी है जितनी पृथ्वी छायारूप परिणमी हैं, परन्तु छाया बनी रहे, हट जाए, इन सबकी कलाका निमित्त तो हाथ है। हाथ कर दिया तो छाया हो गई, हाथ हटा लिया तो छाया हट गई। अब यह बतलावो कि उस छाया पर हुकूमत किसकी रही ? हाथकी। इस कारण छाया परभाव है। यह सब निमित्तदृष्टिसे, व्यवहारदृष्टिसे, विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयदृष्टिसे कहा जा रहा है। वह छाया पृथ्वीकी चीज नहीं है। जैसे प्रकाश होना पृथ्वीकी चीज नहीं है, इस पृथ्वीकी वह पर्याय है। अंधेरा होना पृथ्वीकी चीज नहीं है, वरन् पृथ्वी ही की पर्याय है; पर प्रकाश और अंधेरा पृथ्वीका निजी भाव हो तो पृथ्वीमें सदा रहने चाहियें। जैसे अन्धेरा हो तो भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण उसमें बना रहता है और उजाला हो तो भी बना रहता है, वह नहीं छूटता है। जो स्वाधीन है, कभी न छूटे ऐसा स्वरूपरूप है, वह निजभाव है।

रागादिकोंकी परभावरूपताके कारणका समर्थन— ये रागादिक परभाव हैं, क्योंकि विभावरूप पुद्गल-द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। दोष किसके निमित्तसे प्रकट होगा ? उसीके निमित्तसे प्रकट होगा जो स्वयं दोषी हो। आत्मामे रागादिक विभाव प्रकट होते हैं तो उन रागादिक भावके होनेमें निमित्तभूत जो परपुद्गल हैं, वे शुद्ध पुद्गल नहीं हो सकते, वे विभावपुद्गल ही होंगे। अतः विभावपुद्गलरूप पर-उपाधिके संयोगमें ये रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं।

संसरणका कारण— ये रागादिक समस्त विभाव द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भावसंसार और भवसंसार पांचों प्रकारके संसरणोंकी वृद्धिका कारण है। कितना समय गुजर गया हम आपको इस दुनियामें रहते हुए, पर क्या कोई दिन नियत कर सकते हो कि मैं उस दिनसे पहिले संसारमें नहीं घूम रहा था ? अच्छा, यदि नहीं घूम रहे थे तो बतावो किस स्थितिमें थे ? यह तो हो नहीं सकता कि आप सत ही न थे। जो सत् नहीं है उसका किसी भी रूपमें प्रादुर्भाव नहीं होता है। मैं सत् हूं। कबसे सत हूं ? इसका भी समय नियत नहीं किया जा सकता। यदि सत्त्वका भी समय नियत हो जाए तो क्या कुछ कल्पनामें ऐसा आ सकता है कि मैं अमुक समयसे सत् हूं और पहिले न था ? न था तो यह मैं उपादान आ कैसे गया ? मैं अनादिसे सत् हूं और अनादिसे इस संसारमें रहता हू। सो अनादिसे पांच प्रकारके संसरणमें चल रहा हूं व न चेता तो चलूँगा।

अनादिससरण और विविक्तरूपता— अनादिसे यदि मै संसारमें न होता, कभी पहिले संसाररहित होता अर्थात् शुद्ध, केवल, ज्ञाताद्रष्टास्वरूप, निर्दोष, निर्लेप, निरंजन सर्वथा होता तो फिर उसका कारण बतलावो वैज्ञानिक कि कौनसी विधि फिर ऐसी बन गयी कि इस जीवको रागादिकमें पड़ना पड़ा और संसारकी गतियोंमें भ्रमण करना पड़ा ? ऐसा कोई कारण नहीं हो सकता है। ये रागादिक भाव जो पांच प्रकारसे संसारकी वृद्धिका कारण हैं, विभावरूप कर्मोदयका निमित्त पाकर जो उत्पन्न होते हैं, इन पर-भावोंको यह मैं ग्रहण नहीं करता हू। उन्हें न मैंने कभी ग्रहण किया, न मैं कुछ भी ग्रहण कर रहा हूं और न भविष्यमें कभी ग्रहण कर सकूँगा।

निजस्वरूपका चिंतन— यहां जिस "मैं" की बात कही जा रही है, उस "मैं" की दृष्टिको थोड़ी देरको भी ओझल न करना तो इसका स्वरूप विदित होगा और यह कथन सत्य लगेगा। अहो, वह यह मैं हूं जो निज भावको कभी छोड़ता नहीं है और परभावको कभी ग्रहण नहीं करता हू, वह मैं क्या हूं ?

अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञायकस्वरूप हूं। यह मैं सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजसुख, सहजशक्तिरूप हूं। यह अभेदका अभेदकी सीमा पर भेदमें अभेद देखा जा रहा है। ज्ञानी पुरुष अपने आपमें ऐसी भावना कर रहा है कि कार्यरूप प्रभु अनन्तचतुष्टयस्वरूप हैं तो यह मैं कारणस्वरूप सहज अनन्त चतुष्टमयरूप हूं। इस भावनामें सर्वदोषोंका प्रत्याख्यान हो रहा है। इसीसे इस प्रत्याख्यानका भाजन आनन्दस्वरूपका चिंतन कर रहा है।

कारणसमयसारकी भावनाका अधिकारी— मैं कारणसमयसारस्वरूप हूं—इस प्रकारकी भावना कौन आत्मा कर सकती है? इस भावनाको वही निकटभव्य कर सकता है, जिसने निज निरावरण सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका यथार्थ बोध किया है। इस ज्ञायकस्वरूपके बोधके द्वारा जो अपने आपके सदामुक्त कारणपरमात्माको जानता है और ऐसे ही सहज अवलोकनके द्वारा देखता है, वही पुरुष यह मैं कारणसमयसार हूं—ऐसी भावना करता है। आत्मस्वभावको सदामुक्त कहा गया है। भगवान अरहन्त सिद्ध कर्मनिर्मुक्त हैं, किसी दिनसे मुक्त हैं और उनमें उनके गुणविकासोंका स्रोत जो शुद्ध ज्ञायकस्वभाव है, वह सदामुक्त है। हम आपमें यह स्वरूप सदामुक्त है, किन्तु द्रव्यकी अपेक्षासे, वर्तमान परिणमनकी दृष्टिसे हम सब कर्मनिर्मुक्त नहीं हुए हैं। वस्तुका स्वरूप सदा अन्य समस्त पदार्थोंसे विविक्त रहा करता है, अन्यथा सत्त्व ही नहीं ठहर सकता। मैं अपने आपके सत्त्वके कारण किस भावरूप हूं? मेरा क्या स्वभाव है? जो कुछ भी हो वह मेरे सत्त्वके कारण स्वयं स्वतः सहज सिद्ध है, उसमें मैं ही मात्र हूं, इसमें किसी अन्य पदार्थका प्रवेश नहीं है। ऐसा परविविक्त यह मैं कारणसमयसार हूं, ऐसी ज्ञानी भावना करता है।

सदामुक्तकी कर्मनिर्मुक्तिपरता— कारणसमयसारस्वरूप यह अन्तस्तत्त्व सदामुक्त है। यह सदामुक्तस्वरूप कर्मनिर्मुक्त होनेके लिए ही निरन्तर तैयार बना हुआ है। इसीके आश्रय कार्यपरमात्मत्व प्रकट होता है। इसी कारण इसे कारणपरमात्मा कहते हैं। जो कार्यपरमात्मा हुए हैं, भगवान हुए हैं, वे कोई नई चीज नहीं बने हैं। जो था अनादिसे, वही दोषमुक्त हो गया है अर्थात् यह ही चैतन्य उपाधियोंसे रहित होकर अपने असली रूपमें आ गया है। भगवान होनेके लिए कोई नई चीज नहीं बननी है, न कोई नई बात करनी है, किन्तु भ्रमवश जो फालतू बातें लाद ली हैं, जो मेरे स्वभावमें नहीं हैं—ऐसी फालतू बातोंका अभावभर करना है। चीज तो जो है सो ही प्रकट हो जायेगी।

परतत्त्वकी आवरणरूपता— भैया! पत्थरमें मूर्ति बनाने वाले कारीगर कुछ नई चीज नहीं बनाते हैं। जो न हो ऐसी कोई चीज जोड़ देते हों, ऐसा तो नहीं करते हैं, किन्तु जिस चीजको प्रकट करनी है, वह चीज तो उस पत्थरमें मौजूद है, केवल उस पर जो फालतू पत्थर पड़े हुए हैं, जो कि मूर्तिका लक्ष्य करने वाले कारीगरको विदित हैं, उन फालतू पत्थरोंको अलग कर देनेसे चीज वही की वही व्यक्त हो जाती है। ऐसे ही ये ज्ञान दर्शन आनन्द शक्तिस्वरूप सर्वद्रव्योंमें सारभूत परम श्रेष्ठ आत्मा जिन राग, द्वेष, मोह भावोंसे ढका हुआ है, उन भावोंको दूर करता है।

फालतू भाव— ये रागादिक भाव फालतू भाव हैं अर्थात् आत्माके स्वरूपके ये भाव नहीं हैं। मूर्तिको आवरण करने वाले फालतू पत्थरोंमें और इस आत्मतत्त्वका आवरण करने वाले फालतू भावोंमें इतना अन्तर जरूर है कि ये तो रागादिक भाव एकक्षेत्रावगाह हैं और तन्मय हैं। जिस कालमें ये मलिन भाव होते हैं, उस काल सर्व आत्मप्रदेशोंमें तन्मय हैं, किंतु वे आवरक पत्थर व्यक्त होने वाली मूर्तिमें तन्मय नहीं हैं और न क्षेत्रावगाह हैं। इतना अन्तर है तो भी चूँकि आत्माकी ओरसे आत्माके निमित्तसे आत्मामें ये भाव नहीं होते हैं, इस कारण परभाव हैं, फालतू हैं। फालतू उसे कहते हैं जिसके प्रति यह दृष्टि हो कि ये मुझे नहीं चाहियें। ये मेरे पास फालतू ही हैं, इनसे मुझे कुछ लाभ नहीं है, नुक्सान ही है, ये मेरी चीज नहीं हैं, मेरा इनमें चित्त नहीं है, जो चाहे लूट ले जाए, जहां चाहे वहां जावें अथवा नष्ट हो

जावें, इनसे मेरा कुछ भी मतलब नहीं है—इस प्रकारकी वृत्ति जिन भावोंके प्रति हो, उन भावोंको फालतू भाव कहते हैं।

फालतूका सम्पर्क बरबादीका कारण— ज्ञानी जीव जानता है कि ये राग-द्वेष-मोह आदिक भाव फालतू हैं। इन भावोंसे मुझे लाभ नहीं है, बरबादी ही है। जगत्‌के सभी जीव जुदे हैं। उन सब जुदे जीवोंमें से दो-चार जीवोंको अपना मान लेना और ऐसे भ्रममें जीवन गुजारकर मर जाना, कहींके कहीं पैदा होना ये सब बातें हैं। ये मूढता भरी बातें हैं। ये विडम्बनाएँ फालतू चीजें अपनानेके फल हैं। ये रागादिक भाव मेरी बरबादीके लिए होते हैं। ये कैसी प्रकृतिके हैं कि जैसे मीठा विष हो तो लोभी पुरुष उसे खाये बिना नहीं मानते हैं और खा लेने पर उनके प्राण चले जाते हैं। ऐसे ही ये राग, ये सम्पदा, ये इज्जत ये सब मीठे विष हैं। मोही जीव इन विडम्बनाओंमें पडे बिना चैन नहीं मानता और इन विडम्बनाओंमें पड़नेका फल यही होता है कि ये मुग्ध प्राणी ससारमे जन्म-मरण पाते रहते हैं।

मुक्तिवैभव— भैया! संसारके जन्म-मरणसे छुटकारा पा लेनेके समान कुछ अन्य कल्याणकी भी बात है क्या? यह सर्वोपरि बात है। एक आत्मदर्शन मिले, आत्मकल्याण जगे, इसके मुकाबलेमें सारी सम्पदा भी नष्ट हो, त्यागनी पड़े, सारा संग-समागम भी छोड़ना पडे, कितने ही तपश्चरण करने पडें, वे सब न कुछ श्रम हैं। इन-इन फालतू भावोंका जिस तत्त्वमें प्रवेश नहीं है, वह मैं कारणसमयसार हूं। इसके अवलम्बनसे, जन्म-मरणसे मुक्ति नहीं होती है।

स्वाभिमुखतासे समृद्धिविस्तार— यह कारणपरमात्मतत्त्व मानो सदा इस प्रतीक्षामें रहता है कि यह जीव जरा तो उपयोग मेरी ओर करे, फिर मैं इसका भला ही भला कर दूँगा। जीव जरा भी उपयोग इस कारणसमयसार निज प्रभुकी ओर नहीं देता तो यह तिरोहित रहता है और विवश रहता है। एक बार सर्वविकल्प छोड़कर किसी भी प्रकार निर्विकल्प समाधि भाव द्वारा अपने इस अन्तःस्वरूपके दर्शन तो कर लें, फिर तो यह कारणपरमात्मा वेगसे प्रकट होकर कार्यपरमात्माका रूप रख लेगा, तब सारे कालके लिए सारे झंझट छूट जायेंगे।

परसमागमकी असारता— भैया! घर बसाया, चीजें जोड़ीं, धन जोड़ा, ये सब क्या काम आयेंगे इन जीवोंके? कुछ तो ध्यानमें लाये। अरे, इसका तो काम था एक धर्म करनेका, आत्मस्वरूपको निहार कर इस ही आत्मस्वरूपमे सदा तृप्त रहनेका। इसीके लिए मनुष्य जीवन पाया है। समस्त वैभवोको तृणके समान असार जान लेना है। जब तक इन पौद्गलिक ढेरोंकी कीमत मानते रहेंगे, तब तक इस जीवको वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकेगा। ये समस्त लौकिक सुख, ठाठबाट अत्यन्त हेय हैं। इनकी ओर कुछ भी उपयोग न फँसाना चाहिए। किसी परिस्थितिवश उनमे लगना पड़ता है तो लगते हुए खेद तो मानते रहो। मौज तो न मानो। जैसे कोई जितना ऊपरसे गिरे, उसको उतनी ही चोट लगती। ऐसे ही इन बाह्यपदार्थोंमें जो जितनी मौज माने, वह उतनी ही विकट दुर्गति प्राप्त करता है।

स्वरूपदर्शनका अनुरोध— भैया! रंच तो निहारो इस कारणपरमात्मतत्त्वकी ओर, फिर तो यह बडे वेगपूर्वक अपना विकास करेगा, फिर सदाके लिए संसारके समस्त सकटोंसे मुक्त हो जाएगा। ऐसे ही सहजमुक्तिकी ओर तत्पर रहने वाले इस कारणपरमात्मतत्त्वको जो अन्तर ज्ञानी सहज परमबोधके द्वारा जानता है और ऐसे ही सहज अवलोकनसे देखता है, वह ही यह मै कारणसमयसार हूं—ऐसी भावना करता है। इस निज शुद्ध सहजस्वरूपकी भावनामें सर्वसमृद्धि भरी हुई है। कहीं बाहर दृष्टि फँसाई तो आकुलता ही है। अतः इस प्रकारके कारणसमयसारकी ज्ञानी पुरुषको सदा भावना करनी चाहिए।

योगियोंका ध्येय परमार्थ तत्त्व— योगियोंका ध्येयभूत यह आत्मा सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजशील-

स्वरूप है। इसमें यह बताना असम्भव है कि आत्मा तो यह है और उसमें ये-ये धर्म रहा करते हैं। वह तो धर्म-धर्मी के आधार-आधेयके विकल्प से रहित है। ज्ञानादि गुणोंको छोड़कर अन्य कुछ आत्मा नहीं है। जो कुछ चैतन्य चमत्कार है, तन्मात्र यह आत्मा है, इसी कारण इसे चैतन्य चमत्कार मात्र कहा जाता है। यह अनादि है, अनन्त है, अचल है, जिस स्वरूपको लिए हुए है, उस स्वरूप से त्रिकाल भी चलित नहीं होता है। यह चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा स्वयं ही बड़ी स्पष्टता से चकचकायमान होता है, प्रकाशमय रहता है। इस आत्मतत्त्वमें आधार-आधेय का विकल्प नहीं है। जो भी महापुरुष हुए हैं, योगिपूजित हुए हैं, वे सब इस चैतन्य चमत्कार मात्र के उपासक ही तो हैं। वहां भी उपासक-उपासना और चैतन्य चमत्कार में कुछ भिन्न नहीं हैं, किन्तु जो वर्त रहा है, उसको बताने का एक तरीका है।

निर्दोषताका उपाय— अमिततेजोमय चैतन्यचमत्कारमात्र कारणपरमात्मतत्त्वको जो अभेदरूप होकर प्रतिभासता रहता है, वह कारणसमयसार मैं हूं - ऐसी निरन्तर भावना करनी चाहिए। इस ही भावना के प्रसादसे भव-भवके बद्ध कर्म क्षणमात्र में खिर जाते हैं। ये कर्म अन्य किसी अन्य प्रकार से नहीं खिरते हैं, किन्तु रागद्वेष भावोंकी गिलाईके कारण ये कर्म आये और बंधे हैं। सो राग-द्वेष-मोह की गिलाईपन मिट जाए तो ये कर्म अपने आप झड़ जायेंगे। जैसे कि गीली धोती नीचे गिर जाए और उसमें धूल, मिट्टी चिपक जाए तो उस धोतीको झाड़ने-फटकारनेसे वह धूल न निकलेगी, किन्तु उसको ऐसे ही सूखने डाल दिया जाए। उस धूलको चिपकाने वाली तो गीलाई थी, वह गीलापन सूख जाएगा तो बहुत थोड़े झिटके से वह धूल खिर जाएगी। ऐसे ही यह कर्मजाल राग-द्वेष-मोह भाव के कारण लगा हुआ है। यह राग-द्वेष-मोह भाव सूख जाए तो कर्म वहां टिक नहीं सकते हैं। राग द्वेष-मोह के सूखनेका उपाय निर्दोष निरावरण निरञ्जन सहज ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी भावना ही है।

कारणसमयसारकी इन्द्रियगोचरता— यह मैं कारणसमयसार किसी भी इन्द्रियके उपाय से नहीं जाना जा सकता। इन कानोंको बहुत ही सावधानीसे लगा दें इस आत्माकी बात सुननेके लिए तो कहीं आत्मा का ज्ञान न हो जाएगा, न यहां आत्माकी बात सुननेको मिलेगी। भले ही सुनने से आत्माकी कुछ बाहरी चर्चा सुन ली जाएगी, किन्तु आत्मा कैसा है, इसका साक्षात् मिलन तो इन कानोंके द्वारा नहीं किया जा सकता। ये नेत्र तो कानकी अपेक्षा भी अधिक बहिर्मुख बनाने वाले हैं। आंखोंको फाड़कर भी इस आत्माको निरखा जाए तो मात्र यह ऊपर का चाम ही तो दृष्ट हो सकता है। इन नेत्रोंसे तो चामके भीतरका भी मल दृष्ट नहीं हो सकता है, फिर तो अन्त: बसा हुआ यह अमूर्त भावात्मक आत्मतत्त्व नेत्रोंसे चिरकाल भी ज्ञात हो ही नहीं सकता है। घ्राणसे क्या यह आत्मा जान लिया जा सकता है? आत्मा गंधरहित है। नाकका उसके जानने में क्या काम है? रसना से क्या आत्माका स्वाद लिया जा सकता है? आत्मा रसरहित परमज्ञानानन्दस्वरूप है। स्पर्श से भी यह आत्मा नहीं जाना जा सकता है।

अन्तस्तत्त्वकी मनसे अगम्यता— भैया! इन्द्रियकी तो कहानी ही छोड़ो। इस मनके द्वारा भी आत्मतत्त्वसे भेंट नहीं हो सकती है। यह मन आत्माके दरबारमें बाह्य सभा तक तो ले जा सकता है, आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें भावात्मक भेदरूपसे जो कुछ वर्णन है, उस वर्णन तक तो मनकी गति हो सकती है, किन्तु जो भाव आत्मस्वरूप है, सहज परमपारिणामिक चैतन्यचमत्कारमात्र है, उसका ज्ञान केवल आत्म-उपयोगके द्वारा ही होता है। वहां मन रुद्ध हो जाता है।

आत्मनिर्णय— यह मैं आत्मतत्त्व वह हूं, जो अपने द्वारा अपनेमें अपने लिए अपनेसे जाना जाता है, जो किसी भी ग्रहणमें न आने योग्यको ग्रहण नहीं करता और ग्रहण किए हुएको कभी छोड़ना नहीं, केवल सर्वप्रकार सबको जाननहार रहता है, वह स्वसंवेद्य मैं आत्मा हूं। इस आत्मतत्त्वमें जो गृहीत

धर्म है, स्वरूपरूप शाश्वत चैतन्यस्वरूप है, उसको यह कभी छोड़ नहीं सकता है, वह तो इसका स्वरूप ही है। जो चीज अग्राह्य है, उसे आत्मा अपने स्वभावरूपमें स्वीकार नहीं करता है, ऐसे सर्व परभावोंका यह कभी ग्रहण नहीं कर सकता है। यह तो अपने आपमें अपने ही गुणोंसे समृद्ध एक स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वको जानता है अथवा जैसे कोई प्रकाशमय तत्त्व प्रकाशित होता है, ऐसे ही यह ज्ञानमय तत्त्वमात्र अपने स्वरूपमें प्रतिभात होता रहता है।

परमार्थ स्वभावके अपरिचयमें लोकविडम्बना— यह अपने आपमे बसा हुआ यह अपना प्रभु परमोत्कृष्ट तत्त्व है। इसको जाने बिना संसारकी ऐसी घटनाएँ चल रही हैं। कहां तो यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप सर्व विश्वका ज्ञाताद्रष्टा रहता और सदा निरन्तर आनन्दमय रहता और कहां आजकी यह परिस्थिति कि नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव—इन गतियोंमें नाना प्रकारके शरीरोंमें फंसता है और नाना क्लेश भोगता है, बाह्यपदार्थोंकी ओर अपना कुछ निहार-निहार कर सुखकी आशा किए भिखारी बनकर जीवन गँवाता है। कितनी विरुद्ध परिस्थिति है इस जीवकी ? यह सब अपने प्रभुकी उपासना न करनेका फल है। यह आत्मतत्त्व तो जीवत्वस्वरूप है। इसने अपने सहज चैतन्यस्वभावको छोड़ा ही नहीं है और जो अन्य पौद्गलिक विकार हैं, इनको कभी ग्रहण किया ही नहीं है। यह तो शाश्वत निरावरण निरंजन है। इसे जाने बिना यह ससरण हो रहा है।

मोक्षमार्गका प्रयोजक आत्मतत्त्व— यहां किस 'मैं' को देखा जा रहा है ? जो मैं इस रागद्वेष भावको कभी ग्रहण नहीं कर सकता, उस 'मैं' की बात चल रही है। यह 'मैं' इस वर्तमान पर्यायरूपमें न मिलेगा, किन्तु पर्यायका स्रोत होकर भी पर्यायस्वरूपसे विलक्षण शाश्वत ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिमें मिलेगा। क्या स्वभाव रागद्वेषको ग्रहण करता है ? स्वभाव तो स्वभावरूप ही रहता है। शुद्ध भावात्मकरूपसे देखनेकी कला पर इस 'मैं' का ज्ञान निर्भर है। आत्महितके प्रयोजनमें इस पद्धतिसे ही उस 'मैं' को ग्रहण करना चाहिए। जैसे एक यह चौकी है। इस चौकीका स्वरूप आप कितने ही स्वरूपोंमें बता सकते हैं— यह गोल है, लम्बी है, चौड़ी है, पुरानी है, ऐसे रूपकी है, यह ठोस मजबूत है। चौकी पर बैठनेका प्रयोजन हो तो वह प्रयोजक पुरुष उसकी मजबूती पर दृष्टि देता है, रंग पर नहीं; क्योंकि रंग उसके बोझको न सभाल सकेगा। उसका आकार, प्रकार, रूप उसे न सभाल सकेगा। प्रयोजक पुरुष पदार्थको अपने प्रयोजनके माफिक निरखा करता है। यहां मोक्षमार्गका प्रयोजक ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वको आत्महितके प्रयोजनसे निरख रहा है। यद्यपि यह आत्मा वर्तमानमें मनुष्यपर्यायरूप हो रहा है, इसमें रागद्वेप चल रहे हैं, विचार उठ रहे हैं, लेकिन इसके निरखनेसे मोक्षका मार्ग नहीं मिलता है। यह सब अभी हैं, पर साथ ही यह भी तो बताओ कि इन सब परिणमनोंका स्रोतस्वरूप कोई एक स्वभाव भी इसमें है या नहीं ? उस स्वभावका दर्शन मोक्षमार्गका प्रयोजक है। उस ही स्वभावरूप आत्मतत्त्वकी यहा बात कही जा रही है।

ज्ञानीकी लगन— यह आत्मतत्त्व समस्त परपदार्थोंसे और रागादिक समस्त विकार भावोंसे पृथक् है और पृथक् ही क्या, वरन् यह मैं आत्मा रागादिक भावोंसे त्रिकाल भी ग्रहण नहीं करता हू। जो मुझ में ग्रहण किए हुए हैं, उसकी बात नहीं कही जा रही है; किन्तु जो इसका शाश्वत चैतन्यस्वभाव है, वह कभी विकारोंको ग्रहण करता ही नहीं है अर्थात् कभी यह आत्मा विकारस्वभावी नहीं होता है। उस अविकारस्वभावी आत्माकी कथनी की जा रही है। यह किसी भी परभावका ग्रहण भी नहीं करता है। ओह, इस ज्ञानीको यह बात ऐसी तेज लग बैठी कि यह निरन्तर देखा करता है कि इस चिन्मात्र आत्मतत्त्वमें कोई ग्रह-विग्रह है ही नहीं। ये ग्रहविग्रह विसम्वाद जब अन्य पदार्थोंमें कुछ आग्रह करे, तब ही उत्पन्न होते हैं। इन सभी परभावोंको छोड़कर एक इस निज चैतन्यस्वभावमे ही लगूँ—ऐसी उसकी

भावना रहती है। ज्ञानीको अन्यत्र कहीं रुचि ही नहीं है।

परम आनन्दके अनुभवीके हेयसुखमें अवाछा— जिस भव्य पुरुषने विशुद्ध परिपूर्ण सहज ज्ञानात्मक परिणतिका अनुभव किया है, वह परतत्त्वोंमें लगेगा ही क्यों ? जैसे कि देवगतिके जीवोंके उनके कण्ठसे ही अमृत झर जाता है और वे उससे ही तृप्त हो जाते हैं तो उन्हें दाल-भात आदि आहारोंके ग्रहण करने की जरूरत ही क्या है ? जैसे देवोंको बाहरी भोजन करनेकी चाह नहीं उत्पन्न होती है, वे अपने कण्ठसे झरे हुए अमृतका ही पान करके तृप्त रहते हैं— ऐसे ही यह अतर्यामी ज्ञानी पुरुष अपने आपके अन्तस्तत्त्वमें आत्माके उपयोग द्वारा निरन्तर शुद्ध आनन्दका अनुभव कर रहा है, उसीसे तृप्त रहता है। उसे किसी भी बाह्यतत्त्वमें उपयोग देनेकी क्या जरूरत है ?

आत्मतत्त्वमें दन्दफन्दका अभाव — यह आत्मतत्त्व निर्द्वन्द्व है। लोग दंदफंदसे बहुत घबड़ाते हैं। दंद-फंद मायने क्या हैं ? दंद किसे कहते हैं और फंद किसे कहते हैं ? अलग अलग कुछ बताओ तो। अरे, दंदफंदका अर्थ है दन्दका फन्द। फन्द मायने है बन्धन, विपत्ति, विडम्बना और दन्द मायने है दो चीजें। द्वन्द्वका अपभ्रंश दन्द है। हम दो के फन्दमें पड़ गये हैं। हम अकेले होते तो कोई फन्द न था, पर दूसरी चीजमें उपयोग दिया, स्नेह किया, उसे अपनाया—यही है दन्दका फन्द। यह आत्मा दन्दरहित, निर्द्वन्द्व है, इसी कारण निरुपद्रव है। उपद्रवका ही नाम फन्द है। निर्द्वन्द्व होनेके कारण ही उपद्रवरहित है— ऐसा ही यह आत्मतत्त्व है।

निरुपम शुद्ध आनन्द— निर्द्वन्द्व, निरुपद्रव ही यह आत्मीय आनन्द है। आनन्द और आत्मा कोई जुदे-जुदे तत्त्व नहीं हैं। यह आनन्द निरुपम है, नित्य है, स्थायी है, अपने आपके आत्मासे ही प्रकट होता है। यह अन्य द्रव्योंके विकल्पोंसे उत्पन्न नहीं होता है। ऐसा यह शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभवरूप आनन्द है। इस आनन्दको पाकर इस जीवको पुण्योदयसे प्राप्त हुए ये धन, सम्पदा, इज्जत, मान्यता, विषयोंके सुख—ये सबके सब उसे उपद्रव लग रहे हैं। इस कारण यह शुद्ध ज्ञानानन्दामृतसे तृप्त हुआ यह भव्य पुरुष इन विषय-सुखोंकी ओर दृष्टि भी नहीं करता है। यह खाता हुआ भी नहीं खाता है, क्योंकि दृष्टि तो आत्मीय स्वरूपमें लगी हुई है। जैसे जिसको किसी बड़ी सम्पदाके प्राप्त होनेसे अत्यन्त अधिक खुशी होती है। उसकी दृष्टि उस सम्पदाकी ओर लगी रहने से उसे खानेका भी कुछ ख्याल नहीं रहता। खाता हुआ भी वह नहीं खाता है अथवा जिसको इष्ट पुरुषका वियोग हो गया है, उसका तीव्र दुःख है, ऐसा दुःखी पुरुष खाता तो है, पर वह खाता हुआ भी नहीं खाता है। ऐसे आत्मीय आनन्दका अनुभव करने वाला पुरुष इस पुण्यके ठाठको भी छोड़ देता है और अद्वैत तुलनारहित चैतन्यमात्र इस चिन्तामणि तत्त्वरत्नको उपयोग द्वारा प्राप्त किए रहता है।

परमार्थ चिंतामणिका परम प्रसाद— चिंतामणि इस जगत्में अन्यत्र कहीं नहीं है। लोग कहते हैं कि चिंतामणि वह रत्न है कि जिसके रहने पर जो विचारो, सो तुरन्त काम हो जाता है। वह चिंतामणि-रत्न इस चैतन्यस्वरूपका अवलोकन है। जो चाहो, सो सब सिद्ध हो जाएगा। अच्छा, तब तो हम इस चैतन्यको जरूर जानकर रहेंगे। जान लो, सब सिद्ध हो जाएगा। कैसे सिद्ध हो जाएगा कि इस चैतन्य-स्वरूपको जानकर कुछ चाह ही नहीं रहेगी। चाही हुई चीजकी सिद्धि चाह न करनेसे हुआ करती है। इस प्रकारके इस चैतन्यमात्र तत्त्वको जान करके फिर कौनसा विवेकी यह कहेगा कि कोई परद्रव्य मेरा है ? देखो इस अन्तरंगमें—कैसा प्रकाशमय तत्त्व दिख रहा है इस ज्ञानी को ? यह सब ज्ञानी गुरुवोंके चरणोंका प्रसाद है। ऐसा यह जीव गुरु-चरणोंका प्रसाद पाकर अपने स्वरूपकी भावना भाकर निश्चय-प्रत्याख्यान कर रहा है।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहि वज्जिदो अप्पा ।
सोहं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥६८॥

बन्धनिर्मुक्त आत्मतत्त्वका चिंतन—जो प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धसे रहित है, वह मैं हू, ऐसा चिंतन करता हुआ यह ज्ञानी पुरुष इस आत्मतत्त्वमे ही स्थिरभावको करता है। इस गाथामें सर्व प्रकारके बन्धनोंसे निर्मुक्त आत्मतत्त्वकी भावनाका अनुरोध किया गया है साधुजनोंकी प्रत्याख्यानमयी स्थिति बताकर।

प्रदेशबन्ध— कर्म कार्माणवर्गणा जातिके सूक्ष्म पौद्गलिक स्कन्ध हैं। इस संसारी जीवके साथ अनन्तानन्त कार्माणवर्गणाएँ तो कर्मरूप बधी हुई पड़ी हुई हैं और अनन्त कार्माणवर्गणाएँ ऐसी भी जीव के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप विराजी हुई हैं, जो कर्मबधनके उम्मीदवार हैं। साथ ही अनन्त कार्माणवर्गणाएँ इस लोकमें ऐसी भी भरी पडी हैं, जो अभी तक किसी जीवके साथ विश्रसोपचयरूप भी नहीं हैं; किंतु जीव प्रदेशमें आकर कर्मरूप होनेकी सामर्थ्य रखती हैं। इस प्रकार इस जगत्में जीवोंसे अनन्तानन्तगुणी कार्माणवर्गणाएँ भरी पड़ी हुई हैं। यह जीव जब राग द्वेष-मोहका परिणाम करता है तो ये कार्माणवर्गणाएँ इस आत्माके साथ निमित्तनैमित्तिक भावकी पद्धतिसे बन्धनको प्राप्त हो जाती हैं। यह है प्रदेशबन्ध।

प्रकृतिबन्ध— प्रदेशबन्ध होनेके समय उन समस्त कार्माणवर्गणावोंमें जो उस समय बंधी हुई हैं, उनमें तुरन्त बटवारा हो जाता है कि इतनी कार्माणवर्गणाएँ ज्ञान ढाकनेका काम करेंगी, इतनी दर्शनको प्रकट न होने देनेमें निमित्त बनेंगी, इतनी सुख-दु ख वेदन करानेमें निमित्त बनेंगी। इतनी श्रद्धा और चारित्रको बिगाड़ने के लिए निमित्त होंगी। इतनी कार्माणवर्गणाएँ अगले भवमें जीवको शरीरमें रोके रहनेके लिए कारण बनेंगी, इतनी कार्माणवर्गणाएँ इस जीवको नया शरीर प्राप्त करानेके और निर्माण का कारण बनेंगी। ये कार्माणवर्गणाएँ इस जीवके ऊँच और नीच कुलके व्यवहार करानेका निमित्त होंगी और ये इस जीवकी अभीष्ट बातमें बाधा डालनेमें निमित्त होंगी। ऐसा विभाजन तुरन्त अपने आप हो जाता है। इस प्रकृतिके बटवारेका नाम, उन कार्माणवर्गणावोंमें ऐसी प्रकृति पड़ जानेका नाम प्रकृतिबन्ध है। ये दोनों प्रकारके बन्ध इस जीवके योगका निमित्त पाकर होते हैं।

स्थितिबन्ध— बंधनके समय ही इन कार्माणवर्गणावोंकी स्थिति भी निश्चित हो जाती है कि ये बधे हुए कर्म इस जीवके साथ इतने वर्षों, सागरों पर्यन्त रहेंगे, ये आबाधाकालके बाद प्रतिसमयके निषेकों में विभक्त होकर रहेंगे। उनमें ऐसा प्रवर्तन चलता है, मोटेरूपमें समझ लो। जैसे मान लो कि इस समय १० करोड़ परमाणु बंधे हैं किसी एक प्रकृतिके, तब उन १० करोड़ परमाणुवोंको यदि मान लो कि १ लाख वर्ष तकके लिए बंधे हैं तो उन १० करोड़ परमाणुवोंमें ऐसी स्थितिका विभाजन हो जाएगा कि इतने परमाणु ५ दिन बाद खिर जायेंगे, इतने ६ दिन बाद, इतने ७ दिन बाद। ऐसा मान लो कि एक एक दिन बढाकर १० लाख वर्ष तक वे परमाणु खिर जायेंगे, इसके व्यवहारमें १ लाख वर्षकी स्थिति हुई है। स्थितिमें ऐसा नहीं है कि मान लो १ लाख वर्षकी स्थिति पड़ी है तो उससे पहिले उनमें से कोई कर्म उदयमें न आयें और एकदम १ लाख वर्ष पूरे होनेके टाइममें सारे उदयमें आयें, ऐसा नहीं होना; किंतु कुछ ही समयके बाद अर्थात् आबाधाकालके बाद निरतर प्रतिक्षण उनमेंसे उदय चलता रहता है और यह उदय कब तक चलेगा ? जब तक चलेगा, उतनी स्थिति कहलाती है।

अनुभागबन्ध— इसमें यह भी जान जाइए कि किन किन समयोंके बाधे हुए कर्म उदयमें आ रहे हैं। करोड़ों वर्ष पहिलेके बाधे हुए कर्म भी आज उदयमें आ रहे है और इसी भवके बाधे हुए कर्म भी उदयमें आ रहे हैं। अत वर्तमानमे एक समयमें उदयकी जो परिस्थिति बनती है, वह एक सम्मिश्रणरूप बनती

है। इस ही समय करोड़ों वर्ष पहिलेके बांधे कर्म भी उदय में हैं और कुछ दिन पहिलेके बांधे हुए कर्म भी उदयमें है तो उन सबमें फल देनेकी जो शक्ति है, उन शक्तियोंका जो अनुपातमें मेल बैठता है, उसके अनुसार फल मिलता है। इन प्रकृतियोंमें उस ही समय अनुभाग बंध पड़ जाता है। जो कर्म बंधे, उन कर्मप्रकृतियोंमे ये वर्गणाएँ इतने दर्जेका फल देनेमें निमित्त होंगी, ये इतने दर्जेका फल देनेमें कारण होंगी, ऐसा उनमें फलदानशक्तिका भी बंधन हो जाता है, इसे कहते हैं अनुभागबंध।

कर्मबन्धनमे चतुष्टयात्मकता-- विपाकानुभवका कारण, विपदाका कारण, विडम्बनाका कारण यह है अनुभाग। एक कल्पना करो कि अनुभाग कर्ममें न हो, वे बंधे रहें, उनमें प्रकृति पडी रहे, उनमें स्थिति बनी रहे और जो कर्म आज बंध हैं उनमें भी अनन्तगुणे उसके ऊपर चढ़ते रहें, लेकिन उनमें अनुभाग न हो, फलदान शक्ति न हो तो उनका क्या डर है ? लेकिन ऐसा नहीं होता है। अनुभाग भी पड़ा हुआ है और अनुभाग प्रकृतिप्रदेशकी स्थिति बिना आ नहीं सकती हैं, अत वे तीन भी बन्धे हुए हैं। अनुभाग किनमें पड़ा है ? जिनमें पड़ा है, उनका नाम है प्रदेशबंध। यह अनुभाग वाला प्रदेश कितने समय तक रहेगा ? ऐसी बात न हो, कुछ ठहरे ही नहीं आत्मामें, तब अनुभाग कहां विराजेगा ? यह अनुभाग किस प्रकारके फलको देनेमे कारण है ? ऐसा कोई प्रकार न हो, प्रकृति न हो तो यह अनुभाग किसका है ? यों कर्मबंधनमे प्रकृतिप्रदेश स्थिति और अनुभाग चार बंधन आ जाते हैं।

बन्धनचतुष्टयात्मकता पर भोजनका दृष्टान्त— जैसे मनुष्यने भोजन किया तो भोजनका जो स्कन्ध है, उसका पेटमें बन्धन हुआ। यह तो समझ लीजिए। प्रदेशबंधन और उस भोजनमे यह बटवारा हो जाता कि यह भोजन इतने अंगमे तो खूनरूप बनेगा, इतनेमें मलरूप, इतनेमें मूत्ररूप, इतनेमे पसीनारूप, इतनेमें हड्डीरूप और इतने में वीर्यरूप बनेगा, इस प्रकारका बटवारा हो जाता है। तभी तो वैद्य कहते हैं कि इसको खावो तो मल अधिक बनता है, इसको खावो तो खून कम बनता है, इसे खावो तो वीर्य अधिक बनता है, इसे खावो तो रुधिर अधिक बनता है, इसे खावो तो हड्डीरूप बनता है, इसे खावो तो मास-मज्जा बढता है--ऐसे भोजनमें बंटवारा हो जाना, प्रकृति पड़ जाना, इसको कह लीजिए प्रकृति-बंधन। साथ ही उस खाये हुए भोजनमें जो ऐसी स्थिति पड़ जाती है कि जो मलरूप बन गया है अश, वह तो १० घण्टेभर रहेगा, जो पसीनारूप बन गया है, वह घण्टेभर रहेगा, जो खूनरूप बन गया है, वह कुछ वर्ष रहेगा, जो हड्डीरूप बन गया है, वह ५० वर्ष रहेगा, जो वीर्यरूप बन गया है, वह इतने वर्ष रहेगा। ऐसी उसमें रहनेकी म्याद भी पड़ जाती है ना ? समझ लीजिए उसका नाम है स्थिति बंधन। साथ ही उस भोजनमें शक्ति भी पड़ जाती है। पसीनेमें शक्तिका अश बहुत कम है, मूत्रमें शक्ति उससे अधिक है, मलमें शक्ति उससे अधिक है, खूनमें उससे अधिक है, मास-मज्जामें उससे अधिक है, हड्डमें उससे अधिक है और वीर्यमें सर्वाधिक शक्ति दिखायी देती है। इस प्रकारसे उस भोजनमें शक्तिके पड़ जाने पर यह मान लीजिए कि यह अनुभागबंधन है। जहां ये चार प्रकारके बंध होते हैं, उसे कहते हैं बंधन।

लोकबन्धनका एक दृष्टान्त — किसी मनुष्यको रस्सीसे बांध लो--नारियलकी रस्सीसे बांध लो, रेशमकी रस्सीसे बांध लो, सूतकी रस्सीसे बांध लो। जहा किसी परपदार्थका इस भांतिसे सम्पर्क होता है तो वह प्रदेशबंधन है। उसमें जो प्रकृति पड़ी हुई है, उसका बंधन इस प्रकृतिका है। रेशमकी भांति और नारियलकी भांतिका बंधन कुछ प्रकृतिमें अन्तर रखता है ना ? वह प्रकृतिबंधन है। कब तक प्रकृति-बंध रहेगा ? ऐसा उसमें प्रमाण रहना, सो स्थितिबंधन है। कितना तगड़ा, कितना कठोर, कितना क्लेश-कारी इसका बंधन है ? यह भी तो बात पड़ जाती है, यह समझ लो अनुभागबंधन। ये चार प्रकारके बंधन बंधमें हुआ करते हैं।

प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण योग— इन चार बंधनोंमें से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध तो शुभ अशुभ, मन, वचन, कायकी क्रियावोंसे होता है। जो लोग दूसरोंके लंगडेपनको, रोगको देखकर किसी प्रकारकी नकल करता है, मजाक करता है अथवा उसे चिढ़ाता है, जैसे हाथ-पैर कुछ टूटेसे चलते हैं तो उस तरहसे चलाए, उसकी नकल करे— ऐसी अशुभ क्रियाएँ की जाती हैं तो वैसा ही अशुभ कर्म बधता है, उसे भी थोड़ा बहुत वैसा ही होना पड़ेगा। जैसे शुभ क्रियाएँ मनकी करें, वचनकी करें और शरीरकी करें, कर्ममें उस प्रकारकी शुभ प्रकृति पड़ जाती है और भविष्यमें प्रायः वैसी ही मन, वचन, कायकी क्रियाएँ होंगी। मन, वचन, कायकी नवीन कर्म परमाणुवोंका आकर्षण करनेमे कारण होती हैं। इसी प्रकार मन, वचन, कायके कार्योंसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है।

स्थितिबन्ध व अनुभागबन्धका कारण कषाय— उस बद्धकर्ममें जो स्थिति पड़ती है कि यह प्रकृति इतने दिनो तक रहेगी या उनको जो फलदानशक्ति पड़ती है कि यह कर्म इतनी डिग्रीका फल देनेका कारण होगा। यह दोनों प्रकारका बन्ध कषायों द्वारा होता है। तिर्यंच, मनुष्य और देव आयु अधिकसे अधिक बधे, इसका कारण है मन्दकषाय। मन्दकषाय ही तो इन तीनों आयुवोकी स्थिति ज्यादा बंधती है। इसके अतिरिक्त जितने भी कर्म हैं, उन कर्मोकी उत्कृष्ट स्थिति बधे तो उसका कारण है तीव्रकषाय। ये तीन आयु पुण्य-प्रकृति हैं—मनुष्य, तिर्यंच और देव। क्योंकि इनको अपनी आयु प्यारी है, वे कभी मरना नहीं चाहते। नरक आयु पापायु है। ये नारकी प्रार्थना करते रहते हैं कि मैं मट मर जाऊँ। कितने समय तक यहां रहना पडेगा। वह नरकायु भी पापायु है। यदि ये तीन आयु शुभ आयु हैं तो इनकी स्थिति ज्यादा बधेगी अर्थात् ज्यादा दिन तक उस भवमें यह रह सके—ऐसी उत्कृष्ट स्थितिका बन्धना मन्दकषायसे होगा। यदि तीव्रकषाय है—क्रोध, मान, माया, लोभकी प्रचुरता है तो ये तीन आयु उत्कृष्ट स्थितिमे न आ सकेंगी। इनकी अल्प स्थिति रह जाएगी। इन तीन पुण्य आयुके अतिरिक्त बाकी पुण्य-प्रकृतियां भी बहुत हैं। शुभ, सुभग, यशःकीर्ति, तीर्थंकर आदि अनेक पुण्य-प्रकृतिया हैं। इन आयुवोंसे भी अच्छी समझमें आने वाले शुभ प्रकृतियां हैं। उनकी ज्यादा स्थिति बन्धेगी तो तीव्रकषायों से बधेगी।

उत्कृष्ट स्थितिबन्धका कारण— संक्लेश परिणामसे तीर्थंकर जैसी उत्कृष्ट प्रकृतिका बधन है। सम्यग्दृष्टियोंमे जितना सक्लेश सम्भव है, उसमें उत्कृष्ट स्थिति बन्धती है। प्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति तो तीव्रकषायोंमें बन्धती ही है, इसमें तो सदेह ही नहीं है। स्थितिके बन्धनकी निर्भरता कषाय पर है। जैसा तीव्रकषाय होगा, उसी प्रकारकी स्थितियां बन्धेंगी। इस प्रसंगमें थोड़ा यह संदेह किसीको हो रहा होगा कि ये पुण्यप्रकृतिया शुभ, शुभग, यश कीर्ति, तीर्थंकर और अनेक उत्कृष्ट स्थितियां तीव्रकषायवश हुआ करती हैं। इसका क्या कारण है? इसका कारण स्पष्ट है। कर्ममात्रका भी बन्धन इस जीवकी अपवित्रताका कारण है। ये संसारमें रोके रहेंगी। ये कर्म जब तक जीवके साथ हैं, तब तक ये ये रोके रहेंगी।

स्थितिबन्धका उपसंहार— इन कर्मोंके द्वारा संसारमें रुके रहनेका काम उसके बड़ा होगा, जिसके तीव्रकषाय होगा। संक्लेश परिणामके ही कारण यह जीव संसारमें अधिक दिनों तक टिक सकेगा, इस कारण शुभ कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति संक्लेश परिणामसे होती है; किन्तु तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु की उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध तीव्रकषायसे नहीं हो सकता। यह बात भी स्पष्ट समझमें आ जाती है। कहीं तेज क्रोध करनेसे बहुत दिनों तक देव रह सकेंगे क्या? कहीं तीव्रक्रोध करनेसे बहुत दिनों तक मनुष्य रह सके, ऐसी स्थिति पायी जा सकती है क्या? यहां शायद आप यह कहेंगे कि यदि ये कर्म तीन शुभ आयुके बहुत दिन तक न रह सकें तो इसमे तो यह नुक्सान है कि संसार ज्यादा दिनों तक न रहेगा।

भैया ! उसकी क्या चिंता है ? ज्यादा दिनों तक एक गतिमें रहकर संसारवर्द्धकोंमें मुख्यरूपसे रहना है तो नरक आयुका तो दरवाजा खुला है। खूब क्रोध करें, खूब मान, माया, लोभ करें तो नरकगति उनके लिए हाजिर है। तीव्रसंक्लेशमें, तीव्रकषायमें, तीव्रतृष्णामें नरक आयुका बन्ध उत्कृष्ट पड़ता है। यों स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध इस जीवके कषायके अनुसार होता है।

सत् उपयोग— ये चार प्रकारके बन्धन इस जीवके साथ अनादिकालसे चले आ रहे हैं। इस जीव ने इस बन्धनके वश कैसी-कैसी दुर्गति पायी है, महाकष्ट भोगा है। उन सबके मुकाबिले आज जो हम आपने स्थिति पायी है, वह एक बहुत उत्कृष्ट स्थिति है। इस मनुष्यभवमें इतना उत्कृष्ट मन मिला है कि इसका उपयोग करें, इस मायामय जीव-लोकसे अपना नाता रखनेमें बड़प्पन न समझें, अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि करें तो लोकबन्धन और संसारका संकट अवश्य समाप्त हो सकता है। इन चार बन्धनोंसे रहित जो आत्मतत्त्व है, वह मैं हू। ऐसा ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है। यद्यपि ये चार प्रकारके बन्धन आत्मपदार्थ पर पड़े हुए हैं, पर इस आत्मपदार्थमें जो सहज सिद्ध आत्मतत्त्व है, वह आत्मतत्त्व इन चार प्रकारके बन्धनोंसे रहित है। यह आत्मतत्त्व त्रिकाल निरावरण निरंजन सदा शुद्ध सदामुक्त स्वरूपमात्र है। ऐसा यह निर्द्वंद्व आत्मतत्त्व जो सदा निरुपाधिस्वरूप है, वह मैं हू। इस प्रकारकी सम्यग्ज्ञानी पुरुष भावना किया करता है और इस भावनाके प्रसादसे भविष्यत सभी प्रकारके कर्मोंका निरोध हो जाता है, त्याग हो जाता है।

कर्मनिर्मुक्त स्वत्वका चिंतन— यहां यह ज्ञानी पुरुष बन्धनिर्मुक्त आत्मतत्त्वका चिंतन कर रहा है। इस चिंतनमें जो कर्मनिर्मुक्त अरहंत सिद्ध प्रभुका आत्मा है, वैसा ही मैं हू— ऐसा चिंतन करना व्यवहार दृष्टिका चिंतन है और यह जीवतत्त्व चैतन्यस्वरूप अपने स्वरूपमें अपने स्वभावरूप है। इसमें कर्म आदि किसी भी परद्रव्यका प्रवेश नहीं है, ऐसा चैतन्यमात्र मैं हू। ऐसे चिंतनको निश्चयनयका चिंतन कहते हैं। निश्चयनयमें जो मर्म पड़ा हुआ है, वह जहां विशुद्ध व्यक्त हो जाता है, उसे कहते हैं शुद्ध निश्चयनयका व्यवहार।

मुक्तिके उपायमें प्रथमपुरुषार्थ— यह जीव कर्मोंसे कैसे मुक्त होता है ? उसके उपायमें सर्वप्रथम यह मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानाभ्यास करता है, अपनी शक्तिके माफिक तत्त्वचिंतन करता है। इस चिंतनाके प्रसादसे मोह मन्द होता है, वस्तुस्वरूपपर दृष्टि लगती है, तब इस अभ्यासके बलसे इसके अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम होता है। अधःकरण परिणाम उसे कहते हैं, जिसके ऊपरके समय वाले साधक जैसा विशुद्ध परिणाम नीचेके समय वाले साधकमें भी हो सके। ऐसी अनुकृष्टिरचनारूप जहां परिणामोंकी विशुद्धि चलती है, उसे अधःकरण परिणाम कहते हैं। यह प्रयोगात्मक विशुद्धिका प्रथम कदम है। इस विशुद्धिके प्रयोगमें फिर ऐसी योग्यता आ जाती है कि प्रतिसमय इसके अपूर्व-अपूर्व विशुद्ध परिणाम चलते रहते हैं। यह द्वितीय कदम है, जिसमें बहुतसी उत्कर्षताकी बातें होने लगती हैं। असंख्यातगुणी निर्जरा पहिले समयमें हुई, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा अगले समयमें होती है; किन्तु यह निर्जरा स्थिति और अनुभागकी निर्जरा है, प्रकृतिकी निर्जरा नहीं है।

सर्वप्रथम प्रकृतिनिर्जरण— प्रकृतिकी निर्जराका अर्थ है कि वह प्रकृति ही न रहे और स्थिति अनुभागकी निर्जराका अर्थ यह है कि उन परमाणुवोंका स्थितिघात हो जाए और अनुभागका फल दानशक्ति भी घात हो जाए। इस निर्जराके फलमें प्रकृतिनिर्जरा होगी। अनिवृत्तिकरण परिणाम पाकर इसके प्रकृतिनिर्जरा हो जाती है। उस समय सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोंकी निर्जरा हो सकती है। सप्तप्रकृतियोंकी निर्जरा क्षायिक सम्यक्त्वमें ही हुआ करती है। उपशमसम्यक्त्वमें प्रकृतिनिर्जरा नहीं है, वरन विसंयोजन है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें भी प्रकृतिनिर्जरा नहीं है। प्रकृतिनिर्जरामें फिर वह प्रकृति ही नहीं रहती

है। उपशमसम्यक्त्वमें सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियां उपशांत हैं, दबी हुई हैं, सत्तासे खत्म नहीं होती है। क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमें ६ प्रकृतियां दबी हैं और कुछ निष्फल होती हुई उदयावलिमें आती रहती हैं तथा एक सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय भी रहता है; किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व तब ही सम्भव है, जब इन सातों प्रकृतियोंकी सत्ता ही मिट जाए। इन प्रकृतियोंकी जब निर्जरा होती है तो इन कर्मोंमें बहुत बड़ा प्रक्षोभ हो जाता है। कैसे प्रकृतियोंके निषेक टूटते हैं, नीचे मिलाया जाता है, कैसे उनका अनुभागघात होता है। यह सब यों जान लीजिए कि अनादिकालसे प्रबलतापूर्वक चले आए हुए ये कर्म जब समूल नाशको प्राप्त होंगे तो कितना भड़भड़ इसमें हो सकता है और कैसी दुर्दशामें ये कर्म नष्ट हुआ करते हैं?

मोक्षमार्गी जीवके कुछ प्रकृतियोका जन्मतः ही असत्त्व— जो जीव उस ही भवसे सर्वथा कर्मनिर्मुक्त होंगे, उस जीवके नरक आयु, तिर्यंच आयु और देव आयुकी सत्ता ही नहीं रहती हैं। जिस पुरुषको मोक्ष जाना है, उस पुरुषके तो सिर्फ एक मनुष्य आयु है। अत वह भी जो भोगी जा रही है, वह मनुष्य आयु है। अन्य मनुष्य आयु बंधी हुई नहीं है, जिससे अगले भवमे भी मनुष्य हो। यह तो इस मनुष्यदेहको छोड़कर मुक्त होगा। उसके तीन आयु नहीं हैं। कोई मनुष्य ऐसा हो कि जो तीर्थंकर न होगा और मुक्त होगा, उसके तीर्थंकरप्रकृतिकी भी सत्ता न होगी और कोई पुरुष ऐसा हो कि जिसने आहारक शरीरका बंध न किया हो तो उसके आहारक शरीर और आहारक आंगोपांग— ये दोनों प्रकृतियां भी नहीं रहती हैं।

असंख्यातगुणी निर्जराका अवसर— अब यह जीव व्रतावस्थामें बढ़ा, इसके अव्रत परिणामके विकल्प छूटे। व्रत परिणाममें यह आया, अतः व्रत परिणाममें जब यह आता है तो इसके अधःकरण और अपूर्वकरण—ये दो परिणाम होते हैं। जिस समय व्रतग्रहण होता है, ग्रहणका भाव होता है, उस समय इसके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। व्रतग्रहण कर चुकनेके बाद वर्षों तक यह व्रती रहेगा; किन्तु वर्षों तक असंख्यातगुणी निर्जरा नहीं होती, साधारणरूपसे हुआ करती है। यह करणानुयोगका मर्म इस तथ्यको भी प्रकट करता है कि देखा होगा। कोई साधु बनता है, कोई प्रतिमा ग्रहण करता है तो प्रारम्भ में उसके कितनी बड़ी निर्मलता होती है? बड़ा उत्कृष्ट वैराग्य होता है। जब साधु हो रहा है तो वह न मांकी सुने, न पिताकी सुने, न मित्रोंकी सुने। उसके तो एक ही धुन है। लोग इस अचरजमें हो जाते हैं कि क्या हो गया है इसके दिलमें? अभी तक हम सबका बड़ा विश्वासपात्र था, जो हम कहते थे सो करता था। अब इसके क्या धुन समा गई? इतनी उत्कृष्ट वैराग्यकी अवस्था हो जाती है। उस समय विशेष निर्जरा चलती है। व्रतग्रहण कर चुकनेके बाद वर्षों तक यह साधु रहेगा, पर प्रायः देखा होगा कि इतनी धुन, इतनी निर्मलता, इतना वैराग्य फिर नहीं रह पाता है। कोई-कोई तो अपनी ज्ञानभावना भी खो डालते हैं। यह केवल अज्ञानियोंकी बात है, पर ज्ञानी भी रहे तो भी इतनी प्रकर्ष निर्जरा असंख्यातगुणे रूपसे नहीं चलती है।

सम्यग्दृष्टि, श्रावकव्रती और मुनिव्रतीके असंख्यातगुणी निर्जरा— सूत्रजी में बताया है कि सातिशय मिथ्यादृष्टि जीवके अपूर्वकरण, अनवृत्तिकरण परिणाममें जितनी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा सम्यक्त्वग्रहणके समय होती है। सम्यग्दृष्टिके जितनी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा श्रावकव्रत ग्रहण करने वाले पुरुषके होती है। श्रावककी जितनी कर्मनिर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा महाव्रत धारण करने वालेके होती है। महाव्रत धारण करने वालेके जितनी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करने वाले पुरुषके होती है।

अनन्तानुबन्धीविसंयोजककी विशुद्धि— अब यहां परिणामोंकी विचित्रता देखनेका अवसर मिल रहा है। यह महाव्रती छठे गुणस्थान वाला है और कहो कि अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन कभी चतुर्थ गुण-

स्थानसे भी पहिले कर रहा हो, सातिशय मिथ्यात्वमें भी कर रहा हो अर्थात् सम्यक्त्व जिसके पैदा होने को है, उससे कुछ पूर्वकी दशा हो, यहां उसकी महाव्रतके ग्रहण समयकी निर्जरासे असंख्यातगुणी निर्जरा बतायी गई है। इस जीवकी बहुत अधिक निर्जरा तो सम्यक्त्व होनेसे पहिले हो जाती है। इस जीव पर कर्मोंका कितना कूड़ा-कचरा लगा है ? जितना लगा है उसका बहुत कुछ भाग तो सम्यक्त्व होनेके समय नष्ट होता है। बादमें इतना विकट भार नहीं रहता है। हजारों सागरोंकी कर्मनिर्जरा सातिशय मिथ्यात्व में हो जाती है। सम्यक्त्व होनेके बाद फिर निर्जराके लिए कर्म इतने विशाल, कठोर नहीं मिल पाते हैं जितने कि सम्यक्त्व होनेसे पहिले कर्मनिर्जराके लिए कर्म होते हैं।

दर्शनमोहक्षपणकी भूमिका— अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेमें जितना कर्मनिर्जरण होता है, उससे असंख्यातगुणा कर्मनिर्जरण दर्शनमोहनीयका क्षय करनेमें होता है। जो जीव क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करता है, वह किस प्रकार करता है ? इस विधिको सुनिये—क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव ही क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करता है, यह नियम है। मिथ्यात्व गुणस्थानके बाद एकदम क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता या उपशम सम्यक्त्वके बाद क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वके बाद ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। उस क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिके सातों प्रकृतिकी सत्ता बनी हुई है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति— ये सात प्रकृतियां सम्यक्त्वको उत्पन्न न होने देनेमें निमित्त हैं। इन ७ प्रकृतियोंके नाशके प्रसंगमें प्रथम अनन्तानुबन्धीका विनाश करनेके लिए अध करण, अपूर्वकरण, अनवृत्तिकरण परिणाम होता है। इस समयमें अनन्तानुबन्धीकी स्थिति और अनुभागनिर्जरा होती है, फिर जो कुछ थोड़ा बहुत अनुभागस्थितिका अनन्तानुबन्धी कर्म रह जाता है तो वह समूचाका समूचा एक साथ अप्रत्याख्यानावरणरूप हो जाता है। उसमें अनन्तानुबन्धीपना रंच भी नहीं रहता, इसे कहते हैं अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन। बड़ा पुरुषार्थ है इस जीवका अनन्तानुबन्धी विसंयोजनमें और इसी कारण फिर अन्तर्मुहूर्त वह विश्राम लेता है।

दर्शनमोहक्षपणमें असंख्यातगुणी निर्जरा— अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनके बाद फिर अध करण, अपूर्वकरण, अनवृत्तिकरण परिणाम करता है। अबकी बार ये परिणाम दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंके क्षयको लिए हुए हैं, उनमें स्थितिनिर्जरण, अनुभागनिर्जरण ये सब चल रहे हैं। पश्चात् मिथ्यात्वप्रकृति रही सही एकदम सम्यक्मिथ्यात्वरूप हो जाती है, यों मिथ्यात्वका नाश हुआ और सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति रही सही सम्यक्प्रकृतिरूप हो जाती है, यों सम्यक्मिथ्यात्वका नाश हुआ। अन्तमें यह सम्यक्प्रकृति क्षीण होती हुई गुणसंक्रमण और सर्वसंक्रमण होकर पूर्णतया नष्ट हो जाती है। क्षायिक सम्यक्त्वके समय दो काम हुए—अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन और दर्शनमोहनीयका क्षय। इसमें अनन्तानुबन्धीके विसंयोजनमें जितना कर्मनिर्जरण हुआ है, उससे असंख्यातगुणे कर्मनिर्जरण दर्शनमोहनीयके क्षयमें हुआ है।

उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह व केवलिजिनके असंख्यातगुणी निर्जरा— दर्शनमोहक्षपकके क्षायिक सम्यक्त्वके उत्पन्न होते समय कर्मोंकी जितनी निर्जरा हुई, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा उपशम श्रेणी चढने वाले जीवोंके अपूर्वकरण, अनवृत्तिकरण नामक गुणस्थानमें होती है। जितनी निर्जरा इस उपशम श्रेणी चढ़ने वालेके हुई, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा ११वें गुणस्थानमें होती है। जितनी निर्जरा ११वें गुणस्थानमें होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा क्षपकश्रेणी चढने वाले साधुओंके ८वें, ९वें गुणस्थानमें होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा १२वें गुणस्थानमें और उससे असंख्यातगुणी निर्जरा केवलीभगवानके होती है और १४वें गुणस्थानमें पूर्णतया कर्मोंका विनाश हो जाता है, तब सिद्ध दशा प्रकट होती है। जैसे ये अरहंत, सिद्ध कर्मोंसे निर्मुक्त हैं, ऐसे ही मैं भी कर्मनिर्मुक्त हूं। यों प्रभुकी

पर्यायका चिंतन करके अपनी योग्यताका चिंतन करना और शुद्ध पर्याय वाले प्रभुके पर्यायकी शुद्धता के दर्शनके माध्यमसे स्वभावकी परख करके अपने स्वभावकी परख करना— ये सब एक भेदरूप उपाय हैं।

निश्चयसे अन्तर्भावना— भैया ! निश्चयसे तो अभेद उपायसे यह ज्ञानी पुरुष इसी समय अपने आपके अन्तरमें सर्वपरविविक्त चैतन्यस्वभावका चिंतन करके भावना कर रहा है कि जो प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध—इन चार बन्धनोंसे रहित आत्मतत्त्व है, वह मैं हूं—ऐसा चिंतन करके यह निकटभव्य स्थिरभावको कर रहा है। जो पुरुष शाश्वतकल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि इस सहज परम आनन्दमय चैतन्यस्वभावको जो कि निरुपम है और कर्मोंका छुटकारा दिलाने वाला है, मुक्तिसाम्राज्यका मूल है—ऐसे चैतन्यस्वरूपको अभेदरूपसे ग्रहण करें। सोऽहं-सोऽहका ध्यान करते हुए सोऽहंके विकल्पका परिहार हो जाए और केवल अपने आपको अहंरूप अनुभव कर लें।

सहजानन्दानुभवके लिए एकमात्र कर्तव्य— शुद्ध सहजानन्दानुभवके लिए हे मुमुक्षु पुरुषों ! बहुत ही शीघ्र बड़ी लगनिके साथ इस चैतन्यचमत्कारमात्र निजअन्तस्तत्त्वकी ओर अपना उपयोग लगावो। इस जगतमें कोई भी अन्य पदार्थ हम आपके लिए शरण नहीं है। कैसे हो शरण ? सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें परिणमते रहनेका दृढ़, कठोर पूर्णव्रत लिए हुए हैं। उनमें अन्य किसी पदार्थका दखल ही नहीं है। मैं ही अपने जैसे भावोंको बनाता हूं, उसके अनुसार अपनी परिणति प्राप्त किया करता हूं। शुभ-अशुभ भावोंके फलमें यह संसार-परिणति लग रही थी। अब निरपेक्ष शुद्ध चैतन्यस्वभावका उपयोग किया जाएगा तो अवश्य ही यह संसार-परिणति मिटेगी और मुक्तिसाम्राज्य मिलेगा। सर्वप्रकारसे एक यह ही प्रयत्न करने योग्य है कि हम अपनेको मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप ही अनुभव किया करें।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ॥६६॥

ममत्वपरित्यजन और निर्ममत्वानुष्ठान— मैं ममत्वको छोड़ता हूं और निर्ममत्वको उपस्थित होता हूं अर्थात् मैं निर्ममत्वस्वभावमें ठहरता हूं। आत्मा ही मेरा आलम्बन है, अन्य समस्त पदार्थोंको, परभावों को मैं छोड़ता हूं। ज्ञानीका ऐसा अन्तःसंकल्प है। इस अनुभूतिमें अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वभाव-मात्र आत्मतत्त्वका शरण ग्रहण किया है और इस ध्रुवस्वभावके अतिरिक्त अन्य जितने भाव हैं, स्वभाव हैं, उन समस्त विभावोंके परित्यागकी विधि प्रकट हुई है। यह मैं आत्मा ज्ञानदर्शनमात्र हूं, अकेला हूं, विविक्त हूं, मोह-राग द्वेष आदिक जो विभाव उत्पन्न होते हैं, उनसे भी मैं रहित हूं—ऐसे निर्ममत्व आत्मतत्त्वको प्राप्त होना ममताके परिहारकी विधि है और ममताका परिहार होना आत्मतत्त्वके पानेकी विधि है।

निर्दोषता और गुणनिधिका एकमात्र उपाय— भैया ! विधि निषेधरूपसे कहा जाने वाला यह एक भाव है, फिर भी करनेकी चीज निषेधात्मक नहीं होती, बल्कि विध्यात्मक होती है। जैसे यहां दो कार्य हैं— ममताका परिहार और निर्ममत्व आत्मतत्त्वकी प्राप्ति। इन दोनोंमें की जा सकने वाली विधिरूप बात निर्ममत्व आत्मतत्त्वकी उपलब्धि है। जैसे कहा जाए कि क्रोधका परिहार करो और क्षमाको ग्रहण करो। क्षमा नाम है क्षोभरहित शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मविकासरूप परिणमनका, जिसमें दूसरोंके विरुद्ध इत्यादिकी कल्पना नहीं आती। इसमें क्रोधका त्याग और किस तरह होता होगा ? क्रोध नामका विभाव किस तरह फेंका जाता होगा ? क्षमा नामक गुण आ जाएगा तो क्रोधका परिहार स्वयमेव हो जाता है। विध्यात्मक चीज तो आत्मविकास है, विभावका परिहार करनेका पुरुषार्थ तो स्वभावका आलम्बन है। मेरा यह आत्मतत्त्व ऐसा समर्थ आलम्बन है कि जितने गुण आदिक शुद्ध विकासरूप, वह सब इस आत्मालम्बन

के प्रसादसे सिद्ध होता है और समस्त अवगुणोंका परिहार भी इस आत्मावलम्बनके प्रसादसे होता है। सो यह मैं एक आत्मतत्त्वको तो ग्रहण करता हू और शेष समस्त विभावोंका परित्याग करता हू।

स्वरूपतः ममताका अवकाश—ममता नाम है ममकारका। कचन कामिनी आदि परपदार्थोंमें अर्थात् परद्रव्योंकी पर्यायमें ममकार करनेका नाम ममता है। यह मेरा है, इस प्रकारका सकल्प होना सो ममकार है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अपना-अपना अस्तित्व रखता है। किसी भी द्रव्यमें किसी अन्य द्रव्यका प्रवेश नहीं है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कर्ता अथवा भोक्ता नहीं होता है। इस मुझ आत्मतत्त्वमें न किसी परके साथ कर्तृत्वका सम्बन्ध है और न परके भोक्तृत्वका सम्बन्ध है। न किसी परको यह कराने वाला है और यहा तक भी अत्यान्ताभाव है कि यह परका अनुमोदक भी नहीं हो सकता।

स्वका परमें अत्यन्ताभाव—यह मैं आत्मतत्त्व जो कुछ करता हू, अपना परिणमन करता हू और अपने ही द्वारा अपने आपको करता हू। प्रेरणा देने वाला भी यह मैं हू और करने वाला भी यह मैं हू। कोई दूसरा पुरुष न मेरे परिणामको करता है, न कोई मुझे प्रेरणा करा सकता है, खुद ही का विभाव खुद ही की गरज खुदको प्रेरणा किया करती है। दूसरा पदार्थ मुझे किसी कामको करनेके लिए प्रेरित नहीं कर सकता है। मैं भी किसी दूसरे जीवको किसी कार्यके लिए प्रेरित नहीं कर सकता। प्रत्येक जीव अपने अपने भावके अनुसार अपनेमें परिणमन किया किया करते हैं। इतना तो अत्यन्ता भाव है मेरा परपदार्थोंमें, फिर भी कुबुद्धिवश परपदार्थोंमें ममकार करता आया हूं, यह सब विभावपरिणति थी। अब मैं इस ममकारका परित्याग करता हू, श्रद्धापूर्वक किसी भी अणुमात्र परपदार्थमें यह बुद्धि नहीं रखता हूं कि कोई भी परपदार्थ मेरे हैं, उनका मुझमें अत्यन्ताभाव है, वे अपने स्वरूपमें हैं, मैं अपने स्वरूपमें हू।

गजब—भैया! यही तो एक विचित्र जगजाल है कि परपदार्थसे हम सब जीवोंका रचमात्र सम्बन्ध नहीं है, फिर भी परपदार्थोंके उपयोगका बोझ अपने ऊपर लादे हुए हैं। इस उपयोगको स्वतन्त्र निर्द्वन्द, निरुपद्रव अपने आपके स्वरूपमें आ सके, इस लायक नहीं रहने देता यह बोझ। परपदार्थ मुझे सता नहीं रहे हैं, किंतु परपदार्थोंके सम्बन्धमें जो विकल्प किए जाते हैं, वे विकल्प मुझे अहर्निश सताया करते हैं। उन विकल्पोंको दुःखस्वरूप जान लेना उन विकल्पोंको हटानेका उत्साह जगाना तथा निर्विकल्प आत्मतत्त्वकी आलम्बन लेना, सो ही सच्ची बुद्धिमानी है।

परकी ममत्वके लिए अयोग्यता—प्रत्याख्यानके प्रसङ्गमें यह ज्ञानी पुरुष विचार कर रहा है कि मेरा जब 'मैं' ही हूं तो मैं परपदार्थोंमें ममत्व क्यों करूँ? इस धोखेमयी ससारमें मुझे किसीके प्रति कुछ न चाहिए। कोई मेरा क्या करेगा? किसकी मैं भीख मागूँ? किस दूसरेमें अच्छा कहलानेके लिए मैं आशा बनाऊँ? ये दृश्यमान चलते फिरते पुर्जे प्रत्येक असमानजातीय द्रव्यपर्यायें हैं। सभी अपनी विपदाओंको सिर पर लादे हुए ससारमें भटक रहे हैं। मैं यहा क्या शरण चाहू? मेरा शरण तो मेरा आत्मतत्त्व ही है। जिस आत्मप्रभुके दर्शन बिना ससारमें अब तक रुलता आया हू, वह आत्मतत्त्व ही मेरा परमशरण है। कितनी सुविधाकी बात है कि जो मेरा परमशरण है, सुखका हेतु है, वह मुझसे अलग नहीं है। यह स्वयं मैं ही तो हू, पहिचान सकूँ तो पहिचान लूँ।

अन्तस्तत्त्वके परिचयके लिए दुग्धघृतका दृष्टान्त—भैया! जैसे दूधमें घी होता है, पर इन चमड़ेकी आखोंसे दूधमें घी नहीं दिख सकता है। सेरभर दूध रक्खा है तो किधर है घी? क्या कुछ पता पड़ता है? पर जो जानकार लोग हैं, वे जानते हैं और बता देते हैं कि इस सेरभर दूधमें १।। छटांक घी निकलेगा और किसी दूधको देखकर बताते हैं कि इसमें छटाकभर घी मुश्किलसे निकलेगा। ऐसा उन्हें जो घी

दिख रहा है, वह ज्ञानबलसे दिख रहा है। दूधमें घी न हो तो कहांसे घी निकले ? कभी कोई पानीको देख कर नहीं कहता है कि इसमें छटाकभर घी निकलेगा। अतः इस विषयमें कुछ ज्ञान तो है ही। उस दूधमें अन्तःतिरोहित घी है ही। यह तिरोधान सूर्यके नीचे बादलों जैसा नहीं है अथवा किसी चीज पर कपड़ा पड़ा हो, इस तरहका नहीं है। उस दूधमें घी बराबर बसा हो और ऊपरसे कुछ ढका हो तो ऐसा नहीं उस दूधके अङ्ग-अङ्गमें घी बसा हुआ है। उस दूधको गर्म करनेसे, मलनेसे, यन्त्रसे बिलोनेसे उस घीकी व्यक्ति हो जाती है।

अन्तस्तत्त्वकी उपलब्धिका उपाय— ऐसे ही हमारे आपके आत्मामें यह आत्मतत्त्व छिपा है। जो सारे संसारको जाने, देखे— ऐसा यह आत्मतत्त्व तिरोहित है। वह सूर्य पर बादल छायें, इस तरह तिरोहित नहीं है या किसी चीज पर कपड़ा पड़ा हो, इस तरह तिरोहित नहीं है, बल्कि दूधमें घीकी भांति तिरोहित है। इस तिरोहित आत्मतत्त्वका विकास परमार्थ तपश्चरणसे हुआ करता है। इस आत्मस्वरूपको मथा जाए, इस चैतन्यस्वरूपमें ही उपयोगका प्रतपन किया जाए, यह उपयोग इस चैतन्यस्वरूपमें तपा करे तो यह तिरोहित आत्मतत्त्व प्रकट हो सकता है। ऐसा यह आत्मतत्त्व ही मेरा परमार्थ आलम्बन है, इसको छोड़कर अन्य किसी भी विभावको मैं न पकड़ूँ, सबको भूल जाऊँ—ऐसी यह ज्ञानी पुरुष भावना कर रहा है।

प्रत्याख्यानकी मगलरूपता— जैसे लोकमें कोई पुरुष किसीसे हैरान होकर, तङ्ग आकर यह सङ्कल्प करता है कि अब मैं उसका नाम भी न लूँगा, उसके निकट न जाऊँगा, उसको आजसे छोड़ता हूं। कोई परम-शरणभूत विश्राम पाया है इस लौकिक पुरुषने, जिसमें तृप्त होकर, संतुष्ट होकर उस सताये गये वातावरणसे उपेक्षा करता है ? ऐसे ही यह ज्ञानी पुरुष इन रागद्वेषादि समस्त विभावोंसे बड़ा सताया गया है, हैरान है। कैसी मोहिनी धूल पड़ी है, पागलपन छाया है कि रंच भी तो कुछ सम्बन्ध नहीं है परपदार्थोंसे ? लेकिन परपदार्थ ऐसे उपयोगमें लदे हुए हैं कि ये थोड़े समयको भी, जिस समय ध्यान, सामायकमें बैठते हैं अथवा किसी प्रकारका धार्मिक कार्य कर रहे हैं, उस समय भी यह सारा प्लान उपयोगसे नहीं हट पाता है। इतना यह चैतन्यप्रभु इन विकल्पोंसे सताया गया है। साथ ही इस ज्ञानीने अपने आपमें सहज परम आनन्दय आत्मतत्त्वको देखा है, जिसे देखनेके प्रसादसे तृप्त होकर अब सङ्कल्प कर रहा है कि मैं इन विभावोंके निकट न जाऊँगा। 'मैं' का अर्थ यहां उपयोगसे है। यह मैं उपयोग अब किन्हीं विभावोंका सहारा न तकूँगा।

स्वके उपादान और परके अपोहनका सङ्कल्प— भैया ! हम विभावोंको इस प्रकार जान लें कि ये केवल क्लेशके मूल हैं, इनसे मुझ आत्माको कोई भला नहीं होनेको है। इन्हींके सङ्गसे अनादिसे अब तक संसार में रुलता चला आया हूं। अब मैं इस चैतन्य-चिंतामणिका ही आलम्बन रक्खूँगा। इस चित्स्वभावके अवलम्बनमें सहज-आनन्दकी धारा धाराप्रवाह बह उठती है। रागादिक भाव तो स्वभावसे बहुत दूर हैं, अत्यन्त दूर हैं। भले ही ये विभाव आत्मतत्त्वमें झलकें, किन्तु ये स्वभावसे बहुत दूर हैं। मैं चैतन्य स्वभावमात्र हू। इस दूरवर्ती तत्त्वकी रुचिमें केवल मूढ़ता ही भरी हुई है, इसका फल संसारमें रुलना है। मैं आत्मतत्त्व सर्वरूप निजस्वभावको ही ग्रहण करता हूं।

परमोपेक्षागम्य तत्त्व— यह आत्मतत्त्व परम उपेक्षाभावसे ही लक्ष्यमें आता है। रागद्वेषकी वृत्ति जब तक होगी, तब तक उस वृत्तिसे आत्मा लक्ष्यमें नहीं आ सकता है। रागद्वेषकी वृत्तिमें कोई जड़तत्त्व ही नजर आयेगा, रागद्वेष स्वयं जड़भाव हैं, ये चेतकभाव नहीं हैं। जड़भावोंमें ही जड़का निवास होगा, चैतन्यतत्त्वका विलास नहीं हो सकता है। जब रागद्वेषसे परे रहकर परम उपेक्षाभावमें रहें तो उस यथार्थ-संयममें रहते हुए यह आत्मा अपने परमार्थभूत आत्मतत्त्वको समझता है, जो आत्मतत्त्व ममकारसे

रहित है, यह ममता-परिणाम इस आत्माका भाव नहीं है, जब ममता ही मेरी चीज नहीं है तो ममताके परिणाममें जो हुकुम दिया है, उस हुकुममें यह जाना, यह तो प्रकट व्यामोह है।

ये रागादिक भाव खुद अशरण हैं। जिस समय ये होते हैं, कुछ क्षणके बाद नियमसे नष्ट हो जाते हैं। राग भावके बाद दूसरा राग भाव आ जाता है, यह तो परेशानी है, पर जो राग भाव आया है, वह रागपरिणाम दूसरे क्षण ठहर नहीं सकता, इनका स्वरूप ही इस प्रकारका है। अत जो रागादिक भाव स्वयं अशरण हैं, होकर मिटने वाले हैं, खुद प्रतिष्ठा नहीं पाते हैं, उन रागादिक भावोंमें रहकर अपनेको शरणभूत समझना और ये रागादिक भाव जो हुकुम करें उसके वश होना, जिस पदार्थका निशाना बनाया उस पदार्थको अपना सर्वस्व समझना प्रकट व्यामोह है।

ज्ञानीकी उत्सुकता— ज्ञानीकी उत्सुकता है कि ममकाररहित अपने आत्मामें स्थित होकर अपने आत्माका आलम्बन लूँ। जैसे भूला-भटका बालक कितनी ही जगह जाता है, पर उसे कहीं शरण नहीं मिलती। जब वह ढूंढता हुआ अपनी बिछुड़ी हुई मांको देख लेता है तो उसकी गोदमें जाकर सतोषभरी सास लेता है। ऐसे ही समझिए कि यह जीव मोहकी प्रेरणासे इस ससारमें चारों ओर भटकता हुआ दूसरोंको शरण मान-मानकर दूसरोंकी ठोकरें खाता फिरा। कभी अपने आपमें स्वभावरूप बसे हुए सहज आनन्दका दर्शन करता है, अपने आपके परम शरणभूत अपने स्वभावको निरखता है तो उसकी गोदमें ही विराजकर यह उपयोगमात्र आत्मा परम संतोष प्राप्त करता है। इस सतोषके मिलनेके बाद अब वह यहांसे हटकर अन्यत्र कहीं भी नहीं जाना चाहता है। ज्ञानी पुरुष ऐसा ही महासङ्कल्प लिए हुए चिंतन कर रहा है कि मैं इस समस्त कमनीय काचन, धन सम्पदा, परिजन— इन इन्द्रजालोंमें, माया-जालोंमें, विभावपर्यायोंमें, परपदार्थोंमें ममताको छोड़ता हूं।

बीती ताहि बिसार दे, आगेकी सुध लेहु—इस जीवने पूरा पुरुषार्थ करके एक बार भी परपदार्थमें ममत्व को नहीं त्यागा है। कभी धर्मकी भी धुन लगी, धर्मका भी कोई कार्य किया तो उन कार्योंके करते हुएमें भी किसी न किसी पदार्थमें यह ममकारका सस्कार बनाये रहा। अपने आपको विशुद्ध निजस्वरूपमात्र नहीं अनुभव सका, शुद्ध चैतन्यस्वभावके अनुभवका सहज आनन्द न पा सका, इसी कारण यह दर-दर भटककर परवस्तुवोंसे आशा कर-करके उनके लिए ही अपने तन, मन, वचन न्यौछावर करता रहा है और प्राणोंकी तरह माने गये इस धनको भी उन ही पर न्यौछावर करके यह अपनेको कृतकृत्य समझता रहा है, पर हुआ वहां उल्टा ही काम। यह ससार-भ्रमणको बढाता रहा है। अब भाग्यवश उत्तम पर्याय मिली है, श्रेष्ठ मन मिला है, श्रुतज्ञानकी प्रमुखता यहा हो सकती है तो अब यह कर्तव्य है कि ज्ञान विवेकका आलम्बन लेकर जो वास्तविक करने योग्य कार्य है, उसको कर लीजिए।

विशुद्ध आलम्बन—यह मेरा आत्मा ही परमार्थभूत यथार्थ आलम्बनके योग्य है। इस आत्मतत्त्वका मैं आलम्बन कर लूँ और समस्त विभाव-परिणतियोंको जो संसारके अनेक सकटोंको भुगतानेमें प्रवीण हैं, उन सब विभाव-परिणतियोंका भी त्याग करता हू। उन विभाव परिणतियोंमें कुछ तो सुखका रूपक रखकर सतानेको आती हैं और कुछ जीवको दुःखका रूपक रखकर सतानेको आती हैं। जैसे वैषयिक सुखमें रूप हो तो वहां भी आकुलतासे ही भेंट होती है और चाहे दुःखकी स्थिति हो, वहा भी आकुलता से भेंट होती है। इस प्रकार समस्त आकुलताओंका कारणभूत इन विभाव-परिणतियोंका मैं परित्याग करता हूं। इस तरह प्रत्याख्यान का अधिकारी यह ज्ञानी पुरुष विशुद्ध चित्स्वभाव का आलम्बन ले रहा है।

सर्वकर्मप्रत्याख्यान— प्रत्याख्यानमय ज्ञानी पुरुष सङ्कल्प कर रहा है कि मैं समस्त परद्रव्यविषयक ममताको छोड़ता हू और निर्ममत्व आत्मतत्त्वके निकट रहता हूं। मेरा यह आत्मा ही सब कुछ है। मैं

शेष समस्त विभावोंको छोड़ता हूं। इस भावनामें ज्ञानीने समस्त विभावोंका परित्याग किया है। समस्त विभावोंका अर्थ एक ज्ञानविलासके अतिरिक्त अन्य समस्त परिणाम हैं, जो औपाधिक हैं। शुभ भाव, अशुभ भाव, पुण्यपरिणाम, पापपरिणाम—सभी परिणामोंका यहां त्याग किया गया है। श्रद्धालु पुरुष चाहे शुभ भावका परित्याग न कर सके, अशुभ भावके परित्यागके बाद शुभ भावोंका आलम्बन रखे, फिर भी यथार्थ तत्त्व समझना ही है कि मैं सर्वविभावोंसे मुक्त केवल चैतन्यस्वरूपमात्र हूं। इ। प्रकार यह ज्ञानी समस्त पुण्य-पाप कर्मोंका परित्याग करता है। पौद्गलिक जो पुण्य-पाप कर्म हैं, उनकी यह चर्चा नहीं है। जो अन्तस्तत्त्वका अत्यन्त अधिक प्रेमी है, वह भिन्न पदार्थोंके सम्बन्धमें ग्रहण और त्यागका विकल्प करे। यह तो होगा ही क्या ? यहां तो अपने आपके परिणमनमें जो शुभ और अशुभ भाव हैं, उनके विवेककी बात चल रही है।

नैष्कर्म्यविषयक एक जिज्ञासा— इस ज्ञानीने शाश्वत सहज चित्स्वभावका आलम्बन करके समस्त शुभ-अशुभ भावोंका परिहार किया है। अपने उपयोगको शुभ-अशुभ भावोंमें न अटकाकर इनसे परे चलकर परम लक्ष्यभूत शुद्ध ज्ञानप्रकाशका आलम्बन लिया है। ऐसी चर्चा सुनकर किन्हीं अज्ञानी जनों को यह जिज्ञासा हो सकती है और किन्हीं दूसरोंके कल्पित ऐसे कष्टमें सहानुभूति हो सकती है कि अहो ! ये साधुजन जिन्होंने पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंका त्याग किया है, जिन्होंने घर-बार बाह्य समस्त परिग्रह छोड़ दिया है, किन्हीं बाह्य वस्तुवोंमें रागबुद्धि नहीं रखते हैं, किन्हींको भी नहीं अपनाते हैं—ऐसे अकेलेपनमें विराजे हुए साधु अशरण हैं। उनके लिए अब वहां क्या शरण है ? यहां तो हम आप लोगोंको बहुत शरण हैं, परिवार है, मित्रजन हैं, गुरुजन हैं या अन्य शिष्य हैं, बहुतसे लोग शरण हैं। जङ्गलमें विराजे हुए अकेले और जो किसीसे प्रेम नहीं रखते हैं—ऐसे साधुजन तो अशरण हैं।

नैष्कर्म्यमें परमशरणका विवेचन— आचार्यदेव कहते हैं कि निर्जन प्रदेशमें रहने वाले साधुजन भी रंच भी अशरण नहीं हैं। उनका जो अमोघ शरण है, वह यही है कि उनका ज्ञान उनके ज्ञानमें प्रतिष्ठित हो रहा है। भैया ! सुख-दुःख, शांति-अशांति—ये सब ज्ञानकी कला पर निर्भर हैं। जो बाह्यपदार्थोंके सम्बन्धमें विकल्प किया करते हैं, वे सदा आकुलित रहा करते हैं; क्योंकि उन्होंने अपने आनन्दमयी स्थानको त्याग दिया है और वे बाह्यपदार्थोंकी ओर अपनी दृष्टि बनाये हुए हैं। सर्व बाह्यपदार्थ भिन्न हैं और वे अपने आपमें ही अपना परिणमन करते हैं। उनसे इस आत्माको कुछ प्राप्त नहीं होता है। उनके प्रति इस मोहीने इष्ट-बुद्धि की है, यह उनका निरन्तर संयोग चाहता है, किंतु वे तो पर ही हैं। जब तक संयोग है तो रहते हैं, नहीं है तो नहीं रहते हैं और वियोग तो अवश्य होगा ही। ऐसी परिस्थितिमें यह विह्वल हो जाता है और जब तक संयोग है, तद्विषयक कल्पनाएँ कर-करके यह अपनेको हैरान बनाये रहता है। शरण तो वास्तविक ज्ञानमें ज्ञानका आचरित होना ही है। यही परम अमृत है। ज्ञानका ह नाम अमृत है। जो न मरे, उसे अमृत कहते हैं। मेरा मेरे लिए ऐसा कौनसा तत्त्व है, जो कभी मरत नहीं है, नष्ट न होता हो ? वह तत्त्व है ज्ञानस्वभाव। यह नष्ट नहीं होता है, इसलिए अमृत है और या ज्ञानतत्त्व मरा हुआ भी नहीं है, किंतु गतिशील, निरन्तर जाननहार, जागता हुआ, सावधान और सचे है, इसलिए भी अमृत है। ऐसे ज्ञानरूप आत्मतत्त्वको ये साधुजन वहां स्वयं ही भोगते रहते हैं।

अनाथपना— एक बार कोई राजा सैर करनेके लिए या क्रूर परिणामी हो तो शिकार करनेके लि जङ्गलमें गया। जङ्गलमें एक मुनिराजको देखा। वे मुनि बड़े कांतियुक्त युवावस्थासम्पन्न प्रसन्न-मुद्रा ध्यान कर रहे थे। राजा पर मुनिका बड़ा प्रभाव पड़ा। वह वहां बैठ गया। थोड़ी देर बाद जब मुनिरा ने आंखें खोली तो राजा कहता है कि महाराज ! तुम यहां ऐसे भयानक विकट जङ्गलमें अकेले बैठे है

कोई शरण नहीं है, आप बड़ा कष्ट पा रहे हैं। आप कौन हैं ? मुनि बोले कि मैं अनाथी मुनि हू। राजा का दिल भर आया और बोला कि महाराज ! अब आजसे आप अपनेको अनाथी न कहिए। मैं आपका नाथ बन गया हू। आप मेरे साथ घर चलो, बहुत बढिया महलमें रहिए और जितना चाहे आराम कीजिए, भोग भोगिए। मुनि कहता है कि मेरे हिताकांक्षी ! तुम कौन हो ? राजाने कहा कि महाराज ! मैं बहुत बड़ा राजा हू। हजारों गांव मेरे राज्यमे हैं, आप धोखा न समझें, मैं आपको बहुत अच्छी तरह से रक्खूँगा। इतनी बड़ी सेना है, इतने कार्यकर्ता लोग हैं, इतने मन्त्री हैं, इस प्रकार राजाने अपना सारा वैभव बताया। उत्तरमें मुनि कहते हैं कि राजन् ! ऐसा तो मैं भी था। इतनी बात सुनकर राजाका दिमाग चकरा गया। बोला कि महाराज ! यह क्या कह रहे हैं ? ऐसा है तो आप फिर अपनेको अनाथी क्यों कह रहे हैं ? मुनि बोले कि सुनो राजन् ! मेरे सिरमें बहुत जोरका दर्द हुआ, जब मैं राज्य कर रहा था। अतः बहुतसे डाक्टर आए, मित्रजन आए, बहुतसे लोग सेवा करने आये, बहुतसे लोग सुन्दर वाणी बोलकर सेवा कर रहे थे, किंतु मेरे दर्दको कोई तिलभर भी न बांट सका। उस समय मेरे चित्तमें आया कि मैं अनाथ हू। उसी समय मेरे वैराग्य जगा और घर छोड़कर यहां चला आया और अपनी साधु-साधना कर रहा हू। तब राजा मुनिराजके चरणोंमें गिर पड़ा और बोला कि महाराज ! मै तो आपके चरणोंकी धूल हू।

परसे अनाथपना— लोग अपनेको स्त्रीसे, पुत्रसे, घरसे, इज्जतसे, पोजीशनसे सशरण समझते हैं। उन्हें शरण मिला क्या ? लोग दूसरोंकी सेवा कर-करके, दूसरेका दिल रखकर, दूसरोंको दु:ख न हो, इन्हें बहुत सुख रहे—ऐसा विकल्प बनाकर और अपना जीवन व्यर्थ खोकर समय यों ही निकालकर अपनी बरबादी कर रहे हैं। शरण है कौन ? ये साधुजन जो बनमें अकेले विराजे हैं, जो अपना उपयोग केवल अपने आपके अन्तःप्रकाशमान इस शुद्ध चित्स्वभावमें लगाए हैं और बहुत उत्कृष्ट सहज परम आनन्द भोग रहे हैं, परमार्थ आनन्दसे तृप्त भी हैं और अघा भी नहीं रहे हैं, निरन्तर उसी ही आनन्द को भोगते चले जा रहे हैं—ऐसे साधुजन स्वयं सशरण हैं। ऐसी वृत्ति उनकी तब ही बन सकी, जब उन्होंने आत्माके शुद्ध तत्त्वको जाना और शुभ-अशुभ भावोंमें वे अटके नहीं। जिनके लिए यह काम अत्यन्त सुगम हो गया है, निरन्तर अपने आपमें ही स्थित रहकर अपने ज्ञानप्रकाशमें ही प्रकाश पाते रहे, ऐसा जिनका केन्द्रित उपयोग हो गया है, वे साधुजन ही खुदके लिए शरण हैं और ऐसे साधुसंतोंकी सेवा-सङ्गतिमे, भक्तिमें जो जन रहा करते हैं, वे भी कृतार्थ हैं। ऐसी प्रत्याख्यानमयी मुद्राको धारण करने वाले साधुजन जयवन्त हों। ऐसी साधुता तभी प्रकट हो सकती है, जब मन, वचन, काय सम्बन्धी सभी इच्छावोंका परिहार कर दें, इन्द्रिय-विषय सम्बन्धी सभी इच्छावोंका परित्याग कर दें, जो जगत्में बाह्यपदार्थोंसे अपने लिए कुछ नहीं चाहते।

लोकेषणाकी विपदा— भैया ! मायामयी कुछ मलिन जीवोंने, मनुष्योंने कुछ अच्छा कह दिया, कुछ प्रशंसा कर दी तो प्रथम तो उन्होंने हमारी प्रशंसा नहीं की। यह निर्णय रखो कि उनके अन्दर कषाय है, स्वार्थ हैं, जिनकी उन्हें पूर्ति करनी है। सो हमारे निमित्तसे उनके कषायकी गिजा मिली है, अतः वे अपनी खुशीमें ऐसा कह रहे हैं, वे हमारी प्रशंसा नहीं कर रहे हैं। व्यवहारमें मान लो कि वे प्रशंसा भी कर रहे हैं तो उससे पूरा क्या पडेगा ? कर्मोंके प्रेरे भव-भवके भटकते हुए आज मनुष्यभवमें आए तो यह कितने दिनोंकी जिंदगी है ? यहासे जाना पडेगा। आगेकी कैसी यात्रा होगी ? जो मनुष्य अपने परिणामोंको न सभाल सके, उनकी यात्रा खोटी होगी। जहांसे निकलकर मनुष्य हुए हैं, उन्हीं कुयोनियों में फिर जन्म-मरण होगा।

स्वाधीन साधना-- भैया ! आत्मकल्याणके लिए प्रथम आवश्यक है कि हम समस्त इन्द्रिय-विषय

सम्बन्धी इच्छावोंका परिहार करें, नियंत्रण करें, इसके पश्चात् अपने आपमें सहज स्वयं दृष्ट हुए उस आनन्द पिण्डको ग्रहण करते रहें। जो सर्व प्रकारकी वाञ्छावोंका परित्याग करेगा, उसके ही निश्चय प्रत्याख्यान होता है यह ज्ञानी पुरुष उत्साहपूर्वक चूँकि सुगम हो गया है ना विभावोंका परित्याग करना और स्वभावका ग्रहण करना, उसने निकटपूर्वमें बहुत अभ्यास किया है इस ज्ञानकी उपासनाका, ऐसे सुगम अभ्यस्त पुरुषको विभावोंका त्यागना और स्वभावका ग्रहण करना अत्यन्त सुगम होता है। जैसे यात्रा करने वाले लोग अपने साथ खाने पीनेका तैयार सामान बहुतसा ले जायें तो जब भी उन्हें भूख लगती है तो तुरन्त अपना डिब्बा निकालते हैं और खा लेते हैं, उनको पेटका भरना अत्यन्त सुगम रहता है। ऐसे ही ज्ञानका भोजन जो यात्री अपने साथ लिए जा रहा है उसको जब भी अशान्ति हुई सो तुरन्त ही उस विभावसे विमुख होकर इस ज्ञानमय भोजनका भोग कर लेता है।

परमपुरुषार्थका परमोत्साह—जिसे अशान्तिका त्यागना और शान्तिका ग्रहण करना अत्यन्त सुगम हो जाता है, ऐसा सुगम अभ्यस्त यह योगी दृढ़ संकल्प कर रहा है कि मैं समस्त शक्ति लगाकर इस प्रबलतर विशुद्ध ध्यानको करूँगा जिस ध्यानके प्रतापसे यह शक्ति और प्रबल होती है। उस समस्त शक्ति के द्वारा सब प्रकारकी वाञ्छावोंका त्याग हो जाता है। जैसे जाड़ेके दिनोंमें नहानेके प्रोग्रामसे कुछ बालक तालाबके किनारे पहुच तो गए पर तालाबके पास बनी हुई भींतपर बैठे हुए झुक रहे हैं, ठंड लग रही है, तालाबमें कैसे प्रवेश किया जाय? कोई बालक एक कड़ा दिल करके उत्साह बनाकर तालाबमें कूदता है तो भींत छोड़नेके बाद अब उसे फिर भींत तो शरण रहती नहीं, वह तो तालाबमें ही गिर गया। तालाबमें गिरने के बाद उसे अब ठंड नहीं लगती। जब तक तालाबमें न कूदा था तब तक ठंडका डर था, अब वह बहुत देर तक जितना चित्त चाहता है उस तालाबमें स्नान कर रहा है, ऐसे ही कुछ पढ़ लिखकर अभ्यास करके साधना बनाकर कोई ज्ञानाभ्यासी इस ज्ञानानुभवके तालाबके निकट तो पहुंच गया है पर वहां झुक रहा है, वह जगह नहीं छोड़ी जा रही है जिस जगह यह बैठा हुआ है। कोई कड़ा दिल करके हिम्मत बनाकर, साहस करके केवल भावमय साहस बनाता है, अपने ग्रहण किए हुए बाह्य पदार्थविषयक वासनाकी भूमिको त्यागकर इस ज्ञानसागरमें, तालाबमें कूदा तो फिर उसे पूर्वकी चीजें शरण तो नहीं रहीं। वह ज्ञानकी ओर आया। वहां ज्ञानमें ज्ञान पहुचनेपर सारी अशान्ति दूर हो जाती है और अद्भुत स्वाभाविक आनन्द भी अनुभूत होने लगता है। अब उस आनन्दसे तृप्त होकर पहिले छोड़ी हुई भूमिका को भूल जाता है और अपने ज्ञान माफिक, बल माफिक उस ज्ञानसागरमें अवगाहन करके समस्त संतापोंको दूर कर लेता है।

ध्येयविवेककी प्रथमावश्यकता—अहो, कैसा मोहका नाच है कि यह जीव कुछ ही समयको विभावोंका परित्याग नहीं कर सकता है। रातदिन भीतरमें परिजन और सम्पदाविषयक वासना बनाये रहता है। कभी कुछ भाव भी जाय धर्मकी ओर तो भी वह वासना भीतर छुपी हुई काम कर रही है। वह वासना थोड़ी ही देर बाद इस साधक पर आक्रमण कर देती है और भी थोड़ा बहुत धर्मध्यानका जो प्रोग्राम है उसको खत्म कर देती है। जिस जीवने ध्येय ही धन सम्पदाका बनाया हो उस ध्येय वाले मनुष्यको समझा बुझाकर या किसी कारण स्वयं ही इच्छा करके वह कुछ धर्मध्यानकी ओर आये तो भीतर जो ध्येयका विष अपने अन्तरमें लिए हुए हैं जब तक उसे नहीं त्याग सकते हैं तब तक इस ज्ञानभावका स्वाद कैसे आ सकता है?

ध्येयविशुद्धिमें ही शुद्ध स्वरसका अनुभव—फूलोंपर रहने वाला कोई भँवरा सैर करता हुआ खेतोंमें पहुचा तो वहां विष्टाओं पर भी घूमने वाले भँवरे मिले। उनसे कहा कि तुम क्या यहा दुर्गन्धित पदार्थ खाया करते हो, हमारे साथ चलो वहां तुम्हें सुगंधित पुष्पोंका मकरंद खाने को मिलेगा। बहुत समझाया

बुझाया, बहुत देर बाद उसके अनुरोधसे उनमेंसे एक मलका भँवरा चला तो सही, किन्तु इस शंकामे था कि कहीं वहा उपवास ही न करना पडे, सो अपनी चोंचमें मलका कोई टुकड़ा दबाकर चला। जब सुगंधित फूलों पर पहुंच गया, तो वह भंवरा पूछता है कि कहो भाई कुछ स्वाद तुम्हें आया ? तो मलका भँवरा बोलता है कि मुझे तो कुछ भी स्वाद नहीं आया। फिर थोड़ी थोड़ी देर बाद कई बार पूछा, उत्तर वहीका वही। फिर कहा कि तुम अपने मुँहमें कुछ लिए तो नहीं हो ? मलका भँवरा बोला—हम एक दिनका कलेवा लेकर आये हैं। अरे अपने मुखसे तू उसे निकाल दे और फिर देख कि तुझे स्वाद आता है कि नहीं ? उसने अपने मुखसे उस विष्टाके टुकडेको निकाल दिया और फिर स्वाद लिया तो उसे उस फूलोंके मकरंदमे बड़ा स्वाद आया। तब उस भँवरेने कहा— ओह इन सुगंधित फूलोंके मकरंदका स्वाद तुम कबसे ले रहे हो ? यों ही समझिये कि इस मायामयी लोकमें कोई अपने बड़प्पनकी चाह बनाए हुए हो तो फिर उसे शुद्ध ज्ञानके आनन्दका अनुभव कैसे हो सकता है ? इसलिए अपना ध्येय विशुद्ध बनानेका सर्वाधिक प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा यह शुद्ध ध्येय वाला पुरुष ही सर्वप्रकारके विभावोंको छोड़ सकता है।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥१००॥

आत्माका स्वके भावमे अवस्थान—आत्मा मेरा मेरे ज्ञानमें है। आत्मा मेरा दर्शन और चारित्रमें है। आत्मा मेरा प्रत्याख्यान स्वरूपमें है और सम्वर तथा योगमें मेरा आत्मा है। जो कुछ भी उपादेय तत्त्व हैं, हितकारी उपाय हैं उन सब वृत्तियोंमें वह मेरा आत्मा अनुभूत होता है। सर्व ही स्थितियोंमें आत्मा ही उपादेय है। हितके जितने भी कार्य हैं वे सब कार्य आत्मस्वरूप हैं। एक आत्मदृष्टि न रहे, आत्म-सम्बन्ध न रहे तो कोई भी कार्य धर्मके नहीं कहला सकते। यह आत्मतत्त्व जिसको धर्मवृत्तियोंमें निरखा जा रहा है वह अनादि अनन्त है।

आत्मतत्त्वकी अनादिनिधनता--यह जीव जो लौकिक पुरुषोंके द्वारा विदित है, यह देहाकार ससारी त्रस स्थावर प्रकारोंमें वह आत्मतत्त्व नहीं है। जो एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पचइन्द्रिय के रूपमें विभक्त है और जिससे लोग व्यवहार करते हैं, वचनालाप करते हैं, जिस पर उनका लक्ष्य रहता है। हम किसको सुना रहे हैं ऐसा लक्ष्यभूत जो कुछ लौकिक जनोंको रहता है वह सब आत्मतत्त्व नहीं है। यह आत्मतत्त्व अनादि अनन्त है और जिसको देखा जा रहा है वह सादि सान्त है, कभी उत्पन्न हुआ है और कभी मर जायेगा, ऐसा ही तो लोगोंको विदित है, वह मैं आत्मा नहीं हूं। मैं अनादि अनन्त हू।

अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाव शुद्ध तत्त्व--लोगोंको जो कुछ दिखता है वह सब मूर्तस्वरूप है, रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिंड है। यह जड़ है। मैं जाननहार हू। जो रूप आदिक सहित है वह जाननहार त्रिकाल नहीं हो सकता है। जानन एक अमूर्त भाव है, वह किसी विशिष्ट अमूर्त पदार्थमें ही हो सकता है। मैं चेतन हू, अमूर्त हू, जैसे कि इन्द्रियके जानन द्वारा जाननकी वृत्ति चल रही है ऐसा इन्द्रियरूप मै नहीं हू। मैं इन्द्रियोंसे परे परमार्थस्वभावरूप हू, अतीन्द्रिय स्वभावी मैं हू। इसके परमार्थस्वभावके अतिरिक्त समस्त परपदार्थोंसे विविक्त हू, इसी कारण शुद्ध हू।

शुद्धत्वका स्वरूप--भैया ! शुद्ध कहा करते हैं अकेले स्वरूपके रह जानेको। लोकमें भी जिस चीज को शुद्ध करनेकी बात कही जाती है उसका भी अर्थ है कि इसको अपने स्वरूपमात्र रहने दो। जो दूसरी चीजोंका सम्पर्क हो गया उसे हटा दो, इसी के मायने शुद्ध करना कहलाता है। किसी चौकीपर कूड़ा लग गया हो, कबूतरकी बीट पड गयी हो तो लोग कहते हैं कि इसे शुद्ध कर दो। उसे शुद्ध कर दो का अर्थ है कि इस चौकीको खाली चौकी भर रहने दो। इसमें जिस परद्रव्यका सम्पर्क हुआ है उसे हटा दो।

सम्पर्क हटानेके भावको ही शुद्ध करना कहा जाता है। कोई पुरुष चांडालसे छू गया है तो उसे कहते हैं कि यह अशुद्ध हो गया है, इसे शुद्ध करो, तो शुद्ध करने का भी वहां तात्पर्य यह है कि चाण्डालसे जो छुवा हुआ है, वह न छुवा हुआ हो जाय। अब न छुवा हुआ हो जाय, इसका उपाय क्या है ? तो लोगोंने नहाना उपाय समझा है। पानीसे नहा लो तो वह छुवा हुआ हट जायेगा। वहां पर भी शुद्धका अर्थ पर-सम्बन्ध हटानेका है। यह आत्मतत्त्व परके सम्बन्धसे हटा हुआ ही है इसलिए शुद्ध है।

सहजानन्दस्वभाव—यह आत्मतत्त्व अपने सहजस्वरूपमात्र है, कोई भी पदार्थ है तो, अस्तित्वके कारण स्वयका जो निजस्वरूप होता है उस स्वरूपमात्र है। वह स्वरूप सहज है, वह किसी दिनसे उस पदार्थमें नहीं आया, अनादिसे ही वह पदार्थ है और अनादिसे ही तन्मयस्वरूप है, ऐसा यह मैं सहज स्वरूपमात्र हू। जीवोंको सुखसे प्रयोजन होता है। अन्य कुछ भी अवस्था इस जीवमें गुजरे, उससे प्रयोजन नहीं है। एक सुख अवस्था होना यह मात्र प्रयोजन है। यह आत्मा किसी भी अवस्थामें, किसी भी पर्यायमे पहुचकर कितना भी लम्बा विस्तारसे हो जाय, उससे यह जीव अपनी हानि नहीं समझता है, किन्तु दु खरूप अवस्था हुई तो हानि समझता है, किन्तु अतस्तत्त्वमें निरखो तो दुःखका यहां स्वभाव ही नहीं। इस जीवमें चाहे दुःख आ पडे, वह औपाधिक बात है किन्तु स्वभाव आनन्दका ही है। जो आत्माके अस्तित्वके कारण आत्मामें स्वय हो, उसे स्वभाव कहते हैं। आत्मामें स्वय आनन्दका स्वभाव है पड़ा हुआ है।

शाश्वत अमूर्त अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वभाव--यह आनन्द स्वभावआत्मामें अनादिसे है। जबसे आत्मा है तबसे ही आनन्दस्वभाव है। यह आनन्दस्वभाव अनन्त है। जब तक भी अस्तित्व है तब तक है। कब तक है ? सदा अस्तित्व है, तो सदा ही इसका आनन्दस्वभाव है। यह आनन्दस्वभाव अमूर्त है, आनन्दस्वभावका परिणमन भी अमूर्त है। वह आनन्द इन्द्रिय द्वारा गम्य नहीं है। इन्द्रिय द्वारा जो भी भोग भोगा उस भोगमें आनन्दकी अपूर्ति है, तृष्णा है, विह्वलता है। इन्द्रियके द्वारा वह आनन्दस्वभाव पकड़ा नहीं जा सकता। यह अतीन्द्रियस्वभावी है, ऐसा शुद्धसहज आनन्दस्वरूप आत्मा है। जैसा अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभावी आनन्दस्वभाव है ऐसा ही अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय-स्वभावी ज्ञानस्वभाव है। समस्त स्वभाव, समस्त शक्तियां इस मुझ चैतन्य ब्रह्ममें अनादि अनन्त हैं, अमूर्त हैं और अतीन्द्रियस्वभावी हैं।

आत्माका प्राप्तिस्थान - अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभावी यह आत्मा कैसे मिलेगा ? किसी बाह्य पदार्थमे दृष्टि लगाया तो मिलेगा या बाहर किसी परमात्मा को देखो तो मिलेगा ? किस जगह मेरा यह परमशरणभूत आत्मब्रह्म मिलेगा ? वह सम्यग्ज्ञानमें मिलता है। यह ज्ञान ब्रह्म है। अन' ज्ञान स्वरूपमें ज्ञान द्वारा ही ज्ञान करनेसे मिलेगा यह ज्ञानस्वरूप आत्मा यह आत्मा। शुद्ध ज्ञानचेतनापरिणत है। सहज शुद्ध ज्ञानस्वभावी, दर्शनस्वभावी है। वह सम्यग्ज्ञानमें मिलेगा, दर्शनमें मिलेगा और जब ज्ञान दर्शनमें मिला तो वही सम्यग्दर्शनका विषय हो गया। भली प्रकार इस निज आत्मस्वभावको देखें तो वहां यह आत्मतत्त्व मिलता है। यह परमपारिणामिक भावरूप है। जिसका परिणमन प्रयोजन है पर परिणमनस्वरूप नहीं है जिस पर परिणमन होता चला जाता है पर जो वही ध्रुव रहता है ऐसा ध्रुव चैतन्यस्वभावमात्र मै आत्मा हू।

सिद्धत्वकी सिद्धिका स्वतः सिद्ध स्वयं साधन--योगीजन बड़ी भक्तिभरी दृष्टिसे जिस विकासको देखते हैं ऐसी सिद्ध अवस्थाका कारणभूत यह मेरा ध्रुव चैतन्यस्वभाव है। मेरा विकास मैं करूँ तो होगा। मेरा विकास मेरा जो सहज शुद्धस्वभाव है उसका ही आलम्बन करें तो होगा। बाहरमें व्यवहारके जितने धार्मिक काम किए जाते हैं उन सबका प्रयोजन अपने चैतन्यस्वभावका आलम्बन करना है। यह वास्त-

विक धर्म जिसको नहीं मिला है वह बाहर ही बाहर किन्हीं भी बातोंमें अपनी रुचि माफिक धर्मकी कल्पना करके विवाद किया करते हैं। अरे मैं स्वयं धर्मस्वरूप हूं। इसकी जाननेकी एक पद्धति है, वह पद्धति स्वाधीन है, सुगम है। ज्ञान ही स्वयं में और मैं ही अपने को न जान पाऊँ यह तो मोहका अंधेरा है। जैसे पानीमें ही रहती हुई मछली प्यासी बनी रहती है तो यह अचरज जैसी बात हो जायेगी, ऐसे ही यह मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कुछ मैं हूं नहीं, फिर भी मैं अपने इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वको न जान सकूँ यह तो बड़ा अंधेर है।

संकटहारी परम प्रभु--भैया ! इस जीवको निजकी ही बात नहीं मिली सो यह जीव अत्यन्त असार जड़ परिग्रहोंके विसम्वादमें फस गया। इस मोही जीवको केवल लौकिक वैभव ही देवताकी तरह दिख रहा है। जो स्वयं परमदेव है उसकी रक्षा नहीं करता है। बाह्य जड़ वैभवोंमें आसक्ति करके अपने आपके इस अमूल्य समयको बरबाद कर रहा है, अपने आपमें ही घाव कर रहा है। यह मैं आत्मतत्त्व सहज सम्यग्दर्शनके विषयमें मिलूँगा, इसके मिलनेकी भी पद्धति है। स्वयको चारित्र रूप बनाना होगा। हम संयत तो रहें नहीं, अपना उपयोग जड़ असार बाहरी पुद्गलोंमें फसाये रहें तो वहां इस आत्मप्रभु का मिलन नहीं हो सकता। यह निजनाथ मिलजाय तो सारा दारिद्र्य, सारे संकट इसके समाप्त हो जायेंगे।

अन्तस्तत्त्वकी अन्तःसयमसाध्यता --यह आत्मतत्त्व मिलेगा अपने अंतःसंयमके बलसे। ऐसी चारित्र रूप परिणति हो जिससे यह मैं ज्ञानस्वरूप अपने आत्मतत्त्वमें अविचल स्थित रह सकूँ, ऐसे चारित्रकी दृष्टि हो, यत्न हो तो उस यत्नमें यह आत्मतत्त्व दर्शन दे सकता है। यह चारित्र साक्षात् निर्वाणकी प्राप्ति का उपायभूत है उस ही में अविचलरूपसे स्थित रह जाय ऐसी सहज परमचारित्र परिणति कुछ बने तो उसके द्वारा उस परिणतिका स्रोतभूत जो सहज चारित्र स्वभाव है तन्मात्र तत्त्वमें मेरा परमात्मा जो सन्निहित है वह दृष्ट हो जायेगा। उस अपने ही संयमके बलसे, चारित्रके बलसे, अपनी ही शान्तिके प्रसादसे इस परमपिता, परमशरण चैतन्य परम ब्रह्मको निरख सकता हूं। मेरा आत्मा अन्यत्र कहीं नहीं है। मेरे ही ज्ञानमें, मेरे ही दर्शनमें और मेरे ही चारित्रमें यह आत्मा है। भैया ! जो जीव बाहरी पदार्थों में जो सुख ढूंढ़ते हैं वे सुख क्या ढूँढ़ते हैं, इतने भूले भटके हैं कि वे अपने आपके आत्माको ही मानों बाहर ढूँढ़ते हैं, परन्तु यों कहीं मिलता नहीं है, मिले कैसे ? आत्माको ही मानों बाहर ढूँढ़ते हैं, परन्तु यों कहीं मिलता नहीं है। मिले कैसे ? आत्माका जो चिन्ह है, चैतन्य परिणति है उसकी ओर दृष्टि ही तो आत्मा मिले।

परिचयचिह्न—एक बार एक बुढ़ियाने अपने बेटेको साग भाजी खरीद कर लानेके लिए भेजा। उसका नाम कलिया था। बच्चा बड़ा बेवकूफ सा भूला बिसरा सा रहा करता था। बच्चा बोला, मा मैं बाजार न जाऊँगा, यदि मैं बाजार में गुम गया, खो गया तो फिर मेरा क्या हाल होगा ? मा ने उसके हाथकी कलाईमें एक डोरा बांध दिया और कहा, देखो बेटा तू अपना यह डोरा देखते रहना, जिसमें यह डोरा बँधा है वही तू है, तू गुमेगा नहीं। वह चला गया बाजार। धागा कच्चा था। भीड़ अधिक थी, भीड़की कशमकससे वह डोरा टूट गया तो वह बच्चा वहीं बाजारमें रोने लगा, हाय मैं गुम गया, मैं गुम गया। रोता हुआ घर आया। और मा से कहता है कि मैंने तुमसे कहा था ना कि मैं गुम जाऊँगा तो क्या हाल होगा ? देख अब मैं गुम गया या ? मां बड़ी परेशान हुई। यही तो बच्चा है और कह रहा है कि मैं गुम गया हूं। मा ने कहा, बेटा तू कहां गुम गया, तू ही तो है। किन्तु, वह देख रहा है तो डोरा हाथमें नहीं मिल रहा है, सो वह यह विश्वास बनाए है कि मैं गुम गया, और रोने लगा। तो मा बोली बेटा तू थक गया है, थोड़ा सो जा, तेरा मैं तुझे मिल जायेगा। वह सो गया तो उसकी मां ने कलाईमें

डोरा बाध दिया। जब वह बच्चा जगा तो मा ने कहा—बेटा तेरा मैं मिल गया ना तुझे? बच्चे ने देखा तो कलाईमें डोरा बँधा हुआ था। बोला—हा मां, मेरा मै मुझे मिल गया। उसके मैं का चिह्न डोरा था, जिसको देखकर वह अपना विश्वास कर सकता था। यहां हमारा चिह्न ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है जिसको देखकर यह विश्वास होता है कि यह मै हूं। यह चैतन्य चिह्न न बिसरे तो स्वय व ज्ञान व आनन्द सब आत्मगत है।

व्यामोहका सकट-- व्यामोही पुरुष किन-किन तत्त्वोंमें 'मै' का अनुभव कर रहे हैं? कैसा सङ्कट है इन जीवों पर मोहका? रहना कुछ नहीं है पास साराका सारा छोड़कर जायेंगे, मगर गम नहीं खाते। पुण्योदयसे कुछ मिला है तो उसमें अघाते नहीं हैं, तृष्णा कर-करके दु.खी हो रहे हैं। यह नहीं जानते कि सर्ववैभव प्रकट असार हैं, भिन्न है। यह तो पुण्यका ठाठ बाट है। मैं तृष्णा करके, कषाय करके अपना पुण्य बिगाड़ लूँगा तो यह सम्पदा न रहेगी। यह पुण्य-धन रहेगा तो सम्पदा इससे कई गुणी सामने आएगी; पर सम्पदाको बिगाड़नेसे पुण्य बिगड़ता है। सम्पदाकी हठ करनेसे, अन्यायसे, सम्पदा को सञ्चित करनेसे पुण्य बिगड़ता है और उससे कुछ भली परिस्थिति नहीं आ सकती है। ज्ञानीको लोकसम्पदाकी भी परवाह नहीं है। वह तो सर्वसे विविक्त सहज शुद्ध स्वरूपके दर्शनमें ही तृप्त रहा करता है। जो लोग इस आत्माको भूले हुए हैं, वे ही बाहरमें सुख खोजा करते हैं।

कायरतामें भोगसेवन-- विषयाभिलाषी पुरुष इस सुखके पीछे दूसरे जीवोंके आगे कायर बन जाते हैं। इन्द्रियके विषय वीरतापूर्वक कैसे मिल सकते हैं? कायर होकर ही ये विषयसुख मिला करते हैं। खैर, किसी तरहसे भोगें, पर इतना तो समझना ही चाहिए कि बिना कायरताके ये विषयसुख नहीं भोगे जाते हैं। स्पर्शन इन्द्रियका विषय कायर बनकर ही भोगा जाता है। सभी इन्द्रिय और मनके विषयोंका सब कुछ भोग कायर बनकर ही किया जाता है। यह अज्ञानी परवस्तुवोंसे अपना हित मानकर कायर होता हुआ अपना जीवन व्यर्थ गँवा रहा है। उसे यह पता नहीं है कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं और यह मैं विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावसे परिपूर्ण हू, इसमें क्लेशका नाम ही नहीं है। इसका भी ऐसा उत्कृष्ट स्वभाव है कि सारे विश्वका यह जाननहार बन जाए।

निरीहतामे परम समृद्धि— जब तक यह मैं बाहरके पदार्थोंको जाननेकी उत्सुकता रखता हूं, तब तक मेरा ज्ञान रुद्ध है, हमारे ज्ञानका प्रस्तार नहीं हो सकता और जब मै किसी पदार्थको जाननेकी उत्सुकता ही न करूँ तो मेरा ज्ञान सारे विश्वका जाननहार बन जाएगा। जो चाहता है उसे मिलता नहीं है, जिसे मिलता है वह चाह नहीं रहा है। जो सारे विश्वका ज्ञाता बनकर प्रभुताकी सोचता है, उसे वह ज्ञान-साम्राज्य नहीं मिलता और जो सर्व इच्छावोंसे रहित हैं, उन्हें यह ज्ञान साम्राज्य मिलता है। अपना परमार्थ वास्तविक जो साम्राज्य है, उसको प्राप्त करने का यत्न करें, अपने इस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करें तो हमारा यह अनन्त साम्राज्य मिल सकता है।

साधुवोंकी मार्गणा-- जिनके पांचों इन्द्रियोंका प्रसार दूर हो गया है अर्थात् जो इन्द्रियोंके परम सयमी हैं, शरीरमात्र हो जिनका परिग्रह रह गया है अर्थात् समस्त परिग्रहोंका जहा त्याग हो चुका है, जो समस्त परद्रव्योंसे पराङ मुख हैं, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेके कारण जो सहज उदासीन अवस्था को प्राप्त हैं—ऐसे भेदविज्ञानी साधु विचार कर रहे हैं कि मेरा आत्मा प्रत्याख्यान भावमें है। आत्मा कहा खोजा जाए, किस स्थानमें आत्मतत्त्व मिले? इसके विवरणमें यह गाथा कही जा रही है।

अन्तर्मार्गणा — यह आत्मा कहीं बाहर अथवा भीतर, किसी भी ओर कान लगाकर सुननेसे विदित नहीं होता है और न आखों द्वारा कहीं देखनेसे इसका कुछ भी आसार नजर आता है। किन्हीं भी इन्द्रियोंके द्वारा इस अन्तस्तत्त्वका मिलन नहीं होता है। यह आत्मतत्त्व कहां मिलता है अर्थात् यह जीव किस प्रकारका अपना परिणाम बनाए कि आत्मतत्त्व दृष्ट हो जाए? इसकी यहा चर्चा चल रही है। यह

आत्मा जो कि स्वयं है, निकट भी क्या कहें, खुद ही तो यह है, यह आत्मा खुदमें ही मिलेगा। बाहर कहां मिलेगा ? इस आत्माको किस रूपसे देखें कि खुदको मिल जाए ? इसे देखिए। यह आत्मा समस्त परभावोंसे विविक्त है।

सुख-दुःखरूप विकारोंका प्रत्याख्यान— यह जीव संसारावस्थामें, सुख-दुःख भावोंमें रमा करता है, सुखमें रुचि करता है और दुःखमें डरता है—ये दो बातें इसके निरन्तर चला करती हैं। इस संसारी प्राणीका और कुछ दूसरा ध्येय नहीं है। जितने भी प्रयत्न यह जीव करता है, वह इसी बातका करता है कि मुझे सुख मिले, दुःख दूर हों। इसके लिए अथक प्रयत्न करता है, किंतु उन्हीं प्रयत्नोंका यह परिणाम निकलता है कि इसे आनन्द नहीं मिलता है, बल्कि दुःख ही आक्रमण कर जाता है। सुख-दुःख दोनों ही विकारभाव हैं। सुख इन्द्रियोंको सुहावना लगता है और दुःख असुहावना लगता है। सुहावना लगे, तब भी विह्वलता है और असुहावना लगे, तब भी विह्वलता है। सुख और दुःख दोनों ही अवस्थाएँ आकुलतारूप हैं। इस आत्मतत्त्वके सुख और दुःखका संन्यास है, यह आत्मा सुख-दुःखके प्रत्याख्यानस्वरूप है। ये सुख-दुःख आनन्दगुणके विकार हैं, आत्माकी अशुद्ध अवस्था है। आत्माके सत्त्वके ही कारण ये उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं है, बल्कि पुण्यकर्म और पापकर्मरूप परद्रव्योंकी उपाधिका निमित्त पाकर ये सुख और दुःख अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं।

पुण्य-पाप कर्मोंका प्रत्याख्यान—इन सुख-दुःखोंका निमित्तभूत पुण्य पाप कर्म भी इस आत्मामें नहीं हैं, उनसे भी यह अत्यन्त दूर है। पुण्य-पाप भी एकक्षेत्रावगाही में हैं और सुख-दुःख भी एकक्षेत्रावगाही हैं। पुण्य-पाप कर्मोंका उपादान तो पौद्गलिक कार्माण स्कन्ध है और सुख दुःखका उपादान यह जीव है, फिर भी जीवका जो शुद्ध सहजस्वरूप है, चैतन्यमात्र स्वभाव है, तन्मात्र ही यह आत्मा है। वस्तुतः स्वभावमात्र आत्मस्वरूपको दृष्टिमें लेकर देखें तो ये सुख-दुःख भी आत्मासे अत्यन्त दूर हैं अर्थात् इसके स्वभावमें सुख-दुःखका प्रवेश नहीं है और उसी स्वभावको लक्ष्यमें लेकर अथवा समग्र आत्मद्रव्यको लक्ष्यमें लेकर भी देखें तो ये पुण्यकर्म और पापकर्म एकक्षेत्रावगाह होकर भी अत्यन्त दूर हैं। पुण्य-पाप कर्मोंका तो इस जीवमें अत्यन्ताभाव है—ऐसे पुण्य-पाप कर्मोंका भी प्रत्याख्यान इस जीवमें स्वतः बना हुआ है।

शुभाशुभ भावोंका प्रत्याख्यान— पुण्य-पाप कर्मके हेतुभूत हैं शुभ भाव और अशुभ भाव। ये शुभ अशुभ भाव आत्माके विकार भाव हैं, इनका उपादान आत्मा है, फिर भी यह भाव स्वभावमें नहीं है। इन शुभ-अशुभ विकार भावोंकी, चारित्रगुण व श्रद्धागुणकी इन विशेष अवस्थावोंकी, विभावोंकी, औपाधिक तत्त्वोंकी स्वभावमें प्रतिष्ठा नहीं है, इस कारण ये शुभ अशुभ भाव भी चैतन्यमात्र आत्मासे अत्यन्त दूर हैं। यह मेरा ध्येयभूत आत्मतत्त्व इन छहों द्रव्योंसे परे है दूर है। स्वयं ही प्रत्याख्यान इसका स्वरूप है। ऐसे प्रत्याख्यानस्वरूप भावमें आत्मतत्त्वको देखना चाहिए, इसी विधिसे यह आत्मतत्त्व दृष्ट होता है। यह मैं आत्मा प्रत्याख्यानभावमय हूं। प्रत्याख्यानस्वरूप यह ज्ञायकस्वभाव है। इस ज्ञायकस्वरूपमें यह मैं आत्मतत्त्व हूं। इस प्रकार यह भेदविज्ञानी, निर्ग्रंथ, शुद्धोपयोगका उद्यमी साधु विचार कर रहा है कि यह मेरा आत्मा कहां मिलेगा ? जो आनन्द का पुंज है, जिसके मिलनेसे आनन्द ही आनन्द बरसता है, सर्वप्रकारके अन्धकार दूर हो जाते हैं, संकटोंका जहां लेशमात्र भी नाम नहीं है— ऐसा सच्चिदानन्दस्वरूप यह आत्मतत्त्व प्रत्याख्यानमय इस शुद्ध भावमें मिलेगा।

शुभाशुभवर्तनीमें आत्मतत्त्वका अमिलन— यह जो आत्मतत्त्व मिल नहीं रहा है, इसका कारण है कि शुभ-अशुभ भावोंके बननेमें हम घूम रहे हैं, भटक रहे हैं और वहां इस आनन्दनिधिको खोज रहे हैं। जब तक शुभ-अशुभ भावोंका सम्वर न होगा, तब तक आत्मप्रभुसे मिलना नहीं हो सकता। यह आत्मतत्त्व

शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, रागद्वेष भावसे विविक्त है। यह आत्मतत्त्व कहां देखा जाएगा? यह शुभ-अशुभ भावोंके संवरमें ही मिलता है। ऐसा यह पापरूप जङ्गलको भस्म करनेके लिए प्रचण्ड तेजोमय साधु विचार कर रहा है कि मेरा आत्मतत्त्व इस शुभ-अशुभरूप जङ्गलमें न मिलेगा। यह तो शुभ-अशुभ भावों से अत्यन्त विविक्त निज चैतन्यस्वरूपमें गुप्त है, तिरोहित है, सुरक्षित है।

गुप्त अन्तस्तत्त्वका गुप्त निरीक्षण—भैया! गुप्त वस्तुका परिचय मेरे आंतरिक ज्ञानसे ही हुआ करता है। यदि दुश्मनोंको वह वस्तु विदित हो जाय तो गुप्त कहां रहा? गुप्त केवल अपने हितकारी जनोंको ही विदित नहीं रहता है, बैरियोंको विदित नहीं रहता। यह गुप्त अंतस्तत्त्व शुभ अशुभ भावमें विदित नहीं हो सकता। ये रागद्वेषभाव इस चैतन्यस्वरूपके वैरी हैं। इन वैरियोंको यदि विदित हो जाय तो फिर यह गुप्त कैसे रहे? यह स्वरूपमें गुप्त है बैरियोंके अगम्य है, किन्तु हितकारी भाव जो ज्ञान दर्शन है वह इस ज्ञान दर्शनकी परिणतियोंके द्वारा ही गम्य है। ऐसे गुप्तस्वरूपमें गुप्त हुए साधुजन चिंतन कर रहे हैं। ये साधु पुरुष परम वैराग्यरूपी महल शिखर की तरह हैं अर्थात् परम वैराग्यसे भरे हुए हैं अथवा शिखरमें लगे हुए कलशकी तरह, जैसे वह महलके ऊपर विराजमान है शोभित है। इसी प्रकार ये साधु पुरुष वैराग्यमय आत्मामें विराजमान हैं, शोभित हैं। ऐसा यह परम उदासीन अंतस्त्व का परम-रुचिया ज्ञानी संत चिंतन कर रहा है कि मेरा आत्मा शुभ अशुभ भावोंके संवर भावमें मिलेगा और वह इस शुद्ध चैतन्यस्वरूपका उपयोग करके शुभ अशुभ भावोंका संवरण करता है। जब भी हो जाय संवरण अर्थात् यह उपयोग शुभ अशुभ उपयोगका ग्रहण न करके केवल निज सहज शुद्ध स्वभावका ग्रहण करे तो यह आत्मतत्त्व दृष्ट होता है।

प्रत्याख्यानमय स्वभावमें विश्रामस्थानका निर्णय—भैया! कोई किसी चीजका त्याग करे, किसी जगह से हटे तो कहां बैठना है? वह स्थान पहिले निर्णीत कर लेता है। जैसे ज्ञानी पुरुषको इन रागद्वेष आदिक समस्त विभावोंसे हटनेका संकल्प होता है, तो वह किस जगह बैठे, कैसे अपने को रोके, कहां विश्राम करे, वह स्थान इस ज्ञानीने पहिले ही तलाश लिया है, उस ही स्थानका यह विवरण चल रहा है। वह कौनसा स्थान है जहां यह आत्मा विश्रामपूर्वक रह सके? यह परमब्रह्म परमात्मा चूंकि सनातन शुद्धज्ञान स्वभाव वाला है इस कारण वह इस शुद्ध ज्ञानस्वभावमें ही ठहरता है। यह कैसे ज्ञानीके उपयोगमें ठहरता है? जिस ज्ञानीके उपयोगमें ठहरता है वह ज्ञानी हमारा परम आराध्य साधु परमेष्ठी है। ज्ञानी श्रावक ऐसे ब्रह्मलीन साधुवोंकी उपासनामें रहा करता है। साधु अशुभोपयोगसे पराङ्मुख है। देखिये हम जिसकी शरणमें जायें वह स्वयं अशरण हो, स्वयं शुभोपयोगसे दुःखी हो तो हमें शरण कहां मिल सकती है? इस अशुभोपयोगके सताये हुए बाह्य पदार्थोंमें आनन्द और ज्ञानकी तलाश करनेके कारण विह्वल हुए प्राणी ऐसे ही विह्वल पुरुषके पास जायें, चाहे वह श्रावक अवस्थामें हों चाहे वह साधु भेषमें हों, वहां पहुंचनेपर शरण क्या मिल सकता है? शरण लेने वाला भी ज्ञानी चाहिए और जिसका शरण लिया जाय वह भी ज्ञानी चाहिए तब शरणका बनना सम्भव है।

परमागमगन्धभ्रमर—यह साधु पुरुष अशुभोपयोगसे विमुख शुभोपयोगमें भी उदासीन सहज बना हुआ है। वह तो साक्षात् शुद्धोपयोगके अभिमुख है। जो शुद्धोपयोगके अभिमुख हैं वे उपयोग गुणमें भी यथापद बढ़ेंगे जिनसे उनका उपयोग स्वयं उनके लिए शरण हो जायेगा। ऐसा साक्षात् शुद्धोपयोग में जो अभिमुख हैं, जो परमागम तत्त्वज्ञानके मर्मरूप गन्धको सेवनेमें भँवरे की तरह आसक्त हैं, जिनका विषय केवल एक तत्त्वज्ञान है। जैसे मोही जन पंचेन्द्रियके विषयोंमें रत होकर प्रसन्न होना चाहते हैं। न प्रसन्न हो सकें लेकिन वे यत्न करते हैं। ऐसे ही ये साधुजन परमागम तत्त्वज्ञानके मर्मको जाननेमें उस तत्त्वज्ञान विषयके सेवनेमें ही प्रसन्न रहा करते हैं। प्रसन्नताका अर्थ निर्मलता है। वह त लाब प्रसन्न

है अर्थात् निर्मल है। शब्दकी व्युत्पत्तिसे प्रसन्नताका अर्थ निर्मलता है। चूंकि जो निर्मल रहा करता है वही आनन्दमय रह सकता है। इस कारण लोकमें आनन्दका ही नाम प्रसन्नता रख लिया है। प्रसन्नता का अर्थ आनन्द नहीं है। निर्मलता और आनन्दका अधिक अविनाभावी सम्बन्ध है इस कारण प्रसन्नता का अर्थ लोकमें आनन्द प्रसिद्ध हो गया है। ये साधु परमेष्ठी तत्त्वज्ञान के मर्मके ग्रहण करनेमें ही सदा प्रसन्न रहा करते हैं।

गुप्तका अमत्रोंको अपरिचय—ज्ञानी संत जानते हैं कि मेरा स्वरूप मुझमें गुप्त है। गुप्त स्वरूपका पता मेरे हितकारी ज्ञान, दर्शन चैतन्यगुणको ही है, रागद्वेष शुभ अशुभ भाव पुण्य पाप सुख दुःख विकार इनको इस गुप्त तत्त्वका परिचय नहीं है। ऐसा अत्यन्त सुरक्षित यह मेरा परमात्मा, ज्ञायकस्वरूप आत्मा सनातन होनेके कारण सदा मेरे स्वरूपमें ही विराजमान् रहता है। यह अंतस्तत्त्व कहीं बाहर नहीं मिला करता है। सब लोग आनन्द चाहते हैं और उस आनन्दकी प्राप्तिका विकट यत्न किया करते हैं, किन्तु यह आनन्द बाह्य यत्नोंसे प्राप्त नहीं हो सकता है। यह तो अन्तर्दृष्टिसे ही प्राप्त होगा।

मोह वैरीका आक्रमण—भैया! स्वयं ही तो आनन्दस्वरूप है यह, किन्तु आनन्दमग्न नहीं रह सकता है। यही तो मोह वैरीका आक्रमण है। यह जीव इस मोह वैरीको ही बसाये रहता है और वह मोह वैरी इसे निरन्तर बेचैन बनाये रहता है। इसके लिए मोहके साधन ही सब कुछ बन रहे हैं। इसे अपने आपकी सुध नहीं है। आज पुण्योदयसे जो कुछ भी प्राप्त किया है, शरीर पाया है तो इसे भी मोहके साधनमें ही व्यय किया जाता है। धन पाया है तो इसे भी और मन पाया है तो इसे भी मोहके साधनों के लिए ही लगाया जाता है, बल्कि व्यामोही प्राणी यह निर्णय किए हुए हैं कि धन तो इसीलिए है कि मोहके साधनोंको प्रसन्न किया जाय और उन्हें अच्छा बनाया जाय। यह मोह ही एकमात्र हमारा वैरी है। जो चीज मेरी नहीं है उसको समझना कि ही मेरे सब कुछ हैं, इस संकल्पसे बढ़कर मेरा दुश्मन कोई दूसरा नहीं है। इस मोह वैरीकी इतनी गहन चोट सहते चले जा रहे हैं और उस मोह वैरीको ही अपने आत्मक्षेत्रमें खूब स्थान दिया जा रहा है। तुम रहो खूब जिन्दगी भर, जहां चाहे विराजो तुम्हारा ही तो यह घर है, ऐसे इस मोह वैरी को पूरे तौरसे आमन्त्रण दिये हुए हैं। इस जब तक मोह वैरीसे मुक्ति नहीं होती तब तक आत्माका आनन्दभावका परिचय नहीं हो सकता है।

आत्मपद—मेरा आत्मा कहां विराज रहा है? इस विवरणमें इस गाथामें यह बताया है कि मेरा आत्मा मेरे ज्ञानभावमें है। जो ज्ञानस्वरूप है वह ही तो आत्मा है। मेरा आत्मा दर्शन और चारित्रमय है। जो सहज चारित्र है, सहजदर्शन है, सम्यग्दर्शनका विषय है वह ही तो मैं आत्मा हूं। यह आत्मा समस्त परभावोंके सन्यासस्वरूप निश्चय प्रत्याख्यानमें सन्निहित है। यह प्रत्याख्यान स्वरूप स्वयं सहज ज्ञानभावमय है। यह मैं आत्मा शुभ अशुभ भावोंके संवरभावमें मौजूद हूं। शुभ अशुभभावोंका निरावरण स्वरूप जो निज सहज ज्ञानभाव है, उसमें यह आत्मा हूं। यह मैं आत्मा शुद्धोपयोगमय हूं। स्वतःसिद्ध सहज शुद्ध चैतन्यभावमें उपयोग हूं, शुद्ध ज्ञानप्रकाशमें उपयोग हूं तन्मात्र ही मैं हूं, ऐसा अपना श्रद्धान रखूँ और ऐसी ही प्रतीति और ज्ञप्ति करूँ तो वहां यह मेरा परमात्मा स्थित है, यह विशद ज्ञात होता है। जिस भावमें यह अपना आत्मा दर्शन दिया करता है वह भाव ही परमप्रत्याख्यानरूप है। इस कारण इसका एक निर्णय रखना चाहिए कि सबसे हटकर इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें हमें लगना है।

परम ज्ञान—व्यवहार प्रत्याख्यान अर्थात् बाह्य परिग्रहोंका त्याग, संयमकी विराधकोंका त्याग, ये सब प्रत्याख्यान निश्चयप्रत्याख्यानके लिए होते हैं अर्थात् सर्व परभावोंसे विविक्त केवल ज्ञायकस्वरूप निज अंतस्तत्त्वके अनुभवके लिए होता है। इन प्रत्याख्यान का जो विषय है अर्थात् निश्चयप्रत्याख्यानमें जिस परमार्थ तत्त्वकी ओर दृष्टि रहती है वही परम एक ज्ञान है। लोकमें अनेक पदार्थोंका ज्ञान करते

जाइए, उससे क्या सिद्धि है ? एक इस निज ज्ञानस्वभावका ज्ञान न कर पाया तो संतोष तो न पा सकोगे। अपने ज्ञानस्वरूपसे बाह्यमें अपने ज्ञानका उपयोग किया जाय तो वहां नियमसे तृष्णा बढ़ती है, सतोष नहीं हो सकता है।

वाह्यमें शान्तिका अभाव— अच्छा, कल्पना कर लो कि कहां-कहा अपनी लिप्सा हो, यत्न हो, ज्ञान हो ? उन सबको कल्पनामें ले लो। धनके विषयमें लखपति हो, करोड़पति हो, अरबपति हो, बड़े महल हों बड़ी सवारियां हों, फौज-फाटा भी हो, इतना वडा वैभव भी हो तो भी शांतिका स्थान यहां हो, यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि जिस उपयोगका विषय परपदार्थ लग रहे हैं तो परपदार्थोंका विषय करके जो ज्ञान बना है अर्थात् कल्पना बनी है, उस कल्पनाका स्वरूप ही आकुलता है। शांति कैसे हो सकती है ?

इज्जतमें शान्तिका अभाव— इज्जतके बारेमें कल्पना कर लो कि लोग मुझे नगरमें जान जायें, जिले में जान जायें अथवा प्रान्तमें, राष्ट्रमें, सारे विश्वमें समझ जायें, पर जिसकी कल्पना इसतरहके विचारोंसे विश्वभरमें अटकी हुई है, उस कल्पनासे चैन कहां हो सकती है ? जो जितनी बड़ी इज्जत बनाएगा, सहज ही उसकी बात अलग है। जो बनावट करके जितनी बड़ी इज्जत बनाएगा, उसको अपनी इज्जत रखनेके लिए नाना यत्न और कल्पनाएँ जारी रखनी पड़े गी। इसी प्रकार जो जितना धन सचित करेगा, उसको उतना ही अधिक चितन उसकी रक्षाके लिए करना पडेगा। कदाचित् बहुत बड़ी आय होनेके बाद धन नष्ट हो जाए तो उसकी पीड़ा वही जान सकता है। कोई बड़ी इज्जत पानेके बाद यदि इज्जत नष्ट हो जाती है तो उसकी पीड़ाको वही पुरुष भोगता है।

परम दर्शन— कहा बाहरमें विश्रामका स्थान है, किसको उपयोगमें बसाया जाए ? केवल विश्रामका साधन यह शुद्ध सहज जाननवृत्ति है। जहां कल्पना-तरगें नहीं उठती हैं, केवल शांत विशाल सागरकी तरह गम्भीर एक प्रतिभाससामान्य रहता है, वह स्थिति परम विश्रामकी स्थिति है। मेरा ज्ञान ही परम ज्ञान है। बाहरमे कहां किसको निरखने जायें ? कौनसा पदार्थ ऐसा है, जो दर्शनीय हो, जिसको देखने से हमारी सब बाधाएँ दूर हों, सर्वसमृद्धियां हों ? कोई ऐमा पदार्थ आंखोंसे दिखने वाला है क्या, जिसको देखकर हम कृतकृत्य हो जाये ? कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है। कदाचित् साक्षात् अरहतदेव भी दर्शनको मिलें तो भी वहा जब तक इन चर्मचक्षुवोंका ही उपयोग रहेगा, वहां निरखनेमें मर्मभूत उनका उत्कृष्ट वैभव, उनका चमत्कार, उनकी प्रभुता दिखनेमें नहीं आ सकती। यहां भी एक इस अन्तर्दृष्टिके बलसे ही उनकी प्रभुताका दर्शन होगा और जिसका दर्शन करके वे प्रभु बने हैं, उसका दर्शन तो एक अलौकिक दर्शन है और अलौकिक परमार्थ चैतन्यस्वरूपके दर्शनमें ही वास्तविक प्रत्याख्यान होता है।

परम आचरण— कौनसा काम ऐसा करनेके योग्य है, कौनसा आचरण है, जिस आचरणके कर लेने पर फिर कोई कमी न रह सके, कोई आगेके लिए करनेका प्रोग्राम न सके ? है कोई क्या ऐसा आचरण ? पापके आचरण तो स्पष्ट दुःखके हेतुभूत हैं, उनसे तो विश्राम कभी मिल ही नहीं सकता है, किन्तु बाह्यव्रतोंके आचरणमें भी करनेको एक न एक काम पड़ा है। वह करना ही क्या है, जिसके बाद कुछ करनेको बाकी रहे ? करना तो वही उत्तम है, जिसके बाद करना कुछ बाकी न रहे। इन बाह्य समस्त प्रवृत्तियोंमें व्रतोंकी प्रवृत्तियां भी करनेको पड़ी हुई बनी रहती हैं। सोध-बीनकर चले, सोध-बीनकर खाये बड़े अच्छे प्रेमके वचन बोले और और भी बाह्य सयम किया। इनके करनेके बाद फिर कुछ करना रहता है या नहीं ? अरे, रोज-रोज करनेको रहता है। बाह्य चारित्र तो उस चारित्रके लिए है जिस चारित्रमें फिर कुछ करना बाकी नहीं रहता है। उस चारित्रकी तो खबर न हो और बाह्य चारित्रमें ही अपनी वृत्ति दृष्टि फसाए रहे तो संतोष वहा भी नहीं मिल सकता है। वह अन्तः चारित्र है एक परम ज्ञानस्वभावका दर्शन ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी निश्चल स्थिति। इसीमे प्रत्याख्यानकी परिसमाप्ति होती है।

परम तप— यहां एक विशुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र है। जो पुरुष इस ज्ञानस्वभावको अपने उपयोग में बसाए रहता है, तपाये रहता है, वह पुरुष इस परमार्थ तपके प्रसादसे अलौकिक समृद्धि पा लेता है। हमारा ज्ञान हमारे ज्ञानस्वभावके ज्ञानमें ही बना रहे, इसे परम तप कहते हैं। इसमें अभ्यासी जनोंको भी घबड़ाहट होती है। अज्ञानीजन तो उसके निकट पहुचनेका साहस नहीं कर पाते हैं। ऐसा परमार्थभूत परम तप क्या है ? यह ज्ञानस्वभाव परमपारिणामिक भाव है, ज्ञायकस्वरूप कारणब्रह्म कारणसमयसार है, इसका अवलम्बन होने पर निश्चयप्रत्याख्यान बनता है।

परम वन्दनीय—लोकमें सर्वश्रेष्ठ निरन्तर वन्दन करनेके योग्य, नमस्कार करनेके योग्य एक यह परम ब्रह्मस्वभाव है। योगीजन सब कुछ त्याग करके निर्जन वनमें निरन्तर प्रसन्न मुद्रासे युक्त अन्त काति सम्पन्न रहते हैं। वे किसके अवलम्बनसे रहते हैं ? वह परमार्थभूत ध्रुव निजस्वभावके दर्शनका अवलम्बन है।

महत्त्वका परमस्थान—सब जगह जावो और बड़ा देखो, अन्तमें बड़ा अपने आपमें मिलेगा। जैसे धर्ममें बड़ा देखने चलो तो ऐसा लगेगा कि हमारे ये श्रावकजन, व्रतीजन, ब्रह्मचारीजन बडे हैं और आगे दृष्टि की तो ये साधुजन जो ज्ञान, ध्यान, तपस्यामें ही सदा लीन रहते हैं, ये हैं लोकमें बडे। उनके बाद दृष्टि गई तो दीखे अरहत भगवान्, जो बडे विश्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं। और अधिक दृष्टि गई तो जिसके शरीरका भी अभाव है, समस्त कर्मोंका भी अभाव है—ऐसे सिद्धप्रभु, लो ये हैं बडे। पर सिद्धप्रभुका बड़प्पन सोचते-सोचते, परमार्थ पद्धतिसे उनके अन्तरङ्ग वैभवको निरखते निरखते वह दृष्टि वहीं उनके स्वभावमे लीन हो जाती है, क्योंकि उनके स्वभावमें और स्वभाव विकासमें अन्तर नहीं मालूम पड़ता है, एक हो गया है और जब स्वभावमें इस भक्तकी दृष्टि पहुचती है तो वहा पररूपता नहीं रहती है कि मैं किस परदेवकी भक्ति कर रहा हू—ऐसी परकी ओर दृष्टि नहीं रहती है, किन्तु वह दृष्टि अपने ही स्वभावको परखती हुई विलास करती है। उस समय जो एक अलौकिक अनुपम आनन्द प्रकट होता है, उसके अनुभवके बाद इसे पता पड़ता है कि मैं कहा बडा ढूढने चला गया था। वह बड़ा तो यहा मुझमें 'मैं' ही मिला। मैं किसीको ढूढ भी नहीं सकता, जान भी नहीं सकता। जो कुछ किया करता हू, अपने प्रदेशोंमें रहकर अपने आपमें ही परिणति किया करता हू।

परम मङ्गल नमस्कारके योग्य सर्वप्रकार वन्दनीय यह आत्मब्रह्म है, कारणसमयसार है, चैतन्यस्वभाव है, इसी स्वभावके अवलम्बनके प्रसादसे सर्वमङ्गल होता है। लौकिक जन बाहरी पदार्थोंमें मङ्गल समझते हैं। परिवार अच्छा हुआ, सन्तान हो गई, धन बढ़ गया, कुछ मोहियोंमें इज्जत बढ़ गई तो उसको ही समझते हैं कि मेरे सब मङ्गल कार्य हो रहे हैं, पर वे सब निरन्तर अमङ्गलपनेसे भरे हुए हैं। उनमें रहते हुए प्रथम तो जो अपना उपयोग अपने प्रभुसे जुदा जुदा हो रहा है, बाहरमें आकर्षण हो रहा है—यह एक बड़ी विपदा है। मङ्गल कार्य बाहर नहीं है। वह मेरा मङ्गल कार्य मेरे स्वभावमें ही व्यक्त है।

परम उत्तम— लोकमें उत्तम कौन है ? खूब परख करके देख लीजिए। किसको हम अपना मानकर अपना सर्वस्व समर्पण करें ? किससे हम प्रीति लगाए रहें, जो मेरे हितमें कारण हो ? कौन है ऐसा उत्तम ? कोई बाहरमें शरण न मिलेगा, कोई अपने लिए आदर्श न मिलेगा। सर्वोत्तम एक अपना आत्मा ही है। इस परमपारिणामिक भावरूप चैतन्यतत्त्वका आलम्बन लेने वाला पुरुष किसी भी प्रकारके सङ्कट में नहीं आ सकता। मेरी दृष्टि, मेरा उपयोग, मेरे स्वय सङ्कटरहित स्वभावमें पड़ा हुआ हो तो सर्वोत्तम मेरा 'मैं' ही हुआ। तब मैं अपने उत्तमको ढगसे देखू। यों तो जिसको 'मैं' मानकर व्यामोही जन गर्व कर रहे हैं, वे तो अमङ्गल हैं, अकल्याणक हैं, उत्तम नहीं हैं। उत्तम मेरा यह ज्ञायकस्वरूप है, जिस

स्वरूप के उपयोग में यह निश्चयप्रत्याख्यान सहज होता है। जिसके प्रसादसे मुक्तिसाम्राज्य प्राप्त होता है।

शरणकी खोज—लोकमें बाहर कहां शरण ढूंढने चलें, जो मेरे समस्त सङ्कटोंको दूर कर दे और शरण हो। बचपनमें बच्चेने अपनी माको शरण माना। जब कभी कोई संकट आता तो झट मांकी गोदमें जाकर छिप जाता और मांकी गोदसे लिपट कर दोनों आंखे बन्द करके शांतिका अनुभव करता है। अब मुझे क्या सङ्कट है? मैं अपनी शरणमें आ गया हूं। लेकिन जब कुछ बड़ा होता है, तब उसे शरण खेल खिलौनोंमें दिखने लगती है। खेल खेलनेमें ही वह अपना मन लगाता है। अब उसे मांकी गोद न चाहिए, पर खेल खेलते रहना चाहिए। वह खेल खिलौनोंसे ही अपना शरण मानने लगता है। जब और कुछ बड़ा हुआ तो उसके लिए पिता शरण बन गया। कुछ सङ्कट आया तो झट पिताकी शरण रहता है। और बड़ा हुआ, किशोर बन गया तो उसको अपनी शरण अपनी स्त्री दीखता है। कुछ झंझट हुआ, कुछ दिमागकी परेशानी हुई तो स्त्रीसे थोड़ी बातें कर ली, लो परेशानी मिट गई। सर्वप्रकारसे उसने स्त्रीको शरण माना है, लेकिन कुछ समयके बाद फिर स्त्रीसे भी चित्त नहीं रमता है, वहां भी इसके उपयोगको शरण नहीं मिलता है। अब तो सन्तानके बच्चोंके स्वप्न देखा करता है, अब मनको रमाने वाला तो वही पुत्र होगा। अन्तमें चलते जाओ, अब धनसे उसने अपनी शरण मानी, अब उसे किसीकी परवाह नहीं है, जितनी कि धनकी परवाह है। धन जुड़ना चाहिए, कैसे भी जुड़े। इसके बाद इज्जतकी परवाह है। सब कुछ शरण ढूंढ चुकनेके बाद भी इसको कहीं शान्ति नहीं मिलती है।

परम शरण— सबको अपना शरण मानो, लेकिन कदाचित् सौभाग्य हो, सुभवितव्य हो तो सत्संगति मिले, ज्ञानाभ्यासका साधन मिले, कुछ ज्ञान आए, कुछ यथार्थ स्वरूप नजरमें आए, कुछ वैराग्य जगे तो अब दृष्टि अपने निजस्वरूपकी ओर आने लगेगी। सारी कुंजी तो मेरा स्वरूप है। चाहे हम जगत्में भटक लें और चाहे हम सङ्कटोंसे बच लें, यह सब चाभी मेरे समीप ही है। सङ्कट और आनन्द समृद्धि दोनों ही अपनी कला पर निर्भर हैं। दूसरी कोई चाभी नहीं है, जो मेरे सुख-दुःखको उत्पन्न करे। जो लोग ईश्वरको सब कुछ कर्ताधर्ता मानते हैं, उन्हें भी अपनी करनी, अपनी भरनीका सिद्धान्त मानना पड़ता है। जब यह प्रश्न होता है कि कोई मनुष्य पाप करे तो करने दो ईश्वर तो दयालु स्वभावका होना चाहिए वह तो सबको सदा सुखी ही करता रहे। क्यों दुःख देता है। उसके कर्मोंके खिलाफ ईश्वर कुछ भी नहीं कर पाता है। अतः मूल निचोड़ यहां यही तो निकला कि जैसी जो अपनी कला खेलेगा, उसके अनुसार ही उसका भवितव्य आगे आएगा। आनन्द चाहते हो तो अपना शरण जो अपने आपमें बसा हुआ है, उसकी दृष्टि करें, उसका आलम्बन लें।

सङ्कट मिटनेका मूल उपाय— भैया! हम इस निज शरण तत्त्वको भूलकर बाहरी बातोंमें पड़कर दुःखी रहा करते हैं। किसी भी जगह बैठे हों, जिस क्षण सर्वविविक्त ज्ञानप्रकाशमात्र निज तत्त्वकी ओर दृष्टि जाएगी, उस ओर तो एक भी सङ्कट नहीं रहनेका है। यह जीव सङ्कट मानता है। हमारे मनके अनुकूल परपदार्थ नहीं परिणमे, इसका इच्छानुकूल परपरिणमन न होनेकी कल्पनाके सिवाय अन्य कोई सङ्कट नहीं है। जगत्के ये सब पदार्थ हैं, अपनी सत्तासे हैं। यों परिणमते हैं तो यों परिणमे और प्रकार परिणमे तो और प्रकार परिणमे। उन सबका तो मुझमें अत्यन्ताभाव है ना, लेकिन यह अज्ञानी जीव मनके अनुकूल दूसरे पदार्थोंका परिणमन देखना चाहता है। कष्ट एक भी दूसरा नहीं है। यह कष्ट ज्ञान से ही मिट सकता है और दूसरा उपाय नहीं है। धन वैभव बढ़ता जाएगा तो क्या कष्ट कम हो जाएगा? परपदार्थोंमें मनके अनुकूल परिणमन हो जानेसे प्रतिष्ठा हो जाएगी तो क्या कष्ट मिट जाएगा? अरे! कष्ट तो मिटेगा परमें मनके अनुकूल परिणमन देखनेकी वाञ्छा न रहनेसे। यह तब ही हो सकता है,

जबकि वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो। इस प्रकार शरण ज्ञानियोंका एक यह परम ब्रह्मस्वरूप है।

चित्स्वभावके आश्रयसे सर्व परमकृत्योंकी पूर्ति— भैया! यथार्थ तत्त्वका ज्ञान किये रहनेके सिवाय आचरण ही क्या करना है? ज्ञानका ज्ञानरूप आचरण बना रहे, यही एक शुद्ध आचरण है। अन्य और कुछ आवश्यक काम क्या पड़ा हुआ है, जिसके लिए बिना गुजारा न हो, जिसके करनेसे ही आत्माको शान्ति मिले? ऐसा आवश्यक काम एक निजस्वभावका ज्ञान ही है, दूसरा नहीं है। प्रमादरहित होकर एक इस ज्ञानयोगकी उपासना रहे, यही वास्तविक स्वका स्वाध्याय है। स्वाध्याय करके अवश्य शान्ति होगी, पर बाहर दृष्टि गड़ाकर कुछ ज्ञानका विस्तार बनाया तो वह स्वाध्याय नहीं है, किन्तु जिस किसी विषयको पढ़ता हो, उसमें इस ज्ञानमात्र स्वका अध्ययन चले, चिंतन चले, मनन चले, वह है स्वाध्याय। इस तरह यह कान्ति, तेज, धन, वैभव, समृद्धि सब कुछ मेरा आत्मस्वभाव ही है। इस आत्मस्वभावकी आराधनासे निश्चयप्रत्याख्यान होता है।

आत्मवस्तुकी दर्शनज्ञानचारित्रात्मकता— प्रत्याख्यानस्वरूप शुद्ध परमार्थभूत परमब्रह्म मेरे इस सहज दर्शनस्वभावमें है—एक तो दर्शनकी वृत्ति और एक दर्शनका स्वभाव। दर्शनस्वभावकी स्वभाववृत्ति द्वारा दर्शनस्वभावमें यह परमब्रह्म दृष्ट होता है। यह निज परमार्थब्रह्म शुद्ध ज्ञानस्वभावमें विदित होता है। एक तो ज्ञानकी वृत्ति, जिसे जानना कहते हैं, हम जान रहे हैं। इसको जाना, उसको जाना, पर यह जानन परिणमन जिस शक्तिसे उठ रहा है, उस शक्तिका नाम है परमब्रह्म। उस ज्ञानस्वभावमें यह मेरा आत्मा विदित होता है। यह मैं आत्मा उपयोग मात्र हू, ज्ञानस्वरूप हू। यह उपयोग मेरे ज्ञानस्वभावमें ही अविचलरूपसे रह सके तो मैं परिचित हो सकता हू। यदि यह उपयोग मेरे मूलको छोड़कर बाहरी पदार्थोंकी ओर अभिमुख होता है तो वहा मेरा आत्मा कैसे मुझे परिचित हो सकता है? यह आत्मतत्त्व सहज चारित्रस्वभावमें है। उपयोगका उपयोगमें स्थिर होना—यह तो है वृत्ति और यह स्थिरता जिस शक्तिके कारण होती है, उस शक्तिको कहते हैं चारित्रस्वभाव। यह आत्मतत्त्व दर्शन ज्ञान चारित्रस्वभावात्मक है।

सर्वजीवोंमें त्रितयात्मकताका समर्थन— जैसे मोटेरूपसे यह परिचयमें आता है कि यह जीव कुछ न कुछ ज्ञान करेगा ही और किसी न किसी स्थानमें रमेगा भी। इस जीवमें तीन स्वभाव पड़े हैं—विश्वास करना, जानना और रमना। कोई भी प्राणी ऐसा बतावो, जो इन तीन रूप न हो। कीड़ा-मकोड़ा हो, मनुष्य-पशु हो, ज्ञानी-अज्ञानी हो—प्रत्येक जीवमें ये तीन स्वभाव पड़े हुए हैं। ये सभी जीव कुछ न कुछ विश्वास किए हुए हैं। अज्ञानी जीव अपने आपके सम्बन्धमें अपना अलग विश्वास लिए हुए हैं। मैं अमुक चन्द हू, अमुक प्रसाद हू, अमुक पोजीशनका हू, कुटुम्ब वाला हू आदिकरूप अपना विश्वास बनाए हुए हैं, किन्तु ज्ञानी मैं केवल चैतन्यस्वरूप हू, सब पदार्थोंसे विविक्त हू—इस तरहका विश्वास बनाये हुए हैं। कीड़ा-मकोड़ा भी अपनी पर्यायरूप अपनी प्रतीतिमें विश्वास बनाए हुए हैं और ये पेड़, जमीन, पानी आदि एकेन्द्रिय जीव भी अपने आपमें विश्वास बनाए हुए हैं। कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जो अपना कुछ विश्वास न रखता हो।

परमार्थविश्वाससे निश्चयप्रत्याख्यान— जो पुरुष इस विश्वासकी शक्तिरूप जो श्रद्धागुण है, तदात्मक अपनी प्रतीति करता है, वह निश्चयप्रत्याख्यानका अधिकारी है। मुझे त्यागना है। क्या त्यागना है? इन समस्त बाह्यपदार्थोंको, ये समस्त रागद्वेषादिक विचार, वितर्क, विकल्प, कल्पनाएँ—इन सबको त्यागना है। किसे त्यागना है? इनका त्याग करके भी क्या कुछ त्याग करने वाला बचा रहता है? यह प्रतीति जिसके नहीं है, इन सब पदार्थोंसे विविक्त जो स्वभावमात्र मैं विशुद्ध तत्त्व हू—ऐसा जिसके विश्वास नहीं है, वह क्या प्रत्याख्यान करेगा? उसकी वृत्ति तो केवल बाह्यक्रियारूप ही रहेगी।

त्याज्यके त्यागका विश्वास ज्ञान आचरण— प्रत्याख्यानका अर्थ है त्याग। हमें त्याग करना है। जिस चीजका त्याग करना है, उससे न्यारा विशुद्ध मूलमें कौन है? यह प्रतीतिमें न हो तो त्याग करना बेकार है। किसका त्याग कर रहे हैं? बाह्यपदार्थ तो अपने आप छूटे हुए हैं। कोई पदार्थ मेरे जीवमें लिपटा हुआ नहीं है। मकान हो, वैभव हो, धन हो, परिजन हों—सब पृथक् हैं, स्वतन्त्र हैं, उनका मुझमें कोई सम्बन्ध नहीं है। ये बाह्यपदार्थ तो स्वयं ही छूटे हुए हैं। इन बाह्यपदार्थोंके सम्बन्धमें जो ममता-परिणाम किए हैं, वह इस समय मुझमें है। अतः जो मुझमें आया है और छोड़ा जा सकता है, उसे त्यागना चाहिए। यह विकल्प, यह ममत्व, यह अहंकार, यह मिथ्याप्रतीति—इनका त्याग किया जाना चाहिए। बाह्यपदार्थ तो छूटे हुए ही हैं। इस वैभवका त्याग तो तभी किया जा सकता है, जब यह श्रद्धा हो कि इस वैभवसे रहित कुछ मेरा ध्रुवस्वरूप है। ऐसी श्रद्धा बिना त्याग नहीं हो सकती है। इस कारणप्रत्याख्यान स्वरूप ही मैं स्वयं हूं। यह मैं शुभ, अशुभ, सुख, दुःख, पुण्य, पापोंसे भी अलग हू, इनको तो कुबुद्धिवश अपनाया है, स्वभावसे बाहर अपनाया है, इस रूप मैं नहीं हूं--ऐसा विश्वास हो, वहां निश्चयप्रत्याख्यान होता है। ऐसा ज्ञान और ऐसा ही आचरण हो, वहां यह प्रत्याख्यान है।

आत्मामें परमात्ममिलन-- यह परमात्मा कहां मिलेगा? किसी पर्वत पर, किसी मूर्तिमें, किसी प्रतिमामें, किसी योगीमें, कहीं देखो, यह परमात्मा अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। साक्षात् भी कोई परमात्मा सामने हो तो भी परमात्मा बाहर न मिलेगा वह मेरेमें ही मिलेगा। हम उस पद्धतिसे अपने आपकी पहिचान करें तो परमात्मस्वरूपका दर्शन होगा। इस ज्ञानी सतने अपने आपके स्वरूपको चैतन्यमात्र निर्णीत किया है, इसका काम केवल चेतनेका है--सामान्यरूपसे चेते अथवा विशेषरूपसे चेते। यह चैतन्यतत्त्व चेतनेके सिवाय अन्य कुछ नहीं करता है। ऐसा जिस ज्ञानी सन्तने अपने निर्णयमें आत्मतत्त्व लिया है, वह समस्त सुकृत और दुष्कृत पुण्य अथवा पाप, शुभ अथवा अशुभ सर्वद्वन्द्वोंका भी परित्याग कर देता है।

शान्ति अशान्तिका स्थान— भैया! जैसे मनुष्यको दुःखमें चैन नहीं है, ऐसे ही सुखमें भी चैन नहीं है। जैसे विपत्तिमें शान्ति नहीं है, ऐसे ही सम्पत्तिमें भी शांति नहीं है और इसी प्रकार अच्छे परिणाम करनेमें भी शान्ति नहीं है और बुरे परिणाम करनेमें भी शांति नहीं है, किन्तु अच्छे और बुरे--इन दोनों परिणामोंसे परे जो सर्वविशुद्ध है—ऐसा जो शुद्ध चित्प्रकाशमात्र परिणमन है, वहां ही दृष्टि जाए तो शान्ति प्राप्त होती है। अज्ञानीजन भिन्न पदार्थोंमें मोह-राग होनेके कारण उनमें मेरा-मेरा करते हैं। यह मेरा मित्र है, यह मेरा भाई है, ये मेरे वस्त्र हैं--इन बाह्यपदार्थोंमें मेरा मेरा कहता है, जिन पदार्थोंसे रंच भी सम्बन्ध नहीं है। इसी मिथ्याव्यामोहमें यह दुखी हो रहा है।

आत्मा और परमात्माका सम्बन्ध-- अब परमात्माका और आत्माका सम्बन्ध निरखिये। जो आत्मा परम हो गया है, उत्कृष्ट हो गया है, उसमें जो स्वभाव है वह स्वभाव मुझमें है, यह है एक बात। दूसरी बात यह है कि जब मैं अपने स्वभावका आलम्बन लेकर अपने आपको सुदृढ़रूपसे तक सकता हू, तब मुझे परमात्माका भी दर्शन होता है, इस कारणसे परमात्मावा मुझसे कितना निकट सम्बन्ध है? तीसरी बात यह है कि वह परमात्मस्वभावरूप ही तो मैं हूं। इन सब कारणोंसे यह ज्ञानी सत उस परमात्मामें यों सम्वेदन करता है कि यह मेरा परमात्मा है। यह मेरा परमात्मा कहा मिलेगा? ये शुभ-अशुभ भाव रुक जायें--ऐसे निर्दोष सम्वरस्वरूप ज्ञानप्रकाशसे मेरा परमात्मा मिलता है। यह है उस शुद्ध तत्त्वका उपयोग। मैं अपने आपको सहजसिद्ध, स्वत सिद्ध, स्वरूपसिद्ध मात्र ज्ञानप्रकाशको ही निरखूं और ऐसा ही आमग्न करके रह जाऊँ। मैं ज्ञानमात्र हू। बस इस शुद्धोपयोगमें यह आत्मपदार्थ परमात्मतत्त्व मिलता है। इस प्रभुके मिलनका और कोई दूसरा उपाय नहीं है। जब तक इस प्रभुका मिलन नहीं होता, तब तक

यह जीव अज्ञानी है, निरन्तर दुःखी रहता है। मिल गया लाखोंका धन तो क्या मिल गया? कुछ शान्ति प्राप्त होती है क्या? मोहियोंके वचनोंमें इज्जत मिल गई तो क्या मिल गई? सब बेकार हैं, सब मायास्वरूप हैं, स्वप्नकी तरह हैं। इस आत्मतत्त्वमें रमने वाले जीव ही ज्ञानी हैं, शान्तिके पात्र हैं। एक आत्मतत्त्वके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है कि कल्याण हो सके, शान्ति प्राप्त हो।

आत्मावबोध— यह मैं परम ब्रह्मस्वरूप परमात्मपदार्थ गुणपर्यायात्मक हूं अर्थात् मा और या दोनोंसे युक्त हूं। जो दिखता है, वह नहीं है। जो आंखोंसे नहीं दिखता है, वह यह है। ऐसा यह मैं चैतन्यपदार्थ जब मैं पर्यायदृष्टिसे इसे देखता हू तो यह कहीं निर्मल दिखता है, कहीं मलिन दिखता है, कहीं कुछ निर्मल, कुछ मलिन दिखता है। यह तो स्वय न निर्मल है, न मलिन है, किन्तु जैसा है, सो ही है अर्थात शुद्ध स्वरूपमात्र है। यह प्रकाश अज्ञानियोंको नहीं प्राप्त होता है। इन्हें ये सब समझ, ये सब वचन गहन वनजालकी तरह मालूम होते हैं। इसमें ज्ञानियोंको तो केवल अपने मोह और रागके विषयकी बातें ही समझमें आती हैं।

अज्ञानियोंकी गति और रुचि— एक बार एक बादशाह अपने राज्यमें घूम रहा था। उसे शहरके अन्त में एक गडरियेकी लड़की दिखाई दी। भैया! गरीब लोग शरीरसे प्रायः पुष्ट होते हैं और शरीरकी पुष्टतामें ही सुन्दरता है। कोई अच्छे कपडे पहिन ले तो उससे शरीरमें कोई विशेषता नहीं आ जाती। क्योंकि वह गडरियेकी लड़की सुन्दर थी, अतः बादशाहको वह भा गई और फिर उसने उससे शादी कर ली। जब गड़रियेकी लड़की राजमहलमें आयी तो उसे एक बड़ा हॉल रहनेके लिए और दो-चार कमरे व्यवस्थाके लिए दिये गए। जब वह हॉलमें गई तो देखती है कि चारों तरफ खूब चित्रावली है— पुराने वीर पुरुषोंकी, कुछ भगवानकी, कुछ राजा-महाराजाओंकी। वह सबको एक ओरसे देखती जा रही थी। उसे कोई भी चित्र नहीं सुहाया, कहीं भी उसका मन नहीं रमा। इस प्रकार देखते-देखते एक जगह चित्रमें उसे बहुत सुन्दर बकरी और भेड़का चित्र दिखाई दिया। उसको वह दो-चार मिनट तक एकटकसे देखती रही और फिर देखते-देखते बीचमें टक टक करने लगी, जैसा कि बकरियोंके लिए किया जाता है। अतः जिस प्रकार गडरियेकी लड़कीका मन वीर पुरुषके, भगवान्के चित्रोंमें न टिका और बकरी भेड़ोंमें दिल रमा, इसी प्रकार अज्ञानी जीवका मन ज्ञान और वैराग्यमें नहीं रमता, इन्हें तो भोगोंके साधन चाहियें, उनमें ही वे रमेंगे।

अज्ञानियों द्वारा क्लेश और भोगका स्वागत— भोगोंके साधनकी दशा पशुओंकी देखो ना। जो बछडे फिरा करते हैं, वे किसी सागभाजीमें मुंह लगा देते हैं तो सागभाजी वाला उसे डण्डोंसे मारता जाता है। वह बछड़ा पिटता भी जाता है और सागभाजी खाता जाता है। जिस प्रकार पशु भोग भोगते जाते हैं और मार खाते जाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य इन्हीं समागमोंके कारण दुःख सहते जाते हैं और इन्हीं समागमोंमें मौज मानते जाते हैं। भले ही यह मनुष्य खानेमें नहीं पिट रहा है, पर खानेका तो एक दृष्टांत बताया है। भोग तो पांचों इन्द्रियोंके हैं। पांचों इन्द्रियोंके भोगको भोगता जाता है और उनके कारण जितने कष्ट, आपत्तियां आती हैं, उन्हें सहता जाता है। यह कष्ट सहना तो स्वीकार करता है, पर भोगों को नहीं छोड़ सकता है।

दृष्टि कर्णधार— यहां एक इस अपने शुद्ध स्वरूपकी चर्चा चल रही है। इस आत्मब्रह्मको हम जब मायाभरी दृष्टिसे देखते हैं, पर्यायदृष्टिसे देखते हैं तो शुभ-अशुभ सब प्रकारके मायामयरूप नजर आते हैं और जब मायादृष्टि छोड़कर परमार्थदृष्टि ग्रहण करते हैं तो वहां यह सब जाल कुछ भी प्रतीत नहीं होता है। क्या प्रतीत होता है? उसे शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता। कितनी ही बातें तो लौकिक पुरुष भी कहते हैं, पर उसका विवरण नहीं कर सकते। कोई कहे कि मुझे भूख लगी है। हम उससे पूछें कि कहां

भूख लगी ? जरा दिखा दो। देखें तो सही कि वह भूख कैसी है ? किस ढङ्गकी है ? कहांसे आती है ? किस जगह रहती है ? क्या कोई उसे बता सकता है ? कहते सब हैं कि मुझे भूख लगी है। जैसे कहते हैं कि मुझे चोट लगी है, देखते हैं तो कहते हैं कि हा भाई, यहां चोट लगी। पर भूख कहां लगी, इसको कोई बता नहीं सकता, वह तो अनुभव की जाती है। ये मामूलीसी बातें जो हमारे रोजके व्यवहारमें हैं, उनका ही जब हम विवरण नहो कर सकते तो इस परम ब्रह्मस्वरूप, जो एक शुद्ध ज्ञानप्रकाशमें नजर आ रहा है, अनुभव तो हो गया, पर उसे बताया नहीं जा सकता। उसमें कितनी शक्ति है, कितने गुण, कितने रत्न हैं? वे सब दिख गए, अनुभवमें आगए: पर न गिने जा सकते हैं और न बताये जा सकतेहैं।

ज्ञानियोंका बलिष्ट हृदय--यह तत्त्व अज्ञानी पुरुषके लिए बड़ा कठिन, लेकिन यही तत्त्व सत् पुरुषके हृदय-कमलमें विशद विराजमान् रहता है। ज्ञानी पुरुषको कहीं कष्ट नहीं है। जो समस्त परपदार्थोंसे पृथक् अमूर्त अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावमात्र अपनेको लक्ष्यमें लिए हुए है, मै वह ही हूं। उसे कष्ट कहां ? लोग कष्ट इसीमें ही मानते हैं कि मकान गिर गया। अरे, मकान गिर गया तो गिर गया, मैं तो अपने ही स्वरूपमात्र हूं। इतना धन बरबाद हो गया, डाकूने लूट लिया या किसी प्रकारका कोई बिगाड़ हो जानेसे धन चला गया। अरे, धन चला गया तो चला गया। ज्ञानी पुरुष तो गृहस्थीमें रहता हुआ भी अपनेको केवल अमूर्त निजस्वरूपमात्र प्रतीतिमें रखता है और उसीका यह महान् बल है कि ऐसी भी कठिन विपदा आ जाय कि जिसे देखकर मोही जीव दु खी होकर मरण ही कर जाय, पर ज्ञानी पुरुष में इतना बड़ा धैर्य होता है कि वह किसी भी परिस्थितिमे अधीर नहीं बन सकता है। उसे यह बल किसने दिया ? क्या किसी बाह्य समागममें ऐसी कला है कि जो ऐसा बल प्रदान कर दे ? वह बल तो अपने ज्ञानस्वभावकी उपासनाका है। शांतिके लिए लोग बड़ी कोशिश करते हैं, कमायी करते हैं, पर शांति तो शांतिके ही ढगसे मिलेगी। यदि बाह्य पदार्थोंकी चिन्तासे, संचयसे कभी शांति नहीं मिलेगी। यदि बाह्यपदार्थोंमें शान्ति होती तो बडे-बडे चक्रवर्ती पुरुष भी इस सम्पदाको क्यों त्यागते ? उस सम्पदाके त्यागनेके बाद ही उन्हें शान्ति मिल सकी।

परम प्रकाश—ये सत् पुरुष, जिन्हें सत् असत् पदार्थका विवेक है, उनके हृदय-कमलमें यह परम ब्रह्मतत्त्व निश्चयरूपसे विराजमान् हो सकता है। जहा यह आत्मज्ञान दीपक रखा हुआ हो वहां फिर अन्धकार नहीं रह सकता है। जहां दीपक है, वहा अधेरा कहासे रहेगा ? इसी प्रकार जहा आत्मज्ञान है, वहां फिर यह माया पर्याय ससारी हालत, ये संकट वहा ठहर नहीं सकते। यह आत्मज्ञान ही ऐसा महान् दीपक है कि किसी भी कठिन हवामें जले तो भी बुझ नहीं सकता है। कितनी भी कठिन परिस्थिति आये, पर यह विपरीत नहीं हो सकता है। यह आत्मज्ञान ऐसा अनोखा दीपक है कि जिसमे तेल-बाती की भी जरूरत नहीं है, जिसमें चेतन और अचेतन पदार्थोंके सम्बंधकी जरूरत नही है। ऐसा यह परम ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व शुद्धोपयोगमें विराजे, जिसके प्रसादसे निश्चय प्रत्याख्यान मिलता है और जिसके प्रसादसे मुक्ति साम्राज्य प्राप्त होता है, सारे सकट दूर हो जाते हैं। भैया ! इस आत्मज्ञानके दीपकको लेकर हितमार्गमें गमन कीजिये। आपके पथमें क्लेशोंके कण्टक मिलेंगे, विडम्बनाओंके गड्ढे मिलेंगे तो उन सबको पार करके स्वहितसदनमें पहुच ही जावोगे।

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णिरयो ॥१०१॥

जीवकी असहायता—प्रत्याख्यानके प्रसगमे लगा हुआ ज्ञानी सत अपने आपके एकत्वका विचार कर रहा है, यह जीव स्वरूपत सबसे न्यारा केवल अपने स्वभावमात्र है। इसी कारण प्रत्याख्यान भी किया जा सकता है। यह जीव चाहे ससार अवस्थामें हो, चाहे मुक्त अवस्थामें हो सर्वत्र यह असहाय है।

असहाय उसे कहते हैं, जिसको केवल अपना ही भरोसा रह गया, किसी भी अन्यका भरोसा नहीं रहा। प्रत्येक पदार्थ सब असहाय हैं अर्थात् किसीका सहारा किसी अन्य पदार्थके बल पर नहीं है। प्रत्येक पदार्थ केवल अपने ही सत्त्वसे अपने आपमें अपना भाव बनाता है। यह जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही स्वयं जन्मता है, अकेले ही संसारभ्रमण करता है और अकेले ही कर्म-कलंकसे मुक्त होकर सिद्ध होता है। सर्वत्र इसका अपनेमें ही पुरुषार्थ है।

मरणोंमें अकेलापन— मरण दो प्रकारके होते हैं--एक नित्यमरण और एक तद्भवमरण। नित्यमरण तो निरन्तर होता रहता है। हम आपका निरन्तर प्रतिसमय मरण हो रहा है। जो समय गुजर गया, वह फिर वापिस नहीं आता। तो जिस समयकी आयु निकल गयी, उतनी आयुका मरण तो हो ही गया। इसे आवीचिमरण भी कहते हैं। तद्भवमरण नाम है यह वर्तमान भव ही मिट जाए अर्थात् यह जीव इस शरीरको छोड़कर अन्यत्र चला जाए। जिसे लोग मरण कहा करते हैं, वह तद्भवमरण है। दोनों ही प्रकारके मरणोंमें इसको किसी अन्य पदार्थका सहाय नहीं है। यह नित्य मरण कर रहा है तो भी वह अपने परिणमनसे अपने आपमें अकेले ही कर रहा है और जब भवमरण हो जाएगा तो देहको छोड़कर चला जाएगा तो वहां भी यह अकेले मरण करेगा।

नित्यमरण और तद्भवमरणमें ज्ञानी अज्ञानीकी वृत्ति — अज्ञानी लोगोंको नित्यमरणमें घबड़ाहट नहीं हो रही है। ये तो मौजसे चैन मानते हुए सब प्रकारके भोगोंकी सामग्रियां जुटा रहे हैं। नित्यमरणमें अज्ञानी जीवको भय नहीं होता, उसको तो तद्भवमरणमें भय होता है कि हाय, यह धन, वैभव, कुटुम्ब, देह—सब कुछ छूट रहा है। जब कि ज्ञानी संतोंकी ऐसी वृत्ति है कि वे तद्भावमरणमें तो बड़ा धैर्य रखते हैं, रंच भी चिंता नहीं करते। वे जानते हैं कि इस पर्यायको छोड़ा तो यह आत्मा तो सुरक्षित है, उसके सत्त्वका नाश तो नहीं होता। यहांके गए दूसरी जगह पहुंच गए। यहां की सम्पदा छूटती है तो क्या हुआ? छूटी हुई तो यह पहिलेसे ही थी। कुछ लोगोंसे परिचय हो गया था तो यह स्वप्नवत् बात थी, ये सब कुछ मायारूप हैं। मायारूप ही परिचय हुआ था। ऐसा विवेक रखकर यह ज्ञानी पुरुष तद्भवमरणका भय नहीं करता, किन्तु नित्यमरणका भय बना है अर्थात् प्रतिसमय जो आयु गुजर रही है, उसका ज्ञानी को भय है। उसमें कैसा भय है कि यह अमूल्य जीवन गुजर रहा है? आत्मकल्याणकी बात इसमें कर लेनी चाहिए, संसारके साधनोंसे दूर हो लेना चाहिए। दुर्लभ अवसर प्रमादमें न निकल जाए--ऐसा इस ज्ञानी पुरुषको संसारका भय बना हुआ है। तद्भवमरणमें यह ज्ञानी धैर्य रखता है।

जीवनमरणका विवरण व्यवहारनयसे— खैर! कुछ भी वृत्ति किसीकी हो। इस प्रकरणमें यह कहा जा रहा है कि यह जीव अकेला ही मरता है, इसी प्रकार यह जीव अकेला ही जन्मता है। यह मर जाना व्यवहारनयसे है, इसी प्रकार यह जीवन भी व्यवहारनयसे है। पदार्थ तो जितने भी सत् हैं, वे अनादिसे सत् हैं, अनन्तकाल तक सत् हैं। जन्म तो पर्यायोंकी उत्पत्तिको कहते हैं। आत्मा अनादि है तो पर्याय सादि हैं, आत्मा अनन्त है तो यह पर्याय सांत न, आत्मा अमूर्तिक है तो यह पर्याय मूर्तिक है। आत्मा स्वजातीयमात्र परमार्थतत्त्व है तो पर्याय विजातीय विभाव व्यंजन पर्याय है। कितना इस आत्मामें और पर्यायमें अन्तर है? आत्मा और पर्याय दोनोंका स्वरूप भिन्न भिन्न है, फिर भी यह एक निमित्त-नैमित्तिक भाव मात्र है कि जो इस प्रकार जन्मका सम्बन्ध बना चला आ रहा है।

विभावव्यञ्जन पर्यायें— विभावव्यञ्जन पर्याय चार प्रकारके होते हैं--नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। इस पर्यायमें तीनका संसर्ग है—एक तो आत्मा, दूसरा कार्माण वर्गणा और तीसरा आहारवर्गणा। जितने शरीरी बने हैं, वे इन तीनोंके पिंड हैं। यह पिंड सादि है, मूर्तिक है, विजातीय है, विभावरूप है और प्रदेशोंकी मुख्यतासे प्रकट हुई व्यञ्जन पर्याय है। इस पर्यायकी उत्पत्ति होती है तो इसमें व्यवहार-

नयकी दृष्टिसे यह निर्णय किया जाता है कि यह जीवित हो गया है। ऐसा जीवित होना, जन्म लेना, यह स्वय हो रहा है, अकेलेमें हो रहा है। यद्यपि भेददृष्टिसे निरखा जाए तो जन्म नाम किसीभी तत्त्वका नहीं होता। जीव पहिले था, चला आया और अब भी है। ये वर्गणाए पहिले भी थीं, अब इस रूपमें हो गयीं। कोई नई चीज उत्पन्न नहीं होती है।

जन्ममरणकी प्रसिद्धिसे जीवका योग— भैया ! विभावव्यञ्जन पर्यायविषयक इन तीनोंके सम्पर्कमें भी मुख्य बात जीव पर आती है। यह जीव परिणाम करता है, उसके निमित्तसे उस प्रकारका कर्मबन्धन होता है और उसके उदयमें इस प्रकारका समर्ग हो जाता है। इन सबका मूल है जीवका परिणाम। इस जीवक परिणामको जीवने स्वय ही तो किया। भले ही वह विभावपरिणमन है, पर स्वयं ही तो परिणमा, कोई दूसरा पदार्थ तो नहीं परिणमा। इस कारण यह जीव स्वय अकेले जन्मता है, यह प्रसिद्ध हुआ। फिर अगले भवमें भी इसी प्रकार जन्म लेता है और नवीनजन्मक्षणको मरण कहते हैं, सो जीव स्वय अकेले मरता है, यह प्रसिद्ध हुआ। यों यह जीव स्वयं ही मरता है और स्वय ही जीवित होता है। अकेले पैदा होता है और अकेले मरता है, फिर भी यह मोही जीव अपने उस अकेलेपनका ध्यान न करके कुछ दिनोंके लिए जो परसे सम्बन्ध बनाता है, उस सम्बन्धको ही शरणभूत मानता है। जिसको अपना माना, उसे अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। इस प्रकार यह जीव रागवश अपनी विडम्बनाएँ बढाता है।

भविष्यनिर्माणका ध्यान— भैया ! भविष्यका भी तो ध्यान रखना है, अपने मनमाफिक मौज तो नहीं मानना है। कोई अकेले भी हो, ५०-६० वर्षका हो गया हो, लाखोंका धन भी हो तो यह विचार बनाता है कि इस धनको ब्याज पर लगाएँ तो अच्छी जिन्दगी कटेगी। अरे, जितना रखा है, उसीमें जिन्दगी आरामसे कट जाएगी। वह भी पूरा खर्च नहीं हो सकता। ब्याजसे गुजारा किया तो मूलका यह सब धन भी छोड जाएगा या सरकार छीन लेगी और किसी तरहसे बरबाद हो जाएगा। लेकिन तृष्णा ऐसी है कि उसे यह भय रहता है कि भविष्यमें कहीं मेरे जीवनमे कष्ट न आ जाए। एक इस छोटेसे जीवनमें तो इतना बड़ा विचार किया जाता है कि ऐसा प्रोग्राम बनाएँ कि भविष्यमें यह सारी जिन्दगी भली प्रकार गुजरे, लेकिन इस जिन्दगीसे बड़ा जो अनन्तकाल पड़ा हुआ है, उस अनन्तकालकी अपनी व्यवस्थाके लिए कुछ चिनन नहीं होता।

बाह्यसमागमकी प्राप्तिसे भी जीवका मूल योग— इन सब कुछ समागमोंको नाक, आंख, कान आदि नहीं कमाते। यह धन-सम्पदा समागम तो पूर्व समयमें जो निर्मल परिणाम किया था, त्यागभाव किया था, उदारभाव किया था, दान दिया था, परसेवा की थी, भगवद्भक्ति की थी, उन परिणामोंसे ऐसे ही सुकृतका बन्ध हुआ था, जिसके उदयमें आज कुछ प्राप्त हुआ है। मनुष्य-मनुष्य तो सब एकसमान हैं, एकसी शक्ल है, कुछ भी तो भिन्नता नहीं है, फिर भी कोई सम्पदा वाला हो गया, कोई निर्धन हो गया, यह जो अन्तर देखा जाता है, इसका क्या कारण है ? इसका कारण अपना पूर्वकृत परिणाम ही है। इस परद्रव्यरूप सम्पदाको प्राप्त करना है, कुछ समय बनाए रखना है, अतः पुण्यकी रक्षा करनी चाहिए। उस पुण्य-सम्पदाकी रक्षा करना अच्छा है, जिसके कारण सम्पदा मिली है। मूलके रक्षाका ध्यान नहीं है और जो मिली है सम्पदा, जड समागम उसकी रक्षाका निरन्तर चिन्तन है तो इससे किस प्रकार गुजारा चलेगा।

एकत्वके भानसे परवस्तुका सविधि त्याग— यह जीव सर्वत्र अकेला है। इस पर जो कुछ सुख-दुःख बीतता है, सबको अकेले ही भोगता है, दूसरा नहीं भोगता है। शरीरमे छोटीसी फुंसी हो जाए तो उसकी वेदना तकको भी कोई जीव बांट नहीं सकता। किसी भी प्रकारकी कल्पना जगे, उस कल्पनाका कष्ट भी

यह अकेले ही भोगता है। सर्वत्र यह अकेला ही है--ऐसा अपना एकत्वस्वरूप निरखनेपर परवस्तुका त्याग सही मायनेमें हो सकता है।

एकत्वदर्शन— इस जड़-सम्पदासे मैं न्यारा हू, इन चेतन परिग्रहोंसे भी मैं न्यारा हू, इस शरीरसे भी न्यारा हूं, जो जीवके साथ कर्म बँधे हुए हैं, उन कर्मोंसे भी न्यारा हू। वे कर्म जिन परिणामोंका निमित्त पाकर बँधा करते हैं, ऐसे शुभ-अशुभ परिणामोंसे भी न्यारा मैं आत्मतत्त्व हू। आत्माका जो ज्ञान बरत रहा है, जानन चल रहा है, वह इस समय खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप है, पूर्ण ज्ञानरूप नहीं है। मैं इन जाननोंसे भी न्यारा हू और भविष्यमें कभी पूर्णज्ञान भी हो जाए, सर्वज्ञता प्रकट हो जाए तो सारे विश्वका जाननहार ज्ञान होने पर भी वह ज्ञान किसी समयसे है। यह सर्वज्ञत्व स्वभावभाव है, शुद्ध विकास है, फिर भी उस शुद्ध विकासका मूल जो ज्ञानस्वभाव है, वह मैं हू। वह शुद्ध विकास भी मैं नहीं हूं। मैं वह हू, जो अनादिसे अनन्त तक रहता हो। ऐसा अपना एकत्व जिसके परिचयमें आया है, वह ज्ञानी सन्त वास्तवमें प्रत्याख्यान करता है, बाहरी चीजोंका परित्याग करता है।

ज्ञानकी प्रत्याख्यानरूपता— भैया! परित्याग तो परमार्थसे भीतर ज्ञानमें बसा हुआ है। किसी चीज को यहांसे वहा उठाकर रख दो, ऐसे हटा देनेसे त्याग नहीं बन गया। त्याग तो वास्तवमें भीतरमें ऐसा प्रकाश जगे कि यह मैं मात्र इतना ही हू, ज्ञानातिरिक्त मेरा कुछ नहीं है—ऐसा भीतरमें प्रतिबोध हो, उस का नाम त्याग है और उस त्यागमें ही इस जीवके विशुद्धि जगती है। ऐसा परमार्थ प्रत्याख्यानमय एकत्वस्वरूप निहारनेपर निश्चयप्रत्याख्यान होता है। यह जीव सर्वत्र अकेला है। जन्मते अकेला, बड़ा होने पर अकेला, विकल्पकार्य किया तो वहा पर भी अकेला है। इसका काम तो सर्वत्र अपना गुणपरिणमन करते रहना है।

ममत्वका महान् सङ्कट— भैया! किसी परजीवमें, स्त्रीमें, पुत्रमें--किसीमें भी यह मेरा है--ऐसा भाव होना सबसे बड़ा सङ्कट है, मगर मोही जीव इसमें ही राजी हैं। किसी वृद्ध-पुरुषसे पूछो कि तुम मजे में हो ना? कोई चिंता तो नहीं है? वह उत्तर देता है कि मुझे कोई चिंता नहीं नहीं है, बड़े मजेमें हैं, रच भी फिकर नहीं है, दो चार लड़के हैं ५ ७ नाती हैं, सब भरपूर है, आनन्द है, कुछ भी हमें चिंता नहीं है। अरे, चिंताएँ तो इतनी रख रखी हैं, उन्हीं चिंतावोंका तो बखान कर रहे हैं। इस ख्यालमें यह कल्पना जग जाना कि यह मेरा पुत्र है। इस भावके समान इस जीवका कोई बैरी नहीं है। यह मेरी स्त्री है, यह मेरी सम्पदा है--इस प्रकारके अन्तरमें श्रद्धा बसी हुई है, यही महान्-सकट है।

मायामयी पूछकी असारता— इस दुनियामें धनिकोंकी पूछ होती है, यह ठीक है। अहानेमें लोग कहते भी तो हैं कि चोर-चोर मौसेरे भाई। जहां सभी चोर बैठे हों, वहा तो चोरीकी कलामें जो चतुर हो, बढिया सफाईसे दूसरोंका धन हड़प सके, उसका ही बड़प्पन उन चोरोंके बीचमें माना जाएगा ना? कोई बुद्धू चोर चोरी करने जाए और जरासी देरमें पकड़ा जाए तो उसकी तो उन चोरोंके बीचमें निन्दा होगी कि यह होशियार नहीं है, यह बेहोश रहता है। यों उसकी निन्दा होगी। यों ही इस मायामयी दुनियामें जो धनकी होड़में आगे बढ़ गया, उसकी प्रशसा हो गयी। जो सरल-भावसे रहे, सतोष परिणाम से रहे, धर्मकी ओर अपना चित्त लगाए, धर्मके लिए अपना जीवन समझे, इस मायामयी दुनियामें जो सत्य सत्य रहता है—ऐसे पुरुषकी इन मोही पुरुषोंमें मान्यता नहीं है। ठीक है, लेकिन सारे जीवनभर भी तृष्णा कर ली जाए, पर शाति शातिके ही ढङ्गसे आ सकेगी, उसका ढङ्ग नहीं बदल सकता।

शांतिकी पद्धतिमें शाति-मिलन-- कोई पुरुष मायाचार करके अपना कैसा ही दिखावा बना ले, पर सुख-दुःख, शान्ति-अशातिकी जो पद्धति है, उसे कोई नहीं बदल सकता। कोई बड़ा अफसर हो जाए, मिनिस्टर हो जाए, राजा बन जाए, कुछ भी हो जाए, लेकिन बाह्यपदार्थोंके मिलनेसे बाह्य सामग्रीके अनु-

मात्र सुख दुःख शांति-अशांतिकी व्यवस्था नहीं है। मेरी शान्तिका सम्बन्ध तो अपने ज्ञानप्रकाशसे है। बड़े बड़े महापुरुष, चक्रवर्ती, सम्राट् अपने साम्राज्यमें सुखी न रह सके और उसका परित्याग करके जब अपने आपको केवल एक अकेला ही निरखना शुरू किया और अकेले ही रह गए, सर्वका परित्याग किया, जहां बातें करने वाला कोई दूसरा नहीं है, वही बातें करने वाला है और उससे ही बातें की जा रही हैं— ऐसा अकेलापन पाता है तो वहां उसे शान्ति मिलती है।

ध्येयका एक निर्णय—भैया! एक निश्चय तो रख लीजिए। एक बात तो पकड़ लीजिए। हम मनुष्य बने हैं तो धनी बननेके लिए नहीं बने हैं; बल्कि इस अनादि अनन्त संसारसे सदाके लिए छूट जाएँ, उसका उपाय बनानेके लिए मनुष्य बने हैं। धन रहता है तो रहे, जाता है तो जावे, समागम रहता है तो रहे, जाता है तो जावे। इतना बल, इतना धैर्य रखना चाहिए कि कदाचित् यह मैं शरीरमात्र अकेला भी रह जाऊँ, कोई भी साथ न निभाए, कोई भी साथ न रहे, तब भी क्या है? जो था, सो ही रह गया है। बिगड़ा क्या है? यहां मुझमें कौनसा घाटा आ गया है? ध्यान तो दीजिए। इन मायामयी लोगोंमें अपना दिखावा देनेके लिए जो सङ्कल्प किया था, उस सङ्कल्पका घात हुआ है और तो कुछ नुकसान नहीं हुआ है। वह सङ्कल्प तो मेरा वैरी था। यदि मेरे वैरीका विनाश होता है तो लाभमें हम रहे या नुकसानमें रहे? लाभमें ही तो रहे, लेकिन मोहमें सत्य निरखना नहीं चलती है।

अमरत्वदायक अमृत—यह जीव जन्मता भी अकेला है और मरता भी अकेला ही है। जब मरण होनेको होता है तो स्वयमेव ही होता है। कोई मरनेका प्रोग्राम नहीं बनता है। विवाह-काजकी तो चिट्ठियां छप जाती हैं और सम्भव है कि जन्मके दिनोंका अन्दाज होने पर जन्मकी भी चिट्ठियां छप जावें, पर मरणका प्रोग्राम इस जीवका नहीं बनता है, अचानक मरण हो जाता है। चाहे बड़े-बड़े बन्धुजन भी रक्षा करने लगें तो भी मरणसे कोई बचा नहीं सकता। यह जीव, पुरुष स्वयं महाबली हो, महा-पराक्रमशाली हो, बहुत धनी हो, जिसका दिल यह बन रहा हो, पर मरण समयमें वे सब बेकार हो जाते हैं। यह जीव सर्वत्र अकेला है। ऐसे अपने अकेलेपनको निरखकर ज्ञानदृष्टि करके अमृतका पान करते रहना चाहिए। मरणसे रक्षा करने वाला सदा अमर रखने वाला वह कौन तत्त्व है? सहज निज ज्ञान-स्वभावकी दृष्टि करना, यही अमृत है, अन्य यहाँ कुछ अमृत नहीं है। जो अपने आपके ज्ञानस्वभावमात्रकी दृष्टि करता है, वह अमर होता है। उसके लिए जीवन-मरण कुछ नहीं रहता है। ऐसे एकत्वस्वरूपका चिन्तन करने वाला ज्ञानी प्रत्याख्यान कर रहा है।

को उपरक्त बनाकर स्वयं ही विभावरूपसे परिणमता है। इस विभावपरिणमनमें निमित्तभूत पदार्थ अवश्य ही अन्य होता है, किन्तु निमित्तभूत पदार्थके सन्निधानमें भी यह जीव निमित्तकी परिणति ग्रहण न करके केवल अपने आपके विपरिणमनसे विभावरूप परिणमता है। यह अकेले ही ससारी होता है। जब यह बहिरात्मा जीव बहिरात्मत्वको त्यागकर अन्तर्ज्ञानमें प्रवेश करता है, उस समय भी यह जीव अकेले ही स्वयं अपने दुर्भावोंको छोड़कर शुद्ध भावोंका आश्रय लेनेके लिए उत्तम-मार्गको ग्रहण करता है और जब यह जीव परमयोगके बलसे अपने अभिन्न सहज ज्ञानस्वरूपकी उपासनामें होता है, उत्कृष्ट धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें प्रवेश करता है, तब भी यह जीव अकेले ही अपने पुरुषार्थको करता है। उसके प्रसाद से क्षीण मोहावस्था होती है। विशद एक शुद्ध ज्ञानप्रकाशका ही अनुभव जहा होता है– ऐसी परिस्थिति को भी यह आत्मा अकेले ही अपनेमें करता है। सर्वज्ञत्व प्रकट हो, अरहतावस्था आए तो वह भी अपने आपमें अकेलेमें प्रकट होती है, मुक्त भी अकेले ही होता है। सर्वत्र यह जीव अपने अकेलेमें ही परिणमता है।

निष्पक्ष आराधना— जैनसिद्धान्तमें कौन नमस्कार करनेके योग्य है? कौनसी आराधना किये जाने के योग्य है? इस सम्बन्धमें किसी भी प्रकारका पक्ष नहीं रखा गया है। किसी व्यक्तिसे इस सिद्धान्तका सम्बन्ध नहीं है कि अमुक नामका व्यक्ति या अमुक सत हमारा प्रभु है, आराध्य है, नमस्कारके योग्य है—ऐसा कोई पक्ष नहीं रखा है। इस सिद्धान्तने तो केवल ब्रह्मस्वरूप और ब्रह्मस्वरूपका परमविकास यही नमस्कारके योग्य समझा गया है। इसी ओर दृष्टि होती है ज्ञानयोगी सत पुरुषोंकी। तीर्थंकरोंको पूजना, मोक्षगामी पुरुषोंका पूजना– यह व्यवहारसे है। उसमें भी यह आशय पड़ा हुआ है कि जो शुद्ध ज्ञानानन्दका पुंज है, वही हमारा आराध्य है। त्रिसलानन्दन-महावीर हमारा आराध्य नहीं है, बल्कि उनकी आत्माने जो विकास किया, वह आराध्य है। यों तो कोई भी अपनी बहूका नाम त्रिसला रख दे और उससे जो लड़का हो, उसका नाम महावीर रख दे तो लो हो गया त्रिसलानन्दन-महावीर। तो क्या ऐसे व्यक्तिकी पूजा है? नहीं है। स्वरूप और स्वरूपविकासकी पूजा है।

नमस्कारमन्त्रमें ग्राह्य विकास पद— मूलमन्त्र णमोकारमन्त्रमें किसी भी व्यक्तिका नाम नहीं है। न आदिनाथ और नेमिनाथ आदिका नाम है और न ही हनुमान, रामचन्द्र इत्यादिका नाम है। जो स्वरूप की साधना करे, आत्मानुभवकी सिद्धि अविचल बनानेका यत्न करे—ऐसा जो कोई भी आत्मा हो, वह साधु है। साधुका भेष नहीं होता है। उन्हें किसी प्रकारके वस्त्रकी अथवा कुटुम्बकी आवश्यकता नहीं होती है और न उन्होंने किसीको अपनी आत्मसाधनाके ध्येयमें साधक समझा है, बल्कि बाधक माना है। इस कारण सर्वपरिग्रह छूट गया। वश चलता तो इस शरीरको भी छोड़कर वे आत्मसाधना करते, पर शरीर कैसे छोड़ा जायें? इसलिये उनके पास शरीरमात्र रह गया और चेतन-अचेतन समस्त परिग्रह दूर हो गये। अब कोई उस शरीरमात्रके रह जानेको भेष कहने लगे—निर्ग्रंथ भेष है, नग्न भेष है तो इसके लिये क्या करें? पर वह भेष है ही नहीं। भेष तो वह कहलाता है, जहा कुछ बनावटपना बनाया जाये। कुछ चीज रखी जाये, कुछ शृङ्गार किया जाये, इसका नाम भेष है। जहा त्याग ही त्याग है, फिर नकल सन्यासके उस प्रसङ्गमें जो बात शेष रह गई है, वहा उसका भेष कहना केवल उपचारमात्र है। उनके भेष नहीं है, किन्तु वे आत्मसाधनाकी सच्ची धुनमें लगे हुए हैं—ऐसे पुरुषोंको साधु परमेष्ठी कहते हैं। इसमें कहां पक्ष है? कोई पुरुष हो, जो केवल आत्मसाधनामें जुट गया हो, उसे साधु कहते हैं और वह साधु हमारे लिये वन्दनीय है।

साधुपरिचयके प्रकरणमें ईर्या व भाषासमिति— भैया! साधुकी मुख्य पहिचान विधिरूप और निषेधरूपमें दो प्रकारकी है —जो परिग्रहसे तो रहित रहता है और ज्ञान ध्यानमें लीन रहता है। निषेधरूपसे

साधुवोंकी यह पहिचान है कि जो ज्ञान, ध्यान, तपस्यामें रत रहा करते हों और निषेधरूपसे यह पहिचान है कि जो किसी भी प्रकारका आरम्भ न करते हों, परिग्रह न रखते हों। अब सोच लीजिये कि ऐसे साधु हमें किस ढङ्गमें मिलेंगे, क्या करते हुए मिलेंगे? आत्मसाधनामें यह स्वाभाविक पद्धति है। जैसे कि १३ प्रकारके चारित्र कहा करते हैं तो आत्मसाधनाकी ५ धुन वाले साधु कहीं जायेंगे। जानेकी जरूरत तो नहीं है किन्तु एक स्थानमें रहनेसे आत्मसाधनामें बाधा होती है, रागद्वेषके नये-नये प्रसङ्ग बनते हैं। उन को मिटाना है, इसलिये आत्मसाधनाके ही ख्यालसे उन्हें जाना पड़ता है। यदि वे विहार करें तो क्या कूदते-फादते जायेंगे या रातको चलेंगे या ऊँचा मुँह उठाकर चलेंगे या कषाय करके चलेंगे? ये बातें तो न हो सकेंगी। वे तो देख करके चलेंगे, दिनमें चलेंगे, अच्छे परिणाम करके चलेंगे। इसी प्रकार वे किसी से बोलेंगे तो क्या लड़ाईभरी वाणी बोलेंगे, क्या दूसरोंको फसानेकी बात कहेंगे? वे तो हितकारी और परिमित मधुर भाषण करेंगे। इसीका नाम भाषासमिति है।

साधुपरिचयप्रकरणमें ऐषणा, आदाननिक्षेपण व प्रतिष्ठापनासमिति— साधुको क्षुधाकी वेदना हो जाये तो उस वेदनामें, आत्मसाधनामें फर्क आ सकता है। इसलिए आत्मसाधनाकी दृष्टिसे साधु आहारके लिये उठते हैं। आहारके लिये आहार नहीं करते हैं, बल्कि आत्मसाधनाके लिये आहार करना पड़ता है। तब क्या वे इतनी कषाय कर सकते हैं कि वे खेती करें या कोई आयका जरिया बनायें या अपने हाथसे ही रसोई बनाना शुरू करें? वे क्षुधाकी वेदनाको शान्त करनेका यत्न तो करते हैं, मगर सुगम क्रियासे हो जाये तो हो जाये। उनके इतनी आसक्ति नहीं है कि वे एक बातको आरम्भ करें। दूसरी बात यह है कि इतनी आसक्ति उन्हें नहीं है कि लोगोंसे मागते फिरें। तब क्या होगा? आत्मसाधना करने वाले साधु आहार करनेकी वांछासे धर्मात्मा पुरुषोंके मकानोंकी गलियोंमें निकल गये। कोई धर्मात्मा पुरुष भक्ति-पूर्वक सम्मानसहित निवेदन करे तो भोजन करनेकी उनकी इच्छा हो जायेगी। चले गये भोजनशालामें, पर आत्मसाधनाके इच्छुक पुरुष यद्वा तद्वा अभक्ष्य भोजन नहीं करते। वे तो हिंसारहित शुद्ध भोजन करते हैं। पर शुद्ध भोजन बना है या नहीं, यह कैसे जानें वे? दातारोंकी क्रियायें निरखकर, कैसे यह बोलता है, कैसे खड़ा होता है, कैसे बैठता है, क्या इसके परोसनेकी पद्धति है, किस प्रकारसे सामान रखा हुआ है— इन बातोंको ही देखकर साधु जन सब परख लेते हैं कि इनका भोजन निर्दोष शुद्ध है। इस प्रकार आहार लेनेका नाम है एषणासमिति। आत्मसाधक पुरुष प्रयोजनवश किसी चीजको धरेगा, उठा-येगा तो देख-भालकर धरेगा और उठायेगा— इसीका नाम है आदाननिक्षेपणसमिति। वे शौच करें, मूत्र करें, थूकें, नाक छिनके अथवा पसीना पूँछकर फैंकें तो ऐसी जगह क्षेपण-क्रिया करते हैं कि जिस जगह किसी जीवको बाधा न पहुचे। इसीको प्रतिष्ठापनासमिति कहते हैं।

साधुपरिचयप्रकरणमें गुप्ति और महाव्रत— साधुके समितिप्रवृत्तियां, शुद्ध प्रवृत्तियां हो जाती हैं—ऐसा होना उनका स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त इस प्रयत्नमें वे रहते हैं कि आत्मसिद्धिमें बाधक चूँकि ये मन, वचन, कायके विस्तार हैं, इसलिए इनकी क्रियायें रोकनी चाहिएँ। वे मन, वचन, कायकी क्रियावोंको रोकते हैं, इसका ही नाम है गुप्ति। साधुका व्यवहार दयापूर्ण और सच्चाईसे भरा हुआ होता है, किसी भी प्रकारकी चोरीका नाम नहीं होता, पूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। लेशमात्र भी परिग्रह न रखें— ऐसी वृत्ति हो जाती है, उसका नाम है महाव्रत। यों आत्मसाधनाका इच्छुक पुरुष चरित्रमें लगता है। जो इस प्रकार लगे, उनका ही नाम साधु है। साधु जनोंमें जो पालक, प्रमुख है, वह है आचार्य। जो शिक्षक ज्ञानी है, वह है उपाध्याय।

साधु आत्माका परम और चरम विकास— नमस्कारके मूलमन्त्रमें किसी भी व्यक्तिके नामकी पूजा नहीं है, खूब परख लो। ये ही साधु पुरुष आत्माकी अभेद-साधना करके कर्मोंसे दूर होते हैं, सारे विश्वके

ज्ञाताद्रष्टा होते हैं, सहज अनन्त आनन्दमें मग्न होते हैं, उन्हींका नाम है अरहंत। अरहंतका अर्थ है पूज्य। व्यक्तिका भी नाम नहीं है। वे अरहंत शेष बचे हुए अघातिया कर्मोंसे जब दूर हो जाते हैं, शरीर से भी छुटकारा पा लेते हैं, सर्वथा सर्वविशुद्ध हो जाते हैं, वे सिद्धभगवान् कहलाते हैं। यह भी किसी व्यक्तिकी पूजा नहीं है।

विकासमे एकत्व— जो पुरुष सिद्ध हुआ है, वह केवल अपनेमे, अकेलेमें अभिन्न पुरुषार्थ करके सिद्ध हुआ है। यह जीव सर्वत्र अकेला है। स्वयं ही यह कुछ कर्म किया करता है और स्वय ही उसका फल भोगा करता है। यह अकेला ही ससारमें भ्रमण करता है और अकेला ही ससारसे मुक्त हो जाता है। ऐसा अपने आपके एकत्वस्वरूपकी भावना करने वाला यह ज्ञानी साधु निश्चयप्रत्याख्यान कर रहा है।

स्वशरणग्रहण— हे मुमुक्षु पुरुष! अपने आपकी करुणा कर। तू ही स्वय अकेला अच्छे-बुरे परिणाम करता है और उसके फलको तू ही अकेला भोगना है। जन्म-मरण सब तुझ पर अकेले ही विदित होंगे। तू यहां किसीको सहाय मत समझ। अपने आपके अन्त स्वरूपका शरण ग्रहण कर। इस जगत्में जो भी कुछ तुझे समागम मिल रहा है, तू ऐसा समझ कि अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये, अपनी कषाय-वेदनाकी शातिके लिये यह जमात, टोली इकट्ठी हुई है। ये कुटुम्बी जन, ये मित्र जन सब मेरा हित करने के लिये नहीं मिले हैं। ये सब अपने कषायकी पूर्ति करनेकी ही धुनमें हैं। यहां मेरा कोई हितकर नहीं है।

क्रियामें एकाकीपन— भैया! कोई मेरे हितकी बात करने का दम भरे तो भी वह वस्तुत अपने आपके किसी स्वार्थ अथवा कषायकी पूर्तिके लिये दम भरता है। वस्तुके स्वरूपमें ही यह बात नहीं है कि कोई जीव किसी दूसरे जीवका हित कर सकता हो। फिर वस्तुस्वरूपके विरुद्ध कौनसा हमारा हित करने में समर्थ हो सकता है? यह बात जैसी दूसरेकी कही जा रही है, ऐसी ही तू भी अपनी समझ कि मैं भी किसी जीवको सुख नहीं दिया करता हू, किंतु मुझे जिस कल्पनासे कुछ सुहावना लगता है, समझ मिलती है, उसके अनुकूल अपनी क्रिया किया करता हू। मैं किसी दूसरेको सुख नहीं दे सकता हू। सर्व जीव अपने आपमें अकेलेमे चाहे विभावपरिणमन करे, चाहे स्वभावपरिणमन करें, अकेले ही किये जा रहे हैं।

एकत्वदर्शनकी शिक्षा— भैया! जैसे सब हैं, वैसा ही मैं हू। मेरे लिये इस जगत्में कुछ नई बात नहीं है। जो वस्तुपरिणमनकी पद्धति है, उसी पद्धतिसे ही सबका परिणमन चलता है। हमें कुछ अपने आप पर करुणा करनी चाहिये। अपने एकत्वस्वरूपको निहारकर अपने आपमें अपना प्रसाद पाना चाहिये। यह ही सच्चा प्रत्याख्यान है और इसमें ही तो परमसमाधि, परमभक्ति तथा परमकल्याण प्रकट होता है।

एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥

एकत्वचिंतन— मेरा यह शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है। इस ज्ञानदर्शन भावके अतिरिक्त शेष जितने भी परिणाम हैं, बाह्यभाव हैं, विभाव हैं अथवा अन्य पदार्थ हैं, वे सब संयोगलक्षणात्मक हैं। जो जीव अपने आपके स्वरूपको एकत्वमें परिणत निहार रहा है, उसके चिंतनकी यह बात चल रही है। यह जीव दुष्कर्मके कारण जन्म और मरणको प्राप्त होता है तो वहां भी यह अकेला ही जन्मता है और मरता है। यह अपने आपमें जितने भी विकल्प उठाता है, उन्हें भी यह अकेला ही विकल्प करता है। उन विकल्पोंके कारण अपनी स्वरूपदृष्टिसे विमुख होकर कर्मोदयजनित जो वैषयिक सुख अथवा दुख हैं,

इनको यह बारम्बार भोगता है तो यह अकेले ही भोगता है। कोई समय उत्तम आये और क्षयोपशमलब्धि प्रकट हो, सद्गुरुवोंका उपदेश भी मिले तो उस कालमें जब यह जीव अपने स्वभावज्ञानकी ओर चलता है तो यह अकेला ही चलता है। रुलता है तो अकेला, संसारके सङ्कटोंसे छूटता है तो अकेला, सर्वत्र यह जीव अपने एकत्वस्वरूपमें है। इस प्रकार एकत्व जगनेमें परिणत जो सम्यग्ज्ञानी पुरुष है, उसका ही यह चिंतन चल रहा है।

आत्माकी ज्ञानदर्शनस्वरूपता—मेरा यह शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है। यह किस आत्माकी बात कही जा रही है? व्यवहारदृष्टिसे देखे हुए आत्माकी बात नहीं कही जा रही है, बल्कि मेरे स्वरूपमें स्वतःसिद्ध विराजमान् जो त्रिकाल निरुपाधिस्वभाव है, उसमें बसा हुआ जो निरावरण ज्ञानशक्ति और दर्शनशक्ति है, उस शक्तिस्वरूप आत्माकी बात कही जा रही है। यह मेरा आत्मा है—ओह, इस प्रकारकी प्रीतिपूर्वक आत्माका सम्वेदन करनेमें कितना स्वभावका अनुराग झलक रहा है? प्रीतिपूर्वक इस ज्ञानीके यह व्यवहार चल रहा है कि यह मेरा आत्मा है। आत्माकी समस्त दशावोंको छोड़कर उनमें उपयोग न देकर भोग और उपयोगकी तरंगोंको भी न निरखकर त्रिकाल निरावरण निरुपाधि जो ज्ञानदर्शनस्वभाव है, तन्मात्र आत्मतत्त्वके प्रति कहा जा रहा है कि यह मेरा आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है।

आत्माकी अशरीरता—इस मेरे आत्मामें यह शरीर भी नहीं है। इस समय हम आप शरीरमें बंधे हैं। बंधे हुए रहे आयें, फिर भी शरीरके बंधनको न निरखें, शरीरको ही अपने लक्ष्यमें न लें, है ही नहीं शरीर, इस प्रकारका उपयोग करके अन्तरमें अपने आपके स्वरूपको निहारो। वहां जो केवल ज्ञानदर्शन स्वभावमय आत्मा है, उसकी बात कही जा रही है कि यह आत्मा शरीरसे भी जुदा है। यहां तक जिनकी दृष्टि पहुंची है, उनके संसार-सङ्कट समाप्त हो जाते हैं।

शान्तिका उपाय—भैया! सब कुछ किया जाये, पर एक यह अपने पतेकी, अन्तरकी बात न विदित हो तो कुछ नहीं किया, बल्कि अपनी बरबादीका कारण ही बनाया। यह बाह्यमें धन-सम्पदा लाखों और करोड़ोंकी भी हो जाये, पर हे आत्मन्! तू तो अमूर्त आकाशवत् निर्लेप केवल अपने स्वरूपमात्र है और बहुत विशाल सम्पदामें तेरा यदि ममताका परिणाम जगे तो यह तो तेरे पर पहाड़ ढा गया। तू शान्त नहीं रह सकता। तेरी शान्ति तो तेरे आकिञ्चन्य भाव पर निर्भर है। मेरा जगत्में कहीं कुछ नहीं है, केवल मैं ज्ञानदर्शन प्रकाशमात्र हू—ऐसा भाव बने, ऐसा ही स्वभावका अनुभव बने तो शांति है अन्यथा शांति नहीं है।

परकी आशामें क्लेशका मिटना असंभव—हे आत्मन्! जो चीज तेरी नहीं है, उसमें क्यों ममता की जा रही है? भूख, प्यास, ठण्ड, गरमीकी वेदना मिटानेके लिये यदि बाह्यका संचय करते हैं, तब तो कुबुद्धि नहीं कही जा सकती। वह शरीरका धर्म है और उसे तो अभी निभाना पड़ेगा, किंतु इस माया-मय जगत्में, मलिन पापी मायामय कषायोंसे भरे संसारमें तू किससे अपने यशकी भीख मांगता है? दुनियाके लोग मुझे धनिक कह सकें, इस भावसे व्यामोही पुरुष धनसे ममता बढ़ाये जा रहे हैं। ये सब क्लेश इस शरीरके कारण हैं। अपने आपको शरीररहित निरखें तो इन क्लेशोंसे मुक्त होनेका उपाय मिलेगा। जब तक तू अपनेको शरीररहित न निरखेगा, तब तक तू इन क्लेशोंको न मिटा पायेगा। एक क्लेश मिटायेगा तो दूसरा कष्ट हाजिर है। है कोई ऐसा पुरुष यहां, जिसके क्लेश न आया करते हों? कितने क्लेश मिटावोगे—निर्धनताका या अपयश न हो जाये इसका या अपनी इज्जतकी चिंताका? किस-किसका दुःख मिटावोगे? किसी प्रसङ्गमें मान लो दुःख मिट गया तो नया दुःख अवश्य आ जायेगा। यह संसार दुःखोंका घर है। इस दुःखमय संसारमें ममता करना बड़ी अज्ञानता है। अपनी संभाल कर लो, फिर दूसरोंकी रक्षा करनेकी सोचो। स्वयं तो अरक्षित हैं और दूसरे प्राणियोंकी रक्षा

की चिंता लादे हैं।

दुर्लभ समागमके सदुपयोगका अनुरोध— भैया ! जो समय गुजर रहा है, वह वापिस नहीं आ सकता। ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिला करता। जो मनुष्य नहीं हैं, ऐसे बहुतसे जीव जो नजर आ रहे हैं, उनकी जिन्दगी तो देखो—भैंसा, बैल, घोड़ा, गधा आदि जोते जा रहे हैं, पीठ पर चाबुक लगती जा रही है और बाय-बाय करते जा रहे हैं। कितने दुःख वे भोग रहे हैं ? हांकने वाले जरा भी यह निर्णय नहीं कर रहे हैं कि इनकी भी हमारी ही जैसी जान है। कीड़े-मकौड़े आदि जीवोंकी हालत तो देख ही रहे हो, ये सब भी हम आपकी ही तरह चेतन जीव हैं। हम आपने सुखी होनेका कोई पट्टा नहीं लिख रक्खा है। यह तो थोड़ा पुण्यका उदयकाल है, पर जो दुर्गति अन्य जीवोंकी हो कती है, वही दुर्गति अपनी भी हो सकती है। इस कारण संसारसे कुछ भय लायें, कुछ धर्मकी ओर रुचि करें।

विषवृक्षचिंतनकी क्यारीसे पार्थक्य— यह मेरा आत्मा शाश्वत है, सर्वसङ्कटोंसे मुक्त है, इसमें शरीर का भी सम्बन्ध नहीं है। यह शरीर संसारके भ्रमणको बढ़ानेका कारण है। इस शरीरका प्रेम संसारके सङ्कटोंकी बगियाँको हरी-भरी रखनेके लिये, लहलाती रखनेके लिये जल सिंचनके आधार जैसा काम कर रहा है। जैसे किसी बागमें क्यारी बनाकर नालीमें पानीका प्रवाह करते हैं, उससे ये वृक्ष हरे-भरे बने रहते हैं, बढ़ते चले जाते हैं—ऐसे ही यह शरीर उस क्यारीकी नालीकी तरह है, जिसमें दुर्भावोंका जल प्रवाह किया जा रहा है और उस जल-सिंचनसे यह संसारका विषवृक्ष हरा भरा होकर बढ़ता चला जा रहा है। तू इस शरीरसे भी जुदा है, शरीरकी रुचिसे संसारके सारे सङ्कट बनते हैं। सामायिकमें, स्वाध्यायमें या कहीं भी बैठे हों, दूकान पर ही क्यों न हों, किसी भी जगह दो-चार सेकिण्डको भी कभी तो अनुभव करें कि यह मैं हू, यह मैं स्वरूप सत् आत्मा सर्व परपदार्थोंसे भिन्न, शरीरसे भी जुदा, केवल एक ज्ञानप्रकाशमात्र हू। इस तत्त्वको न जाननेके कारण कितना अंधकार छाया है इन जीवोंमें ? इन्हें शुद्ध यथार्थस्वरूप नहीं सूझता है।

स्वका स्वतन्त्र स्वरूप— यह मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् हू। यह मैं सदा एक हू, नानारूप नहीं हू। जैसे जगतमें ये नाना प्रकारके जीव दिख रहे हैं—गाय, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी आदि, ऐसे ही ये हम आप भी जितने दिख रहे हैं, उन सबके सम्बन्धमें ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है कि मुझे तो कोई दिख ही नहीं रहा है। कहां प्रवेश करके ज्ञानी चिंतन कर रहा है ? भिन्न-भिन्न मनुष्योंको निरखकर। एक माननेकी बात तो दूर रही, वह तो सुगम बात है, किंतु वृक्ष कीडे, पशु-पक्षी जैसे अत्यन्त भिन्न जीवों को निरखकर भी ज्ञानी इन सबमें एकत्व देख रहा है। ये सब केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हैं। ऐसा ही यह मैं ज्ञानमय आत्मा शाश्वत हू, ज्ञानदर्शनस्वरूप हू।

स्वरूपकी क्रियाकाण्ड विविक्तता— यह मैं शाश्वत आत्मा सर्वप्रकारकी क्रियावोंसे दूर हू। मैं कुछ करता हू, मैं अमुक क्रियायें करता हू, इस प्रकारकी दृष्टिमें यह मेरा आत्मा ओझल हो जाता है। मैं भावप्रधान हू, यह केवल अपने परिणाम ही बनाता है। उसी परिणाम पर शान्ति और अशान्ति निर्भर होती है। मेरा यह आत्मतत्त्व समस्त क्रियाकाण्डोंसे दूर है। ये नाक, कानके आभूषण जो स्वर्णके हैं, ये नाक, कानकी शोभा बढ़ानेके लिये हैं, किन्तु वे ही आभूषण नाक, कानको छेदकर एवं घाव बना दें तो वे आभूषण किस कामके हैं ? ये क्रियाकाण्ड चलना, उठना, बैठना, शुद्धतासे हाथ, पैरकी वृत्ति करना, दूसरोंसे अलग रहना, छुवाछूत आदिक इन सब क्रियावोंसे चलना, इन सबका उद्देश्य तो निश्चयधर्मका श्रृङ्गार करनेके लिये था; किंतु ये क्रियाकाण्ड एक ममताको उत्पन्न करके हमारे ही धर्ममें एक बड़ा रोग पैदा कर दें, बुद्धिको सड़ा दें, बहिर्मुखी दृष्टि हो जाये तो ये क्रियाकाण्डसमूह मेरे किस कामके हैं ? मैं शुभ, अशुभ, मन, वचन, कायके समस्त क्रियाकाण्डोंसे विविक्त हू।

आत्माकी उपादेयता— भैया ! अपनेको न केवल वचन और कायकी क्रियावोंसे रहित होना है, किन्तु आत्मा किस प्रकारकी अक्षोभावस्थामें दर्शन देता है, उस अक्षोभ प्रयत्नका प्रकरण है। सो जहां मन अपना सङ्कल्प करना न छोड़ दे, रागद्वेष विकल्प वितर्क विचार छोड दे और वचन भी अन्तरङ्गमें न उठे, न बाहर बोले जायें तथा यह शरीर भी सर्वक्रियावोंको बन्द कर दे, निष्पन्द ऐसा निष्क्रियरूप बन सके तो वहां आत्मप्रभुके दर्शन होते हैं। ऐसी विश्क्षोभ स्थितिमें सहज शुद्ध ज्ञान चेतनास्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दको भोगता हुआ शाश्वत होकर यह आत्मा ही मेरे लिये उपादेय है—

धन, कन, कंचन, राजसुख, सबहिं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है ससार में, एक यथारथ ज्ञान ॥

इस दुर्लभ जिनधर्मका आलौकिक लाभ लूटना हो तो चित्तमें यह पूर्ण श्रद्धा लावो कि मेरे शाश्वत आत्माका जो सहजस्वरूप है, उसका दर्शन ही सर्वप्रकारसे उपादेय है, वही सच्ची विभूति है।

वास्तविक दरिद्रता— बाहरमें क्या है ? कदाचित् कभी निर्धनता भी आ जाये और कभी भीख मांगकर भी पेट भरना पडे तो वह अनर्थके लिये नहीं है, किन्तु बहुत बड़ी सम्पदा मिल जाये और उसमें यह परिणाम बन जाये कि यही मेरा सब कुछ है। अपने आपके स्वरूपका विस्मरण कर जाये, बाह्य-पदार्थोंकी ओर झुक जाये तो यह दशा अनर्थके लिये है और यही दशा वास्तविक दरिद्रता है, इसमें आत्मीयानन्दका लाभ नहीं मिल सकता।

वाञ्छनीय तत्त्व— यह मेरा आत्मा शाश्वत है और यही मेरे लिये उपादेय है। कोई कभी पूछे कि तुम्हें क्या चाहिये ? तो अन्तरमें यह उत्तर हो कि मुझे तो उस शुद्ध निराकुल ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मतत्त्व का दर्शन चाहिये और कुछ नहीं चाहिये। आखिर कोई सङ्कट न रहे, यही तो सबके मनमें बात है ना ? ऐसी चीज यदि मिलती है, जिससे कि सङ्कट सदाके लिये दूर हो जायें तो उससे बढ़कर और वैभव क्या हो सकता है ? अपनी ही यह कमजोरी है। जो मायामयी जगत्मे मायामयी लोगोंकी वृत्ति निरखकर स्वय भी तृष्णा बढ़ा लेते हैं, इतनी विभूति हमारे भी होनी चाहिये; किन्तु विभूति वाले विभूति पाकर जब अन्तमे मरण निकट आता है तो वे भी पछताते हैं कि हमने अपना कुछ कार्य न किया। धन बढाया, सम्पदा बढायी, सारे ऐब भी किये, पर आज मै रीताका रीता जा रहा हू।

जीवन-विडम्बना— जब इस बालकका लोकदृष्ट जन्म हुआ था, तब तो गांठमें बहुत कुछ था, बहुत पुण्यका उदय था। न होता पुण्यका उदय तो पिता, बाबा, चाचा आदि उसे गोदमे क्यों लिये फिरते ? अत उस समय बहुत बड़ा पुण्यका उदय था। ये बडे-बडे पुरुष खुदको दु:खी कर लेना मंजूर कर लेते हैं, पर बालकको दु'खी नहीं देखना चाहते हैं। यह पुण्यका ही तो उदय था। पर आज इतनी जिन्दगीसे जी कर वृद्ध हुए, मरणकाल आया, उस समय देखते हैं तो कुछ भी गांठमें नहीं है। इसीलिये यह प्राकृतिक बात बन गई, मानों कविकी कल्पनामें कि बालक जब जन्मता है तो मुट्ठी बांधे हुए निकलता है। दुनियाको वह बालक शिक्षा दे रहा है कि पूर्वजन्ममें जो तप किया, सयम किया, धर्म किया, उस सबका जो पुण्य-बन्ध है, वह हम साथ ले आये हैं और जब वह मरता है तो हाथ पसारकर मरता है। यह मरने वाला भी दुनियाको यह शिक्षा दे रहा है कि देखो, इस जिन्दगीमें नाना खटपटें कर लेनेके बाद अब हम हाथ पसारे जा रहे हैं। जो था, उसे भी छोड़कर जा रहे हैं। ये सब विडम्बनाएँ हैं। मै उन सब विडम्बनावोंसे परे शाश्वत ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा हू।

ज्ञानीका आत्मनिर्णय— मै कौन हू ? इसका यथार्थ निर्णय होना ही ससारसे छूटनेका उपाय है। मैं वह नहीं हू, जो मिट जाये। जो त्रिकाल रहे, वह मैं हू। मै वह नहीं हू, जो किसी अन्य वस्तुसे दब जाये अर्थात् अपने स्वभाव और अस्तित्वमें अन्तर डाल ले। मैं निरुपाधिस्वभाव हू। मैं वह नहीं हू, जो प्रति-

भाससे रहित हो, मैं ज्ञानदर्शनस्वरूप हूं। रागद्वेष आदिक विभाव एवं अन्य ये सब पर्यायें कुछ जानती नहीं हैं। राग परिणामका काम जानना नहीं है। जानना केवल ज्ञानप्रकाशका काम है। यद्यपि हम आप संसारी-जीवोंमें ज्ञान और राग दोनों साथ-साथ चल रहे हैं, लेकिन राग मैं नहीं हूं। मैं तो ज्ञान हूं, जो कभी उत्पन्न हो, किसी दूसरे पदार्थका निमित्त पाकर उत्पन्न हो। मिट जाये, वह मैं नहीं हूं। मैं ज्ञानस्वरूप हूं। ये रागादिक भाव तो ज्ञानस्वरूपके विरुद्ध हैं। मैं तो ज्ञानकी वृद्धिका ही स्रोतभूत जो ज्ञानस्वभाव है, वह हूं। मैं कारणपरमात्मा हूं अर्थात् परमात्मत्व जो प्रकट होता है, वह इस मुझ कारणका ही व्यक्तरूप है, कुछ अन्य तत्त्व नहीं है। मैं एक हूं, शाश्वत हूं, ज्ञानदर्शनस्वरूप हूं। अन्य जितने भी भाव हैं, वे सब मुझ पर लादी हुई चीजें हैं, उन स्वरूप मैं नहीं हूं। चाहे बाह्यपरिग्रह हों और चाहे रागादिक अन्तरङ्ग परिग्रह हों—ये सब थापे गये तत्त्व हैं। शुभ और अशुभ कर्मके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। वे शुभ व अशुभ मेरे स्वरूपसे बाह्य हैं। ऐसा ज्ञानीका परमार्थनिर्णय है।

लौकिक बड़प्पनसे शान्तिका अलाभ— लोग अपनेको भूलकर बाह्य स्त्री आदिक, धन-सम्पदा आदिक चेतन-अचेतन परिग्रहोंमें झुके जा रहे हैं, आकर्षित हो रहे हैं। इन व्यामोही जीवोंने अपने प्रभु पर कितनी विडम्बना लाद ली है? यह तो केवल ज्ञानस्वरूपमात्र है, ऐसा अनुभव, ऐसा निर्णय जब तक कोई नहीं कर सकता है। वह चाहे लोकमें कितना ही बड़ा बन जाये, धर्मके नाम पर व्रत, भक्ति, पूजा आदिक करके कितना ही आपका लोकमें बड़प्पन दिखाये, पर शान्ति नहीं हो सकती है। शान्ति तो शान्तिके ढङ्गसे ही आ सकेगी। वह ऊपरी दिखावेसे नहीं आ सकती है।

उत्तरोत्तर दुर्लभ स्थितिकी प्राप्ति और कर्तव्य— हम आप तो अनेक जीवोंकी अपेक्षा बहुत बड़ी स्थिति में हैं। प्रथम तो निगोदसे निकलना ही कठिन था, फिर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिसे भी निकलना कठिन रहा। वहांसे निकलकर त्रसपर्यायमें आये। दोइन्द्रियसे तीनइन्द्रिय, तीनइन्द्रियसे चारइन्द्रिय, असञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रिय और असञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रियसे सञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रिय होना उत्तरोत्तर कठिन है। सञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रियमें भी मनुष्यभव मिलना बहुत दुर्लभ बात है। ध्यानमें लायें कि हम कितनी ऊँची दुर्लभ स्थितिमें आ गये हैं? मनुष्योंमें भी श्रेष्ठ धर्म मिलना, पवित्र कुल मिलना, अच्छा समागम मिलना, शास्त्रोंकी बात समझनेकी बुद्धि आना और कुछ धर्ममें रुचि होना—ये कितनी उत्तरोत्तर दुर्लभ बातें हैं? हम और आप इतना तक प्राप्त कर चुके हैं। अब केवल एक ही हिम्मत बनानेकी और जरूरत है। वस्तुस्वरूपको स्वतन्त्र यथार्थ जानकर एक बार समस्त परपदार्थोंका विकल्प तोड़कर जो सङ्ग मिला है, घर आदिक जो समागम हैं, उन सबको उतना ही भिन्न मानकर, जितने भिन्न दुनियामें और लोगोंके मकान आदि हैं, उतने ही भिन्न मानकर केवल अपने आपके इस ज्ञानस्वभावकी महिमा पायें तो स्वयं ही अद्भुत अलौकिक ऐसा आनन्द प्रकट होगा कि संसारके सङ्कट काटनेका मार्ग पा लिया जायेगा और उसी समयसे अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा।

अज्ञानियोंकी भीख—भैया! परपदार्थोंकी आशा रख-रखकर कुछ अपनी इज्जत बनायी, तृप्ति बनायी तो उसमें कौनसी शान है? भीख मांगकर तो भिखारी भी पेट भर लेते हैं, ऐसे ही लोगोंसे इज्जतकी भीख मांगकर कुछ इज्जतका बनावटपन करें भी लोग, तो उसमें कौनसा यज्ञ जीत लिया? धनसंचयकी होड़ लगाना, और और भी लौकिक पोजीशनके बढ़ानेमें होड़ लगाना— यह क्या है? यह लोगोंसे भीख मांगना ही तो है। किसी प्रकार लोग यह जान जायें कि यह बहुत बड़ा पुरुष है। अरे, लोगोंके इस प्रकार जान जानेसे मिल क्या जायेगा और अब तक मिला भी क्या है? हां में हां मिलाने वाले लोग, आपके मनको राजी रखने वाले लोग तब तकके लिये साथी हैं, जब तक आपके निमित्तसे उनका कुछ स्वार्थ भी सधता है। आशा रखो तो अपने आत्मदेवकी तथा जो शुद्ध आत्मा हुए हैं, परमात्मा हुए हैं, उनके शुद्ध

गुणोंकी दृष्टि करें। शुद्ध आत्माके शुद्ध गुणस्मरणकी आशा करें, उससे तो लाभ होगा; किंतु जो स्वयं अरक्षित हैं, मिट जाने वाले हैं, गन्दे आशयके हैं—ऐसे लोगोंकी आशा करनेसे लाभकी तो कथा ही छोड़ो, बल्कि उल्टी बरबादी ही बरबादी है। ये समस्त चेतन-अचेतन परिग्रह मेरे स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न हैं।

परमार्थ चिन्तामणि— यह मेरा परमात्मा, यह ज्ञानस्वरूप, यह शुद्ध चित्प्रकाश, यह क्षोभरहित सर्वश्रेष्ठ तत्त्व शाश्वत है, एकस्वरूप है। यही वास्तविक चिंतामणि है, जिसकी दृष्टिमें आने पर सभी चिंताएं, सभी सङ्कट समाप्त हो जाते हैं। भैया! रहना तो कुछ है ही नहीं, यह तो निश्चित है। जो कुछ भी जोड़ा है, कमाया है, रक्खा है, जिसमें बुद्धि अटकती है, एक अणुमात्र भी नहीं रहना है। न रहे, इतना ही नहीं, बल्कि इसके कारण बहुत बुरी तरहसे सक्लेश होता है और मरण भी बिगड़ता है। लाभ ही न करे, केवल इतनी ही बात नहीं है, बल्कि बाह्यसम्बन्ध तो ये बरबादी ही करते हैं। कितना व्यर्थका काम है?

दुर्बुद्धिमें अनर्थ— पुण्योदयवश न चाहते हुए भी, यथार्थदृष्टि रखते हुए भी जो कुछ सम्पत्ति आती है, वह तो बिगाड़का कारण नहीं बनती, किन्तु जिसे चाह-चाहकर जोड़ा है, वह सम्पदा अवश्य ही बिगाड़का कारण होती है। जैसे लोग कहते हैं कि न्यायकी कमाई हो तो पैसा धर्ममें लगता है, अन्यायसे जो कमाई हो तो वह पैसा धर्ममें नहीं लग पाता है। वह तो यों ही बिखर जाता है। उसका भी यही मर्म है कि जिस पुरुषने न्यायबुद्धि नहीं रखी है, उसमें ऐसी सुमति कैसे जग सकती है कि वह धर्मकार्यमें भी कुछ लगा सके? कुछ पैसेकी ही बात नहीं है कि पैसेमें न्याय और अन्याय खुदे हुए हैं। न्याय-अन्याय तो पुरुषकी भावनामें है। जो पुरुष अन्याय करके धनसंचय करते हैं, उनको यह ज्ञानप्रकाश नहीं मिल पाता कि धनका सदुपयोग कर सकें। ज्ञानी पुरुष ही यह साहस कर सकता है कि सम्पदा आये अथवा न आये, यहां तो कुछ हैरानी नहीं है।

जीवनका विशुद्ध ध्येय— भैया! ज्ञानीका निर्णय है कि मुझे दुनियामें अपना नाम नहीं करना है, क्योंकि वह व्यर्थकी बात है। मुझे इस शरीरको आरामसे नहीं रखना है, क्योंकि इससे मेरा क्या पूरा पडेगा? विषयोंके नाना साधन जुटाकर मुझे दिलकी तफरी नहीं करनी है, क्योंकि उससे मेरा कुछ लाभ नहीं है। तब फिर सम्पदा आये तो और न आये तो, जो भी परिस्थिति सामने होगी, उसमें ही मेरी व्यवस्था होगी। मैं परिग्रही बननेके लिये मानव-जन्ममें नहीं आया हूं। सदाके लिये संसार-सङ्कट मिटा लेनेके लिये मैं मानव हुआ हूं। जिस पुरुषका ध्येय विशुद्ध हो जाता है, उसे फिर व्यवहारमें विडम्बना नहीं होती है।

अकर्तृत्वका आशय— लोककल्पित लक्ष्मीको कौन कमाता है? सब उदयकी चीज है। जब आती है, तब वेगसे आती है और जब जाती है तो एकदम ही चली जाती है। आनेमें फिर भी कुछ क्रम है, सिलसिला है पर जानेमें तो कोई सिलसिला भी नहीं है, किसी भी समय एक साथ भी चली जायेगी। जाये तो जाये, उससे तो हमें कुछ मतलब नहीं है। हमारा शरण तो परमात्मभक्ति है और परमार्थशरण तो मेरे यथार्थस्वरूपका आलम्बन है। मोही जन यह निरखकर दुःखी होते हैं कि मैंने इसको ऐसा पाला-पोसा, इसकी मदद की और यह किसी भी बात पर मुझसे विमुख हो जाता है, ज्ञानी इस प्रकारकी भावना नहीं करता है, क्योंकि वह जानता है कि मैंने केवल अपनी भावना बनानेके सिवाय और कुछ नहीं किया। मैं दूसरे पदार्थमें कुछ नहीं कर सकता हूं। वह भ्रम नहीं करता कि मैंने अमुकका उपकार किया या अमुकको आराम दिया। वह तो शुद्ध ही समझ रहा है कि मैंने केवल अपना भाव ही बनाया व उस भावका ही प्रयत्न किया। जीव केवल भाव करता है। बाहरी चीजोंका जुड़ना, बिछुड़ना ही तो

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश हो रहा है।

तगदीर— एक ऐसी किम्वदन्ती है कि एक बार ब्रह्मा किसीकी तकदीर बना रहे थे। तकदीरमें लिख रहे थे ५) और काला घोड़ा। वहांसे गुजरते हुए एक साधुने पूछा कि "ब्रह्माजी! आप क्या कर रहे हो?" ब्रह्माजीने उत्तर दिया कि "मैं एक लड़केकी तकदीर बना रहा हूं।" "तकदीरमें क्या लिख रहे हो?" "काला घोड़ा और ५)।" "किसके यहा पैदा करोगे?" "अमुक करोड़पतिके घर।" "महाराज! ऐसा क्यों करते हो? जब करोड़पतिके यहा पैदा करते हो तो उसका भाग्य करोड़पतिके भाग्य जैसा बनावो या फिर किसी गरीबके यहा पैदा कर दो।" इस पर ब्रह्मा ऐंठकर बोले कि "तुम्हें इससे क्या मतलब? जो हमें करना होगा, वही करेंगे।" साधु भी भड़ककर बोला कि "अच्छा, तुम्हें जो लिखना है, वह लिख लो, हम तुम्हारी इस तकदीरको मिटाकर रहेंगे।" कालान्तर उस लड़केका जन्म एक करोड़पतिके घर हो गया।

भैया! अब हम इस कथाका सार कह रहे हैं— कोई ब्रह्मानामका पुरुष किसी के भाग्यकी रचना करने वाला नहीं है, सब कर्मोंकी रचना है। आप चाहे ब्रह्माकी जगह कर्म शब्द प्रयोग कर लो। जब लड़का करोड़पतिके घर पैदा हो गया तो उसकी सारी सम्पत्ति बिकने लगी। थोड़े ही दिनोंमें सारी सम्पत्ति समाप्त हो गई और जो फिर भी शेष रह गई, वह दिन प्रतिदिन समाप्त होने लगी। जब लड़का १५-१६ वर्षका हुआ तो उसके पास एक झोंपड़ी, एक काला घोड़ा और ५) रह गये। सब कुछ ब्रह्माजीके कथनानुसार हो रहा था।

तदवीर— कालान्तर एक दिन वे साधु उधरसे गुजरे और उनके मस्तिष्कमें सारा घटनाचक्र घूम गया। वे तुरन्त उस लड़केके पास गये। उस लड़केने साधुको देखकर उन्हें आदरपूर्वक बैठाया और बोला कि "महाराज! मेरे योग्य सेवा बताइये।" साधु बोले कि "बेटा! तेरे पास क्या है?" लड़केने सविनय उत्तर दिया कि "काला घोड़ा और ५)।" "अच्छा, काला घोड़ा बाजारमें बेच आवो।" वह लड़का घोड़ेको १००) में बेच आया। साधुने लड़केसे कहा कि "अच्छा, ५) और १००) दोनोंको मिलाकर बाजारसे आटा, घी, शक्कर आदि मगाकर उनकी पूड़िया बनवाकर गावके सब लोगोंको खिला दो।" लड़केने वैसा ही किया और इस प्रकार सारे रुपये खर्च हो गये। ब्रह्माजीने सब कुछ जानकर दूसरे दिन फिर ५) और काला घोड़ा लड़केके पास भेज दिये। साधुने फिर घोड़ेको बिकवा दिया और पहिले दिन की ही तरहसे किया। इस तरह होते होते १५ दिन बीत गये। अन्तमें ब्रह्माने हार मानकर साधुसे कहा कि "साधुजी! जैसा तुम कहो, वैसा करूँगा, पर हमारा पिंड छोड़ो। हम ५) तो रोज दे दिया करेंगे, पर रोज-रोज घोड़ा कहासे लायेंगे?" "अच्छा, इसका भाग्य जैसा मैं कहूं लिखो।" ब्रह्माने साधुके कथानुसार लड़केका भाग्य लिख दिया।

आत्मकल्याणकी चिन्त्यता— भैया! क्या ये हाथ पैर कुछ कमाते हैं? सब झूठ है, सब भावनाकी तारीफ है। जिसकी जितनी पवित्र भावना होगी, वह कभी निष्फल न जायेगी। चाहे सारी सम्पदा कोई कहीं लगा दे, पर जो पुण्यकर्म बंध होता है, उसमें वृद्धि ही होगी, कमी न होगी। किसी न किसी रूपसे, किसी न किसी ढङ्गसे वह पुण्य सुख आगे आयेगा, उसकी चिंतामें समय न गुजारो। चिंता करो तो भी उतना ही आता है और चिंता न करो तो भी उतना ही आता है। चिंता करनेसे बाह्यवस्तुओंमें हमारा कुछ असर नहीं हो सकता। आत्मकल्याणकी चिंता करें तो कुछ असर भी हो सकता है। यह कल्याण सम्बन्धी चिंताकी बात हमारे हाथ है, परन्तु परपदार्थ सम्बन्धी चिंताकी बात हमारे हाथ नहीं है। यही एक कारणपरमात्मतत्त्व चिंतामणि है, जिसकी दृष्टिमें आने पर हमारी तुम्हारी समस्त चिंताएँ दूर हो जाती हैं।

कर्तव्य और अकर्तव्य— यह मैं आत्मा शुद्ध हू, अलौकिक दिव्य ज्ञानदर्शनस्वरूप हूं, तब फिर बाह्यपदार्थोंकी ओर दृष्टि देना, ध्यान बनाये रहना—यह निष्फल है, मुझ जैसे श्रेष्ठ तत्त्वके लिये करणीय बात नहीं है। बड़े कुलका बालक कोई निंद्य काम करे तो उसे समझाते हैं कि तू बड़े कुलका है, कहीं ऐसा निंद्य काम तुझे करना चाहिये ? जरा दृष्टि पसारकर तो देखो, सर्वपदार्थोंमे यह चेतन पदार्थ महान् श्रेष्ठ वस्तु है। जिसका इतना महान् चैतन्य कुल है, सारे विश्वका ज्ञाता रहे और शुद्ध अनन्त आनन्दमें लीन रहे—ऐसे विशुद्ध कुलका होकर भी इन चेतन अचेतन असार बाह्यपदार्थोंमे आसक्त रहना तुझे शोभा नहीं देता। ये सब विडम्बनाएँ तेरे करने योग्य नहीं हैं।

एकत्वके आलम्बनका प्रभाव— यह ज्ञानी पुरुष अपने यथार्थस्वरूपका यथार्थनिर्णय कर रहा है। मैं एक हू, अद्वैत हू, समस्त परपदार्थोंसे, परभावोंसे विविक्त हू, सदा रहने वाला हूं, प्रभुस्वरूप हूं, सच्चिदानन्दमय हू, मेरा नाता केवल मेरेसे ही है, मुझको छोड़कर बाह्यमें अणुमात्र भी मेरा नहीं है। यों यह ज्ञानी अपने एकत्वस्वरूपकी ओर झुक रहा है। इसी स्वरूपके आलम्बनमें निश्चयप्रत्याख्यान होता है, तब जो परभाव हैं, वे सब इस अन्तरात्मासे दूर हो जाते हैं।

ज किंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोस्सरे।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥१०३॥

दुश्चरित्रके प्रत्याख्यानका सङ्कल्प— निश्चयप्रत्याख्यानके परमभावको लिये हुए ज्ञानी संत अपने आपमे शिवसङ्कल्प कर रहे हैं कि जो कुछ भी मेरा दुश्चरित्र हुआ हो, उस दुश्चरित्रको मैं मन, वचन, कायसे परित्याग करता हू। ज्ञाताद्रष्टा रहना तो सत्चरित्र है, इसके विपरीत जितनी भी रागद्वेषमय वृत्ति है, वह सब आत्माका दुश्चरित्र है। लोकमें दुश्चरित्र मोटे पापको कहते हैं। किसीकी चोरी कर ली, किसीका धन हड़प लिया, किसीकी मारपीट कर दी—इसे दुश्चरित्र कहते हैं; किंतु अध्यात्ममार्गमें, हितपंथमें रोड़ा अटकाने वाली जितनी भी रागद्वेषमय प्रवृत्तियां हैं, वे सब परमाध्यात्मकी दृष्टिमें दुश्चरित्र हैं, क्योंकि वे सब अपने आपमें दोष हैं। मेरा गुण वह है, जो मेरे ही सत्त्वके कारण, परकी उपाधिके बिना अपने आप हो। जो परोपाधि पाकर होता है, वह नियमसे स्वभावके विपरीत परिणमन होता है। काल द्रव्य सबके परिणमनमें निमित्त है, किंतु उसमें उपाधिपना नहीं है। परकी उपाधिसे कोई भलापन नहीं आता, बल्कि कुछ ऐब ही आते हैं। भले ही उन ऐबोंमे से बड़े ऐबके मुकाबिले छोटे ऐबोंको गुण मान लिया जाये, पर वे सब ऐब हैं, दोष हैं, जिनमें रागद्वेषका किसी भी प्रकार लवलेश हो।

साकारवृत्तिका निराकारवृत्तिकरण—यह भेदविज्ञानी परमतपोधन संत चिंतन कर रहा है कि पूर्वकालमें संचित कर्मोदयके कारण, चारित्र-मोहका उदय होने पर जो कुछ भी दुश्चरित्र बना हो, उस सबका मैं मन, वचन, कायका शुद्धिपूर्वक परित्याग करता हू और समतापरिणाम करता हू तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको मै निराकार करता हू, सामायिकको निराकार करता हू। जब तक कोई विकल्प है, भेददृष्टिपूर्वक प्रभुका स्मरण है, तब तक वह सामायिक साकार है। अब विकल्परहित अभेदस्वरूपका अनुभव है, पूर्ण समता है, तब सामायिक निराकार है। साकार सामायिक उत्कृष्ट नहीं होती, उसमें आकार बसा हुआ है, कुछ ध्यान कर रहा है, किसीका ध्यान कर रहा है, भेद भी है, विकल्प भी है और इसीकारण चंचलता भी है, वे सब ध्यान बदलते रहते हैं। यह साकार ध्यान है। जहां आकार न रहे, विकल्प न रहे, यों कह लीजिये कि जैसे लोग खबर रखा करते हैं ऐसी खबर न रहे, केवल एक शुद्ध ज्ञानप्रकाशका ही अनुभव चले, उस स्थितिको कहते हैं निराकार कर देना। अपनेको साकार करना बुरा है और निराकार करना अच्छा है, पर अज्ञानमें जीव साकार रहनेमें खुश हैं। निराकारकी तो उनकी दृष्टि ही नहीं है।

साकारभक्तिका निराकार भक्तिकरण— मैं इस भेदात्मक प्रभुभक्तिको अभेदरूप निराकार करता हूं। हमारी पूजा तब तक साकार है, जब तक अपनी खबर हो, प्रतिमाकी खबर हो, मन्दिरमें रहे हैं तो इस की भी खबर है, कौनसा पद पढ़ रहे हैं यह भी खबर है, हम क्या चढ़ा रहे हैं यह भी खबर है, वह सब साकार-पूजा है। ऐसी पूजा करते हुए किसी क्षण ये सब ख्याल छूट जायें, यह भी ख्याल न रहे कि मैं कहां हू ? सामने क्या है ? केवल एक शुद्ध ज्ञानपुञ्ज, जिसकी प्राप्तिके लिये, जिसकी दृष्टिके लिये यह पूजन किया जा रहा है, वह ज्ञानज्योतिमात्र ही प्रकाशमें रहे तो वह हो गई निराकार पूजा। साकार पूजा प्राक् पदवीमें आवश्यक है। साकार पूजा में अधिक समय व्यतीत है, होना ही चाहिए, पर पूजा करने वालेकी यह दृष्टि है कि मैं यह साकार पूजा कर रहा हू और निराकर पूजा चाहता हू—ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह साकार पूजा करते हुए भी किसी क्षण उस निराकारस्वरूपकी झलक पा सकता है। जिस क्षण निराकारस्वरूपकी झलक पाई, वहीं निराकार पूजामें उतर गया। यहां निराकार पूजाका अर्थ यह नहीं है कि द्रव्यसे पूजा छोड़कर की जाये या द्रव्यसे की जाये, चाहे द्रव्यका आलम्बन लेकर करें अथवा द्रव्यका आलम्बन न लेकर करें। भेदपूर्वक गुणस्मरण करते हुए जिस काल उस अभेद ज्ञानतत्त्वका दर्शन हो, बस वही निराकार पूजा होती है।

साकार रत्नत्रयका निराकारीकरण— साकार पूजा, साकार भक्ति, साकाररत्नत्रय—ये सब अनुत्कृष्ट अवस्थाएँ हैं। जहा आकारका विलय हो जाता है, वह उत्कृष्ट हितकी अवस्था है। ६ पदार्थोंका श्रद्धान करना, ७ तत्त्वोंकी प्रतीति रखना, यह मैं आत्मा हू, ये सब परद्रव्य हैं—इस प्रकारका भेदज्ञान रखना, महाव्रत पालते हुए मुझे समितिपूर्वक चलना चाहिये—ऐसी वृत्ति करना इत्यादिरूप भेदरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रका होना—यह सब साकार रत्नत्रय है। जब निज सहजस्वरूपका ही झुकाव हो, उसका ही परिज्ञान हो और ज्ञाताद्रष्टा रहकर उसका ही निर्विकल्पानुभव हो, वह है निराकार रत्नत्रयकी विधि। मैं इस साकार रत्नत्रयको निराकार रत्नत्रय करता हू। ऐसे इस प्रत्याख्यानके प्रसङ्गमें ज्ञानी पुरुष अन्तर में शिवसङ्कल्प कर रहा है।

सर्वज्ञानियोके प्रायोजनिक श्रद्धाकी समानता— सभी ज्ञानी मनुष्य गृहस्थ हों अथवा प्रमत्तावस्थाके साधुजन हों, क्षयोपशम प्राय समान रह सकता है, ज्ञानधारा भी समान रह सकती है, श्रद्धान भी समान रहता है। अब अध्यात्म आचरणकी बात है, उसमें इतना अन्तर हो जाता है कि गृहस्थजन चूँकि अनेक कार्योंमें व्यस्त हैं, परिग्रह उन्होंने रखा है। इस समागममें यह प्राकृतिक बात है कि श्रद्धान किए हुए और सम्यक् परिज्ञात किये हुए कारणपरमात्मस्वरूपमें चित्त स्थिर नहीं रह सकता है और जिसने बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त परिग्रहोंका त्याग किया है, उनमें यह स्वभाविक बात हो जाती है कि बाह्यकी ओरसे विकल्प हट जाता है और वे इस सहज शुद्ध आत्मतत्त्वकी स्थिरताके पात्र होते हैं तथा निराकार दर्शन का रूप रखनेके वे पात्र होते हैं। उनके निराकार दर्शनका समय अधिक रह सकता है, इसलिये हित-प्रगतिमें साधुव्रत आना अनिवार्य है, परन्तु स्वादका परिचय दोनोंको हो गया।

स्थिरताका भेद होने पर भी स्वादसाम्य— जैसे कोई अमीर पुरुष सेरभर मिठाई खरीदकर खाये और कोई गरीब पुरुष वही मिठाई १ छटाक लेकर खाये तो स्वाद तो दोनोंको वही आया। अन्तर इतना रहा कि अमीरने छककर खाया और गरीबको केवल स्वाद मिला। यों ही सम्यग्दृष्टि गृहस्थजन भी उस तत्त्व का स्वाद तो जानते हैं, जिस तत्त्वके स्वादमें साधुजन छके रहा करते हैं, पर ये गृहस्थके झंझटोंमें, आजीविकाके साधनोंमें, विकल्पोंमें बसे रहनेके कारण उस स्वादको जानते तो हैं, किंतु स्थिरताके लिये तरसते हैं। गृहस्थका नाम उपासक है। जो मुनिधर्मकी उपासना करे, भावना रखे, उसे उपासक कहते हैं, क्योंकि मुनिधर्मकी उपासना करके उस निष्परिग्रही अवस्थामें ही इस पवित्र झलकको स्थिर रखा

जा सकता है और फिर वह श्रेणी पायी जा सकती है, जिसको सुन्दर धाराको पाकर यह जीव मुक्त हो सकता है।

सकलपापप्रत्याख्यानका सङ्कल्प - यह प्रत्याख्याता पुरुष अपना सङ्कल्प कर रहा है कि जो कुछ भी मुझसे दुश्चरित्र हुआ है, उसका मैं मनसे त्याग करता हू, वचनसे त्याग करता हू और कायसे त्याग करता हू। ऐसे दुश्चरित्रको न मनसे करूँगा, न वचनसे करूँगा और न कायसे करूँगा। अब इन बाह्य वृत्तियोंको न मनसे कराऊँगा, न वचनसे कराऊँगा और न कायसे कराऊँगा। इन क्षोभमयी कषाययुक्त वृत्तियोंको न मनसे अनुमोदूगा, न वचनसे अनुमोदूगा और न कायसे अनुमोदूगा। पाप किये जानेकी विधिया १०८ प्रकारकी होती हैं। पापकार्य करना, पापकार्य करनेके साधन जुटाना, पापकार्यका सङ्कल्प करना—ये तीन पापमय वृत्तिया हैं। प्राय ऐसा होता है कि जब कोई मनुष्य पापकार्य करता है तो प्रथम पापकार्य करनेका सङ्कल्प आता है, फिर उन कार्योंके साधन जुटाता है, फिर पापकार्य करता है। इन ३ पापोंका नाम है संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ। ये तीन प्रकारके पाप क्रोधके वश किये जाते हैं, मान, माया और लोभके बश किये जाते हैं। अतः ये पाप १२ प्रकारके हो गये। क्रोधसे किया संरम्भ, मानसे किया संरम्भ, मायासे किया सरम्भ और लोभसे किया सरम्भ, इसी तरह ४ समारम्भ और ४ आरम्भ—ये १२ प्रकारके पाप मनसे भी किये जा सकते हैं, वचनसे भी किये जा सकते हैं और कायसे भी किए जा सकते हैं, तब ये १२×३=३६ हुए। ये ३६ प्रकारके पाप किए हुए, कराए हुए और अनुमोदे हुए, तब कुल ३६×३=१०८ प्रकारके पाप हुए। यह प्रत्याख्याता पुरुष १०८ प्रकारके पापोंके भविष्यमें न किए जानेका सङ्कल्प कर रहा है।

यथार्थ होने पर ही निराकारवृत्तिकी पात्रता—सर्वथा निष्पापावस्था निराकारावस्था होती है। ये विचार, विकार, विकल्प आदि विभाव इस सहज चैतन्यप्रभुका घात करने वाले होते हैं। इस कारण उस दृष्टिमें ये सब दुश्चरित्र हैं। कोई कम है, कोई अधिक है, कोई अधिक विडम्बनामें डालने वाला है, कोई कम विडम्बनामें डालने वाला है। जहां शिवमार्ग पानेकी पात्रता भी रह सकती है, ऐसे मन्द भी अनेक प्रकारके दोष हैं, लेकिन ये दोष ही हैं—ऐसा इस ज्ञानीको विदित है। जिस ज्ञानीकी दृष्टिमें यह बात समाई हुई है कि मैं पूजता हू और इस भगवानको पूजता हू—ऐसे पूजक और पूज्यमें दो जगह दूर-दूर खडे हुए इतना भेद डाला गया हो तो वह विकल्प भी दोष है। इतना सूक्ष्ममर्म तक जिस ज्ञानीको विदित है, वह ज्ञानी ही विकल्प भाव त्यागकर निर्विकल्पस्वरूपमें पहुच सकता है।

गृहस्थजनोंको शिक्षण—भैया! श्रद्धा सब सम्यग्दृष्टियोंकी मोक्षमार्गमें एकसी होती है—चाहे गृहस्थ हो और चाहे साधु हो और इतना ही नहीं, बल्कि चाहे कोई पशु-पक्षी भी हो। जो भी सम्यग्दृष्टि है, उन सबका निर्णय आत्महितके बारेमें एक प्रकारका है। तिर्यंच उस मोक्षमार्ग पर नहीं चल पाते हैं, गृहस्थ मोक्षमार्ग पर कुछ-कुछ चल पाते हैं, साधुजन खूब चल लेते हैं, पर श्रद्धान सबका एक समान है कि आत्महित इस अवस्थामें है। उस उपायका, उस अवस्थाका श्रद्धान सब ज्ञानी जीवोंके बराबर बना हुआ है। यहा साधुजनोंको उपदेश है इस ग्रन्थमें। ये साधु ही यहा सङ्कल्प कर रहे हैं, पर साधुओंकी बातको जानकर गृहस्थजन भी तो कुछ शिक्षा लिया करते हैं। यह साधु परमयोगी, भेदविज्ञानी, आध्यात्मिक तपस्वी चिंतन कर रहा है कि मैं इन सब वृत्तियोंको निराकार करता हू। जो भेदरूप ६ पदार्थोंका श्रद्धान है, अनेक प्रकारसे स्वरूपका परिज्ञान है और जो कुछ भी साधुजन आचरण करते हैं, व्रत पालते हैं, नियम करते हैं, उन सबको मैं निराकार करता हू, एक अपने ब्रह्ममें लीन होना चाहता हूं—ऐसी भावना यह साधु कर रहा है।

उपास्यके ज्ञानसे उपासककी दृढता—भैया! हम क्यों इस विषयको जानें, क्यों साधुओंकी भीतरी

कलाको परखें ? उसका प्रयोजन यह है कि जब तक इस महान पवित्र कार्यके किए जानेका सङ्कल्प न हो, तब तक गृहस्थावस्थामें गृहस्थके योग्य किए जाने वाले धर्मकार्य भी उत्तम रीतिसे नहीं हो सकते हैं। भगवान्के स्वरूपका यथार्थपरिचय न हो तो हम बाहरी क्रियावोंसे भक्ति-पूजन, गीत, नाचगाना, और-और भी समारोह सब कुछ करें, पर मोक्षमार्ग तो नहीं मिल सकता। बस इतना लाभ है कि घरकी विषय-कषाय यहां दबी हुई हैं। कभी-कभी तो मन्दिरमें रहकर भी क्षोभ उमड़ सकता है, यह तो भीतरी मनकी बात है। खैर, दबी सही, इस समय विषय-कषाय भूले हुए हैं और एक धर्मके नाम पर शुभोपयोग में लगे हुए हैं और ऐसा किया भी जाना चाहिए, किंतु उस ज्ञानीको यह सब विदित है कि मुझे वास्तवमें करना क्या चाहिए ?

व्यवहारसाधनाकी आवश्यकता— कोई पुरुष ऐसा सोचे कि मन्दिर दर्शन करने जाते हैं तो वहां बीसों आदमी होते हैं, मन ही वहां पर नहीं लगता, प्रभुके स्वरूप पर वहा चित्त ही नहीं जमता तो मन्दिर जाने से क्या लाभ है ? ऐसा सोचकर बैठ जाये तो बतावो ऐसे मन्दिर आना छोड़ देनेसे क्या लाभ पाया ? अरे, इन प्रसगोंमें लगे रहनेसे नहीं भी मन लग रहा है, पर रोज-रोज दर्शन, भक्ति करनेके सिलसिलेमें कोई दिन ऐसा भी आ सकता है कि हमें सत्य निराकारस्वरूपका दर्शन भी हो जाए और शिक्षाकी बात भी मिलती रहे। इस कारण ये बाह्यचारित्र, बाह्यश्रद्धान, बाह्यज्ञान भी आवश्यक हैं, पर इतनी बात और समा जाए कि इन सब बातोंके करनेका ध्येय तो यह निराकार दर्शन है, परमविश्राम है, इससे सभी आचरणोंमें बल आ जाता है।

धर्मसाधककी सामान्यमें आस्था— प्रत्याख्यानके प्रसङ्गमे ज्ञानी उन समस्त शुभ-अशुभ विभावोंका परित्याग करके स्वभावकी उपासनाका सङ्कल्प ठान रहा है। यह स्वभाव त्रिकाल निरावरण सामान्यस्वरूप है। विशेषका आलम्बन छोडकर यह साधक सामान्यकी ओर आ रहा है। लोकमें असर विशेषका है, सामान्यका नहीं है, किंतु धर्ममार्गमें आदर-सामान्यके अवलम्बनका है, विशेषका नहीं। यह लोकव्यवहार विभावक्रियावोंसे भरा हुआ है और यहां परमार्थतत्त्वकी कुछ खबर नहीं है, इसलिए वे व्यवहारीजन विशेष-विशेष स्थितियोंमें बड़प्पन माना करते हैं। कोई विशेष धनी हो अथवा विशेष नेता हो अथवा विशेष काम करनेमें कुशल हो अथवा विशेष धनवान् हो उसका आदर होता है, लोग उसे महत्त्व देते हैं कि यह गांवका प्रमुख है, धनी है, प्रतिष्ठा वाला है, जो यह करता है सो होता है आदिक विशेष-विशेष स्थितियोंका सम्मान किया जाता है; लेकिन अध्यात्मक्षेत्रमे ये सब विशेष स्थितियां मोक्षमार्गमें साक्षात् साधक नहीं हैं। यहाँ तो जो भी जितना परपदार्थोंको मूल करके केवल एक निज ज्ञानस्वरूपमें रमेगा, उतना ही उसका कल्याण है और बड़प्पन है। फलत धर्मसाधना करने वालेकी स्थिति विशेषसे हटकर सामान्यकी ओर रहती है।

निर्गुणवर्तना— यह प्रत्याख्यानकर्ता अपनेमें शिवसंकल्प कर रहा है कि मैं इस व्यवहारसामायिक को, साकारसामायिकको निराकार करता हू और भेदरूप चारित्रको अभेदरूप करता हू। ५ महाव्रतोंका पालन करना, ५ समितियोंका धारण करना, गुप्तियोंका सेवन करना, प्रभुभक्ति करना, प्रतिक्रमण करना, शास्त्र सुनाना—ये समस्त धर्मके काम हैं, चारित्रके काम हैं, भेदरूप हैं। इस भेदरूप चारित्रको मैं अभेद चारित्र करता हू अर्थात् वह भिन्न-भिन्न प्रकारसे धर्म करनेकी बात न रखकर केवल एक अभेद ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्वको धारण करता हू। इस प्रकार यह सबको निराधार बना रहा है। अन्य लोग भी सगुणब्रह्म और निर्गुणब्रह्म इनका भेद रखकर सगुणब्रह्मसे श्रेष्ठता निर्गुणब्रह्मकी कहते हैं। सगुणका अर्थ है कि जहां भेददृष्टि हो और निर्गुण उसे कहते हैं कि जिसके भेदभाव टल जाएँ व अभेद शुद्ध अर्थ परिणमन रहें।

गुणका रहस्य— गुण-गुण सब कोई कहते हैं, पर यह गुण शब्द कैसे बना है और इसका असली अर्थ क्या है ? अब इसे परखिये। जिन बातोंसे भेद डाला जाए, अन्तर बताया जाए, विशेषता बतायी जाए, उसे गुण कहते हैं। विशेषता भेदसे ही तो बतायी जाएगी। भेदसे ही विशेषता होती है, भेदसे ही गुण निरखे जाते हैं। यह मैं आत्मा स्वयं अपने आप कैसा हूं ? इसका निर्णय करने बैठें तो जैसा है, वैसा बताया भी नहीं जा सकता। जैसे कोई मिश्री खाये तो उसका स्वाद कोई बता जा सकता है क्या ? सही मायनेमें यथार्थ कोई नहीं कह सकता है। उसे कोई कहना चाहेगा तो भेद करके कहेगा कि शक्कर से अधिक मिठी है अथवा कोई भेदव्यवस्था बतावेगा। देखो, शक्करमें भी कुछ मल है, उस मलको भी दूर करके जो मिश्री बनती है, वह समझ लो कि कितनी मीठी होगी ? अतः मुकाबला बताकर भेद डाल कर ही वर्णन किया जा सकता है। यथार्थ जैसा है, उसका वर्णन करना कठिन है। आत्मा स्वयं कैसा है ? सर्वविकल्पोंको दूर करके परमविश्राममें रहकर अपने आपमें इस आत्मतत्त्वका अनुभव तो किया जा सकता है, पर बताया नहीं जा सकता है। उसको बतानेकी पद्धति गुणभेद है। देखो, जो जाने, सो आत्मा। तो क्या आत्मा केवल जानता है, इतनी ही बात है क्या ? इसमें क्या श्रद्धा नहीं है ? सब है और इसके अलावा यह आत्मा सूक्ष्म है, अमूर्त है, असंख्यातप्रदेशी है, कितनी ही बातें बतायी जायेंगी, लेकिन उन सब भेदोंमें जो एक मुख्य बात है, गुण है, जिस गुणकी वृत्तिके द्वारा सर्वगुणोंकी व्यवस्था बनायी जाती है, उस ज्ञानगुणका नाम लेकर आत्माकी पहिचान करायी जाती है।

सामान्यके आश्रयमें शान्ति— प्रत्येक पदार्थ अपनेमें अद्वैतस्वरूप है, अभेदरूप है। उन अद्वैतपदार्थों का प्रतिपादन द्वैतीकरणके बिना नहीं हो सकता, भेद करके ही बताया जाएगा। तो जब हम भेद करनेकी ओर आते हैं तो क्षोभ, रागद्वेष, कल्पना, विकल्प हुआ करते हैं और हम जितना अभेदकी ओर आते हैं, उतना ही रागद्वेष, कल्पना, विकल्प, विचार सब शांत हो जाते हैं। तो शांतिका सम्बन्ध सामान्यके अवलम्बनके साथ है, विशेषके अवलम्बनके साथ नहीं है। हां, इतनी बात और है कि उन विशेष-विशेषों में मुकाबलेतन किसी विशेषकी अपेक्षा कोई विशेष शान्तिका कारण बनता है, पर वहां भी विशेषके आलम्बनसे शान्ति नहीं हुई, किंतु अधिक विशेषरूप विषयकषायके आलम्बनको त्यागने के कारण शांति हुई है। यों जितना हम सामान्यकी ओर आयेंगे, उतना ही हम धर्ममार्गमें बढ़ेंगे। पूजा करें तो वह विशेष है, जिस प्रकारकी पूजा करते हैं, वह विशेष क्रिया है। उस विशेष क्रियामें भी शांति तो नहीं दिख रही है। इतना जरूर लाभ है कि विषयकषायोंके अन्दर पापमयी कार्योंसे यह बहुत लाभदायक है और उन विशेष अशांतियोंके मुकाबिले यह शान्तिका स्थान है, पर उस पूजा करते हुएमें जब कभी अन्तर्दृष्टि जगे, भगवान्के केवलस्वरूप पर ही दृष्टि रहे कि भगवन् ! तुम इतने ऊंचे थे, तुम्हारे अमुक पिता थे, अमुक माता थी, तुम अमुक कुलमें हुए हो, अमुक नम्बरके तीर्थंकर हो, इसकी ओर दृष्टि न रहे, केवल यह आत्मा जैसा निर्दोष गुणपुंज है, मात्र वैसी ही दृष्टि हो और उससे भी भीतर एक स्वभावदृष्टिमें पहुंचें तो वहां एक सामान्य स्थिति बनती है। विशेष बिलकुल भूल गये, अब वहां विकल्प न रहे, उस अभेदमें, सामान्यमें, निराकार स्थितिमें आत्माका धर्ममार्ग बढ़ा।

अभेदानुपचार वर्तना— यह प्रत्याख्याता साधु संकल्प कर रहा है कि मैं इस भेदोपचारचारित्रको अभेदोपचाररूप करता हूं और अभेदोपचारचारित्रको अभेदानुपचाररूप करता हूं। भेदविकल्पको छोड़कर इस अभेद भावको भी निश्चयनयके अवलम्बनकी पद्धतिसे जब निरखा जा रहा है, तब यह अभेदोपचार है। उस तत्त्वको निश्चयदृष्टिसे भी छोड़कर नयातीत, पक्षातिक्रान्त जैसा यह अद्वैतस्वरूप है, उस रूप ही वर्तनेको अभेदानुपचार कहते हैं। क्या करना है धर्म ? ऐसा अंदाज कर लीजिए। लोग तो हाथ पैर हिलायें-डुलायें, वचनोंसे थोड़ा कुछ गा दें, इससे हमारा घर कुशल रहेगा, हमारी जिन्दगी सुखी रहेगी

इतनेसे ही संतुष्ट हो जाते हैं। पर करना क्या है, जिससे धर्म मिले? जिस धर्मके प्रसादसे संसारके सङ्कटोंके कारणभूत कर्म दूर होते हैं और विशुद्धानन्द जगता है। वह धर्म इन विकल्पोंके परे है, इस भेदभावसे दूर है, एक अभेद सहजज्ञानस्वभावमें अभेदरूपसे डूब जानेमें है, सहजस्वभावमें मग्न होनेमें है। इस प्रकार अभेदानुपचार सामायिकको यह स्वीकार करता हुआ सहज उत्कृष्ट तत्त्वमें अविचलरूपसे स्थित होता है। पहिले तो इस जीवने साधुव्रतमें जो विकल्परूप चारित्र ग्रहण किया था, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धिरूप, जिसका कि विकल्पोंसे सम्बन्ध है, जिसके उद्यममें साधना करनी होती है, इस चारित्रको निराकार कर देनेका सङ्कल्प किया है, आगे इस भेदरूप रत्नत्रयको अभेद रत्नत्रयरूप किया, भेदचारित्रको अभेदरूप किया, यों सर्वविकल्पोंसे परे होकर अपने एकत्वस्वरूपमें रमे तो इसमें परमहितरूप चित्स्वभावका अभेदानुभव होता है।

परमवन्द्य तत्त्व— योगीजन क्या किया करते हैं? वह कौनसी उनकी मूल औषधि है, जिसके प्रसादसे सारा लोक उनकी ओर वंदनको झुकता है? केवल बाह्यकार्य देखकर जो वंदन करते हैं, उन्होंने वह सारतत्त्व नहीं निरख पाया, इसलिये जैसेके ही तैसे रह गये। इन बाह्यक्रियाकाण्डोंके कारण भेद रख लिया, बड़ी सावधानीसे समितिरूप प्रवृत्ति की, पापोंका त्याग किया, मौन रखा, कुछ भी कार्य किया, इन बाह्यवृत्तियोंसे वह बन्दनीयता नहीं है, किंतु वे बाह्यसे हटकर सामान्यकी ओर रहनेका अंतरङ्ग में यत्न किया करते हैं, यही उनकी एक पूजनीय कला है, जिसके प्रतापसे वे लोकमें वन्दनीय होते हैं। ऐसे वे निराकार दर्शनमें होनेसे निराकार चारित्रवान् रह जाते हैं।

द्रव्यस्वभाव और आचरणकी सव्यपेक्षता— भैया! चारित्रका अनुसरण और द्रव्यका अनुसरण—इन का भी परस्पर सम्बन्ध है। जैसा यह मैं स्वरूपसे आत्मद्रव्य हू, उसके अनुकूल यदि चारित्र होता तो वह चारित्र है और चारित्रके अनुकूल द्रव्यमें वह तत्त्व व्यक्त होता है। शुद्ध तत्त्वकी दृष्टि है। इन दोनोंका परस्परमें अपूर्व सहयोग बना रहता है। इस कारण हे मुमुक्षुजनों! उस द्रव्यका आश्रय लेकर अथवा चारित्रका आश्रय लेकर इस मोक्षमार्गका अधिरोहण करो। चारित्र भी पालो, तत्त्वदर्शन भी करो और चारित्रको अभेदरूप करके तत्त्वरमणके पुरुषार्थी रहो तो किसी समय ये सारे विकल्प दूर होकर निर्वाण हो सकेगा। अनुकूलता, प्रतिकूलता, ये सारे विकल्प छोड़ने हैं, तब धर्म होता है, केवल गान-तानसे धर्म की प्राप्ति नहीं है। विशेषसे हटकर सामान्यकी ओर लगे, वहा धर्मका दर्शन है।

धर्मप्रकाश— अहा, जिन साधु संतोंकी बुद्धि इस विशुद्ध चैतन्यतत्त्वमें लगती है, जो अपने इस परमार्थ संयममें सावधान रहते हैं, जिनमें धर्मविकास हो रहा है—ऐसे यतिजन हमारे बन्दनीय हैं, इनकी उपासनासे अपने आत्माका ज्ञानबल प्रकट होता है, जिस ज्ञानबलके प्रसादसे यह आत्मा शान्त हो जाता है। विषयसुखमें आदर-बुद्धि न हो, इस चेतन-अचेतन, धन-वैभव, परिग्रहमें आस्था न हो अपने आपको जो कुछ भला बुरा हो सकता है, वह अपने आपमें अकेले में ही परखें। ऐसा इस लोकमें अपनेको अकेला निरखे तो इस एकत्वकी दृष्टिसे अपनेमें धर्मका विकास होगा।

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ॥१०४॥

ज्ञानीकी परमसमता— जो साधु अपने अन्तःस्वरूपके अभिमुख हुआ है, निज चित्स्वभावमें उपयोग को जो तपा रहा है, उसके कैसी भावशुद्धि होती है, इसका वर्णन इस गाथामें चलेगा। ज्ञानी संत चिंतन कर रहा है कि मेरा समस्त प्राणियोंमें समताभाव रहे, किसीके साथ भी मेरा वैर भाव न हो। मैं समस्त आशावोंको छोड़कर समाधिको ग्रहण करता हू। जिसने समस्त इन्द्रियके व्यापारको हटा दिया है, एक शुद्ध परमार्थभूत आत्मतत्त्वके दर्शनमें निरत है—ऐसा ज्ञानी पुरुष न तो ज्ञानियोंमें राग करता है, न

अज्ञानियोंमे द्वेष करता है । न भले पुरुषोंमे राग करता है और न बुरे पुरुषोंमें द्वेष करता है । यह उनकी परमसमता वर्त रही है, वे निरन्तर ज्ञाताद्रष्टा होते रहते हैं ।

समस्त परजीवोंमे ज्ञानीके रागद्वेषका अभाव-- भैया ! जैसे लोकमें कहते हैं कि पापियोंसे घृणा मत करो, किन्तु पापसे घृणा करो । कोई आत्मा बुरा नहीं है । यों आत्माकी करतूत, आत्माकी दुर्वृत्ति जो हुई है, वह हेय है । आत्मा कोई बुरा नहीं है । जैसे पापियोंको निरखकर पापियोंसे द्वेष न करनेकी बात कही जा रही है । वहा कुछ हेय है तो पाप हेय है । इसी प्रकार जो पुण्य करने वाले हैं, ज्ञान करने वाले हैं, अच्छे आचरण पर चलने वाले हैं—ऐसे ज्ञानी पुरुषोंसे भी राग न करो । ज्ञानी भी राग करने योग्य नहीं है, किंतु ज्ञानीका वह ज्ञानस्वरूप अनुराग करने योग्य है । इस सतको सर्वत्र समताभाव प्रकट हो रहा है । अब इस ज्ञानीके न तो किसीके प्रति शत्रुताका भाव रहा है और न किसीके प्रति मित्रताका भाव रहा है । उसका किसी भी मनुष्यके प्रति वैर नहीं है—ऐसा वह अपनेमे अनुभव कर रहा है ।

परमार्थत: क्षमा स्वय पर ही प्रयोग— भैया ! क्षमा दूसरेको नहीं दी जाती है, क्षमा खुदको दी जाती है । यह लोकव्यवहार है कि दूसरेने कोई ऐसा अनुचित कार्य किया, जिससे मुझे कष्ट पहुंचा । उसे सुबुद्धि आये और मुझसे क्षमा मागे तो मैं सोचता हू कि इसको क्षमा दे देनी चाहिये । अतः कह देते हैं कि अच्छा, लो भाई मैंने क्षमा कर दिया । कोई दूसरेको क्षमा नही कर सकता, क्योंकि किसीने दूसरेका अपराध भी नहीं किया और कभी कर भी नहीं सकता है । न किसीका यह अपराध कर सकता है और न किसीको क्षमा कर सकता है । यह जीव मोहवश अपने आपमे ही अपराध करता है और अपने आप को ही क्षमा कर सकता है ।

ज्ञानीका नि:सङ्कट सहजविश्राम— क्षमाशील ज्ञानी पुरुष अनन्तसहजविश्राम प्राप्त करता है । अज्ञान अवस्था ही एक महान् सङ्कट है, अन्य कुछ सङ्कट नहीं हैं । वस्तुके स्वतन्त्रस्वरूपकी सुध न रहना और मैंने अमुकको यों किया, इस प्रकारका विकल्प चलना, यह एक सङ्कट है । सङ्कट और किसी बाह्यपरिणतिका नाम नहीं है । ज्ञानी पुरुषके न शत्रुताका परिणमन है और न मित्रताका परिणमन है । उसका न तो किसी के साथ वैर है और न किसीके साथ राग है । वह सहज वैराग्यमे परिणत है । ज्ञानी अपने आपमें शिव-सङ्कल्प कर रहा है कि मैं परमसमाधिको प्राप्त होता हू । अज्ञानीजन तो कषायोंसे थककर, झक मारकर विश्राम लेते हैं । होने दो, मरने दो, मुझे मतलब नहीं, यह सब एक अज्ञानकी अकुलाहट है, पर ज्ञानी पुरुष वस्तुस्वरूपके जाननेके कारण सहजविश्राम ले रहा है । मैं उत्कृष्ट परमसमाधिको प्राप्त होता हूं, जिससे परमसमताका भाव व्यक्त होता है ।

स्वसामर्थ्यके प्रयोगका अनुरोध-- हे मुमुक्षु आत्मन् ! तू तो अनन्तशक्तिसम्पन्न है । केवल सारे विश्वको जानता देखता रहे—ऐसी अनन्त सामर्थ्य तुझमे है । अरे, तू क्यो नहीं प्रमाद छोड़ता है ? अपने आपमें सही ज्ञानकी दृष्टि क्यों नहीं जगाता है ? एक ही पूर्ण निर्णय है कि सम्यग्ज्ञान ही सत्य-वैभव है और भ्रम ही पूरी विडम्बना है । मैं समस्त परपदार्थोंसे जुदा हू, इसकी दृष्टि न होकर मेरा घर है, मेरा परिवार है, मेरा धन-वैभव है, मेरी इज्जत है, लोग मेरी कदर करते हैं । अरे, ये सब स्वप्नकी बातें हैं । मेरा तो सब कुछ मेरेसे ही पूरा पडेगा । मै अपने ज्ञानको जिस तरह प्रवर्ताऊँगा, उसी प्रकार मुझ पर वीतेगी । दूसरेकी करतूत मुझपर न बीतेगी ।

परमार्थ कुलाचारकी सभाल-- हे मुमुक्षु पुरुष ! समतापरिणाममे रहना ही तेरे कुलका शुद्धाचरण है । तेरा कुल है चैतन्यस्वरूप । उस चैतन्यस्वरूपके अनुरूप ही उपयोग बनाना, सो ही तेरे कुलका सच्चा आचार है । तू अपने सदाचारको छोड़कर नीच वृत्तिमे क्यों आ रहा है ? तू अपने अनन्तबलको सभाल । इस ज्ञानबलमें, इस ज्ञानचक्रमें वह सामर्थ्य है कि यह मोहराजा जो अज्ञानमन्त्रीकी सलाह लेकर अपना

ताण्डव-नृत्य कर रहा है, वह इस ज्ञानबलसे ही समूल नष्ट हो सकेगा। अपने बलको संभाल। अपने आपमें अपनी प्रभुता निरख, तुझे अनन्त आनन्द होगा। कोई हितू बारबार भी समझाये और तू एक बार भी न माने तो यह तो बरबादीके होनहारकी ही बात है। आचार्यदेव जिन्होंने सर्वस्व सन्यास करके अपने आपमें ज्ञानविभूति पायी है, उस वैभवका उपयोग करके मुमुक्षुवोंको समझा रहे हैं— अरे, तू एक बार तो इस चैतन्यस्वरूपकी ओर झुक। इन जड, असार, जो मिटने वाले हैं, इन परपदार्थोंकी ओर ही क्यों झुक रहा है?

ज्ञानामृत— अहो, जब तक उपयोगमें विषकी डली रखी हुई है, तब तक अमृतका स्वाद कैसे आ सकता है? ज्ञानस्वरूप ही अमृत है और रागद्वेष ही विष है। उस समताकी भावना करो, जिस समताके प्रसादसे मुक्तिका सुख प्राप्त होता है। यह समता ही समस्त दुर्भावनावोंके अंधकारको दूर करती है। अज्ञानी लोग जरा-जरासी बातों पर राग और द्वेष बराबर बनाये रहते हैं। निरन्तर इनका ऐसा जागरण है कि यह मेरा घर है, यह मेरा लड़का है, यह पराया है, यह दूसरेका है। जरा-जरासी बातों पर ऐसा पक्ष पड़ा हुआ है। जो भीतरमें पक्ष बना है, वह तो अपना असर दिखायेगा ही। परपदार्थोंमें कुछ अपनापन मानना—यही दुर्भावना है। उस दुर्भावनाको नष्ट करनेमें यह ज्ञानप्रकाश समर्थ है।

समताकी उत्कृष्टता— संयमीजन ज्ञानसम्पदाका आदर करते हैं। अज्ञानीजन इस सम्पदाका क्या आदर करें? वे तो रागद्वेषके वश होकर इसका आदर नहीं करते हैं। यह तत्त्वज्ञान, यह मोक्षमार्ग ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा उपादेय है। इस धर्मकी आस्था ज्ञानीको है। अज्ञानी तो धर्मकी उपेक्षा करता है। अज्ञानीजन इस धर्मकी उपेक्षा कर दें तो क्या उनके उपेक्षा कर देनेसे यह धर्म निंद्य हो जाता है? यह धर्म तो अब भी बडे उत्कृष्ट पुण्यशाली ज्ञानवन्त पुरुषोंके उपयोगमें शोभा पा रहा है। बनकी भिलनिया बनमें मिले गज-मोतियोंका अनादर कर देती हैं। उन्हें कुछ पता नहीं है, अत वे उन्हें पैरोंके घिसनेके काममें लेती हैं। यह तो उनकी अज्ञानता है, पर उन भिलनियोंके द्वारा उन गज-मोतियोंके दुरुपयोगसे क्या मोती निंद्य हो गये? वे गज-मोती, वे हीरे-रत्न तो अब भी बडे-बडे सम्राटोंके गलेमें शोभित होते हैं, पटरानियोंके गलेमें शोभित होते हैं। अज्ञानी जनों द्वारा अनादर कर दिये जानेसे महान् पदार्थोंका अनादर नहीं हो जाता है। हे मुमुक्षु पुरुषों! रागद्वेषकी दुर्भावनाओंको तजकर एक इस समताकी भावनामें आइये।

ज्ञानी और अज्ञानीका संस्कार —ज्ञानी पुरुषको स्वप्नमे भी ज्ञानकी ही बातें दिखाई देती हैं। स्वप्न भी उन्हें आए तो ऐसा, जिसमें ज्ञानप्रकाशकी ही बात हो, क्योंकि ज्ञानियोंके चित्तमे निरन्तर ज्ञानका ही उपयोग रहा करता है। शुद्धस्वरूपका विवेक जिसके निरन्तर जग रहा हो, प्रतीतिमें बना हो तो आखोंकी निद्रा आने पर भी वह संस्कार अपना विशुद्ध परिणमन करता है। अज्ञानीजनोंके निरन्तर अहंकार और ममकार बसा रहता है। किसी क्षण वे अहंकारको छोडकर नहीं रह सकते हैं, इसी कारण उन्हें स्वप्न भी आयेंगे तो खोटे ही आयेंगे। अहंकार और ममकारके पोषक ही स्वप्न आयेंगे, उन्हें अच्छा स्वप्न दिख ही नहीं सकता। अज्ञानीके संस्कारका असर स्वप्न तकमें चलता है।

समताका प्रताप— हे प्रियतम! एक इस समताकी भावना भावो। समतास्वरूप निज ज्ञानस्वरूपकी ही भावना करो तो ये सब क्लेशजाल नियमसे दूर होंगे। इन क्लेशोंको दूर करनेकी अन्य किसीमें सामर्थ्य नहीं है। खेदकी बात तो यह है कि जिस सम्बन्धके कारण, मोहके कारण जिन परजीवोंकी प्रवृत्ति को देखकर दु खी हो जाते हैं, उन्हींकी ओर लगनेकी यह सोचा करता है और कोशिश करता है। निरतर बाह्यसम्बन्धका ही तो दु'ख है और अज्ञानी प्राणी निरन्तर बाह्यसम्बन्ध ही करते हैं। एक क्षण भी तो बाह्य विकल्प त्यागकर विश्रामसे नहीं बैठ सकते हैं। अज्ञानके समान सङ्कट दुनियामें कुछ है ही नहीं।

जड़सम्पदाको पाकर क्यों हर्ष मानते हो ? उसमे यह कला कहां पड़ी है कि हमें शान्ति उत्पन्न कर दे ? शान्ति प्रकट करनेकी कला तत्त्वज्ञानमें ही है। मेरे समता प्रकट होओ और कुछ न चाहिये। समता हो सकी तो सब कुछ पा लिया। समागममें कोई परपदार्थ न रहे, किंतु समता बस रही हो तो इस समताके प्रतापसे निरन्तर आनन्दामृतका पान किया जा सकेगा। यह समता बडे-बडे योगियोंको भी दुर्लभ है। इसे पाते तो योगीजन ही हैं, किंतु उन्हें अन्तरङ्गमे बहुत बड़ा पुरुषार्थ करना पड़ता है, तब शांतिसम्पदा से भेंट होती है।

हल्दीकी गाठ पर पसारीपना— भैया ! बडे बडे तीर्थंकर, चक्रवर्ती तो इन ठाठोंको छोड़कर अपने-अपने उपादेय स्थानमे पहुचे और यहां हम आप न कुछ साधारणसी विभूति पाकर निरन्तर इस विभूति के ही स्वप्न देखा करते हैं, यह कितने खेदकी बात है ? अहानेमें तो कहा करते हैं कि "चूहा हल्दीकी गांठ पाकर पसारी बन गया"। पर अपनेमें कुछ नहीं घटाते हैं कि थोड़ासा यह हजारों लाखोंका धन पाकर यह अपनेको श्रेष्ठ मानने लगा है। तेरेसे बढ़कर अनेकोंकी स्थितियां इसी देशमें हैं, उनसे भी बढकर अनेकोंकी स्थितिया विदेशमें भी सम्भव हैं, उनसे भी कई गुणे बढकर मण्डलेश्वर राजा होते हैं, उनसे अधिक-महामण्डलेश्वर राजा होते हैं, उनसे कई गुणे नारायण और प्रतिनारायण होते हैं, वे तीन खण्डके अधिपति होते हैं, उनसे दुगुने चक्रवर्ती पुरुष होते हैं और ऐसे अनेक चक्रवर्ती जिनके चरणोंमें नमस्कार करें, उन तीर्थंकरोंके बड़प्पनको तो बताया ही क्या जाए ? अब उनके सामने देख तूने हल्दीकी गाठ ही पायी है या और कुछ पाया है ?

आभूषण और बेडी— ये परमपुरुष, तीर्थंकर आदिक जो सब कुछ परित्याग करके निर्जन स्वक्षेत्रमें, परक्षेत्रमें निवास कर रहे थे, उनको किसका आकर्षण था, वे किसको निरखकर प्रसन्न रहा करते थे ? वह तत्त्व है ज्ञानदर्शनमय आत्मस्वरूप। यह समतारससे भरा हुआ केवल ज्ञानप्रकाश तीनों लोकोंका आभूषण है। कौनसी जड़विभूतिमें तुम आभूषणकी कल्पना करते हो ? यह तो ससारकारागारमें बांधने की बेड़ी है। जब तक यथार्थज्ञान नहीं होता है, तब तक इस थोते विषय साधनोंकी बड़ी कीमत आंकी जाती है। तत्त्वज्ञान होने पर यह ज्ञानी पुरुष इस सम्पदाको यों त्याग देता है, जैसे कोई पुरुष नाक सिनककर फेंक देता है। नाकको सिनककर उसे फिर हाथसे कोई नहीं पकडता है। इसी प्रकारसे ये ज्ञानी-संत अपने ज्ञानबलसे इस सम्पदाका परिहार करते हैं और कभी भी अपने उपयोगमें इसे उपादेय नहीं मान सकते हैं।

समाधिस्वरूप आत्मतत्त्वका शरण— यह मेरा आत्मस्वभाव ही परमशरण है। इस आत्मतत्त्वके जाननेके उपाय अनेक बताये गये हैं। ७ नय, नैगम, संग्रह आदिक अथवा निश्चय व्यवहाररूपनय आदि अनेक प्रकारके नयोंसे इस आत्मतत्त्वका परिज्ञान कराया जाता है, किंतु जब यथार्थसम्यक् आत्मतत्त्वका परिज्ञान होता है, उस समय नयका साधन छुट जाता है। यह मेरा आत्मतत्त्व जब अनुभवमें आया तो वहा नयलक्ष्मीका उदय नहीं रह सकता है, बल्कि नयलक्ष्मी अस्तको प्राप्त हो जाती है। और तो क्या, वहा प्रमाणका भी विकल्प समाप्त हो जाता है। वहा कोई व्यवहार नहीं रहता। केवल शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वका अनुभव जगता है। वह मैं आत्मतत्त्व हू, यथार्थ जो कि इस शुद्धानुभवका विषय होता है। परमयोगी-संत इस ज्ञानज्योतिको निरखते रहते हैं, जिससे कि वे निर्जन वनोंमें भी प्रसन्न रहा करते हैं। यह है करनेका काम।

यह हिसाब-किताब, वैभव सचय रखना आदि आत्माका कर्तव्य नहीं है। गृहस्थावस्थामें यद्यपि करना पड़ता है, किन्तु उसे अपना ध्येय न बना ले। अपने आपको शुद्ध ज्ञानस्वरूप मानते रहनेका ध्येय

बनाये। इस समतापरिणामसे ही साधुकी साधुता है और परमात्मा बननेका साधनभूत शुक्लध्यान प्रकट होता है। यह ज्ञानी साधु चिंतन कर रहा है कि मेरा सब प्राणियोंमें समतापरिणाम रहो। किसीके साथ मेरा वैरभाव नहीं है। मैं समस्त परपदार्थोंकी आशाको छोड़कर निश्चयसे दृढ़ताके साथ ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप परमसमाधिको प्राप्त होता हूं। निश्चयप्रत्याख्यानके प्रसङ्गमें यह ज्ञानी सत समाधिभावका शिव-सङ्कल्प कर रहा है।

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।
ससारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥१०५॥

प्रत्याख्यानका अधिकारी— निश्चयप्रत्याख्यानका अधिकारी कौनसा जीव है? उस जीवके स्वरूपका वर्णन इस गाथामें किया गया है। जो साधु विषकषाय हैं, दान्त हैं, शूर हैं, व्यवसायी हैं, ससारके भयसे भीत हैं—ऐसे साधुवोंके यह आनन्दमय प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान भाव आनन्दमय है। त्यागमें क्लेश नहीं होता है, बल्कि आनन्द ही बरसता है। जिन पुरुषोंके अन्तरङ्गमें तो विषयोंकी रुचि है और किसी आवेशमें आकर त्याग कर देते हैं बाह्यपदार्थोंका, उनका वह त्याग विडम्बनारूप होता है और फिर वे क्लेश मानते हैं। वस्तुत उन्होंने त्याग ही नहीं किया। बाह्यवस्तुके त्यागका नाम वास्तविक त्याग नहीं है, बल्कि अपने आत्मामें जो विषय-कषायोंकी तरङ्ग उठती हैं, इच्छाएँ जगती हैं, उन इच्छावोंके प्रत्याख्यानका नाम वास्तविक त्याग है। वास्तविक त्याग न करे और बाहरी पदार्थोंको छोड़ दें तो उनको क्लेश मालूम होता है। त्यागमें त्यागी हुई चीज पर दृष्टि नहीं होती है कि मैंने अमुकका त्याग कर दिया है, किन्तु त्यागमय आत्माका जो सहजस्वरूप है, उस स्वरूपकी ओर झुकाव होता है। इसी कारण इस प्रत्याख्याताके सहज आनन्द ही बरसता है।

प्रत्याख्याताकी कषायकलङ्कमुक्तता — यह प्रत्याख्यानका अधिकारी साधु समस्त कषायकलङ्करूपी पंकों से निर्मुक्त है। ये कषाय कलङ्करूप हैं। जो परसङ्गतिसे उत्पन्न हुआ अपयश है, उसीको कलङ्क कहते हैं। किसी मनुष्यका कोई कलङ्क प्रकट हो तो उसका तात्पर्य यह है कि इसने परका खोटा सम्बन्ध किया है। चाहे चोरीका कलङ्क हो, चाहे कुशीलका कलङ्क हो या दूसरे जीवों पर अन्याय करनेका, सतानेका कलङ्क हो अथवा अनाप-सनाप दूसरोंके द्रव्यको लेनेका कलङ्क हो— ये सब कलङ्क परकी सङ्गतिसे हुए हैं। परसङ्गति बिना कलङ्क नहीं कहलाता है। वस्तुगत कलङ्क तो कषायभाव हैं, किन्तु कोई मनुष्य दूसरेका कलङ्क किन शब्दोंमें जाहिर करेगा? वह किसी न किसी परवस्तुके सङ्गका नाम लेकर कलङ्क जाहिर करेगा। ये कषाय परभाव हैं। आत्मामें क्रोधादिक कषायें परका निमित्त पाकर उत्पन्न होती हैं, अतः सब कषाय कलङ्करूप हैं। जो कषाय कलङ्कोंसे रगा हुआ हो, वह वास्तविक प्रत्याख्यान कैसे कर सकता है? वह तो हेय चीजका ग्रहण किया करता है। कोई पुरुष आवेशमें आकर अनेक प्रयोजनोंसे सब कुछ त्याग कर बैठा, मकान, घर, परिवार कपडे आदि सबका परित्याग करके साधु भेष बनाले तो उसने त्याग किया या ग्रहण किया? लोगोंको दिखता यह है कि उसने सब कुछ त्याग दिया, पर अन्तरङ्गमें बात यह हो रही है कि उसने विभावोंको और जकड़ करके पकड़ लिया है।

कषायकी हेयता— भैया! छोड़ने योग्य चीजें कषायें हैं। कषायोंके छूटनेका सयोग मिले, निर्दोष तत्त्वकी दृष्टिकी पात्रता रहे, इसके लिये बाह्यपदार्थोंका त्याग है। मुक्तात्मा होना है या इस दशाका अ[illegible] होना है? आत्मा जिन पीड़ावोंसे पीड़ित हो रहा है, उन पीड़ावोंसे छूटे तो मुक्ति होगी या मकान, परिवारको छोड़े तो मुक्ति होगी? यद्यपि परिवार, मकान छोड़े बिना मुक्तिका मार्ग नहीं मिल सकता, पर उसमें मर्म यह है कि मुझे पीड़ा देने वाले जो विषय कषायोंके परिणाम हैं वे परिणाम किन्हीं परपदार्थोंको विषयभूत करके उत्पन्न हुआ करते हैं। पर विषय बनाए बिना ये विभाव उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, इसलिए

उन आश्रयभूत विषयसाधनोंका परिहार कर दे। ये बाह्यपरिग्रह सामने न रहेंगे, निकट न रहेंगे तो विषय कषाय उत्पन्न होनेका अवकाश न मिलेगा--यह एक साधारण विधि है। कोई पुरुष गृह, परिवार सब कुछ छोड़कर भी अपनी कल्पनामें उनको सोच सोचकर चिन्तित रह सकता है। ठीक है, परन्तु गृह, परिवार छोड़े बिना कोई जीव निर्विकल्प-ध्यानका पात्र नहीं बन सकता है। इससे बाह्यप्रत्याख्यान भी चाहिए और चूंकि परमार्थका आश्रय बिना सिद्धि नहीं होती, सो प्रयोजनभूत परमार्थ यह अन्तरङ्गमें ज्ञान भी नियमसे चाहिये। जो कोई कषाय-कीचड़से विमुक्त है– ऐसा पुरुष ही इस निश्चयप्रत्याख्यानको धारण कर सकता है।

प्रत्याख्याताकी दान्तरूपता-- ये साधु, सतजन जो परम आनन्दमय प्रत्याख्यानसयमको लिए रहा करते हैं, वे दान्त होते हैं अर्थात् इन्द्रियोंका उन्होंने दमन कर दिया। जो इन्द्रियके विषयोंकी रुचि रखा करते हों, उनके प्रत्याख्यान कहासे हो सकता है? यह सारा जीवलोक इन्द्रियके विषयोंका ही रोगी है। इसे इन्द्रिय और मनके विषयोंके अतिरिक्त कोई अपूर्व बात लक्ष्यमें नहीं आती है, इसी षट्चक्रके फेरमें बना रहता है। स्पर्शन इन्द्रियका विषय भोगा, उसमें गन्दे विकल्प किए, इसी प्रकार रसना, घ्राण, चक्षु और स्रोत्र आदिके इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त रहे और मनकी कल्पनाके विकल्प बढाते रहे। इस मायामयी दुनियामे, मायामय जीवोंमें अपनी किसी मायाका रढ या सोच रहे हैं, इन्हीं जालोंमें यह जीव उलझा हुआ है। जो आनन्दकी विधि है, उसमें यह प्रवेश नहीं पा सका। कैसे प्रवेश पाए? विषयोंके रुचियाको अपने आपके सहज आनन्दकी गध कहांसे आए?

असयमकी रुचियोके सयमकी अरुचिपर एक दृष्टान्त एक कथानक है कि एक कहारिनकी लड़की और एक मालिनकी लड़की दोनो परस्परमे सहेली थीं। दोनों ही अलग अलग गाँवोंमें व्याही गई। मालिनकी लड़की किसी बडे करवेमें व्याही गई थी और कहारिनकी लड़की किसी गांवमें व्याही गई थी। दोनोंका व्यवसाय अलग-अलग था। एक बार कहारिनकी लड़की मछलीका टोकना लेकर उसी करवेमें मछली बेचने गयी, जिसमें उसकी सहेली व्याही थी। मछली बेचते हुए शाम हो गई तो उसने सोचा कि आज रातको सेहेलीके यहा ठहर जाऊँ और सुबह होते ही चली जाऊँगी। यह सोचकर वह सहेलीके यहां जा पहुची। सहेलीने कहारिनकी लड़कीका बहुत आदर किया। उसे खाना खिलाया, रात्रिमें सोनेके लिए बढ़िया पलङ्ग बिछाया और उस पर फूलोंकी शय्या बिछा दी। फूलोंकी महकसे कमरा महक उठा। जब कहारिनकी लड़की पलङ्ग पर लेटी तो उसे नींद नहीं आई। मालिनकी लड़की बोली कि "सहेली! नींद क्यों नही आती?" कहारिनकी लड़कीने उत्तर दिया कि "कमरेमें फूलोंकी गन्ध भर गई है, इस गन्धके कारण मेरी नाक फटी जा रही है।' मालिनकी लडकीने उस फूलकी शय्याको उठा दिया, फिर भी गन्ध तो कमरेमें रह ही गई। अब पलङ्गके भी सारे कपडे झाड़ दिए, फिर भी नींद न आई। तब वह रिनकी लडकी कहती है कि "सहेली! नींद आनेका केवल एक ही उपाय है कि वह जो मछलीका टोकना रखा है, उसे मेरे सिरहाने रख दो और इस टोकनेमें कुछ पानी भी डाल दो। मालिनने विवश होकर ऐसा ही किया, तब कहारिनको नींद आयी।

विषयोके प्रेमियोको ज्ञानमे अरुचि-- भैया! जैसे मछलीकी गंधमें चैन मानने वाली कहारिनको फूलों की गंध नहीं सुहाती—ऐसे ही विषयोंमे चैन मानने वाले अज्ञानी पुरुषोंको ज्ञान और वैराग्यकी बाते नहीं सुहातीं। ये पुरुष कभी बाह्यपदार्थोंका त्याग भी करें तो भी उनका प्रयोजन पंचेन्द्रियके विषयोंका रहता है। सब कुछ छोड़ दे तो बड़ी भक्तिसे, आरामसे भोजन तो मिलेगा। साधु-बाना रखनेसे और लौकिक इज्जत भी बढ़ेगी। यों रहनेसे तो कष्ट भी हो रहे हैं। अहो, कितने ही विकल्प बनाए जाते हैं। ऐसे अज्ञानी पुरुषने त्याग ही कहा किया? वह तो अपने उपयोगमें विषयोंको ही बसाए हुए है। जो भी पुरुष

इन्द्रिय-विषयोंका दमन नहीं कर सकते, वे आनन्दमय तत्त्व पा नहीं सकते। जो साधु समस्त इन्द्रियोंके व्यापार पर विजय पा चुका है और उस इन्द्रिय-विजयके कारण परमदमन किए हुए है—ऐसे पुरुषके ही यह निश्चयप्रत्याख्यान होता है। व्यवहारप्रत्याख्यान भी ऐसे ही पुरुष भली प्रकार निभा सकते हैं।

ज्ञानशूरता— प्रत्याख्यानका पात्र साधु शूर होता है। सुभटोंमें शूरता अन्य सुभटोंको मार गिरानेमें है और साधुवोंकी शूरता सर्वप्रकारके परिग्रहोंको शान्तिपूर्वक सहनेमें है। खूब ध्यानसे सोचिए कि अनेक प्रतिकूल वातावरण चल रहे हों, गाली-गलौच, अपमान आदि अनेक दुर्गतियां सामने होनेकी अवस्थामें भी विषय न जग सकें, क्षमाभाव बना रहे और इस चैतन्यस्वभावके अवलोकनका प्रसाद बना रहे—इसमें कितनी बड़ी शूरताकी आवश्यकता है? भीतर देख लो--यदि अन्तरङ्गमें कायरता है तो शरीरबलसे विशिष्ट होने पर भी बलका काम नहीं दिख सकता है—इतना तक अन्तर होता है। जैसे एक कहावत है कि एक बनियेका लड़का और एक क्षत्रीका लड़का— ये दोनों आपसमें लड़ बैठे। बनिया-पुत्र हृष्ट-पुष्ट था, बलमें तेज था और क्षत्रिय-पुत्र दुबला-पतला तथा कम ताकतका था। अतः बनियेके पुत्रने क्षत्रिय-पुत्रको नीचे ढकेल दिया और छाती पर चढ़ गया। अब बनियेका पुत्र कहता है कि कहो, अब तुम हारे ना? क्षत्रिय-पुत्र कहता है कि हाँ, हम हार तो रहे हैं, पर यह तो बतावो कि तुम किसके लड़के हो? उसने कहा कि मैं बनिया-पुत्र हूं। इतनी बात सुनकर क्षत्रिय-पुत्रमें इतना जोश आया कि वह झट उठकर उसकी छाती पर आ गया। अतः जोशमें क्या कम शक्ति होती है? यह जोश क्या है? आत्माके भावोंकी शूरता शरीर-बल नहीं है, बल्कि भाव-वीरता है।

क्षुधापरीषहकी विजय— अभ्यस्त ज्ञानी पुरुष आत्मस्वरूपको निरखकर इतने शूर हो गये हैं कि उनके श्रद्धेय-कर्तव्यमें उपसर्गोंके द्वारा भी बाधा नहीं पहुंच सकती है। कितने प्रकारके परिग्रह होते हैं? उन परिषहोंमें कितने कष्ट सहने होते हैं? यह थोड़ा भी विचार करने पर समझमें आता है। कोई साधु अनेक दिनोंका उपवास किए हुए हैं, आहारको जाता है, पर अन्तराय हो जाता है और आहार नहीं हो पाता है। इस तरह बहुतसे दिन व्यतीत हो जाते हैं, लेकिन वह अपने आपमें "शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपरूप हूं" ऐसी दृष्टि होनेके कारण अन्तः प्रसन्न रहा करता है। लोगोंको तो यह बड़ा कष्ट मालूम होता। परिग्रहों पर विजय करना कठिन काम है, किंतु इन शूरोंके लिए यह बड़ा सुगम काम है। जैसे कोई बड़ा पहलवान बच्चोंको कुश्ती सिखाए, दाव-पेच सिखाए तो सभी बच्चे थक जाते हैं पर वह पहलवान नहीं थकता है। इसी प्रकार जो ज्ञानशूर है, जिसके निर्णीत ध्येयमें कठिन उपसर्गोंसे भी बाधा नहीं आती है, उस पुरुषको ये परिग्रह जीत लेना एक आसान काम है।

तृषापरीषहविजय-- ध्यान तो लाइये, अनेक उपवास हैं। गर्मीके दिन हैं, जहाँ साधारणजन दिन-रात ही पानी पीते रहते हैं—ऐसे गर्मीके दिनोंमें भी साधुजन आहारचर्याको निकलें और उन्हें योग न मिले तो उनकी तृषाका कौन वर्णन कर सकता है? लेकिन तृषा-सम्बन्धी खेदका अनुभव उन्हें रंच भी नहीं होता है। अरे! गृहस्थी भी जहाँ हजारोंका मुनाफा मिल रहा हो—ऐसा रोजगार करनेके लिए जायें तो उन्हें भी भूख और प्यासकी वेदना नहीं मालूम होती है। सोचते हैं चलो एक-दो दिनके लिए ही तो ये वेदनायें हैं। जिनका ध्येय कुछ अभीष्ट, अपनी समझमें हितकारी है--ऐसे पुरुषोंका चित्त उद्देश्य पानेमें ही रमा करता है। उन्हें बाह्यउपसर्ग उपसर्ग नहीं मालूम होते हैं। एक ही परिग्रह क्या, सभी परिग्रहोंको निरखते जाइए।

शीतपरीषहविजय — यह साधु कितना शूर है? कैसे शान्त-परिणामोंसे उन सब उपद्रवोंको सहन कर लेता है? ठण्डका परिग्रह भी क्या साधारण परिग्रह है? कायर लोग तो जरासी शीतमें ही जान दे डालते हैं। जिस शीतकालमें बन्दर भी हार जाते हैं, पशु-पक्षी भी प्राण गँवा देते हैं, उस शीतकालमें भी शीत-

स्थानोंमें शीतकी वेदनाको ऐसी शांतिसे सह लेते हैं कि जो अज्ञानी जनोंके वशकी बात नहीं है। वह कौनसी गर्मी है ? इस चैतन्य-ज्योतिको जो प्रज्वलन किया है, इस ज्ञानी-संतेन उसके अन्तः भावरूप उष्णता है कि बड़ी शीत-बाधाएँ उनके नहीं लगती है। गर्मीकी बाधा भी कितनी विकट बाधा है ? वैसाख और ज्येष्ठके दिनोंमें जहाँ तेज लू चल रही हो, वहाँ एक बार भी आहार-पानी मिले, इसका भी कोई ठिकाना नहीं है।

उष्णपरीषहविजय — अनेक दिनके उपवासी भी हों—ऐसे पुरुष उष्णकालमें भी कठिन उष्णपरिषह पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। चूँकि लौकिक जनोंके पर्यायबुद्धि है, वे ठण्डके दिनोंमें गर्मीके परिषहका अनुमान व गर्मीके दिनोंमें ठण्डके परिषहका अनुमान नहीं कर पाते हैं, पर गर्मीमें गर्मी व ठण्डमें ठण्ड कैसी होती है, यह तो वे जानते ही हैं। वे साधुजन गर्मीके परिषहको भी शांतिपूर्वक सह लेते हैं। कोई ऐसी शीतल औषधि उनके अन्तरमें है कि कि जिससे गर्मीका परिषह सह लेते हैं। वह औषधि है ज्ञानानन्दस्वभावकी दृष्टि। इससे ऐसे तृप्त रहा करते हैं कि उन्हें ये बाधाएं भी कुछ वेदना नहीं कर पाती हैं। ऐसे सुभट-शूरोंमें यह ज्ञानानन्दमय प्रताप प्रकट होता है। इस प्रकरणमें प्रत्याख्यानके योग्य कौन साधु हैं, उसका विवरण चल रहा है। जो निश्चयप्रत्याख्यानका अधिकारी है, उसके ही विधिपूर्वक व्यवहार-प्रत्याख्यान भी निभ जाया करता है।

ज्ञानशूर संतके दशमशकपरिषहविजय-- निश्चयप्रत्याख्यान अर्थात् भविष्यकालमें किसी भी प्रकारके अपराधको न करनेका दृढ़ नियम ज्ञानशूर पुरुषके होता है, जिस ज्ञानशक्तिसे कठिन परिषह भी समता-पूर्वक सह लेता है। ये साधु-सन्त वन, उपवन आदि स्थानोंमें विराजे हुए ध्यानमें रत रहा करते हैं। उनके शरीरको कोई मच्छर काटे तो वे मच्छरकी वेदनाकी परवाह नहीं रखते हैं और समतापूर्वक सह लेते हैं, चूँकि अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि प्रबल अनुराग है और वे इस ज्ञानस्वभावके दर्शनसे हटना नहीं चाहते हैं। ऐसे ही खटमल, चींटा, बिच्छू आदि कोई भी कीट काटे तो भी अपने स्वरूपसे बाहर इन कीट-पतगों की ओर उपयोग देनेमें वे अपनी हानि समझते हैं। क्या उन पुरुषोंमें इतनी शक्ति नहीं है कि हाथसे उन्हें अलग कर दें और फिर आरामसे ध्यान करें ? अरे, वहाँ ध्यान ही क्या होगा, जहाँ प्रथम यह विकल्प ही उत्पन्न हो जाये कि ये इस शरीरको काट रहे हैं, मुझे सता रहे हैं, मैं इनको दूर कर दूं ? इस प्रकारकी कल्पनाके विकल्पोंको वे हानि समझते हैं।

नाग्न्यपरीषहविजय— साधुजन सब बाह्यपदार्थोंसे उपेक्षित रहते हैं। उन्हें किन्हीं भी बाह्यवस्तुवोंसे प्रयोजन नहीं है। जिन्होंने अपना ध्येय एक सर्वविमुक्त निज आत्मतत्त्वकी साधनाका ही रखा है। ऐसे पुरुष किन बाह्यपदार्थोंमें उपयोग लगायेंगे ? परिणाम यह होता है कि वस्त्र तक भी छूट जाते हैं। जिस नग्नरूपमें उत्पन्न हुए थे, उसी रूपमें वे आ जाते हैं। बच्चे कहाँ कपड़े लपेटकर पैदा होते हैं और कहाँ सरस या शृङ्गार लगाकर बच्चे पैदा होते हैं ? जैसे वे नग्न निर्विकार होते हैं, शारीरिक कामविकार नहीं होते हैं—ऐसे ही ये शारीरिक कामविकारोंसे परे नग्न दिगम्बर साधु निर्विकारस्वरूपका अनुभव कर रहे हैं। देवाङ्गना भी यदि गान, तान, भाव, नृत्य आदि करके उन्हें डिगाना चाहे तो भी वे अपने शुद्ध ध्येयसे नहीं चिगते हैं। वे सहजस्वरूपकी ही साधना करते रहते हैं। यह आत्मा भी स्वयं नग्नरूप है अर्थात् इस में किसी भी परवस्तुका प्रवेश नहीं है। ऐसे ये साधु अन्तःनग्न, बाह्यनग्न रहकर सहज ज्ञानानन्दामृतका पान किया करते हैं। ये ऐसे कठिन उपसर्गोंमें भी विचलित नहीं होते हैं। शरीरके बड़े-बड़े सुभट भी - जिनमें हाथी और सिंहोंको भी परास्त कर देनेकी सामर्थ्य है—ऐसे बली सुभट भी स्त्रीके स्नेहके आगे घुटने टेक देते हैं। किंतु निर्ग्रंथ साधुओं पर कैसा भी उपसर्ग आये, लेकिन अपने सहजस्वरूपकी साधना से विचलित नहीं होते हैं।

अरतिपरीषहविजय— भैया ! यह तो जीवन है, इसमें अनेक इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंका समागम हुआ करता है। कितने भी अनिष्ट पदार्थ सामने आयें, जो मनुष्य सुहाते नहीं हैं, वे सामने आयें, जो अमनोज्ञ विषय हैं, आहार अथवा अन्य प्रकारके विपरीत अनिष्ट विषय भी सामने आयें तो भी वे कभी यह स्मरण नहीं करते हैं कि हम पहिले कैसा बढ़िया खाया करते थे ? राग करनेकी बात तो जाने दो और वर्तमान अमनोज्ञ विषयमें द्वेष करनेकी बातसे भी दूर रहो, किंतु वे पहिले भोगे हुए भोगोंका स्मरण तक भी नहीं करते हैं। वे अनिष्ट पदार्थोंके समागममें न विरोध करते हैं, न ग्लानि करते हैं, केवल आत्मसाधनामें बने रहते हैं—ऐसे ये ज्ञानस्वरूप पुरुष ही समस्त अपराधोंका परित्याग कर सकते हैं।

स्त्रीपरीषहविजय— किसी भी साधुसे द्वेष हो जाए तो साधुको बरबाद करनेका उपाय, साधुसे बदला लेनेका कठोर उपाय एक स्त्रीपरीषह है। पूर्व पुराणोंमें सुना करते हैं कि किसीने किसी साधुको विचलित करनेके लिए स्त्रियोंका गान तान, नृत्य कराया और किसीने प्रेमवश किया, यह जल्दी सिद्ध न हो जाए। यह क्या प्रेम है ? यह तो द्वेष है। अत. उसे साधनासे विचलित करनेके लिए भी स्त्रीरूपमें देवागनावों तकने, देवों तकने उन्हें विचलित करनेका साधन किया था, किंतु जो आत्मतत्त्वके रुचिया ज्ञानी पुरुष होते हैं, वे इन परिषहोंसे भी विचलित नहीं होते हैं। देवाङ्गनायें भी इन साधुवोंके चित्तको हरनेमें असमर्थ हैं। अन्य स्त्रियोंकी तो बात ही क्या है ? ऐसे ये स्त्रीपरिषहके विजयी अन्तरङ्गके ज्ञानशूर पुरुष होते हैं। ये ही समस्त विभावोंका प्रत्याख्यान करनेके अधिकारी हैं।

चर्यापरीषहविजय— ये साधु पुरुष गुरुजनकी विनयपूर्वक, उन्हें ही अपना पिता समझकर, रक्षक समझकर सेवा किया करते हैं। गुरुकी सेवाके प्रसादसे ही ज्ञान, ब्रह्मचर्य और वैराग्य दृढ़ होता है। ज्ञानके साधक साधुवोंका यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे गुरुजनोंकी चिरकाल तक निष्कपट सेवा करते रहें। ऐसे ही जिनको अपना ब्रह्मचर्य पुष्ट रखना हो, उनका भी यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे गुरुजनोंको बड़ी ही विनयपूर्वक अपना और महान् जानकर चिरकाल तक सेवा किया करें और ऐसे ही गुरुसेवाके प्रसादसे वैराग्य भी दृढ होता है। यों गुरु-चरणोंकी सेवा करके जिसने अपना ज्ञान, ब्रह्मचर्य और वैराग्य दृढ़ किया है यह साधु पुरुष गुरुकी आज्ञासे कहीं विहार करने जाए और विहार करते हुए में काटे-कङ्कड़, कङ्करीले पत्थर आदि पैरमें छिद जायें तो भी वह समतापूर्वक सहन करता है और इतना तक भी ख्याल नहीं करता है कि मैं पहिले पालकीमें चढकर जाया करता था, मैं हाथियों पर सवार होकर भ्रमण करता था, पर अब अपने आरामका वह स्मरण तक भी नहीं करता है और ऐसी कठिन वेदनावोंको समतासे सहन कर लेता है। वह इस शारीरिक चर्या पर दृष्टि न देकर चर्याकी वेदनामें उपयोग न देकर आत्मचर्या में ही उद्यत रहता है। यह मेरा ज्ञानस्वरूप मेरे ज्ञानमें ही बर्तता रहे—ऐसे शूर पुरुष ही प्रत्याख्यानके अधिकारी होते हैं।

निषद्यापरीषहविजय— ये साधु पुरुष ज्ञानके शूर भयङ्कर वनमें कङ्करीली जमीन पर, टेढ़ी-मेढ़ी उठी हुई जमीन पर ध्यान करते हैं। रोग आ जाए, उपसर्ग आ जाए आदि बाधावोंको समतासे सहते हैं। जिस आसनसे ध्यान करने बैठ गए, वह आसन फिर चिरकाल तक स्थिर रहता है। वे अपने आसनसे चलायमान् नहीं होते हैं। जैसे मोही जन किसी के मोहमें आकर चाहे जिस आसनसे लगातार बैठ सकते हैं, क्योंकि उन्हें मोहकी ओर तीव्र उपयोग लगा है, उसके विपरीत ये साधुजन चूंकि इस आनन्दमय ज्ञानसुधा-सागरमें इनका चित्त बसा हुआ है, सो उस वृत्तिके कारण वे एक आसनसे बहुत देर तक बैठे रहा करते हैं। ये उपसर्ग आने पर भी और कङ्करीली, पथरीली जमीन पर बैठे होने पर भी वे अपनी स्वरूपसाधनासे चलित नहीं होते हैं—ऐसे ज्ञानस्वरूप प्रत्याख्यानके वे पात्र होते हैं।

शय्यापरीषहविजय— ये साधु पुरुष निरन्तर किसी न किसी आवश्यक काममें लगे रहा करते हैं।

स्वाध्याय करें, लेखन करें, चिंतन करें, ध्यान करें, उपदेश दें यानें किसी न किसी आवश्यक ज्ञानसाधक कार्यमे लगे ही रहा करते है। जब शरीर थक जाता है तो कैसी ही कङ्करीली, पथरीली जमीन हो, थोड़ी देरको उसी भूमि पर लेटकर शयन करते हैं। जमीन तिकौनी हो, कङ्करीली हो, कठोर हो, कैसी भी हो, उस पर ही वे एक करवटसे सीधे पडे रहा करते हैं। किसी भी प्रकारसे एक ही ढङ्गसे शयन करते हैं और उनके इस पद्धतिसे लेटे हुएमें रञ्च आकुलता नही होती है, क्योंकि उनका उपयोग इस शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावमे लगा हुआ है। वनमे सो रहे है तो वहाँ भी उन्हें यह भय नहीं होता है, घबड़ाहट नहीं होती है कि यह वन हिंसक जन्तुवोंसे भरा हुआ है, कब सुबह हो तो जल्दी यहाँसे निकल जाना चाहिए। उन्हें परवाह नहीं है। जो शुद्ध परिणाम रखते हुए जीवन बिताए, उसको मरनेका क्या भय? मर जायें तो क्या नुक्सान? जो शुद्ध परिणामोंसे बर्त रहा है, मरकर भी सद्‌गति ही तो होगी। अपना आत्मा जिसके अपने उपयोगमें सामने है, उसे मरनेका क्या भय है? ऐसे शूर-सत कठिन परिषह भी शांतिपूर्वक सहा करते हैं। ऐसे ये प्रत्याख्याता पुरुष ज्ञानशूर होते हैं।

अक्रोशपरीषहविजय— ये साधु पुरुष कभी-कभी कुछ थोडे समागममें भी पहुंच जाते हैं अथवा वहाँ कुछ लोग उनके निकट भी आया करते है, उनमें कोई दुष्ट पुरुष हो और ऐसे निरपराध, ज्ञानरत, निर्विकार साधुवोंको देखकर अनेक गालियाँ दे कि ये बेशर्म है, कमाई करके नहीं खाते है, ये लट्ठसे पड़े हुए हैं—ऐसी कितनी ही गालियोंकी बौछार भी आये, तिस पर भी उन साधुवोंके चित्तमे क्षोभ नहीं होता है। उनमें यद्यपि इतनी शक्ति है कि ऐसी गाली देने वाले सैकड़ों पुरुष भी हों तो भी उन्हें अपने शरीरबलसे दण्ड दे सकते हैं। इन साधुवोमें पहिले कोई राजा था, महाराजा था, सुभट था, बली था, सेनापति था, चक्री था—ऐसे बडे शक्तिशाली साधु होते है। उनमे बड़ी सामर्थ्य है, फिर भी वे प्रतिकार नहीं करते हैं, वे तो अब ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं। ये अन्य जीव हैं, इनमें इस प्रकारका कषाय भरा हुआ है, उसके अनुसार ये प्रवृत्ति करके दुःखी हो रहे हैं। उन गाली देने वालों पर इन साधुवोंको दया आती है, द्वेष नहीं होता है। ये साधु ऐसे समयमे भी अपनेमें विकार नहीं उत्पन्न होने देते। ऐसे ये ज्ञानशूर प्रत्याख्यानके अधिकारी होते है।

बधपरीषहविजय— इन साधुवोंको कोई चोर सताये, डाकू आदि मारें-पीटें, प्राणघात करने आयें, पर वे तो यह जानते हैं कि मेरा आत्मा अछेद्य है, अभेद्य है, ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अमूर्त है, यह तो अपने आपमें विकल्प उठाकर ही अपना घात कर सकता है, दूसरा जीव इसका बिगाड़ नहीं कर सकता है। ऐसे इस शुद्ध आत्मद्रव्यके अनुभवमे वे साधु स्थिर रहा करते हैं।

याचनापरीषहविजय— ये साधु बडे गौरवशाली होते है। इन्हें कितना भी रोग आ जाये तो भी ये औषधिकी याचना नहीं करते हैं। इन्हें भूख-प्यास की कितनी ही तीव्र वेदना हो तो भी वे दूसरोंसे भोजन देनेकी याचना नहीं करते है। हॉ, क्षुधा-शांतिके लिए शास्त्रकथित विधिपूर्व धर्मात्मावोंके मुहल्लेसे निकल जाना तो उन्हें योग्य है, किंतु मुखसे मॉगेंगे नही कि अमुक चीज दो। ऐसी कठिन वेदनाके समय भी नहीं मॉगते हैं और न शरीरसे इशारा करते है। वे तो अपने चैतन्यस्वभावके दर्शनमें ही संतुष्ट रहा करते हैं। ऐसे ये ज्ञानशूर साधु पुरुष प्रत्याख्यान कर रहे हैं।

अलाभपरीषहविजय— ये साधु किसी भी अनिष्ट प्रसङ्गमें वेदनाके उपस्थित होने पर भी और औषधि न मिले तो भी ऐसे अलाभको लाभसे भी अधिक उत्तम समझते है। आहार करनेको मिलता तो खाते-पीते समस तो कुछ तो अपने ज्ञान-ध्यानसे चिगकर उस ओर लगना पड़ता। चलो यह भी एक लाभ ही है। कैसी रुचि है इन ज्ञानियोंकी? ऐसी कितनी ही बाते उनके चित्तमें क्षोभ नहीं कर सकतीं हैं। भला बतावो तो कोई आराममें रहकर भक्तजन सब तरहकी सुविधायें दे, तिस पर भी गाल फूल रहे

हैं, क्रोध क्रोधित हो रहे हैं, ऐंठ रहे हैं तो वहाँ साधुता को निरखा जाये ? ये साधु पुरुष बड़े-बड़े अलाभ के प्रसंगोंमें भी संतुष्ट रहा करते हैं। वे जानते हैं कि मेरा आत्मा ही परमवैभव है, वह तो मेरे निकट ही है। वे आत्मलाभमें भी तृप्त हुआ करते हैं। कोई कठिन रोग भी आ जाये और तपस्याके बलसे उन्हें बड़ी विशिष्ट ऋद्धियाँ भी उत्पन्न हुई हैं, जिन ऋद्धियोंके प्रतापसे स्वयं ही सैंकड़ों रोगी अपने रोगसे मुक्त हो जाते हैं। फिर भी अपनी ऋद्धिका प्रयोग अपना रोग मिटानेके लिए नहीं है। इन साधु-संतोंको छूकर आई हुई हवा भी रोगियोंके रोगको दूर कर देती है। इन साधु-संतोंका पसीना, मूत्र, मल, थूक, खकार भी किसीको छू जाए तो वे भी रोगको दूर कर देते हैं। इतनी विशिष्ट ऋद्धियाँ जिनमें उत्पन्न हो और उनके ही शरीरमें कोई रोग हो तो वे अपने रोगको दूर करनेका भाव भी नहीं रखते हैं। कैसी निर्विकल्प-समाधिकी रुचि इन ज्ञानी-संतोंके हुई है कि वे उसका प्रतिकार नहीं करते हैं, समतासे सहते हैं और यह निरन्तर देखा करते हैं कि यह मेरा आत्मा तो सर्वरोगोंसे परे केवल ज्ञानानन्दस्वरूप है। ऐसे ज्ञानशूर पुरुष समस्त अपराधोंका प्रत्याख्यान करते हैं।

तृणस्पर्शपरीषहविजय— चलते, बैठते, सोते, उठते आदि किन्हीं भी प्रसंगोंमें नुकिले तृण लग जायें, कङ्करीले पत्थरकी शिलासे चोट लग जाए, देहके श्रमको दूर करनेके लिए बैठें, उन्हीं कङ्करीले स्थानों पर सोयें, इनसे वेदना हो तो भी वे खेद नहीं मानते हैं। वे काँटोंकी भी परवाह नहीं करते हैं। वे अपने स्वरूपके स्पर्शकी ही धुन बनाए हुए हैं। ये ज्ञानशूर पुरुष समस्त विषय-कषायोंका परिहार किया करते हैं। कषायोंको जीतनेमें बहुत बड़ा ज्ञानबल चाहिए। कषाय करना तो आसान है, पर अपनेमें कषाय न आने देना, क्षमा आदि गुणोंसे तृप्त बने रहना—यह बड़े शूरवीरका ही काम है।

मलपरीषहविजय— साधु-संतोंको स्नानसे कुछ प्रयोजन नहीं है। उनका शरीर रत्नत्रयसे पवित्र है। कितना ही पसीना आ जाए और उससे दाद, खाज आदि कितने ही चर्म-रोग हो जायें, फिर भी उनकी पीड़ाकी ओर वे लक्ष्य नहीं देते हैं। खुजलाहट होने पर तो लोग शरीरको बहुत तेज रगड़ते हैं। दाद, खाजकी खुजलाहटमें मनुष्योंमें खुजाये बिना चैन भी नहीं पड़ती है। वे साधुजन दाद, खाजको रगड़ना नहीं चाहते हैं। वे तो जानते हैं कि इस दाद, खाजमें स्थित क्षुद्र-क्षुद्र जीवोंको बाधा न पहुंचे, उनका घात न हो जाए। इस भावसे भी शरीरके मलको छुटानेके लिए कोई उबटन आदिका उपाय भी नहीं करते हैं। वे तो स्वके अनुभवमें ही लीन रहा करते हैं। ऐसे विजयी साधु निश्चयप्रत्याख्यान कर रहे हैं। जो परीषहोंमें भी विचलित नहीं होते हैं, वे ही पुरुष मोक्षमार्गमें प्रगति कर सकते हैं। यों निश्चयप्रत्याख्यान के अधिकारमें परीषहविजयी शूरोंकी कुछ कथनी की जा रही है।

सत्कारपुरस्कारपरीषहविजय —मात्र अपने चित्प्रतिभासस्वरूपमें ही तृप्त रहने वाले ज्ञानी पुरुष अपनी स्वभावदृष्टिकी सफलतामें ही अपनेको कृतार्थ समझते हैं। लौकिक पुरुषोंके द्वारा किए गए सत्कार, सम्मान, तिरस्कारका कुछ मूल्य नहीं समझते हैं अर्थात् उनको लौकिक सम्मानमें रञ्च रुचि नहीं है। जो पुरुष प्रत्येक पदार्थको स्वतन्त्र अपने-अपने स्वरूपमें विराजे हुए देख रहे हैं, वे पुरुष सम्मान, अपमानकी बातोंका क्षोभ मनमें नहीं लाते हैं। दूसरे पुरुष प्रशंसा करें, सम्मान करें, फिर भी अन्तरङ्गमें प्रसन्नता नहीं होती है। वे जानते हैं कि यह परपुरुषोंके कषायके अनुकूल प्रवृत्तिका फल है। जो ये वचन निकाल रहे हैं, इनका मेरे साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। कदाचित् कोई निन्दा, अपमान करे तो उसमें ज्ञानी जीव रुष्ट नहीं होते हैं। वहाँ भी यही विवेकी जान रहा है कि यह अपने कषायके अनुकूल अपना प्रयत्न कर रहा है और उसके परिणाममें ये मुख, ओठ, जीभ आदि चल रहे हैं, उनका निमित्त पाकर ये वचन निकल रहे हैं। इन वचनोंका मेरेसे कोई सम्बन्ध नहीं है, ये तो अन्य चीजें हैं—ऐसा जानकर निंद्य अपमान भरे वचन क्लेशकर नहीं होते हैं।

साधुवोंकी ज्ञानशूरताकी प्रकृति— आत्मरसिक ज्ञानी साधु संत ऐसे ज्ञानशूर होते हैं कि कभी मोक्षमार्गमे कायरताका भाव नहीं लाते हैं। मै इतना तपस्वी हूं, मुझमें इतना ज्ञान है, मै इतना कठिन तप किया करता हू, इस पर भी कोई मेरी मान्यता नहीं करता—ऐसा विकल्प उनके चित्तमें कदापि नहीं आता। यह सब उपयोगकी बात है। जैसे मरणहारपुरुष जिसका मरण निकट है, उसमें अपने आप ही कए, ऐसा बल प्रकट होता है कि किसी भी पदार्थमें ममता, रागद्वेष नहीं रहता है। यह प्राय बात कही जा रही है। बहुतसे ऐसे भी पुरुष होते हैं कि बड़े रागद्वेषसे संक्लिष्ट होकर मरण करते हैं, किंतु जिनको कुछ भी प्रतिबोध है, चाहे वे कुछ अपने जीवनमें कुछ भी व्यवस्था, प्रबन्ध राग करते आए हैं, वे भी मरणके समयमे ऐसा विशिष्ट बल पाते हैं कि उन्हें किसी ओर मोह, ममता नहीं होनी। मरणके समयमें और शान्ति ही किस बातकी है? किसी अन्य तत्त्वकी ओर ममता न होना, यही तो शांतिका रूप है। और शान्ति किसे कहते है? जान लिया कि हम यहाँसे जा ही रहे हैं, हमारा किसीसे कुछ सम्बन्ध ही नहीं रहनेका है—ऐसी स्थितिमें उनका उपयोग किसी भी पदार्थकी ममतामें नहीं फँसता।

सत्कारपुरस्कारपरीषहविजयीकी प्रत्याख्यानपात्रता—ये साधु सन्त तो निकटमरणी प्रबुद्ध पुरुषसे भी और सुन्दर स्थितिमें है। ये स्वरूपानुभवका स्वाद लेकर ही ऐसे तृप्त होते हैं कि उन्हें बाहरकी बातें कुछ भी मालूम नहीं होती हैं। जैसे कोई व्यापारी पुरुष किसी काममें दस-पाँच हजारका लाभ लेता हो और उस प्रक्रियामें कुछ अपमानकी बात आ जाए तो वह उसे कुछ भी नहीं गिनता है, क्योंकि उसका मूल ध्येय तो अपने आर्थिक लाभमें लगनेका है। ऐसे ही ये साधु पुरुष अपना मूल ध्येय जो स्वात्माकी उपलब्धि है, उसमें ही लगे हुए हैं। निन्दा और अपमानके वचन उनमें क्षोभ नहीं ला सकते और सम्मान, प्रशसाके वचन उनमें प्रसन्नता नहीं ला सकते। ऐसे सत्कारपुरस्कारपरीषहविजय करने वाले ज्ञानी पुरुष प्रत्याख्यानके अधिकारी होते हैं।

प्रज्ञापरीषहविजय—ये ज्ञानशूर बहुत महान् बुद्धिशाली भी हो जायें, मिथ्यावादियों पर विजय भी प्राप्त कर चुके, अनेक विद्यावोंके पारगामी भी हो जाये, तिस पर भी उन्हें विद्याका घमण्ड नहीं आता है। तुच्छ पुरुष ही थोड़ी चतुराई और विद्याकला प्राप्त कर लेने पर गर्वसे भरपूर हो जाता है, किंतु जिसे यह पता है कि मेरी वास्तविक निधि तो अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दकी है। यह कितनासा ज्ञान है? तीन लोक और तीन कालके समस्त द्रव्य, गुण, पर्यायोंको एक साथ स्पष्ट जाननेकी सामर्थ्य इस ज्ञानमें है। यह ज्ञान कितना बड़ा है? न कुछकी तरह है। उसमें ज्ञानी पुरुषोंको गर्व नहीं होता है और वे निज विज्ञानघनस्वभावमे ही उपयोगी बने रहा करते हैं। यह आत्मा ज्ञानघन है। घन उसे कहते हैं, जहाँ परतत्त्वका सम्बन्ध नहीं है। ठोस चीजको घन कहते है। प्योर (शुद्ध) केवल वह ही तत्त्व हो, उसे घन कहते हैं। यह आत्मा ज्ञानघन है। असख्यात प्रदेशोंमें यह ज्ञानघन ही तो बर्त रहा है, ज्ञानसे भरपूर है। घनका अर्थ वजनदार नहीं है, बल्कि घनका अर्थ है परतत्त्वसे रहित होकर अपने ही तत्त्वमें भरपूर रहना। यह आत्मा विज्ञानघन है—ऐसे ही स्वरूपमें इस ज्ञानी पुरुषका उपयोग रहता है। इस ज्ञानस्वभावके उपयोगमे प्रत्याख्येय पदार्थ रुव अपने आप छूट जाते हैं।

अज्ञानपरीषहविजय— यह ज्ञानी पुरुष ज्ञानप्रकाशकी तपस्यावोंको करता है। जो तप साधारण जनों से किया जाना असम्भव है, बड़े तप करने पर भी यदि अवधिज्ञान प्रकट न हो तो ये सतजन खेद नहीं मानते है कि इतने वर्ष तक इतना उत्कृष्ट तप तपा और आज तक भी अवधिज्ञान नहीं प्रकट हुआ। लोग इसको मन्दबुद्धि वाला कहते हैं। इतने वर्ष तो हो गए साधु बने, किंतु यह ज्योंका त्यों ही मूर्ख है, इसमें कुछ भी विद्या नहीं आ सकी है—इस प्रकार कुछ भी कोई बकता रहे, तो भी वे साधुजन खेद नहीं मानते हैं। वे तो जानते हैं कि मुझे विशेष ज्ञान नहीं हुआ तो न सही, मुझे तो अपने ज्ञानस्वरूपका ज्ञान करना

है। बाह्यपदार्थोंका ज्ञान यदि अधिक नहीं बढ पाया तो इसमें कौनसी हानि है ? मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है कि मैं बाह्यपदार्थोंको जानूं। अवधिज्ञान न हो तो न सही। मुझे तो उसमें ही पूर्ण संतोष है कि मैं अपने सहज ज्ञानस्वभावका स्पष्ट प्रतिभास कर लिया करता हू—ऐसे अपने ज्ञानस्वभावके ज्ञानमें ही तृप्त रहने वाले साधुजन अवधिज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञान न होनेका खेद नहीं मानते हैं। ऐसे ही पुरुष भविष्यकालमें किसी भी प्रकारके अपराधके न करनेका नियम रखते हैं, प्रत्याख्यान करते हैं।

अदर्शनपरीषहविजय— भैया ! बाहरी उपसर्गोंसे भी अधिक उपसर्ग अपने आपके ही विपरीत परिणमनसे अपने आपमें कल्पनाएँ उठाते रहनेका है और उन सबमें घोर कष्ट मिथ्यात्वका है। ये ज्ञानी साधु चिरकालसे दीक्षित होने पर भी बड़े-बड़े उपवास, तपस्याएं करने पर भी इन्हें यदि अतिशय प्रकट न हो तो भी रञ्च भी यह कल्पना नहीं करते हैं कि मै शास्त्रोंमें लिखी हुई विधिके अनुसार तो सब व्रत, तपस्या, नियम कर रहा हू, किंतु उसके फलमें मुझे कुछ भी अतिशय नहीं दिखता है। कहीं शास्त्रमें ये सब बातें झूठ तो नहीं लिखी हैं—ऐसी कल्पना भी नहीं करते हैं। शास्त्रोंमे लिखा भी रहता है— ऐसे महोपवास तपके माहात्म्यसे ज्ञानमें अतिशय प्रकट हो जाता है, केवलज्ञान हो जाता है, यह स्पष्ट लिखा हुआ तो है, उसे भी पढ लो। इतना अधिक तप करनेके बाद भी कोई ज्ञानमें अतिशय नहीं आ सका या कोई ऋद्धियां-सिद्धिया न प्रकट हो तो उसमे यह नहीं सोचते हैं कि ये शास्त्र मिथ्या मालूम होते हैं और अब हमारा तप करना व्यर्थ है—ऐसी कल्पना उनके नहीं जगती है। वे कभी सत्य श्रद्धानसे चलित नहीं होते हैं। उनको जो आत्मदर्शन हुआ था, उसमें दृढ रहते हैं, उसकी प्रतीति बनाए ही रहते हैं। ऐसे ज्ञानशूर पुरुष निश्चयप्रत्याख्यानका उपक्रम किया करते हैं।

परीषहविजयके लाभ—इन परीषहोंके विजयसे अनेक लाभ हैं। प्रथम तो जो बिना कष्ट सहन किए ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह ज्ञान किसी दु खके उपस्थित होने पर छूट सकता है। परीषहके विजयी पुरुषको एक यह ही प्रथम लाभ है कि कैसा ही उपसर्ग आने पर उसका प्राप्त किया हुआ यह ज्ञान निधान खोया नहीं जा सकता। दूसरा लाभ यह है कि परीषहविजयमें अनेक उदितकर्म निष्फल टल जाया करते हैं। तीसरा लाभ यह है कि पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा विशेष होती रहती है। चौथा लाभ यह है कि नवीन अशुभकर्म बँधते नहीं हैं, उनका सम्वर हो जाता है और ५वीं बात परीषहविजयी पुरुष नि-शङ्क रहते हैं। जो कायर पुरुष हैं, कष्टसहिष्णु नहीं हैं, वे ही पद-पद पर शका किया करते हैं। हाय, अब क्या होगा ? उन्हें यह आगामी भय बना रहता है। छठा लाभ यह कि परीषहविजयी पुरुषके सब गुण विकसित हो जाते हैं, उनमें धैर्य आता है, क्षमा प्रकट होती है, सतोषकी वृद्धि होती है। वे तो इस लोकमें भी सुखी हैं, परलोक तो आनन्द प्राप्तिका उद्यम है ही। सातवाँ लाभ यह है कि इसके फलमें परलोकमें अभ्युदय प्राप्त होता है। अन्तिम लाभ यह है कि वे ससारके समस्त दु खोंसे मुक्त होकर परम आनन्दमय मोक्षपदको प्राप्त करते हैं। ऐसे ये परीषहविजयी ज्ञानशूर पुरुष सर्वप्रकारके अहकारोंका परित्यागरूप व्यवहार-प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानमय निज ज्ञायकस्वरूपका अवलोकनरूप निश्चयप्रत्याख्यान किया करते हैं।

प्रत्याख्यानके अधिकारी व्यवसायी— ये ज्ञानी पुरुष अपने मोक्षमार्गमें बड़े व्यवसायी होते हैं। निरुपाधि शुद्ध चैतन्यस्वभावकी दृष्टिरूप परमतपश्चरणमें सदा निरत रहा करते हैं। मोक्षमार्गका व्यवसाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका धारण है। ये रत्नत्रयकुशल ज्ञानी पुरुष निश्चयरत्नत्रयके पात्र हैं। ये ज्ञानी ससारके दु खोंसे भयभीत हैं। ग्रन्थोंमे लिखा है कि साधुओंको निद्रा नहीं आती है। उनकी निद्राका आना भी न आनेकी तरह है। स्वाननिद्रासे भी अत्यल्प उनकी निद्रा है। इसका क्या कारण है कि जो साधुवोंको अन्य लौकिक जनोंकी भांति नींद नहीं आती है ? इसका कारण यह है कि नींद न आनेके दो हेतु हैं—एक तो विशिष्ट आनन्दलाभ व दूसरा कोई दु ख आना। उन्होंने आत्मस्व

का दर्शन कर लिया है, जिसके अतुल आनन्दमें वे ऐसे प्रसन्न रहा करते हैं, जिस प्रसन्नताके कारण वे सजग रहते है। उन्होंने आत्मतत्त्व जैसी अतुल निधि पा ली है, जिससे उन्हें निद्रा नहीं आती है। और दुःख भी उन पर हैं, वे तो इस ससारमें बसनेका ही बडा दु:ख मानते हैं, इस शरीरके बन्धनको वे क्लेश समझते हैं। शुद्ध ज्ञानस्वरूपके उपयोगके अतिरिक्त अन्यत्र यह उपयोग रमे या फँसे, उसको बड़ा सङ्कट समझते हैं। वे इन सङ्कटोंसे भयभीत हैं, इनसे वे हटना चाहते हैं, इस कारण उन्हें निद्रा नहीं आती है। वे पुरुष ससार-भयसे भयभीत है, इनमें व्यवहारप्रत्याख्यान और निश्चयप्रत्याख्यान प्रकट होता है।

निश्चयप्रत्याख्यानकी नियमित हितरूपता— व्यवहारप्रत्याख्यान तो कदाचित् मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी सम्भव है। कदाचित् चारित्र मोहके उदयके कारणभूत जो द्रव्यकर्म और भावकर्म हैं, उनकी ऐसी ही मदता हो जाए, जिसमे व्यवहारप्रत्याख्यान सम्भव हो जाता है। जैसे घर त्याग देना, वैभव त्याग देना, व्रत और सयमका पालना इसे व्यवहारसयम कहते है और अनन्तानुबन्धी कषायकी मंदतामें इतना तक भी हो जाता है कि कोई वैरी द्रव्यलिगी साधुको कोल्हूमें पेल दे तो भी वह वैरीसे द्वेष नहीं करता है। उसके अन्तरमें क्या बसा हुआ है, जिसके कारण इतने उपद्रवोंको भी वह सह लेता है और द्वेष भी नहीं करता है? मै मुनि हू. मैंने मुनिपद लिया है, अत मुझे द्वेष नहीं करना चाहिये, इससे ही हमें सद्गति मिलेगी। इस अध्यवसायसे द्वेष नहीं करते है। ऐसे जो विकल्प-बुद्धिमे अटके हैं, वे इनको पार करके शुद्ध ज्ञानस्वरूपको नहीं निहार पाते हैं। व्यवहारप्रत्याख्यान तो ऐसे मिथ्यादृष्टि जनोंके भी सम्भव हो जाता है, इस कारण निश्चयप्रत्याख्यान ही हितरूप है और यह अति आसन्न भव्य जीवोंके प्रकट होता है।

ज्ञानीकी साधनामे व्यवहारप्रत्याख्यानका सहयोग— ज्ञानीके भी व्यवहारप्रत्याख्यान है, किंतु व्यवहार-प्रत्याख्यानका प्रयोजन निश्चयप्रत्याख्यान है। उसकी लगार भी न हो तो व्यवहारप्रत्याख्यान मोक्षमार्गमें कार्य नहीं कर सकता है। जैसे स्वर्णपाषाण भी दो तरहके होते हैं। जिसमें स्वर्ण निकलता है, ऐसे पाषाणोंकी बात कही जा रही है। एक तो ठीक उपादेयस्वरूप स्वर्णपाषाण है और दूसरा कहलाता है अंधपाषाण। अन्ध पाषाण भी उस पाषाण भी उस पाषाणकी जातिका तो है, परन्तु उसमें स्वर्णका निकलना कभी सम्भव नहीं है। जैसे मूँग दो तरहकी होती है—एक पक जाने वाली और दूसरी ऐसी कि जिसे कितना ही पकावो, पकती नही है। ऐसे ही मिथ्यादृष्टि जीव अथवा अभव्य जीव व्यवहारप्रत्या-ख्यानसे सिद्धि नहीं पाते हैं और अत्यासन्न जीव व्यवहारप्रत्याख्यान भी करते हैं और उसके प्रयोजनभूत निश्चयप्रत्याख्यानमे प्रगति करते हैं। इससे शुद्ध तत्त्वज्ञान उपादेय है।

प्रत्याख्यानभावना— ससार, शरीर और भोगोंसे निर्वेदपना प्रकट होना, सो निश्चयप्रत्याख्यानका कारण है। फिर भविष्यकालमे ऐसे ज्ञानी पुरुषोंके मर्यादित सर्वप्रकारके विभावोंका परिहार हो जाता है। यही उनका परमार्थप्रत्याख्यान है अथवा भविष्यकालमें अन्तर्जल्प और बहिर्जल्परूप विकल्पोंका परित्याग हो जाता है। ऐसे ज्ञानके अभ्यासी पुरुष शुद्ध निश्चयप्रत्याख्यानको पाकर निकट ही कालमें मुक्तिके पात्र होते हैं। हे मुमुक्षुजनों! यह प्रत्याख्यान इस जीवको शरणभूत है अर्थात् अपराधोंसे दूर रहनेका सङ्कल्प कितनी प्रसन्नता उत्पादक है। यह प्रत्याख्यान सदा जयवन्त रहो। इसके प्रसादसे ही उत्कृष्ट मोक्षका सुख प्राप्त होता है। इस प्रत्याख्यानकी निरन्तर भावना हो और सर्वदोषोंसे रहित केवल ज्ञानस्वरूप अपने आपकी दृष्टि हो, इससे ही ससारके सर्वप्रकारके सङ्कट दूर होते हैं।

एव भेदब्भास जो कुव्वदि जीवकम्मणो णिच्च।
पच्चक्खाण सक्कदि धरिदुं सो सजदो णियमा ॥१०६॥

भेदाभ्यासीका प्रत्याख्यानाधिकार— इस प्रकार जो लोग जीव और कर्ममे नित्य भेदभावनाका अभ्यास

करते हैं, वे संयमी पुरुष नियमसे प्रत्याख्यानको धारण करनेमें समर्थ होते हैं। प्रत्याख्यान नाम है त्याग का। किसे त्यागना है, किससे त्यागना है ? त्यागमें दो तत्त्वोंका होना आवश्यक होता है। जैसे अपादान कारकमें एक ध्रुवरूप होता है और एक अध्रुवरूप होता है। ध्रुव तो अपादान है और अध्रुव है अपाय जैसे कहते हैं कि वृक्षसे पत्ते गिरते हैं, यह अपादानका उदाहरण है। इस दृष्टान्तमे वृक्ष तो ध्रुव है और पत्ते अध्रुव हैं। पत्ते स्थान त्यागते हैं, इसलिए वे अध्रुव हैं और वृक्ष तो ध्रुव है। इसी प्रकार त्याग करना है तो किसका त्याग करना है और किससे त्याग करना है—ये दो बातें उसमें अवश्यम्भावी हैं। त्याग करना है रागादिक समस्त विभावोंका और त्याग किससे करना है ? इस सहज चैतन्यस्वभावरूप आत्मासे। रागादिक विभाव अध्रुव हैं, इनका परित्याग हो सकता है और यह आत्मतत्त्व ध्रुव है। जब तक इन दोनोंका भेद-भावनाका अभ्यास न बन जाए, तब तक प्रत्याख्यान नहीं होता है।

भेदज्ञानसे अभेदात्मतत्त्वके ग्रहणमें प्रत्याख्यानकी परिसमाप्ति— चाहे यों कहो कि प्रत्याख्यान तो है ही। प्रत्येक जीवमें परपदार्थोंका अभाव है। प्रत्येक जीवके स्वभावमें केवल स्वभाव है। यों स्वभावका और विभावका जो भेदाभ्यास करता है, वही पुरुष परमार्थदृष्टिसे प्रत्याख्यानको करनेमें समर्थ होता है। यह निश्चयप्रत्याख्यानके वर्णनका उपसहार चल रहा है। वे ही पुरुष निश्चय और व्यवहारप्रत्याख्यानको स्वीकार करते हैं जो श्रद्धालु होंगे और अरहतमार्गके विचार करनेमें समर्थ होंगे। तत्त्वका जो स्वरूप कहा गया है, उस स्वरूपका विचार करनेमें जो निपुण होगा, वही पुरुष प्रत्याख्यानको कर सकता है। मोही, मिथ्यादृष्टि, पर्यायबुद्धि वाले जन जो पर्यायमें ही अभेदाभ्यास किए हुए हैं कि यह मैं हू—ऐसी मिथ्या-बुद्धिमे प्रत्याख्यान नहीं ठहरता है। जो अशुद्ध अन्तस्तत्त्व और शुद्ध अन्तस्तत्त्व दोनोंका सम्बन्ध भेद निरखते हैं। अशुद्ध अन्तस्तत्त्व है पररूपमें तो कार्माणपुद्गल और निजक्षेत्रमें रागादिक विभाव और शुद्ध अन्तस्तत्त्व है, यह चैतन्यस्वभाव है—ऐसे स्वभाव-विभावमें जो बन्धनके सम्बन्धका भेद करते हैं, भेदाभ्यासके बलसे वे संयमी निश्चयप्रत्याख्यानको स्वीकार करते हैं और व्यवहारप्रत्याख्यानको सहयोगी करते हैं। व्यवहारप्रत्याख्यानमें तो परवस्तुका त्याग है और निश्चयप्रत्याख्यानमे अपने आपमें जितने भी उपाधिसम्बन्धसे होने वाले परिणाम हैं, उनका प्रत्याख्यान है। केवल एक शुद्ध शाश्वत चित्स्वभाव-मात्र ही जहाँ ग्रहण है, वहाँ ही निश्चयप्रत्याख्यान होता है। ऐसे निश्चयप्रत्याख्यानको यह सयमी स्वीकार करता है।

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचनामे मूलभाववृत्ति— भैया ! करना क्या है ? केवल एक ही बात। वर्तमान कालमें चलते हुए इन रागादिक भावोंसे भिन्न एक चित्प्रकाशमात्र अपने आपको जानना देखना है। इस एक ही काममें तीन काम हो जाते हैं—प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना। वर्तमानमें जो रागादिक भाव हैं, उनसे भिन्न आत्मतत्त्वको देखो। ऐसा देखनेमें प्रतिक्रमण तो यों हो जाता है कि पूर्वमें बाँधे हुए जो कर्म हैं, उन कर्मोंका वर्तमानमें फल नहीं मिल सकता है। कर्मोंका फल तब मिलता है, जब कर्मोंके फलमें आस्था हो, उपयोग दे तो फल मिलना होता है। कोई पुरुष उपयोग तो दिए हुए है एक शुद्ध ज्ञान-प्रकाशमें, यह मैं हू—ऐसा ही अनुभव कर रहा है और कर्म बँधे हैं भव-भवके तथा उनका काल आने पर उदय भी चल रहा है। चले उदय, किंतु उस कालमें उदयक्षणसे एक समय पहिले उनमेंसे अनेक विरुद्ध वर्गणावोंका स्तिवुकसक्रमण हो जाता है और जो मन्द अनुभाग वाले उदय हैं, वे बुद्धिमें नहीं आते हैं, वे अबुद्धिपूर्वक निकल जाते हैं। इस प्रकार जो ज्ञानप्रकाश के अनुभवमें जुटे हुए हैं, उनके प्रतिक्रमण होता है।

प्रतिक्रमण नाम है पहिले बँधे हुए कर्मोंका फल बेकार हो जाना, फल न मिल सकना। जब वर्तमान में ज्ञानस्वभावमें उपयोग चल रहा है तो उसका अब फल नहीं मिल रहा है, यही हो गया प्रतिक्रमण।

प्रतिक्रमणका कारणभूत मूलभाववर्तन ही प्रत्याख्यान व आलोचनाका कारण— प्रत्याख्यान कहते हैं भावी ालमें फल न मिल सकनेके लिए कर्मबंध न हो सकना। जिन कर्मोंके उदयका भविष्यमें फल मिलेगा, से कहते है प्रत्याख्यान। जो जीव वर्तमानमें विभावोंसे भिन्न ज्ञानस्वभावका अनुभवन कर रहा है, वह रुष कर्मबँध नहीं करता है और न भावी कालमें उसका फल मिलेगा। यों एक ही कालमें यह प्रत्याख्याता ागादिक भावोंसे विविक्त ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको स्वीकार कर केवल इस व्रतमें प्रत्याख्यान भी ो गया। विवक्त स्वभावकी दृष्टिमे आलोचना तो स्पष्ट ही है। आलोचना कहते हैं वर्तमान दोषोंको अपने से भिन्न निरखना। यह तो काम कर ही रहे हैं, इसलिए आलोचना भी चल रही है। यों केवल क काममें ये तीन बातें चलती हैं।

एक वरमे तीन सिद्धियोका लोकदृष्टान्त— एक कथानक है कि एक पुरुषको देवता सिद्ध हो गया। वह देवता उससे प्रसन्न होकर कहता है कि "वत्स! एक वर जो चाहो, सो माँग लो।" वह घर आया और माँ, बाप, स्त्रीसे पूछा कि "देवतासे एक वर क्या मागूँ?" पिताने उत्तर दिया कि "धन माग लेना।" माँने सलाह दी कि "मेरे आँखें नहीं हैं, सो आँखें मांग लेना।" फिर स्त्रीने अपनी राय प्रकट की कि "एक पुत्र मांग लेना।" अब वह परेशान हुआ कि इनमेसे कौनसी एक चीज मागूँ? तुरन्त उसने एक उपाय सोच लिया कि क्या मागना है? दूसरे दिन वह देवताके पास गया। उसे देखकर देवताने कहा कि "वत्स! अब एक वर मांग लो।" उसने कहा कि "हे देव! मेरी माँ अपने पोतेको सोनेके कटोरेमें दूध पीता हुआ देखे, मैं यही मागता हू।" उसने एक ही चीज मागी ना? अरे, उस वरमें तो तीनों चीजें आ गयीं। ऐसे ही मोक्षमार्गके प्रकरणके जिस भावमें प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचना--ये तीनों चलते हैं, वह भाव है सर्वसे विविक्त ज्ञानस्वभावमात्र अपने आपको स्वीकार करना। इसमें तीन बातें आ गयीं।

विविक्त ज्ञानभावना— भैया! जब उत्थान होना है तो ये तीन बातें आया करती हैं। पूर्वके अप-अपराधोंसे हट जाना, आगामी कालोंमें अपराध न करना, वर्तमानमे अपराध न करना--ये तीनों ही बातें एक निज सहज ज्ञानस्वभावके अवलोकनमें प्रसिद्ध हो जाती है। जो स्वभावदृष्टि करके सच्चा त्याग बनाए, व्रत बनाए, संयम बनाए, हो वास्तवमें स्वभावदृष्टि, केवल बातोंकी कल्पनासे यह बात नहीं आया करती है। यों प्रत्याख्यानके अधिकारमें यह प्रत्याख्याता भावना करता है कि भविष्यकालमे होने वाले भावोंसे जो निवृत्त है, वह मै हू, जो नैमित्तिक तत्त्व हैं, वह मैं नहीं हूं। इसी प्रकार हम सब मुमुक्षुवोंको दोषनिर्मुक्त होनेके लिए पूर्ण ज्ञानानन्दनिधान इस निजस्वरूपकी निरन्तर भावना करनी चाहिए।

परमतत्त्वकी परखका अनुरोध— जैसे हम लोग इन आँखोंसे बाहरमें कुछ देखा करते हैं और उसमें यह छटनी बना लेते हैं कि यह पदार्थ दर्शनीय है, इसे देखते रहना चाहिए। जैसे बाहरमें यह छटनी करते हैं, इसी प्रकार इन आँखोंसे न देखकर हम इस ज्ञान-नेत्रसे देखे तो वह कौनसी चीज है, जिसके देखनेसे संसारके सब दुःख छूट जाते है? बस, इसका अवलोकन जिसने किया, उससे बढकर कोई विभूतिमान् नहीं है। हम इस ज्ञान-नेत्रसे किस परमतत्त्वको देखें? जिसको हम देखेंगे, वह तत्त्व बाहरमे न मिलेगा, किन्तु बाहर गयी हुई बुद्धि एक क्षोभको ही उत्पन्न करती है। वहाँ वह परमतत्त्व न मिलेगा, जिसको निरखने पर ससारके समस्त सङ्कट छूट जाते है। यह तत्त्व खुदमें ही मिलेगा, पर खुदको देखनेकी पद्धति में कुशल होना चाहिए। हम इस ज्ञानसे जैसे अपने आपको निरखा करते है कि मैं अमुक चन्द हू, ऐसा मनुष्य हूं आदिक देखते है, उसे न निरखकर कुछ उस तत्त्वको देखना चाहिए, जिसको आँखे मींचकर निरखा जा सकता है। मैं अमुक चन्द हू, ऐसा मनुष्य हू--यह सब इन्द्रिय द्वारा ही जाना गया है। किन्हीं भी इन्द्रियोंसे न जानें, केवल ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभावको जाने-- ऐसे तत्त्व अपने आपमें देखे।

विषवृक्षचिन्तनकी क्यारीसे पार्थक्य— यह मेरा आत्मा शाश्वत है, सर्वसङ्कटोंसे मुक्त है, इसमें शरीर का भी सम्बन्ध नहीं है। यह शरीर संसारके भ्रमणको बढ़ानेका कारण है। इस शरीरका प्रेम ससारके सङ्कटोंकी बगियाको हरी भरी रखनेके लिये, लहलाती रखनेके लिये जल-सिंचनके आधार जैसा काम कर रहा है। जैसे किसी बागमें क्यारी बनाकर नालीमें पानीका प्रवाह करते हैं, उससे ये वृक्ष हरे-भरे बने रहते हैं, बढ़ते चले जाते हैं—ऐसे ही यह शरीर उस क्यारीकी नालीकी तरह है, जिसमें दुर्भावोंका जल प्रवाह किया जा रहा है और उस जल-सिंचनसे यह संसारका विषवृक्ष हरा भरा होकर बढ़ता चला जा रहा है। तू इस शरीरसे भी जुदा है, शरीरकी रुचिसे ससारके सारे सङ्कट बनते हैं। सामायिकमें, स्वाध्यायमें या कहीं भी बैठे हों, दूकान पर ही क्यों न हों, किसी भी जगह दो-चार सेकिण्डको भी कभी तो अनुभव करे कि यह मैं हूं, यह मैं स्वरूप सत् आत्मा सर्व परपदार्थोंसे भिन्न, शरीरसे भी जुदा, केवल एक ज्ञानप्रकाशमात्र हू। इस तत्त्वको न जाननेके कारण कितना अधकार छाया है इन जीवोंमें ? इन्हें शुद्ध यथार्थस्वरूप नहीं सूझता है।

स्वका स्वतन्त्र स्वरूप— यह मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् हू। यह मैं सदा एक हू, नानारूप नहीं हू। जैसे जगत्में ये नाना प्रकारके जीव दिख रहे हैं—गाय, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी आदि, ऐसे ही ये हम आप भी जितने दिख रहे हैं, उन सबके सम्बन्धमें ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है कि मुझे तो कोई दिख ही नहीं रहा है। कहां प्रवेश करके ज्ञानी चिंतन कर रहा है ? भिन्न-भिन्न मनुष्योंको निरखकर। एक माननेकी बात तो दूर रही· वह तो सुगम बात है, किंतु वृक्ष-कीडे, पशु पक्षी जैसे अत्यन्त भिन्न जीवों को निरखकर भी ज्ञानी इन सबमें एकत्व देख रहा है। ये सब केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हैं। ऐसा ही यह मैं ज्ञानमय आत्मा शाश्वत हू, ज्ञानदर्शनस्वरूप हू।

स्वरूपकी क्रियाकाण्ड विविक्तता— यह मैं शाश्वत आत्मा सर्वप्रकारकी क्रियावोंसे दूर हू। मैं कुछ करता हू, मैं अमुक क्रियायें करता हू, इस प्रकारकी दृष्टिसे यह मेरा आत्मा ओझल हो जाता है। मैं भाव-प्रधान हू, यह केवल अपने परिणाम ही बनाता है। उसी परिणाम पर शान्ति और अशान्ति निर्भर होती है। मेरा यह आत्मतत्त्व समस्त क्रियाकाण्डोंसे दूर है। ये नाक, कानके आभूषण जो स्वर्णके हैं, ये नाक, कानकी शोभा बढ़ानेके लिये हैं, किन्तु वे ही आभूषण नाक, कानको छेदकर एक घाव बना दें तो वे आभूषण किस कामके हैं ? ये क्रियाकाण्ड चलना, उठना, बैठना, शुद्धतासे हाथ, पैरकी वृत्ति करना, दूसरोंसे अलग रहना, छुवाछूत आदिक इन सब क्रियावोंसे चलना, इन सबका उद्देश्य तो निश्चयधर्मका शृङ्गार करनेके लिये था, किंतु ये क्रियाकाण्ड एक ममताको उत्पन्न करके हमारे ही धर्ममें एक बड़ा रोग पैदा कर दें, बुद्धिको सड़ा दें, बहिर्मुखी दृष्टि हो जाये तो ये क्रियाकाण्डसमूह मेरे किस कामके हैं ? मैं शुभ, अशुभ, मन, वचन, कायके समस्त क्रियाकाण्डोंसे विविक्त हू।

दुर्लभ समागमके सदुपयोगका अनुरोध — भैया ! जो समय गुजर रहा है, वह वापिस नहीं आ सकता। ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिला करता। जो मनुष्य नहीं हैं, ऐसे बहुतसे जीव जो नजर आ रहे हैं, उनकी जिन्दगी तो देखो—भैंसा, बैल, घोडा, गधा आदि जोते जा रहे हैं, पीठ पर चाबुक लगती जा रही है और बांय-बांय करते जा रहे हैं। कितने दुःख वे भोग रहे हैं ? हाकने वाले जरा भी यह निर्णय नहीं कर रहे हैं कि इनकी भी हमारी ही जैसी जान है। कीडे-मकौडे आदि जीवोंकी हालत तो देख ही रहे हो, ये सब भी हम आपकी ही तरह चेतन जीव हैं। हम आपने सुखी होनेका कोई पट्टा नहीं लिख रक्खा है। यह तो थोड़ा पुण्यका उदयकाल है, पर जो दुर्गति अन्य जीवोंकी हो सकती है, वही दुर्गति अपनी भी हो सकती है। इस कारण ससारसे कुछ भय लायें, कुछ धर्मकी ओर रुचि करें।

प्रत्याख्यानसाहसीके परमतत्त्वदर्शनकी पात्रता— अच्छा, अब और आगे चलिए। जैसे मानलो अपने आपको ऐसा निरखते हैं कि मैं इसका प्रेमी हूं, मैं इसका विरोधी हू—इस प्रकारसे राग-विरोध भावमें अपने आपको लपेटकर निरखा करते हैं। उससे भी परे चलें और अपने आपमें देखे कि मैं कौन हूं, कौनसा वह परमतत्त्व है, जिसका आश्रय लेनेसे ससारके सङ्कट नियमसे टल जाते हैं? उस तत्त्वको न निरख पाया तो जैनधर्मका लाभ न लूट पाया, यह आप निश्चित् समझो। उस तत्त्वके निरखनेके लिए इतना भी साहस करना पडे कि सब कुछ विभावोंका परित्याग करना हो, वह भी मंजूर हो सके, इतना जिसमें आत्मविषयक प्रेम हो, रुचि हो, वह ही पुरुष अपने आपमें वर्तमान परमतत्त्वको देख सकता है, जान सकता है।

अन्तर्भेदाभ्यासीकी प्रत्याख्यानपात्रता— अब आगे और चलिए। जो ऐसा समझने वाले हैं कि यह मैं हूं, मैं जानता हू, मुझे सब पता है, मेरेमें सब प्रकारकी जानकारी होती है, जिन जानकारियोंमें हम अपनेको लपेटते हैं, वे सब जानकारियाँ भी परमतत्त्व नहीं हैं, वे जानकारियाँ मिट जाती हैं और कारण पाकर होती हैं। जो जानकारियाँ होती हैं, उनमें ही पहिले अंदाज लगावो कि जान लिया तो क्या कर लिया? जानना हुआ ना? तो जाननेका क्या स्वरूप है? पहिले उस बर्त रहे जाननका स्वरूप ही पकड़ लीजिए। क्या है इस जाननमें, जो कि जानन भी मिला है और राग भी मिला है? जरा उस राग अंश को तो उपयोग द्वारा निकाल फेंको और उसमें केवल जाननमात्र ही देखिए तो इस देखनेसे भी उस परम तत्त्वके जाननेका मार्ग मिलेगा।

दृष्टान्तपूर्वक स्वत्त्वकी प्रसिद्धीकरण— जैसे पानीमें लाल रङ्ग घोल दिया तो पानी लाल हो गया। वस्तुत. वहाँ दो बातें हैं—पानीका स्वतन्त्र शुद्ध स्वरूप है और यह रङ्ग भी है। उस रंगे हुए पानीको देख कर क्या हम ज्ञानसे यह नहीं परख सकते हैं कि रङ्ग इसमें यह है, पानी इसमे यह है? इस रङ्ग बिना भी पानी है, क्या हम यह नहीं जान सकते हैं? जान सकते हैं। ऐसे ही राग और ज्ञान—ये दोनों बर्त रहे हैं हम और आपमें, पर थोडा ज्ञानबलका प्रयोग करें तो क्या हम वहाँ यह नहीं जान सकते हैं कि यह राग अश है, उस राग बिना भी जानन रहा करता है। उस जाननका क्या स्वरूप है? केवल जानन प्रतिभास। उस शुद्ध जाननका जो स्वरूप है, उसको ही अगर जानें तो उस समय जो विशिष्ट पदार्थ है, कुछ विशेष है, वह सब ओझल हो जाएगा। केवल एक सामान्य चित्स्वरूप ही प्रतिभासमें आएगा। ऐसा जो जाननप्रकाश है, केवल प्रतिभास है, उसके आधारभूत जो शक्ति है, तन्मात्र मैं हूं, जिसे चैतन्यशक्ति कहते हैं, चित्स्वभाव कहते हैं।

संसारतारणी नौका— चित्स्वभावरूप यह मैं वह परमतत्त्व हू, जिसका आश्रय करनेसे ससारके सङ्कट नहीं रहा करते हैं। संसारका सङ्कट आगे न रहेगा, यह तो है ही, पर जिस कालमें अप्रवाशम न इस चैतन्यस्वरूपका आलम्बन ले रहे हो, उस कालमें भी एक सङ्कट नहीं है। इस परमतत्त्वको जिनेन्द्र भगवान्ने संसारसमुद्रसे तारनेके लिए नौकाके समान बताया है, जिस नौकामें बैठकर, सुरक्षित नौकामें स्थित होकर बडे-बडे समुद्रोंको पार कर लिया जा सकता है—ऐसे ही इस चैतन्यस्वभावकी नौकामें उपयोगको बिठलाकर अपनेको पार करके इस ससार-सागरके सङ्कटोंसे पार हो सकते हैं। ओह! ऐसा तत्त्वदर्शन जिसने किया है, उसका यह शिवसङ्कल्प होता है कि उन समस्त विभावोंको त्यागकर, मोहको जीतकर इस परमतत्त्वको परमार्थ रीतिसे भाता हू।

शुद्ध चारित्रमें परमतत्त्वकी उपलब्धि— मैं किसकी ओर निगाह डालूँ, किसको जानता रहूं कि मेरा परमकल्याण हो? वह है मेरा ही चैतन्यस्वरूप। जो हम हैं, स्वय हैं, शाश्वत हैं, उसका ध्यान संसारके समस्त सङ्कटोंको नष्ट कर देता है। जिनका उपयोग इस सहज परम आनन्दस्वरूपमें लग गया है, उनकी

भ्रांति तो नष्ट हो ही चुकी है। अब वह पुरुष इसी चैतन्यस्वरूपमें लीन होता है। बस शुद्ध चारित्रकी मूर्ति ये ही साधु-संत हैं। बाहरमें शरीरकी क्रियाएँ प्रवर्तते हुए अपनेको चारित्र हुआ है-- ऐसी जो कल्पना है, वह कल्पना तो भ्रमरूप भी होती है। ये शरीरकी क्रियाएँ तो विवश होकर करनी पड़ती हैं। अब ज्ञानका उदय हो गया तो उसमें यह विवेक चलता है कि यों न करना हो तो यों करलो। जब करना ही पड़ना है तो यों नहीं करना है तो यों कर लो। इस तरह विवेकपूर्वक क्रिया करनेको व्यवहारचारित्र कहते हैं।

व्यवहारचारित्रकी निर्माणविधिका संकेत-- जैसे चलना सबको पड़ता है। गृहस्थजन, व्यापारीजन व्यापारके उद्देश्यसे गमन करते हैं, बैठे रहना उनका भी सम्भव नहीं है और मुनिजन एक स्थान पर रहें तो रागादिक भाव जम न जाएँ, उनसे बचनेके लिए विहार करना आवश्यक है, जब चलना ही पड़ता है, चलना ही पडेगा तो असयमी जनोंकी तरह बिना देखे यों मुँह उठाकर नहीं चलना है, सोच-समझकर देख-भालकर चलना है। असयमी जन सब कुछ खाते हैं, वे खानेके लिए खाते हैं। वे समझते हैं कि वैषयिक-सुख भोगनेके लिए अपना जीवन बना है और इसलिए अनाप-सनाप प्रवृत्ति रखते हैं, किंतु ज्ञानीजन संयमकी साधनाके लिए जीवनको आवश्यक जानकर जीनेके लिए खाते हैं। खाना तो पडेगा ही, पर असंयमी जनोंकी तरह नहीं खाना है, सो शुद्ध चीजें खाते हैं। कायर बनकर न खावे तो शूर बनकर खावे, आसक्त होकर न खावे तो विरक्त होकर खावे। इस प्रकारका चलना, क्रिया करना, भोजन करना आदि व्रत मान लिया है। सो कुछ करना पडेगा ही, उसमें विवेक रखना--इसका नाम है व्यवहारचारित्र। यह ही स्वयं चारित्र नहीं बन गया, किन्तु जिससे मुक्त होना हो, इस परमतत्त्वके ज्ञानमें अपने उपयोगको स्थिर बनाना हो--यह है शुद्ध चारित्र। ऐसे शुद्ध चारित्रकी जो महात्मा मूर्ति हो गये हैं, उन महात्मावोंके निरन्तर प्रत्याख्यान होता है।

परमतत्त्वके प्रकाशमें निरन्तर प्रत्याख्यान— प्रत्याख्यान मायने त्याग है। बाह्यदृष्टि वाला यदि कोई त्याग करता है तो क्या रात-दिन त्याग करता फिरता है? बाह्य त्यागीने घर छोड़ा, अब घर तो रहा ही नहीं, दुबारा क्या घर त्यागे? धन छोड़ दिया तो धन तो रहा नहीं, अब क्या त्यागे? बाहरी त्याग निरन्तर कभी नहीं हो पाता है। जब मनमें वैराग्य हुआ था, तब बाह्यपरिग्रहका त्याग कर दिया; किंतु यहाँ इस परमतत्त्वके प्रकाशमें तो देखो कि कैसा निरन्तर उस परमतत्त्वके अनुभवमें शुद्ध चारित्र जगा है? सो इस चारित्रवान् संतके निरन्तर प्रत्याख्यान है। वह प्रत्याख्यान है सर्वविभावोंका, सर्वविकल्पोंका। यों प्रत्याख्यानके अधिकारमें मूल बात कही गयी है, जिसका सहारा लिए बिना किसीका गुजारा नहीं है।

प्रत्याख्यानके यथापदाधिकारी-- गृहस्थजन यह न जानें कि यह तो साधुवोंकी बात कही जा रही है। उस परमतत्त्वके दर्शन बिना सम्यक्त्व भी नहीं जग सकता है। गृहस्थ क्या सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं? होते हैं। जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हैं, उनको नियमसे इस चैतन्यस्वरूप अन्तःप्रकाशमान् निःसङ्कट निर्विकल्प परमतत्त्वका दर्शन हुआ है। अन्तर केवल स्थिरताका रह जाता है। गृहस्थोंके अनेक झंझट हैं, वे इस तत्त्वमें स्थिर नहीं रह पाते हैं, लेकिन जो उपासक हैं उन्हें यह ध्यान है कि मेरे करनेका काम उस परमतत्त्वमें स्थिर रहना है। जो पुरुष परपदार्थोंमें उपयोग बसाए रहते हैं, अपने आपमें उठे हुए औपाधिक रागादिक भावोंमें ममता, अहङ्कारकी बुद्धि बनाये रहते हैं, जो पुरुष वस्तुस्वरूपके शुद्ध प्रतिपादन करने वाले जिनेन्द्रमार्गके सिवाय अन्य मार्गोंमें रागद्वेष और विकल्पमें अपना उपयोग फँसाए रहते हैं—ऐसे त्यागियों तकके भी जिन्होंने घर-द्वार छोड दिया है, उन तकके भी प्रत्याख्यान नहीं होता। उनका तो फिर संसारमें ही भ्रमण चलेगा।

ज्ञानीके प्रत्येक परिस्थितियोंमें साधनाका साहस— देखो अपनी बात, देखो अपनी शाश्वत रहने वाली

आनन्दभरी बात और मोह-ममतामें आपको कुछ न मिलेगा। यह जीवन यों ही नहीं खो देना है। अरे, अपने आपमें विराजमान् इस निर्मल गुणमय शुद्ध सहज आत्मामें जो नियतरूपसे रहता है, उसे निरखो। इसके ही निरखनेके प्रसादसे जो केवल आत्मा रह गये है, सिद्धप्रभु हुए है, उनमें तो यह अतिशयरूपसे एकदम प्रकट विराजमान् है—ऐसे इस निजतत्त्वको अपने आपमें विराजा हुआ जानो। क्यों काम-वेदना से पीड़ित होकर इन्द्रियविषयोंको लक्ष्यमें रखकर, इन असार बातोंमें फँसकर अपना जीवन गँवा रहे हो? इतना बल अपनेमें बनावो कि कैसी भी स्थिति गुजरे, हमें घबराना नहीं है, कैसी ही निर्धनता छाए, कैसे ही निर्जन हो जायें, पर घबराना नहीं है। जैसे कोई चतुर व्यापारी हो तो वह ऐसा दम भरता है कि सरकार कैसे ही कानून बनाए, पर मैं सबमें अपना साधन बना सकता हूं। अरे, यह तो लौकिक बात है। यह भी दृष्टि दो कि कर्मोंके किसी भी प्रकारके उदयमें मुझ पर कैसी ही परिस्थिति बीते, उन सब परिस्थितियोंमें अपना साधन बना सकता हू और जो मेरा मूल उद्देश्य है, इस परमशरण चैतन्यतत्त्वको ग्रहण करना है। उस धर्ममें मैं रञ्च भी आँच न आने दूंगा।

ज्ञानीका सहजविश्राम— क्षमाशील ज्ञानी पुरुष अन्त.सहजविश्राम प्राप्त करता है। अज्ञान अवस्था ही एक महान् सङ्कट है, अन्य कुछ सङ्कट नहीं हैं। वस्तुके स्वतन्त्रस्वरूपकी सुध न रहना और मैंने अमुकको यों किया, इस प्रकारका विकल्प चलना, यह एक सङ्कट है। सङ्कट और किसी बाह्यपरिणतिका नाम नहीं है। ज्ञानी पुरुषके न शत्रुताका परिणमन है और न मित्रताका परिणमन है। उसका न तो किसी के साथ वैर है और न किसीके साथ राग है। वह सहज वैराग्यमें परिणत है। ज्ञानी अपने आपमें शिवसङ्कल्प कर रहा है कि मैं परमसमाधिको प्राप्त होता हू। अज्ञानीजन तो कपायोंसे थककर, झक मारकर विश्राम लेते हैं। होने दो, मरने दो, मुझे मतलब नहीं, यह उसके एक अज्ञानकी अकुलाहट है, पर ज्ञानी पुरुष वस्तुस्वरूपके जाननेके कारण सहजविश्राम ले रहा है। मै उत्कृष्ट परमसमाधिको प्राप्त होता हूं, जिससे परमसमताका भाव व्यक्त होता है।

धर्मात्माके उपयोगमें धर्मसाधनाका महत्त्व— भैया! यह बाह्यपरिस्थिति क्या है? आज है, कल नहीं है, इसमें मेरा क्या पूरा पड़ता है? जब तक जीवित हू, तब तक यह है, बादमें साराका सारा छोड़कर जाना होगा। इसमें उपयोग फँसानेमें कुछ भी लाभ नहीं है। इसके प्रति तो यह बल रहना चाहिए कि आवो जो कुछ आता हो, इसमें मेरा कुछ अटका नहीं है। मैं सब परिस्थियोंमें अपनी धर्मसाधना बना सकता हू—ऐसा बल गृहस्थोंके होना चाहिये। यदि ऐसा बल न आ सके तो उसको सुखी करने वाला दुनियामें कोई नहीं हो सकता है। कौन रिश्तेदार कृपा कर सकता है कि आपके सकटोंको मेटे? कौन मित्र ऐसा है कि जो आपके सङ्कटोंको बॉट ले? आपका ही बल, आपका ही साहस आपके सङ्कटोंको मेट सकता है।

पुराणपुरुषोकी चर्यामें आस्था— अपने पुराणपुरुषोंकी चर्या पर विचार करो कि क्या किया था उन्होंने? त्यागी रहे, निर्ग्रंथ हुए, आत्मसाधनामें लगे और उन्होंने सदाके लिये आनन्द प्राप्त किया। ऐसा ही करनेकी यदि हम आपकी धुन न हो, लक्ष्य न हो तो बेकार हैं। न कर सकें, यह दूसरी बात है, पर उस ओरका लक्ष्य ही न हो तो उसकी श्रावक संज्ञा नहीं है, उसे उपासक संज्ञा नहीं है। नाम तो कुछ भी अपना रख लो। धर्मात्माजनोंकी, अपने पुराणपुरुषोंकी चर्यामें आस्था रहती है कि उन्होंने जो किया ठीक किया, यही हमें करना चाहिए था। ऐसा यह अन्तरङ्ग शुद्ध चारित्र जो पापरूप वृक्षके वनोंको जला देनेमें समर्थ है, अग्निकी तरह प्रज्वलित है, वह चारित्रसयमी जनोंके प्रकट होता है।

त्यागमें आनन्द— यह प्रत्याख्यान सहज-सुखका देने वाला है। सुख त्यागसे मिलता है, ग्रहणसे नहीं मिलता है। अजमा-अजमाकर देखते जावो। जिन्हें आप लोग सुख कहते हैं, वे भी त्यागसे मिल रहे हैं,

ग्रहणसे नहीं। कलके दिन भोजनमें आनन्द मिलेगा, यह आज आप भोजन त्याग दें तो मिलेगा। खाते रहो दिनभर तो यह आनन्द न मिलेगा। ये पचेन्द्रियके विषय भी तब सुखके कारण बनते हैं, जब विषयों का त्याग कर दें। लगे रहें विषयोंमें तो विषयोंमें भी आनन्द नहीं मिल सकता। जब विषयोंका आनन्द पानेके लिए त्याग करना जरूरी हो जाता है तो विषयोंका सदाके लिये त्याग कर दें तो वहाँ किस प्रकारका अद्भुत आनन्द होता होगा, उसका अनुमान ही कर लीजिए।

परमतत्त्वका अभिनन्दन— जिस सहज तत्त्वके आलम्बनसे मोहांधकार नष्ट होता है, वह तत्त्व सदा जयवंत रहो, सबमें प्रकट हो, सबके सङ्कट मिटे। यह आनन्द अद्भुत आनन्द है। लौकिक सुख तो ईर्ष्या और अनुदारताको समर्थित करने वाला है। दूसरोंका सुख देखकर ईर्ष्या हो जाती है अथवा ऐसा विचारता है कि यह धनी न बने, मेरे धन बढ़े, इसके न बढ़े, इस पर धन बढ़ गया तो हम निर्धन रह जायेंगे। अपना धनीपना बढ़ाने के लिये दूसरोंको निर्धन बनाये रखना इस लौकिक सुखमें आवश्यक है, किन्तु इस परमार्थभूत आनन्दमें यह कोई ऐब नहीं है। अरे, मेरी ही तरह सारा जगत् आनन्दमय हो जावे, मेरे आनन्दको कोई छुड़ा न लेगा। यह आनन्दमय परमतेज, यह हमारा ज्ञान रसास्वादनका ही बढ़ाने वाला है, दूसरा कोई नहीं है। यह तत्त्व आपेक्षिक शाश्वत है, निर्दोष है, लोकोत्तम है, ससार-समुद्रमें डूबे हुए इन जीवोंको पार करने के लिए नौकाकी तरह है। इस ससारके सयोग-वियोग, सभी क्लेशोंको नष्ट करनेके लिए यह नौकाकी तरह है— ऐसे इस सहज तत्त्वको मैं पहिले प्रमादको हटाकर, अपने उपयोगको शुद्ध रखकर, इसीको सर्वस्व समझकर मैं भावनमस्कार करता हू अर्थात् मेरा झुकाव केवल एक इस परमपिता चैतन्यप्रभुकी ओर ही रहे।

प्रत्याख्यानमय सहजतत्त्वका आश्रय— इस प्रकार यह मूलका साधक पुरुष प्रत्याख्यानमय इस सहजतत्त्वका आश्रय ले रहा है। जिसने इस सहजतत्त्वका आश्रय लिया, पापरूपी वैरियोंका ध्वंस किया, सर्वकर्मोंसे दूर हुए, जिस तत्त्वको बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी प्रणाम करते हैं और जिस विकासमय प्रभुका बड़े-बड़े योगीजन भी ध्यान करते हैं, जो सर्वगुणोंका धाम है—ऐसे इस सहजतत्त्वको हम परमनमस्कार करते हैं और एक ही यह निर्णय रखते हैं कि मेरा सहायी केवल निजमें विराजमान् इस शुद्ध स्वभावका आलम्बन ही है और जगत्में अन्य कुछ शरण नहीं है। अब समस्त विकल्पोंको त्यागकर निर्विकल्प परमशरण कारणसमयसाररूप निज सहज परमतत्त्वका, चित्स्वभावका आलम्बनरूप शरण गहो। इसीसे निश्चयत सकल अपराधोंका प्रत्याख्यान होता है।

❀ इति नियमसार प्रवचन सप्तम भाग ❀

—:०❀०:—

नियमसार प्रवचन अष्टम भाग

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जयेहिं वदिरित्तं ।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ॥१०७॥

परमालोचना और उसका अधिकारी— जो प्राणी नोकर्म और कर्मसे रहित, विभावगुणपर्यायसे पृथक् आत्माको ध्याता है, उस श्रमणके आलोचना होती है। इस अधिकारमें आलोचनाका वर्णन है। व्यवहार में लोग अपने पापकी आलोचना करते हैं, जैसे कि आलोचनापाठमें बहुत विस्तारसे वर्णन है। निश्चय से आलोचना क्या कहलाती है? इसका वर्णन इस परम आलोचना अधिकारमें किया जा रहा है। आत्माका मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना, सो तो है। वास्तविक परमार्थव्रत और ज्ञाताद्रष्टा न रहकर किसी अन्य विभावमें उपभोगको उलझाना, वह है इसका अपराध। निश्चयापराधकी आलोचना करना सो परमालोचना है और व्यवहारिक अपराधकी आलोचना करना व्यवहारालोचना है। अपने आत्माका जैसा यथार्थस्वरूप है, उस स्वरूपकी दृष्टि करें तो सच्ची आलोचना होती है।

शरीरसे विविक्त आत्माके प्रकाशमे सहज परम आलोचना— आलोचनाका प्रयोजन है दोषोंकी शुद्धि करना। जो दोष कर रहे हैं, उन दोषोंका निराकरण करना, इसका नाम आलोचना है। व्यवहारमें जो लोग अपने गुरुजनोंके पास जाकर अपराधकी आलोचना करते हैं कि मुझसे यह अपराध हुआ तो यह व्यवहार आलोचना है और निश्चयसे अपने आपके प्रभुको रुचिपूर्वक निरखें तो इसमें परम आलोचना हो जाती है। यह मै शरीरसे न्यारा हू। यदि मैं शरीर ही होऊँ तो फिर मरना तब कहलायेगा, जब कोई जबरदस्ती आग लगा दे और जला दे, क्योंकि शरीर ही तो मैं हूं। जब तक कोई जलाये नहीं, तब तक उसका मरना न होगा, क्योंकि लोकमे जिसे लोग मरना कहते हैं, उसमें भी शरीर तो पूरा बना हुआ है। इस कारण शरीरका नाम जीव नहीं है। जीव शरीरसे पृथक् कोई स्वतन्त्र पदार्थ है।

एकक्षेत्रावगाहीपर पदार्थोंसे भी आत्माकी विविक्तता— मैं शरीरसे न्यारा हू और कर्मोंसे न्यारा हूं। इस कथनमें एक क्षेत्रमें रहने वाले जो परपदार्थ हैं, उनका वर्णन चल रहा है। धन, मकान—ये तो प्रकट न्यारे हैं। ये मेरे आत्माके साथ कहा चिपटे-फिरते हैं? आज जिस मकानमें रह रहे हैं, उसे अपना मान रहे है, कल जिस मकानमें रहेंगे, उसे अपना मान लेंगे। मरकर जहाँ जायेंगे, उसे अपना मान लेगे। मकान-वैभव कहाँ चिपटे फिरते हैं? आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाहमे जो रह रहे हैं, उनकी बात सुनिये। पहिली चीज तो यह शरीर है। आत्मा जहाँ जाता है, भले ही किसी दिन छूट जाए, मगर जब तक सम्बन्ध है, तब तक तो आत्माके साथ शरीर है, शरीरके साथ आत्मा है और एक क्षेत्रमें रहने पर भी इस शरीरसे मैं न्यारा हू। फिर शरीरके बाद दूसरा नम्बर आता है परपदार्थोंमें कर्मोंका। इन कर्मोंसे भी मै न्यारा हू। शरीरका नाम नोकर्म है और कर्मका नाम कर्म है। नो का अर्थ थोड़ा है यानी कर्मके बाद दूसरा नम्बर आता है नोकर्मका। कर्म तो मरने पर भी साथ जाते हैं। नोकर्म नाम शरीरका है। शरीर यहीं रह जाता है, जीव चला जाता है। तो जीवके साथ जो कर्म बँधे हैं, वे कर्म भी चले जाते हैं, इसलिए कर्म अव्वल नम्बरका उपाधि है और शरीर द्वितीय नम्बरकी उपाधि है, इसी कारण शरीरका नाम नोकर्म रखा है।

शरीरोंका संक्षिप्त विवरण— शरीर ५ प्रकारके होते हैं— औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। औदारिक शरीर मनुष्य व तिर्यंचोंके होता है, वैक्रियक शरीर देव-नारकियोंके होता है। आहारक शरीर ऋद्धिधारी प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मनुष्योंके जब कोई तत्त्व शंका हो या चैत्यालयोंकी वंदना का भाव हो, तब प्रकट होता है। ये तीन शरीर भोगमें आते हैं, पर जिनका भोग न हो—ऐसे ये दो शरीर हैं— (१) तैजस, (२) कार्माण। भोगका अर्थ है, जिसमें इन्द्रियाँ लगी हैं, मन है, इन्द्रिय और मनसे जहां कुछ प्रवृत्ति होती है, वह है भोग वाला शरीर। तैजस शरीर कहते हैं इन मिले हुए औदारिक और वैक्रियक शरीरमें जो तेज पैदा करे, कांति पैदा करे, जिससे यह जाँच लेते हैं कि इस शरीरमें तेज है, अब इस शरीर कुछ भी तेज नहीं रहा, यह मर गया, ठण्डा हो गया शरीर। तो जिस शरीरके न रहने पर यह औदारिक शरीर ठण्डा हो जाता है, उसे तैजस शरीर कहते हैं। यह तैजस शरीर भी मरने पर साथ जाता है। औदारिक, वैक्रियक यहीं रह जाता है। ५वाँ शरीर है कार्माण शरीर। कर्म और कार्माण कुछ अलग बातें नहीं हैं, किन्तु उन बँधे हुए कर्मोंका शरीराकार निर्माण हो जाए तो उनका नाम है कार्माण शरीर। जैसे ईंट और भींत। ईंटोंका ही समूह भींत है, पर ईंट नाम तो सामान्य है। बिखरी पड़ी हों, तिस पर भी ईंट हैं, सभी अलग-अलग हों, तब भी ईंट कहते हैं, भींतमें लगी हों, उन्हें भी ईंट कहते हैं, अगर ईंटोंको जड़वाकर मकानके रूपमें रख लें, उसे भी भींत कहते हैं। ऐसे ही कर्म और कार्माण शरीर हैं। भींतकी तरह तो है कार्माण शरीर और ईंटकी तरह मान लो कर्म। ये दोनों शरीर सूक्ष्म होते हैं। मरनेके बाद कैसी ही मजबूत छत हो, काँच लगे हुए कितने ही आवरण हों, यह तैजस शरीर, कार्माण शरीर और जीव उसमेंसे निकल जाता है और उस भींत को या काँचको किसी तरहकी आंच नहीं आती है। कितना सूक्ष्म यह जीव है ? यह तो अमूर्त है ही, किन्तु तैजस कार्माण, पौद्गलिक होने पर भी ऐसा सूक्ष्म है कि वज्रमें से निकल जाये। इन पाँच प्रकारके शरीरोंसे रहित जो आत्मस्वरूपका ध्यान करता है, उसके परम आलोचना होती है।

कर्मका संक्षिप्त विवरण— कर्म ८ प्रकारके हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय— ये चार आत्माके गुणोंका घात करने वाले हैं और इन चारोंके काममें मन्द दे सकें— ऐसे चार कर्म और हैं—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। ये ८ प्रकारके द्रव्यकर्म हैं। कर्मोंके बारेमें सभी सिद्धान्तोंके लोग अपनी-अपनी कुछ कल्पना किया करते हैं, पर यह है कर्म, उसका यह रूपक है—ऐसा मैटर है, यह विशद जानना आवश्यक है। कोई कहते हैं कि तकदीरकी रेखायें खोपड़ीमें खिची रहती हैं। मरघटमें पड़ी हुई कोई खोपड़ी दिख जाये तो उसमें देखोगे कि कुछ रेखाएँ होती हैं। स्वाभाविक है कि थोड़ी बहुत रेखायें दीखें तो उनको ही देखकर कुछ लोग कहते हैं देखो, यह तकदीर लिखी है। तकदीर खोपड़ी में नहीं लिखी होती, न कोई रेखाका नाम है। तकदीर कहो, भाग्य कहो, कर्म कहो, किसका नाम है, सो सुनिये।

कर्मकी रूपरेखा— कर्म दो तरहके होते हैं—एक भावकर्म, एक द्रव्यकर्म। भावकर्म तो जीव जैसा परिणाम करता है, रागके, द्वेषके, विकल्पके जिस प्रकारके परिणाम करता है, उन परिणामोंका नाम है भावकर्म। और उन परिणामोंके कारण लोकमें भरी हुई जो सूक्ष्म कार्माण वर्गणाएँ हैं, पुद्गल हैं, जो जीवके साथ भी लगी हुई हैं, उनमें ऐसी शक्ति का आ जाना कि वे जब उदयमें आयें तो उनका निमित्त पाकर यह जीव विह्वल हो जायेगा, ऐसी शक्ति वाले सूक्ष्म पुद्गलका नाम है कर्म। उन कर्मोंका रङ्ग, रूप यद्यपि सूक्ष्म है तो भी श्वेत बताया गया है। इसका प्रमाण यह है कि जब यह जीव शरीरको छोड़कर जाता है तो रास्तेमें इसके रूपका वर्ण शुक्ल बताया गया है। जीवमें तो रूप है नहीं। वह शुक्लरूप किसका है ? जो तैजस व कार्माण शरीरका पिंड है, उसका वह शुक्ल रूप है। जैसे इस दृश्यमान् पुद्गल

में रूप, रस, गध, स्पर्श होता है—ऐसे ही इस कार्माण शरीरमे, इन कर्मोंमें भी रूप, रस, गध, स्पर्श होता है, किन्तु ये कर्म इतने सूक्ष्म होते हैं कि वज्रको, कॉचको पार करते हुए चले जाते हैं। ऐसा यह मैं इन ज्ञानवरणादिक अष्ट कर्मोंसे भी रहित हू। यों कर्मोंसे भी रहित जो आत्माका ध्यान करता है, उसके आलोचना होती है।

स्वभावदर्शनसे परम आलोचना— यह आलोचनाका पात्र ज्ञानी पुरुष अपने आपको दोषरहित निरख रहा है कि मुझमें किसी प्रकारका दोष नहीं है। यह दृष्टि स्वभावकी रख करके कही जा रही है। अपने स्वभावको निरखे तो स्वभावमे कोई दोष नहीं है। प्रत्येक पदार्थ स्वभावदृष्टिसे शुद्ध हुआ करता है। स्वभाव ही अशुद्ध हो जाए तो फिर वह कभी शुद्ध हो ही नहीं सकता है। स्वभाव नहीं बिगड़ता है, किन्तु उपाधिके सम्पर्कमें कुछ बाह्यवृत्ति बिगड़ जाती है। यों कर्म और नोकर्मसे रहित आत्मस्वभावको निरखने वाला ज्ञानी पुरुष परम आलोचना कर रहा है। व्यवहारकी आलोचनामें गुरुसे की जाती है और निश्चय से आलोचना अपने आपके स्वभावके दर्शनमें पूर्णरूपसे बन जाती है। यह जिस दृष्टिमें कहा जा रहा है, उस दृष्टिकी परख बिना ये बातें सब अटपटी मालूम होंगी। क्या मुझमें कर्म नहीं हैं ? क्या मुझमें शरीर नहीं है ? अरे ! यह समस्त परपदार्थोंकी अपेक्षा छोड़कर निर्विकल्प आत्माकी जो सत्ता है, सत्ताको ग्रहण करने वाला जो निश्चय द्रव्यार्थिकनय है, उसकी अपेक्षासे यह बात जानी जाती है।

निर्दोष अन्तस्तत्त्वके दर्शनसे दोषनिराकरण-- यह मैं आत्मा इन कर्मों और नोकर्मोंसे रहित हू, आनन्दमग्न हू, मेरे स्वरूपमे दूसरे पदार्थका स्वरूप नहीं घुसा है, मैं केवल अपने असाधारण चैतन्यस्वरूपमात्र हू—इस तरह ये समस्त कर्म और शरीरसे मुक्त अमूर्त ज्ञानप्रकाशमात्र अपनेको निरखना ही परम आलोचना कहलाती है। यह अधिकार परम आलोचनाका चल रहा है। अपने दोषोंकी कड़ीकी आलोचना करना, जिसमें ये दोष फिर ठहर न सकें, इन दोषोंको पूरा दण्ड देना, इसका नाम है परम आलोचना। दोषोंका दण्ड दोषोंसे रहित अपने आपको निरखनेमे स्वयमेव हो जाता है। ये दोष न टिकें, न रहें---ऐसा बनाना, यही तो दोषोंका उत्कृष्ट दण्ड है। इस परम आलोचनामें सर्वदोषोंसे रहित अपने आत्मतत्त्वको निरखा जा रहा है। यों परपदार्थरूप कर्म और नोकर्मसे रहित आत्माको निरखो। अब आत्मामें ही होने वाले विरुद्ध परभाव व विभावरूप परिणमनसे भी भिन्न अपने आपको निरखनेका उद्यम ज्ञानी करता है।

आलोचनाके पुरुषार्थमें कार्यसमयसार व कारणसमयसारका ध्यान—जो पुरुष शरीरसे रहित, कर्मसे रहित और विभावगुणपर्यायसे रहित आत्माको ध्याता है, उस साधुके आलोचना प्रकट होती है। ध्यान देकर सुननेकी बात है। इसमे ऐसे आत्माका ध्यान किया गया है, जो शरीरसे रहित है, कर्मोंसे रहित है और विभावगुणपर्यायोंसे रहित है—इन तीन विशेषणोंमेसे दो जगह दृष्टि जाती है। सिद्धभगवान् भी ऐसे हैं कि वे शरीरसे रहित हैं, कर्मोंसे रहित है और विभावगुणपर्यायसे रहित हैं और अपने आपमें अनादि अनन्त विराजमान् जो चैतन्यस्वभाव है, वह स्वभाव भी ऐसा है कि शरीरसे रहित है, कर्मोंसे रहित है और विभावगुणपर्यायोंसे रहित है। ऐसे इस आत्माका ध्यान करना, इसमें श्रमणके आलोचना प्रकट होती है। इसमें भी विश्लेषण करके देखो तो परपदार्थरूप जो शुद्ध सिद्धात्मा हैं, उनके ध्यानमें जो आलोचना होती है, उससे भी अभेदरूप आलोचना निज चैतन्यस्वभावके ध्यानसे होती है।

विभावगुणपर्यायकी व्याख्या व ज्ञानगुण पर उसका उदाहरण-- भैया ! विभावगुणपर्याय क्या है ? इस सम्बन्धमें इसका विवरण देखिये। विभावगुणपर्यायमे तीन शब्द है--विभाव, गुण और पर्याय। विभाव का अर्थ वह है, जो स्वभाव नहीं है, किंतु किसी परोपाधिका निमित्त पाकर परिणमन हुआ है, उस परिणमनका नाम विभाव है। गुण नाम है पदार्थकी अनादि अनन्त शक्तिका। उस गुणकी जो पर्याय है,

उसका नाम गुणपर्याय है। जो गुणपर्याय विभाव है, उसका नाम विभावगुणपर्याय है। आत्मामें ज्ञान, दर्शन, आनन्द, श्रद्धा, चारित्र आदिक अनेक गुण हैं। उन गुणोंका जो निरुपाधि परिणमन है, वह तो है स्वभावगुणपर्याय और उपाधि निमित्तको पाकर उन गुणोंका जो परिणमन है, उसका नाम है विभावगुणपर्याय। जैसे ज्ञानगुणके विभावपरिणमन हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान—ये ७ विभावगुणपर्याय हैं और केवलज्ञान स्वभावगुणपर्याय है। इसमें अन्तर इतना है कि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय—ये चार तो हैं सम्यक्विभावगुणपर्याय, क्योंकि ये सम्यग्दृष्टिके होते हैं और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि—ये हैं मिथ्याविभावगुणपर्याय, पर हैं दोनों विभावगुणपर्याय। क्योंकि मति, श्रुतके होनेमें भी कर्मोंका क्षयोपशम निमित्त पड़ता है, उसमें देशघाती स्पर्द्धकका उदय है। जिसमें कर्मोंके उदयका निमित्त पडे, वह सब विभाव है। क्षयोपशमिक भावमें देशघाती स्पर्द्धकका उदय निमित्त होता है। जिसमें किसी भी प्रकारका रञ्च भी उदय निमित्त हो, वे सब विभावपर्यायें हैं।

दर्शन, श्रद्धा व चारित्रगुण पर विभावपर्यायोंका उदाहरण—दर्शनगुणमें चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन—ये तीन विभावगुणपर्याय हैं और केवलदर्शन स्वभावगुणपर्याय है। श्रद्धागुणका मिथ्यात्व, सासादन, सम्यक्मिथ्यात्व—ये विभावगुणपर्याय हैं और औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—इनमें दो तो स्वभावगुणपर्याय हैं, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी स्वभावगुणपर्याय हैं, किंतु वहाँ जो एक सम्यक्प्रकृति का उदय रहता है, जिससे चल, मलिन, अगाढ दोष होते हैं—ऐसा वेदक सम्यक्त्व सम्यक्विभावगुणपर्याय है। औपशमिक सम्यक्त्व भी कर्मके अभावमें नहीं है, कर्मोंके उपशमसे है, वह मिट जाता है, किंतु सम्यक् है, सो सम्यक् विभावगुणपर्याय है। इसी प्रकार अन्य गुणोंमें भी ले लो। जैसे चारित्रगुणमें स्वभावगुणपर्याय तो अकषाय है, जो १६वें नम्बर पर कषायमार्गणामें आप लोगोंने पढ़ा है। कषायमार्गणामें और २५ जो कषाय हैं, ये चारित्रगुणके विभावगुणपर्याय हैं। यह ध्येयभूत आत्मा विभावगुणपर्यायोंसे रहित है।

परमतत्त्वका विभावव्यञ्जनपर्यायसे रहितपना— इस गाथामें विभावगुणपर्यायोंसे रहित है—ऐसा शब्द दिया है, पर जो विभावगुणपर्यायोंसे रहित है, वह विभावव्यञ्जनपर्यायसे भी रहित हो जाता है व होता है। ऐसी दृष्टि रखकर यह भी चौथा विशेषण समझना कि विभावव्यञ्जनपर्यायसे रहित आत्माके ध्यानमें आलोचना होती है। व्यञ्जनपर्यायका अर्थ है जिस पर्यायका आकारसे सम्बन्ध रहे। जैसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव—ये जो चार गतियाँ हैं इन चार गतियोंमें शरीरका जो ढाँचा है, जिसे निरखकर हम यह जानते हैं कि यह मनुष्य है, यह तिर्यञ्च है इत्यादि, वह व्यञ्जनपर्याय कहलाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ—ये विभावगुणपर्याय हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी—ये सब विभावव्यञ्जनपर्याय हैं। यहाँ दो शब्दों पर ध्यान दो—गुण और व्यञ्जन। क्रोध, मान आदिकके आकार नहीं होता। क्या किसीका क्रोध तिकूटा या चौकोर आदि होता है? क्या किसीके मान, माया, लोभ आदि गोल-मटोल होते हैं अथवा लम्बे-चौडे होते हैं? नहीं। गुणपर्यायमें कोई आकार नहीं होता है; विभावव्यञ्जनपर्यायमें आकार होता है। यह पशु इतना लम्बा है, इतना चौड़ा है, यह पक्षी इतना लम्बा है, इतना चौडा है, इतना ऊँचा है—इस तरह ऐसे व्यञ्जनपर्यायमें आकार होता है।

स्वभावव्यञ्जनपर्याय— सिद्धभगवान्के व्यञ्जनपर्यायको स्वभावव्यञ्जनपर्याय कहते हैं। उनके शरीरके आलम्बनसे आकार नहीं निरखा जाता है, किन्तु जिस शरीरसे वे मोक्ष गये हैं, उस शरीर प्रमाण ही अब वे रह गये हैं। न उससे हीन है, न उससे अधिक है। इसका कारण यह है कि जो मुनि जितने लम्बे चौड़े शरीरको छोड़कर मुक्त होता है तो जीव जो अपना लम्बा-चौड़ा आकार बनाता था, वह कर्मोंके उदयसे

बनाता था, अब मुक्त होने पर कर्म तो रहे नहीं। तो जो भी आकार उसका आखिरी समयमें था, वह आकार अब बतावो कैसे घटे या बढ़े? घटनेका कारण भी कुछ नहीं है और बढ़नेका कारण भी कुछ नहीं है। जीवके आकारमें घटने और बढनेका कारण कर्मोंका उदय था, अब वह रहा नहीं। इस कारण जिस शरीरसे मोक्ष गए हैं, उस शरीरप्रमाण उनका आत्मा रहता है। तो उस आकारमें जो शुद्ध अमूर्त जीवद्रव्यका फैलाव है, वह है स्वभावव्यञ्जनपर्याय और यह संसारावस्थामें जो जीवका फैलाव है, वह है विभावव्यञ्जनपर्याय।

परम आलोचनामें शुद्ध शक्तिका आश्रय— जो पुरुष विभावव्यञ्जनपर्यायसे रहित परमात्मतत्त्वका ध्यान करता है, उस श्रमणके आलोचना होती है। स्वभावव्यञ्जनपर्यायमें भी जो चैतन्यस्वरूपका ध्यान करता है, उसके भी निश्चयालोचना होती है, पर अभेद निश्चयालोचना, परमालोचना तो जीवके आकार-प्रकार पर दृष्टि न देकर केवल एक शुद्ध शक्ति पर दृष्टि हो तो विशुद्ध परम आलोचना होती है।

गुण और पर्यायका दिग्दर्शन— गुण और पर्याय क्या हैं? इसे भी देखिए। कोई पदार्थ है, वह पदार्थ किसी स्वभावको लिये हुए अवश्य है, क्योंकि पदार्थमें कुछ भी स्वभाव न हो तो वह पदार्थ क्या? पदार्थ का जो स्वभाव है, उसको यथार्थरूपमें प्रतिपादन करनेका कोई साधन नहीं है कि किसीको बता सकें कि पदार्थका यह स्वभाव है। तब उस पदार्थके स्वभावको हम जिन-जिन परिणमनोंमें निरखते हैं, उन-उन कार्योंको बता-बताकर पदार्थस्वभावके शक्तियोंके रूपमें जो हम भेद कर डालते हैं, उसे गुण कहते हैं। जैसे आत्मामें ज्ञानशक्ति है, दर्शनशक्ति है, आनन्दशक्ति है—ऐसे ही अनेक शक्तियाँ बताना, यह एक अखण्डस्वभावको भेद करके बतानेकी बात है। तब जैसे स्वभाव पदार्थके साथ शाश्वत रहता है, एक साथ रहता है, इसी प्रकार ये समस्त गुण ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक समस्त शक्तियाँ इस जीवमें एक साथ रहती हैं। गुण तो सदा एक साथ रहता है, किन्तु पर्याय क्रमसे रहती है। जैसे हम आप सबमें चारित्र-गुण है तो चारित्रगुणकी पर्याय क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अनेक हैं और कषायरहित भी चारित्र-गुणकी पर्याय है, किन्तु प्रत्येक जीवमें एक समयमें कोई एक बात होगी। क्रोध है तो मान, माया, लोभ आदि नहीं हैं, मान है तो क्रोध, माया, लोभ नहीं हैं, तभी तो क्रोधी पुरुषको कषायस्थान बताना है तो उसके सभी क्रोधोंको बता देंगे, पर मान, माया और लोभको नहीं बता सकते। पर्यायें सब क्रमसे हुआ करती हैं।

गुणपर्यायकी अवश्यम्भाविता— इन समस्त गुणपर्यायोंसे भिन्न, किन्तु स्वभावगुणपर्यायोंसे सहित त्रिकाल निरावरण निरञ्जन परमात्माका जो ध्यान करता है, उस श्रमणके निरन्तर परम आलोचना चलती रहती है। यहाँ बताया गया है गुणपर्यायका विवरण। इसमें इतना और जानो कि जब विभाव-गुणपर्याय नहीं होता है, तब पदार्थमें स्वभावगुणपर्याय अवश्य है। कुछ भी विभावगुणपर्याय न हो, तब पदार्थमें स्वभावगुणपर्याय अवश्य है। कुछ भी गुणपर्याय न हो तो पदार्थ रह नहीं सकता। उल्टा परिणामे या सही परिणामे, कुछ न कुछ परिणमता रहे, तब तो पदार्थ है और कुछ भी परिणमन न हो तो वह पदार्थ नहीं है। तो जब विभावगुणपर्यायको न देखा या जिस पदार्थमें विभावगुणपर्याय नहीं है तो उसमें कैसा गुणपर्याय होता है, यह देखने चलें तो वहाँ स्वभावगुणपर्याय दृष्ट होती है।

स्वभावगुणपर्यायका अवलोकन— अब इस स्वभावगुणपर्यायको दो जगह देखो। सिद्धमें कैसा स्वभाव-गुणपर्याय है और हम आप सब जीवोंमें सहजस्वरूपका अवलोकन करें तो वहाँ कैसा स्वभावगुणपर्याय होता है? तो हम आप सबके इस सहजस्वरूपमें, ज्ञानगुणमें जो शुद्ध अर्थपरिणमन हो रहा है, षड्गुण-हानिवृद्धिके कारण जो वहाँ अर्थपरिणमन हो रहा है, वह स्वभावगुणपर्याय है। सिद्धमें यह दोनों प्रकार

का स्वभावगुणपर्याय चल रहा है— षड्गुणहानिवृद्धिके कारण होने वाले परिणमन और समस्त विश्वको एक साथ स्पष्ट जाननेका परिणमन। वहाँ स्वभावगुणपर्यायसे संयुक्त आत्माको देखें तो भी आलोचना है और यहाँ स्वरूपमें स्वभावगुणपर्यायसे संयुक्त आत्मतत्त्वको देखें तो वहाँ भी आलोचना चलती है।

त्रिकाल निरावरण निरञ्जन परमतत्त्व— यह मेरा परमात्मा त्रिकाल निरावरण है। जिस पर आवरण है, उसको नहीं निरखना है। आवरण होते हुए भी अन्तरमें जो स्वरूपसत्त्वके कारण स्वभाव पड़ा हुआ है, उसे देखना है। तो वह त्रिकाल निरावरण है अर्थात् मेरे स्वरूप पर आवरण तक नहीं अर्थात् स्वभाव बदल न सका, वहीका वही रहा। वह स्वभाव व्यक्तरूपसे शुद्ध परिणमन न कर सका, यह बात जरूर है, किंतु अभी यह नहीं कहा जा रहा है। स्वभाव तो स्वभावरूपमें निरन्तर रहता है, यह कुछ अन्य नहीं बन जाता, यह बताया जा रहा है। सहज तत्त्व त्रिकाल निरावरण है अर्थात् आत्माकी यह शक्ति अबाधित बनी रहती है।

स्वभावकी शुद्धता— जैसे भगोनियामें पानीमें रङ्ग घोल दिया, रङ्ग घोलनेके बाद भी यद्यपि वह सारा पानी रंगीला हो गया है, लेकिन वहाँ पर तत्त्व दोनों मौजूद हैं। जो पुड़ियामें सूखा रङ्ग था, आधा तोला वह डाल दिया गया है ना पानीमें। उस आधा तोला रङ्गके परमाणु पानीका आश्रय पाकर बहुत बिखरकर उस आकारमें फैल गये हैं, फिर भी रङ्ग उन-उन रङ्गके परमाणुओंमें ही है, पानीमें नहीं है और पानीमें केवल वह पानी ही है। उसमें रङ्ग डाल देने पर भी पानीका स्वभाव नहीं बदला, पानीका स्वभाव नहीं ढका। यद्यपि पानीका वह उज्ज्वलस्वभाव इस समय प्रकट नहीं है, न हो प्रकट, फिर भी पानीमें पानीका स्वभाव तो प्रकाशमान ही है। ऐसे ही इस ज्ञानके साथ राग द्वेष, विषय-कषायोंका रङ्ग फैल गया है, फैल जाने दो, फिर भी विषय-कषाय इस आत्माके ज्ञानस्वभावमें नहीं प्रवेश कर गये हैं। यद्यपि उन विषय-कषायोंके प्रसारके कारण आत्माका ज्ञानस्वभाव व्यक्त नहीं हो पा रहा है, न होने दो व्यक्त, फिर भी इस आत्मामें अत प्रकाशमान यह चैतन्यस्वभाव बराबर है। ऐसा यह स्वभाव, ऐसा यह कारणसमयसार त्रिकाल निरावरण है और त्रिकाल निरञ्जन है। आवरण और अञ्जन— ये दोनों परतत्त्व हैं। आवरणसे यहाँ अर्थ लेना कर्मोंका। इस पर कर्मोंका आवरण नहीं है। अञ्जनसे अर्थ लेना विषय-कषायोंका। इस स्वभावमें विषय-कषायोंका प्रवेश नहीं है। इस प्रकार त्रिकाल निरावरण और निरञ्जन यह परमात्मतत्त्व है।

निजमें परमात्मतत्त्वका दर्शन— भैया! कहाँ खोजते हो इस परमात्मतत्त्वको जगह-जगह अन्यत्र? उसका दर्शन अपने आत्मामें मिलेगा। मूर्तिमें मन्दिरके समक्ष जो हम परमात्माकी भक्ति करते हैं, वह एक आलम्बन है। यह बाह्यमें स्थित मूर्ति ही स्वयं परमात्मतत्त्व नहीं है, किन्तु हम अपनी असक परि-स्थितिमें मन्दिरकी मूर्तिका सहारा लेकर प्रथम तो हम उस स्वभावशुद्धपरिणमनरूप अरहत सिद्ध पर-मात्माका ध्यान करते हैं और फिर अरहन्त सिद्ध परमात्माका ध्यान करते हुए उनके विकासको सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं तो विकास और स्वभाव चूँकि वहाँ एकरूप हैं, इस कारण वह विकासकी दृष्टि ओझल होकर केवल स्वभावमें उपयुक्त हो जाती है। और जैसे ही परमात्मप्रभुके स्वभावमें दृष्टि गयी कि तुरन्त ही वहां फिर व्यक्ति भेद न रहकर अपने ही स्वभावमें यह बुद्धि लग जाती है। यों अपनेमें बसे हुए इस परमात्मतत्त्वकी उपासनाके लिए हम व्यवहारमें मंदिर-मूर्ति इन सबकी उपासना करते हैं।

परमात्मतत्त्वके दर्शनका अमोघ साधन परमसमाधि— यह परमात्मतत्त्व त्रिकाल निरावरण और निर-ञ्जन है। इसका ध्यान परमसमाधिके द्वारा हो सकता है। हमारा उपयोग जब परपदार्थोंके विकल्पसे रहित हो, एक निर्विकल्प परमविश्रामको प्राप्त किए हुए हो तो वहां समताका भाव प्रकट होता है। उस समताभावसे इस कारणपरमात्मतत्त्वका ध्यान बनता है। यह समताभाव मन, वचन, काय— इन तीन

क्रियावोंके गोपनेसे होता है। यों तीन गुप्तियोंमे गुप्त किए हुए परमसमाधिके द्वारा जो परमश्रमण परमात्मतत्त्वका ध्यान करता है, उस भावमुनिके निरन्तर परम आलोचना होती रहती है। जिस समय इस परमसमाधिके द्वारा इस- त्रिकाल निरावरण निरञ्जन चैतन्यस्वरूपका ध्यान होता है, उस कालमें सब वचनरचना खत्म हो जाती है। व्यवहारमें गुरुके सम्मुख विनयपूर्वक बैठकर अपने अपराधकी आलोचना तो वचनोंसे की जा सकती है, किन्तु परम आलोचना जो कि समाधिभावके द्वारा निज परमात्मतत्त्वके ध्यानमे होती है, उस आलोचनामें वचनरचना काम नहीं देती है, बल्कि जब तक वचनरचना चलती है, तब तक परम आलोचना नहीं होती है। यों इस भावश्रमणके सतत परम आलोचना होती है।

दोषदूरीकरणके लिए आलोचनाकी प्रधान आवश्यकता— आलोचना नाम है अपने वर्तमान दोषोंका दूर करना। मनुष्योंमें यह कमजोरी रहती है कि उनसे कोई दोष बन जाए तो वे अपने दोषोंको जाहिर नहीं कर सकते। उन्हें यह भय है कि मैं अपने दोष दुनियामे जाहिर कर दू तो मेरी इज्जत खत्म हो जाएगी, फिर इस लोकमे मेरा जीना न बन सकेगा, सो वे दोषोंको छुपाया करते हैं। इस लोकमें जो श्रमण, जो ज्ञानी पुरुष अपने दोषोंको दुनियामें प्रकट कर देते हैं, उनके धैर्य और साहसका अनुमान आप कर सकते हैं कि उनमें कितना ज्ञान है और कितनी विरक्ति है? दोषोंको जाहिर करनेसे वे किए हुए दोष बहुत अंशोंमें तो जाहिर करनेसे ही समाप्त हो जाते है और फिर थोड़ा बहुत संस्कार रहता है तो उसका प्रायश्चित्त करनेसे वह समाप्त होता है, किन्तु दोषोंको छुपाते रहनेसे दोष निकल नहीं सकते, दोष बढते रहेंगे। आलोचनामें अपने दोषोंको प्रकट किया जाता है।

व्यवहार आलोचना और परमार्थ आलोचना— गुरुके समक्ष अपने दोषोंको प्रकट करना व्यवहार आलोचना है, इससे दोष दूर किए जाते है और जो ज्ञानी श्रमण एक शुद्ध स्वभाव पर दृष्टि देकर अभेद उपासनामें मग्न हो जाता है, उससे ये दोष तो स्वयं विदा हो जाते है। जिस समय ये सब दोष सहज ही विदा हो जाते हैं, उस समय उसके परम आलोचना कही गई है। ऐसे इस परम आलोचनाके अधिकारमें इस प्रथम गाथामें यह बताया गया है कि जो श्रमण शरीर और कर्मोंसे रहित, विभावगुणपर्याय और विभावव्यञ्जनपर्यायसे रहित आत्माका ध्यान करता है, उस श्रमणके परम आलोचना होती है।

ज्ञानीकी निजतत्त्वमे रुचि— ज्ञानी पुरुष अपने आपमें चिंतन कर रहा है कि जितने भी ये भावकर्म हो रहे हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय, कषाय जो प्रवर्त रहे हैं, ये सब मोहके विलाससे उठकर उदित हो रहे है। यह सब मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसे उन समस्त भावकर्मोंकी आलोचना करके यह ज्ञानी पुरुष अपनेमे शिवसङ्कल्प करता है कि मै अब इससे हटकर चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मामे आत्माके द्वारा नित्य ही बर्तता हू। जो अपनी चीज है, उससे प्रेम करना चाहिए। परकी वस्तुसे क्या प्रेम करना?

अभिमत निजमे रुचिका लोकदृष्टान्त—जैसे लोकमें मोही पुरुषोंने जिन्हें अपना नहीं माना, गैर माना, उनसे नेह नहीं मानते, किन्तु परिजनोंमें जिनमे अपनी कल्पना कर रक्खी हैं, उनसे स्नेह करते है। वही पुरुष कुछ प्रसङ्गवश इन परिजनोंसे भी हटता है। कोई परिवारका सदस्य कषायके अनुकूल न रहे, उनमें मन न रहे तो वह परिजनोंसे हटता है, उन्हें गैर मानता है और अपने शरीरको अपनी चीज मानता है, तब वह कुटुम्बसे हटकर अपने शरीरमें लगता है।

धर्मक्षेत्रके प्रसङ्गमें रुचिका विषय— भैया! कभी सत्सङ्ग हुआ, कुछ ज्ञानीको वार्ता सुनी तो कुछ बोध हुआ कि शरीर भी मिट जाने वाला है। यह मैं नहीं हू, यह पर चीज है। जब शरीरको भी पर जानने लगा मोटेरूपसे तो शरीरसे भी हट गया और व्रत, उपवास, कायक्लेशोंको अपना समझने लगा। अब अपनेको व्रत करना, कल्याणका काम करना—इस ओर धुन लग गई है। अब इसे नाम निक्षेपसे समझ लीजिए और आत्मकल्याणकी धुन लग गई है। अब आत्मकल्याणकी इच्छासे स्वाध्याय ज्ञानाभ्यास अनेक

कार्योंको करते हुए जब यह ध्यानमें आता है कि अहो, ये राग, द्वेष, वितर्क, विचार मोहनीय कर्मोंके उदय से उत्पन्न होते हैं, यह मैं नहीं हू, मैं तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हू, जब यह प्रतिबोध होता है तो उन रागादिक विभावोंसे हटकर एक चैतन्यस्वरूप अपने आत्मामें वर्तनेकी धुन बनाता है। एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश तो निष्कर्म तत्त्व है, इसमें क्रियाचेष्टा नहीं है और न किसी प्रकारका दोष है। इसके अतिरिक्त जितने भी विषयकषायोंके परिणाम हैं, इनमें कर्म बसे हुए हैं। उन सब कर्मोंसे हटकर मैं इस निष्कर्म चैतन्यस्वरूपमें वर्तता हू। यह निश्चय आलोचनाकी बात कही गई है, अब व्यवहारचारित्रविषयक एक प्रक्रियाको देखिये।

व्यवहार आलोचनाके अवसर— यह जीव आत्मशुद्धिके लिए अपने जीवनभर व्रत, तप, संयमकी खूब साधना करता है और उन साधनावोंमें जब जैसा जो कुछ करना चाहिए आगमके अनुकूल, वे सब साधन किए जाते हैं। जब अन्तिम समय होता है, मरण सन्निकट होता है, उस समय यह जीव क्या करता है ? निष्कपट होकर अपने जीवनभर जो भी इससे बना है पापका कार्य या दोष, चाहे वह खुद किया हो, चाहे कराया हो, चाहे समर्थित किया हो याने उसका समर्थन किया हो, उन समस्त पापोंकी यह आलोचना करता है। इस जीवने जीवनमें रोज-रोज आलोचना की है और प्रत्येक पक्षकी समाप्तिके दिन आलोचना की और चार-चार मास गुजरनेके बाद भी आलोचना की, पूरा वर्ष गुजरनेके बाद पूरे वर्षभरकी आलोचना की। कितने ही बार जब भी दोष किया, तब रोज-रोज आलोचना की। १५ दिन तक जो दोष हुए, उनकी पुन: आलोचना की, फिर चार महीनेमें एक साथ उन सबकी आलोचना की, फिर वर्षभरके दोषोंकी आलोचना की। एक ही दोषको वह चार बार बता चुका, लेकिन अब मरणकाल आया है तो जन्मसे लेकर उस समय तकके जितने भी दोष हैं, उन सबकी फिरसे आलोचना करता है।

ज्ञानीका स्वच्छ हृदय— ज्ञानी पुरुष कैसा स्वच्छ हृदयका होता है कि उसे इस लौकिक यश, अपयश की परवाह नहीं है। कोई क्या कहेगा कि उसे इसकी चिंता नहीं है, किन्तु स्वयंमें अपना कल्याणमार्ग सही बने, इसीकी परवाह है। ऐसे पुरुष मरणकालमें समस्त जीवनके दोषोंकी आलोचना करके फिर अन्त तकके लिए महाव्रतको धारण करते हैं अर्थात् सर्वपरिग्रहोंका, पापका परित्याग करते हैं।

स्वदोष आलोचनाका महत्त्व— जो पुरुष अपने दोषोंकी आलोचना ही नहीं करते, उनके दोष कैसे छूटेंगे ? कितने ही व्यामोही जीव तो ऐसे विपरीत होते हैं कि वे दोषोंमें ही चतुराई मानते हैं, दोषोंको दोष भी नहीं समझते हैं, जबकि बड़े ज्ञानी, विवेकी सकलसंयमी, साधुजन अपनी व्रत-तपस्यावोंमें की जाने वाली चेष्टावोंको पर मानते हैं। लोग लालायित होकर व्रत करते हैं, तप करते हैं, जाप करते हैं, सामायिक करते हैं, स्वाध्याय भी करते हैं, किंतु साधु पुरुष उन क्रियावोंको करते हुए यह जानता है कि यह भी एक अपराध है, यह आत्माका गुण नहीं है, किंतु बड़े अपराधसे बचनेके लिए छोटा अपराध भी कुछ मंजूर कर लिया जाता है। जैसे हजार रुपयेका दण्ड हुआ हो और किसी तरहसे दस रुपये ही दण्डके रह जायें तो वह १०) दण्डके खुश होकर दे रहा है, पर भीतर में यह श्रद्धा है कि यह भी दण्ड है, यह भी न देना पड़ता तो भला था। ऐसे ही यह व्रती, ज्ञानी, साधु पुरुष समितिपूर्वक चलना, समितिसहित आहार लेना, समितिसे बोलना, जीवों पर दया करना, संयमसे रहना, शुद्ध आचरण रखना, आरम्भ परिग्रह न करना—इन सब बातोंको कर रहा है, पर यह सब कुछ करते हुए भी यह जानता है कि यह भी अपराध है। मेरा कार्य तो सर्वथा शुद्ध निर्विवाद वह है, जो सिद्धप्रभु किया करते हैं। जो सिद्धभगवान् नहीं कर रहे हैं, वह सब यदि मैं कर रहा हू तो अपराध है। कोई बड़ा अपराध होता है, कोई बड़े अपराध को मेटनेकी गरजसे छोटे अपराध होते हैं। तो दोषोंको दोष समझ लेना—यह भी धर्मपालन है।

परमार्थ कला— भैया ! अपनेमें गर्व न आने दो। मैं बहुत कलाएँ समझता हू, धन भी अच्छा

कमाता हू, व्यवहार भी मैं इतना बढिया करता हूं, जो सबसे नहीं बन सकता है इत्यादि किसी भी प्रकार की चतुराईका गर्व न आना चाहिये, क्योंकि इस लोकमें जितनी भी चतुराई है, वे सब दोष हैं, अपराध हैं, वे वास्तवमें कलाएँ नहीं हैं। वास्तविक कला अरहंत और सिद्धप्रभुमें जाग्रत हुई है। सारा विश्व जिसके ज्ञानमें आ रहा है, किंतु रागद्वेष रञ्च भी न हो, वह है वास्तविक कला। जो कला शुद्ध आनन्दको प्रकट करे, वह तो है ठीक कला और जो किसी प्रकारका अन्धकार बनाए, दोष बनाए, भ्रममें डाले, ससार में रुलाये, वह कला ही कला नहीं है। अपने इस निष्कर्म चेतन्यस्वरूपकी दृष्टि करना, यही एक परमार्थभूत हितकारी कला है।

ज्ञानीका साहस और प्रक्रम— अज्ञानी पुरुष अपने दोषोंको एक बार भी मुखसे नहीं प्रकट करना चाहते, किंतु यह ज्ञानी बार-बार उन दोषोंकी आलोचना करता है। अज्ञानी जन जिन्हें पुण्यका कारण मानते हैं, ज्ञानी उन्हें ससार विषवृक्षका कारण मानता है और जिन्हें लोग पाप कहते हैं, वे तो ससार विषवृक्षका कारण हैं ही। ऐसे इस घोर ससारके जड़रूप जो पुण्य और पापके कार्य हैं, उन सब कार्योंको आलोचित कर करके यह मैं स्वाभाविक शाश्वत शुद्ध आत्माको अपने आत्माके द्वारा ही आलम्बता हू— ऐसी भावना यह ज्ञानी पुरुष कर रहा है।

मोह, माया और विवेक— भैया ! एक इस निजतत्त्वसे हटे कि सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है। जैसे स्वप्नमें देखी हुई बात स्वप्नमें सच मालूम होती है, यों ही मोह-कल्पनामें की गई बात सब सच मालूम होती है। किंतु जैसे जिसकी नींद खुल गयी है, वह स्वप्नमें देखी हुई बातको झूठ समझ सकता है— ऐसे ही जिसने निज ज्ञानस्वरूपका प्रकाश पाया है, जिसके नेत्र खुल गए हैं, जब ज्ञान ज्ञानको जानने लगा है, उस समय यह ज्ञानी जानता है कि ओह, ये सारी प्रवृत्तियाँ ये समस्त सम्बन्ध झूठे हैं और मायारूप हैं।

यथार्थ आरामका उपाय— भैया ! लोग चाहते हैं कि मुझे आराम मिले, पर आराम वास्तवमें है कहाँ ? आराम धनसञ्चयसे नहीं मिलता, आराम लौकिक-सम्पदाकी व्यवस्थामें नहीं मिलता, आराम अपने इष्टजनोंसे प्रेमपूर्ण वार्तायें करनेसे नहीं मिलता, आराम इन्द्रियके विषयोंकी साधना करनेसे, इन्द्रिय-विषयोंको पोषनेसे नहीं मिलता। मिलता हो तो अनुमान कर लो। आराम तो अपने शुद्ध स्वभावके दर्शनमें मिलता है। आराममें बाधा डालने वाले राग और द्वेष हैं। ये रागद्वेष न रहें तो आराम सामने है। जब तक राग और द्वेषकी वृत्ति उठ रही है, तब तक आराम नहीं है। मान लो हजारोंका धन सञ्चय कर लिया है और उसे कुछ आराम मान लिया है, पर थोड़ी ही देर बाद किसी विपदामें पड़ गए तो कहाँ रहा आराम ? सासारिक सुखमें तो सारे दुःख ही दुःख भरे हुए हैं। फिर मैं मौज मानी जाए ? आराम तो वास्तवमें एक शुद्धस्वरूपके ज्ञान करनेमें है, किंतु मोही जीव आरामके खातिर परपदार्थोंके सञ्चयके लिए तन, मन, धन, वचन सब कुछ समर्पण कर देते हैं, किन्तु जो एक सही मार्ग है, सही निधि है, उस ज्ञानदृष्टिके लिए आलसी बना हुआ है, कंजूस बना हुआ है, ज्ञानवृत्ति बनानेका साहस भी नहीं लाता है, उस ओर दृष्टि भी नहीं करता है।

ज्ञानीका आलंबन और विलास— यह ज्ञानी पुरुष इन दोषोंकी आलोचना कर-करके अपने आत्माका अवलम्बन लेता है। इस परम आलोचनाके प्रसादसे द्रव्यकर्मरूप सारी प्रकृतियोंका अत्यन्त विनाश हुआ है। ये प्रकृतियाँ संक्षेपमें १४८ प्रकारकी हैं। इन समस्त कर्मप्रकृतियोंको नष्ट कर दिया है और इसके प्रसादसे अनुपम ज्ञानलक्ष्मीको प्राप्त करता है, जो सहज विलास कर रही है। सारे विश्वको सुगमतया निरन्तर जान रहा है—ऐसे ज्ञानको प्राप्त करता है।

आत्मदयाका अनुरोध— निजमें और परमें, निजकी ओरके झुकावमें और परकी ओरके झुकावमें

मूलस्थानमे जरासा अन्तर है। उपयोग भीतरकी ओर न रहा तो इस भीतरसे कुछ बाहरकी ओर चला गया, किन्तु फिर इस बाह्य उपयोगकी दौड इतनी तेज हो जाती है शीघ्र ही कि जिसके फलमें सब विडम्बनाएँ बन जाती हैं। अपने आपपर परमार्थ दया कीजिए। यह कुटुम्ब ही सब कुछ नहीं है। सब कुछ क्या ? ये दूसरे कुछ भी नही है, ये परिजन, ये धन-सम्पदा कुछ भी नहीं है। शान्तिका जिस किसी प्रकार उदय हो सकता हो, वह तो तेरा सत्पथ है और जिसमें अशान्ति ही बसी हुई है, वह सब कुमार्ग है। जरा दृष्टि पसार कर भी निहारो, जो आजकी दुनियामे प्रसिद्ध लोग हैं। सेठ, अधिकारी, नेता— इनकी ओर दृष्टि देकर देख लो, कहां शांति विराज रही है ? इस जीवनमे भी जो सर्वस्व मानकर अपनी वृत्ति कर रहे हैं, उनका इस जीवनके बाद फिर कौन सहाय होगा ? यदि अपने ज्ञानस्वरूपको लिया जाए तो यह ज्ञानसस्कार अगले भवमें भी सहायक होगा।

आत्मसस्कारके लाभका उदाहरणपूर्वक समर्थन— जैसे जो इस भवमे उत्पन्न हुआ है, वह बालक कभी कभी बचपनसे ही बड़ी कला लिए हुए, चतुराई लिए हुए, थोड़ा भी अध्ययन करे तो बहुत सीख जाए— ऐसा विलास लिए हुए होता है। उस बच्चेने यह कला कहासे पाई, यह ज्ञानसिद्धि कहासे पाई ? बतावो। यह उसके पूर्वजन्मकी कमाई है। पूर्वजन्ममें ज्ञानसस्कार पाया, धर्मपालन किया, वह सस्कार आज देखो २-४ वर्षके बालकके भी कितनी विशाल एक निधि उत्पन्न कर रहा है ? कोई बालक करोड़पतिके घर पैदा हो गया, वह भी करोड़पति बन गया। उसने कहा धन कमाया है, कैसे करोड़पति बन गया ? अरे, यह सब पूर्वजन्मकी करनीका प्रताप है। वहा उदारता की, त्याग किया, दान किया, सम्यग्ज्ञान रखा, उस सबका जो ज्ञानसस्कार बना, उसका यह प्रताप है। तो यहा की बात देखकर भी यह ध्यानमें नहीं लाया जाता कि यदि अच्छे ढङ्गसे, उदारतासे, विवेकसे अपना जीवन चलाया तो यह आगे भी काम देगा। यह यह सम्बन्ध, यह स्नेह, यह अधेरा काम न देगा, इस कारण सब कुछ प्रयत्न करके एक इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वके दर्शनमें, वैराग्यमें लगा जाए। विश्वास बनाया जाए कि मेरा यहाँ ससारमें कुछ भी नहीं है तो ये विपत्तिया फिर कैसे हो सकती हैं।

खोना, कमाना— जो पुरुष ज्ञान और वैराग्यसे वासित नहीं हैं, उन्होंने सब कुछ खोया है, कमाया कुछ नहीं है। जिसने चारित्र स्वरक्षित रखा है और धन खोया है, उसने कुछ नहीं खोया, उसने पाया ही सब कुछ है। इस सबका कारण यह है कि जिसने अपना चारित्र खोया है और धनसञ्चय बनाया है तो ज्यादासे ज्यादा इस जीवनकाल तक कल्पित मौज मान लिया, मरण होने पर बादमें एकदम साफ न्याय हो जाएगा। उसने सब कुछ खो दिया, जिसने अपने श्रद्धान्, ज्ञान और चारित्रको खोया है। उसने सब कुछ पा लिया, जिसने अपना श्रद्धान्, ज्ञान और चारित्र पाया है।

आलोचन और आलम्बन— यह ज्ञानी सत अपने आपके समस्त दोषोंकी आलोचना करके शिवसङ्कल्प कर रहा है कि मैं अब इस चैतन्यात्मक शुद्ध आत्माको आत्मदर्शनके द्वारा आलम्बन करता हू। यों इस आलोचना अधिकारमें प्रथम गाथामें कहा गया है कि जो साधु नोकर्मोंसे रहित, कर्मोंसे रहित, विभावगुणपर्यायोंसे रहित, विभावव्यञ्जनपर्यायोंसे रहित आत्मतत्त्वका ध्यान करता है, उस श्रमणके आलोचना प्रकट होती है।

आलोयणमालुञ्छण वियडीकरण च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खण समये ॥१०८॥

आलोचनाके लक्षणरूप भेद— आलोचनाका स्वरूप कहनेके प्रसङ्गमें इस गाथामे आलोचनाके भेद कहे गये हैं। आलोचनाका पूर्णरूप जाननेके लिये आलोचनाविषयक चार लक्षणोंको जानना चाहिये। वे चार लक्षण हैं—आलोचन, आलुञ्छन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि। ये भेद शुद्ध निश्चय परम

आलोचनाके कहे गये हैं। इनका लक्षण आगेकी गाथावोंमे कहा ही जाएगा, पर संक्षेपरूपसे यों समझ लो कि अपने समस्त दोषोंको सूक्ष्मरीतिसे देख लेना आलोचन है। गुरुवोंके समक्ष अपने दोषोंका निवेदन करना, यही है व्यवहारालोचना। अपने दोषोंका आलुंछन कर देना, उघाड़ देना, इसका नाम है आलुंछन। अपनेको विकाररहित कर देना, इसका नाम है अविकृतिकरण और अपने भावोंको शुद्ध कर देना, इसका नाम है भावशुद्धि।

दिव्यध्वनिकी परम्परासे सत्यार्थका आगमन-- ये चार भेद सारभूत आत्माके हितकारी प्रकरणको करने वाले हैं। इनका वर्णन आगमपरम्परासे आया है। आगम का अर्थ है आगमन। जो भगवान् अरहंतकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे चला आया हो, उसे आगम कहते हैं। आज जितने भी शास्त्र हम आप श्रद्धापूर्वक देखते हैं, उन सब शास्त्रोंमें जो अर्थ भरा हुआ है, वह अर्थ मूलमें भगवान्‌की दिव्यध्वनिसे चला आया है। भगवान् अरहंतदेव जिनके चार घातियाकर्म नष्ट हो गए हैं, जो वीतराग सर्वज्ञ हो चुके हैं, उनके मुख-कमलसे जो कुछ दिव्यध्वनि निकलती है, उस ध्वनिकी परम्परासे यह समस्त आगम चला आया है।

दिव्यध्वनिकी सर्वप्रियता— प्रभुकी दिव्यध्वनि समस्त श्रोताजन समूहको बहुत प्रिय होती है। यहां भी जब दिव्यध्वनि खिरती थी, उस समय श्रोताजन उस दिव्यध्वनिको सुनकर समस्त चितावोंको दूर कर लेते थे। समवशरणकी ऐसी महिमा गायी है कि वहाँ पहुचने वाले जीवों पर कोई सङ्कट नहीं रहता है। जहाँ ऐसा निर्मल पवित्र सर्वज्ञ परमात्मा विराज रहा हो, उसके निकट कोई पहुचे और उसके कोई सङ्कट रह जाए, यह नहीं हो सकता है। भगवान् अरहतदेव जहाँ विराजे हुए हैं, उनके सौ-सौ योजन चारों तरफ सुभिक्ष हो जाता है, कोई रोग नहीं रहता है, सर्वप्रकारकी सम्पन्नता प्रजामें हो जाती है। फिर समवशरण के निकट जो पहुचे, समवशरणमे जो पहुचे, उसे कोई चिता कैसे रह सकती है?

भ्रमसे चिन्ताकी बनावट— भैया! चिंता तो अब भी जीवको कुछ नहीं है, किन्तु भ्रममें कल्पना करके चिंता बना ली है। परपदार्थोंसे इस आत्माका क्या सौदा है? परकी परिणतिसे आत्मा परिणमता नहीं। आत्मा जहा जाए, वहां यह परपदार्थ पहुच जाए—ऐसा कुछ नियम नहीं है। आत्मा चेतन है और ये सब समागत पदार्थ अचेतक हैं। क्या वास्ता है इन परपदार्थोंसे इस आत्माका? लेकिन भ्रम ऐसा विकट बन रहा है अज्ञानसे इस जीवका कि यह परसे ही अपनी भलाई समझता है। मैं बहुत धनी होऊँ तो सुख मिलेगा, उससे ही मेरा भला होगा— ऐसा लोग सोचते हैं। अरे, परपदार्थोंके विचार-विकल्पसे बुरा ही हो जाएगा, समागमकी बात तो दूर रही। स्वयंमें कुछ भी चिन्ताकी बात नहीं है, लेकिन भ्रममें इस जीव ने चिन्तावोंका पहाड़ बना लिया है। मेरे पास इतना वैभव हो, तब मैं कुछ कहला सकूँगा। अरे, इतना वैभव न हो, आधा हो तो? और मनुष्य ही तुम न होते, कोई कीट-पतगे होते तो वैभवके नामका भी कुछ तेरे पास होता क्या? प्रकट असार हैं सर्वसमागम, लेकिन अज्ञानी प्राणी उनकी चितामें कितने आकुलित हुए जा रहे है?

सङ्कटहारी समवशरण— भगवान्‌के समवशरणमें जहाँ धर्मका ही व्याख्यान है, प्रचार है, सैकड़ों, हजारों विशुद्ध मुनि जनोंके दर्शन हो रहे हैं, परमौदारिक शरीरकी कान्तिसे झलमलाता हुआ समवशरण है, बीचमें साक्षात् सकल परमात्माके दर्शन हो रहे हों—ऐसा सुन्दर अवसर पाकर कोई मनुष्य दुःखी रह जाए, यह कैसे हो सकता है? जिस मनुष्यमे मिथ्यात्व भरा है, दुःखी ही रहनेका जिसने अपना विरद ठान लिया है, उस पुरुषको समवशरणमें पहुचनेका भाव भी नहीं हो सकता है। अरहंतदेवकी दिव्यध्वनि एक अनुपम विशिष्ट आनन्दको झराने वाली है।

विषय-सुखका कटु विपाक— भैया! विषय-सुखमें कहा आनन्द भरा है? अपनी शक्ति बरबाद कर

रहे हैं ये विषय-सुखके लोभी जीव। अपना ज्ञानबल खो रहे हैं बहिर्मुख प्राणी। इन विषय सुखोंमें क्या मौज है? जो विषय-सुखोंमें मौज मानते हैं, उनकी अवश्य दुर्गति होती है, क्योंकि विषय सुखोंमें आसक्त होकर यह मोही लग जाता है और उसमे फलमें इसी जन्ममें अनेक कष्ट आते हैं। जब ज्ञानबल घट जाता है तो उसे लोग पग-पग पर दबा सकते हैं। इसी जन्ममें धनकी हानि, बलकी हानि आदि अनेक नुकसान होते हैं। कर्मबन्धन तो खोटा होता ही है, इसके फलमें परलोकमें नरकगति मिलेगी, खोटी तिर्यंचगति मिलेगी और कुयोनियोंमें भटकना होगा। अपना यह निर्णय रखो कि ये विषय-सुख भोगते समय बडे ही मनोरम लगे, लेकिन ये अपनेको बरबाद करने वाले हैं, इनमे आनन्द कहां रखा है? जैसे मीठे विषफल खानेमें तो बडे मधुर लगते हैं, स्वादिष्ट लगते हैं, पर उनके खानेका परिणाम मरण है। ऐसे ही पचेन्द्रियके विषयोंके सुख इन मोही जीवोंको बडे मधुर लग रहे हैं, पर ये विषय-सुख मीठे विषफल हैं। इन का फल क्या होगा? इसी भवमें दुर्गति होगी और परभवमें दुर्गति होगी।

आनन्दका धाम— आनन्द तो एक आत्मस्वरूपके यथार्थ प्रकाशमें है, क्योंकि यह आत्मा ही स्वय आनन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप आत्माके दर्शनमें आनन्द ही झरना है। इस आनन्दस्वरूप आत्माकी बात, इस आत्माके हितकी बात प्रभुकी दिव्यध्वनि की परम्परासे चले आए हुए आगमसे विदित होती है।

प्रभुकी निरीह अनक्षरात्मक दिव्यध्वनि— यह दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है, फिर भी श्रोतावोंके कानोंमें पहुचकर अक्षरात्मकताका रूप रखकर मानों सबको हितकी शिक्षा देती है। भगवान्की यदि अक्षरात्मक वाणी हो, हम आप जैसे बोलते हैं—ऐसी भाषा उनकी हो तो इस तरहके क्रमपूर्वक बोलनेमें रागद्वेषकी सिद्धि होगी। किसीने कुछ पूछा, किसीने कुछ सबका उत्तर दे, अपना व्याख्यान करने लगें—इस तरह की प्रक्रियामें कुछ न कुछ रागकी बातें हो जायेंगी। भगवान् किसीके प्रश्नका उत्तर नहीं देते हैं। उनकी तो समय पर दिव्यध्वनि खिरती है। भले ही कोई विशिष्ट पुण्य आत्मा, चक्री आदि असमयमें आ जाए तो असमयमें भी दिव्यध्वनि खिर सकती है, किन्तु वहा भी वे वीतराग हैं, वे अपनी ओरसे विकल्प करके दिव्यध्वनि नहीं खिराते है, किन्तु जैसे मेघ असमयमें अपनी इच्छासे गरजते हैं—ऐसे ही वे भगवान् तो अपने आनन्दमें ही मग्न रहते हैं, पर दिव्यध्वनि स्वय ही खिरती है। वह दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है। देव, शास्त्र, गुरुकी पूजामें आप लोग पढ़ते है कि "जिसकी धुन है ॐकार रूप, निरअक्षरमय महिमा अनूप।"

दिव्यध्वनिमें सर्वभाषात्मकताका अतिशय— इस ॐकारकी निरन्तर गर्जनामे अनक्षरात्मकता ध्वनित होती है, जिसमें मानों सभी अक्षर पडे हुए हैं। जैसे ॐकार शब्दको लिखकर इसके कई टुकडे बनाकर विधिवत् उन्हें रखनेसे समस्त अक्षरोंको आप देख सकते हैं। जितने स्वरव्यञ्जन हैं, उन्हें ॐ के अवयवों को विधिपूर्वक लगाकर आप दिखा सकते हैं। जैसे आजकल कुछ ऐसे छपे हुए चौकोर खिलौने आते हैं कि जिनको किसी विधिसे लगावो तो ऊंट बन जाए और किसी अन्य विधिसे लगावो तो घर बन जाए। ऐसे ही ॐ शब्दका जो आकार है, उसके छोटे अश कर लो, न ज्यादा छोटे और न ज्यादा बडे, फिर उन अवयवोंसे तुम समस्त अक्षर बना सकते हो। ऐसे ही भगवानकी दिव्यध्वनिमे जो भी शब्द निकलते है, वे अनक्षरात्मक होते हैं, फिर भी मानों उनमें समस्त अक्षर भरे होते हैं। समवशरणमे एक अतिशय यह भी होता है कि वहा किसी भी भाषाके लोग पहुचें, हिन्दी, उर्दू, अग्रेजी, पञ्जाबी बङ्गाली, कन्नड़, तैलगू, अरबी, फारसी इत्यादि किसी भी भाषा वाले वहा पहुचें तो दिव्यध्वनिरूप उपदेश सबको अपनी अपनी भाषामें अपनी-अपनी योग्यतासे समझमें आ जाएगा।

अनन्त दिव्यध्वनियोमे स्वरूपप्रणयनकी समानता— प्रभुकी दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक होती है। उस

दिव्यध्वनिके जाननेमे कुशल चार ज्ञानके धारी गणधर होते हैं। वर्तमानकालमे जो आगम प्राप्त है, वह भगवान् महावीरस्वामीकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे प्राप्त हुआ है। जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, सबकी दिव्यध्वनिमें एक ही वर्णन है। एक तीर्थंकरका तीर्थ चलनेके कुछ समय बाद फिर धर्मकी कुछ हानि होने लगती, उस समय फिर कोई तीर्थंकर उत्पन्न होता है और वे जब संयोगकेवली बनते हैं तो उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। उस दिव्यध्वनिमे वही स्वरूप, वही वस्तुस्वरूपका यथार्थ प्रतिपादन है, जो अनन्त तीर्थंकरोंने अपनी दिव्यध्वनिमें बताया है।

गणेशका समर्थ ज्ञान— भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनिका परिज्ञान करनेमे कुशल गौतम महर्षि थे। गौतमको गणधर कहो अथवा गणेश कहो, एक ही बात है। जो समूहका धारी हो सो गणधर है, जो गणका ईश सो गणेश। ये गणधर अनेक साधुसङ्घके आचार्य होते हैं, गणधर होते हैं। गणधरका पद तीर्थंकरके बादका दूसरा नम्बर समझिये। सर्वज्ञ, सर्वज्ञानके प्रभु, सर्वविद्यावोंके ईश्वर तो अरहंत भगवान् हैं। अब अरहत भगवान्से पहिले कौनसा पद ऐसा है, जो ज्ञानमें बड़ा कुशल हो? वह है गणेश। अरहत भगगवान्का नाम महादेव भी है। जो महान् देव हो, वह महादेव है और गणधरका नाम गणेश है, यो महादेवके निकट गणेश ही आते हैं। महादेव अर्थात् सकलपरमात्मा अरहंतदेव पूर्णसर्वज्ञ हैं, भगवान् हैं, भगवन्त हैं और उनकी दिव्यध्वनिको झेलनेमें समर्थ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके धारी गणेश हैं, गणधर हैं।

सिद्धान्तशास्त्रोक्त आलोचनाके प्रकार— श्री गणेशके, गणधरके मुख-कमलसे यह समस्त द्वादशाङ्ग प्रतिपादित हुआ था, उसी समस्त सारभूत विषयको जिसमे लिपिबद्ध किया गया है, ऐसा यह सिद्धान्त-शास्त्र जिसमें वस्तुस्वरूपका और क्षेत्रकालका यथार्थ प्रतिपादन किया गया है, उन समस्त शास्त्रोंका जो प्रयोजन है, अर्थ है, सार है, उस सारका प्रतिपादन करने वाला जो यह वचनरूप आगम है, उस आगममें आलोचनाकी चार पद्धति कही गयी है—आलोचना, आलुछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि।

आलोचनाप्रकारोंके क्रममें आलोचन व आलुछन— दोषोंका निर्देशन करना, दोषोंका उखाड़ देना, अपनेको विकाररहित करना और शुद्ध भावरूप परिणति होना—ये चार बातें दोष-शुद्धिके प्रसङ्गमें क्रमसे आती हैं। इसी कारण आलोचनाके इन चार लक्षणोंका यहां क्रम रखा गया है। यह कल्याणार्थी भव्य-पुरुष प्रथम तो अपने दोषोंका निवेदन करता है, अपनेसे करे, गुरुसे करे, जो जैसी पात्रताका है और जिस वातावरणमें आया हुआ है, आलोचना करता है। ये दोष मैं नहीं हू, मैं दोषोंसे रहित ज्ञानानन्द-स्वरूप परमात्मतत्त्व हू। ऐसा अपना संस्कार और ज्ञान करके उन दोषोंको उखाड़ फेंक दे, अपने उपयोगमें न रखे—यह हुआ आलुंछन।

आलुछनका विवरण— आलुछनका अपर नाम आलुछन भी है। जैसे साधुजन अपने केशलोच कर देते हैं, उखाड़ फेंक देते हैं, इसी प्रकार इस आत्मक्षेत्रमें जो आत्मदोष आ गए हैं, उनका लोच कर देते हैं। ये बाल भी खूनके मल हैं। शरीरमें जो धातुवें हैं, उन धातुवोंके प्रतिनिधिरूप दो धातुएँ हड्डी और खून है। इनमेंसे हड्डीका मल निकलता है तो वह नाखूनके रूपमे निकलता है और रुधिरका मल रोम, केशके रूपमें फूटता है। जैसे ये साधुजन रुधिरके मलरूप निकले हुए केशोंको उखाड़ फेंक देते हैं। इसी प्रकार इस परमसाधु आत्माकी शक्तिका मलरूप विभावरूप जो रागद्वेष आदिक भाव है, उनको उखाड़ कर फेंक देते है। यो यह जीव आलुछन करता है।

अविकृतिकरण व भावशुद्धि— जब आलुछन हो गया तो फिर जैसा साफ है, तैसा अविकारीभाव रह गया। अब विकार नहीं रहा है, यह हुआ अविकृतिकरण। फिर जैसा शुद्ध भाव है, स्वभाव है, सहज-भाव है, स्वरूपास्तित्वमात्र तद्रूप वर्तने लगे, यह हुई भावशुद्धि। इसतरह इस ज्ञानी साधुने आलोचना

के प्रसङ्गमें अपनेको निर्दोष बनाया।

आत्मनिष्ठ सतोंका प्रणमन— हे भव्य पुरुषों ! ये आलोचनाके भाव मोक्षकी प्राप्तिके लिए प्रधान हेतुभूत हैं। ऐसा जानकर इन आलोचनालक्षणोंको अपनेमें घटित करें, इनका प्रयोग करें। जो जन इन आलोचनाके लक्षणोंको अपने आत्मामें लगाते हैं, वे निज आत्मनिष्ठ होते हैं। जो अपने आत्मामें उपयोगकी स्थिरताको लाते हैं, आत्मनिष्ठ हैं— ऐसे निज आनन्दरसलीन साधु-सतोंको हमारा भाव-नमस्कार हो।

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं ॥१०६॥

परमार्थ आलोचन— पूर्व गाथामें आलोचनाके चार प्रकार कहे गये थे। उन प्रकारोंमें से प्रथम प्रकारकी जो आलोचना है, उसका स्वरूप इस गाथामें कहा जा रहा है। जो जीव आत्माको समताभावमें स्थापित करके निज आत्माको देखता है, वह आलोचन है— ऐसा परमजिनेन्द्रदेवका उपदेश जानिये। आलोचना यहां समतापरिणमनका नाम कहा गया है। जो पुरुष पूर्णरूपसे अन्तर्मुख होकर, अपने आत्मस्वरूपकी ओर झुककर निजस्वभावको निरन्तर देखता रहता है, उसके आलोचना हुआ करती है। आलोचनाका सीधा व्यावहारिक अर्थ है अपने दोषोंकी आलोचना करना। मुझसे ये दोष हुए हैं, झूठ बोला है, अमुक जीवको सताया है आदि। जैसा कि आलोचना पाठमें बताया गया है, उसका नाम आलोचना है, वह सब व्यवहारालोचना है। निश्चयालोचनामें भेद नहीं रहता है। तो अभेदरूप जो समतापरिणाम है, उसका नाम परमार्थ आलोचन है, इसमें परमार्थवा आलोचन दर्शन हो रहा है।

अभेदाराधककी आलोचनस्वरूपता— इससे पहिले आलोचनाके लक्षण प्रसङ्गमें यह आलोचनका प्रकार आया है, इस कारण यहां आलोचन कहा गया है। जो पुरुष अपने आपमें प्रकाशमान् कारणपरमात्माको देखता है, वह पुरुष आलोचनस्वरूप है। परमार्थसे भाव और भाववान्में अन्तर नहीं है। जैसे आग और गर्मी। आगका लक्षण गर्मी कहा है। तो क्या आग अलग चीज है और गर्मी अलग चीज है ? कुछ अलग नहीं है। वह आग ही गरम स्वरूपको लिए हुए है। ऐसे ही आत्माका स्वरूप ज्ञान कहा है। तो क्या ज्ञान अलग चीज है और आत्मा अलग चीज है ? नहीं है। आत्माको ही ज्ञानस्वरूप कहा है। ऐसे ही उस ज्ञानस्वरूप आत्माकी दृष्टिमें जो यह आलोचन हो रहा है, सो यह आलोचन भाव, परमार्थ शुद्ध कारणपरमात्मतत्त्वका आश्रयरूप भाव और आलोचक— इनमें क्या यह अलग चीज है ? नहीं है। यों इस शुद्ध आलोचनको आलोचकसे अभेद करके कहा जा रहा है कि जो अपने इस कारणप्रभुको देखता है, वह ज्ञानी सत आलोचन कहलाता है।

अन्तरीय तत्त्व— भैया ! अपना प्रभु अपने आपमें मौजूद है। जो चैतन्यस्वरूप निर्दोष होकर प्रभु होगा, सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनेगा, वह चैतन्यस्वभाव अभी भी हम आपमें मौजूद है। उसका नाम है कारण-प्रभु। अरहत, सिद्धको कहते हैं कार्यप्रभु अर्थात् उनकी प्रभुता व्यक्त हो गई है, कार्यरूपमें प्रभुता आ गई है और हम आप सबकी प्रभुता कार्यरूपमें नहीं आयी है, कारणरूप बनी हुई है। अपना कारणप्रभु चैतन्यस्वभाव है, जिसकी दृष्टि करके कार्यप्रभुता प्रकट होती है। यह कारणपरमात्मा अपूर्व निञ्जन निज ज्ञानका धाम है। ज्ञानका धाम, आनन्दका धाम यह अपना स्वयं आत्मा है। जिसे अपने ज्ञानानन्दस्वरूपका विश्वास है, वह अपने आनन्दके लिए जगह-जगह नहीं भटकता है, वह कहीं भी बाहरमें उत्सुकता नहीं लाता। अपने आपमें विराजमान् ज्ञानानन्द धाम कारणप्रभुकी उपासना करके तृप्त रहता है।

शान्तिपूरक कर्तव्य— गृहस्थावस्थामें चूँकि धनोपार्जनकी आवश्यकता है और सबके देखभालकी जरूरत है। इतना करने पर भी ज्ञानी-गृहस्थका यह कर्तव्य है कि वह रात-दिनमें किसी भी क्षण तो अपने

को ऐसा अनुभव करे कि मै अकिञ्चन्यस्वरूप हू, केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हू। यदि अपने सहज शुद्ध स्वरूपका कभी भी विश्वास न करे तो उसका यह सब चतुराई भरा जीवन पशु-पक्षीके जीवनकी ही तरह है। पशु पक्षी भी चतुर पशु-पक्षियोंको आदर देते हैं, इसी प्रकार यह सम्यक्त्वशून्य, अपने स्वरूपसे अपरिचित पुरुष अज्ञानी जनोंसे आदर पाता है। इससे क्या आत्माका पूरा पड़ेगा? एक अपने पास ज्ञानबल नहीं है तो कुछ भी नहीं है। इस कारणसे चाहे गृहस्थ हों, चाहे मुनि हो, सभीका यह कर्तव्य है कि अपने आपके इस चैतन्यस्वरूपकी खबर लिया करे, अन्यथा न संतोष होगा और न कभी शान्ति मिल सकेगी।

बहिर्मुखतामे सन्तोषका अभाव-- बाह्यपदार्थोंके सञ्चयमें कौनसी वह रेखा है, जहां अटक हो ज येगी कि बस इससे आगे अब हमें कुछ न चाहिये, हम कृतार्थ हैं। जिसके पास कुछ नहीं है, दाने-दानेको तरसता है, उसकी दृष्टिमे १००) ही बहुत बड़ी रकम है और उस समय अपनी हिम्मतके माफिक यह सोचता है कि मुझे १००) मिल जायें, फिर तो हम बहुत सुखी होंगे। १००) की पूँजी हो गई तो हजार पर दृष्टि जाती है, हजार हुए तो लाखकी दृष्टि हो जायेगी, लाख हो जायें तो करोड़की दृष्टि हो जा-गी और करोड़ हो जायें तो अरब-खरबकी दृष्टि हो जायेगी, फिर सारे ससार पर राज्य करनेकी दृष्टि होती है। मगर सोचो तो सही कि सारी दुनिया पर एकछत्र राज्य भी हो जाए तो भी इसे शान्तिका मार्ग कैसे मिल सकता है? बहिर्मुख दृष्टि रहे, बाहर ही बाहर उपयोग रहे तो सतोष कभी मिल ही नहीं सकता।

कारणप्रभुके मिलनकी पद्धति— शान्तिका धाम, आनन्दनिधान यह अपका कारणप्रभु स्वय हैं। जो इस कारणप्रभुका दर्शन करता है, उसके ही दोष दूर होते हैं और गुण प्रकट होते हैं। यह अपना कारणप्रभु हम अपनी ओर झुकें तो मिलेगा। हम अपने को तो चाहें और खोजें बाहरमें तो कैसे मिल सकता है? जो चीज जहा नहीं है, वहा खोजो तो क्या मिल जाएगी? मेरा आनन्द किसी भी बाह्यपदार्थमें नहीं है और हम बाह्यपदार्थोंमें खोजें तो आनन्द कैसे मिल सकेगा? आनन्दका धाम यह कारणप्रभु स्वयं है। इसकी ओर झुककर हमारा जैसा स्वरूप है, उस स्वरूपके आकार ही उपयोगको बनाकर परमविश्राम कर सकें तो यह कारणप्रभु हमें मिलेगा। इस प्रभुके दर्शनमें ही हमारा कल्याण है।

बाहरसे शरणका अभाव — भैया! जगत्में कोई भी पदार्थ विश्वासके योग्य नहीं है, न मेरे लिये शरण हैं। शरण हो ही नहीं सकता, क्योंकि वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। मैं अपनेमें अपने द्वारा परिणमता हू, क्योंकि मैं अपने स्वरूपसे सत् हू। बाह्यपदार्थ अपने स्वरूपसे सत् हैं, सो वे अपनेमें अपने द्वारा परिणमते रहते हैं। मेरा कुछ भी कार्य किसी परपदार्थमें नहीं पहुचता और न किसी भी परपदार्थकी क्रिया मुझमें पहुच सकती है। फिर सम्बन्ध क्या मेरा किसी अन्य पदार्थसे? मैं चेतनपदार्थ हू, जाननहार हूं, इस कारण मैं परको कभी अपने उपयोगमें लेकर कुछ ममता, विषय-कषायोंके भाव कर डालता हू, इतने पर भी मैंने जो कुछ किया, सो अपने आपको ही किया, किसी बाह्यपदार्थको मैंने नहीं किया। बाह्यभोग भोगनेमें आये तो बाह्यपदार्थोंका कुछ बिगाड़ नहीं हुआ, उनका कुछ भोग नहीं हुआ, इसमे हम ही खुद भुग गये। हमने ही विषय-कषायोंके विकल्प करके अपनेको गया बीता कर डाला। बाह्यपदार्थ तो जो हैं सो हैं, उनमें मेरे द्वारा कुछ भी बिगाड़ नहीं होता है। वहा जो कुछ होता है, उनका ही परिणमन होता है। कभी सम्बन्धरूप, पिण्डरूप परिणमन है, कभी वियोगरूप परिणमन है। इस भोगके प्रसङ्गमे बरबाद तो यह जीव ही हुआ। अचेतन पदार्थ बरबाद नहीं होता, लेकिन जब यह जीव अपना ऐसा ख्याल करे, तब तो यह बरबादीसे अलग हो सकता है, पर ख्याल ही नहीं करता।

निर्भ्रान्त ज्ञानीके वैराग्यकी वृद्धि— ये साधु-सत अपने शुद्ध सहज वैराग्यकी वृद्धि करनेमें प्रगतिशील रहते हैं। जैसे पूर्णचन्द्रमा समुद्रकी स्वच्छताको और बढ़ाता है, बाढके रूपमें, फेनके रूपमें इसकी

स्वच्छताको बढाता रहता है—ऐसे ये साधु-संत उत्तरोत्तर अपने सहज वैराग्यकी स्वच्छताको बढ़ाते रहते हैं। ज्ञानी पुरुषका चित्त किसी भी लौकिक पदार्थमें नहीं रहता। जिसे एक बार शुद्ध सत्य ज्ञान हो गया है, वह फिर अज्ञानको कैसे पैदा करे ?

सत्यार्थपरिचयमें विह्वलताके अभावका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन— जैसे कभी दूर पड़ी हुई रस्सीको देखकर आपको भ्रम हो गया कि यह साप है। किसी प्रकार हिम्मत बनाकर जरा निकट जाकर ध्यानसे निरखा तो लगा कि यह तो रस्सी है और जब बिलकुल ही निकट पहुचकर रस्सीको हाथमें उठा लिया तो अब वह भ्रम वाली बात कैसे मनमें आए ? कैसी उस प्रकारकी भ्रमकी अवस्था अब प्रकट हो सकती है, जो पहिले था ? अब तो शुद्ध ज्ञान हो गया है। ऐसे ही जब तक इन बाह्यपदार्थोंमें इस जीवका भ्रम था कि मेरे हैं, इष्ट हैं, हितकारी हैं, इनसे ही मेरा बड़प्पन, ये ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा जब तक भ्रम था, तब तक उन पदार्थोंके संयोग-वियोगके कारण विह्वलता हो रही थी, अशांति रहती थी, चैन न मिलता था। जब इस जीवने हिम्मत बनाकर वस्तुस्वरूपका परिज्ञान किया, प्रत्येक पदार्थका स्वरूप उसी पदार्थमें नियन्त्रित है—ऐसा भान किया, स्वतंत्रताका परिचय हो गया, अब किसी भी वस्तुके संयोगसे इस समय इस जीवमें विह्वलता नहीं आ सकती अथवा किसी चीजके वियोगके कारण इस जीवमें कोई विह्वलता नहीं आ सकती। जब जान लिया कि मेरा मित्र मैं हू, मेरा सब कुछ परिणमन, सुधार, बिगाड़, कल्याण सब कुछ मेरी ही करतूतसे प्रकट होता है, दूसरे पदार्थकी करतूतसे नहीं। ऐसा जब सत्यार्थका परिचय हुआ है, फिर बतावो यह जीव कैसे विह्वल हो सकता है।

परमात्मसयममे आलोचन तत्त्व— यह ज्ञानी पुरुष इस सहज वैराग्य-समुद्रमें ज्वार उत्पन्न करके, फैन उत्पन्न करके इसकी और उज्ज्वलताको बढाता है अर्थात् मूलमें तो उज्ज्वलता थी ही, लेकिन अब और उज्ज्वलता इसके टपकने लगती है। ऐसे जो विवेकी ज्ञानी-संत पुरुष हैं, वे अपने परिणामोंको समतारूप बनाकर रहते हैं। यही परम सयम है। व्यवहारमें सयम कहते है चीजोंको शुद्धतापूर्वक धरने-उठाने, खाने-पीने और व्यवहार करनेको, किन्तु निश्चयमें संयम कहते हैं राग द्वेषका परिणाम न करना, सयमस्वरूप ज्ञानानन्दस्वभावी निजात्मतत्त्वमें मग्न होनेको। अंग्रेजीमें सयम कहते हैं कंट्रोलको। अपने उपयोगको अपनेमें नियन्त्रित करना, सो अपना कन्ट्रोल है, संयम है। जो शुद्ध सयमके बलसे अपने आपमें विराजमान कारणप्रभुको निरखता है, उसी आत्माको आलोचनस्वरूप जानिये।

चतुर्विध आलोचनामे प्रथम पद्धति— विषय-कषायोंके जीतने वाले, समस्त कषायोंके नष्ट करने वाले, आत्मगुणघातक कर्मोंको दूर करने वाले जिनेन्द्रदेवके उपदेशमें जो आलोचनाके प्रकार बताये गए हैं, उनमें यह प्रथम प्रकारकी आलोचना है। आलोचनाके ये चार लक्षण है—आलोचन, आलुछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि। दोषोंसे रहित निर्दोष आत्मस्वरूपके ढिग पहुचना आलोचन है और उस पहुचके द्वारा अपने समस्त दोषोंको उखाड़ फैंक देना, इसका नाम आलुछन है। फिर अपने आपमें कोई विकार न आने देना अविकृतिकरण है और फिर ऐसा ही शुद्ध अपने स्वरूपसे बने रहना, सो भावशुद्धि है। इन चार प्रकारोंमें से पहिली प्रकारकी यह आलोचना है।

अपूर्व कार्य — इस प्रकरणसे हमें यह ध्यानमें लाना चाहिए कि हम आज एक श्रेष्ठ मनुष्यभवमें आये हैं। ऐसा कौनसा करने योग्य काम है, जो अभी तक नहीं किया और जिसके करनेसे ससारके समस्त सङ्कट दूर हो सकें ? ऐसा कौनसा काम है ? परिवारका बसाना कोई करने योग्य काम नहीं है। क्या होगा इससे ? एक मोहकी नींदमें विकल्पोंके स्वप्न बनाकर यह जिन्दगी बिता दी जाएगी, मनुष्यभव छोड़कर जाना होगा। फिर इसके लिए यहाँका क्या कुछ है ? इससे तो आत्माका पूरा न पड़ेगा। इस लोकमें इन मोही मलिन जीवोंमें कुछ अपनी कीर्ति फैल गयी, कुछ अज्ञानियोंने प्रशसा कर दी तो उससे

क्या पूरा पडेगा ? इस मनुष्यभवको पाकर कौनसा ऐसा करने योग्य कार्य है, जो अपूर्व है और अपनेको नियमसे आनन्ददायक है ? वह काम है ज्ञानाभ्यास। ज्ञानाभ्यासके बलसे अपना जो ज्ञानस्वरूप है, इसके दर्शनका अभ्यास बनाना, यह है करने योग्य काम।

परम आनन्दकी आस्थाकी प्राथमिकता— इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपके ज्ञानके काम करते हुएमे प्रथम तो यह बात है कि जब इस ससारमें रहना होता है, तब तक पुण्य बढता है, सम्पदा बिना चाहे अपने आप आती है। और कदाचित् ऐसी कल्पना करो कि हम अपने आत्मकल्याणमे यदि लग जायें, एक ज्ञान-सम्पादनके काममें ही बैठे रहें तो फिर धन कैसे रहे ? अरे, धन न रहे तो न रहे, तुम्हें आनन्द चाहिए ना ? वह आनन्द तो इन बाह्यवैभवोंमें न मिलेगा। वह आनन्द तो अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपके अभ्यासमें शुद्ध ज्ञानस्वरूपके दर्शनमें मिलेगा। उस आनन्दको पानेके लिए समस्त परिग्रहोंका सकल सन्यास करना होगा। बिना सकल सन्यास किए ऐसा आनन्दमय पद प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञानका आनन्द तो पा रहे, अब और क्या चाहिए ?

प्रभुपथके अनुकरणमे यथार्थ प्रभुभक्ति और परमार्थ आलोचन— देखिए भैया! हम आप लोग जिस प्रभुका रोज-रोज पूजन करते हैं, वह प्रभु केवल अपने स्वरूपमात्र है, उसके पास कोई परिग्रह नहीं है, न परिजन हैं, न सम्पदा है, औरकी तो बात जाने दो, शरीर तक भी नहीं है, केवल ज्ञानपुञ्ज है यह परमात्मा। इस परमात्माकी तो हम भक्ति उपासना करने आयें और चित्तमें यह श्रद्धा न जमा पायें कि ऐसी अवस्था हम पायेंगे तब कृतार्थ होंगे, इस अवस्थामे ही कल्याण है। सर्वविकारोंका त्याग करके एक आत्म-अनुभवन ही रह जाए, रहा करे, यही श्रेष्ठ पद्धति है, ऐसी श्रद्धा न जमा पायें, करें तो पूजन वीतराग सर्वज्ञदेवका और भीतर विश्वास यह बनाए रहें कि मेरा बड़प्पन तो घर-गृहस्थीसे, वैभव-सम्पदासे, इस लोककी इज्जतसे है तो बतलाओ प्रभुका पूजन कहां किया ? पूजन तो कर रहे हैं प्रभुका और चतुराई मान रहे हैं अपने मोह भावकी करतूतोंमें, तो यह कितना विरुद्ध काम है ? इन दोषोंसे कभी हटना होगा। तब वर्तमानमे ऐसी श्रद्धा क्यों न बनाएँ कि मैं इन सर्वदोषोंसे पृथक् केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हू। इस तरह सर्वदोषोंको पार करके अपने आनन्दधामस्वरूपमें पहुचें, इसका नाम आलोचन कहा गया है।

साधन, साध्य, सिद्धिका जयवाद— आत्माका जो सहज परमार्थस्वरूप है, उस स्वरूपको निहारने वाले ज्ञानी साधु पुरुष इसी सहजतत्त्वके अवलम्बनके प्रसादसे अतीन्द्रिय आनन्दमय मुक्त लक्ष्मीके विलासको शीघ्र प्राप्त कर लेते है। यह आत्मा जो कि परमार्थ तत्त्वका अवलोकन कर रहा है, वह देवेन्द्रोंके द्वारा वंदनीय है और जो इस आलोचनके प्रसादसे शुद्ध सर्वज्ञ हुए हैं, वे सुरेशोंके द्वारा व सुरेशवन्दनीय योगीन्द्रोंके द्वारा वंदनीय हैं। इस आत्महितके प्रयोजनको साधने वाले और सिद्ध कर चुकने वाले पचपरमेष्ठी योगी जनोंके आराध्य हैं—ऐसे भक्तजनोंकी आराधनाके विषयभूत यह सहज कारणपरमात्म तत्त्व जयवत हो। जो भक्त पुरुष इन परमेष्ठियोंकी आराधनाको करते हैं, वे उन परमेष्ठियोंके गुणोंकी अभिलाषा से आराधना करते हैं।

भावसृष्टि— यह आत्मा भावात्मक है। यह जिस प्रकारकी भावना करेगा, उसी जातिकी सिद्धि प्राप्त करेगा। यह चितामणि है। जैसा चिंतन करे, वैसा ही प्राप्त हो। यह अपनेको अशुद्धरूपमें चिंतन करता है तो अशुद्ध रूप बनता है और अपनेको शुद्ध स्वरूप विचारता है तो यह आत्मा शुद्ध बनता है। आत्माका भविष्य आत्मा पर ही निर्भर है। हम आगे कैसे बने ? इसकी जिम्मेदारी हमारे ऊपर ही है। हम शुद्ध भावनासे रहते हैं तो हम अशुद्ध रहेंगे। केवल विकल्प करनेके सिवाय यह आत्मा किसी भी जगह अन्य काम क्या करता है ? गृहस्थी हो, साधुता हो निर्धनता हो, अमीरी हो, मूर्छावृत्ति हो, ज्ञान-

वृत्ति हो, कैसी भी परिस्थिति हो, समस्त परिस्थितियोंमें यह आत्मा केवल अपनी भावना करता है, भावों के सिवाय अन्य कुछ नहीं करता।

अनहोतेको होते करनेका व्यर्थ अभिमान— वस्तुकी स्वतन्त्रताके मर्मको न जाननेके कारण और मैं जगत्में सब कुछ कर सकता हूं—ऐसी कर्तृत्व बुद्धि लादनेके कारण यह जीव संसारमें भ्रमण कर रहा है। इस जीवके वशका अपने शरीरका भी तो कुछ परिणमन नहीं है। कौन चाहता है कि मैं बूढ़ा हो जाऊँ, किन्तु बूढ़ा होना पड़ता है। शरीर तो जीवके इतना निकट है, फिर भी इस शरीर पर इसका वश नहीं चल रहा है। तो परिजन अथवा धन-वैभव, अन्य लोग, मित्र, स्त्री—इन पर वश क्या चलेगा? लेकिन यह मोही प्राणी यथार्थ मर्मको भूलकर कर्तृत्वबुद्धिमें रंगा चला जा रहा है और इसी कर्तृत्वबुद्धि के कारण यह अभिमानमें मस्त हो रहा है। मुझमें ऐसी कला है, मैं ऐसा कर सकता हूं। गृहस्थोंका गृहस्थों के योग्य अभिमान, साधु पदमें यदि अज्ञानी साधु है तो साधु जैसा अभिमान। कहाँ जाएगा यह अभिमान? जब मूलमें अज्ञान बसा हुआ है, कर्तृत्वबुद्धि बसी है कि मैं ऐसा करता हूं।

अज्ञानकी विडम्बना— अहो, कोई उच्च साधुव्रत भी करे, बड़ी दया करे, शुद्ध विधिसे आहार करे, अनशन आदिक तप करे, किसी शत्रु पर रंच भी द्वेष न लाये, तिस पर भी भीतरमें यदि अज्ञान बसा है तो उसे कर्तृत्वबुद्धि लगी है। मैं साधु हूं, मुझे द्वेष न करना चाहिये, मुझे इस प्रकारकी क्रियासे चलना चाहिये, सिद्धान्तमें ऐसा बताया गया है, ऐसी कर्तृत्वबुद्धि लगी है हालांकि ऐसे ही सब काम ज्ञानी साधु भी करता है, किन्तु उनका लक्ष्य ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी दृष्टिमें लगा हुआ है और इन सब क्रियावोंको परमार्थसाधनकी पात्रताका साधक जानकर किया करता है, किन्तु यह अज्ञानी साधु 'मैं साधु हूं' इस प्रकारका अहङ्कार बनाता है और मुझे इस तरह लेटना चाहिए, बैठना चाहिये, खाना चाहिये—इस प्रकारकी कर्तृत्वबुद्धि बसायी है। सो इतना बड़ा तप करनेके बावजूद भी वे साधु अन्तरङ्गमें शान्ति और संतोष नहीं प्राप्त कर पाते हैं।

कल्याणकारक बोध— भैया! यह जानना सर्वप्रथम आवश्यक है कल्याण चाहने वाले पुरुषोंको कि मैं सर्वत्र केवल अपने भाव ही कर पाता हूं, भाव करनेके सिवाय अन्य कुछ भी परिणमन मैं नहीं करता हूं। भले ही व्यवहारमें कहना पड़ता है कि मैं आपका यह काम कर दूं, मैं आपके शरीरकी सेवा कर दूं, बोलना पड़ता है ऐसा, पर ऐसा बोलनेमें भी भीतरमें श्रद्धा इसके यथार्थ है। यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप भावात्मक ज्ञानपुंज सिवाय ज्ञानप्रकाशके अन्य क्या कर सकता हूं? चाहे इस ज्ञानको विपरीत पद्धतिमें लगाऊँ, चाहे इसे शुद्धार्थपद्धतिमें लगाऊँ, पर केवल भाव ही मैं कर सकता हूं—ऐसा जिन्हें आत्ममर्मका परिचय है, वे ही पुरुष आत्मसंयम कर सकते हैं, परमार्थ आलोचना कर सकते हैं—ऐसे संतोंको संत पुरुष ही परमार्थसे वंदन करते हैं। साधुजन णमोकारमन्त्रमें णमोलोएसव्वसाहूणं कहते हैं। स्वयं साधु हैं और साधुवोंको नमस्कार कर रहे हैं। तो वहां साधुवोंका वास्तविक नमस्कार तो साधु ही कर सकते हैं। जो साधुताके गुणोंकी पहिचान रखते हैं, वे ही साधु साधुके गुणों पर न्यौछावर हो सकते हैं, ऐसे साधु पुरुष वंदनीय हैं। उनके गुणोंकी प्राप्तिकी अभिलाषासे मैं भी वंदन करता हूं।

शान्तिनिधिका दर्शन— अहो! ये साधु पुरुष कौनसी निधि पा चुके हैं, जिसके प्रतापसे इतना संतोष, इतनी शान्ति प्रकट हुई है और बड़े-बड़े देवेन्द्र भी जिनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं? ऐसी कौनसी निधि पा ली है, जो देवेन्द्रोंके पास भी नहीं है? वह निधि है अपने आपके निकट विराजमान् शुद्धार्थ परमपुरुषका दर्शन।

उपासकका लक्ष्यभूत तत्त्व— श्रावकजन पूजन करनेमें स्वस्तिवाचनके समय अन्तिम छन्द बोलते हैं इस प्रकार—

"अर्हन् पुराणपुरुषोत्तमपावनानि वस्तूनि नूनमखिलान्ययमेक । एव अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोध-वह्नौ पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि ॥"

हे अर्हन् ! हे पुराण ! हे पुरुषोत्तम ! आपकी भक्तिके लिए मैं आया हू । यह मै बहुत पवित्र वातावरणमें खड़ा हू । यह सजा-सजाया पवित्र थाल जिसमें अष्ट द्रव्य सजे हुए रखे हैं, यह पावन मंदिरका स्थान है, सम्मुख पवित्र वेदिका है, आपका प्रतिबिम्ब विराजमान है और यह भी मैं शुद्ध होकर शुद्ध वस्त्र पहिनकर भक्तिके लिए खड़ा हुआ हू । इस अवसरमें चारों ओर शुद्ध ही शुद्ध पावन वातावरण है । इतनी पवित्र वस्तुएँ हैं, किन्तु हे नाथ, मुझे तो यह सब कुछ-कुछ भी नहीं दीख रहा है, मुझे तो केवल एक ही सब कुछ प्रतीत हो रहा है । केवल एक यही शुद्ध चैतन्यस्वरूप इस ज्ञानपुञ्ज परमात्मतत्त्वमें जिसमे कि केवल ज्ञानरूप अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है, मैं और क्या पूजा करूँ, इस एक ज्ञान-अग्निमें मैं समस्त पावन वस्तुवोंको स्वाह करता हू, एक मन होकर इन समस्त पुण्यपदार्थोंको मैं होमता हू, त्यागता हू ।

जल, चन्दन, अक्षत व पुष्पका निर्वपन— प्रभुपूजामे द्रव्य चढ़ानेके मायने त्यागना है । जैसे जल चढा रहे हैं तो उसके मायने है जलका त्याग कर रहे हैं । मैंने अपने आनन्दके लिए अपने रोगको दूर करनेके लिये, मलसे निवृत्त होनेके लिये इस जलका बहुत उपयोग किया, किन्तु मेरा न रोग दूर हुआ, न कोई सङ्कट मिटा, इसलिये नाथ, मैं इस जलको त्यागता हू । मैं इसे अपना हितकारक नहीं समझता हू । संताप को मिटानेके लिए बहुत चदनका उपचार करता रहा, किन्तु मेरा जो आन्तरिक सताप है, वह इस चंदन से भी नहीं मिट सका, मै अब इस चंदनको भी त्यागता हूं । मैं सोचता रहा कि मुझे उच्च पद मिले, बड़ी पोजीशन मिले—ऐसे पदोंकी प्राप्तिके लिये ये चावल अक्षत अपने मस्तकमें लगाया । ये भी मेरे कष्टको न मेट सके, बल्कि बरबादीके ही कारण बने । अत मैं अब इन अक्षतोंको भी त्यागता हू । यह मैं इस व्यामोह अवस्थामें कामवासना से पीड़ित होकर बड़े श्रृङ्गार करता रहा, फूलोंकी सेज, फूलोंकी सजावट और उन्हीं फूलोंके महल बनाकर फूलोंके घरमें निवास करके कामपूर्ति और शान्तिकी चेष्टा करता रहा । ये फूल तो इस कामरोगको बढ़ानेके एक साधन हैं । अब मैं इन फूलोंका भी परित्याग करता हू । मुझे इन मे विश्वास नहीं है कि मेरेको कभी सतोष दे सकें ।

नैवेद्य, दीप, धूप व फलका निर्वपन— अपनी क्षुधा वेदना मेटनेके लिये बहुत-बहुत व्यञ्जन बनाए खाये तो इसका ही नाम है नैवेद्य, किन्तु मैं देखता हू कि रोज ही खाना, रोज भूखे रहना, रोज वेदना पैदा होना बना हुआ है, इस नैवेद्यसे कभी तृप्त नहीं हो सकता हू । मैं इसका भी परित्याग करता हूं । मैंने अन्धेरा दूर करनेके लिये बड़े दीपक सजाये, बिजलियाँ जलायीं, अन्धेरा सुहाता नहीं, प्रकाश लेनेके लिये बड़े ऊँचे दीपक जलाये, उन दीपकोंसे अधियारा मिटानेकी अभिलाषा करता रहा, किन्तु हे नाथ ! वह वास्तविक प्रकाश न मिला । मेरा वह अज्ञान-अन्धकार इन दीपकोंसे दूर न हो सका, जिस प्रकाशमे रह कर मैं कृतार्थ हो जाता, अब मैं उन दीपकोंका भी परित्याग करता हू । लोकमें प्रसिद्ध है कि धूपसे, धूपबत्तीसे अशुद्ध वातावरण दूर हो जाया करता है । मैंने खूब धूप जलाई, पर मेरी अशुद्धता न गई । कभी मन परेशान हो गया तो मन बहलानेके लिये, मैंने इन दुष्कर्मोंका जलानके लिये समझ लो, ससारकी इन बाधावोंको मिटानेके लिये, खूब धूप-सेवन किया, किन्तु बाधाएँ दूर न हो सकीं, मैं इस धूपका भी परित्याग करता हू । बहुतसे फलोंका सञ्चय किया, फलोंको खाया, किन्तु वास्तविक फल जो सङ्कट मुक्तिका है, वह मुझे न प्राप्त हो सका । अब मोक्षफलकी प्राप्तिके लिये मैं इन फलोंका त्याग करता हू और जो मेरा मोक्ष-फल है, उस फलको ही मै मङ्गल मानता हू ।

पुण्य-वैभवका परित्याग— अष्ट द्रव्योंका चढ़ाना आदि अनेक विधियोंका आलम्बन पूजामें रखनेके लिये और अपनेमें त्यागभाव लानेके लिये इन अष्ट द्रव्योंका आलम्बन किया । मै इस समस्त पुण्यकी

सामग्रीको त्यागता हूं। इस अवसर पर एक अन्तरमें आवाज उठती है कि इस १०-११ आनेकी सामग्रीको त्यागकर इतने उदार तुम बनने आये हो। मानो भगवानकी ओरसे किसी वकीलने एक बात रखी हो। तो यह भक्त कहता है कि नहीं-नहीं मैं यही नहीं त्याग रहा हूं किन्तु जो भी सम्पदा वैभव हो उसको मै त्यागता हू। देखो भैया! जो भक्त भगवानकी पूजा करते समय पायी हुई समस्त सम्पदासे चित्त हटा सकता है वही प्रभुकी वास्तवमें भक्ति करता है अन्यथा प्रभुपूजा वह करता जा रहा है और धनमें, लेनदेनमें, दूकानमें चित्त बनाये हुए है तो कहा प्रभुपूजा है? जोइ तना साहसी है कि पूजा करते समयमें समस्त सम्पदासे रहित केवल शुद्ध चैतन्यमात्र अपनेको निरख सकता है, वही प्रभुपूजाका पात्र है।

पुण्यकर्म व शुभभावोका निर्वपन—समस्त वैभवके त्यागनेका सकल्प करनेपर भी मानो भगवानके निकटवर्तीको सन्तोष न हुआ, फिर अन्तरसे आवाज उठती है कि वाह रे भक्त तुम भगवानको खूब बहकाने आये हो, ये सोना, चाँदी, धन, सम्पदा, मिट्टी, पत्थर इन परवस्तुवोंको त्यागनेकी बात कहकर अथवा त्याग कर तुम उदार बनना चाहते हो, और ये पदार्थ तो छूटे ही हुए हैं, इनको त्यागा कह देनेमें कौन सा महत्त्व है? तो भक्त कहता है कि नाथ! इतना ही नहीं, यह सारा पुण्य वैभव जिस पुण्यकर्मके उदयसे मिला है उस पुण्यकर्मको भी मैं स्वाहा करता हू। भाइयो! चौंकिये नहीं, यह पुण्यकर्म भी संसारमें भटकानेका ही कारण है। फिर भी भगवानकी ओरसे कोई बोला कि ये द्रव्यकर्म भी पौद्गलिक हैं, इनके त्यागमें कौनसी महिमा है? तो भक्त कहता है कि नाथ! यह पुण्यकर्म जिन पुण्यभावोंसे, शुभभावोंसे बनता है मैं इन शुभ परिणामोंको भी होमता हू। अशुभ परिणाम तो दूर रहो, किन्तु प्राक्पदवीमें जिन शुभ परिणामोंको करना चाहिये उन शुभ परिणामोंसे भी अलग होनेकी भावना ज्ञानी पुरुषके होती है। आत्माका स्वरूप न अशुभ परिणाम करता है और न शुभ परिणाम करता है, यह तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहे इसीमे स्वभावकी कला है। ज्ञानीने तो इन शुभ परिणामोंसे भी भिन्न जो सहज चैतन्यस्वभाव है उस परम-पुरुषकी दृष्टि पायी है।

वदनीय तत्त्व—यह स्वभाव तीन लोक, तीन कालके समस्त साधु-संतों द्वारा वंदनीय है। जिसने ज्ञानज्योतिके द्वारा इस पाप-अधकारको नष्ट किया है, जो परमसंयम योगी पुरुषोंके हृदय-कमलमें स्पष्ट विराजमान् है, जो पुराण पुरुष कारणपरमात्मप्रभु मन, वचन, कायके भी अगोचर है, ऐसे निकट परम पुरुषमें यह योगी देख रहा है कि करनेका भी काम क्या है और मना करनेका भी काम क्या है? यह तो सहज शुद्ध परिणाम निष्क्रिय है, केवल भावविलास-रूप है। ऐसे भावात्मक तत्त्वका आलोचन करना सो ही परमार्थ आलोचन है।

परमार्थ तत्त्वका जयवाद—यह परमार्थ सहज चैतन्यस्वरूप सदा जयवत हो। जो इन्द्रियके विषयोंसे परे है, भोगके कोलाहलोंसे दूर है, नय पक्षोंसे भी अलग है, सदा कल्याणमय है, उत्कृष्ट है, निराबाध है, केवल शुद्ध ज्योतिमात्र है, जिसे अज्ञानी जन जानते ही नहीं हैं और ज्ञानी जनोंको अपनी ज्ञानदृष्टिमें स्पष्ट व्यक्त है, ऐसा पाप-रहित निर्दोष यह चैतन्यस्वरूप सहज तत्त्व सदा जयवंत हो। अपने मनमें ऐसा संकल्प करो कि जब मैं केवल भाव करनेके और कुछ कर ही नहीं सकता हू तब ऐसे परम-तत्त्वकी भावना करूँ जिसके प्रसादसे संसारके समस्त सकट दूर हो सकते हैं। जब परम गुरुवोंके द्वारा इस शुद्ध आत्मतत्त्वको जाननेका अवसर पाया है जो शुद्ध आत्मतत्त्व आनन्द-समुद्रमें मग्न रहा करता है, उस तत्त्वको जानकर अब केवल एक इस शुद्ध कारणप्रभुकी ही भक्तिमें अपना चित्त बसाओ।

आलोचनका यही आत्मप्रभुका सच्चा जयवाद है—प्रभुका दर्शन उसे प्राप्त होता है जो भेदभावकी दृष्टि से परे केवल एक ज्ञान-पिण्ड अपनेको निहारता है। जो समस्त परिग्रहोंसे दूर है, मोहसे रहित है,

परभावोंसे शून्य है ऐसे इस परमात्मतत्त्वको नित्य सभालो, इसकी भावना बनावो। अरे जरा इन्द्रियोंको संयत किया, बाह्य पदार्थोंका विकल्प त्यागा कि यह प्रभु अपने आपमें सुगम ही उपस्थित है। सर्वविकल्पोंको छोड़कर एक चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वकी भावना करो। इस प्रकार इस परमार्थ निज-तत्त्वका अवलोकन ही वास्तविक आलोचना है। ऐसे आलोचना-स्वरूप साधु संतोंको मेरा नमस्कार हो।

कम्ममहीरुह मूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।
साहीणो समभावो आलुञ्छणमिदि समुद्दिट्ठं ॥ ११० ॥

आलुञ्छनका स्वरूप—आलोचनाके इस प्रकरणमें आलोचनाके लक्षण चार प्रकारसे कहे गए हैं—आलोचन, आलुञ्छन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि। इनमें से आलोचनाका तो वर्णन हो चुका है। समभावमें स्थित होकर अपनेको दोष-रहित निरखना और इस ही परमविधिसे अपने दोषोंका अपने प्रभुसे परम आलोचना कर लेना, सो आलोचन है। अब यहाँ आलुंछनका स्वरूप चल रहा है। आलुञ्छन कहो या आलुंचन कहो दोनों एकार्थक शब्द हैं। जैसे साधु-सन्त इस देहके मलरूप केशोंको विरक्तभावसे उखाड़कर फैंक देते हैं इस ही प्रकार परम योगीश्वर अपने आपके विकारभावोंको, मलिनभावोंको विरक्त होकर फैंक देते हैं। इस ही दोषोंके उखाड़ देनेका नाम है आलुञ्छन।

आलुञ्छनमें परमभावका अवलम्बन—आलुञ्छन आत्माके परिणामोंका ही नाम है, जो स्वाधीन है और समता-परिणामसे भरपूर है, कर्मरूप वृक्षोंके मूलसे उखाड़ देनेमें समर्थ है। कर्म दो प्रकारके हैं- एक भावकर्म और दूसरा द्रव्यकर्म। जो रागद्वेषादिक परिणाम होते हैं उनका तो नाम भावकर्म है और जो ज्ञानावरणादिक ८ प्रकारके कार्माणवर्गणारूप कर्म हैं उनका नाम द्रव्यकर्म है। जो पुरुष दोनों कर्मोंसे रहित सर्वविविक्त शुद्धस्वरूपास्तित्वमात्र चैतन्यस्वभावका अवलोकन करता है उसके दोनों प्रकारके कर्मरूप दोष दूर हो जाते हैं। यही है आलुञ्छन। भावकर्मको और द्रव्यकर्मको उखाड़कर फेंक देना, यह आलुंछन साम्यरससे भरपूर ज्ञायक-स्वरूपके आलम्बनसे ही बनता है। आलुंछनके इस लक्षणमें परम भावके स्वरूपकी प्रसिद्धि की गई है।

पारिणामिक भाव - जीवोंमें जो परिणामिक भाव है वही परमस्वभाव है। प्रत्येक पदार्थमें पारिणामिक भाव होता है अर्थात् वह स्वरूप, वह स्वभाव जो पदार्थकी सत्ताके कारण पदार्थमें सहज शाश्वत रहता है उस स्वभावका नाम है परम-पारिणामिक भाव। वह अवक्तव्य है, बताया नहीं जा सकता। उस पारिणामिक भावको बतानेका कोई उद्यम करे तो इस उद्यमका अर्थ यह है कि अभेद वस्तुका भेद कर दिया गया है और इस भेद-प्रभेदसे फिर वस्तुका स्वभाव बताया जा रहा है। जैसे आत्मामें ज्ञानस्वभाव है, दर्शनस्वभाव है, चरित्रस्वभाव है, आनन्दस्वभाव है, कितनी ही शक्तियोंको बताते जायें तो प्रश्न यह होगा कि क्या आत्मामें ऐसा भिन्न-भिन्न स्वभाव पड़ा हुआ है? भेद-बुद्धिसे तो भिन्न-भिन्न स्वभाव प्रतीत होता है, किन्तु परमार्थवस्तु क्रियात्म है, उसमें जो कुछ है वह एक है, अद्वैत है, अद्वैत स्वभाव है, अद्वैत वह पदार्थ है, अद्वैत ही उसकी प्रति समयमें पर्याय है। ऐसे अद्वैतस्वरूप वस्तुका जब प्रतिपादन किया जायगा तो उसके भेद हो जायेंगे। इन्हीं भेदोंका नाम है गुण। इन समस्त गुणोंका जो अभेद करने वाला एक स्वभाव है उस स्वभावको पारिणामिक-भाव कहते हैं।

पारिणामिक भावकी निरपेक्षता—जीवमें एक पारिणामिक स्वभाव है, जिसको चैतन्यभाव चित्स्वभाव इन शब्दोंसे कहते हैं। यह स्वभाव न औदयिक है, न औपशमिक है, क्षायिक है और न क्षायोपशमिक है अर्थात् यह मेरा स्वभाव मेरे सत्त्वके कारण अनादिसे है। यह स्वभाव कर्मोंके उदयसे नहीं होता है। स्वभाव कर्मोंके उदयसे तो हो ही क्या? स्वभावका जो अपूर्ण विकास है वह भी कर्मोंके उदयसे नहीं होता। जैसे लोग कहते हैं कि इसके कर्मोंका अच्छा उदय है, खूब ज्ञान मिला, पर ज्ञान कर्मोंके क्षयोपशम

से मिला है, उदयसे नहीं मिला है। कर्मोंका उदय तो स्वभावके रोकनेका ही कार्य किया करता है, स्वभाव का विकास नहीं होने देता। तो जब स्वभावका अधूरा विकास भी कर्मोंके उदयसे नहीं है तो स्वभाव तो उदयसे होगा ही क्या ? मेरा यह चैतन्यस्वभाव कर्मोंके उदयसे नहीं है।

परमस्वभावकी सहज सनातन अहेतुकरूपता—जो कुछ मुझमें स्वभाव है वह अपने आप शाश्वत अहेतुक है। अग्निमें गरमीका स्वभाव पड़ा है तो गरमीका स्वभाव किसी वस्तुके सम्बधके कारण नहीं है, किन्तु अग्निका स्वरूप ही इस प्रकार है कि वह गरमीके स्वभावको लिए हुए है। ऐसे ही मुझमें जो भी एक स्वभाव है जिसे कि मुखसे नहीं कह सकते और कहेंगे तो उसके टुकड़े करके कहेंगे। जैसे मेरेमें ज्ञानका स्वभाव है, आनन्दका स्वभाव है, यह सब टुकड़ा करके कहा जायेगा। मुझमें जो अखण्ड-स्वभाव है वह अवक्तव्य है। वह स्वभाव कर्मोंके उपशमसे नहीं होता है। पदार्थमें जो स्वभाव है वह उसमें सहज ही हुआ करता है, न किसी पदार्थके संयोगसे, न किसी पदार्थके वियोगसे स्वभाव हुआ करता है। भले ही आत्मामें कर्मोंके विलयसे केवलज्ञान हो जाय तो कर्मोंके क्षयका निमित्त पाकर एक सर्वज्ञता हो गयी, इतने पर भी उस आत्मामें जो ज्ञानस्वभाव है वह ज्ञानस्वभाव कर्मोंके विलयसे नहीं होता है, क्योंकि यदि कर्मों के विलयसे ज्ञानस्वभाव बनने लगेतो इसका अर्थ यह है कि जब तक कर्मोंका क्षय नहीं हुआ तब तक इस में स्वभाव ही नहीं था क्या ? जो भी सत है उस प्रत्येक पदार्थमें स्वभाव सहज है और अनादिसे है।

सहज शाश्वत निजतत्त्व—आत्मामें यह चैतन्यस्वभाव अनादिसे है, अनन्त तक है। यह हम आपके सबके परमार्थ घरकी बात चल रही है। जो निजी-घर है, जहाँ वास्तविक शरण मिला करती है, जहाँ परमार्थ-आनन्द प्राप्त होता है उस निज घरकी बात यह है। इस जीवने कभी भी अपने इस सहज-स्वभाव कोनिधि-रूपमें नहीं माना। बहिर्मुख दृष्टि होनेसे इन बाहरी जड़ विभूतियोंको अपना सर्वस्व माना। यही कारण है कि जो देह पाया, जोसग पाया उसे ही सर्वस्व माना तो ससारमें भ्रमण कर रहा है, कहीं विश्राम नहीं मिलता। जो जीव अपने आपमें बसे हुए परम-शरण रक्षक आनन्द-स्वरूप स्वभावको पहिचान लेता है उसने धर्म पाया। जो आंखें खोलकर बाहरमें ही कुछ निर्णय किया करते हैं, धर्मके नाम पर विकल्प बनाया करते हैं उन्होने धर्मका स्वरूप नहीं पाया। जो गुप्त रहकर परम विश्राम-पूर्वक अपने आपमें इस सहज चैतन्यस्वभावका अनुभव करता हो उसने धर्मका स्वरूप पाया।

धर्मपालन—लोग यह देखकर कुछ हैरान रहते है कि अमुक लोग बड़ा धर्म करते हैं, इतने वर्षोंसे पूजा-पाठ, ध्यान, तिलक सभी कुछ लगाते चले आए हैं, हाथमें माला रहती है, जहाँ चाहे जपते रहते हैं, ये तो बडे धर्मात्मा मालूम होते हैं, पर हो क्या बात ? कि न तो वहाँ धर्म हो और न कोई लौकिक सम्पदा हो, न खुद सतुष्ट हो और मामूलीसी घटनाओंमें क्रोध उमड़ आता हो तो इसकी वजह क्या है ? इतना तो धर्म करते हैं, इतने वर्ष तो धर्ममें लगा दिये और फिर भी ज्योंके त्यों अशात हैं। इसकी क्या वजह है ? अरे वजह क्या है, उतने वर्ष धर्म नहीं किया है, केवल अपने मन, वचन और कायका व्यायाम किया है। कोई धर्म करे और सतोष न मिले यह त्रिकाल नहीं हो सकता। धर्म जहाँसे उत्पन्न होता है और जो धर्म है उसका ही स्वरूप विदित नहीं है तो किसके आलम्बनसे धर्म प्रकट हो। यह बाहरी आलम्बन तो एक साधन मात्र है। यह ही सब धर्म नहीं है। इन साधनोंका कोई सदुपयोग करे और परमार्थ विधिसे अपने धर्म-स्वभावका आलम्बन करे तो धर्म प्रकट होगा। वह धर्म है यही पारिणामिक स्वभाव, चैतन्य-स्वभाव। मेरा स्वरूप किस प्रकारका है ?, कैसा स्वभाव है, कैसा उसका सहज रूपक है ? क्या लक्षण है ? उस स्वरूप पर दृष्टि जाय तो धर्मपालन हुआ।

पारिणामिक भावकी अविकारस्वरूपता—विशुद्ध निज-स्वरूपदृष्टा पुरुषके अशांति रह नहीं सकती। जिसने समस्त परद्रव्योंसे भिन्न केवल ज्ञायकस्वरूपमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव किया हो, जो अनुभव

कर रहा हो, उसे जब बाह्य विकल्प ही कुछ नहीं रहा, किन्हीं परपदार्थों पर उपयोग ही नहीं रहा तो उसे अशान्ति कहाँसे प्रकट होगी ? यों यह जीवके ५ भावोंमें से पारिणामिक भाव नामक पंचमभाव है। जो विभाव-स्वभावके अगोचर है ऐसा यह चैतन्यस्वरूप है, इसके आश्रयमें ही वह सामर्थ्य है कि भव-भवके बाँधे हुए द्रव्य-कर्म और रागद्वेष आदिक भावकर्म, ये क्षणमात्रमें ध्वस्त हो सकते हैं। इस मेरे स्वभावमें न उदयका विकार है, न उदीरणाका, न उपशमका, न क्षयका, न क्षायोपशमिकका।

आत्मामें परिणाम और पारिणामिकता—भैया ! आत्मामें कितने ही प्रकारकासंयोग-वियोगरूप विकार-भाव भी है, फिर भी यह तो अद्वैत है, अपने स्वरूप सत्त्वके कारण शाश्वत सत् है। यह तो यही है। इस ही भावको लक्ष्यमें लेकर कुछ लोगोंने इस ब्रह्मको सर्वथा अपरिणामी कह दिया है। अरे यह स्वभाव अप-रिणामी है, परस्वभाव स्वभाववानको छोड़कर तो नहीं रहता। इस स्वभावमय जो पदार्थ है आत्मा, यदि उपाधि दशामें इस आत्मामें रागद्वेप आदि परिणमन न हो तो फिर मोक्ष किसे दिलाते हो ? जो लोग मानते हैं कि आत्मा तो सर्वथा अपरिणामी है उनके गतव्यसे फिर मोक्ष कुछ नहीं रहा, क्योंकि आत्मा तो अपरिणामी है वह तो सदा शुद्ध है, उसमें तो रागद्वेप ही नहीं है, फिर मोक्ष किसे दिलाते हो ? दुःखी कौन है ? जो दुःखी हो उसको ही तो मोक्ष दिलाना होगा। आत्मा तो दुःखी है नहीं, शरीर दुःखी है, जड़ दुःखी है। तो जड़-पदार्थोंका मोक्ष हुआ, फिर तो चैतन्यका मोक्ष नहीं हुआ, यह भी सगति नहीं बैठती क्योंकि जड़-पदार्थोंमें दुःख आ ही नहीं सकता। लक्कड़-काठ जलकर राख हो जाते हैं, इनमें कोई दुःखकी वेदना ही नहीं होती। ये तो पुद्गल हैं। किसी भी अवस्था-रूप बन जाये उनसे क्या हानि है।

अनाकुलस्वभावकी विमुखतामें आकुलता—आत्मा एक पदार्थ है, उसका स्वभाव अपरिणामी है, शाश्वत है, निरपेक्ष है, निर्विकार है, किन्तु परउपाधिके सम्बधमें यह आत्मा अपना उपयोग इस निर्विकार निरपेक्ष स्वभावका नहीं कर सकता है, इसी कारण इसमें रागद्वेप कषायोंकी तरगें उठती हैं, इसीसे आकुलित है। इस आकुलताको दूर करनेके लिए मोक्षका उपाय बताया गया है। जितने भी धर्मके प्रसग हैं उनमें धर्मका रूप तब ही पा सकते हैं जब इस धर्म करने वालेकी दृष्टिमें अपना यह अविकारीस्वभाव नजरमें रहे।

आत्माका वैभवसे पार्थक्य—भैया ! मैं सबसे न्यारा चैतन्यस्वभावमात्र हू, इसकी परीक्षा भी कर लो, धन, वैभव आदि जड़-पदार्थोंसे तो न्यारे हैं ही। आप लोग मदिरमें बैठे हैं, इस समय न आपके साथ मकान चिपका है, न कुटुम्ब चिपका है, आप अकेले यहाँ बैठे हैं। ज्यादासे ज्यादा आप इतना कह सकते हैं कि हम शरीरके साथ बैठे हैं। शरीरको छोड़कर और कुछ भी साथ है क्या ? घर, घरकी जगह खड़ा है, वह पत्थर-मिट्टीका ढेला है, उसका उसमें उसके कारण परिणमन चल रहा है, आप यहाँ विराजे हैं, आज अपनी कल्पनामें उसे अपना मानते हो, भव बदल जाय तो जहाँ उत्पत्ति होगी वहा जो मिलेगा उसे अपना मान लोगे। फिर इसकी खबर क्या रहेगी ? और जिन्दगीमें भी कुछसे कुछ विचित्र घटना बन जाय, मकान बिक जाय तो फिर इसे अपना नहीं मान सकते। तो यह आत्मा बाह्य-वैभवसे तो प्रकट भिन्न है। अब देहकी बात निरखो।

आत्माका देहसे पार्थक्य—भैया ! इतना तो स्पष्ट ध्यानमें आता कि मर जाने पर यह देह कोरा एक जड़ जैसा है तैसा ही रह गया, जीव निकल गया। वहा तो पूरा श्रद्धा है ना कि जीव इसमें नहीं रहा, जीव इसमेंसे निकल गया। अगर यह श्रद्धा न हो तो आप मुर्दा नहीं जला सकते। वहा तो यह श्रद्धा बन जाती है कि जीव न्यारा है शरीर न्यारा है। अब जीव नहीं रहा इसमेंसे जीव निकल गया तो इसे अब जला देना चाहिए। जो शरीर निर्दयता-पूर्वक अग्निमें जला दिया जायगा। उस शरीरको आपा मानना यह कितनी बड़ी भूल है ? आज शरीरमें हैं, इसकी फिकर रखते हैं, खिलाते हैं, सजाते हैं, अनेक इस

शरीरके लिए श्रम किया करते हैं, मगर इस मुर्दा शरीरमे दूसरे हाथ पैर न बन जायेंगे। यह शरीर ऐसे ही किसी दिन मित्रों द्वारा, बन्धुवों द्वारा जला दिया जायेगा।

परिजनोंका रवैया—करते क्या हैं कुटुम्बीजन या मित्रजन, लौकिक दोस्त कि इसके द्वारा पाप कराते हैं और फिर अन्तमें इसे जला डालते हैं। ये कुटुम्बीजन पाप कार्य करवाते हैं, अन्तरमें कुछ धर्मकी बात नहीं प्रकट करवाते हैं। यदि कोई धर्मकी बात ये लौकिक-मित्र प्रकट करते हों तो बतलावो—पाप करवायें, विकल्प मचवायें, कर्मबंध करायें और अंतमें इसे जला डालें। ऐसे पशु-जीवन व नर-जीवनमें कुछ अन्तर है। जैसे पशुवोंके मालिक-लोग पशुवोंसे खूब कमाते हैं, खूब बोझा लादते; वे पशु बीमार हो जाते तब भी फिकर नहीं, कंधे सूज जायें तो भी गाड़ीमें जोतते, हर तरहसे काम कराते। जब पशु बेकार हो गया तो कषायीके हाथ बेच दिया, वहाँ उसका गला कटवा दिया। पशुवोंके प्रति पशुवोंके मालिकका यह रवैया है तो मनुष्योंके प्रति इन मनुष्योंके मालिकका क्या रवैया है? इन मनुष्योंके मालिक कौन हैं, जो-जो इनसे काम करवाये वे सब मालिक हैं, जिन-जिन कुटुम्बीजनोंके लिए, मित्रजनोंके लिए यह जुतता है, काम करता है, श्रम करता है वे सब इसके मालिक हैं। यह मोही-जीव मानता है कि मैं इनका भी मालिक हू और हो रहे हैं वे खुद इसके मालिक, उतने मालिक इस मनुष्यके खूब काम कराते हैं, जोतते हैं। जब यह बेकार हो जायगा, मृत्यु हो जायेगी, केवल ढांचा रह जायगा तो ये ही सब उसे शीघ्र जला डालते हैं। कौनसे कुटुम्बी, कौनसे मित्रजन उपकार करते हैं सो बतावो—उपकारी तो वास्तवमें देव, शास्त्र, गुरु हैं, इनके सिवाय कोई वास्तविक उपकारी हो तो बतावो। बाकी लोग तो सब खुद विषय-कषायोंमें फँसना, दूसरोंको फँसाना—यह एक काम किया करते हैं।

परमशरण परमब्रह्मके दर्शन विना जीवकी विडम्बना—यह परमस्वभाव, यह परमशरण, यह हमारा रक्षक खुद खुद ही में विराजमान् है किन्तु इसे न पाकर इसके दर्शन बिना कितना भटका है यह जीव? कितना दूर-दूरके पदार्थोंमें इसने अपना उपयोग लगाया है, बस यही बहिर्दृष्टिपना इस जीवको संसारमें जन्म-मरण करा रहा है। यह चैतन्यस्वभाव इसी कारणसे परम कहलाता है और इस स्वभावके अतिरिक्त अन्य समस्त भाव अपरम कहलाते हैं, हम किसका सहारा लें कि हमें धोखा न मिले और नियमसे शुद्ध-ज्ञानानन्दका पद प्राप्त हो जाय। उस सहारेका नाम तो लीजिए। मकान दूकान तो प्रकट असार हैं, इनमें उपयोग लगानेसे तो आकुलता ही मचती है। बतावो—जब पैदा हुए थे तब क्या चीज संगमें लाये थे? और जब मरण करेंगे तो क्या चीज संगमें ले जायेंगे? अरे जितने दिनों तक जीवित हैं उतने दिन भी कोई चीज संगमें नहीं है। आत्माके प्रदेशमें कौनसा पदार्थ प्रवेश कर सकता है? सब जुदे हैं, लेकिन मोहका पिशाच ऐसा बुरा लगा हुआ है कि यह जीव उसके ऊधममें कारण यथार्थ-बात पर टिक नहीं सकता।

विश्राम और धर्मका आश्रय—यह मुग्धजीव अपने स्वरूपसे च्युत होकर बाह्य अर्थोंमे दृष्टि लगाकर अनाप-सनाप भटक रहा है, इसे विश्राम नहीं मिलता। वहाँसे विश्राम मिले? विश्रामका कहीं ठौर ही नहीं हो सकता है। ऐसा यह परमचैतन्यस्वभाव परमभाव कहलाता है, इसके अतिरिक्त जो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव हैं इन चारोंको अपरम कहते हैं। इस ही शुद्ध परमस्वभाव का चैतन्यस्वभावका आलम्बन संसार विष-वृक्षके मूलको उखाड़नेमें समर्थ है। समस्त संकटोंका अपहरण करने वाले अपने आपके इस चैतन्यप्रभुका आश्रय करनेमें ही कल्याण है। इसके आश्रयमें धर्म प्रकट होता है।

सर्वजीवोंमें परमस्वभावकी विद्यमानता—यह चैतन्यस्वभाव समस्त कर्म विष-वृक्षके मूलको उखाड़ देनेमें समर्थ है। यह परमस्वभाव मिथ्यादृष्टिके भी सतत् प्रकाशमान् रहता है, लेकिन उसके उपयोगमें वह

स्वभाव नहीं है इसलिए उपयोगमें अविद्यमान है, किन्तु चैतन्यस्वभावमें तो सदा विद्यमान ही रहता है। यह परमात्मतत्त्व त्रिकाल निरावरण है और अनन्तचतुष्टयसम्पन्नतारूप पर्यायका कारण है। मिथ्यात्वके उदय होने पर जीवके श्रद्धान नहीं रहता है इसलिए मिथ्यादृष्टि जीवके यह चैतन्यस्वभाव अविद्यमान है फिर भी निश्चयसे सदा विद्यमान ही रहता है। नित्य निगोदके जीव हैं उनके भी शुद्ध निश्चयसे यह परमभाव बना हुआ है। सर्वजीवोंके यह चैतन्यस्वभाव है। जो एकेन्द्रिय आदिक हैं उनके भी यह कारण-परमात्मतत्त्व हैं, जो सञ्ज्ञी भी हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि हैं अथवा इस परमस्वभावका लोप करने वाले हैं, जिनका मतव्य नास्तिकता-रूप है ऐसे जीवोंके भी यह कारण-परमात्मतत्त्व विद्यमान है।

भव्य और अभव्योंमें परमस्वभावकी एकरूपता—आत्मस्वभावका आलम्बन करनेसे मिथ्यात्वका छेदन होता है और द्रव्यकर्म, भावकर्म सभी प्रकारके विषवृक्षके निर्मूलनमें सामर्थ्य प्रकट होती है। इस पारिणामिक भावके भेद नहीं हैं, वह अभेद है। भव्य जीव हो उसके भी पारिणामिक-भाव उस ही प्रकार है जिस प्रकार अभव्यजीवके है। भव्य और अभव्यका भाव स्वभावसे नहीं उठा हुआ है। इस कारण पारिणामिक भावसभी जीवोंके एक समान रहता है। जैसे मेरुपर्वतके नीचे भागमें जो स्वर्णराशि हो, स्वर्ण पाषाण हो उसमें भी स्वर्णपना है। यद्यपि यह निकल कैसे सके, मेरुपर्वतके मूलभागमें नीचे पड़ा हुआ स्वर्णका ढेर यद्यपि प्रकट नहीं हो सकता, किन्तु वहाँ तो स्वर्णराशि है ही। इसी प्रकार अभव्य जीवोंके यह परमस्वभाव विकासरूपमें प्रकट नहीं हो सकता है किन्तु परमस्वभाव उस वस्तुमें अवश्य है, व्यवहारमें न आ सकेगा, यह बात अलग है। यह परमस्वभाव शुद्ध परिणमनसे परिणत न हो सके, फिर भी चूँकि यह चेतन्यद्रव्य है और चेतनमें चेतनत्वका होना शाश्वत है इस कारण यह चैतन्यस्वरूप अभव्य जीवोंके भी निरन्तर बना रहता है। परमस्वभावका जो आश्रय कर सकने योग्य हैं उन्हें भव्य-जीव कहते हैं और जो इस परमस्वभावका आश्रय करने योग्य नहीं है उन्हें अभव्य जीव कहते हैं, लेकिन यह परमस्वभाव सभी जीवोंके शाश्वत रहता है।

आलुञ्छनमें आश्रेय परमस्वभाव—जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं, अति आसन्न भव्य जीव हैं, जिनका मोक्ष निकट है उनको तो यह परमस्वभाव प्रतिभासित हो जानेके कारण, अनुभवमें आनेके कारण सफल बना हुआ है। ज्ञानी-जीवको यह परमात्मस्वरूप सदा स्पष्ट व्यक्त रहता है और इस ही कारण इस परम-पारिणामिक भावके आश्रयके द्वारा इन भव्य जीवोंको आलुञ्छन नामका पुरुषार्थ प्रकट होता है, ज्ञायकस्वरूपका उपयोग करना यह आलुञ्छन है। इस उपायके द्वारा समस्त दोष, समस्त कर्म दूर हो जाते हैं। कौनसा ऐसा जगतमें तत्त्व है जिसका आश्रय करनेसे यह जीव निःशंक, निर्भय होकर परम-आनन्दको प्राप्त होता है ये धन, वैभव, मकान सब प्रकट असार हैं, भिन्न हैं, अचेतन हैं, इनसे मेरे आत्मामें कोई परिणति प्रकट नहीं हो सकती है। यह मैं आत्मा अपने गुणों स्वरूप हू, इसमें मेरे ही गुणों का विकास सम्भव है। किसी अन्य पदार्थके विकाससे मेरे गुणोंका विकास नहीं हो सकता है। आत्म-गुणोका विकास शुद्ध होता है जब यह शुद्ध आत्मगुणोंका आश्रय करे। जब आत्मा गुणोंका आश्रय न करके मिथ्यात्व परिणामवश वाह्य-पदार्थोंमें हित-बुद्धि करता है, रुचि रखता है तो इस जीवको विपरीत भाव प्रकट होता है जिसके कारण ससारमें रुलना पड़ता है।

ज्ञानीकी भक्तिका स्थान—यह परमस्वभाव कर्मोंसे अत्यन्त दूर है, कर्मोंका इस स्वभावमें प्रवेश नहीं है, किसी भी वस्तुका स्वभाव किसी अन्य वस्तुके कारण न बनता है, न बिगड़ता है और न परिणमता है, स्वभाव तो पदार्थमें सदैव नियत रहता है। यह वस्तुकी प्राकृतिक व्यवस्था है। अपने आपमें बसा हुआ अपना लाल, अपना चिन्तामणिरत्न अपने आपको नहीं मालूम है। इस कारण यह जीव दर-दर भिखारी हुआ भटकता रहता है। कभी किसी पुरुषका आश्रय करता है, कभी किसी पुरुषका आश्रय करता है।

जो आत्मा साधु, योगी, संत है उनके लिए एकदम स्पष्ट प्रकट है अपने आपका परमात्मा। मोहीजन इस निज परमात्मतत्त्वको न समझकर पुत्र-स्त्री आदिकमें अपने हित-भावकी आशा करते हैं, ये ही मेरे सर्वस्व हैं, इनसे ही मुझे सुख मिलेगा, इनके लिए ही मेरा जीवन है, जो कमाया वह सब इस कुटुम्बके लिए है। शरीरका जो श्रम किया जाता है वह सब इस कुटुम्बके लिए है। इस अज्ञानी-जीवने धर्मके साधनोंकी सेवा नहीं की। चेतन धर्मस्थान और अचेतन धर्मस्थान किसीके भी प्रति धर्म-रूपसे उमंग भी उत्पन्न नहीं हुई।

परमार्थ धर्मस्थान—यह परमार्थ धर्मस्थान सहज परमात्मतत्त्व मुनियोंको प्रिय है। मुनिजन निर्जन जन्तुवोंसे भरे हुए वनके अन्दर रहते हुए भी सदा-प्रसन्न रहा करते हैं, उन्हें ऐसी कौनसी निधि मिली है जिसके कारण वे तृप्त, सतुष्ट और आनन्दमग्न रहा करते हैं। न उनके साथ फौजफाटा है, न वैभव है, और की तो बात जाने दो खाने-पीनेका भी रचमात्र साधन नहीं है, फिर भी बड़े-बड़े महाराज, चक्रवर्ती अपने वैभवको त्यागकर निर्ग्रन्थ अवस्थामें रहकर प्रसन्न रहा करते हैं। ऐसी कौनसी निधि है जिस निधिके कारण वे प्रसन्न रहा करते हैं? वह निधि है इस कारणसमयसारका अनुभव। यह चैतन्यस्वरूप एकाकार है। एक ज्ञानानन्द रससे भरपूर है, अनादि-अनन्त है, इसका न कभी आदि होता है और न कभी अन्त हो सकेगा। वह शुद्ध है।

पारिणामिक भावके आश्रयका जयवाद—यह पचमभावरूप परम-पारिणामिक भाव सदा जयवत हो। इसका ही आश्रय ससारके समस्त सकटोंको नष्ट कर सकने वाला है, अन्य किसीका भरोसा झूठा है। किसका सहारा लें कि आत्मा चैनमें रह सके। अब तक चैनमें नहीं रह सका यह जीव और आश्रय लिया अनगिन्ते पदार्थोंका, अनगिन्ते जीवोंका, पर कहीं भी इस जीवको तृप्ति नहीं मिल सकी। यह अब तक भी आकुल बना हुआ है। जो शान्ति होनेकी पद्धति है उसके विरुद्ध कोई चले तो उसे शान्ति कैसे मिल सकती है? अपना ही तो यह उपयोग है और अपना ही यह स्वभाव है। यह अपना उपयोग अपने ही अन्तरमें शाश्वत प्रकाशमान् इस स्वभावको ग्रहण करे, इसका ही आलम्बन ले तो आज भी कोई आकुलता नहीं हो सकती है किन्तु अब अपने इस शुद्धस्वरूपसे चिगकर बाह्य-पदार्थोंमें दृष्टि फँसाते हैं तो नाना आकुलताएँ होना प्राकृतिक ही बात है।

पर्यायबुद्धिका पर्दा—अनादि कालसे यह समस्त जीव-लोक तीव्र-मोहमें सदा मत्त बना हुआ है। कितना सकुचित इसका लक्ष्य हो सकता है, इने गिने कल्पित-पदार्थोंके लिए अपनी जान भी न्यौछावर कर देते हैं, यह नहीं समझ पाते कि इस जगतमें ६ जातिके द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी जातिमें पूर्ण समान है। चैतन्यद्रव्य चैतन्यस्वरूपसे सर्वसमान हैं। इस चैतन्य-पदार्थमें से कौनसा पदार्थ अपना है, कौनसा पदार्थ पराया है, सभी पर हैं। भले ही कुछ कल्पनाकी अनुकूलतामें मोहीजनोंसे अनुराग बना हुआ है लेकिन इस अनुरागका भी तो विश्वास नहीं है। आज कषायकी अनुकूलता है तो विश्वास बना हुआ है, कषायकी अनुकूलता न रहे तो यह भरोसा भी नहीं रह सकता है। यह सारा जीव-लोक पचेन्द्रिय और मनके वश होकर भ्रष्ट बना हुआ है। जो सज्ञी हैं वे मनसे भी मूढ़ हैं, जो असंज्ञी हैं, जिनके जितना इन्द्रिय परिणाम है वे उन इन्द्रियोंसे मूढ़ बने हुए हैं। जब पर्याय-बुद्धिका मोह दूर हो तो यह ज्ञान-ज्योति प्रकट हो सकती है। एक अज्ञानके पर्देसे इतना बड़ा अन्तर हो गया है। इस पर्देके अन्तर तो सुखसागर उपस्थित है और इस पर्देके बाहरमें सर्वत्र क्लेश-जाल मौजूद है।

आत्माका अशुद्ध-तत्त्वोंसे पार्थक्य—भैया! इस जीवको कहाँ है क्लेश? यह स्वयं है क्या, इसका निर्णय करके परखें तो जीवको कहीं भी क्लेश नहीं है। यह विभावोंसे परे है, यह देहसे भी न्यारा है, रागादिक भावोंसे भी यह दूर है, भले ही ये रागादिक-भाव इस आत्माके ही एक क्षेत्रमें हो रहे हैं, लेकिन स्वभावमें त्रिकाल भी ये प्रवेश नहीं कर सकते हैं, अर्थात् जीवका स्वभाव रागादिक रूप कभी हो ही नहीं

सकता, इस कारण परमस्वभाव रागादिकस्वभावसे अत्यन्त दूर है। यह दूरी भाव-अपेक्षासे है, क्षेत्र-अपेक्षासे बात नहीं कही जा रही है। ऐसा यह कारणसमयसार रागादिक भावोंसे भी दूर है, ज्ञानियोंको सदा प्रकट है, अज्ञानियोंको यह अप्रकट है, इसका सहारा जिन्हें नहीं मिलता है वे इस जगतमें परवस्तुके आशावान् होकर भटकते रहते हैं। आशाके प्रकार अनेक होते हैं। कोई मनुष्य तीव्र मोहमें घर-कुटुम्बको ही अपना समस्त वैभव जानकर उनके लिए सब प्रकारकी आशा किया करते हैं। कोई पुरुष अपने आपकी इज्जत-पोजीशनको अपना सब कुछ महान् जानकर उस पोजीशनके रखनेके लिए परजीवोंकी आशा रखा करते हैं। कोई पुरुष परवस्तुसे धर्म होता है ऐसा परिज्ञान करनेके कारण धर्मकी धुनमें धर्मके स्थानभूत बाह्य निमित्तोंका आश्रय किया करते हैं। आशाके अनेक प्रकार हैं। ये सर्वप्रकारकी आशाएँ वहाँ शान्त हो सकती हैं जहाँ यह कारणसमयसार शुद्ध चैतन्यतत्त्व दृष्टिमें आ गया हो।

ज्ञानीकी निःशङ्कता—जिसको अपना यह चिन्तामणि सर्व संकटोंसे दूर अपने आपमें शाश्वत विराजमान् अनुभूत हो जाता है उस पुरुषको संसारकी फिर शंका नहीं रहती है, जो अपनेको एकाकी मानता है उसको कष्ट नहीं है। जो अपनेको परसे मिला-जुला हुआ मानता है उसको ही कष्ट हुआ करता है। कोई कष्टकी बड़ी से बड़ी परिभाषा रखलो जरा—कहीं ऐसा न हो जाय कि मेरा जितना भी वैभव है यह सब वैभव सरकार छुड़ा ले, ऐसी भी कल्पना करो तो भी विचार करके तो देखो—आकाश-वत्, निर्लेप, अमूर्त, ज्ञानमात्र इस आत्मतत्त्वमें कौनसा बिगाड़ हो जायगा ? यदि सारा वैभव भी कोई छीन ले। रही यह बात कि क्षुधा, तृषाकी वेदना मिटानेका क्या साधन न होगा ? अरे इसकी क्या चिन्ता करना ? जिन कर्मोंके उदयवश यह जीवन पाया है क्या वहाँ और कर्मोंका उदय नहीं चल रहा है ? सब का गुजारा किसी न किसी प्रकार हो ही रहा है। जिनका लोकमें कोई सहारा नहीं है ऐसे भिखारीजन भी अपने आपका जीवन चला लिया करते हैं। जिनसे कोई वचन व्यवहार भी करने वाला नहीं है ऐसे कीडे-मकौडे भी अपना जीवन बराबर चला लिया करते हैं। क्या चिन्ता करना ? जो सत् है वह किसी न किसी रूप परिणमता रहेगा, यह मर्मज्ञानीको ज्ञान है। चिन्ताकी क्या बात है ? जो भी स्थिति आए उस ही स्थितिमें प्रसन्न रह सकें ऐसा ज्ञानबल प्रकट हो तो उसे शान्ति हो सकेगी। ज्ञानबलसे हीन पुरुष परकी आशा लगाकर दोषोंके पुञ्ज बन रहे हैं।

निर्भ्रान्तिमें यथार्थ सन्तोष—यहाँ यह ज्ञानीसंत एक परमस्वभाव चिद्रूपके ध्यानके प्रतापसे समस्त दोषोंको उखाड़ रहा है। यही है उसका आलुञ्छन। जब जीवके मोहका अभाव होता है तब निःशंकता, निर्भ्रान्तता और निर्व्याकुलता ये सभी अभीष्ट तत्त्व प्रकट हो जाते हैं। भ्रमसे बढ़कर अन्य कोई दुःख नहीं है। जैसे किसीको रस्सीमें सांपका भ्रम हो जाय तो यद्यपि रस्सी-रस्सीकी जगह है, वह मनुष्य अपनी जगह है किन्तु कल्पनामें आनेसे इस मनुष्यकी शंका भी बढ गई, व्याकुलता भी बढ़ गई और वह भ्रांत-चित्त भी हो गया। कभी-कभी किसी उपायसे यह रस्सीका यथार्थ परिज्ञान करले, समझमें आ जाय कि यह तो कोरी रस्सी ही है तो इस भ्रमके मिटनेसे ही तत्काल ही शंका भी दूर हो गयी, व्याकुलता भी दूर हो गयी और चित्त भी व्यवस्थित बन गया। ऐसे ही प्रकट भिन्न असार परपदार्थोंमें जब तक यह भ्रम लगा हुआ है कि यह पदार्थ मेरा है, हितकारी है तब तक यह जीव शंकित भी रहता है, व्याकुल भी रहता है और भ्रांतचित्त भी रहता है। इसका उपयोग किसी भी अन्य पदमें फिट नहीं बैठ पाता है कि जहाँ इसे संतोष हो जाय। जिस भूल-भरी प्रवृत्तिसे क्लेश बढ़ रहा है उस ही प्रवृत्तिसे यह क्लेशके नाशका उपाय मानता है।

आलुञ्छनका आधार और प्रसाद—आलुञ्छनके प्रसंगमें यह परम आलोचक भव्यजीव परमशरण, निज परमपारिणामिकभवका शरण ले रहा है जिसका आश्रय करनेसे निश्चयसे समस्त संकट टल जाते हैं।

कल्पनाका संकट है। विकल्पजालका क्लेश है। वे समस्त विकल्पजाल और भ्रान्ति भरी कल्पनाएँ नष्ट हो जाती हैं, यों उसके समस्त संकट समाप्त हो जाते हैं। ऐसा यह आत्मवस्तुमें बसा हुआ पंचम परम-पारिणामिक भाव जो समस्त शुद्ध-पर्यायोंका मूल है, जिसका आश्रय करनेसे शुद्धपर्यायोंकी संतति चलती रहती है, उस शुद्धचैतन्यस्वरूप अपने आपको अनुभवो। लोगोंमें अपने आपके सम्बंधमें किसी न किसी रूपमें अनुभव करनेकी परिणति पड़ी हुई है। कोई अपनेको गृहस्थ मानता है, कोई साधु मानता है, कोई कोई धनी मानता है, कोई किसी प्रकार समझता है। अरे ये सब उपाधियां मायास्वरूप हैं। इन उपाधियों रूप अपनेको माननेसे कोई सुधार न होगा। संसारमें रुलना वैसा ही बना रहेगा। अपने आपको मानो उस रूप, जो यह मैं अपने आप स्वतः सहज, परकी अपेक्षा बिना शाश्वत होऊँ ऐसा यह मैं हूं। ऐसा शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अपने आपको लखनेसे ये समस्त दोष उखड़ जाते हैं। इस प्रकार आलोचनाके चार लक्षणोंमें यह आलुछन नामका लक्षण कहा गया है। इस आलुछनके प्रसादसे यह संसारी जीव संसार संकटोंसे मुक्त होकर शाश्वत निर्वाणपदको प्राप्त होता है।

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणंति विण्णेयं॥ १११॥

अविकृतिकरणका स्वरूप—जो जीव मध्यस्थभावना रखकर देहसे भिन्न आत्माको निर्मल गुणोंका निवासरूप भाता है उस जीवके अविकृतिकरण जानना चाहिए। इस गाथामें आलोचनाके लक्षणोंमें से जो तृतीय लक्षण अविकृतिकरण है उसका स्वरूप कह रहे हैं। इसमें शुद्ध अविकारी जीवकी परिणति बतायी गया है। जो पुरुष पापरूपी वनको जलानेके लिए अग्निकी तरह प्रज्ज्वलित है, जिसने समस्त विभावोंसे भिन्न आत्मतत्त्वकी ओर अपना झुकाव किया है, जहाँ केवल ज्ञानानन्दस्वरूप ही अनुभूत होता है, जो द्रव्यकर्म और भावकर्मसे भिन्न है ऐसे आत्माको जो ध्याता है वह स्वयं ही अविकृतिकरण नामक आलो-चनाका स्वरूप है। अविकृतिका अर्थ है विकार न होना। अपने आपको अविकारी करनेका नाम है अवि-कृतिकरण। यह जीव स्वभावसे अविकारी है प्रत्येक पदार्थ स्वयं जैसा है वैसा ही सदा रहता है। उसमें पर्यायदृष्टिसे उपाधिका निमित्त पाकर विभाव-परिणमन चलता है पर विभाव-परिणमन चलने पर भी पदार्थका स्वरूप वही रहता है जो उसके सत्त्वके कारण उसमें अन्तर व्यक्त रहता है। यह अविकृतिकरण सहज गुणोंका आलम्बन करनेसे प्रकट होता है।

परभावविविक्त अविकार स्वभाव—जो पुरुष अपने आपको अविकाररूपसे श्रद्धान नहीं कर सकता उस पुरुषके विकार कभी हट भी नहीं सकते हैं। जिनकी समझ ही में यह बात नहीं आयी है कि मैं स्वभावतः शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, जो विकार आये हैं वे परनिमित्त पाकर आये हैं, हुए हैं आत्मामें ही पर आत्मा ही उपादान हो और वही निमित्त हो, ऐसा नहीं है। अशुद्धभावका दान तो अशुद्ध आत्मा है परन्तु वही आत्मा अपने विभावके लिए निमित्त हो जाय तो फिर विकार कभी दूर हो ही नहीं सकते हैं। होते हैं आत्मामें, परनिमित्त है परोपाधि द्रव्यकर्म। परनिमित्त होने पर भी इस आत्मामें न निमित्तका प्रदेश आया, न द्रव्य आया, न गुण आया, न पर्याय आया और निमित्तका प्रभाव भी इस जीवमें नहीं आया। द्रव्यकर्म अपने प्रभावसे इस जीवको रागी बना सकता हो, ऐसा त्रिकाल नहीं है किन्तु ऐसा ही सहज निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि अमुक प्रकारका अशुद्ध उपादान किसी परपदार्थको योग्य उपाधि को निमित्त पाकर स्वयं ही अपनी शक्तिसे विभावरूप परिणम जाता है।

निमित्तके तत्त्वका उपादानमें अप्रवेश—मोटे दृष्टान्तमें, कभी कोई किसीको गाली देता है तो जिसका नाम लेकर गाली दे रहा है और उसमें क्रोध आ गया तो गाली देने वाले पुरुषने अपने प्रभावसे, अपने असरसे, अपने परिणमनसे दूसरेमें क्रोध उत्पन्न नहीं किया, किन्तु वहां ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक

सम्बन्ध है कि स्वयं अपराधी वह पुरुष था जो क्रोधमें आ रहा है। सो गाली देने वालेकी बातको अपने आपमें घटाकर अपने ऊपर अर्थ लगाकर स्वयं कार्य करने लगता है, ऐसे ही सर्वत्र पदार्थोंका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्मोंका उदय होता है और अशुद्ध जीवोंमें उसका निमित्त पाकर कल्पनाएँ होने लगती हैं और इस प्रकारके सम्बन्धसे यह चलने लगता है। कभी एक ही पदार्थ विभावोंकी गाड़ी नहीं चला सकता है। यद्यपि विभाव प्रत्येक पदार्थमें केवल अपने-अपनेमें ही होता है। दो पदार्थ मिलकर विभावरूप नहीं परिणमते हैं, अथवा किसी पदार्थके विभावको दूसरा पदार्थ ग्रहण नहीं करता है लेकिन विभाव परिणमनमें कोई निमित्त होता है और परिणमने वाला कोई पदार्थ उपादान होता है, ऐसी स्थिति के मर्मके जानकार ज्ञानी-संत यह निरखा करते हैं कि मैं रागद्वेष रहित अविकार-स्वभावी हूं। मेरे स्वभावसे ही विकार नहीं उठा है किन्तु अशुद्ध योग्यता जो थी वह उपाधिका निमित्त पाकर अपने परिणमनमें लग गयी। मैं वस्तुतः एक निज स्वरूपमात्र हूं। अविकार-स्वभावका ज्ञानीको दृढ श्रद्धान है, इस कारण यह ज्ञानी पुरुष अपने आपको भिन्न भाता है एवं इस सर्व विविक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र शुद्ध चैतन्यस्वरूपका आलम्बन करके शुद्ध पर्यायको प्राप्त कर लिया करता है।

अविकार विलासका उपाय—यहाँ अविकृतिकरणका स्वरूप कहा जा रहा है। कैसे यह जीव विकार भावसे हटकर अविकार-भावमें आए, उसका इसमें उपाय दिखाया गया है। ज्ञानीजीवका विकार भावमें लक्ष्य नहीं है। कोई एक घर बसाकर थोड़ीसी गृहस्थी मानकर उसमें मोह करके यह व्यापक विभु ईश्वर कारणपरमात्मतत्त्व अपने आपको बरबाद कर रहा है। इस जीवकी बरबादी है तो मोहममतासे, दूसरा कोई बरबादीका कारण ही नहीं है। धन न ज्यादा हो तो कौनसी हानि है और धन हो गया ज्यादा तो कौनसा लाभ लूट लिया? जीव तो अपने विवेकके कारण सुखी रहा करता है धन-वैभवके कारण नहीं, सुखस्वभावी निज आत्मतत्त्वकी दृष्टि हो तो वास्तविक सुख पैदा होगा। जिसे यह ही श्रद्धा नहीं कि मैं स्वयं ही स्वरसतः आनन्दमय हूं, वह आनन्द कहांसे पायेगा? जिसकी दृष्टि बाहरी पदार्थोंकी ओर लगी है, इतने रुपये आ जायें तो मुझे आनन्द होगा, ऐसा भोजन मिले तो आनन्द होगा, यों जिसकी दृष्टि परपदार्थोंकी ओर लगी है उससे बढ़कर गरीब दुनियामें कोई नहीं है, क्योंकि वह आकुलित है दुःखी है, किंकर्तव्यविमूढ़ है, उसे यथार्थस्वरूपका कुछ परिचय भी नहीं है।

मोहसे बोझल जीवन—अनादिकालसे मोही-जीवने अब तक इतना लम्बा जीवन जिसमें अनन्तकाल व्यतीत हो गया, मोहममतामें ही खो डाला। आज मनुष्य हुए हैं तो मनुष्यके बच्चोंमें रम गए हैं और कभी पशु था तो पशुके बच्चोंमें यह रमा था। अब आगे जो-जो कुछ बनेगा वहाके ही समागमोंमें रमेगा। जैसे अतीतकालके, अतीतभवके समागममें से एक भी समागम आज नहीं है इसी प्रकार इन वर्तमान समागमोंमें से भविष्यकालमें एक भी समागम न रहेगा। ज्ञानबल जो नहीं बढा सकते हैं, बाह्यपदार्थोंकी आशा कर करके अपनी कायरता बढ़ा करके वे पुरुष व्यर्थ ही अपना जीवन ढो रहे हैं, उनकी जिन्दगी उनके लिए बोझ है। अपने को अविकारस्वरूप निरखो जिसके प्रतापसे ये विकार दूर हो सकें।

बाह्यमें शरणका अभाव—इस जगतमें हम आपको कोई शरण नहीं है। यदि हो शरण कोई तो नाम लेकर आंखोंके सामने रखकर निर्णय करलो, कौन अपने लिए शरण हो सकता है? जगतमें जितने भी जीव हैं वे सब कर्मोंके प्रेरे हैं। जिन-जिनसे समागम होता है, जिन-जिनसे पाला पड़ता है वे अपनी कषाय बुझायें या तुम्हारा परिणमन करें। कुछ तो निर्णय करो। क्या किसी जीवमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह अपना परिणमन न करके दूसरेका परिणमन कर सके? वस्तुके स्वरूपमें भी यह बात नहीं है। प्रत्येक पदार्थमें द्रव्यत्व व अगुरुलघुत्वके कारण स्वयं अपने आपमें परिणमन होता रहता है, फिर किसकी आशा करना? क्या धन, वैभवमें ऐसी सीमा है कि लाख रुपया हो जाय तो सुख मिलता है अथवा १० लाख

हो जायें तो सुख मिलता है ? कोई सीमा हो तो बतलावो ? अरे सीमाकी बात तो जाने दो, जितना धन मिलता है उतनी ही तृष्णा बढ़ती है, उतना ही क्लेश बढ़ता है, उतनी ही रक्षाकी चिन्ता होती है, उतनी ही विडम्बना सामने आती है। अरे किसलिए यह मनुष्य-जीवन पाया है, क्या धन जोड़नेके लिए पाया है ? क्या विषयोंको भोगनेके लिए पाया है ?

जीवनके सदुपयोगपर दृष्टिपात—इस अनादि ससारमें भ्रमण करते-करते श्रेष्ठ मनुष्यभव पाया है तो इसका यह सदुपयोग करो कि शास्त्राभ्याससे, प्रभुभक्तिसे, आर्य पुरुषोंकी सगतिसे, गुणियोंके गुणगान से दोष-दृष्टिसे दूर रहकर आत्मतत्त्वकी बात देखो। मिला हुआ समागम, मिला हुआ वैभव, छिद जावो, भीद जावो, कोई लेता हो तो ले जावो, किसी भी दशाको प्राप्त होओ, हम तो अपने आपके इस परमार्थ स्वरूपकी दृष्टि करके तृप्त रहेंगे। इस संसारमें कोई भी जीव शरण नहीं है, किसकी ओर दृष्टि देते हो शरण है कोई तत्त्व ? सर्व-विकल्प मेटो, सर्व परपदार्थोंको भूल जावो, परम-विश्राममें बैठो, इस शरीरसे भी न्यारा, इन कर्मोंसे भी न्यारा जो एक ज्ञानानन्द पुञ्ज है, जो अपना असली मर्म है, मूल पतेकी बात है उस स्वरूप रूप अपना विश्वास करो।

यथार्थ प्रतीतिका प्रसाद—मैं ज्ञानानन्दमात्र ही हू, ऐसी प्रतीति ही वास्तविक शरण है। इस प्रतीतिके बलसे ही साधु-संत पुरुष घातिया कर्मोंका नाश करके अरहत हुए हैं, जिनके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति प्रकट हुई है, जिनकी मूर्ति स्थापित करके हम आप सब भव्यजन वदन करते हैं और इन्होंने धर्मपालन किया है ऐसा मानकर सतुष्ट होते हैं। वह सब अन्य सबसे विविक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अपने आपकी श्रद्धाका फल है। वे ही अरहन्त फिर वाह्य मलको भी दूर करके अघातिया कर्म और इस शरीरसे भी छूटकर केवल शुद्ध आत्मस्वरूप रह गए हैं, उन्हें सिद्धप्रभु कहते हैं। जिसकी प्रतीति के बलसे शुद्ध ज्ञानानन्दमय परिणमन होता है उस इस आत्मतत्त्वकी प्रतीति ही वास्तविक शरण है। एक बार तो अपने जीवनमें साहस करके निरख तो लो अपने आपमें बसे हुए इस ज्ञानस्वरूप परमात्माको। फिर कृतार्थ हो जावोगे।

समागमकी मायारूपता—ये मायामय पदार्थ तो छल-कपटसे भरे हुए मोह-नींदके दृश्य हैं, ये रहें तो क्या, न रहें तो क्या, आखिर वह समय तो आयेगा ही कि कुछ न रहेगा, सब कुछ छोड़कर जाना ही होगा तो जिस सम्पदाको हम छोड़कर जायेंगे उस सम्पदाको छूटा हुआ दो मिनट भी अपने आपमें विश्वास नहीं कर सकते। जो सदाके लिए छूट जायेगा उसके प्रति यह मुझसे छूटा ही हुआ है ऐसी कुछ सेकेण्ड भी प्रतीति आये और उस विश्वासके बलसे समस्त परपदार्थोंके विकल्पको भुला दीजिए, तो आनन्दमय यह परमात्मतत्त्व अब भी अपने आपके स्वरूपमें दृष्ट हो जायगा। यह आत्मा निरन्तर प्रतिसमय द्रव्यकर्म और नोकर्मके समूहसे रहित है। इस समय यद्यपि यह जीव इस शरीरमें फसा हुआ है शरीरसे अलग कहीं जा नहीं सकता। जब शरीर चलता है तो आत्मा भी जाता है ऐसा यह शरीरमें इस बँधा हुआ है तिसपर भी यह आत्मा शरीरके स्वरूपसे अत्यन्त जुदा है, प्रति समय जुदा है। ऐसा नहीं है कि किसी समय शरीर और आत्मा एक हो जायें और कभी भिन्न हो जायें। यह आत्मा तो अपने स्वरूपचतुष्टयकी तन्मयताके कारण सदा परद्रव्योंसे भिन्न है, शुद्ध है। इस आत्माकी यह प्रकृति है कि वह शान्तभावमें रमण किया करे। यह सदा आनन्दगुणस्वरूप है।

आत्माका वाह्य वैभवसे असम्बन्ध—केवल चैतन्य चमत्कार ही आत्माकी मूर्ति है। इसका एक भी तो अणु नहीं है कुछ, इन स्कधोंकी बात तो दूर जाने दो। किन्तु, अहो कितना मोहका प्रबल प्रताप स्ताप बना हुआ है कि सबसे अत्यन्त न्यारा है यह जीव। एक पैसेसे भी इस जीवका सम्बन्ध नहीं है, परमाणुमात्र भी सयोग नहीं है, लेकिन यह मोही जीव कल्पनामें अपने आपको धनी समझता है, वैभववान्

समझता है। लोक व्यवस्थावोंके कारण कदाचित् हो गया ऐसा प्रबन्ध कि आपके जिम्मे एक, दो, चार मकान हैं और कुछ वैभव है, ऐसे ही सबके अपने-अपने अधिकारमें कुछ-कुछ वैभव है, फिर भी किसीका कुछ भी नहीं है, यह तो मोहियोंने अपने आरामके लिए विषय-साधनोंके लिए व्यवस्था बना ली है। राज्यने, सरकारने, पंचायतने कानून बना लिया है कि हम सब मोहियोंके मोहके साधन ठीक-ठीक चलते रहें। यह मोहियोंकी कृत्रिम व्यवस्था है कि किसीके घर है, दूकान है, मकान है, वैभव है, पर परमार्थसे किसीका अणुमात्र भी नहीं है। ऐसे सर्वविविक्त इस अविकारी स्वभावको जो नहीं निरख सकते हैं उनको कल्याणका मार्ग, शान्तिका मार्ग कदापि नहीं मिलता।

मोहमे मोहियोंके प्रसगकी रुचि-- यह जीव मोहियोंमें, अज्ञानियोंमें अपना नाम चाहता है। जो स्वय दुःखी हैं, कर्मोंके प्रेरे हैं, जिनका कुछ उनके लिये भरोसा नहीं है, आज मनुष्य हैं और कल मरकर कीड़ा हो जायेंगे, कुछ भी बन जायेंगे, जो स्वय दुःखी हैं—ऐसे पुरुषोंमें नामकी चाह, यशकी चाह उत्पन्न करना, इसको कितनी मूढता कहोगे? इसे अपने अविकारी स्वभावका कुछ ध्यान ही नहीं है। अरे, यह मैं स्वय ही अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दके स्वभाव वाला हूं। इस स्वभावका आश्रय किया जाये तो अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द प्रकट होता है। इस उपयोग द्वारा किन्हीं बाह्य बहिरात्मा पुरुषोका कल्पित आश्रय किया जाये तो उससे क्या प्राप्त होगा? विकार बढ़ते है, क्लेश होता है, विपदा आती है। यह आत्मा स्वयं अन्त शुद्ध है। यह अपने इस शुद्ध स्वरूपका आश्रय करे तो मोहका अभाव होता है। मोह मिटा कि सर्वसङ्कट मिट गये। मोह मिटने पर फिर यह किसी भी परवस्तुका ग्रहण नहीं कर सकता।

मायावैभवकी असारता व आत्मनिधिका प्रसाद— भैया! मान लो आज ५० हजारका धन है और क्या ऐसा नहीं हो सकता था कि १० हजारके ही धनी होते अथवा क्या यह नहीं हो सकता था कि भिखारियों की तरह भीख मागकर पेट भरते? कौनसी स्थिति सम्भव नहीं है। कौनसी स्थिति इस मोही पुरुषके नहीं हुआ करती है? आज ५० हजारमें से कभी दो हजारका भी घाटा पड़ता है तो यह जीव बड़ा विकल होता है कि हाय! इतना नुक्सान हो गया। जैसे कि मानों उसके प्राणोंका छेदन-भेदन किया गया हो। अरे, एक अणुमात्र भी तो तेरा नहीं है। तू तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र है। क्यों परतत्त्वोंमें मोहभाव करके अपने आपको बरबादीकी ओर लिये जा रहा है? यह आत्मतत्त्व अविनाशी अनन्त गुणोंका समूह है। जिसने इस तत्त्वको अपने अनुभवमे लिया है, उसे इस शुद्ध भावके आश्रयरूप अमृतके द्वारा अथवा इस अमृतका पान करके अपनेको अमर बना लिया है और इस ही अमृत-सागरमें डूबकर, मग्न होकर समस्त पाप-कलंकोंको धो डाला है।

ज्ञानीके अनर्थ कोलाहलका अभाव-- जो ज्ञानी संत हुए हैं, जिनको अपने आनन्दके स्रोतका परिचय हो जाता है, उनके फिर इन्द्रियका कोलाहल नहीं रहता है अर्थात् बहिरात्म अवस्थामें जो इन्द्रिय विषय-साधनके लिये तड़फा करता था, पचेन्द्रियके विषयोंके भोगोंमें ही अपना महत्त्व माना करता था, अब इस निर्भ्रान्त पुरुषके यथार्थ प्रकाशका उदय हुआ है, अब इसके इन्द्रियसमूहमें रच भी कोलाहल नहीं है, उसकी दृष्टि अब विषयसाधनोंमें नहीं फँसती है। जो शुद्ध आत्मा ज्ञानज्योति द्वारा समस्त अधकारको नष्ट कर देता है और अपने आपमें नित्य शुद्ध प्रकाशमान् रहता है—ऐसे आत्मतत्त्वका आलम्बन करना ही वास्तवमें शरण है। इसके अतिरिक्त जगत्मे अन्य कोई पदार्थ इस जीवके लिये शरणभूत नहीं है।

सतप्तलोकमे योगीश्वरोंका शान्त निवास-- यह ससार घोर दुःखोंसे भरा हुआ है। इसमे बसने वाले जीव प्रतिदिन रौद्रध्यानसे और आर्तध्यानसे सतप्त रहा करते हैं। इस लोकमें कोई भी भव ऐसा नहीं है, कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जहाँ यह कर्मसहित जीव किसी भी समय सहज शान्तिको प्राप्त कर ले। कर्मों

से प्रेरित हुए ये संसारी जन दुःखोंसे निरन्तर तप्तायमान रहते हैं। ऐसे इस दुःखव्यापक लोकमें एक मुनीश्वर ही समतारूप अमृतको प्राप्त करते हैं अथवा शान्तिरूपी बर्फके गृहमें बसा करते हैं। जिन दिनों गर्मीके दिनोंमें ऐसी लू चला करती है, जहाँ चलते-फिरते, घरसे बाहर निकलने पर अनेक पुरुष मरण कर जाते हैं--ऐसी तीव्र लू से व्याप्त ग्रीष्मकालमें कोई महाभाग ही बर्फीले घरमें निवास करता है ! ऐसे ही अनेक दुःखोंसे व्याप्त सम्पदा, वैभवके क्लेशोंसे पीड़ित इन दुःखी जीवोंसे भरे हुए लोकमें निकट भव्य मुनीश्वर ही शान्तिगृहमें निवास करते हैं। उनका उपयोग शान्ति और आनन्द का अनुभव करने वाला होता है। यह शान्ति किसके प्रसादसे प्राप्त हुई है ? यह शान्ति केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावकी दृष्टिके प्रसादसे प्राप्त हुई है।

सर्वदा मुक्ति— भैया ! जो एक बार भी इस द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे मुक्त हो जाता है, वह फिर भविष्यमें कभी भी विभावोंको प्राप्त नहीं हो सकता है, वह मलिन रागी द्वेषी कभी नहीं बन सकता है। कैसे बने मलिन ? मलिन परिणामोंका कारण था पुण्य पाप कर्म। सो उस कर्मजालका तो विनाश हो गया है और इन कर्मजालोंका कारण था सुकृत और दुष्कृत परिणाम, सो इन परिणामोंका भी अभाव हो गया है। अब यह मुक्त प्रभु भविष्यकालमें कदाचित् भी विभावोंको प्राप्त नहीं हो सकता है।

कर्मविलयका स्वाधीन उपाय— कर्म यद्यपि इस जीवके क्लेशोंकी उत्पत्तिमें निमित्त हैं, फिर भी कोई जीव सङ्कटोंसे मुक्त होना चाहता है तो वह कर्मोंमें क्या करेगा ? कर्म पौद्गलिक हैं, भिन्न तत्त्व हैं, भिन्न पदार्थ हैं। कोई भी पदार्थ किसी भिन्न पदार्थमें अपना परिणमन नहीं कर सकता है। क्या करेगा आत्मा इन कर्मोंके विनाशके लिये ? कर ही नहीं सकता कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका विनाश। उसके विनाश का उपाय बन सकता है, पर विनाश नहीं कर सकता है। कर्मोंके विनाशका उपाय कर्मोंमें कुछ करना नहीं है, किन्तु अपने आपमें एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश लेना है, जिस ज्ञानानुभूतिके कारण सुकृत और दुष्कृत परिणाम नष्ट हो जायेंगे। बस, सुकृत और दुष्कृत परिणाम न रहें तो ये कर्म अपने आप ही अपना रस सोख लेंगे और क्षीण हो जायेंगे, छूट जायेंगे। इन कर्मोंसे मुक्ति पानेका उपाय केवल सुकृत और दुष्कृत-रूप परिणामोंका विनाश है, इसलिये अब मैं सुकृत और दुष्कृत दोनों प्रकारके भावकर्मजालोंको छोड़कर एक उस शुद्ध मार्ग पर जाता हूं, जिस शुद्ध मार्ग पर चलकर मुमुक्षुजन सर्वथा शुद्ध विलास वाले हो गये हैं। सर्वसङ्कटोंसे मुक्त होनेका उपाय केवल यह ही है कि सर्व परसे विविक्त निज स्वरूपास्तित्वमात्र चैतन्यस्वभावका आश्रय करे और शुभ-अशुभ भाव, सुकृत दुष्कृत भाव—इनसे हटा जाये तो फिर ये कर्म अपने आप ही हट जायेंगे। कर्मों पर दृष्टि देकर इनके विध्वंसका उपाय चाहें तो नहीं हो सकता है।

अधिकारपदका आलोचन— यह परम-आलोचक ज्ञानी-सन्त अपनी आलोचना कर रहा है। आलोचना नाम भली प्रकार देखनेका है। देखनेका ही नाम लोचन है। लोचन नेत्रको कहते हैं। जैसे नेत्रका काम स्पष्ट देख लेना है, इसी प्रकार आलोचनाका काम अपने आपके सहज शुद्ध स्वरूपको स्पष्ट देख लेने का है। यह मैं आत्मा शरीरसे रहित हूं, द्रव्यकर्मसे रहित हूं और भावकर्मसे भी रहित हूं। इस प्रकार इन तीनों प्रकारके समागमोंसे रहित जो इसका यथार्थ सहजस्वरूप है, वह दिखनेमें आ गया तो परम-आलोचना हो गई और इस परम-आलोचनाके प्रसादसे मोक्षका लाभ निश्चित् हो गया।

आत्माकी भवमूर्तिसे विविक्तता— यह मैं आत्मा शरीरसे रहित हूं। यह शरीर भवमूर्ति है। संसार किसे कहते हैं ? इसको स्पष्ट जानना हो तो इस शरीरको देखकर हो बता दीजिये कि इसका नाम संसार है। लोग कहते हैं कि दुनिया बड़ी चालाक हो गई है। वह दुनिया कौनसी है, जो चालाक हो गई है ?

क्या ये पत्थर, लकड़ी ? नहीं। ये चलते-फिरते शरीरधारी मनुष्य ही उनकी निगाहमें दुनिया हैं। यह दुनिया चालाक हो गई है अर्थात् इस दुनियामें बसने वाले मनुष्य चालाक हो गये हैं। संसारकी मूर्ति यह शरीर ही है। दुनियाका रूपक यह शरीर है। यह शरीर स्थिर नहीं है, क्योंकि इस शरीरमें पुद्गल स्कंध आते हैं और जाते हैं। हम आप सबके शरीरमें बहुतसे पुद्गल स्कंध प्रतिक्षण आते रहते हैं बहुतसे जाते रहते हैं। जब शरीर पुराना हो जाता है तो पुद्गल स्कंधोंका आना कम हो जाता है और उन पुद्गल स्कधोंका खिरना अधिक होता रहता है। इसीका नाम बुढापा है, पर जब तक भी आयु है, तब तक यह भी नहीं होता कि पुद्गल स्कंध जाते ही जाते हैं, आते नहीं हैं। यह भी नहीं होता कि पुद्गल स्कंध आते ही आते हैं जाते नहीं हैं। जब पुद्गल स्कधोंका आना अधिक रहता है उसे कहते हैं जवानी, अर्थात् चढ़ती उमर और जब इन स्कधोंका निखरना ज्यादा होता है, आना कम रहता है तो उसे कहते हैं—ढलती अवस्था।

भवमूर्तिकी अस्थिरता—यह शरीर पुद्गल स्कंधोंके आने-जानेसे बना हुआ है, इसी कारण यह शरीर अस्थिर है। कभी दस-पाच वर्ष बाद किसीको देखो तो मालूम पड़ता है कि यह तो आदमी बदल गया है या दुर्बल से मोटा हो गया है या मोटासे दुर्बल हो गया है, यह तो बदल गया है। यह बदलना ५ वर्षमें नहीं हुआ है, प्रतिक्षण बदलना हो रहा है और कितना ही आकार रंग तो इस मनुष्यमें रोज-रोज बदलता नजर आता है। सुबह आकार-रंग कुछ और है, दोपहरको, शामको आकार-रग कुछ और है, जाडेके दिनोंमें आकार-रग कुछ और है, गरमीके दिनोंमें कुछ और है। यह शरीर अस्थिर है। इस भवकी मूर्तिको मैं आपा कैसे मानूँ ? यह तो पौद्गलिक है, मायारूप है, अस्थिर है, मिट जाने वाला है, मुझसे अत्यन्त भिन्न है और जब तक लगा भी हुआ है तब तक केवल क्लेशका कारण है। इस शरीरके कारण कुछ हित नहीं पाया। ऐसे इस शरीरको छोड़कर मैं सदा शुद्ध ज्ञानशरीरी आत्मतत्त्वका ही आश्रय करता हू।

भवरोग—अहो ! इस मेरेको अनादि कालसे यह ससारका रोग लगा हुआ है। यहाँ कौनसी स्थिति ऐसी है जिसे पाकर मैं अपनेको सुखी मान लूँ। मान लो घर धनसे भर गया तो उस धनका क्या करें ? जब तक धन है तब तक भी क्लेश है, जब धन छूटेगा तब भी क्लेश होगा। इस धनका क्या करें ? कौनसा तत्त्व ऐसा है जिसका हम आश्रय करें तो वास्तवमें शान्तिका हम अनुभव कर सकेंगे। ये परिजन-समूह पुत्र-पुत्री, मित्रादिक ये सब मिल गये हैं, बहुत हो गये हैं, परिवार बढ़ गया है इस परिवारका क्या करें ? इस परिवारके खातिर क्लेश ही उठाना पड़ता है। वास्तविक शान्ति तो प्राप्त हो ही नहीं सकती है क्योंकि परिवारके लोगोंकी प्रवृत्तिया ही ऐसी होंगी जिनको निरखकर मोहके कारण या तो यह अनुराग बढायेगा या द्वेष बढ़ायेगा। वह सम्बध ही ऐसा है कि उन्हें समतापरिणाम नहीं रह सकता है। या तो रागमें बढ़ जायेगा या विरोधमें बढ़ जायेगा। इनसे भले तो वे गैर पुरुष हैं जिनसे कुछ परिचय नहीं है, उन्हें देखकर न राग होता है, न विरोध होता है। उनके बीच इस समतापरिणामका भान कर सकते हैं।

शरण्य तत्त्व—भैया ! किसका सहारा लें जिस सहारेसे मेरा यह संसारका क्लेश मिट जाय ? ये प्रतिष्ठा यशकी बाते तो सबसे विकट सकट है। उस ओर दृष्टि होने पर उसका ज्ञानबल घटता जाता है। और ऊपरसे पोलखाता बढ़ता जाता है। जिसको अपने यश नामवरीकी अन्तरसे इच्छा होती है उसका ज्ञानबल दूर हो जाता है और जो कुछ उसकी मुद्रा, वातावरण, लोकढाचा, व्यवस्था जो कुछ भी बनती है वह खोखली हो जाती है, उसका परिणाम अत्यन्त भयकर निष्फलता है। किस तत्त्वका सहारा लें कि जिससे ये ससारके रोग दूर हो जायें ? सहारा लेने योग्य है वह निज शुद्ध चैतन्यस्वरूप जो शुभ-अशुभ भावोंसे रहित है, मेरा ही स्वरूप है, मुझमें शाश्वत विराजमान् है।

अभीष्ट मार्ग—भैया ! अब तो केवल एक मार्ग चाहिए जिस मार्गसे अपना प्रकाश चले, वह मार्ग

मिले तो यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप दृष्ट हो जायेगा। वह मार्ग मिलता है तब, जब मार्गमें रोड़े न रहें। उस मार्गके रोडे हैं ये विषयकषाय। जिन्हें मोही जीव अपना सर्वस्व मानते हैं, जिनके लिये अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर हो जाता है, वे सब इसके लिये रोडे हैं। उन रोड़ोंको दूर करें। जब हम निर्विकल्प मार्गमें प्रवेश करते हैं तो ये शुभ-अशुभसे रहित शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व मेरे को दृष्ट होता है। इस शुद्ध तत्त्वकी भावना ही मेरे ससार-रोगको दूर करनेकी उत्तम औषधि है। मैं अन्य सब उपचारोंको त्यागकर केवल इस शुद्ध चैतन्यरूप भावनारूप औषधिका ही सेवन करूँ, जिससे यह राग-द्वेषरूप ससारका रोग समूल नष्ट हो जाये।

अन्तस्तत्त्वके दर्शनकी विधि— यह शुद्ध आत्मतत्त्व हमें दो बुद्धियोंसे निरखनेमें आता है—एक तो कार्यसमयसारकी दृष्टि देकर और एक कारणसमयसारकी दृष्टि लेकर। कार्यसमयसार शुद्ध परमात्मतत्त्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव—इन पचपरावर्तनोंसे मुक्त है और यह कारणसमयसार भी। इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मामें अन्तरमें शाश्वत तन्मयतासे रहने वाले अपने सत्त्वके कारण सदा अन्तःप्रकाशमान् यह चित्स्वभाव भी समस्त परिवर्तनोंसे मुक्त है। जो विशेषता सिद्धपरमात्माकी कहो, वही विशेषता इस कारणसमयसारकी है। यह परमात्मा शुभ-अशुभ कर्मोंसे और शुभ-अशुभ भावोंसे मुक्त हो गया है। यह चैतन्यस्वभाव स्वरसत ही अनादिसे शुभ-अशुभ भाव और कर्मोंसे दूर है, मुक्त है। यह प्रभु कार्यसमयसार, द्रव्यकर्म, भावकर्मसे मुक्त है तो यह कारणसमयसार इन समस्त परतत्त्वोंसे सदासे मुक्त है। यह प्रभु कर्ममुक्त है, सादि मुक्त है। यह कारणसमयसार अनादि मुक्त है। परभावविविक्त अन्तस्तत्त्वके दर्शनमें अन्तस्तत्त्व का मिलन होता है

अनादिमुक्त परमेश्वर—कुछ लोग ईश्वरको सदामुक्त मानते है और जो जीव सन्यास धारण करते हैं तपस्या करते हैं, भक्तिमग्न होते हैं वे मुक्त होते हैं, उन्हें सादिमुक्त कहते हैं। केवल एक ही ईश्वर ऐसा है जो अनादि मुक्त है, ऐसी मान्यता वालोंकी क्या दृष्टि थी? वह एक स्वरूप तो सदा मुक्त है और ये अनगिनते जीव ऋषी-सत, साधुजन तपस्या करके कर्मोंसे मुक्त हुए हैं वे सादिमुक्त हैं। इसमें दृष्टि स्वभाव तथा वस्तुकी है। जब स्वभावको देखा जाय तो वह स्वभाव सदामुक्त है। यह चैतन्यस्वभाव, यह कारणसमयसार अपने स्वरूपसत्त्वके कारण अपने ही केवल स्वरूपमात्र है। इसमें किसी भी परतत्त्वका, परपदार्थका प्रवेश नहीं है। यह स्वभाव सदा मुक्त है, यही परमब्रह्म है, यही परमेश्वर है। स्वभावदृष्टि जब दी तब सदामुक्त ईश्वरका दर्शन हुआ और जब आत्मवस्तुपर दृष्टि दी, द्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयात्मक चैतन्य पदार्थ पर दृष्टि दी तब इसकी समस्त रूप-रेखाए भी जाननेमें आयीं। कर्मोंसे घिरा, कर्मोंसे पिरा, सकटी दृष्ट हुआ यह आत्मपदार्थ अपने आपमें बसे हुए स्वभावरूप परमेश्वरकी भक्ति करे, उसकी दृष्टि करे तो इसका जितना भी बाह्य वातावरण है, रूपरेखा है वह सब दूर हो जायेगी। अब इसको सादिमुक्त कहते हैं।

सर्वजीवोमे अनादिमुक्त पारमैश्वर्य—भैया! जो सादिमुक्त हुआ है उसमें भी अनादि मुक्त तत्त्व है। जो अब तक मुक्त नहीं भी हुआ हैं ऐसे समस्त ससार प्राणियोंमें भी वह अनादिमुक्त परमेश्वर विराजमान् है। तत्त्वकी बात तो यह है किन्तु दोनों दृष्टियोंको शुद्ध न रखकर एक ईश्वरको ही सृष्टिका कर्ता मान डाला। फिर तो लोक-प्रकृतिके अनुसार उस ईश्वरको पूरा व्यवस्थापक मान लिया गया। जितने भी मंतव्य हैं उन सब मंतव्योंमें तत्त्व और दृष्टि मूलमें अवश्य थी, लेकिन उस मूल डोरीका परित्याग करके जब उसका विस्तार बनाया तो यह विस्तार अब नानारूपोंमें फैलता गया। यह कारणसमयसार अनादिमुक्त है।

निर्दोष तत्त्वज्ञताकी कला—यह प्रभु-परमात्मा जन्म-मरणसे रहित है। यह मुझमें विराजमान मेरे ही

सत्त्वके कारण, अनंतप्रकाशमान, यह चैतन्यस्वभाव भी जन्म-मरणसे रहित है। स्वभाव और चतुष्टयमय पदार्थ ये दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं हैं, किंतु हम एक ही चीजको अभेदभावकी दृष्टिसे निरखा तो स्वभाव समझमें आया और जब उसे सर्वमुखी दृष्टियोंसे निरखा तो पदार्थ ध्यानमें आया। यह दृष्टियोंसे निरखनेकी कलासे जब कभी अनभिज्ञ रहा और परिस्थितिके कारण इस तत्त्वकी चर्चा भी करनी जारी रखी तो उसका परिणाम इस मन्तव्यके रूपमें फूट निकला कि यह परमब्रह्म परमेश्वर कोई अलग सत् है और यह जीव कोई अलग चीज है, किंतु चेतन पदार्थ तो प्रत्येक एक है, उसको निरखनेकी कला ही भिन्न-भिन्न हैं।

संकटहारी कारणसमयसारका आलम्बन— इस कारणसमयसारका आलम्बन ५ प्रकारके संसारोंसे मुक्ति दिलाने वाला है अर्थात पञ्चपरिवर्तनको दूर करने वाला है। ऐसे इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी मैं प्रतिदिन भावना करता हूं। यह अनादिनिधन आत्मज्योति वाणीका भी विषय नहीं है, फिर भी इस आत्मज्योति पर अधिकार पाये हुए गुरुजनोंके वचनोंके द्वारा इसे प्राप्त कर शुद्ध दृष्टि वाला हुआ जा सकता है, जिसके प्रतापसे यह सदाकालमें लिये संकटोंसे मुक्त होगा। यह चैतन्यस्वभाव सदा जयवंत हो। जिसके सहज तेजसे रागरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है, जिसका यथार्थ निवास मुनिजनोंके हृदयमें रहता है। जो अज्ञानी जनोंको तो दुर्लभ है, किन्तु ज्ञानी जीवोंको सदा व्यक्त रहता है—ऐसा आनन्दका निधान यह चित्स्वभाव सदा जयवन्त हो।

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धित्ति।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥११२॥

भावशुद्धि नामक आलोचनका स्वरूप— आलोचनाके चार लक्षणोंमें यह अंतिम लक्षण है भावशुद्धि। कामवासना, घमण्ड, कपट और लोभसे रहित जो परिणाम है, उसका नाम भावशुद्धि है। ऐसा लोकालोकके जानन देखनहार सर्वज्ञ देवने कहा है। आलोचनासे दोषोंका निरावरण होता है। जैसे व्यवहार आलोचना पाठमें कहा गया है कि "तिनकी अब निरवृति काजा" अर्थात् जो मैंने दोष किया है, उनको दूर करनेके लिये मैं आलोचना करता हूं। आलोचनाका अर्थ है दोषोंका प्रकट करना। मैंने यह अपराध किया है, मैंने विषयकषायोंसे प्रीति की है, पाप किया है, उनको अपने आप मनसे, वचनसे निवेदन करना, सो आलोचना है। आलोचनाका जितना अन्तरङ्ग रूप हो जाता है, उतनी ही आलोचना विशुद्ध कहलाती है और जब आलोचनाका रूप विशेष अतिशयवान हो जाता है तो परमतत्त्व ज्ञानी पुरुष दोषोंकी आलोचना न करके गुणोंका आलोचन करता है अर्थात शुद्ध भावोंका अवलोकन करता है।

श्रेष्ठ आलोचकका लोकदृष्टान्त— जैसे लोकमें यह रिवाज है कि जो बड़े पुरुष होते हैं, वे किसीके दोषोंका वर्णन नहीं करते। किसमें क्या दोष है, उनका बखान नहीं करते हैं और कदाचित दोषोंका निरूपण करना आवश्यक हुआ तो गुणियोंके गुणोंका विशेष वर्णन कर लेते हैं। किन्हीं गुणी पुरुषके गुणोंका वर्णन करनेसे दोषी पुरुषोंके दोषोंकी आलोचना हो जाती है। ऐसे ही जब शुद्ध निश्चय आलोचनामें प्रवेश हो रहा है तो यह आलोचक ज्ञानी पुरुष दोषों पर भी दृष्टि न देकर केवल अविकारस्वभाव शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व पर दृष्टि देता है।

बाहरमें शरणका अभाव—इस लोकमें जीवको बाहरमें कुछ शरण नहीं है, यह बात पूर्ण प्रमाणभूत है, इसमें रंच संदेह नहीं है। कौनसा बाहरी पदार्थ हमारी शान्तिका कारण बन सकता है? अरे जो भी पदार्थ हैं वे अपने परिणमनमें लगें या तुम्हारी फिकर रखें। वस्तुमें ऐसा स्वरूप ही नहीं है कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुका कुछ परिणमन कर दे। बाहरमें अणुमात्र भी कुछ शरण नहीं है। जहां सम्पदा कहां साथ थे भी जीवको क्लेशके ही कारण हुए हैं। जिनके थे उन्हें [illegible]

लो, और मान लो इस दुनियावी दृष्टिसे धन, वैभव, राज्यपाट होनेसे कुछ प्रभाव और असर भी बढा तो क्या हुआ, यह दो दिनकी चांदनी है फिर तो नेत्र मुद जाते हैं, जिन्होंने इतिहासमें बहुत नेतागिरीका काम किया है, बडे राजपाट भी सम्भाले हैं वे भी आज नहीं हैं। उनका समय था, उन दिनों वे बाह्य-पदार्थ की ओर दृष्टि करके अपना परिणमन कर गये, किया कुछ नहीं। इस लोकमें अन्य पदार्थ कुछ भी शरण नहीं हैं। यदि वैभव सुखकी चीज होती तो वैभववान पुरुष भी क्यों एक विशुद्ध, निर्ग्रन्थ, निष्कषाय ज्ञानपुञ्जकी उपासना करते, जिनके पास आरम्भ नहीं, परिग्रह नहीं, जिनकी हम आप उपासना करते हैं।

भावशुद्धिकी अतुल सम्पदा—भैया! वैभवमें सुख नहीं है, सुख तो शुद्ध ज्ञानमें है। यह बुद्धि शुद्ध रहे, बिगड़े नहीं इस ही में आनन्द है। सम्पदाका कुछ भी हो, थोड़ी रहे, बहुत रहे, रहे अथवा कहीं जाय, उससे इस आत्मा पर बिगाड़का प्रभाव नहीं पड़ता है किन्तु स्वयकी बुद्धि यदि बिगड़ जाय, अव्यवस्थित हो जाय तो इस जीवका बिगाड़ है। यही एक बड़ी सम्पदा है कि अपना ज्ञान संभला हुआ रहे कभी भी खोटे भावोंका इसमें उदय न आये, दुर्भाव करके कभी किसीका धन, वैभव भी मिल जाय, हड़प लिया जाय तो यह सम्पदा नहीं है, विपदा है, आत्मा पर खोटे भाव आना ही विपदा है। भावशुद्धिका बड़ा महत्त्व है। जो भी आराध्य देव हुए हैं वे भावशुद्धिके ही तो फल है। जितने भी साधु-संत हुए हैं अथवा हैं वे भावशुद्धिके ही तो प्रतीक हैं।

मनोजविवर्जित भावमें भावशुद्धि—यह भावशुद्धि नामक परम-आलोचनाका स्वरूप कहा जा रहा है, और इस भावशुद्धिके स्वरूपके वर्णनके साथ-साथ यह परमआलोचना नामक अधिकार समाप्त होगा। इस अधिकारके उपसंहाररूपमें यह अंतिम गाथा है। काम, मान, कपट और तृष्णासे रहित परिणामका नाम भावशुद्धि है। जब तीव्र चारित्र-मोहका उदय आता है तो वेद नामक कषायका विलास विकार होता है ना, उसका नाम मद है, मदन याने काम-विकार है, इस विकारका नाम मनोज है। जैसे शरीरमें फोड़ा फुंसी हो जाती है तो कुछ चीज तो है। फोड़ा हो, फुंसी हो, रोग है, पीड़ा है अथवा भूख-प्यास लगे तो बताया तो जा सकता है कि शरीरमें इस भांतिकी वेदना है, किन्तु जो कामविकारकी पीड़ा है, स्त्री-पुरुष विषयक मैथुन सम्बन्धी जो अन्तरङ्ग कलुषित परिणाम है वह परिणाम कौनसे शरीरकी पीड़ा है? उसमें क्या आखमें दर्द है, मस्तकमें है, पैरमें है, कहा पीड़ा उत्पन्न होती है, कुछ भी वहां तत्त्व नहीं है किन्तु यह केवल मनोज है। मनोज कहते हैं मनकी कल्पनाको। कामी पुरुष मनकी कल्पना जब काम-विकार सम्बन्धी करता है तो उसे कुरूप, नीच शरीर भी सुहाने लगता है। यह मदन अथवा काम-विकार सब भाव-विकारोंका सिरताज है। जहाँ काम-वासना रहती है वहाँ आलोचना नहीं हो सकती। यह महादोष है इस महादोषसे रहित जो भाव है उसका नाम भावशुद्धि है।

निरहंकारतामें भावशुद्धि— अहंकार भी विकार-भाव है। मानी पुरुष अपने मान-विकारको दोष नहीं समझ पाता है, दूसरे लोग जानते हैं कि यह व्यर्थ किसी बात पर ऐंठ रहा है। कोई कलाकी बात तो है भी नहीं। ऐंठ इतनी बड़ी बना रखी है। इस दुनियामें कौनसी कला ऐसी है जो ऐंठके लायक हो? कुछ नेतागिरी करने लगे, व्याख्यान देने लगे, बोलनेकी कला बन गयी तो कितना लोग अहंकार करते हैं? जो आत्मा लोकालोकका जाननहार स्वभाव रखता है, विश्वज्ञ बन सकता है ऐसी विश्वज्ञताकी सामर्थ्य रखने वाला एक छोटी विकसित कला पर घमंड बगराये तो यह बुद्धिमानोंका हास्यका पात्र है।

कल्पित चतुराईके मदमें आत्मनिधि पर कुठाराघात—इस जीवके साथ नाना प्रकारके कर्म लगे हुए हैं। उन कर्मोंमें एक आदेय नामका भी कर्म है, जिसके उदयमें कुछ ऐसा पुण्य वातावरण बनता है कि लोग उसको कुछ प्रभुता करने लगते हैं, पर जैसे जिस मरुस्थलमें, जिस देशमें एक भी पेड़ नहीं है और वहां किसी घासके बीचमें कोई एरण्ड आदिका पेड़ मिल जाय तो वहाँ वह वृक्षराज कहलाता है, ऐसे ही इस

दुनियामे मूर्खोंके अन्दर, मोहियोंके बीच कुछ-कुछ वचन चतुरताके कारण, धोखा छल कपटके कारण या किसी प्रकारकी बुद्धि विकासके कारण कुछ महिमा बढ़ा ली तो वह मूढ़ोका सिरताज मरुस्थलमें घासके बीचमें उगे हुए एरण्ड-वृक्षका सरीखा मालूम होता है। भले ही वह घमंड करे, पर घमंडके लायक कला कुछ नहीं है। जो पुरुष अपनी छोटी-छोटी कला पर घमड करने लगते हैं वे अपनी महान् निधि पर कुठाराघात करते हैं। जिस आत्मामें इतनी अनन्त सामर्थ्य है कि वह समस्त लोकका जाननहार रहे, अनन्त आनन्दसे भरपूर रहे वह अपनी तुच्छ कला पर घमड करके अपने स्वभावको ढक रहा है, ठग रहा है। कौनसी चतुराई ऐसी है जो कुछ सारभूत हो और अहंकारके लायक हो ?

कुलमदका दुष्परिणाम— कई लोग अपनी उत्पत्ति पर ही गर्व करते हैं। कुछ लोग मान्य कुलमें पैदा हो गये, माता और पिताका बड़ा घराना मिल गया, अच्छा कुल मिल गया तो उस पर ही घमण्ड किया करते हैं। मै बहुत बडे कुलका हू। अरे, इस आत्मामे कहाँ कुल लगा हुआ है? यह तो चैतन्यस्वरूपमात्र है। अपने आत्माके भीतरकी कलाको तो देखो, यह केवल जानन देखनहार रहा करे—ऐसा विशुद्ध उत्कृष्ट कलावान् है। इसमें कुल कहाँ पड़ा हुआ है, जाति कहाँ लगी हुई है? यद्यपि व्यवहारमें यह सब चलता है अपनी रक्षाके लिये। यदि हम श्रेष्ठ आचार-विचार वालोंमें न रमें, उनकी सङ्गति छोड़कर नीच आचार-विचार वाले समूहमे लग जाये तो उसमे तो बरबादी है। इस कारण नीच आचार-विचार के कारण प्रसिद्ध हुए नीच कुलकी सगति नहीं करनी चाहिये, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उच्च कुलमें पैदा हो गये या उच्च कुलमें आ गये तो हम घमण्ड करने लगें। उच्च कुलके मदके फलमें मरणके बादमे नीच कुलमें दुर्गतियोंमें उत्पन्न होना पड़ेगा।

कुलीनताका सदुपयोग— उच्च कुलका मिलना घमण्ड करनेके लिये नहीं होता है, किंतु आत्मस्वरूपका मनन, चिंतन, अध्ययन करके आत्मकल्याण करनेके लिये होता है—ऐसी दृष्टि बननी चाहिये और यह धर्मलाभ तब हो सकता है, जब प्राणिमात्रमें हम उस एक चैतन्यस्वरूपको निरखें। इतनी विशुद्धि हमारी बढ़े, इतनी बुद्धि हमारी निर्मल हो कि हम प्रत्येक जीवमें उस जीवके उच्च, नीच कुलको न देखकर एक चैतन्यस्वरूपको निरख सकें। कर्मोंके उदय हैं। इन उदयोंके वश जीव कभी निद्य कुलमें जन्म लेता है और कभी उच्च कुलमें जन्म लेता है। यहाँ स्थायीपन कुछ नहीं है। जो आज ऊँचा है, वह कल नीचा हो सकता है और जो आज नीचा है, वह कल ऊँचा हो सकता है। यह तो संसारकी स्थिति है। इसमें आत्माका कुछ सुधार-बिगाड़ नहीं है। इसमें जो फँसता है और यहाँ रहकर जो अपनेको उस अनुकूल अभिमान और दीनताकी वृत्ति लाता है, उस परिणामसे सुधार-बिगाड़ है। उच्च कुलका घमण्ड भी अपने आपको बरबाद करनेका कारण होता है। इन कामोंसे रहित जो निर्मल परिणाम है, वह भावशुद्धि है। यही है निश्चय परम-आलोचना।

देहबलकी अपनायतसे आत्मबलका विनाश— कितने ही पुरुष अपने शरीरबलका घमण्ड करने लगते है। शरीरबल आत्माके गुणोंको तिरोहित करके प्रकट होने वाला अशुद्ध विकार है। शरीरबलसे यदि जीवकी महिमा जानी जाये तो कमसे कम इस समय हम आपसे अधिक महिमा तो गधेकी और भैंसेकी होनी चाहिये। आजकल हम आपमे सम्भव है कि गधेके बराबर बल नहीं है। एक गधेमें जितनी ताकत है, उतनी ताकत इस समय हम आपमें न होगी। तब फिर हम बडे नहीं हैं। हम लोगोंके लिये गधा बड़ा हो जायेगा, क्योंकि शरीरके बलसे इस जीवकी महिमाका माप किया जा रहा है। अरे, शरीरबलका विकल्प तो आत्मबलका तिरोधान करने वाला विकार है। भले ही कुछ पापकर्मका मद उदय रह जाये तो शरीरबल रहता है और अपनी-अपनी जातियोंमें जातिके माफिक शरीरबल होता है। किन्हीं-किन्हीं मनुष्योंमें तो इतना बल होता है कि हजारों सिंह और हाथियोंमें भी जो बल है, उसे जोड़ लो तो उससे

भी कई गुणा अधिक बल मनुष्योंमें होता है, पर देहबल घमण्डके लायक वस्तु नहीं है। जो शरीरबलका घमण्ड करते हैं, वे अपने आत्माके अतुल बलका विनाश करते हैं।

बलका उपयोग— आत्माका अतुल बल है समतापरिणाममें। यह अमूर्त आकाशवत् निर्लेप आत्मा किसी परपदार्थका क्या कर सकता है? केवल मोहमें मोही जीव कल्पना ही मचाया करते हैं। उन कल्पनावोंसे आत्माका बल क्षीण होता है। जब विशुद्ध ज्ञानका उदय होता है, समतापरिणामका निवास होता है तो आत्मबल बढ़ता है। आत्मबल बढ़ा हुआ है, इसकी पहिचान है निराकुलता। जो पुरुष परमार्थरूपसे निराकुल हैं तो समझो उसमें उतना ही आत्मबल प्रकट है। विह्वल होना, आकुलित होना, क्षुब्ध होना—यह सब आत्मबलकी कमीकी निशानी है। कुछ ब्रह्मचर्य होनेसे, कुछ व्यायाम होनेसे, कुछ उदय अनुकूल चलनेसे कदाचित् ऐसा भी बल मिल जाये कि लाखों सुभटोंको भी जीतनेमें पुरुष समर्थ हो जाये तो ऐसे बलसे भी इस जीवका क्या पूरा पड़ सकता है? शान्ति मिल सके, अनाकुलता रहे, इसमें जीवका लाभ है। इस देहबलके अभिमानसे इस आत्माको लाभ तो क्या, हानि ही होती है। देहबल मिला है तो यह घमण्डके लिये नहीं है—ऐसा समझो। ऐसे देहबलको पाकर हम आत्मकल्याणका काम कर लें। उत्कृष्ट ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहननमें होता है, क्योंकि वहाँ देहमें निरुपम बल है। उत्तम ध्यानके प्रतापसे वज्रवृषभनाराचसंहनन वाला मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है, यदि सक्लेश करे तो वज्रवृषभनाराचसंहननके बल वाला पुरुष सप्तम नरक भी जा सकता है। यह तो बलके उपयोगकी बात है। हमने देहबल पाया है तो इस बलका हम सदुपयोग आत्मकल्याणके लिये करें।

लोकवैभवकी अपकृति— कितने ही पुरुष धनसम्पन्न होने पर घमण्ड करने लगते हैं। पूर्वभवमें दान किया, साधु-सेवायें कीं, प्रभु-भक्ति की, उससे जो पुण्य उपार्जित हुआ, उसके फलमें आज धन-वैभव मिल गया है, सम्पदा बढ़ती चली जा रही है। उस सम्पदाकी वृद्धिके समय अज्ञानीजन घमण्ड करने लगते हैं। यह सम्पदाकी वृद्धि घमण्डकी बात नहीं है, अज्ञान है, तब तो यह खेदकी बात है। जितनी सम्पदा बढ़ेगी, उतना ही यह फँसता जायेगा, उतनी ही जगह चित्त डोलता रहेगा। आज यहाँकी व्यवस्था कुछ सभल पायी तो तुरन्त ही दूसरी जगहकी व्यवस्थावोंकी चिन्ता बनेगी। जितना वैभव है, जितने अर्जनके साधन हैं, उतने साधनोंमें इसे चिंता करनी पड़ेगी, इसका भटकना बना रहेगा। यह सम्पदा क्या कुछ घमण्डके लायक वस्तु है? बल्कि इस पुण्य-वैभवसे विशेष हानिकी सम्भावना है। पुण्य-वैभव मिला, अज्ञान और अहकार बढ़ा, इससे अन्यायकी प्रवृत्तियाँ होने लगीं। जब अन्यायकी प्रवृत्तियाँ होने लगीं तो तीव्र पापका बध होने लगा। अब उस पापके फलमें इसे नरक जाना होगा, दुर्गतियोंमें जन्म लेना होगा। तब इस पुण्य-वैभवने कुछ लाभ दिया या नुकसान दिया?

अपूर्व अवसर— भैया! कितना श्रेष्ठ मनुष्यजन्म पाया है, जिसने रागद्वेषोंको जीतकर परमात्मपद प्राप्त किया है, उस प्रभुकी वाणीकी परम्परासे चला आया हुआ यह विशुद्ध धर्म पाया है। ऐसे उत्कृष्ट धर्म और वातावरणको पाकर अब क्या करना चाहिये? क्या इस इन्द्रजालमय भयकर परिणाम वाले इस सम्पदा-वैभवमें रम जाना चाहिये? ये समागम रमनेके योग्य नहीं हैं। इस लक्ष्मीका क्या पता है? आज है, कल नहीं है। जो पुरुष इसमें लग रहे हैं, वे घोर क्लेश पाते हैं। यह घमण्डके लायक पदार्थ नहीं हैं। जो पुरुष अहङ्कारसे रहित रहते हैं, वे ही परमशरणभूत अतत्त्वस्वरूपका दर्शन कर पाते हैं।

परमतत्त्वज्ञोंके ऋद्धियोंके गर्वका अभाव— कितने ही लोगोंके कुछ ऋद्धियाँ पैदा हो जाय तो उन ऋद्धियोंको पाकर घमण्ड करने लगते हैं तो उनका पतन हो जाता है। तपस्याके बलसे ज्ञानकी वृद्धि होती है, क्योंकि तपस्यामें विषयकषायोंके परिणाम नहीं रहते हैं। उस समय ऐसी उज्ज्वलता बढ़ती है कि अनेक ऋद्धियाँ पैदा हो जायें, ज्ञान बढ़ने लगे, यह ज्ञान बढ़कर जब ११ अग ९ पूर्व तक पहुच जाता है,

तब तक तो परीक्षाका समय नहीं आता और जब १०वां पूर्व सिद्ध होने लगता है विद्यानुवाद, तब अनेक विद्यायें, अनेक देवियाँ मानो साधककी परीक्षाके लिये आती हैं सुन्दर रूप बनाकर और वे इसके मनसे अनुरागवृत्तियाँ करके इस मुनिको डिगाना चाहती हैं। उस समय जो मुनि डिग जाता है, वह पतित हो जाता है, उसका जीवन भ्रष्ट हो जाता है। जो वहाँ नहीं डिगते हैं ऐसी स्थितिमें भी अपने परमात्मतत्त्व की भावनामें झुके रहते हैं, वे पुरुष आगे प्रगति कर जाते हैं। हो गयी- उस समयमें कुछ ऋद्धि तो उन ऋद्धियोंके होनेसे इस आत्माका पूरा न पड सकेगा। गर्वरहित जो परिणाम है, वह भावशुद्धि है। भावशुद्धिमें ही सच्ची उत्कृष्ट आलोचना होती है। अभेदालोचनाके प्रसादसे यह जीव संसार-संकटोंसे छूटकर निर्वाणपदको प्राप्त कर सकता है।

ऋद्धियोंमें बुद्धि ऋद्धि - ऋद्धियां मूलमें ७ प्रकारकी होती हैं—बुद्धि ऋद्धि, तप ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि, औषध ऋद्धि, रस ऋद्धि, बल ऋद्धि, अक्षीण ऋद्धि। बुद्धि ऋद्धिमें सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि केवलज्ञान ऋद्धि है, फिर मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान, फिर अनेक प्रकारके श्रुतज्ञानकी ऋद्धिया हैं। जितना श्रुत उत्पन्न किया गया है, उतना श्रुत भी बराबर बना रहे तो यह भी एक ऋद्धि है। जैसे यहां देखा जाता है कि लोग जितना ज्ञान उत्पन्न कर लेते हैं यदि उसका निरन्तर अभ्यास न बनाये रहें तो उस ज्ञानमें कमी आ जाती है। तो जितना ज्ञान पाया है, वह ज्ञान भी बराबर बना रहे, यह भी एक ऋद्धि है। जैसे कोठेमें जितने धान भरोगे, उतने ही धान रहेंगे। इसी प्रकार इस ज्ञान-कोठेमें जितना ज्ञानविकास हो गया है, वह बना रहे, यह भी ऋद्धि है और जैसे एक धानका बीज बोया तो उससे कितने ही गुने धान पैदा हो जाते हैं, इसी प्रकार ज्ञानकी मूल युक्ति पायी तो उसके फलसे कितने ही गुना ज्ञान प्रकट हो जाये, यह भी श्रुतज्ञानविषयक ऋद्धि है। कितना ही कोलाहल मच रहा हो बाजार आदिकी भीड़में, उसमें भी भिन्न भिन्न वचनोंको जान सके, यह भी एक ऋद्धि है, नहीं तो कोलाहलमें कुछ ज्ञान नहीं होता है। लेकिन कितना ही कोलाहल हो, उसमें भी भिन्न-भिन्न वचनोंकी पहिचान होती है--ऐसी ऋद्धि भी है। कोई एक पद किसीका बोले तो उसको ही सुनकर उसका महान् अर्थ जान जाये--यह भी एक ज्ञानकी ऋद्धि है। कोशों दूरकी चीज देख लो, सुन लिया, स्वाद लिया आदि अनेक ऋद्धियां होती हैं। ऐसे ही ऋद्धि उत्पन्न होने पर जो उत्कृष्ट ऋद्धि नहीं है, उस ऋद्धि पर कभी अभिमान सम्भव हो सकता है। ऐसे अभिमानसे रहित जो निर्मल परिणाम हैं, उसका नाम भावशुद्धि है।

ज्ञानीका ऋद्धियोंपर अभिमान अभाव— दोषोंको दूर कर सकने वाला आलोचक ऋद्धि-सिद्धिके अभिमानसे रहित है। वह तो यों समझता है कि यह आत्मा केवलज्ञान जैसी अनन्त ऋद्धियोंसे सम्पन्न रहे--ऐसे स्वभाव वाला है। साधारण ऋद्धियां उत्पन्न हों तो उसमें कौनसा वैभव मिल गया? यह आत्मा लोकका जाननहार अपने अनन्त आनन्दमें मग्न रहे--ऐसा अतिशयवान् है। ये सांसारिक कुछ ऋद्धिया व सम्पदा मिल गई तो उसमें कौनसी अभिमानके लायक वस्तु है? जो उत्कृष्ट चीज है, उसकी प्राप्ति होने पर अभिमान रहता ही नहीं है। जहां अभिमान रहता है, वहा जानना चाहिये कि कोई उत्कृष्ट चीज मिली ही नहीं है।

तप और विक्रिया ऋद्धि— तपस्याकी अनेक ऋद्धिया होती हैं। विक्रियावोंकी अनेक ऋद्धियां होती हैं। आकाशमें गमन करे, जल पर गमन करे और पैर न भीगे—ऐसी अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होना तपस्याके प्रभावसे हो जाता है। अपने शरीरको छोटा बना लेना, हल्का या वजनदार बना लेना, कितनी ही विक्रियाएँ हो सकें--ऐसी ऋद्धिया उत्पन्न हो जाती हैं, पर ज्ञानी संत पुरुषको इन ऋद्धियों तकका भी पता नहीं रहता है। जैसे विष्णुकुमार मुनिको विक्रिया ऋद्धि हो गयी, पर उन्होंने स्वयं उसका उपयोग नहीं किया कि हमें कोई ऋद्धि उत्पन्न हुई है।

औषध ऋद्धि— ऐसी भी अनेक ऋद्धियां होती हैं कि साधु-संत किसी रोगी, दु:खीको अच्छी निगाह से देख लें तो उनके देखने मात्रसे ही उसका रोग दूर हो जाता है। हवा उनके शरीरको छूती हुई आकर लग जाये तो उस हवासे भी रोग दूर हो जाते हैं। उनका मल, पसीना आदि कुछ चीजोंका भी किसी समय रोगीसे सम्बन्ध हो जाये, मल, मूत्र, थूक, खकार, लार—इनका सम्बन्ध हो जाये तो उससे भी रोगियोंके रोग दूर हो जाते हैं—ऐसी सातिशय ऋद्धि साधु-संतोंके प्रकट हो जाती है। पर ज्ञानी पुरुषको ऋद्धि पर भी अभिमान नहीं रहता है। अभिमान करने वाले तुच्छ जन ही हुआ करते हैं। जो महंत हैं सज्जन हैं, उत्कृष्ट विचार वाले हैं, वे कितनी ही ऋद्धियां, कितनी ही सम्पदा प्राप्त कर लें, फिर भी उन के अभिमान नहीं होता है।

रस व अक्षीण ऋद्धि— ज्ञान, वैराग्य व तपश्चरणसे ऐसी रस-ऋद्धियां प्रकट हो जाती हैं कि नीरस भी भोजन चौकेमें बना हो और साधु-महाराज उस चौकेमें पहुंच जायें तो वह भोजन सामग्री स्वादिष्ट रसरूप परिणम जाती है। कोई भी उस भोजनको खाये तो वह भोजन सरस लगता है—ऐसी भी रस-ऋद्धियां प्रकट हो जाती हैं। अतुल बल शरीरमें आ जाये, इसकी भी ऋद्धियां होती हैं। जहां वे सिद्धिवान् साधु विराजे हों, वहां कितना ही समूह भोजन कर जाये तो भी उस चौकेमें कमी नहीं पड़ती है—ऐसी भी ऋद्धियां होती हैं, परन्तु मोक्षमार्गमें प्रगति करने वाले साधु पुरुषके किन्हीं भी सिद्धियोंमें अभिमान नहीं होता है। यों सर्वप्रकारके घमण्डोंसे रहित जो आलोचन परिणाम है, वह ही मोक्षमार्गका सच्चा पथ है।

देहसौन्दर्य पर अभिमानका अभाव— किसीको शरीर भी बड़ा सुन्दर मिले, शरीरकी सुन्दरता दो बातों से होती है—एक तो अंगोपांग, नाक, मुँह, आंख, कान—ये सब सुडौल हों, जिसे कहते हैं आकृति ठीक है। दूसरे कान्तिमानरूप होना—ऐसा विशिष्ट रूप प्राप्त करके भी जिनके अभिमान जागृत नहीं हो सकता है, वे ही पुरुष सच्चे धर्मके साधक हो सकते हैं। शरीर कितना ही सुन्दर हो, नाक, मुँह, गाल, कान—सभी सुन्दर हो गये, ठीक सुडौल हो गये तो उसमें कौनसी निधि मिल गयी? आखिर मांस, खून, मज्जा इत्यादिका ही तो यह पिंड है, दुर्गन्धित चीजोंको ही तो यह शरीर बहायेगा। यह शरीरकी सुन्दरता अभिमान करनेके योग्य नहीं है। यों सर्वप्रकारके अभिमानसे रहित जो आत्मपरिणाम है, वह परिणाम ही आलोचन कहलाता है।

मायाके अभावमें भावशुद्धि— छल, कपट, माया धर्मके बाधक परिणाम हैं। मायाचारपूर्वक यदि कुछ सम्पदा भी इकट्ठी कर ली या कुछ साधन समागम भी जुटा लिये तो उससे चैन नहीं मिलती, क्योंकि मायावी पुरुष अपने आपकी मायाको जान रहा है और उस मायाको अन्तरमें छुपानेका प्रयत्न करनेका उत्सुक रहा करता है, उसे चैन कहां मिल सकेगा? इस असार संसारमें जहां किसीका कोई ठौर निश्चित नहीं है, इस ३४३ घन राजू प्रमाण लोकका असंख्यातवां हिस्सा है यह, जितनी जगहमें हम आप रहते हैं अथवा परिचय पाते हैं, आज यहां पैदा हुए हैं, कल मरण करके कहींके कहीं चले गये तो क्या रहा फिर यहांका? जो समागम मिला है, क्या सारभूत है? गृहस्थावस्थामें यह समागम धर्मके उपयोगके लिये होना चाहिये, मान कषायको बढ़ानेके लिये नहीं अथवा अपने दिलको रमानेके लिये नहीं।

ज्ञानीको कष्टोंमें आस्था और अन्यायमें अनास्था— भैया! जो कष्टोंका आदर नहीं कर सकता, वह कष्टोंमें कभी धीर और साहसी नहीं हो सकता। वह धर्मका पात्र नहीं है अथवा यों कहो कि शान्तिका वह पात्र ही नहीं है। उसे तो किसी न किसी रूपसे अशान्ति ही मिलती रहेगी। सज्जन पुरुष, ज्ञानी पुरुष धन-सम्पत्तिको भी आदर नहीं देते, उसे विपदा समझते हैं और वे सम्पत्तिसे नहीं खेलते, विपदावों से खेला करते हैं। जहां तक बिगाड़की बात है, वह सम्पत्तिसे अधिक हो सकती है। भावोंको कलुषित

बनाना, मलिन बनना यही सबसे बड़ी विपदा है। भाव शुद्ध रहें और चाहे कैसी भी परिस्थिति आये यह पुरुष अतः प्रसन्न रहे। जो अन्याय करता है, अत्याचार करता है वह अपनी खुदकी कलुषित प्रवृत्तिको जान रहा है ना, और जब यह अपनी बातको जान रहा है तो यह प्रभु न्याय न करेगा क्या? उसका न्याय यह है कि यह दुःखी रहा करे? जो दुःखके योग्य बातको करता है उसे दुःखी रहना ही चाहिए।

मायाके अभावमें भावशुद्धि—माया-परिणामके रहते हुए भावोंमें शुद्धि कभी आ नहीं सकती है। मनुष्य को बालकवत् सरल होना चाहिये, जैसे बालक निष्कपट है वैसा होना चाहिए। कोई मायाचार करके चार पैसा ज्यादा कमा ले तो उससे क्या लाभ है? अपना व्यवहार शान्ति उत्पन्न करने वाला होना चाहिए। सरल चित्त वाले पुरुषको कभी विपदा नहीं आ सकती है। जो मायारहित परिणाम है, वह है भावशुद्धि। इस भावशुद्धिमें परमआलोचना प्रकट होती है।

लोभकी पाप जनकता—लोभ कषायके सम्बधमें एक लोकोक्ति है—लोभ पापका बाप बखाना। लोभ पापका बाप क्यों है? उसमें परपदार्थको अपनानेका भाव रहता है, जो होना त्रिकाल असम्भव है। यह आत्मा कहाँ-कहाँ नहीं पैदा हुआ, किस-किस शरीरको इसने नहीं ग्रहण किया, किस-किस समागमको इसने नहीं पाया? मगर आज कोई भी समागम, कोई भी वस्तु इसके पास नहीं है। कोई भी परवस्तु अपनी बने, यह त्रिकाल असम्भव है। तो यह लोभ पापका बाप है। जितने भी अन्य पाप होते हैं उन सबका जनक यह लोभ है। लोभ कषायसे रंगे हुए हृदयमें शुद्ध स्वच्छ धर्मका प्रवेश नहीं होता है। शान्ति का करने वाला तो एक धर्मका आलम्बन ही है। धर्मके आलम्बनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी इस जीवको शरण नहीं है।

लोभकी परिभाषा—योग्य स्थानोंमें धनको खर्च न करना, यह है लोभकी परिभाषा। कोई धर्मका स्थान है, वहाँ धन खर्च करनेका परिणाम न हो सकना, इसका नाम लोभ है। कोई पुरुष अपने मौजके लिए हजार रुपये माहवार खर्च करता है, कितनी मोटरें रखे है, कितने ही नौकर पड़े हैं, अनाप-सनाप खर्च हो रहा है, दोस्त लोग खूब ठग रहे हैं, किन्तु धर्मस्थानोंमें धन खर्च करनेका परिणाम नहीं है तो यह लोभ नहीं तो और क्या है? योग्य कार्योंमें धन खर्च न करना, यह तो लोभ ही है। विषयोंमें जो अनाप-सनाप खर्च करते हैं वे लोभी हैं। जिसके पास शरीर बल है, जिसके पास बुद्धिबल है, जिसके पास जो भी शक्ति है उसका उपयोग योग्य कार्योंमें न लगाये तो यह लोभ कहलाता है। लोभसे रंगे हुए हृदयमें धर्मका प्रवेश नहीं होता है।

लोभ व आकुलताके अभावका उपाय—निश्चय-दृष्टिसे देखा जाय तो समस्त परिग्रहका परित्याग जिसके स्वरसतः बना हुआ है, ऐसे आत्मतत्त्वका आलम्बन ही लोभका अभाव है अर्थात् जो समस्त परिग्रहोंसे न्यारे अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्वको निरखना है, स्वीकार करना है वह ही धर्म है। वह ही करना युक्त है। अपने शुद्ध स्वभावका आलम्बन छोड़कर अन्यत्र बाहर परमाणुमात्र द्रव्यको स्वीकार करना, यही लोभ है। योग्य कार्योंमें धन खर्च न कर सकना, यह तो व्यवहार-दृष्टिसे लोभ है और निश्चयदृष्टिसे किसी परमाणुमात्रको भी, एक दमड़ी छदाम तकको भी अपना मानना लोभ है। अध्यात्म-क्षेत्रमें निराकुलता यह कहलाती है जहाँ केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावको ही आत्मा स्वीकार करे यह ही उसका सर्वस्व वैभव है, इस ही में तन्मय होना, ऐसे आत्मस्वभावको ही स्वीकार करना इसका नाम है निराकुलता। काम, क्रोध, माया, लोभ इन सभी भावोंसे जो छुटकारा पा लेवे उस शुद्ध भावका नाम है भावशुद्धि। भगवान् अरहंतदेवने इस भावशुद्धिको परमआलोचना कहा है।

स्वावलम्बनका मोड़—भैया! स्वरूपपरिचयी पुरुष इन कर्मोंसे हटकर संसार-सागरसे पार हो

जायेगा। इस संसारसे पार, जीवन्मुक्त, अरहंतप्रभुकी दिव्यध्वनिमें यह उपदेश आया है कि सर्वविकारोंसे रहित अविकारस्वभावी ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको निहारो, इस उपायसे परमकल्याण होगा। कोई अपनेको अकिंचन्य निरख सके, मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा तो मात्र मेरा एक चैतन्यस्वभाव है, मैं स्वरूपास्तित्त्वमात्र हूं—इतनी श्रद्धा किसीमें आ सके तो उसका मनुष्य-जीवन पाना सफल है। लाखोंका वैभव भी जोड़ लिया, किंतु अपने आपके सहजस्वरूपकी परख न आ सकी तो उसका जीवन बेकार है। भव्य पुरुषोंको यह उपदेश हितकारी है।

साधु संतोंकी करुणाका लाभ लेनेका अनुरोध— इन साधु संतोंकी कितनी परमकरुणा है कि जो उन्होंने अपनी तपस्यासे जो वैभव पाया है, उस वैभवको अक्षरोंमें लिख गये हैं और हम आप सब ऐसे कपूत रहे कि बना बनाया भोजन भी न खा सके। जो तत्त्व बड़े तप और साधनाके बाद अपने आपकी मेहनत से प्राप्त हो सकता है, वह तत्त्व, वह अमृत आज यह लिपिबद्ध है। इसे भी हम न पढ़ें, न सुनें, न मनन करें तो और क्या दशा होगी? विषयकषायोंमें ही रत होंगे। इन ढेले, पत्थरोंको ही सब कुछ मानते रहेंगे तो परिणाम क्या होगा? दुर्गति होगी, संसारभ्रमण होगा। तब फिर यह मनुष्य-जीवन पाया न पाया एक समान है।

भावशुद्धिकी आलोचना— आलोचनाके लक्षणोंमें यह अंतिम आलोचना है भावशुद्धि। जहां घमण्ड नहीं, कामविकार नहीं, छल-कपट नहीं, लोभ नहीं, और भी समस्त विभाव नहीं, केवल ज्ञाताद्रष्टारूप परिणति चल रही है—ऐसे परिणामका नाम है भावशुद्धि। निश्चय परमालोचनका अर्थ देखना है। दोषों को देखें तो दोषोंको दूर करनेके ध्येयसे देखें। आलोचककी पहिली स्थिति होती है दोषोंके आलोचना की। दोषोंकी आलोचनासे यह स्वभावका आलोचन बन जाता है, गुणोंको निरखनेमें परिवर्तित हो जाता है। किसीके गुणोंका वर्णन करनेका अर्थ ही दूसरोंके दोषोंका प्रसिद्ध हो जाना है। कोई दो साधु पुरुष बैठे हों, उनमेंसे एकके गुण बता दिये जायें, दूसरेकी बात ही न कही जाये तो उसका स्वय ही यह अर्थ हो जाता है कि यह द्वितीय साधु दोषोंसे भरा हुआ है, सन्मार्ग पर नहीं है। दूसरोंके दोषोंका वर्णन करने में उपयोग क्यों बिगाड़ा जाये? जैसे लोकव्यवहारमें दूसरेके दोष बतानेकी विधि यह है कि अन्य गुणीके गुणोंका वर्णन कर दे। इसी प्रकार अध्यात्मक्षेत्रमें आत्मदोषोंकी आलोचना करनेकी उत्कृष्ट विधि यह है कि आत्माके गुणोंको निरखते रहें। आत्मदोषोंकी आलोचना वहां स्वयमेव ही हो जाती है। यों यह परम आलोचक ज्ञानी संत आत्मतत्त्वकी रुचिवश आत्मस्वभावके गुणोंको देख रहा है और उस चित्प्रकाशमें मग्न होकर दोषोंको दूर कर रहा है। दोष दूर हुए कि गुणोंका विकास स्वयमेव हो जाता है।

शुद्धमार्गानुशरणसे सिद्धि— जो भव्य जीव जिनेन्द्रदेवके मार्गमें कहे हुए जो आलोचनाके उपाय हैं, उनको करके अपने स्वरूपमें रमता है। जो सर्वथा परभावोंका त्याग करता है, उसे मुक्तिरूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है। जीवको होना है मुक्त अर्थात् औपाधिक जितने भी भाव हैं, उन सर्वभावोंसे भिन्न अपने आपको निरखना है। जो सर्व पर विमुक्त अपने आत्मस्वरूपको निरखेगा, वह अवश्य ही मुक्त होगा। जो अपने को अभी सर्वपदार्थोंमें लिप्त देख रहा है और ऐसी ही रुचि कर रहा है, वह पदार्थसे कैसे छूटेगा। जितने भी क्लेश हैं, वे सब बाह्य अर्थोंकी ममताके हैं। ममत्व न हो तो इस जीवको कोई भी क्लेश नहीं है। रही शारीरिक क्षुधा, तृषा, शीत, उष्णकी बाधाकी बात। यदि ममत्व न रहेगा तो शरीर भी न रहेगा। सदा के लिये शरीरसे मुक्त हो जायेंगे, फिर कष्टकी कोई बात न रहेगी। जो कल्याणार्थी पुरुष हैं, उन्हें चाहिये कि शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्वकी प्रतीति बनाये रहें। जो सदामुक्त आत्मतत्त्वकी भावना करते हैं, वे कर्मोंसे अवश्य ही मुक्त हो जाते हैं।

शुद्धनयात्मक आलोचना— आलोचना दोषोंको दूर करती है। कोई दोष बन जाये, उस दोषको अपने

मुखसे प्रकट करनेसे वह दोष हल्का हो जाता है। दोष बनते रहें और उनको गुप्त बनाये रहें तो दोषोंसे मुक्ति नहीं होती है। इसी आलोचनाका जो उत्कृष्ट रूप है ज्ञानानन्दस्वभाव निजतत्त्वका दर्शन, विभाव-रहित आत्मतत्त्वका परिणमन--यह ही उत्कृष्ट आलोचना है। संयमी जीवोंको यह आलोचना अवश्य मोक्षका फल देती है। इस आलोचनाका नाम है शुद्धनयात्मक आलोचना अर्थात् शुद्ध दृष्टिसे जो अपने आपके स्वरूपका निरीक्षण होता है, उसे कहते हैं शुद्धनयात्मक आलोचना। यह शुद्धनयात्मक आलोचना कामधेनुकी तरह सर्वसिद्धियोंको उत्पन्न करने वाली होती है। जहां शुद्ध आत्मतत्त्वके अनुरूप आत्माका आचरण होता है, उसे शुद्धनयात्मक आलोचना कहते हैं। आत्मा है केवल जाननहार देखनहार, जिसमें रागद्वेषका विकार नहीं पड़ा हुआ है। रागद्वेषके विकारसे रहित शुद्ध ज्ञानप्रकाश ही बर्तता रहे--ऐसा इस आत्माका स्वभाव है। इस स्वभावरूप आत्माकी प्रतीति करना, ऐसा ही उपयोग बनाना--यही है शुद्ध नयात्मक आचरण और शुद्ध आलोचन।

आत्माका स्वतःसिद्ध स्वरूप-- आत्माका स्वरूप स्वतःसिद्ध है। इस जीवको किसीने बनाया नहीं है। जीवको ही क्या, जगत्में जितने भी पदार्थ हैं, किसी भी पदार्थको किसीने बनाया नहीं है। पदार्थका अनादि सिद्धस्वरूप जब ध्यानमें नहीं आता है और हम लोकव्यवहारमें अनेक पदार्थोंका निर्माण देख रहे हैं तो लौकिक जनोंमें यह कल्पना होना प्राकृतिक है कि सारी दुनियाका भी कोई बनाने वाला होगा। कपड़ा, घड़ा आदि अनेक वस्तुएँ कुम्हार कोरी आदिके बनाये बिना नहीं बन रहे हैं तो वह सारी दुनिया भी कैसे अपने आप हो जायेगी? इसको भी बनाने वाला कोई होगा--ऐसी धारणा वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ पुरुषके हो जाती है, किन्तु एक यही ऊहापोह कर लो कि जैसे कुम्हारने घड़ा बनाया तो कुछ न था, बना दिया ऐसा, कर सकेगा क्या कुम्हार? मिट्टी थी, उपादान था, पहिलेसे कोई वस्तु थी, तब उस वस्तु में कुछ परिवर्तन हुआ है। वस्तुतः तो उस कालमें भी जब घड़ा बन रहा है, कुम्हार केवल अपनी चेष्टा कर रहा है और उसके उस प्रकारके हाथ आदि चलनेका निमित्त पाकर उस मिट्टीके घड़ेरूप परिणमन स्वयमेव हो रहा है। ऐसे ही कदाचित् मान लो कोई एक इस समस्त जगत्का कुछ परिणमन करे तो कुछ चीज हो, तभी ना परिणमन करे। तो चीजकी सिद्धि तो पहिलेसे ही हो गयी। उपादान अनादि सिद्ध हुआ। न हो और असत्से सत् बना सके कोई--ऐसा न्यायमें आ ही नहीं सकता।

सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वरकी विविक्तता व आनन्दमयता-- अब देखिये निर्माणके निमित्तकी बात। भला इतने विस्तृत लोकका, जिसका रवा-रवा, अणु-अणु समस्त पदार्थ जिसमें व्याप्त है, कोई एक ईश्वर या कोई प्रभु किस वस्तुका निर्माण करता होगा। इस ईश्वरका स्वरूप सर्वज्ञ और वीतराग है, परम आनन्दमय है। प्रभुको सच्चिदानन्द कहते हैं, जिसका अर्थ है अनन्तशक्ति, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्त आनन्दस्वरूप। किसी पदार्थका निर्माण किया करे--ऐसा परमेश्वरका स्वरूप नहीं है। ये समस्त पदार्थ अनादिसिद्ध हैं और इनका विभावरूप परिणमन जब जिस प्रकारका निमित्त पाकर ज्यों होता है, उस प्रकार चलता है। यह आत्मतत्त्व शुद्ध है, ज्ञाताद्रष्टा है। इसका सच्चिदानन्दस्वरूप जान कर जो इस पर ही अपना उपयोग लगाता है, वह शुद्ध शीलका आचरण करके सिद्धिका स्वामी होता है। सर्वविशुद्ध स्वत सिद्ध आत्मस्वरूप उस शुद्ध उपयोगमें है।

मोहकी बाधा--भैया! मोहका बड़ा विकट जाल है। यहाँ एक अणुका भी तो सम्बन्ध नहीं है, किन्तु विकल्पमें कितने विभाव बसा रखे हैं। इन कल्पनावोंके कारण यह लोक संसार-भ्रमण कर रहा है। जिसने जिसे रागका विषय बनाया वह उसके लिए ही अपना सर्वस्व न्योछावर करता है। पर, जीव का एक भी आत्मासे सम्बध नहीं है। ऐसे सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वमें मग्न मुनिजनोंके हृदय-कमल में यह स्वरूप आनन्दसहित विराजमान् है। इसमें कोई बाधा नहीं है। बाह्य पदार्थ किसी प्रकारसे परि-

णमें, कोई किसी दूसरेको बाधा नहीं देता है। सड़कों पर कोलाहल हो रहा है, क्या उन कोलाहल करने वालोंके यह कल्पना तक भी है कि जो मंदिरमें बैठते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं उनको मैं बाधा दूँ, और उन्हें मंदिरसे भगायें ? वे अपनी कषायके अनुकूल अपने कोलाहलमें मस्त हैं। अब दूसरे जीव कल्पनासे अपनी अभीष्ट वृत्तिमें बाधा जानकर यह मान लें कि ये लोग बड़ा डिस्टरबेन्स करते हैं तो यह हम आपकी कल्पना है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको बाधा नहीं देता है। यह बाधा रहित है आत्मतत्त्व। बाधा तो इसमें इसके मोहकी है। अंतरङ्गमें मोहकी कल्पना जगाई कि बाधा होने लगी।

आत्मामें अयोग्य तत्त्वका अभाव--यह आत्मस्वरूप काम-विकारसे रहित है। इसमें क्रोध, मान, माया, लोभका रंच प्रवेश नहीं है। इस स्वरूपको न जानकर, बाह्य पदार्थोंको अपनाकर इन्द्रियके विषयोंमें लोभ करके यह जीव परेशान होता है। जिसने शुद्ध ज्ञानरूपी दीपकके द्वारा अपने मनके घोर अंधकारको दूर कर दिया है वह तत्त्व साधुओं द्वारा भी वंदनीय है। जन्म-समुद्रको लांघ जानेकी नौका स्वरूप उस शुद्ध स्वरूपका मैं सेवन करता हूं। इस लोकमें हम-आपका कोई शरण नहीं है। केवल एक तत्त्वज्ञान ही शरण है। जो पुरुष इस तत्त्वज्ञान पर न्यौछावर हो जाते हैं उनके सकल संसार संकट कट जाते हैं। अन्य पदार्थों पर अनुराग करनेका फल ही कल्पनाजन्य-जीवनका कुछ सुख मान लिया जाय, परन्तु संकट नहीं कट सकते हैं। कोई पुरुष बड़ी ऊँची तपस्या करके ज्ञानी बनकर भी कदाचित् किसीको पापकार्यके करने का उपदेश दे तो क्या यह शोभा देता है ? जिस बातके बोलनेमें भी शोभा नहीं हो, जिस पापका उपदेश करनेमें भी शोभा नहीं आती, क्या उस पापके करनेमें शोभा है ? जिसकी बात कहना भी गुनाह और अपराध माना जाता है वह कार्य करना कैसे युक्त हो सकता है ? यह सहज तत्त्व जयवंत हो, जो सदा निर्व्याकुल है, सुलभ है, समताका पुञ्ज है। अपने क्षेत्रमें बसा हुआ अपना परमात्मा निर्विकार, शुद्ध ज्ञान-ज्योतिर्मात्र है, जिसकी सहजदृष्टि होनेसे शुद्धपरिणमन, अनन्त आनन्द प्रकट होता है।

यथार्थ श्रद्धासे मोहके बोझका दूरीकरण--भैया। बहुत बड़ा भारी बोझ है इस अज्ञानी जीव पर कि इसे मोहकी बात ही सुहाती है, रहेगा यह समागम कुछ नहीं, पर मोहमें ग्रस्त होनेसे यह अपने प्रभुको भूला है और जो जीव शरण नहीं हैं, साथ नहीं देते हैं ऐसे जीवोंमें, पदार्थोंमें यह रम जाता है। समस्त तत्त्वका सिरताज तत्त्व यह चैतन्यस्वभाव है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है किन्तु इन ७ तत्त्वोंका श्रद्धान इस विधिसे हो कि चैतन्यस्वरूपका दर्शन हो सके तो वह श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। पापोंका जानना बुरा नहीं है पर पापोंको पापरूपसे तो बुरा नहीं है, कोई पापोंको उपादेय रूपसे जाने, यही मेरा कर्तव्य है, यों समझे तो बुरा हो जाता है। आस्रव बंधका भी ज्ञान करना भला है पर यह आस्रव हेय है, बन्ध हेय है और निराश्रय आत्मस्वरूप उपादेय है इस विधिसे आस्रव बंधका जानना और श्रद्धान करना यह सम्यग्दर्शनका अंग है।

अद्वैत ब्रह्म--यह परमतत्त्व कल्याणमय है, निरावरण है, नित्य है, समस्त मायाजालोंसे रहित है। जिसकी चर्चा अनेक लोग परमब्रह्मके रूपमें करते हैं कि यह एक है, सर्वव्यापक है। यह एक सर्वव्यापक हमें किस पद्धतिसे नजर आए, वह पद्धति है शुद्ध निश्चयकी दृष्टि और इस शुद्ध निश्चयदृष्टिमें यह विकल्प भी नहीं रहता है कि यह एक है और सर्वव्यापक है, किन्तु एक अद्वैतमात्र केवल वही-वही अनुभूत होता है। ऐसा यह निज कारणसमयसार मनसे और वाणीसे अगोचर है। मुनिजन अनुभव द्वारा इस अमृतरसका पान किया करते हैं, और निर्जन वनमें भी ये प्रसन्न होकर आराधना किया करते हैं, ऐसा अपने आपमें विराजमान् परमात्मप्रभु वंदनीय है।

चतुर्विध आलोचनसे सिद्धिकी सिद्धि--यह आलोचनाके अधिकारमें उपसंहार चल रहा है। जो पुरुष अपने दोषोंकी आलोचना करते हैं उसे व्यवहार आलोचना कहते हैं और जब समताभावमें स्थित होकर

अपने स्वभावको निरखते हैं तो वह निश्चयालोचना है। शुद्ध प्रभुका निरखना आलोचन है और इस शुद्ध ज्ञानस्वभावके निरखनेसे जो दोष स्वतः दूर होते हैं, उनका नाम आलुञ्छन है। आलुञ्छन और आलोचना हो तो सर्वविकार दूर हो ही जाते हैं। जहां सर्वविकार दूर हुए वहां परिणामोंकी निर्मलता प्रकट होती है। इस जीवका सहाय केवल परिणामोंकी निर्मलता है। जिसने जन्म जरा मृत्युको जीत लिया है, दारुण रागादि बैरियोंको जिसने दूर कर दिया है, जो परमात्मस्वरूपमें स्थित हों—ऐसे सत् पुरुष जयवंत हों।

निर्दोषसाधनामें उच्चस्थितिका लाभ—हम आप लोग आज एक बड़ी ऊँची स्थितिमें हैं—कीड़ा-मकड़ी नहीं रहे हम आप, सब स्थावरोंसे निकल आये, असंज्ञी भी नहीं हैं, तिर्यंच पशु भी नहीं हैं, मनुष्य हैं। इस मनुष्य जीवनसे जी कर यदि इस संसारकी मायामें ही अपना उपयोग फँसाया, इस मायामय जगत्के जीवोंमें ही अपना राग और द्वेष बनाया तो इसका फल संसारभ्रमण ही है। जहांसे निकल कर आया है, उस गर्तमें ही गिरानेका काम है। एक चैतन्यतत्त्वका ज्ञान न उत्पन्न किया और इस तत्त्वज्ञानकी रुचि न बनायी तो ये सब काम, ये सब समागम, यह उत्कृष्ट पर्यायकी प्राप्ति—ये सब निष्फल हो जायेंगे। हम आलोचनासे न डरें, आलोचनाका आदर करें। मुझमें कोई दोष हुआ है, उसे यदि १० आदमी जान जायें तो यह भलाई है। उन दसके जान लेनेसे मेरेमें कोई बिगाड़ नहीं होता है। कदाचित् यह भी सोचें कि ये दस लोग मुझे बुरा कहेंगे, अरे बुरा कहेंगे तो वे अपना परिणमन करेंगे। वे मेरा बुरा न कर सकेंगे। बल्कि दोषोंको उखाड़ फेंक देनेसे हम बोझसे हलके हो जाते हैं।

ज्ञानबलके बिना व्यवहारालोचनाका भी अभाव—व्यवहारालोचना भी जब बहुत बड़ा ज्ञानबल हो, तब की जा सकती है। छलरहित दोषोंका निवेदन करना—यह इस जगत्से विविक्त आत्मस्वभावकी प्रतीति बिना नहीं हो सकता। जो अपनेको इस जगतकी निगाहमें भरा हुआ समझ ले, उसमें ही ऐसा माहात्म्य प्रकट हो सकता है कि वह अपने दोषोंका छलरहित निवेदन कर सके, नहीं तो कई छल हुआ करते हैं दोष निवेदन करनेमें भी। बड़े दोषको तो बता दिया और छोटे दोषको छिपा लिया अथवा छोटे दोषको तो बता दिया और बड़े दोषको छिपा लिया, जिससे लोग जानें कि इतने सूक्ष्म दोषोंकी भी जब यह आलोचना करता है तो इसका कितना बड़ा शुद्ध हृदय होगा? जैसे श्रावक जनोंमें कोई कहे कि साहब आज पानी छान रहे थे तो छन्नेका एक बूँद फिसल जानेसे कोई एक पाव पानी बिना छना चला गया, इसका प्रायश्चित्त दीजिये तो सुनने वाला जानता है कि यह बड़े शुद्ध आचार विचारका है और चाहे किन्हीं गरीबों पर अन्याय करके अपना स्वार्थ साधता हो। तो सूक्ष्म दोषको बताना और बड़े दोष को छिपाना, यह भी दोष है और बड़े दोषको छिपाना तथा छोटे दोषको बताना, यह भी दोष है। उन समस्त दोषोंसे रहित शुद्ध आलोचना करना, यह व्यवहारालोचना है। इसमें भी महान् ज्ञानबलकी आवश्यकता है।

परमालोचनाके आलम्बनकी दृष्टि—जिस तत्त्वज्ञानसे अपने लिये अपनेको जाना, उस तत्त्वज्ञानमें ही सामर्थ्य है कि वह शुद्ध आलोचना कर सकता है। फिर उसके मुकाबले बहुत ही अधिक पुरुषार्थ चाहिये, जो निश्चयालोचना कर सके। केवल स्वभावकी आराधना करना—यह है शुद्ध निश्चयालोचना। इस परमालोचनाके प्रसादसे ही सिद्धपना प्राप्त हो सकता है। इस परमालोचनाका हम आप आदर करें और इस प्रकरणसे यह शिक्षा लें कि हममें जो दोष आते हैं, उन दोषोंको ढकें नहीं, बल्कि बड़े जनोंसे निवेदन कर दें और उन दोषोंके बोझसे मुक्त हो जायें। दोषोंका बोझ भी बड़ा कठिन बोझ है। इस बोझ से यह शुद्ध प्रभु तिरोहित रहा करता है। दोषोंको उखाड़कर दोषोंसे रहित चिदानन्दस्वभावको निरखना, उसका ही नाम परमालोचना है। इस परमालोचनाके प्रसादसे [illegible]

शुद्ध नय प्रायश्चित्ताधिकार

वदसमिदिसीलसंजय परिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो ॥११३॥

प्रायश्चित्त अधिकारका सदर्भ—इस जीवके साक्षात् आकुलताके कारण राग, द्वेष, मोह भाव हैं और उन राग, द्वेष, मोह भावोंके उत्पन्न होनेमें निमित्त कारण द्रव्यकर्म है और यह द्रव्यकर्म रागादिक भाव को उत्पन्न करनेका निमित्त बन सके, इसके लिये आश्रयभूत नोकर्म है। नोकर्ममें प्रधान शरीर है। इस प्रकार हम आप जीवोंके लिये दु:खके कारण शरीर, कर्म और रागादिक भाव—इनका सम्पर्क है, दूसरा और कोई दु:खका कारण नहीं है। अब इन दु:खके कारणोंके त्यागके लिये शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त नाम का अधिकार कहा जा रहा है।

संसरणके अपराधका प्रायश्चित्त—भैया! हम आप ससारी प्राणियोंने दोष किया है अनादिसे। अभी तक मोह, राग विरोधके अपराध करते चले आये हैं और उन अपराधोंके कारण आज व्याकुलचित्त हैं। किसी भी पदमें, किसी भी स्थितिमें चित्त नहीं रमता, हम टिक नहीं पाते, स्थिर नहीं हो पाते, बाह्यकी ओर दृष्टि भटक रही है, कहीं चैन नहीं पड़ता। ऐसे अपराधोंका जब तक कठिन प्रायश्चित्त न लिया जाये, तब तक ये अपराध दूर नहीं हो सकते हैं। इन अपराधोंका अमोघ प्रायश्चित्त व्रत, तप, शील, संयम आदिके परिणाम हैं, जिन्हें अज्ञानी जीव बड़े परिश्रम और आदरके योग्य, पालनके योग्य निरखते हैं—ऐसे व्रत, तप, संयमशीलको ज्ञानी प्रायश्चित्तके रूपमें देखता है। मोह, राग, द्वेषके जो अपराध बन रहे हैं, उन अपराधोंको दूर करनेके लिये यह कड़ा प्रायश्चित्त लिया जा रहा है। इस व्यवहारचारित्रको पाल कर अपने आंतरिक शुद्ध स्वभावकी दृष्टि करना और इस चैतन्यस्वभावमें मग्न होना—यह निश्चय प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्तका प्रभाव—प्रायश्चित्तका अर्थ है 'प्राय: यानी प्रचुरतासे निर्विकार चित्त करना'। कोई विकार उत्पन्न होता है तो विकारको दूर करनेके लिये निर्विकार भाव ही समर्थ हैं। जैसे कोई पुरुष किसीका अपराध करे तो वह हाथ जोड़कर क्षमा चाहता है—"भाई! मुझे माफ करो, मैंने गलती की है" इस तरह इस जीवने रागादिक विकार किये हैं, महान् अपराध किया है। सिद्ध प्रभुकी तरह अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्यका धारी है यह आत्मा। इस निजप्रभु पर कितना अन्याय किया है इन विकारोंने? इन रागादिक भावोंके माध्यमसे हमारे अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दकी निधि बरबाद हो रही है। किसीके १०-२० हजार रुपये भी कोई बरबाद कर दे तो उसे अपराधी मानते हैं कि इसने बड़ा कसूर किया है, इसने दस बीस हजार रुपयों का नुकसान पहुंचाया है। अरे, जो रागादिक भाव अपने अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दमें दखल दे रहे हैं, बाधा पहुंचा रहे हैं, अपराधी तो वास्तवमें ये विभाव हैं। इन विभावोंने इस आत्मप्रभु पर बड़ा अन्याय किया। अब उस सकल विकार अपराधका प्रायश्चित्त निर्विकार परिणति है, उसे करो।

स्वापराध व उसके निवारणका उपाय—हे आत्मन्! तुम अब किसी भी परजीवको अपना अपराधी मत समझो, किसीको अपना अपराधी समझना ही अपने आप पर अन्याय करना है। कौन किसका अपराधी है? सभी जीव अपनी-अपनी कषायके अनुसार अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें लगे हुए हैं, तुम्हारा कोई बिगाड़ करने पर नहीं तुला है। यह सबकी आदत है कि अपना ही काम बनाएँ। सब अपना ही काम बना रहे हैं। मित्र हों, रिश्तेदार हों, परिजन हों, कोई भी हो, सरकार हो—सभी अपना काम बनाना चाहते हैं। तू उन्हें बाधक समझता है। अरे, तेरा बाधक तेरा रागपरिणाम है। तुझे सम्पदामें

जो राग लगा हुआ है, वह राग ही तेरा दुश्मन है, दूसरा दुश्मन नहीं है। तो जो भी विकारभाव उत्पन्न होते हैं, महान् अपराध होते हैं, उनकी माफी कैसे हो सकेगी? उनकी क्षमा मांगनेका कोई तरीका भी है क्या? वह तरीका यही है कि अब मैं विकार न करूँगा, मैं अपने निर्विकार स्वभावमें ही प्रसन्न रहूगा, इस प्रकारके संकल्पसे विकारोंको न होने देना, यही विकारोंके अपराधोंका प्रायश्चित है। मुझमें ये रागादिक अपराध न हों, इसका उपाय भी है क्या कुछ? हाँ है उपाय। निश्चयसे तो विकाररहित चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वका दर्शन करना, यह उपाय है और व्यवहारसे व्रत, समिति, शील और संयमका परिणाम बने जिससे विषय-कषायोंके आनेका अवसर न हो, ऐसी प्रवृत्तिको व्यवहार-उपाय कहते हैं।

पापका प्रायश्चित—जैसे हम आप लोग प्रतिदिन मंदिरमें दर्शन करने आते हैं, क्यों आते हैं दर्शन करने? हम अपराध कर रहे हैं रातदिन बहुत, उन अपराधोंकी माफी मांगनेके लिए मानो दर्शन करने आते हैं। सभी ईश प्रार्थनाएँ इस ही मर्मको लिए हुए हैं। मुसलमान लोग तो नमाज पढ़ते हुएमें उठते, बैठते, कान पकड़ते, टेढ़े होते, कितनी ही प्रवृत्तियां करते हैं, वह इस बातका प्रतीक है कि नमाजमें अपने माने हुए प्रभुसे माफी मांग रहे हैं, मैंने अपराध किया है मुझे माफ करो। भले ही उनकी चर्या-पद्धति किसी प्रकारकी हो, उसको नहीं कह रहे हैं किन्तु जो पुरुष अपराध करते हैं उनको उस अपराधकी शुद्धि करनी पड़ेगी व्रत, नियम पालन करने पड़ेंगे। आप कुछ अपराध न करें तो दर्शनकी कोई जरूरत नहीं है किन्तु कोई पुरुष झूँठा ही यह समझले कि मैं कुछ अपराध नहीं करता हूं, अपने घर रहता हूं, २०० रु० महीना किराया आता है, उसीसे सारा काम चलाते हैं, किसी पर कोई अन्याय नहीं करते हैं तो अब मुझे दर्शन करनेकी क्या जरूरत है? सो बात नहीं है। वह अपराध निरन्तर कर रहा है, शरीरमें ममता है, पैसेमें ममता है, विषयोंके साधन जुटाये जा रहे हैं, विषयोंका सेवन कर रहे हैं, यह क्या कम अपराध है? इस ही विभव विपदासे तो इस प्रभुका प्रताप रुद्ध हो गया है। हम अपने आत्मस्वरूपसे बहिर्मुख हो रहे हैं यह महान् अपराध है, और इस अपराधको दूर करनेके लिए व्रत, तप, संयम सब कुछ पालन करना होगा।

ज्ञानीके निर्विकल्प शुद्ध ध्येयकी दृष्टि—ज्ञानी पुरुष व्रतको पालकर भी यह नहीं मानते कि मैं सर्वथा योग्य काम कर रहा हूं और इसके आगे अब मुझे कुछ नहीं करना है। वह तो इस व्रत तपको अपने अपराधका प्रायश्चित समझता है। यह मैं प्रायश्चित कर रहा हू उन अपराधोंका जो अनादिसे विभावोंमें रमा आया हूं। मुझे करने योग्य काम अभी बहुत पड़ा है और अनन्तकाल करते ही रहना चाहिए ऐसा काम पड़ा है, वह काम है ज्ञाताद्रष्टा रहना, निर्विकार ज्ञायकस्वरूपमे मग्न रहना और प्रतिसमय अनन्त-आनन्द भोगते रहना। व्रत और तपका मुझे काम नहीं पड़ा है। इन्हें तो करना पड़ रहा है, क्योंकि मैंने विकार और अपराध बहुत किया है।

प्रतपन द्वारा दोषका दूरीकरण—इस अधिकारमें शुद्ध निश्चय प्रायश्चितका वर्णन है। अपराध कैसे शुद्ध हों उसका उपाय कहा जा रहा है। जो मलिन स्वर्ण है, जिसमें आना दो आना तांबा मल मिला हुआ है, उस विकारी स्वर्णको निर्दोष करनेका क्या उपाय है? अग्निमें कितने ही बार तपाया जाय और उसको क्षार द्रव्यमें गलाकर शोधन किया जाय तो वह निर्दोष होता है। ऐसे ही ये आत्मविकार हुए हैं, इसमें कितना ही मल लगा हुआ है क्रोध, मान, माया, लोभ और कामका, और सीधी बात यह है कि अपने स्वरूपके अतिरिक्त किसी भी परद्रव्यमें उपयोग फंसाना, उसे हितकारी मानना, उसमें राग करना ये सब अपराध हैं। ऐसे इस विकारी आत्माको निर्दोष बनानेका क्या उपाय है कि ये व्रत, तप, शील, समिति, संयम, इत्यादि तपश्चरण अग्निमें इस उपयोगको तपायें, इसमें उपयोग दें तो यह अपने स्वरूपको पाकर निर्दोष हो जायेगा। यह है शुद्ध निश्चयनसे प्रायश्चित्त।

अहिंसा महाव्रतका ध्येय व परिणाम— इस प्रकारसे इस जीवसे हिंसाएँ हुई हैं। भव-भवमें कितना पापोंका ढेर जमा हो गया है, उन सब पापोंको टालने लिए अहिंसा महाव्रतका महान संकल्प किया है ज्ञानी संत पुरुषने। मैं अब ६ कायके जीवोंकी हिंसाका सर्वथा परित्याग करता हूं। देखिये, जैसे किसीको धनका अधिक लोभ सताये हो, धनिक भी हो और बड़े आरम्भके कार्योंमें धुन लगी हो, कुछ द्रव्य भी मिल रहा हो तो ऐसे पुरुषको भूखकी वेदना नहीं सताती है, सह लेता है, एक आध दिन खानेको न मिले तो भी प्रसन्न रहता है, क्योंकि उसे चाहिये रुपयोंका ढेर। जैसे वह अपनी धुनके माफिक कार्यमें व्यस्त होने से भूख प्यासको भी सह लेता है, दूसरेकी गाली गलौचको भी सह लेता है। इसी तरह आत्मकल्याणकी धुन वाले ज्ञानी संत हैं, उन्हें चाहिये शुद्ध ज्ञानका अनुभव। वे इस ज्ञानानन्दस्वरूपकी मग्नताकी धुनमें रहते हुए अत तपश्चरण किया करते हैं। उन्हें दो-चार दिन, पंद्रह दिन, महीनाभर अंतराय आनेके कारण भोजन भोजन न मिल सके तो भो वे परवाह नहीं करते हैं, क्योंकि वे जो चाहते हैं, उसकी सिद्धि बराबर चल रही है। तब वे हिंसाका सर्वथा त्याग करनेका संकल्प कर पाये हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति—इनका भी रंच घात न करेंगे। त्रस जीवोंकी हिंसाका तो श्रावकावस्थामें भी त्याग हो जाता है। ऐसे हिंसा महाव्रतका सङ्कल्प हिंसारूप अपराधको धोनेके लिये किया जा रहा है और इसके फलमें अहिंसामय स्वरूप प्रकट होगा, जिसमें अनन्त आनन्दका अनुभव हुआ करेगा।

सत्यमहाव्रतका ध्येय व परिणाम— इस ज्ञानी पुरुषने सत्यमहाव्रतका नियम लिया है। उसकी समझ यह है कि मुझे भूतकालमें जब-जब संज्ञी पर्याय प्राप्त हुई, तब-तब वचनोंका दुरुपयोग किया, असत्य बोला। असत्य बोलना संज्ञी होनेसे पहिले नहीं बोला जा सकता है। यद्यपि वचन दोइन्द्रियसे प्रकट होना शुरू हो जाता है, क्योंकि रसना इन्द्रिय मिली ना, किंतु वे सब अनुभय वचन हैं। असत्य वचन संज्ञीपंचेन्द्रिय ही बोल सकते हैं। मैंने जब-जब संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याय पाया, तब तब वचनोंका दुरुपयोग किया जिससे संसारमें अब तक रुलना पड़ रहा है। अब मैं असत्य वचनोंका सर्वथा परित्याग करता हूं। कोई गृहस्थ बड़ी सच्चाईसे दूकान चलाये, एक भी बात झूठ न बोले, साफ लेन देन रखे, नियत मुनाफा ले, प्रत्येक बात स्पष्ट करे और उन सब व्यवहारोंमें सच्चाईके वचन बोले जायें, वे भी अध्यात्म संत पुरुषकी दृष्टिमें झूठे बोल हैं, जो आत्माका ही हित कर सकने वाले वचन हैं, वे ही सत्य वचन हैं और जो बाह्यपदार्थोंसे संचयके लिये वचन बोले जाते हैं, वे सब अध्यात्मदृष्टिमें असत्य वचन हैं। अब साधु होने पर आरम्भ सम्बन्धी कोई भी वचन नहीं बोले जाते हैं। यों सत्य वचनोंका सङ्कल्प किया है। यह असत्यके अपराधका प्रायश्चित्त लिया गया है।

अचौर्य महाव्रतका ध्येय और परिणाम— अचौर्य महाव्रतमें चोरीके अपराधका पूर्ण प्रायश्चित्त लिया गया है। ज्ञानी चिंतन करता है कि मैंने भविष्यमें अनेक विधियोंसे चोरीका पाप किया है। चोरी केवल धन चुरानेको ही नहीं कहते हैं। किसी पुरुषसे बचकर जाना हो, वह मुझे न जान पाये कि मैं जा रहा हूं और कदाचित् सामने या कहीं बैठा हुआ मिल जाये तो मुँह छुपाकर जाना या बचा करके जाना—यह भी चोरी है। या किसीका यश बढ़ रहा हो तो कुछ ऐब लगाकर उसके यशको लूटना—यह भी चोरी है। अनेक विधियोंसे इस जीवने पाप किया है। अब उन सब अपराधोंको दूर करनेके लिये अचौर्य व्रतका सङ्कल्प करता हूं। मैं किसी भी प्रकारकी चोरी न करूँगा।

ब्रह्मचर्यव्रतका ध्येय और परिणाम — इस ज्ञानी साधुने दुर्धर ब्रह्मचर्यव्रतका दृढ़ सङ्कल्प किया है। ज्ञानीको यह ध्यान हो रहा है कि मैंने भव-भवमें अनेक प्रकारसे इस ब्रह्मचर्यव्रतका घात किया। कभी पशु था, पक्षी था, मनुष्य था, उन सभी भवोंमें कामवासनाकी पूर्ति थी और एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय जैसे भवोंमें भी जहाँ कि कुछ साधन भी नहीं हैं, वहाँ अन्तरङ्गमें कामवासनाका अनुभव किया—ऐसे अनन्त अपराधों

का प्रायश्चित्त करनेके लिये अब मैं ब्रह्मचर्यव्रतका सर्वथा पूर्णरूपसे निरतिचार पालन करनेका सङ्कल्प करता हूं। बुद्धिका शुद्ध होना एक बहुत बड़ी सम्पदा है। जिस मनुष्यके शुद्ध ज्ञान नहीं है, धर्मबुद्धि नहीं है, आत्मचिंतन नहीं है, पवित्रता नहीं है, वह पुरुष ज्ञानशून्य समझा जाता है। वह दीन है, गरीब है, भिखारी है, इस संसारमें रुलने वाला है। शीलसे, ब्रह्मचर्यसे बुद्धि शुद्ध रहती है। इस ज्ञानमें जो प्रसन्नता है, उसकी अनन्तवीं भाग भी प्रसन्नता विषयभोगोंमें नहीं प्राप्त हो सकती है। यह स्वाधीन आनन्द है, शुद्ध आनन्द है, सुगम आनन्द है। अब यह ज्ञानी पुरुष ब्रह्मचर्यके भंग करनेका, कामविकारमें घुसे रहनेका जो महान् अपराध पहिले हुआ था, उसके प्रायश्चित्तमें ब्रह्मचर्यव्रतको धारण कर रहा है।

परिग्रहत्याग महाव्रतका ध्येय व परिणाम— यह शुद्धनय प्रायश्चित्तके अधिकारकी बात चल रही है। इस जीवने भव-भवमें परिग्रहोंमें ममत्वबुद्धि की है। जब भी जो कुछ मिला, शरीर ही मिला सही, तो इस शरीरमें ही ममत्व किया। एकेन्द्रिय आदिक जीव भी आहारमें ममत्व रखा करते हैं। कीड़ा मकौड़ा, पशु पक्षी हुए, वहां भी आहार, निद्रा, भय, मैथुन, परिग्रह सम्बन्धी वांछाएँ कीं तो चार संज्ञावोंके ज्वरसे पीड़ित होकर महाक्लेश सहे। उन विकट अपराधोंका प्रायश्चित्त अब परिग्रहत्यागमें हो रहा है। एक सूतमात्र भी जिसके परिग्रह नहीं रहा, नग्न दिगम्बर वनमें विचरने वाले मात्र भी जिन्हें कुछ परिग्रह नहीं है—ऐसी दिगम्बरी दीक्षाका आरहण उन सब अपराधोंका प्रायश्चित्त है। ज्ञानी इन सब व्रत और तपस्यावोंका मर्म जानता है और इससे भी बढ़कर जो साध्य दशा है, उसका इसे खूब परिचय है। वह उस साध्यकी सिद्धिके लिये ही इन साधनको अपनाये हुए है।

ईर्या, भाषा, ऐषणासमितिका ध्येय व परिणाम— ५ समिति भी शुद्धनय प्रायश्चित्त हैं। अटपट चले, उससे जो पाप उपजा, उसके फलमें जन्ममरणके दुःख सहे। अब उन अपराधोंको दूर करनेके लिये ईर्यासमितिका आचरण चल रहा है। अहित, अप्रिय, सीमारहित वचन बोल-बोलकर दूसरोंका चित्त दुखाया, अपनी मौज मानी, रौद्रध्यानमें बसे रहे, अब उन अपराधोंके प्रायश्चित्तमें भाषासमिति निरतिचारका पालन किया जा रहा है। भोजनकी ममता तो बहुत विकट अपराध है। यथा-तथा भोजन करना, भक्ष्य-अभक्ष्यका भी विवेक न रखना, जो स्वादिष्ट लगे, उसे ही रुचिपूर्वक खाये, कोई विवेक नहीं और कदाचित् शुद्ध भी भोजन करे, उसमें भी आसक्ति रहे तो यह भी अविवेक और अपराध है। इस भोजन सम्बन्धी भव-भवके किये गये अनन्त अपराधोंको दूर करनेके लिये चाहिये तो यह था कि निराहार आत्मस्वरूपका स्मरण करके आहारका सर्वथा परित्याग किया जाता, किंतु अभी उस पवित्र स्थितिके लायक योग्यता नहीं है तो उस निराहार स्वभावकी शुद्धिके लिये विधिपूर्वक शुद्ध भ्रामरी वृत्तिसे चर्या की जा रही है। यों इसने एषणासमिति नामक शुद्धनयका प्रायश्चित्त किया है।

आदाननिक्षेपण व प्रतिष्ठापनासमितिका परिणाम एवं शुद्धनयप्रायश्चित्तपना—किसी प्रयोजनवश चीजोंका धरना-उठाना इसमें इस जीवने किसी भी भवमें विवेक नहीं किया, उन अपराधोंके प्रायश्चित्तमें अब आदान निक्षेपण समितिका पालन किया जा रहा है। यों ही जहाँ चाहे बिना देखे जमीन पर जंतुसहित भूमिपर मलमूत्रका क्षेपण किया जाता रहा वह भी कितना विकट प्रमाद है। उस अपराधको दूर करनेके लिए प्रतिष्ठापनासमितिका पालन किया जा रहा है। ये व्रत, समिति, शील, संयम आदि ये सब अपराधोंको दूर करनेके लिए शुद्ध नयकी दृष्टिसे प्रायश्चित्तस्वरूप हैं। इस प्रायश्चित्तके कारण यह ज्ञानी अपने अपराधोंको दूर करेगा, और शुद्ध, स्वाधीन, आत्मीय आनन्दरसका अनुभव करता रहेगा।

शुद्धनयप्रायश्चित्तमें वचनसंयम—वचन, मन और कायका नियंत्रण रखना संयम कहलाता है। वचन खोटे न निकले, दूसरोंको हित पैदा करें और प्रिय हों ऐसे ही वचन निकल सकें अथवा वचनोंका पूर्ण निरोध रहे अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प दोनों तरंगोंका अभाव रहे, यह है वचन संयम, इस जीवने वचन-

संयम न करके अनर्गल बकवाद किया और उससे व्यर्थ पापोंका बंध हुआ, अब उन्नतिकी अवस्था भी इस जीवने प्राप्तकी तो वहाँ वचनोंके अनर्गल प्रवर्तनसे उस उत्कृष्ट समागमका लाभ न उठा पाया। अब उन सब अपराधोंके प्रायश्चित्तमें यह वचनसंयम ग्रहण किया जा रहा है। नाम इसका प्रायश्चित्त है, किन्तु अर्थ है उन्नतिका मार्ग। जितने भी तप, व्रत, संयम हैं वे सब संसारके अपराधोंको दूर करनेके लिए हैं। इस कारण संसाररूपी अपराधोंका प्रायश्चित्त मोक्षमार्ग है।

मनःसंयम—मनका निरोध करना, मनःसंयम है। यह मोही जीव मनकी कल्पनाओंसे कैसे-कैसे विचार उत्पन्न करके कितने विकल्पजालोंमें फँसा हुआ है जिससे कुछ प्रयोजन नहीं, न आजीविकाकी सिद्धि है, न आत्मकल्याणकी सिद्धि है, फिर भी उन विकल्पोंको यह जीव कर रहा है और अनर्थ ही पापोंका बंध किया करता है। उन समस्त मनकी उद्दण्डताओंके अपराधको दूर करनेके लिए यह मनःसंयम, मनोगुप्तिका धारण किया गया है।

कायसंयम—कायका नियंत्रण करना सो कायसंयम है। इस व्याकुल, मोही, अज्ञानी प्राणीने इस शरीरके द्वारा अनेक कुचेष्टाएँ कीं, इन्द्रिय विषय-भोगोंमें दूसरोंके घात करनेकी अनेक कुचेष्टाएँ कीं। उन कायकृत अपराधोंसे यह जीव संसारमें अब तक रुलता चला आया है। मन तो संज्ञी जीवके ही होता है। वचन दो इन्द्रियसे ही प्रारम्भ होता है तो भी दोइन्द्रिय जीवसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें वचन-संयमका मार्ग ही नहीं है। कायका अपराध संसारके समस्त जीवों द्वारा हो रहा है। एकेन्द्रिय हों अथवा पंचेन्द्रिय हों सभी संसारी जीव कायवान् हैं और कायका तो संसार अवस्था तक कभी वियोग नहीं होता। इस भवमें मरण हो जाय, इस शरीरको छोड़कर जाए तो भी सूक्ष्म काय इसके साथ रहेगा। अनन्त शरीरोंको छोड़कर गया यह जीव तब भी सूक्ष्म काय इसके साथ रहा आया। स्थूल शरीरको छोड़कर सूक्ष्म शरीरकी यह स्थिति अधिकसे अधिक तीन समय पर्यन्त रहती है। बादमें स्थूल शरीर इस संसारी प्राणीको अवश्य मिल जाता है। कायके द्वारा जो अपराध किए गये हैं अब उन अपराधोंके निराकरणके लिए प्रायश्चित्तस्वरूप शुद्ध नयकी पद्धतिसे काय-संयम किया जा रहा है।

शुद्धनयप्रायश्चित्तमें स्पर्शनेन्द्रिय निरोध—मन, वचन, कायके संयम विकारोंको दूर करनेमें समर्थ हैं। उसके गर्भमें यह भी बात आ गई कि पंचेन्द्रियका निरोध भी शुद्धनय प्रायश्चित्त है, स्पर्शनेन्द्रियका खोटा विषय कामसम्बंधी है। एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी संसारी प्राणियोंमें, श्रेणीमें उन्च योगियोंको छोड़कर सबमें व्यक्त अव्यक्त रूपसे कामविकार बना रहता है और इस कामकी कलुषताके कारण इस जीवके अशुभ कर्मोंका बंध होता रहता है। उसके ही फलमें यह संसारभ्रमण चल रहा है। ज्ञानी संतोंने अपना अपराध परखा और इन अपराधोंको दूर करनेके लिए अब स्पर्शनइन्द्रियके निरोधका संकल्प किया है कि स्पर्शनइन्द्रियके विषयोंमें प्रवृत्ति न रक्खूँगा। स्पर्शनेन्द्रियका विषय सुहावने पदार्थोंका स्पर्श भी है। जैसे ठण्डके दिनोंमें गर्म वस्तुका स्पर्श गर्मीके दिनोंमें शीतल वस्तुका स्पर्श आदिक सुहावने लगते हैं, वे स्पर्शनइन्द्रियके विषय हैं। इन विषयोंमें भी यदि प्रवृत्ति रहे, अनर्गल झुकाव रहे तो कामविकार विषयका रंग हो सकता है। इस कारण ज्ञानी पुरुष स्पर्शनइन्द्रियके सभी प्रकारके विषयोंमें अपनी प्रवृत्ति और आसक्ति नहीं रखता है।

रसनेन्द्रियनिरोध—रसना इन्द्रियके लोभमें इस जीवने अपने ब्रह्मस्वरूपका भी ख्याल नहीं किया। भला यह रसका स्वाद किस वस्तुसे आता है सो बताओ? आत्माको, जीवको जो सुहावना रस लग रहा है वह रस पुद्गलसे प्रकट नहीं होता है। यद्यपि पुद्गल उस रससे युक्त है जिसके सम्बन्धमें ज्ञान हो रहा है, किन्तु रसका स्वाद ज्ञानरसका आनन्द पुद्गल वस्तुसे नहीं प्रकट होता और इस रसका स्वाद आत्मवस्तुसे भी नहीं प्रकट होता है क्योंकि आत्मामें रस कहाँ है? फिर भी यह अशुद्ध जीव जब इन रसीले पदार्थों

का सम्पर्क करता है अपनी जिह्वासे तो कैसा इन्द्रजाल है कि स्वाद प्रकट होने लगता है, वह भी मायारूप है, इन्द्रजाल है, इस इन्द्रजालके चक्रमें आकर यह जीव कभी रसका लोभी हो जाता है। इसने अपने इस अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माकी भी सुध नहीं रहती है। इस रसना इन्द्रियके वश होकर इस जीवने बड़े अपराध किये, अब उन अपराधोंको दूर करनेके लिए ज्ञानी संत रसनाइन्द्रियका निरोध कर रहा है। रसका परित्याग कर दिया, नीरस भोजन कर लिया। रसका आगे पीछे कुछ सम्पर्क न रखना, ख्याल ही न करना आदिक रूपसे अब यह रसना इन्द्रियका निरोध चल रहा है। यह भी शुद्ध नयकी दृष्टिसे प्रायश्चित्त-रूप है।

घ्राणेन्द्रियनिरोध— घ्राणेन्द्रियका विषय जो कि बिल्कुल व्यर्थसी चीज है। इत्र, पुष्प, सुगन्धित वस्तुवोंको सूँघना और उनकी सुगन्ध पाकर अपनेमें मौज मानना, इन विषयोंके उपयोगमें इस जीवने अपना समय व्यर्थ गुजारा है और इस व्यर्थकी लालसा, तृष्णासे कर्मोंका बंध किया है। अब उन अपराधों को दूर करनेके लिए यह ज्ञानी संत घ्राणेन्द्रियके विषयोंकी लिप्साका परित्याग करता है। यों यह घ्राणे-न्द्रियका निरोध भी घ्राणेन्द्रियके विषयमें लगने रूप अपराधका प्रायश्चित्त है।

नेत्रेन्द्रियनिरोध— यह जीव सुहावने रूपके अवलोकनमें उद्दण्ड होकर प्रवृत्ति कर रहा है। खेल, सिनेमा, थियेटर आदि अनेक खेलोंकी बातें और सुहावनी भी बातें, विरोधभरी लड़ाइयोंकी घटनाएँ—ये सब निरखी जा रही हैं और इनके निरखनेमें यह जीव मौज मानता है, अपनी नींद खो देता है, अपना समय भी बरबाद कर देता है। इस रूपावलोकनके फलमें मिला क्या इस जीवको? धनकी, समयकी, बुद्धिकी—सभीकी बरबादियाँ कर ली जाती हैं। नेत्रेन्द्रियके इन अपराधोंसे जो बरबादी होती है, जो कर्मबन्ध होता है और विकार संस्कार बनते हैं, उन सब अपराधोंको दूर करनेके लिए अब नेत्रेन्द्रियनिरोधका यत्न किया जा रहा है।

श्रोत्रेन्द्रियनिरोध— कर्णेन्द्रियसे सुहावने शब्द सुननेमें आते हैं। कलाएँ भी कैसी-कैसी विचित्र हैं? संगीतकी कला, गायनकी कला—इन कलापूर्ण गायनोंमें, ध्वनियोंमें यह जीव मौज मानता है। हाँ कदा-चित् उनको सुनकर इसमें ज्ञान और वैराग्य आये, तब तो कुछ भला साधन भी कहा जा सकता है, किंतु प्रायः मोही जीव इन संगीतों और गीतोंको सुनकर अपना राग ही पुष्ट करते हैं। शरीरबल, मनोबल इन सबका विनाश करते हैं, इस कर्ण इन्द्रियके अपराधके निराकरणके लिए अब यह श्रोत्र इन्द्रियके विषयका निरोध करना, यह शुद्धनय प्रायश्चित्त ज्ञानीने उचित समझा है। यों यह ज्ञानी-संत अपने अपराधोंको दूर करनेके लिए प्रायश्चित्तस्वरूपमें इन समस्त साधनाओंको कर रहा है।

परमसमाधिकी अभिमुखता—ये योगीश्वर, जो मोक्षमार्गमें प्रगति कर रहे हैं वे अपने आत्माके अन्त-र्मुख बने रह सकते हैं। परमसमाधि इसीका नाम है कि रागद्वेषके विकल्पजालोंसे मुक्त होकर अपने आपमें समतामृतका पान करके तृप्त रहना यही परमसमाधि है। समाधि शुद्ध आनन्दस्वरूप होती है। समाधिका उल्टा भाव है विषयवृत्ति। किसी भी विषयमें प्रवृत्ति न रहे, मन वचन कायका निरोध रहे वहीं परमसमाधि प्रकट होती है। ऐसे उत्कृष्ट परमसमाधिसे युक्त योगीश्वरोंने ये व्रत, तप, शील, संयम आदिरूप शुद्धनय प्रायश्चित्त किया है।

निष्परिग्रहता—आत्मोद्धारके लिए इन पुण्यात्मा पुरुषोंने समस्त परिग्रहोंका त्याग किया, केवल शरीर मात्र ही समझो परिग्रह रह गया। वह भी परिग्रह नहीं है क्योंकि शरीरमें ममतापरिणाम नहीं है, पर निमित्तनैमित्तिक बन्धनको क्या करें, आज यह आत्मा शरीरमें जकड़ा है, इस शरीरको छोड़कर अलग नहीं बैठ सकता। शरीरके साथ इसको भी क्रिया चलती है। इसके योगके साथ शरीरमें भी चलन होता है ऐसा निमित्तनैमित्तिक बंधन है, फिर भी जिसने वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिचय किया है ऐसे पुरुषको

यह आत्मतत्त्व इस शरीरसे न्यारा स्वतन्त्रस्वरूप वाला नजर आ रहा है। यह शरीर जड़ है, भिन्न है, इस का वियोग होगा। मैं आत्मतत्त्व अपने स्वरूप हूं। ऐसा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूपका भान जिस ज्ञानी जीवके है, उसे इस शरीरका भी परिग्रह नहीं है। जो शरीरका भी परिग्रह नहीं करता है, वह शरीरके विषयोंमें क्या पड़ेगा? इन्द्रियके फैलावसे रहित शरीरमात्र ही जिसका परिग्रह है—ऐसे निग्रंथ दिगम्बर समाधि-युक्त परमयोगीश्वर संसारके इन पापके अपराधोंका प्रायश्चित्त कर रहे हैं। कठिन तपस्याएँ, व्रतकी साधनाएँ—ये सब अपराधोंको दूर करनेके लिये यत्न हैं, जिनके फलमें ज्ञानानन्दस्वरूप यह आत्मतत्त्व प्रकट होगा।

परमवैराग्य— ये योगी पुरुष मानों वैराग्यके महल पर ठहरे हुए चारसकी मणिकी तरह हैं। जैसे बड़े विशाल महलकी शोभा महलके ऊपरी हिस्सेकी कला पर निर्भर रहती है। वहां मणि लगी हो, शिखर उठा हुआ हो, अच्छे कंगूरे लगे हों तो उस महलकी शोभा होती है। महल तो बना दिया जाए चार-छः खण्डोंका और ऊपरकी छत मुंडेररहित भी हो और अटपट बनी हो तो उसकी भी शोभा नहीं रहती है। यों ही जो सज्जन पुरुष, ज्ञानी पुरुष, परोपकारी पुरुष कितनी भी साधना कर रहे हों, पर वैराग्यका पुट यदि नहीं है, यशका लोभ है, नामी चाह है, अन्य अन्य प्रवृत्तियां हैं तो फिर उस मनुष्यकी क्या शोभा है? वह अपने कल्याणसे भी वंचित है। वैराग्यरूपी महलके शिखरमें लगी हुई मणिकी तरह यह परम योगीश्वर शुद्ध नय प्रायश्चित्त किया करता है।

परमागमनेत्र— योगीजनोंके नेत्र शास्त्र हैं, लौकिक जनोंके नेत्र चमड़ेके हैं। लौकिक जन जो कुछ करते हैं, इन चमड़ेके नेत्रोंसे निरख कर करते हैं और ज्ञानी पुरुष जो कुछ करते हैं, शास्त्रोंको निरख कर करते हैं। शास्त्रोंमें ऐसा है तो करना है और नहीं है सो नहीं करना है। उन्हें क्या करना है, किस कर्तव्यसे चलना है, कौनसी चर्याका पालन करना है? यह सब बताने वाले शास्त्रनेत्र हैं। ज्ञानी पुरुष इस शुद्ध परमागमके इतने सेवक हैं कि उनके लिये इस परमागमकी सेवाके मुकाबले यह पाया हुआ धन वैभव भी कुछ नजर नहीं आता है। समस्त वैभव भी लुटे तो लुट जाए, किंतु अपना ज्ञान, अपना वैराग्य, अपना शुद्ध परिणाम, अपनी श्रद्धा, देव, शास्त्र, गुरुकी सेवा—इनमें भंग न हो सके—ऐसा ज्ञानी पुरुषका यत्न रहता है।

ज्ञानप्रकाशसे मोहान्धकारका विनाश— योगीजन शुद्ध सहज स्वात्माका चिंतन किया करते हैं। यही उनका प्रायश्चित्त है। जो भी दोष होते हैं, उन दोषोंका निराकरण गुणमय स्वरूपका आलम्बन लिए बिना नहीं हो सकता है। जैसे रात्रिके अंधकारका विरोधी जो दीपप्रकाश है, सूर्यप्रकाश है, ज्योतिर्मय वस्तुका प्रकाश है, वह जब तक न आये, तब तक अंधकार रहता है। ज्यों ही प्रकाश आया कि अंधकार नहीं ठहर सकता है। इसी प्रकार यह दोषरूपी अंधकार, विकार—ये जीवमें जब तक ठहर रहे हैं, तब तक ज्ञानप्रकाश नहीं आया है। जब कुछ विदित ही नहीं है कि यथार्थतत्त्व मैं क्या हूं और ये दृश्यमान समस्त पदार्थ हैं, इन पदार्थोंसे मेरा क्या संबंध है, मेरा क्या कर्तव्य है, कहांसे आया कहां जाऊँगा, इस समागम से क्या लाभ होगा इत्यादि कुछ भी विवेक नहीं जगा है और आत्माका जो सहज चिदानन्दस्वरूप है, उसका अनुभव नहीं हुआ है तो यह विषयोंकी प्रवृत्ति, कषायोंके प्रवर्तन—ये सब चलते रहेंगे। इस अन्धकारका विनाश ज्ञानप्रकाशसे होता है। सो उस ज्ञानमय आत्मतत्त्वका चिंतन करना ही इन सब अपराधोंका प्रायश्चित्त है।

साधुवोंकी साधुता— ज्ञानीजन इन प्रायश्चित्तोंको निरन्तर किया करते हैं। मोक्षमार्ग इसी में है— अपराधोंको दूर करना और गुणस्वरूप आत्मतत्त्वका विकास करना। मुनिजनोंको अपने आत्माके चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कुछ चिंता नहीं रहती है। योगी, मुनि परमेष्ठियोंमें शामिल हैं। परमेष्ठियोंमें अरहंत

सिद्ध परमात्माका नाम है और परमेष्ठियोंमें साधुका भी नाम है। अब समझ लीजिये कि साधु पुरुष कितना उत्कृष्ट आत्मा है ? यदि वह परमात्माके निकट रहता है, परमात्माके समान नहीं तो परमात्माके अनुरूप परमात्माके बताये हुए शुद्ध मार्ग पर चल सकता है, जिनका केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूपका ही चिंतन चलता है, जिनका संसारके झगड़े-बगड़ेसे कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसे पुरुष ही साधु कहला सकते हैं। यदि साधु पुरुषको सिवाय आत्मकल्याणके, आत्मचिंतनके, आत्मज्ञानके अन्य कोई काम नहीं रहता है। यदि अन्य कुछ काम रहे तो वह साधुपदके योग्य नहीं है। अन्य चिंताएँ करना, आरम्भ परिग्रहमें लगना, इन्द्रियविषयोंमें प्रवृत्ति करना, खाने-पीनेमें मौज मानना—यह संसारी प्राणियोंकी आदत है। जो संसारमें रुलने वाले हैं, जिनका मोक्ष निकट नहीं आया है, जो विमूढ़ हैं, कर्मोंसे पीड़ित हैं—ऐसे पापी पापको उत्पन्न करते हैं। मुनिजनोंको तो केवल एक आत्मोद्धारकी चिंता है।

संसरणापराधका प्रायश्चित्त शुद्धनयात्मक आचरण— अहो! अनादिसे अब तक कितने अपराध यह जीव करता चला आया है ? जो शरीर पाया, जो समागम पाया, उसमें ही आसक्त रहा और उसके फल में ८४ लाख योनियोंमें भ्रमणरूप महान् संसार इसे प्राप्त हुआ। अब शुद्ध दृष्टि करके आत्माके एकत्व-स्वरूपको निहारकर एक ज्ञानप्रकाशस्वरूप अपनेको अनुभव करके इस शुद्ध आनन्दका अनुभव किया जाये, बस यही इन अपराधोंका प्रायश्चित्त है। इस प्रकार इस गाथामें व्रतपालन, समितिपालन, शील-पालन, संयमकी प्रवृत्ति, इन्द्रियोंका निरोध आदिक जो कुछ भी मोक्षमार्ग है, उस मोक्षमार्गको अपराध-हारी शुद्ध नय प्रायश्चित्त कहा गया है। इस शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्तके परिणामसे यह जीव अवश्य ही मोक्ष पायेगा। अपराधको दूर करना उन्नतिशील पुरुषका कर्तव्य है। यों शुद्ध नय प्रायश्चित्ताधिकारकी प्रथम गाथामें संग्रहरूपसे यह बता दिया है कि शुद्ध श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप रत्नत्रय ही संसारके अपराधोंको दूर करनेमें समर्थ है।

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणियं णियगुणचिंता य णिच्छय दो ॥११४॥

अविकारस्वभावके उपयोगरूप निश्चयप्रायश्चित्त - क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक अपने विकार भावोंके विलयकी भावनामें अपने आपके उपयोगको बनाए रहना और आत्माके सहजसिद्धस्वभावका चिंतन करना—यह निश्चयसे प्रायश्चित्त कहा गया है। निश्चयप्रायश्चित्तमें यह सामर्थ्य है कि समस्त कर्मोंको यह मूलसे उखाड़ देता है। जहां अविकारपरिणमन हो, वहां विकारपरिणमन कैसे रह सकता है ? जहां अविकारस्वभावका आलम्बन हो, वहां अविकारपरिणमन चलता है। हम अनादिकालसे कर्ममल से दूषित चतुर्गति संसारमें भ्रमण करते चले आ रहे हैं, यह सब अपनेको विकारात्मक प्रतीत करनेका परिणाम है। इस जीवने कभी भी अपनेको अविकारस्वभावरूपसे निश्चय नहीं किया है। यदि अविकारी स्वभावरूपसे निश्चय कर ले तो न इसे कोई आकुलता रह सकती है, न कोई उलझन रह सकती है।

ज्ञानप्रकाशसे निमित्तनैमित्तिक बंधनका त्रोटन— भैया! उलझन किसी बाहरी क्षेत्रमें नहीं है। जगत्में अनन्त पदार्थ हैं, वे सब पदार्थ अपना-अपना स्वतन्त्र स्वरूप रखते हैं। प्रत्येक पदार्थमें अपना अपना परिणमन निरन्तर चलता रहता है, फिर किसी भी अन्य पदार्थके परिणमनसे किसी अन्य पदार्थमें उलझन कैसे आ सकती है ? पुद्गल पुद्गलमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, वह विवश है, होता है ऐसा। जीव और कर्ममें भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है और इस निमित्तनैमित्तिक बन्धनमें यह जीव भी विवश है, परन्तु उसकी विवशता अनुपाय नहीं है। जब यह जीव अपने अविकारस्वभावको सम्हालता है तो वही यह लोक है, वही यह शरीर है, वही कुछ काल तक व्यापार भी रहता है; फिर भी ज्ञानप्रकाशमें

जीवका बन्धन और संसारभ्रमण नहीं रहता है। अविकारस्वभावसे इस जीवने अपने आपको पहिचाना होता तो आज यह दुर्गति न होती।

प्रबल संकटके विनाशका सुगम उपाय— मोहका ऐसा प्रबल प्रताप छाया है कि यह जीव जिस शरीरमें पहुंचता है, उस शरीरको ही 'यह मैं हूं' यों आत्मारूपसे स्वीकार करता है। साथ ही जो समागम इसे मिला है, उस समागममें 'यह मेरा है' ऐसा ममत्वपरिणाम करके अपने आपकी अनन्त आनन्दनिधिको भूल जाता है। ऐसे प्रबल संकटमें फंसा हुआ यह जीव आज बहुत अपूर्व अवसरको प्राप्त हुआ है। यह चाहे तो क्या अज्ञान और ममताका परित्याग करके अपने प्रकाशका अनुभव न कर सके ? सब ज्ञानसाध्य बात है। यदि कठिन तपश्चरण नहीं चलता है तो कठिन तपश्चरण न करे, उस पर जोर नहीं दिया जा रहा है, परन्तु जो केवल एक जानने-माननेके उपायसे ही बहुत बड़ा काम हो सकता है तो उस विधिसे जानना और मानना भी न बन सके तो यह महामूढ़ता है। उपयोग द्वारा केवल अन्तरङ्गमें अपने आपको सहजस्वरूपमें देखना है। इतनाभर काम कोई कर सके तो उसने धर्मपालन किया।

धर्मके आश्रयमें सर्वदा आनन्दका लाभ— धर्मात्मा पुरुष जब तक संसारमें रहता है, तब तक संसारकी सुखसमृद्धियोंको भोगता है, फिर शीघ्र ही संसारको समाप्त करके यह निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। धर्म में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। धर्म करते हुए कुछ काल तक संसारमें रहता है तो भी आनन्द है और धर्मके फलमें संसारके सङ्कट नहीं रह सकते हैं। सो संसारके सङ्कटोंसे छूटकर मुक्तावस्था व्यक्त है तो वहां आनन्द रहता ही है। यह धर्म समस्त कर्मोंको मूलसे नष्ट करनेमें समर्थ है। इन रागद्वेषादिक कर्मोंका कैसे विनाश हो, इसका उपाय एक कारणसमयसारकी भावना है। समस्त मोह, राग, द्वेष विभावोंको दूर करनेमें समर्थ ऐसे स्वभाव वाला जो निज कारणप्रभु है, चैतन्यस्वभाव है, उस स्वभावकी भावना होने पर स्वतः ही प्रायश्चित्त हो जाता है।

अपराधोंका प्रायश्चित्त अपराध न करना— अपराधोंका प्रायश्चित्त अपराध न करना है। इस जीवने राग, द्वेष, मोहका विकट अपराध किया है विषय-कषायोंमें लगे रहनेका घोर पाप किया है। अब उसका प्रायश्चित्त यह है कि उन पापोंको न करे और परमात्मगुणात्मक जो शुद्ध अन्तस्तत्त्व है, उस स्वरूप जो सहज ज्ञानादिक गुण हैं, स्वभावगुण हैं उनका चिन्तन करे। यह ज्ञानी द्वारा किया जाने योग्य निश्चय-प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्तका यह भी अर्थ होता है—'प्राय' मायने अपराधोंका व चित्तका याने शोधन करना। अपराधोंका शोधन निरपराधस्वभावकी भावनामें है अपराध शब्दका क्या अर्थ है ? अप मायने दूर हो गई है राधा जिससे। 'अपगता राधा यस्मात् स अपराधः।' राधा नाम सिद्धिका है। कोई किसी का नाम राधा व सिद्धि रख ले तो यह बात अलग है। राधा नाम है आत्मसिद्धिका। आत्माके निरपेक्ष सहज चैतन्यस्वरूपका उपयोग होना—इसका नाम राधा है। यह राधा जहां नहीं रहती है, ऐसे परिणाम का नाम अपराध है।

काम वैरीसे ग्रस्त होने पर भी कामकी वासनामें मौज माननेकी मूढ़ता— काम, क्रोध, मान, माया लोभ और मोह—ये ६ जीवके वास्तविक वैरी हैं। यह जीव दूसरे जीवोंको वैरी समझ रहा है—ऐसी जो उस की समझ है, वह समझ है उसका वैरी। दूसरा जीव वैरी नहीं है। इन ६ वैरियोंके स्वागतमें लगे हुए संसारी प्राणी कितने क्लेश पा रहे हैं ? यह भी अनुभवमें कुछ-कुछ है, फिर भी इन वैरियोंकी शरणमें ही यह जाता है। कोई मूढ़ पुरुष वैरियोंसे सताया जाये और उन वैरियोंका ही आदर करे तो यह विवेक तो नहीं है ना ? इसी प्रकार हम आप सब जीव काम, क्रोध आदिक ६ वैरियोंसे सताये हुए हैं और फिर भी इन्हींको शरण मानते हैं। जो पुरुष कामवासनासे आसक्त है, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, सज्जनता नहीं रह सकती है। वह धर्मका पात्र हो क्या, जिसके चित्तमें दुर्गंधित, अपवित्र मायामय शरीर ही रूप

रहे हैं ? जो नाक, थूक, खून आदि अशुचि पदार्थोंसे भरी हुई थैली है—ऐसे इस शरीरको ही जो अपना हितकारी समझ रहा है, वह धर्म कहाँसे करे ? धर्म नाम तो आत्माके स्वभावका है। जिसकी दृष्टि ही पर की ओर फसी है, वह धर्म नहीं कर सकता है।

क्रोधवैरीकी गुलामी करके चतुराई माननेकी मूढ़ता—क्रोध, चाण्डाल बताया गया है। जो क्रोध करता है, जिसकी नाक-भौंह चढ़ रही हैं, लाल मुख हो गया है, कबूतरकी तरह नेत्र खड़े हो गये हैं—ऐसा पुरुष शक्ल-सूरतमें कितना भद्दा नजर आता है ? क्रोध करते हुए की हालतमें कोई पुरुष अचानक फोटो ले ले और फिर उसे खूब निरखे तो पता पड़ेगा कि क्रोध चाण्डाल है, लेकिन यह मोही जीव किसी बात पर क्रोध करता है तो यह क्रोधकी करतूतको अपनी चतुराई समझता है।

मानके विनाशमें अपराधोंका प्रायश्चित्त—मान कितना घृणित विभाव है ? मान करने वाले पुरुष लोगोंकी दृष्टिमें कितने निंद्य दृष्टिसे नजर आते हैं ? मानी जानता है कि मैं बड़ा हूं और लोग जानते हैं कि यह अभिमानी है, मूर्ख है। यह मानी मानकषायमें रत होकर अपनी कल्पनाएँ बुन रहा है। लोग इसे नीच समझ रहे हैं। मान करके तो कोई बड़प्पन नहीं मिलता है, फिर वास्तविक परमार्थ, बड़प्पन कैसे मिले ? इस जीवको गुप्त ही गुप्त मुर्दा चोटोंसे यह मान सता रहा है, लेकिन इसे सद्बुद्धि नहीं आती है कि मैं कभी भी मान न करूँ। मान किस पर करूँ ? सर्वजीव स्वरूपतः एक समान हैं और जो गरीब, अमीर, बुद्धिमान, मूर्ख नजर आ रहे हैं, यह जीवका स्वरूप नहीं है। ये कर्मोपाधिकृत बातें हैं। मान करनेका तो कुछ ठौर ही नहीं है। यह मान वैरी है। इसके विनाशसे आत्मशुद्धि होती है और अपराधोंका प्रायश्चित्त बनता है।

मायाकी सेवामें अपनी बरबादी—मायाकषाय जो वक्रताके रूपसे उदाहरणमें आती है। यह बड़ा कुटिल है, टेढ़ा है, इसकी माया ऐसी दुर्गम है कि इसके हृदयकी कोई परख नहीं कर सकता है। भला इस असार संसारमें कौनसी वस्तु ऐसी है, जिसको पानेके लिये मायाचार किया जाये ? प्रत्येक पदार्थ छूटे हुए हैं, न साथ आए हैं और न साथ जायेंगे। इन बाह्यपदार्थोंकी प्राप्तिके लिए मायाचार करके अपना भविष्य और बिगाड़ लिया जाता है। इस मायाके अपराधको दूर करनेमें समर्थ सरलता है।

लोभकी विडम्बनामें शरण माननेकी मूढ़ता—लोभकषायसे तो यह सारा जगत् रंगा हुआ है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक समस्त प्राणी चारों कषायोंमें रंगे हैं, पर लोभकषायकी तो रंगतता प्रत्येक जीव, व्यक्तिमें नजर आती है। चींटी-चींटा, कीड़ा मकौड़ा भी अपने आहारकी तलाशमें रहा करते हैं, आहार को खींचे खींचे फिरते हैं। मनुष्य तो लोभियोंमें सरताज है। पशु पक्षी क्या लोभ करते हैं ? समय पर खानेको मिल गया तो खा लिया और संतुष्ट हो गये, कलके लिए कोई चिंता नहीं है। पक्षियोंको दाने मिल गए तो खा लिए और उड़ गये, वे प्रसन्न हैं कलके लिए सञ्चय करके कुछ नहीं रखते। देखा होगा कि जब उन्हें वेदना होती है तो तलाश करके खा लिया और पेट भर गया काम खत्म हो गया। पर ये मनुष्य इतना सञ्चय करते हैं कि उस धनसे कई पीढ़ी बैठकर खायें, खा सकें। इतने धनसे तो भी संतोष नहीं हो पाता है। अरे, फिर सन्तोष कब किया जाएगा ? बड़े-बड़े गरीब, दीन, भिखारी इस लोकमें अपना गुजारा कर रहे हैं। अरे उनकी अपेक्षा हम आप सबकी स्थिति कितनी उच्च है ? लेकिन तृष्णाके कारण इस प्रकारकी पाई हुई स्थितिमें भी चैनसे नहीं रह सकते हैं। यह लोभ भी इस जीवको बुरी तरह से पीड़ रहा है, लेकिन यह मोही प्राणी अज्ञानवश इन लोभकी ही शरणमें बना रहता है।

ज्ञानस्वभावकी भावनामें अपराधोंका विलय—जो आत्मामें सहज अनादि अनन्त अहेतुक परमपारिणामिक भाव है, उसकी भावना होने पर ये सब प्रायश्चित्त स्वयमेव हो जाते हैं। ये कामादिक ६ प्रकारके विकारोंके हो जानेका जो महान् अपराध है, इस अपराधके क्षयकी सम्भावना अथवा इन कषायोंके क्षय

करनेमें ये समर्थ अविकार ज्ञानानन्दस्वरूपकी सम्यक्भावना ही उम प्रायश्चित्त है। जैसे किसी घरमें छोटे बालक उद्दण्डता कर रहे हों, ऊधम मचा रहे हों तो किसी एक घरके महापुरुषकी ललकारसे ही वे सब बच्चे ऊधम छोड़कर एक कोनेमें शान्त होकर बैठ जाते हैं और फिर उस कमरेको त्याग भी देते हैं, इस ही प्रकार इस अध्यात्मक्षेत्रमें ये काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदिक विभाव ऊधम मचा रहे हैं। एक अधिकारी ज्ञानस्वभावकी दृष्टि थोड़ा ही फिटकार देती है तो ये समस्त विकार अपना ऊधम छोड़कर शान्त हो जाते हैं और निकट समयमें ही इस आत्माको छोड़ भी देते हैं। एक ज्ञानस्वभावकी भावनाके सिवाय अन्य कुछ इस जीवका शरण नहीं है।

प्रभुताके प्रयोगका अनुरोध—बड़े-बड़े ऋषि-संतोंने तपश्चरणके द्वारा शुद्ध पदका आनन्द भोगकर, उससे तृप्त होकर जगतके जीवों पर करुणा करके यह बात कही थी कि लोककी विभूतिमें कुछ आनन्द नहीं है, इसकी ओर दृष्टि आकुलताको पैदा करती हुई ही होती है। आत्मा रीता ही जाता है जब यह बाहरी पदार्थोंमें लगता है। सूना, हल्का प्राणी जैसे अधीर होकर डोलता रहता है ऐसे ही अपने उपयोग से सूना यह जीव भी जगतमें बाहरी पदार्थोंकी आशा कर करके डोलता रहता है। इसे अपने आपके पदमें ठौर न मिलनेके कारण चैन नहीं मिलती है। सुखके लिए यह जीव अनेक उपाय करता है। अनेक उपाय करके देख भी लो, किन्हीं भी उपायोंसे आत्मामें शान्ति आ नहीं सकती। केवल एक सम्यग्ज्ञानके अर्जनका उपाय ही सत्य उपाय है। जिस उपायसे, नियमसे शान्ति उत्पन्न होगी। शान्ति आत्माकी परिणति है, वह किसी बाह्य पदार्थके आश्रयसे कहाँ प्रकट हो सकती है? शान्त स्वभावकी ज्ञानप्रकाशमय जो आत्माकी प्रभुता है उस प्रभुताके उपयोगमें ही शान्ति मिल सकती है।

आत्मोद्धारका उपाय—भैया! एक सहज निजतत्त्वका आलम्बन छोड़कर अन्य बातोंमें फँसनेसे क्या हाल होता है, इसके लिए ये सारे अमीर और गरीब लौकिक उदाहरण हैं। बहिर्मुखदृष्टिमें न तो अमीर प्रसन्न हैं और न गरीब प्रसन्न हैं। अज्ञानवश सभी संसारी प्राणी अपने उपयोगको भटका रहे हैं। यहाँ कुन्द-कुन्द प्रभु आत्मोद्धारके उपायमें यह कह रहे हैं कि क्रोधादिक विकारभावोंसे हम दूर हों, इस प्रकार की भावना बनाएँ और अपने शुद्ध, सहज, सनातन, चिदानन्दस्वरूपका दर्शन करके, चिन्तन करके अपने आपको संतुष्ट करें। अपने आपमें यह परमार्थ संतोष मिल सके तो इस जीवका मोक्षलाभ अति निकट है। ऐसे ही मूल ग्रन्थोंमें और आचार्यके ग्रन्थोंमें एकमात्र ही उपाय आत्माके उद्धारका कहा गया है।

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खुए चउविहकसाए॥ ११५॥

कषायविजयका कर्तव्य—पूर्व गाथामें यह बताया गया था कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विभावोंके क्षयकी भावनामें रहनेका नाम निश्चय-प्रायश्चित्त है अथवा जिस प्रकार इन कषायोंका विलय हो उसी प्रकार पुरुषार्थ करनेका नाम प्रायश्चित्त है। इस उपदेश श्रवणके बाद यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि कैसे इन कषायोंका विजय हो? इन्हीं चारों कषायोंके विजयके प्रतिपादनमें यह गाथा आयी है। क्रोधको क्षमासे जीतो, मानको मार्दवसे जीतो और लोभको संतोषसे जीतो। इस प्रकार चारों प्रकार की कषायोंको योगी पुरुष जीतते हैं।

जघन्य क्षमा—क्षमा तीन प्रकारकी होती है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। कोई पुरुष अकारण ही खोटा बोलने वाला हो, अज्ञानी हो, मिथ्या अभिप्राय वाला हो, किसी प्रकारका संक्लेशका वातावरण उपस्थित करे, कुछ बोले अथवा गालीगलौजकी वाणी कहे, उस समय यह कुछ विपदा अनुभव करनेको तैयार हुआ हो और कुछ तिरस्कार परिणाम बना लिया हो उस काल वह पुरुष अनिष्ट जचने लगता है। उस ही समय वह चला जाय, दूर हो जाय तो उस कालमें ऐसा परिणाम आता है कि चलो टला यह और उसके

प्रति कोई बदलेका भाव नहीं रखे, उसको किसी प्रकार सतानेके लिए या प्रत्यपकार करनेके लिए कोई मंसूबे नहीं रखे, किन्तु इतना ही मात्र संतोषक भाव हो कि चलो यह चला गया, छुट्टि पायी। अब उसके सतानेका कोई भाव नहीं रखे, उसे क्षमा कर दे, जीव सुखसे रहे—इस प्रकारका क्षमारूप परिणाम हो सो यह जघन्य क्षमा है।

मध्यम क्षमा—मध्यम क्षमा है उस प्रसंगमें कि कोई पुरुष अकारण कोई त्रास कर रहा हो, मुझे ताड़ रहा हो, पीट रहा हो अथवा प्राणघात कर रहा हो, प्राणघातके लिये उद्यमी हुआ हो ऐसे, समयमें इसका कुछ और विशेष संक्लेश होना प्राकृतिक है। यह दुःखी होता है, उसे अनिष्ट मानता है, क्लेश अधिक है, बदला लेनेका भाव भी कर सकता है। ऐसे ही प्रसंगमें वह अपने आप निकल जाय, हट जाय, दूर हो जाय तो वहाँ एक संतोषकी सांस ले लेना और उसे कुछ सतानेका या बदला लेनेका कोई परिणाम न रखना, इतना ही मात्र भाव रखना, चलो यह चला गया छुट्टी पायी, जान बची, लाखों पाये। अब उस पुरुषके प्रति कोई कोई बदलेका भाव न रखना, यह मध्यम दर्जेकी क्षमा है।

भैया! बात तो दोनोंमें यद्यपि एकसी है लेकिन वातावरणका अन्तर है। एक पुरुष केवल बाहर खड़ा हुआ अप्रिय वचन ही बोल रहा था, अपयश, अपवाद या गालीगलौज दोष लगाना आदि ही कुछ कह रहा था, पीट नहीं रहा था ऐसे पुरुषके प्रति अल्प सक्लेश होता था और अल्प अनिष्टता जँची थी, उसके प्रति क्षमाभाव आ जाना यह जघन्य क्षमा है और जो पीट भी रहा था, अनेक सत्रास दे रहा था ऐसे परिणामके प्रति भी उसी प्रकार बदलेका भाव नहीं आना और उसके चले जाने पर संतोष करना, यह परिणाम हुआ है। यह मध्यम क्षमा है।

उत्कृष्ट क्षमा— उत्कृष्ट क्षमा उस भावशुद्धिमें होती है, जहां ताड़े, पीटे, मारे जाने पर भी यह चिंतन रहता है कि मैं आत्मा अमूर्त हूं, परमब्रह्मस्वरूप हूं, आकाशवत् निर्लेप मात्र ज्ञानप्रकाशरूप हू, इससे मुझ आत्माका कुछ अपकार नहीं होता है, कोई विनाश या विच्छेद नहीं होता है, इस प्रकार शुद्ध स्वरूपका चिंतन करके अव्याबाध सर्वसङ्कटोंसे मुक्त शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वमें स्थिर होना, परम-समतारसका पान करके तृप्त रहना—यही कहलाती है उत्तम क्षमा। यहां किसी परजीव पर दृष्टि भी नहीं है। ऐसी क्षमावोंके द्वारा क्रोधकषायको जीतो।

जैसे गर्मी और ठण्ड—इन दोनोंका परस्पर विरोध है। जहां गर्मी है, वहां ठण्ड नहीं और जहां ठण्ड है, वहां गर्मी नहीं। इसी प्रकार क्रोधका और क्षमाका परस्पर विरोध है। जहां क्रोध उबल रहा है, वहाँ क्षमाका नाम नहीं और जिस उदारचित्तमें क्षमाका भण्डार है, वहां क्रोध का नाम नहीं। क्रोधको जीतनेका उपाय क्षमा परिणाम ही है।

क्षमाके अर्थ ज्ञानीका विवेक—जगत्में सभी जीव स्वतन्त्रस्वरूप वाले हैं। उनका उनमें उनकी योग्यता से परिणमन चलता रहता है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमें अपनी कुछ कला नहीं बना सकता है। फिर मेरा बिगाड़ करने वाला लोकमें कौन है? हम ही कल्पनाएँ करके व्यर्थका विकल्प मचाकर दुःखी हुआ करते हैं। सभी दुःख कल्पनासे हो अपने विकल्पके कारण होते हैं। दूसरा कोई किसीको दुःख पहुंचा ही नहीं सकता। कोई क्या करे? अपने मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति ही तो करेगा और कदाचित् मान लो कोई पुरुष हाथापाई भी करने लगे, शस्त्रोंसे, लाठियोंसे ताड़ना भी करने लगे तो उस समय तो मैं शरीर नहीं हू। कुछ यह पुद्गलस्कन्धोंका निमित्तनैमित्तिक भाव चल रहा है तो चल रहा है, किंतु मैं आत्मा अमूर्त हूं, ज्ञानानन्दपुंज हूं। इस अमूर्त आत्मामें तो अग्नि तकका भी प्रवेश नहीं है। यह आत्मा न अग्निसे जल सकता है, न पानीसे गल सकता है, न हवासे उड़ सकता है और न किसीके कूटेसे कुट सकता है। यह सदा बाधारहित है।

क्लेशका कारण अपना ज्ञान— कोई पुरुष इस शरीरको ताड़ रहा है तो यह कल्पना बनाता है कि हाय, मैं मरा, अब क्लेश होने वाला है, मेरा सब कुछ अब मिट जाने वाला है— ऐसी कल्पना की तो उसका क्लेश है, न कि किसी पुरुषको मारा-पीटा उसका क्लेश है। जब सभी जीव अपने अपने कषाय भावके अनुसार अपना परिणमन करते हैं तो हम यहां किस बात पर क्रोध करें? क्रोध करें तो अपने विभावों पर करें। मेरा वैरी, मेरा विनाश करने वाला मेरा अज्ञानपरिणाम है। भव-भवमें रुलाने वाला मेरा मोहभाव है। इस मोहभावको नष्ट करें तो यह है सच्ची बुद्धिमानी और बाह्यपदार्थों पर क्षोभका परिणाम आना, यह कोरी अज्ञानता है, अविवेक है।

ज्ञानीके अन्तरमें क्षमाका रूप— भैया! ज्ञानी गृहस्थको भले ही किसी परिस्थितिमें मारने-ताड़ने वाले से गुजारा करनेके लिए मुकाबला करना पड़ता है, इतने पर भी ज्ञानी जीवका दूसरे व्यक्तिके प्रति अकल्याण करनेका भाव नहीं रहता है। कदाचित् किसी गृहस्थको किसी चोर-डाकूके मुकाबलेमें कोई शस्त्र भी चलाना पड़े और उस शस्त्रघातसे वह प्राणी, वह डाकू प्राणांत भी कर जाए तो भी यदि वह ज्ञानी गृहस्थ है तो उस परिस्थितिमें इसके प्रत्याक्रमण करनेके बावजूद भी उसके संकल्पी हिंसा नहीं हुई, अनन्तानुबन्धीक्रोध नहीं लगा। ज्ञानीका यह स्पष्ट ध्यान है कि किसी भी अन्य पदार्थसे मेरेमें परिणमन नहीं होता है और स्वभावतः क्षमाशील ज्ञानानन्द रसमय अपने आत्मतत्त्वमें ही तृप्त रहा करता है। यों वह प्राणी क्रोधकषायको क्षमापरिणामसे जीतता है।

मार्दव परिणामसे मानकषायकी विजय— मानकषायको ज्ञानी मार्दव परिणामसे जीतता है। मानी पुरुषको लोग कहा करते हैं कि यह बड़े कड़े दिलका है, यह बड़ा कठोर आदमी है। यह कठोर परिणाम मार्दवभावसे ही दूर हो सकता है। मार्दवका अर्थ है कोमलता। परिणामोंमें नम्रता आना, सो मार्दवभाव है। दूसरोंका आदरभाव रखना, दूसरोंसे अपने आपको बड़ा न मानना, दूसरा भी बड़ा है, खुद भी बड़े हैं, इस चेतनका जो शुद्ध स्वरूप है, ज्ञानानन्दस्वभाव है, उस रूप ही निरखना, सब जीवोंके साथ समानताका भाव रखना—ऐसी मित्रताको नम्रता कहते हैं। नम्रतासे इस मानकषायको जीतो।

क्रोध और मानकी द्वेषरूपता— ये क्रोध और मान दोनों द्वेष कहलाते हैं। क्रोधमें आकर यह प्राणी अनर्थ करता है और दूसरेको भी बरबाद करता है। क्रोधमें आकर यह जीव दूसरे जीव पर वार करता है, लेकिन इस वारके कारण खुद तकलीफ पाता है। जैसे कोई किसीको क्रोधमें आकर किसी चीज से या चाकू आदिसे प्रहार कर दे तो प्रहार तो कर देता है, पर उसके फलमें वह तुरन्त गिरफ्तार होता है और उसे सजा हो जाती है, दुःख भोगना पड़ता है, पर क्रोधके समय उसकी यह बुद्धि थी कि मैंने अपने हितके विरोधीका विनाश कर दिया है, अब मैं निष्कंटक बन गया हूं, पर कंटक उस पर बड़ा विकट अन्य अन्य आ जाता है।

क्रोधसे स्वकार्यहानि— एक ऐसी कथा सुनी जाती है कि साधक योगी नायक महादेवने क्रोधमें आकर कामदेवको भस्म कर दिया था और कामदेवको भस्म करके उस भस्मको अपने शरीर पर लपेट लिया था। उस पर कविकी यह कल्पना हो सकती है कि काम नाम है दुर्भावनाका। विषयभोग, मैथुनप्रसङ्ग करनेकी जो चित्तमें वांछा रहती है और उस वाञ्छाकी पूर्तिका जो उद्यम रहता है, वह सब कामविकार कहलाता है, उसका ही नाम कामदेव है। काम तो अपने चित्तमें रहा करता है। इसका नाम मनोज है, यह मनसे प्रकट होता है। तो यह काम मनोज है, मनसे प्रकट होता है, इस बातको तो न जाना और बाहरमें किसीको यह कामदेव है—ऐसी बुद्धि करके उसे जला दिया। जला दिया इसलिये कि निर्भयता आ जावे, अब स्वतन्त्र हो गये, अब उस कामशत्रुका भय नहीं रहा, उस पर विजय कर ली—ऐसी स्वच्छन्दतामें फिर काम-विह्वलताकी दशा उत्पन्न हो गई। विवाह किया, पार्वतीका पाणिग्रहण किया तो फिर पीछे एक

सांसारिक दशा प्रकट हो गयी। क्रोध करनेसे ऐसी प्रवृत्ति हो जाती है कि उसके फलमें जिस रास्तेको साफ समझ लिया है वह रास्ता और विषम हो जाता है। क्रोधके उदयमें किसके कार्यकी हानि नहीं होती ? यह क्रोधवेष कहलाता है।

मानकषायसे विवाद—मान भी द्वेष परिणाम है जिसके मानकषाय प्रकट हुई है वह अपनेको बड़ा जानता है, और अपनेको बडा तब ही मान सकता है जब दूसरोंको तुच्छ मानेगा। जहाँ दूसरोंको तुच्छ माननेकी बुद्धि हुई, वहीं तो क्लेश होगा। द्वेष-भावमें ही मानकषाय उदित होता है। मानकषायसे भी इस जीवकी बड़ी बरबादी होती है। मानकषायके विषयमें बहुत प्रसिद्ध उदाहरण एक बाहुबली का प्रसिद्ध है, यद्यपि बाहुबली स्वामि परमतपस्वी थे और वे सर्वप्रथम इस युगमें मोक्ष पधारे, किन्तु उनकी दीक्षा का योग किस कारणसे मिला था, उस कारण पर यदि विचार करें तो मानकषायका रूपक समझमें आयेगा। भरत चक्रवर्ती दिग्विजय करके जब अपने नगरमें प्रवेश करने लगे तो चक्ररत्न नगरमें प्रवेश न कर सका। यह कायदा है कि क्षेत्रके छहों खण्डो पर विजय प्राप्त न की जा सके तो चक्ररत्न नगरमें नहीं प्रवेश करता है, तब सोचा गया कि कौनसा राजा और जीतनेके लिए शेष रह गया है, विदित हुआ कि अभी बाहुबली चक्रवर्ती शरणमें नहीं आया है। भरत और बाहुबली ऋषभदेव भगवानके जब ऋषभदेव गृहस्थावस्थामें थे तबके जुदी-जुदी माताके पुत्र थे। भरतने सदेश भेजा तो बाहुबलीने सदेशको ठुकरा दिया। भाईके नातेसे भरत बडे है पर राज्यके प्रसगमें यह मुझे शरण रखना चाहें तो यह न होगा। उनका युद्ध हुआ। चक्रवर्तीका तो नियोग ही होता है और बाहुबलीके मानकषाय प्रकट हुआ। युद्ध किया। भाग्य की बात है कि युद्धमें बाहुबलीकी सब प्रकारसे जीत हुई।

मानकषायसे स्वकार्य हानि और मानविजयसे उद्धार—उस जीतके बाद ही उन्हें वैराग्य आया कि धिक्कार है इस राज्य लक्ष्मीको जिसके कारण बडे भाईका अपमान करना पड़ा है। विरक्त हो गए वह। विरक्त होनेके बाद यह प्रसिद्ध है कि बाहुबलीके चित्तमें फिरसे मानकषायकी कोई तरंग उठी कि ओह ! मैं भरतकी भूमि पर तप कर रहा हूं। भरतकी भूमि छोड़कर किसी जगह तप करता होता तो विकल्प न होता। उस समय सारा क्षेत्र भरत चक्रवर्तीका था। इस मानकषायके विकल्पमें घोर तपश्चरण करके भी मुक्ति न प्राप्त कर सके थे, किन्तु भरत चक्रवर्तीने जब आदिनाथ भगवानके सभामण्डपमें यह बात जानी कि बाहुबलीको इस प्रकारका मान परिणाम दु:ख दे रहा है तो भरत गए, चरणोंमें नमस्कार किया और कहा—महाराज यह पृथ्वी किसकी हुई है ? मेरी नहीं है। यह तो कोरा विकल्प है। उनका विकल्प शान्त हुआ और मोक्ष पधारे। मानकषायमें यह जीव अपना ही बुरा करता है।

मायाकषायके विजयका अनुरोध—मायाकषाय एक महान् गर्त है जिसमें मिथ्यात्व वासनाका घोर अंधकार बना रहता है, जिसमें क्रोध आदिक विषम सर्प बसे रहते हैं, वे लक्ष्यमें नहीं आ पाते। मायाचारी पुरुष अपने गुणोंका समूल घात कर लेता है। इस मायाकषायको सरलताके परिणामसे जीतो।

लोभकषायसे अपनी बरबादी—लोभकषायको परमतत्त्वकी दृष्टि करके उत्पन्न हुए महान् लाभकी शान्तिसे जीतो। लोभकषायमें यह प्राणी अपने आपका अपने आप घात करता है। जंगलमें एक सुरा-गाय होती है जिसकी पूँछ बहुत सुन्दर होती है, जिसके कुछ लोग चमर बनाया करते हैं। वह गाय अपनी पूँछसे बड़ी प्रीति रखती है, कदाचित् कोई शिकारी उस गायको पकड़नेके लिए दौडे तो गाय भागती है अपनी जान बचानेके लिए और किसी जगह किसी बेलमें वह पूँछ उलझ जाय तो चूँकि उसे अपनी पूँछकी सुन्दरता पर बड़ा लोभ है तो यह पूँछ बिगड़ न जाय, इस लोभके कारण वहीं खड़ी रहती है। यदि वह दौड़कर चल दे तो उसकी जान बच जाय, पर शिकारी आता है और उसे पकड़ लेता है। यों लोभमें सभी पुरुष अपना विघात कर डालते हैं। कुन्द-कुन्द प्रभुका यह उपदेश है आत्मस्वरूपके

लिए कि क्रोधकषायको क्षमासे, मानको मार्दवसे, मायाको आर्जवसे और लोभकषायको शुचि परिणाम से जीतो।

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स ॥११६॥

ज्ञानस्वभावकी स्वीकारतामें निश्चयप्रायश्चित्त-- अनन्त धर्मात्मक अपने आपका जो उत्कृष्ट बोध है अथवा ज्ञान है, उसको जो मुनि नित्य धारण करता है, उसके प्रायश्चित्त होता है। जो अपने आपके स्वरूपको शुद्ध ज्ञानरूपसे स्वीकार करता है, उसके प्रायश्चित्त होता है। प्रत्येक जीव अपनेको किसी न किसी रूपसे स्वीकार कर रहा है। स्वीकारका अर्थ है स्व बना देना। 'स्व इव करोति इति स्वीकर्ता, स्वीकरणं स्वीकारः।' जो स्वकी तरह कर दे, उसे स्वीकर्ता कहते हैं, स्वकी तरह करनेको स्वीकार कहते हैं। प्रत्येक जीव अपनेको कुछ न कुछ स्वीकार कर ही रहे हैं। कोई अपनेको परिवार वाला, कोई धनी, कोई नेता, कोई साधु, कोई गृहस्थ--अनेक प्रकारसे अपनेको स्वीकार कर रहे हैं, किंतु एक उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप की स्वीकारताके बिना जितनी भी स्वीकारताएँ हो रही हैं, वे सब अपराध हैं। अपराधका फल नियमसे भोगना पड़ेगा। अपना ज्ञान इतना निर्मल होना चाहिये कि अपराध न बन सकें।

मोहमें आत्महानि-- मोही जीव कल्पनाएँ करके मौज मानते हैं--मेरे ऐसा परिवार है, इतना धन है, ऐसी इज्जत है, इतना बड़ा सुख है। अरे, कहां सुख है? कल्पनामें, रागद्वेषकी तरंगोंमें तो निरंतर डूब रहा है। चैन कहां है? किंतु ज्ञानस्वभावसे चिगकर बाह्यपदार्थोंमें कहीं भी भटकनेसे वहां चैन कभी हो ही नहीं सकती है। एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपनेको अनुभवना--यह तो है अपराधरहित शुद्ध धर्म और अपनेको किसी भी पर्यायरूप, किसी भी परसङ्गरूप मानना--यह है अपराध, अपने आपके प्रभु पर अन्याय। यह मोही अपने आप पर ही अन्याय करता हुआ भटक रहा है। अन्तरङ्गके नेत्र खोलकर अन्तरङ्गसे निहारो। किसी भी स्त्री, पुत्रादिकसे कुछ सम्बन्ध भी है क्या? यों तो निद्रामें स्वप्न आये तो उस स्वप्नमें भी सम्बन्ध मान लिया जाता है। जैसे स्वप्नमें देखा हुआ सम्बन्ध, सम्बन्ध नहीं है, केवल कल्पना ही है, इसी प्रकार मोहकी कल्पनामें माना हुआ सम्बन्ध, सम्बन्ध नहीं है, यह भी कोरी कल्पना ही है। इस व्यर्थकी कल्पनाका दुःख कौन भोगेगा? मनमानी कल्पनाएँ बढ़ाते जानेमें कौनसा लाभ है? इन सब अपराधोंका प्रायश्चित्त केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूपमात्र मैं हूं--ऐसा स्वीकार करना, ऐसा उपयोग बनाना, यहही प्रायश्चित्त है। इसी उपयोग परिणमनका नाम परमबोध है।

यथार्थसूझमें शांतिमार्गका लाभ-- भैया! जिसे उल्टा सूझे और चाहे कितना ही ज्यादा निरखता जाये, उसे दुर्गति ही मिलेगी। जिसे चाहे कम सूझे, किंतु सीधा यथार्थ सूझे तो उसका कल्याण हो सकता है। एक आत्माके ज्ञानको छोड़कर अन्य वैज्ञानिकके कामोंका अधिक परिज्ञान हो जाए तो वह भी शांति और मुक्ति का मार्ग नहीं है। थोड़ा भी जिसे सूझे, किंतु अपना ज्ञानस्वभाव सूझे और शान्तिसमता से रहनेकी बुद्धि जगे तो उसे शान्ति और मुक्तिका मार्ग मिल सकता है।

यथार्थसूझमें लाभका एक दृष्टान्त-- एक बुढ़ियाके दो बालक थे। एक बड़ा और एक छोटा। दोनोंकी आंखोंमें कुछ विकार था। छोटेको कम दिखता था, किंतु सफेद हो तो सफेद, पीला हो तो पीला अर्थात् जैसाका तैसा यथार्थ दीखता था और बड़ेको दिखता अधिक था, पर सब कुछ पीला दिखता था। दोनों लड़कोंको यह बुढ़िया किसी वैद्यके पास ले गई। वैद्यने उन दोनों लड़कोंका एक ही इलाज करना उचित समझा और एकसी दोनोंको दवा दी। कोई सफेद मोती अथवा दवा लेकर वैद्य कहता है कि देखो मां, यह दवा चांदीके गिलासमें गायके दूधमें दोनों लड़कोंको देना। दोनोंका एक ही इलाज है। इससे दोनोंकी आंखें ठीक हो जायेंगी। लड़कोंने भी सुन लिया। घर पर जब बुढ़िया पीलिया रोग वालेको दवा देने

लगी तो लड़का बोलता है कि मां, मैं ही तुम्हारा दुश्मन हुआ। इस पीतलके गिलासमें गायके मूत्रमें यह हरताल डालकर मुझे पिला रही हो। उसे तो सब कुछ पीला ही दिखता था। और जो कम देखने वाला था, जिसे यथार्थ दिखता था, उसने समझ लिया कि ठीक दवा दे रही है मां, तो उसने उस दवाको पी लिया। अब कम दिखने वालेका तो इलाज ठीक हुआ और जिसे अधिक दिखता था, उसका इलाज न हो सका।

यथार्थ सूझ और लाभका विवरण— ऐसे ही मनुष्योंमें जिन्हें बहुत अधिक तेज विद्या आती है, जो कई भाषाएँ जानते हैं, कई प्रयोग भी किए हैं, इंजीनियर भी हो गये हैं, ऊँचे-ऊँचे अनुसन्धानोंके नायक बने हुए हैं, लेकिन परवस्तुविषयक जिनकी दृष्टि निरन्तर बनी रहती है, उन लोगोंको शांति और मुक्ति का मार्ग नहीं मिल पाता है। आत्मामें जो आकुलताकी बीमारी लगी है, वह बीमारी दूर नहीं हो पाती। यों यह बडे तेज ज्ञानमें बढ़कर भी विपरीत ज्ञानी होनेके कारण रोगी ही रहता है और दूसरा कोई पुरुष जो लौकिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक अनेक विद्यावोंको नहीं जानता है, किंतु परमविश्राम और समाधिके उपाय द्वारा सहज ही जिन्हें आत्माके यथार्थस्वरूपका दर्शन हुआ है, वे एक अपने आपके ज्ञानबलसे शांति प्राप्त करते हैं और मुक्तिपथमें बढ़ते हैं।

भ्रममें शान्तिमार्गका अनवसर— भैया! कितना भी कुछ हो जाए, किंतु जीवको शांति मिल सकेगी तो एक भेदविज्ञानके द्वारा ही मिल सकेगी। परपदार्थकी दृष्टि लगाकर शान्ति मिलनेका कोई उपाय ही नहीं है। पर तो पर ही है, भिन्न है, चतुष्टय न्यारा-न्यारा है, न परका मुझमें द्रव्य है, न परका प्रदेश है, न परकी शक्ति है, न परका परिणमन है। प्रत्येक पदार्थ अत्यन्त स्वतन्त्र है। अब हम किसी परपदार्थ को भला मानें, सुखदायी मानें और उससे अपना बड़प्पन समझें तो कैसे पूरा पड़ सकता है? हम सोच रहे हैं मेरा, वह मेरा है नहीं। हम सोच रहे हैं कि यह परपदार्थ हित उत्पन्न करेगा और वह परपदार्थ केवल अपना परिणमन ही कर पा रहा है, अपने से बाहर कहीं कुछ परिणति ही नहीं कर पाता। फिर कैसे हित हो? हम मानते हैं परके संगसे बड़प्पन, किन्तु परके संगसे हमारेमें बड़प्पन अथवा उत्कर्ष होता ही नहीं है, परपदार्थ पर हैं, जहाँ हैं तहाँ हैं। उनके संगसे बड़प्पन होनेकी पद्धति है कहाँ, और मानता है यह परसे बड़प्पन, होता है नहीं, तब क्लेश ही पाता है।

मोहमें विषयविषकी रुचि—इस मायामयी दुनियामें मायामय पुरुष मायामय रूपोंको देखकर मायामयी कल्पनावोंकी रचना किया करते हैं, पर सारभूत बात यहाँ कुछ नहीं है। परमार्थस्वरूपके ज्ञानमें जो प्रकाश है, आनन्द है वह प्रकाश और आनन्द अन्य बातमें है ही नहीं। इस संसारसे मुक्त हो सकने वाले विरले ही हो सकते हैं। तत्त्वकी बात विरले ही ज्ञानी पुरुषमें समाती है। सब कैसे ज्ञानमय हो जायें? कर्मोंके प्रेरे हैं, उन्हें वही रुचता है विषय-विष। वे अमृतको पीनेका साहस ही नहीं कर पाते हैं।

मोहकी विडम्बनापर एक दृष्टान्त—जैसे कोई भिखारी ५-७ दिनकी बासी रोटियाँ अपने झोलेमें रखे हुए रोटियाँ माग रहा है, कोई दयावान् उस भिखारीसे यह कहे कि अरे! तू इन बासी रोटियोंको फेंक दे, मैं तुझे ताजी पूड़ियाँ दूँगा, पर उसे विश्वास ही नहीं होता है। वह सोचता है कि बड़ी कठिनाई से कमाई हुई रोटियाँ हैं। यदि इनको फेंक दूं और कुछ न मिले तो गुजारा कैसे चलेगा? ऐसे ही ये परपदार्थके भिखारी मोही प्राणी कितना चेतन और अचेतन परिग्रहका संचय किए हुए हैं, इन्द्रियके भोग-उपभोगके कितने साधन अपने उपयोगकी थैलीमें भरे हुए हैं? इन मोही भिखारी पुरुषोंको आचार्यदेव बार-बार समझाते हैं कि तू इन जूठे पुराने भोग साधनोंको त्याग दे, तुझे अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा, पर यह मोही, इसकी कल्पनामें नहीं आता कि मैं इन असार भिन्न परिग्रहोंको छोड़ दूँ और परम विश्रामसे रहूं, निज सत्य आत्मीय आनन्दको परीक्षा करूँ, देखूँ, ऐसी कल्पना ही नहीं जगती है।

धर्मीके धर्मकी स्वीकारता—अज्ञानी तो सोचते हैं कि धर्मकी बातें तो कहने-सुननेकी हैं, एक पद्धति है धर्मपालनकी, पर धर्मपालनमें मिलता क्या है, रखा क्या है, और यहाँ परिवारमें, धन-वैभवमें, इज्जत में यहां सब कुछ मिलता है। आचार्यदेव कहते हैं कि यह सब तुम्हारी भूल है। मोहनींदके ये सब स्वप्न हैं, इनके ही वश होकर इस जगतमें भटकना बना रहता है। यदि सर्वसंकटोंको मिटाना है तो एक ही उपाय है, अपनेको शुद्ध ज्ञानरूप स्वीकार कर लो। यही इस धर्मी आत्माका प्रायश्चित्त है। प्रायः मायने प्रकर्षरूपसे, चित्त मायने ज्ञान। अज्ञानके अपराधको दूर करनेके लिए प्रायश्चित्त ही समर्थ है अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान ही समर्थ है। प्रायश्चित्तका अर्थ उत्कृष्ट ज्ञान है।

प्रायश्चित्तका अर्थ उत्कृष्ट ज्ञान—भैया! पछतावा प्रायश्चित्त नहीं कहलाता है, क्योंकि पछतावामें विभाव परिणति बस रही है, पछतावाका नाम प्रायश्चित्त नहीं है। यद्यपि अपराधके करने पर ज्ञानी पुरुष को पछतावा होता है और उस पछतावाका उपाय करके फिर आगे ज्ञानपथमें बढ़ता है, पर पछतावा स्वयं उन्नतिका मार्ग नहीं है, यह सहायक तो है पर उन्नतिका साक्षात् मार्ग उत्कृष्ट ज्ञान है। प्रायः मायने उत्कृष्ट, चित्त मायने ज्ञान। उत्कृष्ट बोध ही मुनिका प्रायश्चित्त है। इस उत्कृष्ट ज्ञानको जो मुनि अपने उपयोगमें धारण करता है उसके ही वास्तवमें शुद्धनय प्रायश्चित्त होता है।

उत्कृष्ट ज्ञानका स्वरूप—यह उत्कृष्ट ज्ञान क्या है जिसके आश्रयसे संकट दूर होते हैं? ये रागद्वेष विभाव तो ज्ञान है ही नहीं। ये तो विभाव परिणतियां हैं, अचेतन हैं, इनमें चेतनेकी सामर्थ्य नहीं है, अचेतन गुणकी परिणति है, अचेतनमें है, पर रागद्वेषका प्रवाह जिन गुणोंमें हुआ है वह गुण स्वयं अचेतक है। रागद्वेष परम बोध नहीं है और जो हम आप जाना करते हैं यह चौकी है, यह मदिर है, यह घर है, यह वैभव है, यह ज्ञान भी उत्कृष्ट बोध नहीं है, यह ज्ञान मायारूप है, मायारूपका ज्ञान हो रहा है। जिनको भी इन इन्द्रियों द्वारा जाना जा रहा है वे सब मायास्वरूप हैं, परमार्थ द्रव्य नहीं हैं, जो दिख रहे हैं ये सब स्कंध हैं, अनन्त परमाणुवोंसे मिलकर बने हुए हैं। परमाणु बिखर गए कि स्कधका ढाचा मिट जायेगा। इन स्कंधोंमें कुछ आता है, कुछ जाता है और इन आवागमनके कारण जीवको ये नित्यसे प्रतीत हो रहे हैं, पर ये सब मायास्वरूप हैं, परमार्थभूत तो इन पुद्गलोंमें परमाणु हैं। परमाणुका ज्ञान करें तो समझो परमार्थका ज्ञान किया है। बाह्यमें स्कधोंका ज्ञान मायारूपका ज्ञान कहलाता है।

ज्ञानमें उत्कृष्ट ज्ञान—ऐसे ही आत्माके बारेमें जो ये संसारी प्राणी जानकारी रखते हैं, इन सब मायारूप पर्यायोंको आत्मा जानकर प्रवृत्ति करते हैं उनको जीव आत्मा समझकर व्यवहार बनाता है, पर यह आत्मा नहीं है, आत्मा तो अमूर्त है, वह इन्द्रिय और मनके भी विषयमें नहीं आता है। यह हमारा जो कुछ चल रहा हुआ ज्ञान है यह भी परमबोध नहीं है, यह भी अपराध है।

अपराधमें चतुराईकी मान्यता—ससारी प्राणी अपराधको करते हुए अपनी चतुराई मानते हैं। मुझमें बड़ी कला है, मैं घरकी अच्छी व्यवस्था बना लेता हू, मैं काफी पैसा कमा लेता हू। अरे! अपराधको करते हुए अपनी शान मानना यह तो अशान्तिका ही मार्ग है, उद्धारका मार्ग नहीं है। इन सब परिस्थितियोंमें रहकर मानना तो चाहिए था खेद कि मैं क्यों इन परपदार्थोंमें फँस रहा हू, ये परद्रव्य कुछ भी मेरे साथ न जा सकेंगे, इसका विषाद मानना था, पर यह मोही प्राणी परपदार्थोंका उपयोग कर करके चतुराई समझ रहे हैं।

परमबोध प्रायश्चित्त—भैया! वास्तविक चतुराई तो परमबोधमें है, इन सब ज्ञान प्रवृत्तियोंका स्रोतभूत जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यशक्ति है वह ज्ञानस्वभाव ही उत्कृष्ट बोध है, उसका उपयोग ही वास्तविक प्रायश्चित्त है, जो परमसयमी साधु निरन्तर ऐसा ही चित्त बनाते हैं अर्थात् ज्ञान किया करते हैं उन साधुवोंके निश्चय प्रायश्चित्त होता है। आत्मा एक धर्मी पदार्थ है, धर्मस्वरूप है, स्वय धर्मात्मा है,

और इस आत्माका जो परम ज्ञानस्वभाव है वह इस आत्माका उत्कृष्ट धर्म है। आत्मस्वभावसे ही आत्मा में प्रायश्चित्त बना हुआ है अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानस्वभाव सहज ही शाश्वत प्रकाशमान् रहता है, ऐसे ही प्रायश्चित्तका परम उत्कृष्ट बोध जो सयमी पुरुष श्रद्धामें लाते हैं और इस ही प्रायश्चित्तरूप आत्माके परमस्वभावमें लीन रहते हैं उन मुनिजनोंके ही शुद्धनय प्रायश्चित्त होता रहता है। जो योगिराज शुद्ध आत्मतत्त्वकी, ज्ञानमय पदार्थकी यथार्थ भावना करते हैं, इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपका सम्यक् श्रद्धान, इसका ही सम्यक् परिज्ञान और इसमे ही सम्यक् रूपसे अनुष्ठान करते है जो साधु, उनके स्वभावतः शुद्धनय प्रायश्चित्त होता है।

वन्दनीय योगिराज--जिसने पापोंको नष्ट कर दिया है, जिसका ज्ञान सदा निर्मल, जागरूक रहता है ऐसे योगिराज जिनकी धुन केवल परमात्माकी शुद्ध भक्तिमें रहती है ऐसे योगीन्द्र सबके निरपेक्ष बंधु हैं। ससारी जीवोंका उद्धार इन गुरुवोंके प्रसादसे ही हो सकता है। शुद्ध स्वरूपके परिज्ञानके समान लोकमे कुछ वैभव नहीं है। केवल यही एक पुरुषार्थ ही सत्य वैभव है। जो पुरुष इस ज्ञानस्वभावके ज्ञानमें वर्तता है वह योगिराज है, ऐसे योगिराजकी उपासनामें, सेवामें जो पुरुष रहा करते हैं वे धन्य हैं। उन योगिराजोंमे जो गुण-विकास हुआ है उन गुण विकासोंकी प्राप्तिके ध्येयसे मैं उन योगिराजोंको वंदन करता हू।

किं वहुणा भणियेण दु वरतवचरण महेसिण सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेऊ ॥ ११७ ॥

अपराधोंका प्रायश्चित्त सदाचरण--बहुत कहनेसे क्या फायदा ? अनेक प्रकारके कर्मोंके विनाशका कारण जितना जो कुछ भी ऋषिजनोंका उत्तम तपश्चरण है वह सब प्रायश्चित्त ही जानो। प्रायश्चित्त मायने हैं अपराधका शोधन अथवा उत्कृष्ट ज्ञानका उपयोग। इसकी सिद्धिमें जितने भी आचरण हैं, व्रत करना, तप करना, वे सब प्रायश्चित्त कहलाते हैं। जो परम तपस्यामें लीन हैं, ऐसे परम जिनेन्द्र योगीश्वरोंका यह निश्चयप्रायश्चित्त है। जितने भी आचरण हैं उन सब आचरणोंमें परम आचरण यह प्रायश्चित्त ही है। जैसे किसीसे बहुत अपराध हो गया हो तो उससे फिर आगे निर्मल होनेके लिए कहा जाता है, अब यह गलतियाँ न करे तो वे सब गलतियां माफ हैं।

अपराधका प्रायश्चित्त निरपराधप्रवृत्ति--एक ज्ञानस्वरूपके उपयोगको छोड़कर शेष जितने भी विपरिणमन हैं वे सब अपराध हैं, ससरणकी गलतियां हैं। जितनी भी गलतियां हुई हैं वे सब न होनेकी तरह कैसे हो जायें ? अब उन्हें न किया जाय और अब मोहममताको मिटाकर एक निज ज्ञानस्वरूपकी ओर झुके तो वे सब अपराध माफ हो जायेंगे, अर्थात् अब ससारमें भ्रमण न होगा, जो बात गयी वह तो गयी ही है, अब आगेकी रख ली जाय तो यही ज्ञानियोंका परमविवेक है।

ज्ञानस्वभावकी सहजज्ञानकलागोचरता--निश्चय व्यवहारस्वरूप जो परम तपश्चरण है वह सब शुद्धनय प्रायश्चित्त है। जो परमयोगीश्वर हैं वे इस प्रायश्चित्तके बलसे भव-भवके बांधे हुए समस्त कर्मोंका विनाश कर लेते हैं, यों द्रव्यकर्म और भावकर्मके रूपसे जो दो प्रकारके कर्म बतायें गए हैं ये जीवके साथ अनादिकालसे बँधे है। बँधे हैं, फिर भी ये दोनों जीवके स्वरूपसे अलग हैं। इस ही कारण इन कर्मोंका विनाश किया जाना सम्भव है। यह अंतस्तत्त्व जो पदार्थके सत्त्वके कारण पदार्थमें सहज ही अपने आप प्रकाशमान् रहता है, ऐसा यह आत्माका अतस्तत्त्व समस्त पापोंके विनाशका कारण है। ससारी जीव भी शान्ति चाहते हैं, उस शान्तिके मिलनेका कारण निष्पाप परिणति है। कोई पापकी परिणति करे और शान्तिकी आशा रखे, यह बात सम्भव नहीं है। यह सहज अतस्तत्त्व सहजज्ञानकी कलासे ही जाना जा सकता है। हम आत्माके ज्ञानस्वभावको अक्षरोंको पढ़ करके अथवा उसके पद्योंको रट कर नहीं जान

सकते हैं किन्तु परपदार्थके विकल्पोंसे रहित होकर जब हम शुद्ध विश्राम करें तो उस विश्रामकी स्थितिमें यह तत्त्व सहज ही प्रकट हो सकता है, यह सहज ज्ञानकी कलासे ही प्रकट हुआ करता है।

निश्चयसयममे प्रायश्चित्तकी पूर्णता—भैया ! जो इस चैतन्यस्वरूपको जानने वाले हैं उन्हें जो अपूर्व शान्ति मिलती है वह शान्ति तीन लोकका समस्त पुद्गलोंका ढेर भी इकट्ठा हो जाय तो भी नहीं मिल सकती है। पापी लोग पाप करके भी पापोंका पछतावा नहीं करते हैं, जबसे पापोंके प्रायश्चित्तका परिणाम होने लगे तबसे उन्नतिका प्रारम्भ जानना चाहिए। यह प्रायश्चित्त प्रारम्भमें पछतावाका रूप रखता है। पछतावामें कुछ साहस बढ़ता है, अपराध न करनेका संकल्प ठानता है और फिर अपराधरहित आत्मतत्त्वका निर्णय करके उन अपराधोंको नहीं करता है। इस तरह जितनी भी इस जीवकी उन्नति है वह सब प्रायश्चित्तके आधार पर है। आत्माका ज्ञान ही वास्तविक प्रायश्चित्त है। सम्यग्ज्ञानसे सयमी जीवोंको आत्माकी उपलब्धि होती है, बाह्य पदार्थोंमें मोह करके, ममता करके उपयोगका भटकना होता है और भटकता हुआ उपयोग कभी आनन्दमय शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी झलक पा नहीं सकता है। सम्यग्ज्ञानसे ही सयमी पुरुषोंको आत्माकी प्राप्ति होती है, फिर वे क्रमसे इन्द्रियका विजय करके, इन्द्रिय विषयोंसे उपयोगको हटाकर संसारकी ज्वालावोंसे बचते हैं।

विषयाशाज्वालावोंका शमन—इस जीवमें अज्ञानसे विषयोंकी लिप्सा बढ़ रही है। कोई स्पर्शन इन्द्रियके विषयको सुखदायी मानकर उसमें ही आसक्त है, कोई रसना इन्द्रियके लोभमें स्वादिष्ट सुन्दर व्यञ्जनोंको खाकरके मौज मानते हैं, कोई तेल, फुलेल, इत्रोंके सूंघनेमें अपनी बड़ी चतुराई मानते हैं, कोई थियेटर, सिनेमा, सुन्दररूप इनके देखनेका बड़ा लोभी है, कोई सगीत, सुहावने गाने सुननेका बड़ा शौक लगाये हैं, यों विषयोंकी ज्वाला इस ससारी प्राणीको जला रही है। इस ज्वालाको शान्त करनेमें समर्थ सम्यग्ज्ञानकी शीतल धारावोंका समूह ही है। सम्यग्ज्ञान जलसे विषयोंकी ज्वाला बुझायें और निर्विकल्प होकर अपने सहज कारणसमयसारकी आराधनामें लगें। अपनेको ज्ञानमात्र हू ऐसा अनुभव करें तो इस ज्ञानकी शीतल धारासे आत्माकी ये समस्त ज्वालाएँ शान्त हो सकती हैं।

भोगविषहारी मत्र तत्वज्ञान—यह ज्ञान सयमसे प्रकट होता है। इस मनके आधीन होकर मनमाना स्वच्छन्दता न वर्तना चाहिए और इन्द्रियविषयों पर विजय पाकर अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी उपासनामें रहना चाहिए। गुजारेके लिए भले ही कुछ इन्द्रियविषयका उपभोग करना पड़े, परन्तु इन भोगोंमें हितबुद्धि नहीं करनी चाहिये। ये भोग बुरे रोग हैं सर्पका डसा तो एक ही भवमें मरण करता है, पर भोगोंका डसा यह जीव भव-भवमें जन्म-मरण करता है, उसका संसार बढ़ता रहता है। यह सयम रत्नमाला जो ज्वालावोंसे विषयबाधावोंको जलानेमें समर्थ है, अध्यात्म शास्त्रकी उपासनासे उठता है, निकलता है, यह अध्यात्म शास्त्र उस अमृत-तत्त्वका उत्पादन करता है जिसकी उपासनासे नियमसे शान्ति और सतोष प्राप्त होता है। ऐसे सयमी जीवोंको आत्मज्ञानसे आत्माकी प्राप्ति होती है और आत्मप्राप्तिसे ज्ञानज्योतिके द्वारा इन्द्रियसमूहका जो घोर अन्धकार छाया है वह नष्ट हो जाता है।

अज्ञानान्धकारविनाशक प्रकाश—ससारके ये प्राणी अंधेरेमें हैं। इन पर अंधेरा अज्ञानका छाया है। जो बात जैसी नहीं है उस बातको वैसी मानना यह अधेरा है। इस अधेरेमें शान्तिका सही रास्ता नहीं सूझता है। जहाँ भी मुँह उठ गया वहीं इसको रास्ता मालूम होता है। जिसको जिस विषयका शौक लग गया वह उस विषयके भोगोंमें ही अपनी चतुराई मानता है। उस समस्त अधेरेका विनाश शुद्धनय प्रायश्चित्तसे होता है। यह प्रायश्चित्त आत्मद्रव्यके चिंतनमें प्रकट होता है। यह प्रायश्चित्त क्या है ? ज्ञानरूपी तेज है, किसी भी अपराधको ठहरने नहीं देता। अपराध है रागद्वेष मोह। इस अपराधसे इस जीवका कुछ भला नहीं है किन्तु बरबादी ही होती जा रही है। कैसी मूढता है कि संसारके इन अनन्त जीवोंमें...

से घरमें बसे हुए दो-चार प्राणियोंको अपना मान लेते हैं और उन्हें अपना मानकर उनके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन, सब कुछ न्यौछावर किए जा रहे हैं। आत्माके शुद्ध स्वरूपसे चिगकर किन्हीं भी परजीवोंमें आकर्षण करना, मोह करना यह घोर अंधकार है। इस घोर अन्धकारको, इस अपराधको दूर करनेमें समर्थ यह उत्कृष्ट ज्ञानरूपी प्रायश्चित्त है।

अध्यात्मरत्नमाला—देखो भैया ! ऋषी-संतोंने इस अध्यात्मज्ञान समुद्रमें से आत्मसंयमकी, आत्म-अनुभवकी रत्नमाला निकाली है। लोकमें यह प्रसिद्ध है कि समुद्रमें से मालारत्न भी प्रकट हुआ है। वह माला ज्ञानकी है और वह अध्यात्म शास्त्ररूपी समुद्रसे निकली है ज्ञानमाला। जो तत्त्वज्ञानी पुरुष अपने उपयोगरूपी कठमें इसे धारण करते हैं वे पुरुष मुक्तिके वरणके पात्र होते हैं। शुद्धनय प्रायश्चित्त अधिकारमें इस परमपारिणामिक भाव पर दृष्टि पहुंचायी है, जिस ध्रुव स्वभावके अवलम्बनसे ये विपरीत वृत्तिया दूर होती हैं और शुद्ध वृत्तियां प्रकट होने लगती हैं।

मिथ्यात्व महासकट—मिथ्यात्व सबसे महति विपदा है। इस मिथ्यात्वकी वर्तना कितने ही रूपोंमें प्रकट होती है। जिस शरीरको आपा माना 'यह मैं हू' यह मिथ्यात्वका व्यक्तरूप है। अज्ञानी पुरुष यह ही जानते हैं कि यह शरीर है किन्तु यह समझते हैं कि यह ही मैं हूं। लोक-व्यवहारके नाते कदाचित् शरीर शब्दको बोल दें तो भी यह शरीर है, मैं जीव हू, शरीरसे न्यारा हूं, ऐसा भाव रखकर नहीं बोलते हैं, किन्तु लोकपद्धतिमें बोल लेते हैं और कभी यह जीव आगे बढ़नेकी कोशिश करे और विवेकियोंके उपदेशके अनुसार यह अज्ञानी भी यों बोलने लगे कि यह शरीर न्यारा है, जीव न्यारा है, इतना बोलकर भी शरीरसे न्यारा जीव जो ज्ञानस्वरूप है, उसका इसे अनुभव नहीं हो पाता है। तो इस बोलने और सुननेमें ही अपनी चतुराईकी प्रतीति करके जो आत्मामें विकल्प और कल्पनाकी कला प्रकट होती है उस विकल्पकलाको ही यह आत्म सर्वस्व मानता है, अनुभव नहीं करता। अहो ! भेदविज्ञानकी वार्ता भी विकल्पोंको अपनानेके लिए की जा रही है, पर विकल्पोंसे हटकर सकल परभावोंसे भिन्न ज्ञानपुंज जो आत्माका सहजस्वरूप है उसके अनुभवका ध्यान नहीं है।

संकटहारी शरण—अब मैं अपने आपमें शाश्वत प्रकाशमान् इस परमात्मतत्त्वकी शरण पहुंचता हूं जिसकी शरण पानेसे फिर संसारके संकट नहीं रहते हैं। संसारके संकट क्या हैं ? अपनी मूढ़ता है। अपना जैसा सहजस्वरूप है उस स्वरूपके अनुभवरूपी अमृतका पान नहीं करना चाहता है और व्यर्थ ही बाह्य पदार्थोंमें ऐसा विश्वास लगाकर यह जीव सकट सहता रहता है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी बड़ी-बड़ी विभूतियोंको त्यागकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर शरीरमात्र ही रहकर अपने चित्तमें इस ही परमब्रह्म कारणसमयसारको बसाते रहे हैं। यदि ससारसकटोंसे सदाके लिए छूटना है तो इस आनन्दका अनुभव करें। जिसने ससार-वृक्षके मूलका विनाश किया है, ऐसे इस परमात्मतत्त्वको मैं नित्य नमन करता हू।

णताणतभवेण समज्जिअसुहअसुहकम्मसंदोहो।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्त तवं तम्हा ॥ ११८ ॥

अनन्तानन्त भवों द्वारा जो शुभ-अशुभ कर्म उत्पन्न किये हैं वे सब तपश्चरणसे विनष्ट होते हैं इस कारण तप ही वास्तवमें सकल अपराधोंका प्रायश्चित्त है।

चैतन्यप्रतपन बिना जन्म-मरणका ताता—अबसे पहिले यह जीव किसी न किसी पर्यायमें था, क्योंकि पहिले-यदि यह शुद्ध होता तो आज यह अशुद्ध हो ही नहीं सकता था। जैसे आज मनुष्यपर्यायमें है इसी प्रकार यह जीव पहिले किसी न किसी पर्यायमें था और उससे पहिले किसी न किसी पर्यायमें था। क्या ऐसी कल्पना की जा सकती है कि इस भवसे पहिले इस जीवका कुछ भव ही न हो ? यह जीव

अनादि कालसे भवोंको धारण करता चला आया है। अनन्त भव हो गए जिसकी कोई सीमा नहीं कि कितने शरीर धारण किये जा सकते हैं और उन भवोंमें जो कुछ समागम मिले थे वे समागम नहीं रहे, सब बिछुड़ गए और आज भी जो कुछ मिले हैं वैभव, कुटुम्ब इत्यादिके समागम वे सब भी हमारे न रहेंगे, इन सबको छोड़कर जाना पड़ेगा। यों भव-भव ही धारण करते चले आए हैं और उन-उन भवोंमें ये सब समागम मिले हैं उन सब समागमोंको छोड़ते आये हैं, लेकिन किसी भी भवमें इस जीवने अपनेको अकिञ्चन अनुभव नहीं किया है। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, इस प्रकारकी प्रतीति और उपयोगको इस जीवने नहीं किया, इसी कारण यह जन्म-मरणके चक्र सह रहा है।

अपूर्व अवसर— आज बहुत बड़ा मौका है, श्रेष्ठ मनुष्यजन्म पाया, श्रेष्ठ धर्म पाया, वस्तुस्वरूपकी बात सुननेको, समझनेको मिली है, जो चीज नहीं रहनी है, मायारूप है इसमें दिल फँसानेसे कुछ लाभ नहीं है। आत्मकल्याणके उपायका बहुत बड़ा अवसर है। इस संसारमें यदि अपनेको निर्लेप न समझ सके, विशुद्ध ज्ञानस्वरूपको प्रतीतिमें न ला सके तो ये सब समागम बिछुड़ ही जायेंगे, इनसे कोई लाभ न होगा।

विपदाओंका पहाड़—अनन्त भवोंसे जो शुभ-अशुभ कर्म उपजे हैं वे आज भी हम आपके साथ लगे हुए हैं, उन कर्मोंका संस्कार इस पर छाया हुआ है। एक ही भवके कर्म नहीं बल्कि अनगिनते भवोंके कर्म इसके साथ लगे हैं। आजसे करीब ६०–६५ कोड़ाकोड़ी सागर पहिलेके बँधे हुए कर्म भी आज हो सकते हैं और इन कर्मोंका उदय हम आपके चल रहा हो, यह भी संभव है। यहां किस चैनमें मौज मान रहे हैं? विपदाओंका पहाड़ कितना साथमें लगा हुआ है, उसकी ओर दृष्टि क्यों नहीं देते? आज कुछ यश है, मौज है तो कलका भी कुछ पता है क्या? भले ही मोहवश ऐसी कल्पना बनाएँ कि बिगाड़ किन्हीं दूसरोंका हुआ करता है, बिगाड़ हमारा नहीं होगा, पर यह कल्पना ही है, दूसरे भी तो हमारी तरह ही जीव हैं। जैसे उन जीवोंकी बरबादी होती है इसी प्रकार हम भी उन्हींकी तरह हैं ना। अपराध होनेपर हम-आपकी भी वैसी ही बरबादी है।

अपराधोंका प्रायश्चित्त परमतपश्चरण— भैया सब अपराधोंका प्रायश्चित्त तपश्चरण है। परमार्थ तपश्चरण तो अपने आत्माका शुद्ध आचार-विचार रखना, सही उपयोग रखना, रागद्वेष मोहका कलंक न बसाना, यही है परम तपश्चरण और उसकी साधनामें सहायक है यह हमारा बाह्य तपश्चरण। भक्ष्य-अभक्ष्यका विवेक न हो, कौन तकलीफ करे, जैसा मिले तैसा खाये, और-और प्रकार भी प्रमाद बनाए रहें, चलने उठनेका भी विवेक नहीं, व्यवहारमें मायाचार, तृष्णा, क्रोध, मानका फँसाव बना हो, कामवासनाकी ज्वालामें जले जा रहे हों तो, ऐसी प्रवृत्तिसे आत्माका भला नहीं है। इन प्रवृत्तियोंको दूर करनेके लिए तपश्चरण करना पड़ेगा। तपश्चरण किया जाता है विषय कषायोंके अपराधोंके परिहारके लिए।

इन्द्रियसंयमनकी आवश्यकता—सीमित खाना, शुद्ध खाना आदिक ये जीवको नियन्त्रण मालूम होते हैं, कैद मालूम होते हैं पर नियन्त्रण न होनेसे अंतरंगमें इस जीवकी बरबादी हो रही है। रौद्र ध्यानसे इस आत्माकी कैसी दुर्गति होगी, इसका कुछ ध्यान नहीं है। आज थोड़ेसे भी कष्टसे डरते हैं, पर रौद्र ध्यानके अवतापसे नरक गतिमें या पशु-पक्षियों आदिकी गतिमें जन्म लेना पड़े, महाक्लेश भोगना पड़े इसका कुछ भी भय नहीं है। आज थोड़ा भी परिश्रम करनेका भय है, प्रमाद है, कुछ करें मौजसे रहना चाहिए। जो मनुष्य इन्द्रिय विषयोंके मौजरूप प्रमाद करते हैं उनके निरन्तर अशुभ कर्मका बंध होता है। द्वेषकी ज्वालासे भी अधिक रागकी ज्वाला होती है। द्वेषमें इतना कठिन कर्मबंध न भी हो सके जितना कि रागमें आसक्तिमें कर्मबंध होता है। उस रागको दूर करनेके लिए इन इन्द्रियोंको संयत करना होगा। प्रेम हो, कष्ट हो या मनके अनुकूल बात न मिले, उन सबमें तुष्ट रहनेका माद्दा बनाना होगा, समता-परिणाम

रखने का साहस करना होगा तब सिद्धि हो सकेगी।

संयम व तपश्चरणके कर्तव्यका स्मरण— संयममें चलें, तपश्चरणमें चलें। दुनियाको निरखकर हम अपना निर्णय करें तो उसमें सिद्धि नहीं है। अपने अन्तःकरणसे और अपने महर्षि सन्तोंके उपदेशसे हम सलाह लें, दुनियासे अथवा दुनियाकी प्रवृत्तियोंसे हम सलाह न लें, क्योंकि यह संसार अज्ञान-अंधेरे से भरा है। मोहमें जो अंध हैं वे सुलझे हुए मार्ग के विषयमें क्या बता सकते हैं? तपश्चरणमें रंच न डरना चाहिए, वर्तमानमें अपनी जो शक्ति प्रकट हुई है उसके मुताबिक तपस्यामें हम प्रयत्नशील रहें। यह शरीर तो रहेगा नहीं, आगमसे रखें तो भी नहीं रहने का, तपश्चरणमें लगायें तो भी नहीं रहने का, और शरीर न रहे तो यह लाभ की बात है। कभी न मिले शरीर इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है?

शरीरसेवाका प्रयोजन—यह आत्मा ज्ञानानन्दसे भरपूर है, ऐसा उत्कृष्ट होकर भी यह आत्मा आज कैसा फँसा है? परेशान है। कहीं यह आत्मा बंधनमें पड़ने वाली वस्तु थी क्या? पर शरीरमें यों बंध गया कि शरीरको छोड़कर कहीं जा नहीं सकता। इस शरीरके बंधसे यह जीव कितना परेशान है? यह शरीर यदि न रहे तो यह तो भलाईकी बात है। शरीरको क्या आरामसे रखना? अपने संयमके लिए शरीरका श्रम कितना भी हो उससे भय न करना और दूसरोंके उपकारके लिए इस शरीरको कितना ही लगाना पड़े उससे भी न हिचकना। इस शरीरको एक सेवककी तरह व्यवहार करना, जैसे सेवककी रक्षा की जाती है निज कार्यके लिए, इसी तरह इस शरीरकी रक्षा की जानी चाहिए एक आत्मकार्यके लिए। यद्यपि शरीरसे आत्मकार्य नहीं बनता लेकिन शरीरके सम्बन्धमें जब हम आत्मकार्यके विपरीत लग बैठे हैं तो उस विपरीत लगावसे हटनेके लिए जो कुछ शरीरका साधन बनाना पड़ता है वह इस परिस्थितिमें आवश्यक है।

जीवनके सदुपयोगका अनुरोध—भैया! शरीरकी सेवा तो करें, पर शरीरके लिए शरीरकी सेवा न करें। अपना कार्य निकालनेके लिए, अपना ज्ञानबल चरित्रबल बराबर बना रहे और विषयकषायोंमें मन न जाय, ऐसा तपश्चरण बना रहे इसके लिए शरीरकी रक्षा करना है। शरीरकी रक्षा करनी है, ठीक है, फिर भी अपने प्रयोजनको नहीं भूलना है। जितना भी बन सके शुद्ध आचरणमें, शुद्ध खान-पानमें, शुद्ध चर्यामें अपनेको लगाना चाहिए। अपना समय यहां-वहां जो व्यर्थकी गप्पों-सप्पोंमें व्यतीत होता है वह भला नहीं है। समय बड़ा अमूल्य है। जो गुजर जाता है वह फिर नहीं मिल सकता है। जो वर्तमान समय मिला है उसका सदुपयोग करें। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चरित्र और सम्यक्‌तपकी आराधना करें।

तपश्चरणका लाभ—तपश्चरण भी बेकार चीज नहीं है। शरीरका क्लेश भी एक तप बताया गया है, पर शरीरके क्लेशके साथ आत्मामें क्लेश नहीं होना चाहिए। अनशन चल रहा है अथवा रस परित्याग चल रहा है, शुद्ध भोजनके नियमके कारण रूखा-सूखा ही खानेको मिल रहा है, ये सब आनन्दकी बातें हैं, क्लेशकी बातें नहीं हैं। दूसरोंको दिखता है कि बड़ा क्लेश भोग रहे हैं, पर वहां तो रंच भी क्लेश नहीं है। धर्मपालनके अवसरमें जो उपयोगका केन्द्रीकरण होता है उससे आनन्दकी तृप्ति रहती है। अतः समस्त तृप्तियोंका मूल कारण जो शुद्ध कारण परमात्मतत्त्व है उसमें अपने उपयोगको बसाये रहना है। अन्तर्मुख होकर उस परमात्मतत्त्वमें अपना प्रतपन करना है, यही परम तपश्चरण शुद्धनय प्रायश्चित्त है, जो अपराधोंको दूर करनेमें समर्थ है।

संतोंके उपदेशोंका सार—समस्त देशनाओंका सार इतना है कि हम सदा अपने आपको शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावरूप स्वीकार किया करें, इसमें भूल न होने दें। परिस्थितिवश कुछ भी घटना हो जाय, पर

अपने आपकी श्रद्धामें भूल न हो सके, तो भूलकी क्षमा भी जल्दी हो जायेगी, परन्तु अपने स्वरूपकी यथार्थ श्रद्धा न रखें, उल्टी श्रद्धा करें तो वहाँ उसकी माफी नहीं हो सकती। भैया ! उसके ज्ञानमें प्रसिद्ध है वह शुद्ध कारणपरमात्मतत्त्व, जिसने वस्तुस्वरूपका चिंतन किया है, जिसने गहरे पानीमें बैठकर खोजा है उसे वह चीज मिली है और जो पानीसे डरकर बाहर रहा करता है उसे वह तत्त्व नहीं मिलता।

उभय कर्म और उनके विलयका उपाय—यह जीव अनादिकालसे शुभ अशुभ कर्मोका संचय करता चला आया है, वे कर्म द्रव्यरूप और भावरूप हैं। कर्म नाम वास्तवमें आत्माकी शुभ-अशुभ क्रियावोंका है। क्रियते इति कर्म। जो किए जायें वे कर्म कहलाते हैं। आत्माके द्वारा मोह, रागद्वेष, विषयकषाय, दान, दया, उपकार आदिक परिणाम किये जाते हैं, इन परिणामोंका नाम कर्म है। इसमें कोई शुभ और कोई अशुभ कर्म होते हैं। अब इन कर्मोंके होनेसे जो अन्य द्रव्योंमें बाध हो जाती है, कार्माणवर्गणामें कर्मत्व रूप आ जाता है उन ज्ञाना वरणादिक प्रकृतियोंको भी कर्म कहने लगते हैं। यह कर्म नाम उपचारसे है। पौद्गलिक कार्माणवर्गणावोंका जो कर्म नाम पड़ा है वह वास्तविक नाम नहीं है, उनका कर्म नाम उपचार से है लेकिन उनका उदय, उनकी प्रवृत्ति इस जीवके बन्धनमें निमित्त हो रही है, इस विशेषताको मना नहीं कर सकते। यों द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप जो शुभ-अशुभ कर्मोंका समूह है वही पाचों प्रकारके संसारोंको बढ़ानेमें समर्थ हो रहा है। द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन ये ५ संसार हैं। इन संसारोंको बनानेमें समर्थ ये द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप पुण्य-पाप हैं। ये सब इस परम तपश्चरणके प्रसादसे बिलयको प्राप्त हो जाते हैं।

अशुद्ध परिणामोंमें पापपना—भैया ! पुण्यफलको पाकर हर्ष न मानना और पापफलको पाकर विशाद न मानना, यह सम्यग्दृष्टि पुरुषमें ही हो सकता है। साधुजनोंके पास कहां कुछ धनवैभव होता है ? उनके पास तो खाने पीने तकका भी कुछ साधन नहीं है फिर भी प्रसन्न रहा करते हैं। ये संसारी लोग तो धन-वैभवके न होने पर पापका उदय समझने लगते हैं। यदि धन-वैभवके न रहनेको पापका उदय कहा जाय तो इन साधु-संतोंको फिर पापका उदय ही मानना चाहिए, क्योंकि कहां उनके पास धन वैभव है ? धन-वैभवसे पापका उदय न कूतना चाहिये, किन्तु अशुद्ध विचार सक्लेशपरिणाम, मोह रागद्वेषका अंधेरा ऐसी परिस्थिति हो उससे पापका उदय कूतना चाहिए।

पापके विनाशका तात्कालिक स्वाधीन उपाय—साथ ही यह भी बात है कि जो इष्ट है वह न मिले तो भी पाप उदय माना जाता है। अरे ! धन रहता है तो रहे, नहीं रहता है न रहे, उससे पापका उदय नहीं है। पापका उदय यदि मिटाना है तो उसमें इष्ट बुद्धिकी कल्पना छोड़ दो, पाप अपने आप खत्म हो जायेगा। पाप इष्टकी बाधाको कहते हैं, पाप अनिष्टके संयोगको कहते हैं। इस जीवके लिए कोई भी बाह्य पदार्थ अनिष्ट नहीं है। जो जैसा है, परिणमता है, वह मेरे लिए अनिष्ट क्या है, पर कल्पनामें जब अनिष्ट बनाते हैं तो वही अनिष्टका सयोग पापका उदय होता है। यह पापका उदय मिटाना है तो परपदार्थको अनिष्ट माननेकी कल्पना त्याग दो, पापका उदय स्वयं नष्ट हो जायेगा। ये सब शुभ-अशुभ कर्मसमूह परमतपश्चरण अथवा भावशुद्धिके बलसे विलयको प्राप्त हो जाते हैं। इस कारण जो अनन्त भवोंमें अपराध किया है उन सब अपराधोंको दूर करनेमें समर्थ एक प्रायश्चित्त है।

भावशुद्धिरूप परमतपश्चरणका सामर्थ्य—यह शुद्ध उपयोगरूप परमतपश्चरण ही प्रायश्चित्त है। यह यह परमतपश्चरण, यह उपयोग अपने आत्मामें ही मिला करता है। परम तत्त्व है आत्माका शुद्ध ज्ञायकस्वरूप। उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्वमें उपयोगको तपाना, उपयोगको बनाये रहना, ऐसी जो चर्या है, वृत्ति है उसे कहते हैं परमतपश्चरण। ऐसा यह भावशुद्धि नामक परमतपश्चरण ही इस जीव

का उद्धार करनेमें समर्थ है और संसारके समस्त संकटोंको सदाके लिए दूर करनेमें समर्थ है। शुद्धनय प्रायश्चित्तरूप है। इन शुभ अशुभ कर्मोंके क्षयके लिये और दूसरा कुछ भी काम नहीं पड़ा है। एक यह अंतस्तत्त्वस्वरूप प्रायश्चित्त ही उन कर्मोंको क्षय करनेमें समर्थ है। संत लोग इसे ही तप कहा करते हैं।

अन्तस्तपश्चरणका अपूर्व लाभ—चिदानन्दस्वरूप आत्मा चिदानन्दरसके अमृतके पान करनेसे तृप्त बना रहता है। तपश्चरण क्लेशके लिये नहीं होता, किन्तु शुद्ध आनन्दको लिये हुए होता है। जिन पुरुषों को शुद्ध आनन्दकी खबर नहीं है वे पुरुष तपश्चरणको इन्द्रिय सुखोंमें बाधक जानकर क्लेशका रूप देते हैं, परन्तु सच्चा तपश्चरण वही है जहां शुद्ध अमृत रसके पानसे तृप्ति बनी रहती है। यह कर्मोंके विकट वनकी विभावरूप अग्नि ज्वाला, रागद्वेष मोहकी वृत्ति, वस्तुस्वरूपके विपरीत धारणा अनादिकालसे बढती चली आ रही है, उसको बुझानेमे समर्थ यह शुद्ध कारणसमयसारका उपयोग है। यही सघन मेघ है। इनकी वर्षा ही इस विषयज्वालाको बुझानेमे समर्थ है। यह तपश्चरण मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिए भेंट है। जैसे किसी महापुरुषसे मिलनेके लिए भेट रखी जाती है। तो उस मोक्ष-लक्ष्मीसे मिलनेके लिए क्या भेट होनी चाहिये ? यह है तपश्चरण। यही कर्मोंका क्षय करने वाला प्रायश्चित्त है। इस अपने आपके शुद्ध स्वरूपके उपयोगसे ससारके समस्त संकट दूर होते है।

अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं।
सक्कदि काउं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं ॥ ११६ ॥

विभावापराधके परिहारमे समर्थ आत्मध्यानरूप प्रायश्चित्त—यह शुद्धनय प्रायश्चित्तका अधिकार है। इसमें वास्तविक प्रायश्चित्त बताया है। कोई अपराध हो जाय तो उस अपराधको दूर करनेके लिए प्रायश्चित्त ही समर्थ है। जब तक अपराधोंका प्रायश्चित्त नहीं किया जा सकता है तब तक अपराध दूर नहीं होते। व्यवहारमें तो गुरुवोंसे अपना कसूर बता दिया निष्कपट भावसे जैसाका तैसा और गुरुवोंने जो आदेश दिया उसका पालन किया, यह प्रायश्चित्त है, पर परमार्थसे प्रायश्चित्त अपने आपमें विराजमान् उन स्वरूपका दर्शन करना है जिसमें अपराधका स्वभाव ही नहीं है। अपराध मिटानेके लिए निरपराध आत्मस्वरूपका उपयोग करना और उस शुद्ध आत्मस्वरूपके देखनेमें मग्न हो जाना, यह है वास्तविक प्रायश्चित। आत्माके स्वरूपके अवलम्बनके परिणामसे समस्त दोषोंका परिहार करनेमें यह जीव समर्थ होता है। इसलिए वास्तवमें जो आत्माका ध्यान है वही सब कुछ है।

आत्मध्यानकी सर्वसिद्धिरूपता—किसीको शांति चाहिये तो वह शान्ति भी यही है कि सर्व बाह्य विकल्पोंको त्यागकर अपने स्वरूपका आलम्बन करना, यही शान्तिका स्वरूप है। गुणविकास चाहिए तो उसका भी यही उपाय है कि गुणोंका सागर जो अपना स्वरूप है उस स्वरूपका आलम्बन कर लें। सब सिद्धि इस ही स्वरूपमे बसी हुई है, बाहर कहीं कुछ सिद्धि नहीं है। यह बाह्य पदार्थोंका धनवैभवका समागम भी यदि मिलना है तो यह अपने स्वरूपकी उपासनाका किसी अंश तक फल है। कोई आत्मा मलिन है, क्रूर है, पापी है, उसकी स्थितियां संसारमें बुरी हुआ करती हैं। कोई पुरुष शुद्ध विचार वाला है, कषायोंको नहीं करने वाला है, मंदकषायी है और व्रत, तप, दान, दया सबमें जिसकी परिणति है, भोगों से विषयोंसे उदासीन है, वह पुरुष नियमसे अच्छी गति पाता है।

निश्चयधर्मध्यानमे गमन—भैया ! वर्तमानमें कुछ भी उपसर्ग आये, कोई भी विपदा आये, उसमे घबराये नहीं, धैर्य रखे और एक निर्णयके साथ कि मुझे तो मेरे स्वरूपका आलम्बन ही शरण है, बस आत्मस्वरूपकी उपासनामें लग लिया जाय, यही हम आप सबका करने योग्य पुरुषार्थ है। इसमे शुद्ध निश्चयके नियमका वर्णन है। नियमोंमें सर्वोपरि नियम यह है कि सर्वविकल्पोंका परिहार करके अपने इस शुद्ध ज्ञानज्योतिमात्र आत्मस्वरूपमें मग्न हो जायें। इसमें सब नियम आ गये। भिन्न-भिन्न और

कुछ नियमोंके यहां विकल्प करनेकी आवश्यकता नहीं है। बाहरमें जितने भी नियम किये जाते हैं वे सब इस अन्तःस्वरूपमें उपयोगको नियमित, निश्चित, स्थिर बनानेके लिए किए जाते हैं। इसमें अपने आत्माके आश्रय होने वाले निश्चय धर्मका समावेश है। विकल्प हटाकर केवल ज्ञानप्रकाशका अनुभव करना यह है निश्चय धर्मध्यान। यह धर्मध्यान समस्त विभावोंको दूर करनेमें समर्थ है। जो जीव अपने आपके चैतन्यस्वरूपकी भावना करते हैं, जो चैतन्यस्वरूप समस्त परद्रव्योंसे न्यारा प्रकाशमान् है उस पुरुषके विभाव ठहर नहीं सकते। देहमें रहते हुए भी ऐसा उपयोग बनाना चाहिए कि देहकी याद भी न रहे और साथ ही बाहरमें किसी भी पदार्थकी याद न रहे।

मोहके विकल्प--मोही जीवके कभी-कभी ऐसा तो हो जाता है कि अपने देहकी भी याद नहीं रहती, किन्तु देहसे भी विकट जो परद्रव्यका वियोग है वह हो जाता है। जैसे गायका बछड़े पर बहुत मोह रहता है। बछड़ा यदि बड़ी भयंकर विकट नदीमें गिर जाय तो वह गाय भी अपने शरीरका ध्यान नहीं रखती और उस बछड़ेके मोहमें उसके पास पहुंचनेके लिए कूद जाती है। तो देहका ध्यान तो उसे भी नहीं रहा, किन्तु ऐसा खोटा ध्यान, रागभरा ध्यान, मोहभरा ध्यान उसके हुआ कि देहसे भी विकट बन गया। यों ही विषयोंके साधन जुटानेमें मोही पुरुष अपने देहकी भी खबर नहीं रखते हैं, लेकिन वे परपदार्थोंके प्रति आसक्ति तो रख रहे हैं, और ऐसा भी नहीं है कि उन्हें देहका ध्यान नहीं है। भीतरमें, वासनामें, संस्कारमें देहकी आत्मीयता बराबर पड़ी हुई है। यदि देहमें आत्मीयता न होती तो बाहरके विषय-साधनोंमें भी वे जुटे न रहते।

प्रत्यग् ज्योतिका आश्रय--जो जीव देहसे भी भिन्न अपने स्वरूपका उपयोग रखते हैं वे विषय-साधनों से सहज ही विरक्त रहा करते हैं। अपने आपके स्वरूपको देखो, आत्माको जानने वाला, देखने वाला है वह किसी रंगमें नहीं हुआ करता है। मेरे आत्माका रंग काला हो, पीला हो, नीला हो किसी प्रकारके रंगका हो यह जानन परवस्तुमें नहीं होता है। इस जानने वाले, इस ज्ञातास्वरूप आत्मतत्त्वमें किसी प्रकार का रस नहीं है। यह तो आकाशकी तरह अमूर्त निर्लेप है, सबसे न्यारा है, किसीसे रंच भी सम्बन्ध नहीं है, उसमें खट्टा, मीठा, कड़ुवा, कषायला किसी भी प्रकारका रस नहीं है, न गन्ध है, न छुवा जा सकता है, यह तो आकाशकी तरह अमूर्त किन्तु अपने ज्ञानादिक गुणोंका आधारभूत चैतन्यतत्त्व है। समस्त परद्रव्योंसे स्वभावतः न्यारा है, ऐसे स्वरूपकी यदि खबर हो जाय तो तीन लोकका वैभव भी इस धनके आगे न कुछ चीज है। अपने इस स्वतंत्र आत्मतत्त्वकी जिन्हें खबर नहीं है वे करोड़ोंकी सम्पदा भी रखे हों तो भी दीन हैं, गरीब हैं, भिखारी हैं, संसारके जन्म-मरणके बढ़ाने वाले हैं।

धर्मरत्न—सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ रत्न है यह कि अपने आपके शुद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाय, यह आत्मतत्त्व समस्त परद्रव्योंसे स्वतः ही जुदा है, अकृत्रिम है, किसी भी प्रसंगमें आत्माका खण्ड नहीं हो सकता। आत्मामें बाधा नहीं आ सकती। इसका विनाश नहीं हो सकता। यह आत्मा अमूर्त है, निर्दोष है, अखण्ड है, सदा प्रकाशमान् है, आत्माके स्वरूप पर कोई आवरण नहीं है, परन्तु देखने वालेको दिख सकता है। ज्ञानीके लिए यह आत्मदर्शन व्यक्त है, अज्ञानीपर तो आवरण अज्ञानका छाया ही है। यह बात कही जा रही है पूरा जिससे पड़ सके ऐसे पतेकी। भगवानके दर्शन पूजन करनेका यही लक्ष्य है कि आत्म-दर्शन हो। यह चीज न पायी तो वह दर्शन पूजन भी बेकार रहा। यदि आत्मस्वरूपका अनुभव न कर सके तो उस भजन-पूजनका भी लाभ न प्राप्त कर पाया। तत्त्वज्ञानकी बात मिलना बहुत दुर्लभ बात है। इस ज्ञानके आगे तीन लोकका भी वैभव न कुछ चीज है।

आन्तरिक धर्मके अभावमें धर्मफलका अभाव--ऐसे लोग भी जो ज्ञानमें अब भी बच्चे जैसे हैं। धर्म पालनके लिए बहुत श्रम कर रहे हैं, पूजा, भक्ति, यात्रा, समारोह, विधानादि और द्रव्य भी बहुत खर्च

करते हैं, परन्तु यदि वहाँ भी वास्तवमें धर्म करता होता तो धर्मकी बात पढने-सुननेमें इसे रुचि क्यों नहीं जगती ? यदि धर्मकी बात माननेकी रुचि नहीं जगती है तो यह निर्णय करना कि सब परिश्रम जो धर्मके नाम पर किए जा रहे हैं उनका उद्देश्य ही प्राप्त नहीं हो सका और वह धर्मकी श्रेणीमें नहीं है। भले ही तन, मन, धन, वचन, सब कुछ भी धर्मके लिए किया जा रहा है, लेकिन वहाँ न एक भी कर्मका क्षय हो सकता, न बंध रुक सकता है। हाँ, कभी इतना अन्तर आ सकता है कि शुभ परिणाम होनेसे अथवा तीव्र कषाय न रहनेसे उसके पापबंध कम होगा। प्रथम तो यह भी निश्चित नहीं है कि पूजा करते हुए में पुजारीके तीव्र कषाय न रहे। हाँ, एक मंदिरके स्थानमें पहुंचा है इसलिए लड़ाई करनेको उसे कोई नहीं मिल रहा है तो लड़ाई तो नहीं कर रहा है, किन्तु हरदम उसने विषयसाधनोंकी ओर दृष्टि की है, मेरी सम्पदा बढ़े, मेरा घर सुखी रहे, यदि किसी प्रकारकी वासना लगायी है तो वह तीव्र कषाय है, इसको ही अनन्तानुबंधी लोभ कहते हैं। धर्मके नाम पर धर्म करते हुए विषयोंके प्रति लोभ पहुंचना, यह अनन्तानुबन्धी लोभ है। तीव्र कषाय ही तो हुई। कषायें भी तो वहाँ मंद नहीं हो सकीं, जिसने अपने आप मे विराजमान् इस कारणप्रभुको नहीं निरखा है।

चैतन्य परमप्रभुकी उपासनाका प्रताप--निरावरण सहज परमपारिणामिक भाव चैतन्यस्वरूपकी उपासना ही परमशरण है। उसकी उपासनासे अन्य भावोंका विलय हो जाता है। जीवके भाव ५ हैं— औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। इनमेंसे निरपेक्ष शुद्ध तत्त्व है पारिणामिक चैतन्यस्वरूप। उस चैतन्यस्वरूपका अवलम्बन करनेसे यदि उपशमन पद्धति बने तो औपशमिक भाव प्रकट होता है और क्षयण पद्धति बनती है तो क्षायिक भाव प्रकट होता है। इस तरह शेषके चार भावोंमें ये औपशमिक और क्षायिक दो भेद निर्दोष भाव हुए, दोषोंको हटाकर प्रकट होने वाला भाव हुआ, क्षायोपशमिक है कुछ दोषोंका हटा होना, कुछ दोषोंका ग्रहण होना, ऐसा मिलवां भाव है और औदयिक भाव तो बिल्कुल ही दोषोंको प्रकट करने वाला भाव है। ये चारों ही भाव सापेक्ष भाव हैं जिनमे औदयिक तो पूर्ण विभाव है, क्षायोपशमिक भाव विभाव और स्वभावका एक मध्यमरूप है। औपशमिक भाव, क्षायिक भाव यद्यपि स्वभाव भावको प्रकट करने वाले हैं फिर भी सापेक्ष हैं। कर्मोंके उपशमसे औपशमिक और क्षयसे क्षायिक भाव होता है। उत्कृष्ट, विशुद्ध, एकपंचम परमपारिणामिक भाव है जिसका आलम्बन करनेसे इन चारों भावोंका भी परिहार हो जाता है। राग, द्वेष, मोह इनका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

अत्यासन्न भव्यात्मा--इन विभावोंका विनाश करनेमें समर्थ अतिनिकट भव्य जीव जिसको संसारके संकटोंसे छूटनेका अवसर आया है उसे ही इस धर्मकी रुचि हो सकती है। वास्तविक धर्म अपना स्वभाव है। शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपकी रुचि उस जीवके ही प्रकट होगी जिसका संसारसे छूटना निकट है, मुक्तिकी प्राप्ति निकट है। ऐसे आसन्न भव्य जीव एक इस आत्माके स्वरूपका आलम्बन करके इस समस्त पापरूप जंगलको जला डालता है। वह जाज्वल्यमान् ऐसी अग्नि है कि जिसके समक्ष ये पाप ठहर नहीं सकते, भस्म हो जाते हैं।

सम्यक् परम निर्णय--जो आत्मा अपने स्वरूपका अभ्यास करते हैं उन्हें सिद्धि होती है। अपने आपमें यह निर्णय रखिये कि मुझे सब कुछ मिल सकेगा तो निज परमात्मप्रभुकी उपासनासे मिल सकेगा। जगतके मोही, रागी, द्वेषी जीवोंकी क्या अपेक्षा करना ? श्रद्धान निर्मल बनाओ। निर्मल श्रद्धान यही है जो अंतरंगमें एक यह निर्णय रहना है कि मेरा भला, मेरी शरण, मेरे शुद्ध स्वरूपका आलम्बन है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ न भला है, न शरण है। मेरे लिए अपने आपके स्वरूपका आलम्बन करना कर्तव्य है, यही शुद्धनय प्रायश्चित्त है।

आत्मध्यानसे व्रतोंकी पूर्ति—यह आत्मध्यान सभी प्रकारका तपश्चरण है। पंच महाव्रतोंकी पूर्ति इस

आत्मध्यानसे होती है। हम जीवोंकी दया-दया तो करते रहें और जीवका जो यथार्थ स्वरूप है, उसका भान न रहे तो उसने संसारका भ्रमण तो नहीं मिटाया तो वास्तवमें उसके अहिंसाकी पूर्ति नहीं हुई। यों ही शेषके चार व्रतोंकी भी यही बात है। कोई खूब सत्य बोले, चोरी न करे, ब्रह्मचर्य पाले, घरबार, कुटुम्ब परिजन, पैसा वस्तु सबका त्याग करके निर्ग्रन्थ रूप भी रख ले, किन्तु यदि आत्मस्वरूप की खबर नहीं, अपने इस सहजस्वरूपकी खबर नहीं है, अपने इस सहजस्वरूपका अनुभव न हो तो ये सब व्रत भी वास्तवमें व्रत नहीं कहला सकते। वास्तविक उनकी परमार्थ पूर्ति नहीं होती। यदि एक आत्मस्वरूपका बोध हो, उसका आलंबन हो तो उसकी पूर्ति हो जाय, यों इस आत्मध्यानमें ही महाव्रतरूप तपश्चरण होता है।

आत्मध्यानमे समितियोंकी पूर्ति— समितियां भी इस आत्मस्वरूपके आलम्बनसे सम्बन्ध रखती हैं। सूत्रजी में पढ़ा होगा, पंचमहाव्रतोंको तो बताया है कि ये आस्रव करने वाले हैं, कर्मबन्ध करने वाले हैं। कौनसे कर्मका, पुण्यका, सुकृतका, पापकर्मका नहीं। महाव्रतोंका पालन करने से पुण्यका बंध होता है, पर समितियों का पालन करने से कर्मोंका बंध रुकता है, निर्जरा होती है। अब कुछ सुननेमें अटपटसा लग रहा होगा। व्रतोंका पालन तो बैठे-बैठे किया जा रहा है, किन्तु समितिका पालन तो कुछ काम करें तब होता है। ईर्यासमितिसे चलें, भाषासमितिसे बोलें, आहारके लिए एषणासमितिसे जायें, चीजों को धरें, उठायें तो आदान-निक्षेपणसमितिसे धरें उठायें। मल-मूत्र की भी प्रतिष्ठापनासमितिरूप पद्धति है। इन समितियों रूप काम करें तब समितियोंका पालन होता है, परन्तु ज्ञानी जीवको वह कौनसा प्रकाश जगा है जिस प्रकाशके कारण इन समितिरूप वृत्तियोंमें भी सम्वर भाव और निर्जरा भाव चल रहा है? वह है इस आत्माके उज्ज्वल सहजस्वरूपकी दृष्टिरूप सिद्धि।

समितियोंकी तरह गुप्ति आदिकी भी पूर्ति आत्मध्यानमे — इस आत्मस्वरूपके अवलम्बन सहित अपने आपमें सत्य-प्रवर्तन करने वाला, अपने ही स्वभावका ग्रहण और अपने ही विभावका निक्षेपण करने वाला और अपने आपको अपने आपमें ही प्रतिष्ठित करने वाला यह अध्यात्मयोगी बाहरी प्रकृति भी कर रहा है तब भी कर्मोंका सम्वर चलता है। यों समितियोंकी पूर्ति जैसे अपने ही सहजस्वरूपके अवलम्बनमें होती है, ऐसे ही गुप्ति मन, वचन, कायको रोक दें यह भी आत्मध्यानमें बनता है। प्रत्याख्यान वस्तुओं का परित्याग करनेमें, आत्मध्यानमें ही हो पाता है। ये प्रायश्चित्त आलोचना आदिक समस्त प्रकारके तपश्चरण इस आत्मस्वरूपके अवलम्बनसे बनते हैं। इस कारण यह आत्मध्यान ही सब कुछ है। सुख, ज्ञान, हित, कल्याण सब सिद्धि आत्माके ध्यानसे ही है। जो पुरुष स्थिर भावसे इस ज्योतिके दर्शनके द्वारा राग द्वेष मोह अंधकारका विनाश कर देते हैं, जो अनादि अनन्त शाश्वत सहजस्वरूपका आलम्बन किए हैं, जिस पुरुषने इस आनन्दस्वरूप ज्योतिका ही उपयोग किया है, ऐसा यह शुद्ध आत्मा शुद्ध आचरणका पुञ्ज है।

शुद्धाचारस्वरूप अध्यात्मा — सब सदाचारोंमें श्रेष्ठ आचार केवल एक यह ज्ञानस्वरूपमें मग्न होना है। ज्ञानस्वरूपके मग्न होने पर फिर कौनसा आचरण बाकी रह गया? उसने समस्त आचार कर लिये। ऐसा यह शुद्ध आचरणका पुञ्ज इस आत्मध्यानके प्रतापसे शीघ्र संसारसे मुक्त हो जाता है। इस संसार में यदि कुछ सोने चाँदीके टुकड़े मिल गये। इनसे इस आत्माका क्या भला हो सकता है? ये तो इस आत्मासे भिन्न हैं। अचानक ही किसी दिन मरण कर गए तो सब कुछ यहीं पड़ा रह जायेगा। जो पुरुष अपने जीते जी उदारता प्रकट करते हैं और त्यागकी भावनाका प्रयोग करते हैं वे अपने आपमें एक ज्ञान वैराग्यका धन ले करके जा रहे हैं। उन्हें अगले भवमें भी जब तक संसार शेष है तब तक वैभवका समागम मिलता रहेगा और जो यहाँ के वैभवकी तृष्णा रखते हैं, ऐसे पुरुषोंको आगे वैभव नहीं मिल सकता है। वे तो न जाने कैसी दुर्गतिमें जायेंगे?

परम लाभ—भैया! इस ज्ञान वैराग्यसे इस आत्मस्वरूपके आलम्बनसे इस भवमें भी आनन्द वरसता है और परभवमें भी आनन्दका समागम होता है। इस कारण प्रत्येक प्रयत्न करके अपने तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके एक इस सहज शुद्ध ज्ञानानन्दमय आत्मस्वरूपका आलम्बन करना चाहिए, और इस परमशरणकी प्राप्तिके लिए ज्ञानार्जनमें अपना चित्त लगाना चाहिए। जो कुछ भी प्राप्त हैं वे सब भी न्यौछावर हो जाएँ और एक यथार्थ तत्त्वज्ञानका अनुभव हो जाय तो उसने सब पाया। हम अरहंत सिद्धके स्वरूपको क्यों पूजते हैं? क्या उनके पास कुछ धन है? अरे! उनके ये बाह्य वैभव धन नहीं हैं, किन्तु आत्मीय ज्ञानानन्दकी निधि उनके पूर्ण प्रकट हुई है, इसलिये वे पूज्य हैं, धन्य हैं, कल्याणार्थियोंके उपास्य हैं।

सु असुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा॥ १२०॥

निश्चय नियम और इसका अधिकारी—जो पुरुष शुभ-अशुभ वचनोंका परित्याग करके रागादिक भावोंको दूर करके आत्माका ध्यान करता है उसके नियमसे नियम होता है। नियमका अर्थ है रत्नत्रय। जो भाव आत्माको आत्मामें नियत कर दे, गढ़ा दे उसे नियम कहते है। आत्मनियन्त्रणका नाम नियम है। आत्माके ज्ञानमें यह आत्मा मग्न हो जाय, किसी प्रकारका विकल्पजाल न उठे इसका नाम नियम है। इस गाथामें शुद्ध निश्चयनय नियमका स्वरूप कहा गया है।

नियमसे कर्मनिर्मूलनका सामर्थ्य—जो परम तत्त्वज्ञानी, भव्यपुरुष, महान् तपस्वी चिरकालसे संचित चले आए हुए सूक्ष्म कर्मोंके दूर करनेमें समर्थ है, निश्चयप्रायश्चित्तमें कुशल है उस पुरुषके नियम होता है। जीवके साथ जो रागद्वेष भाव लगे हैं इनका तो नाम भावकर्म है और उन रागद्वेषादिक भावोंका निमित्तभूत जो कर्मोंका उदय है उसका नाम द्रव्यकर्म है। भावकर्म तो रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित है, सो सूक्ष्म है। यह अमूर्त होकर भी उपचारसे मूर्त कहलाता है और जो साथमें लगे हुए ८ तरहके कर्म हैं वे कर्म भी सूक्ष्म हैं। जीवके मरणके बाद वे आठों कर्म साथ जाते हैं, न वज्रसे अटकते हैं, न कांचसे अटकते हैं इतने सूक्ष्म हैं। ये सूक्ष्मकर्म चिरकालसे इकट्ठे हुए चले आये हैं, उन कर्मोंको दूर करनेमें समर्थ निश्चय प्रायश्चित्त है। निश्चयप्रायश्चित्त कहो या निश्चय नियम कहो अथवा सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रके साधन कहो, एक ही बात है। रत्नत्रयमें ही यह सामर्थ्य है कि भव-भवके संचित सूक्ष्म कर्मोंका विनाश कर दे।

नियमी पुरुषके मन वचन कायका नियन्त्रण—उन कर्मोंके विनाश करनेमें कुशल परमतत्त्वज्ञानी जीव समस्त वचन रचनाका निवारण करते हैं। उनके मन, वचन और काय नियमित हैं। वे अपने मनको स्वच्छन्द नहीं प्रवर्ताते हैं। जो आत्माके हितका कारण है ऐसे भावमें ही अपने उपयोगको लगाते हैं। वे अपने वचनोंको अनाप-सनाप नहीं प्रवर्ताते हैं। किन्तु जिन वचनोंमें आत्महित भरा है, जो वचन आत्माको संसारसे छुटाने वाले वचन हैं उन वचनोंका तो हमें कुछ आदर रखना है और शेष वचनोंका परिहार करना है। योगी पुरुष शरीरसे भी वही चेष्टा करेगा जो मोक्षमार्गकी साधनाके लिए किसी परिस्थितिमें आवश्यक है। शेष अनाप-सनाप शरीरकी चेष्टाएँ भी न करेगा। यों मन, वचन, कायको जिसने नियमित किया है ऐसा भव्य पुरुष समस्त वचन रचनावोंका निवारण करता है। ये वचन कोई शुभ हैं कोई अशुभ। चाहे शभ हों चाहे अशुभ, पर संसारके बढ़ानेके ही कारण हैं। मोक्षमार्गके वचनोंमें तो इसलिये मोक्षमार्गके बढ़ानेकी बात कही जाती है कि इस ज्ञानीका आशय हित ग्रहण करके उन वचनोंसे भी छुटकारा पानेका है। यों समस्त वचनरचनाका जो निवारण करता है उस पुरुषके यह नियम होता है, रत्नत्रय बनता है।

विभाववारणसे अध्यात्मयोगका प्रकाश—अध्यात्मयोगी केवल वचनरचनाका ही परित्याग नहीं करता

है, किन्तु वचनविषयक सर्व प्रकारके राग द्वेष मोह भावोंका तथा समस्त रागद्वेष मोह भावोंका निवारण करता है। यह जीव स्वयं सहज परमात्मा है। इसमें ज्ञान और आनन्दका स्वरूप ही बना हुआ है, किंतु अपने ज्ञानानन्दस्वरूपकी खबर न रहने से यह जगतके बाह्य वैभव की आशा लिए फिरता है। उन रागादिक भावोंका जो निवारण कर सकता है, यह आनन्दनिधि आत्मतत्त्वसे भेंट कर लेता है।

अखण्ड आत्माका मात्र प्रतिपादन व्यवहारके लिए खण्डीकरण— ज्ञानी पुरुषके शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिका बहुत बड़ा बल है। किसी इष्ट पदार्थका संयोग अथवा वियोग होनेसे उसके चित्तमें धैर्य रहता है। इसका कारण यह है कि उसने सबसे न्यारे अपने निज तत्त्वको निरखा है। यह आत्मा अखण्ड है, इसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका खण्ड नहीं होता है। जो भी जब पर्याय होती है वह अपने समयमें पूर्ण है और एक है। इसमें जो भाव है वह एक है, अद्वैत है, अखण्ड है। यह तो एक समझानेके लिए भेद किया जाता है कि आत्मामें ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है, चारित्र गुण है, आनन्द गुण है। ये गुण कुछ अलग-अलग वस्तुयें नहीं हैं, अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं, किन्तु जैसा एक स्वरूप है, आत्मा है उस एक-स्वरूप आत्माका परिचय कराने के लिए अखण्ड अद्वैत स्वलक्षणमें भेद करके बताये जाने की सतों की पद्धति है। यह आत्मा अखण्ड है, अद्वैत है। इसमें निरन्तर आनन्द झरता रहता है। यह आत्मा किसी भी बाह्य पदार्थका आश्रय न करे, केवल एक निज तत्त्वका आश्रय ले तो इसमें से आनन्द झरता है।

आत्मतत्त्वकी निरुपमता— सहज आनन्दको उत्पन्न करने वाले इस आत्माकी उपमा लोकके किन्हीं पदार्थोंसे भी नहीं की जा सकती है। यह आत्मा अनुपम है, चेतन है, इसके सिवाय बाकी समस्त पदार्थ अचेतन हैं। उसकी सानीका कौनसा तत्त्व होगा? यद्यपि समस्त पदार्थ अपने-अपने सत्त्वमें हैं, न्यारी-न्यारी सत्ता रखते हैं, फिर भी सबकी व्यवस्था करने वाला, सबको जानने वाला यह आत्मा ही है। कल्पना कर लो कि सब कुछ होते, पुद्गल होते, धर्मादिक द्रव्य होते, एक जीव भर न होता तो कौन सत्ता जानता? किसके लिए वह सत्ता थी? प्रथम तो यह बात है। यदि जीवतत्त्व न होता तो यहा कुछ भी न होता। जो कुछ दीख रहे हैं भीत, चौकी, पत्थर इत्यादि ये सब यों ही नहीं हो गये। ये पहिले पृथ्वीकाय थे, वनस्पतिकाय थे। जीवके सम्बन्धसे उनके कायकी रचना हुई है। जीव न हो तो अंकुर कैसे बने, वृक्ष कैसे बने और फिर ये दृश्यमान् पदार्थ कैसे हो जाते? जो कुछ भी दीख रहे हैं ये सब भी पहिले जीव थे। कंकड़ पहिले पृथ्वीकायमें था, चौकी, बेंच आदि ये वनस्पतिकायके जीव थे। ये कपड़े वनस्पतिकायके जीव थे। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो पहिले जीव न रहा हो। इससे यह निर्णय करना कि जीव न होता तो कुछ न होता, सो यह जीव तत्त्व अनुपम है, इसकी उपमा किसी पदार्थसे नहीं की जा सकती है।

आत्मतत्त्वकी निरञ्जनता— यह मेरा आत्मस्वरूप चैतन्य भाव जिसका आश्रय करने से धर्म होता है वह निरञ्जन है। अपने सत्त्वके कारण केवल अपने स्वरूपमें है। इसमें कर्म इसकी सत्ताके कारण नहीं लगे हैं। इसमें यह शरीर जीवके सत्त्वके कारण नहीं लिपटा है। जीव अब भी अपने स्वरूपमें केवल है। इसमें बाह्य पदार्थका सम्बन्ध है, तिस पर भी जीव अपने स्वरूपको नहीं छोड़ सकता है। ऐसा यह आत्मतत्त्व निरञ्जन है। यह मैं ऐसा कारणपरमात्मतत्त्व हू। इस परमात्मतत्त्व की जो पुरुष नित्य भावना करते हैं, ऐसा ही अनुभव रखते हैं, मैं मात्र कारणसमयसार हू, इस प्रकारकी जो पुरुष अपनी श्रद्धा रखते हैं उनके नियमसे शुद्ध निश्चय नियम होता है।

इस लोकमें मेरा कहीं कुछ कारण नहीं है। जिस पदार्थकी ओर अपना उपयोग दौड़ायें वह पदार्थ भिन्न ही है ना, इस कारण उसका आश्रय तो धोखा ही देने वाला होता है। बड़े-बड़े पुण्यवान् जीव इसी बात पर हार गए हैं। कितने हो बादशाह ऐसे हुए हैं जिन्होंने मदिरोंको तोड़कर, राजाओं पर अन्याय

करके अपना साम्राज्य बढ़ाया, लेकिन अन्तमें मरना ही पड़ा और अकेले ही जाना पड़ा। सारा ठाठ वहाँका यहाँ ही रह गया है। इस ढगसे इस जीवको न वर्तमानमें सुख है और न आगामी कालमें सुख होगा। आनन्द कहाँ हो सकता है ? जब आनन्द नामका गुण ही अपना इन पदार्थोंमें नहीं है तो इन बाह्य पदार्थोंसे आनन्द प्रकट कैसे हो सकता है ? आनन्द तो आनन्दके स्थानसे ही प्रकट होगा। कोई पुरुष ज्ञानका बल बढ़ाकर अपने आपके आनन्दस्वरूपको निहार कर रागद्वेषका त्याग करता है और समता-परिणाममें रहता है तो उसको आनन्द स्वय अपने आप प्रकट हो जायेगा। आनन्द समतासे मिलेगा, रागद्वेषके करनेसे आनन्दका घात होता है। जिन्हें आनन्द चाहिये, शान्ति चाहिये उनका कर्तव्य है कि वे रागद्वेष मोह भावका परित्याग करके समता-परिणामका आश्रय लें।

नियम शब्दके अर्थका विवरण—भैया ! वह बड़ा तपस्वी पुरुष है जो अपने उपयोगको अपने स्वरूपमें ही नियन्त्रित करता है, रागद्वेष नहीं उत्पन्न होने देता है। परमाणुमात्रको जो अपने स्वरूपसे भिन्न निरख रहा है, उसकी तुलना जगतमें अन्य कोई जीव नहीं कर सकता है। जो भव्य सर्व प्रकारके भीतरमें उठे हुए वचनोंका और बाहरमें बोले जाने वाले वचनोंका परिहार कर देता है और इस सहज परमात्माकी निरन्तर भावना करता है वह परमनियमी है। लोकमें कहते हैं कि यह बड़े नियमसे रहता है। वे नियम क्या हैं ? समय पर दुकान खोलना, बंद करना, समय पर खाना, इनको ही लोग नियम कहा करते हैं, पर वास्तवमें ये नियम नहीं कहलाते। ये तो तो अनियत बातें हैं, जो आत्मके स्वभावमें निश्चित नहीं हैं ऐसी कर्मोदयजन्य बातें हैं। इनका नाम नियम नहीं है किन्तु जो आत्मामें स्वभावकी बात है, आत्मामें जो सत्त्वके कारण नियत स्वरूप है उस स्वरूपमें अपने आपको लगा लेना, नियमित कर देना, इसका नाम है नियम। बाकी जो विषय-भोग मनके, यशके, बढ़ावेके जितने भी संकल्प हैं और इन आरम्भ परिग्रह सम्बंधी जितने भी मन, वचन, कायके कार्य हैं, चाहे व्यवहार समय पर किए जाएँ, लेकिन सब अनियम हैं। नियम तो आत्माके शुद्ध स्वरूपमें नियत होने का नाम है।

नियममें नियमसे नियत असीम आनन्दकी उद्भूति—जो परमार्थतः नियमी पुरुष है, ज्ञानी पुरुष है, तत्त्व मर्मका अनुभव करने वाला पुरुष है उस ज्ञानात्मक पुरुषके यह नियम, नियमसे मुक्तिके आनन्दको उत्पन्न करने वाला है। सत्य आनन्द तो समता-परिणाममें है, बाकी तो सब स्वप्नकी तरह विभूति है। जैसे स्वप्नमें बड़ा वैभव दीखा तो वह कल्पनामें आनन्द मान रहा है लेकिन वहाँ है क्या ? कुछ भी नहीं है, केवल कल्पनाजाल है, इसी प्रकार इन चर्मचक्षुवोंकी जगती हुई दशामें भी यह सब कुछ दिख रहा है, पर यह सब कुछ है क्या ? कुछ भी नहीं है, परमार्थ वस्तु नहीं है। परमार्थभूत तत्त्व तो आत्माका आत्मामें चैतन्यस्वरूप है, इसका जिन्हें परिचय नहीं हुआ है वे अब भी दीन हैं, गरीब हैं, भिखारी हैं, परकी आशामें रहकर शरीरका बधन पाकर अपना जन्ममरण बढ़ा रहे हैं। जो पुरुष जैसा निरन्तर अखण्ड, अद्वैत, चैतन्यस्वरूप निर्विकार है वैसा ही अपनेको देख रहा है, शरीरमें रहकर भी शरीरसे भिन्न अपने आपके स्वरूपमें तन्मय अपनेको निरखता है, जो निर्विकार, जाननमात्र रहता है वह ही परमार्थसे अपने निर्विकार स्वरूपमें प्रवेश कर सकता है।

आत्मतत्त्वमें भेदवादका अप्रवेश—इस आत्मामें किसी नयका प्रवेश नहीं है। नय तो भेदवादको कहते हैं। किसी भी स्वरूपको भिन्न-भिन्न करके कहना वह नयका स्वरूप है। दिखने वाले पदार्थोंको भी बताने वाला कोई एक शब्द नहीं है। यह चौकी कैसी है ? आप क्या उत्तर दोगे ? कोई उत्तर आपके पास नहीं है। जो भी उत्तर आप दोगे यह लगड़ा उत्तर होगा। चौकीको पूरा बता सकने वाला तो आपके पास कुछ उत्तर ही नहीं है। कोई कहेगा कि यह इतनी ऊँची है, यह तो चौकीका एक अश बताया गया है। इस समग्र चौकीको कहने वाला कोई शब्द ही नहीं है। कोई कहेगा कि यह इतनी लम्बी-चौड़ी है। यह भी चौकीका

पूरा स्वरूप नहीं है। कोई कहेगा कि यह लाल रंगकी है, यह भी चौकीका स्वरूप नहीं है। चौकीके स्वरूप को कहने वाला भी कोई शब्द नहीं है जो एक ही शब्दसे कह दे। कोई कहे कि यह चौकी है। लो कह दिया ना, इस पूरे चौकी पदार्थको। अरे! अब भी नहीं कहा। 'यह चौकी है' इसका अर्थ यह है कि यह चार कोने वाली है, चतुष्कोणीका बिगड़कर चौकी शब्द रह गया है। तो ये ही तो चौकी पदार्थके चार कोने हैं, पूरी चौकीका स्वरूप कहाँ आया? यह इतनी मजबूत है कि इस पर कोई खड़ा हो जाय फिर भी न टूटे। यह बात चौकी शब्दमें कहाँ कही गयी है, सभी बातें छूट गयी हैं। तो इन दृश्यमान् पदार्थोंको भी बतानेके लिये कोई शब्द नहीं है, फिर इस आत्मतत्त्वको कहने वाला तो शब्द ही क्या होगा? लेकिन इस आत्मतत्त्वके समझानेके लिये भेद करके नयवादका अवतार किया है, पर जो अनुभवमें आने योग्य परिपूर्ण अतस्तत्त्व है उसमें नयवादका प्रवेश नहीं है।

अनुभवकी अवक्तव्यता—नयके विकल्पोंसे यह मैं परमात्मतत्त्व दूर हू। कोई मिष्ट चीज खा ली, उसका स्वाद तो आप कह सकते हैं पर वचनोंसे सही बात आप बता नहीं सकते हैं; क्या बतावोगे? जब दूसरेको खाना परोसते हैं तो सब समझते हैं कि अब इस चीजके साथ यह चीज देनी चाहिए, इसमें इन्हें आनन्द आयेगा क्योंकि अपने अनुभवमें वैसी ही बात आयी है ना? वह स्वाद तो आ सकता है, पर स्वादको बताने के लिये कुछ शब्द नहीं है। इस आत्मतत्त्वका अनुभव तो हो सकता है, कैसा है यह ज्ञानप्रकाश? उसका अनुभव तो किया जा सकता है निर्विकार बन कर, पर उस आत्मतत्त्वके अनुभवकी बात शब्दोंसे कहें तो यह बतानेमें नहीं आ सकती है।

परिचितोंमें संकेतोंकी सफलता—आत्मानुभवको बतानेके लिये शास्त्रोंमें जो शब्द कहे गये हैं वे शब्द उन्हींको ही बता सकते हैं जिन्होंने आत्मानुभव किया है या आत्मानुभवके निकट पहुचे हैं अन्यथा वह गूगों जैसी बात है। जैसे एक गूगा किसी दूसरे गूगे-बहरेसे कुछ कहे या कोई सूझता किसी गूगे बहरे से कुछ कहे तो वह कुछ नहीं समझता है। इसी प्रकार कोई पुरुष किसी ज्ञानीसे बात करे या अज्ञानी अज्ञानी से बात करे तो क्या समझेगा उसमें? यह आत्मतत्त्व, यह चैतन्यस्वरूप भेदनयसे दूर है, ऐसा जो अपने आपमें बसा हुआ परमात्मपदार्थ है उसे मैं भली प्रकारसे भाता हू, उसकी उपासना करता हू, नमन करता हू।

परमशरण शुद्ध परमात्मतत्त्वका दर्शन—लोकमें अपना परमपिता, परमशरण सर्वस्व अपने आपको शुद्ध स्वरूपमें देख लेना है, इतना काम यदि न किया जा सका तो मनुष्य होना, सुविधावान बनना सब बेकार है और यदि एक यह आत्मस्वरूपके अनुभवका काम किया जा सका तो जीवन सफल है। कैसे होता है इस परमात्मप्रभुका दर्शन? इसकी दृष्टिके लिये अपने परमात्मप्रभुका उपासक बनना होगा। किसी भी परतत्त्वकी ओर आस्था रहेगी तो परमात्माका दर्शन नहीं हो सकता। शुद्ध भेदविज्ञान करके समस्त परपदार्थोंकी आशाको मिटाकर जब अपने आपके स्वरूपका प्रकाश होता है वहाँ आत्मानुभव होता है। उस स्थितिमें ध्यान ध्येय एक हो जाते हैं। यह ध्यान है, यह ध्याता है, यह ध्येय है और यह ध्यानका फल है ऐसा विकल्पजाल चिन्तन जब नहीं रहता है और केवल एक शुद्ध ज्ञानमार्गका ही ज्ञान निरखते हैं तो आत्मानुभव होता है। इस आत्मानुभवमें जो कुछ अनुभव हो, वही शुद्ध परमात्मतत्त्व है। ऐसे शुद्ध परमात्मतत्त्वकी मैं उपासना करता हू।

अन्तस्तत्त्वकी अभेद उपासनामें मुक्तिका नियम—जो जीव योगी होते हैं, इस अध्यात्मयोगमें जिन्होंने प्रवेश किया है वे तत्त्वको समझते हैं, मर्मज्ञ हैं, फिर भी कदाचित् उनमें भेदवाद उत्पन्न हो जाय, भेद उपासना, भेद वृत्ति, भेद सयम, भेद प्रवृत्ति उत्पन्न हो तो वह पुरुष कदाचित् मुक्तिका पात्र भी है, कदाचित् मुक्तिका पात्र नहीं भी है। जो अभेद उपासनामें निरत हैं ऐसे योगीजनोंका तो नियम है कि वे

अवश्य ही उस ही भवसे मुक्ति प्राप्त करेंगे, किन्तु जिनका चित्त आत्माकी अभेद भक्ति, अभेद उपासनामें नहीं लग रहा है, अभेद आराधना नहीं बन रही है, वे भिन्न-भिन्न मूल गुणोंके पालनेमें, समिति गुप्तिके भली प्रकार निर्दोष धारण करनेमें लग रहे हैं और नाना युक्ति ज्ञानोंसे जो अपना ध्यान परिज्ञान बना रहे हैं ऐसे भेदप्रमुख साधु उस भवसे मुक्तिके पात्र हैं या नहीं, मुक्ति इसकी होगी अथवा न होगी, इसे कोई नहीं कह सकता है। हो भी सकती है मुक्ति, नहीं भी हो सकती है।

ज्ञायकस्वरूपके अनुभवमे सर्वसिद्धि--भैया! जब भी मुक्ति होगी किसीको तब अतस्तत्त्वके आलम्बन से ही होगी। अंतस्तत्त्वका आलम्बन ही अपना शरण है, ऐसा निर्णय करके ऐसा ही ज्ञान बनाएँ, ऐसी ही सगति बनाएँ जिससे हमारा ध्यान हमसे ओझल न हो जाय और हम मोक्षमार्गमें निर्बाध अपना गमन कर सके। यह शुद्धनय प्रायश्चित्तका अधिकार है, इसमें सर्वविभावरूप अपराधोंके प्रायश्चित्तका उपाय एक ही कहा गया है--शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका अनुभव करना।

कायाईपरदव्वे थिरभाव परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्ग जो भावइ गिव्विअप्पेण।। १२१।।

कायादिव्युत्सर्गमे निश्चयप्रायश्चित्त--शरीर आदिक परद्रव्योंमें स्थिरताको छोड़कर जो भव्य पुरुष आत्माको निर्विकल्प रूपमें ध्याता है उसके कायोत्सर्ग कहा गया है, शुद्धनय प्रायश्चित्तके अधिकारमें यहाँ निश्चय कायोत्सर्गका वर्णन है, शरीर और अन्य समस्त परपदार्थोंमे ममताका न करना, बुद्धिका न लगाना इसका नाम कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग इस शब्दके कहने पर सभी परद्रव्योंकी ममताका त्याग समझना चाहिए। उत्सर्गके मायने हैं ममताका त्याग करना और कायोत्सर्गका अर्थ है शरीरसे ममताका त्याग करना।

कायोत्सर्गमें सर्व परद्रव्योंका उत्सर्ग--यहाँ यह शंका नहीं करनी है कि शरीरसे तो ममता छोड़ दें और अनेक बाह्यपदार्थोंमें ममता करते रहें। प्रथम तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि पुरुष धन, मकान, इज्जत आदि धनादिक बाह्य अन्य द्रव्योंमें तो ममता रहे किन्तु शरीरमें न रहे। जो किसी भी परतत्त्वमें ममता करते हैं उनके इस शरीरकी ममता अवश्य है। चाहे कुछ व्यवहारमें यह बात न मालूम पड़े लेकिन शरीरकी ममता हुए बिना बाह्य तत्त्वोंमें ममता हो ही नहीं सकती। फिर दूसरी बात यह है कि जितने भी परपदार्थ हैं, जो ममताके विषय बन सकते हैं उन सब परपदार्थोंमें अग्रगण्य कष्टका कारण शरीर है। जब शरीर की ममताका त्याग करनेको कहा जाय तो उसका अर्थ है कि सभीकी ममताका परिहार करना चाहिए। कोई पुरुष अपने बच्चेसे यह कह जाय कि देखो यह दही रखा है ना, इसे देखते रहना बिल्ली न खा जाय और वह मंदिर चला जाय। अब वह बच्चा केवल बिल्लीको ही देखे और चाहे दसों कौवे आकर दही खा जायें तो क्या वह कौवेको खा लेने देगा? अरे! उसका अर्थ यह है कि बिल्ली और बिल्ली जैसे जितने भी दधिभक्षक प्राणी हैं वे न खा जाये। इसी प्रकार जब यह कहा जाय कि शरीरसे ममता न करना, तो क्या इसका यह अर्थ है कि धन, मकान आदिसे ममता करते रहना? अरे! इसका अर्थ है कि शरीर और शरीर जैसे समस्त बाह्य पदार्थोंमें ममता न करना।

प्रमुखके त्यागसे गौणके त्यागका भी समावेश--जैसे दधिभक्षकोंमें सबसे खतरनाक बिल्ली है और वह घरमें रहा करती है इसलिए बिल्लीका नाम लिया गया है, पर बिल्लीका नाम लेनेसे सभी दधिभक्षकोंकी बात समझ लेनी चाहिये, इसी प्रकार ममताके विषयभूत पदार्थोंमे सबसे प्रधान शरीर है और यह एक-क्षेत्रावगाही है, निकट रहने वाला है, इसका परित्याग कराया गया है तो इसका अर्थ यह है कि समस्त परपदार्थोंकी ममताका परिहार करे।

निश्चय और व्यवहार कायोत्सर्ग--शरीरादिकमे ममताका परिहार करना, सो निश्चय कायोत्सर्ग है।

व्यवहार कायोत्सर्ग खडे हो जाये अथवा पद्मासनसे ही विराजे हों ऐसी मुद्रा रखना कि इस शरीरकी ओर ध्यान नहीं रख रहे हैं, अथवा मच्छर आदिक कोई जन्तु काटे भी तो भी चिगना नहीं, कायसे ममता नहीं है, ऐसी मुद्राका जो परिणाम है, वह बनाये रहना, यह है व्यवहारकायोत्सर्ग।

कायोत्सर्गके अर्थका विवरण--काय नाम है इस दृश्यमान् पिंडका, जो आदि सहित है, कर्मोंसे उत्पन्न हुआ है, अंत सहित है, कभी इसका खात्मा हो जायेगा। मूर्तिक है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शका पिन्ड है, ऐसी जो विजातीय विभावव्यञ्जन पर्याय है तन्मात्र जो जीवका आकार बन गया है अथवा इस जीवका जो एक पर्याय बन गया है इसे काय कहते हैं। जीव तो इस कायके स्वरूपसे विपरीत है। यह शरीर आदि सहित है तो जीव आदि रहित है। इस जीवकी उत्पत्ति कभी नहीं हुई, यह स्वतःसिद्ध वस्तु है। शरीर का अन्त होगा, किन्तु इस जीवका कभी अन्त न होगा, यह अनन्त है। यह शरीर मूर्तिक है, रूप, रस, गध, स्पर्शका पिंड है, सड़ने वाला है, किन्तु यह जीव अमूर्त है, इसमें रूप, रस, गध, स्पर्श नहीं हैं। न सड़ता है, न गलता है, न जलता है। यह आत्मा तो अपने स्वरूपमात्र है, ऐसा शुचि होने पर भी कर्म-उपाधिके वशसे जो पर्यायें प्रकट हुई हैं, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव गतियोंके देहोंके आकार जो बन गए हैं वे सब काय हैं। कायका परिहार करना, कायमें ममत्व न करना, सो कायोत्सर्ग है। 'आदि' शब्दसे मकान, खेत, स्वर्ण कुटुम्ब सभी परद्रव्योंकी बात जानना, इन सबसे ममता न होना, इसे कहते हैं कायोत्सर्ग।

यथार्थ परिज्ञानके बिना धर्मपालनका अभाव--भैया! कायिक रूव स्थिर भावको छोड़ दें, इतना भर जानते रहें कि ये सब नष्ट होने वाले हैं तो भी ममता कम हो जायेगी। धन नहीं छोड़ा जाता है न सही, किन्तु जो सच बात है यह अनित्य है, भिन्न है, जो यथार्थ बात है उतनी बात माननेमें भी कष्ट है क्या? मकान नहीं छोड़ा जाता न सही, पर यह मकान ईंटभींटोंका है, इसमें मेरा कुछ स्वरूप नहीं लगा है, यह भिन्न चीज है, मिट जायेगी, इससे बिछुड़ना होगा, यह बात सत्य है या असत्य? यदि सत्य है तो इतनी बात माननेमें क्या कठिनाई हो रही है? मोही जीव अनित्यको नित्य मान रहे हैं। भले ही वे वचनोंसे कभी-कभी कह दे कि सब असार हैं, कुछ रहनेका नहीं है, पर अन्तरमें स्पष्ट बोध नहीं होता है। जैसे कोई मर जाय तो मरघटमें सभी कहते हैं कि सबको एक दिन मरना है, पर मुखसे कहा जाता है, अपने बारेमें स्पष्ट बोध यह नहीं हो पाता कि मैं भी किसी दिन मर जाऊँगा, ऐसा भीतरमें अनुभूत नहीं होता है। वचनोंसे बोला जाता है, किन्तु जिसे लगन बोलते हैं वह इस तरहकी लगन नहीं है। इन शरीरादिक परद्रव्योंको इतना तो मानना ही मानना कि ये सब मिट जाने वाले है, मेरे साथ सदा न रहेंगे, इतनी बात मान ली तो आपने धर्म पालनका प्रारम्भ किया।

धर्मका सहजसिद्ध स्थान--धर्मका पालन किसी मंदिरमें, क्षेत्रमें, किसी भी जगह नहीं है कि वहाँ बैठे हों और धर्म मिल जाय या वहाँ हाथपैरका परिश्रम करें तो मिल जाय। धर्म तो आत्माके स्वभावका नाम है, वस्तुवोंके यथार्थ परिज्ञानका नाम है। मन्दिरमें भी रहकर, तीर्थयात्रामें भी जाकर यह श्रद्धा बनायी जा रही है कि यह मेरा घर है। अरे! एक महीना घर छोडे हो गया, लल्ला क्या करता होगा? अब तो जल्दी चलें, कितनी ही भीतरमें ऐसा प्रतीतिया बनी हुई हैं। जहाँ अनित्यमें नित्यकी श्रद्धा है, भिन्नमें आत्मीयताकी श्रद्धा है यह वासना बनी है तो धर्मपालन कहाँसे हो जायेगा? यह सब दिलका बहलावा है। यदि परमार्थ पद्धतिसे ज्ञान नहीं है, सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं है, वस्तुस्वरूप पर दृष्टि नहीं है तो समझ लीजिये कि यह सब दिलका बहलावा है। पूजा कर आए, दर्शन कर आए, मन रम गया। सो थोड़ीसी मंदकषाय तो अवश्य है, परन्तु साथ ही साथ दिल बहलानेका प्रयोजन लगा हुआ है, धर्मपालन नहीं हो रहा है, धर्मपालन तो रत्नत्रयकी साधना बिना नहीं हो सकता है।

अनित्यमें अनित्यत्वकी श्रद्धाका प्रताप—भैया ! कम से कम इतना तो मान ही लेना चाहिए कि मेरे इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माका एक इस आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य सब कुछ नहीं है, जो कुछ मिले हैं ये परपदार्थ नियमसे छूटेंगे, साथ सदा न रहेंगे, इतनी बात भीतरमें विश्वास सहित मान लो तो इस जैन धर्मका पाना, श्रावक कुलका पाना भी सफल है, और जैसे जन्मे, बड़े हुए, ममता करते आये, वैसी ही ममता बनी रही, सम्यक्त्वका कुछ प्रकाश न हो सका तो बतावो धर्मपालन कहाँ हुआ ? मनुष्यजीवनकी सार्थकता कहाँ रही ? यों तो अनन्त भवोंसे कीड़े, मकौड़े, पशु, पक्षियोंसे निकलते आये हैं, जन्मे और मरे, उस ही पद्धतिमें यह मनुष्य भव भी निकल जायेगा, जन्मे और मरे । कोई तत्त्वकी बात नहीं मिल सकती । यह समागम कुछ दिनोंका है, मिट जायेगा और साथ ही ममता करनेका जो पाप है वह ले जायेगा । इन बाह्य पदार्थोंमें यह श्रद्धा बनावो कि ये मिट जायेंगे । इस शरीरमें बस रहे हैं फिर भी यह श्रद्धा रखें कि यह भिन्न है, सदा रहने वाला नहीं है और मैं आत्मा सदा रहने वाला हूं, जिसमें किसी भी परतत्त्वका प्रवेश नहीं है । यह शुद्ध ज्ञानानन्दमात्र है, ऐसे निज कारणपरमात्मतत्त्वको ध्यावो ।

सहज अध्यात्मयोग एव निश्चयप्रायश्चित्त—इस आत्माके ध्यान करनेका साधन है सहज अध्यात्मयोग, जिस योगमें विकल्पोंका कोलाहल नहीं है, निर्विकल्प है, व्यवहार क्रियाकाण्डोंका कुछ आडम्बर नहीं है, केवल एक ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूपका ग्रहण हो रहा है । इस प्रकारके सहज अध्यात्मयोगके बलसे इस आत्मतत्त्वका जो ध्यान करना है वही सहज तपश्चरणका अधिपति है, उसके ही निश्चयकायोत्सर्ग होता है । यह उपयोग जब केवल शुद्ध कारणसमयसारमें अपने चैतन्यस्वरूपमें लगता है वहाँ ही वास्तवमें कायोत्सर्ग होता है । किसी परद्रव्यका विकल्प न उत्पन्न हो, वह तो सहज वैराग्यसे भरपूर है, ऐसा योगी-पुरुषका जो यह कायोत्सर्ग है उसको ही निश्चय प्रायश्चित्त कहते हैं ।

योगीश्वरोंके सतत कायोत्सर्गकी वृत्ति—जो योगीश्वर अपने आत्मामें लीन रहते हैं उनके तो निरन्तर कायोत्सर्ग बना हुआ है, ऐसे संतपुरुष लेटे हों अथवा बैठे हों अथवा ईर्यासमितिसे चल रहे हों तब भी अध्यात्मयोगके समय उनके कायोत्सर्ग बना रहता है । इन संयमी पुरुषोंको कायसम्बन्धी क्रियावोंका भी लेप नहीं है, ये योगीश्वर जनसमूहमें रुचि नहीं रखते हैं । भले ही रहना पड रहा हो, फिर भी उनसे विविक्त ही रहते हैं और यथावसर प्रायः निर्जन एकांतमें ही निवास करते हैं, उनको वाणी बोलनेकी आस्था नहीं है अर्थात् वे वचन बोलनेकी क्रियावोंको आत्महित नहीं मानते हैं । जो मनसे किसी भी प्रकारके विकल्पोंको करनेमें उत्सुकता नहीं करते हैं, जो मन, वचन, काय इन तीन गुप्तियोंका पालन करते हैं उनके ही परमार्थ आत्मध्यान होता है और उन योगीश्वरोंके निरन्तर कायोत्सर्ग प्रवर्तित रहता है ।

धर्म और धर्मपालन—भैया ! धर्मपालनके लिए सर्वत्र एक ही काम करना है, निज सहज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपकी दृष्टि करना है और यह धारणा रखनी है कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं, यह सहज ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यतत्त्व सतत-प्रकाशमान् है, इसे ढूँढने कहीं नहीं जाना है । यही अपने आपको भूलकर बाह्यकी दृष्टि लगाये फिरता है । यह अपना परमशरण, शान्तिका निधान जिसके आश्रयसे आनन्द उत्पन्न होता है उसकी दृष्टिसे यह योगी पुरुष भव-भवके संचित कर्मोंको दूर करता है । जगतमें कहीं कोई शरण न मिलेगा । सभी परपदार्थ हैं, अपनेको अपना स्वरूप ही शरण है । जब इस देहसे भी भिन्न अपने आपके यथार्थस्वरूपका भान होता है वहाँ संकट एक भी नहीं ठहर सकता है । कोई ममता करता है तो ममता ही संकट है, ऐसी स्थितिमें अन्यकी परिणतिको संकट कहना बेकार है । मैं अपने ही स्वरूपसे चिगकर ममता परिणाममें आया, वही एक संकट है । कमसे कम इतना तो निर्णय रखो कि जो कुछ यह समागम है न यह कुछ मेरा है और इन समागमोंके सम्बन्धमें जो ख्याल बना हो वह ख्याल भी मेरा कुछ नहीं है । मैं तो परमब्रह्मस्वरूप सदा ज्ञानानन्दमय प्रवर्तने वाला आत्मा हूं ।

निःसकट सहजानन्दमय अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका अनुरोध—ये संसारके सुख केवल कल्पनामात्रसे रमणीक लगते हैं। यह संसारका सब कुछ मेरे ग्रहण करनेके लायक नहीं है। जो संसारके सुखोंका ग्रहण करेगा वह जन्ममरणके दुःख पाता रहेगा। क्या वजह है कि जब सभी जीव एक समान हैं तो उन अनन्त जीवोंमेंसे दो चार जीवोंको जो अपनी कुटियामें रहते हैं उन्हें मान रक्खा है कि ये मेरे हैं और उनके अलावा बाकी सब जीवोंको गैर मान लिया। भले ही गृहस्थावस्थामें हैं, उनका पोषण करना है, यह बात तो अलग है, किंतु अतरंगमें ऐसी श्रद्धा जमी हो कि यह मेरा है तो यह श्रद्धा निरन्तर दुःख ही करती रहेगी। कितनी ही सुख-सामग्री मिलती जाय, कितना ही धन वैभव हो जाय, पर विपरीत श्रद्धान है तो दुःखोंसे मुक्ति नहीं हो सकती। कुछ न कुछ कल्पनाएं बनाकर सब जगह यह दुःख मानता रहेगा। यह आत्मतत्त्व तो समस्त संकटोंसे स्वय ही मुक्त है, यह तो अपने पर संकट लादता है, जो पुरुष निःसकट राग, द्वेष, मोहसे रहित केवल प्रकाशमात्र अपने आपका स्वरूप निरखते हैं वे पुरुष क्लेशमुक्त अब भी हैं।

ज्ञानप्रकाशका सामर्थ्य—भैया! कल्याणार्थ मैं इन भवसुखोंका भी अन्तरंगसे परित्याग करता हू, ऐसा उत्साह तो हो। नहीं छोड़ सकते यह बात अलग है किन्तु यथार्थ ज्ञानमें ही इतनी सामर्थ्य है कि वह आकुलताओंको दूर कर देता है। जैसे सूर्यके प्रकाशमें इतनी सामर्थ्य है कि कमलको प्रफुल्लित कर देता है। न भी सूर्यका प्रकाश आया हो, दोपहर तक सूर्य नहीं निकला है किंतु सूर्य निकलनेके समय जब आसमान में लाली छा जाती है उस ही समय ये कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं। न हो सके चारित्र, न हो सके त्याग, लेकिन सच्चा ज्ञानका प्रकाश यदि आत्मामें आया हो तो यह आत्मा उसी समयसे त्याग चारित्रकी ओर आने लगता है, सकटयुक्त होने लगता है। मैं उसे ही अपना परमशरण, परम सर्वस्व मानता हू, ऐसा उसके दृढ़ निर्णय है, ऐसे भले निश्चयके साथ जो अपने आपमें विश्राम लेता है वह संसारके सकटोंसे छूट जाता है।

अन्तस्तत्त्वके परिचय बिना क्लेशोंका उपभोग—अहो! मैं इस परमब्रह्म प्रभु परमात्माको जो मेरे अन्तर में विराजमान् है उसे मैंने नहीं जाना था, इसी कारणसे बाह्यमें उपयोग दौड़ानेका सकट भोगा है। यह मोही जीव मानता तो यह है कि लोकका वैभव मिल गया, विशेष धन इकट्ठा हो गया, मैं प्रभु बन गया हूं, मैं समर्थ हो गया हू, मैं सबमें उत्कृष्ट हू लेकिन यह नहीं समझता कि यह वैभव दुष्कर्मकी प्रभुता बढ़ाता है, आत्माकी प्रभुता नहीं बढ़ाता है। रागद्वेष, सकल्प, विकल्पकी परेशानियोंसे यह जीव बरबाद हुआ है, हैरान हुआ है ऐसा इसने नहीं माना है और तृष्णावश बाह्य वैभवके सयोगमें अपने आपको महान् समझता है, इसीसे ससरणका सकट भोगता है।

विषफलके उपभोगके अपराधके परिहारके लिए निश्चयप्रायश्चित्त—ये समस्त फल जो पृथ्वीकाय, वनस्पति काय, कचनकामिनि, कुटुम्ब, धन सम्पदा जो कुछ नजर आते हैं ये ससारविषवृक्षके फल हैं। जैसे विषवृक्षके फलोंको कोई खाये तो वे विषवृक्षके फल भले ही उस कालमें मीठे लगें, लेकिन वे प्राण हरने वाले होते हैं, इसी प्रकार यह जीवलोकका ठाठ वैभव भले ही मोहवश इस मोही जीवको रुचिकर मालूम हों, लेकिन ये बडे क्लेश सतापके कारण होते हैं। इन सब विषवृक्षोंके फलोंको त्यागकर, पचेन्द्रियके भोगोंका परित्याग कर इस ही चिदानन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्वमें रमकर विशुद्ध आत्मीय आनन्दका अनुभव करूँगा, ऐसा यह ज्ञानी उन समस्त अपराधोंको नष्ट करनेके लिए निश्चयप्रायश्चित्त कर रहा है, निश्चय नियम कर रहा है, अपने आपको अपने आत्मामें नियमित करके सदा सकटोंसे छूटनेका पुरुषार्थ कर रहा है।

❀ नियमसार प्रवचन अष्टम भाग सम्पूर्ण ❀

नियमसार प्रवचन नवम भाग

[प्रवक्ता— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज]

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स॥१२२॥

परमसमाधि अधिकारका निर्देश— प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना एवं प्रायश्चित्तके अधिकारके बाद अब परमसमाधि नामका अधिकार कहा जा रहा है। इन समस्त प्रतिक्रमण आदिक उपायोंका लक्ष्य परमसमाधि भाव है। आत्मामें रागद्वेष विषय कषायोंका अभाव होकर केवल ज्ञानप्रकाश मात्रका ही प्रकाश चलता रहे, इसको परमसमाधि कहते हैं। जो जीव परमसमाधिसे विमुख हैं और विषय-कषाय भावोंमें लग रहे हैं, उस ओर ही जिनकी दृष्टि है वे पुरुष संसारके संकट सहते हुए काल गँवा रहे हैं। इस आत्माका कल्याण करने वाला भाव है तो यह परमसमाधि है। परमसमाधि भाव कैसे प्रकट होता है और उसका क्या-क्या स्वरूप है? इन सब बातोंका वर्णन इस परमसमाधि अधिकारमें कहा जा रहा है।

परमसमाधिकी सिद्धिके लिए वचनपरिहारकी आवश्यकता— यह परमसमाधि समस्त मोह रागद्वेष विभावोंका, आत्माके वास्तविक शत्रुओंका विध्वंस करने में एकमात्र कारण है। जो पुरुष वचनोंके बोलने की समस्त क्रियाओंको त्याग कर वीतराग भावसे आत्माका ध्यान करता है उस भव्य आत्माके परम समाधि होती है। व्यवहार और बाह्य पदार्थोंके स्नेहमें बढना आदिक उपद्रवोंका व्यावहारिक कारण है वचन बोलना। वचन बोलते हुए की स्थितिमें समतापरिणाम आ नहीं सकता। रागकी वेदनाके बिना कोई वचन नहीं बोलता, इसलिए वचनोंके उच्चारणका प्रथम परिहार कराया गया है।

परमसमाधिमें अन्तः व बहिः जल्पका परिहार— यद्यपि कभी अशुभ क्रियावोंसे हटने के लिए वीतराग सर्वज्ञदेवका स्तवन आदिक करना चाहिये, शास्त्रोंका वाचन और उपदेश करना चाहिये। ये वचन उस कालमें आवश्यक हैं। बड़े-बड़े योगीश्वर, मुनीश्वर भी प्रभुस्तवन, स्वाध्याय, वाचन, धर्म उपदेश आदिक वचन व्यवहार किया करते हैं तथापि वचनोंके विषयका जो व्यापार है अर्थात् आत्माका प्रयत्न है यह सब समाधिभावका साक्षात् घातक है, अतः किसी भी प्रकारका वचनालाप न करना चाहिए। देखो सबसे प्रथम नियंत्रण किया गया है परमसमाधि भावकी प्राप्तिके लिए वचनव्यवहारका। वचनालापका सर्वथा त्याग करना चाहिए और इतना ही नहीं कि ये बाहरी वचन ही त्यागे जायें किन्तु अन्तरंगमें कुछ जो गुनगुनाहट चलती है वह शब्दरचनाका अन्तरङ्ग व्यवहार भी छूट जाना चाहिए। प्रायः सभी जीवोंके कुछ भी परिज्ञान होता है तो वह परिज्ञान किन्हीं शब्दोंको लेकर होता है, चाहे वे शब्द मुखसे न बोले जायें, किन्तु अपने अतरंगमें वे शब्द उठते हैं ज्ञानके साथ-साथ। ऐसे इन शब्दोंका इस जीवके साथ लगाव लग रहा है, उन अन्तर्जल्पोंका भी परिहार करके यह जीव परमसमाधिमें लगता है।

सहजस्वरूपके ध्यानमें परमसमाधिका अभ्युदय—जो आत्मा इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अन्तस्तत्त्वका ध्यान करता है, बाहरी कुछ नहीं विचार करना, स्वयंका अपने आप स्वभावसे जो स्वरूप है उस स्वरूपरूपमें जो आत्माको ध्याता है उस पुरुषके परमसमाधि होती है। इस परमपारिणामिक भाव अथवा शुद्ध अंतस्तत्त्वके ध्यान करने का साधन क्या है? स्वयं ही अभेद वीतराग भाव। जो स्वभाव समस्त कर्मकलंकोंसे रहित है जिसमें न तो ज्ञानावरणादिक कर्म हैं और न रागद्वेषादिक भाव कर्म हैं और न जिनमें प्रदेश परिस्पन्दरूप क्षेत्रकर्म हैं और न जिसमें जाननके परिवर्तनरूप भी कर्म हैं ऐसे उस कर्मकलंकमुक्त शुद्ध आत्मतत्त्वको जो ऐसे ही विशुद्ध ज्ञानध्यानसे ध्याता है उसके परमसमाधि होती है।

त्रिकाल निरावरण परमब्रह्म—यह अंतस्तत्त्व त्रिकाल निरावरण है, जो परविषयक विकल्प भावको तजकर अपने अन्तरमें अखण्डस्वरूपको निहारता है उसे यह आत्मा दर्शन दे रहा है। यह त्रिकाल निरावरण है। वस्तुके स्वभाव पर कभी भी आवरण नहीं होता है, चाहे वस्तुका स्वभाव कुछ भी प्रकट न हो, न सही, पर स्वभावका आवरण नहीं होता है। जैसे दृष्टान्तमें मान लो पानीका स्वभाव ठंडा रहना है, चाहे पानी खूब खौल रहा हो अग्निके सम्बंधसे, किन्तु उस खौलते हुए पानीके होने पर भी पानीमें ठंडा रहनेका जो स्वभाव पड़ा है वह स्वभाव नहीं मेटा जा सकता है। वर्तनमें पानी तेज गरम है, स्वभाव से बिल्कुल उल्टा हो गया है अग्निके सयोगसे, फिर भी इस जलमें ठंडे होनेका जो स्वभाव है वह स्वभाव कहीं भी नहीं गया है। गरमकी हालतमें भी पानीका स्वभाव ठंडा है इसे कोई मना नहीं कर सकता, पानी ठंडा नहीं है, पर स्वभाव ठंडा है। ऐसे ही इस आत्माका स्वभाव है चैतन्य, ज्ञानदर्शन। इस ज्ञान-दर्शन पर आवरण पड़ा है पर्याय अपेक्षाका और यह ढका हुआ है, प्रकट नहीं हो रहा है, लेकिन न भी निगोद जैसी निम्न स्थितिमें भी जीव पहुचा हो, तिस पर भी जीवका स्वभाव चैतन्यभाव परमपारिणामिक तत्त्व निरावरण है। यदि स्वभाव पर आवरण हो जाय तो पदार्थका ही नाश हो जायेगा, ऐसा त्रिकाल निरावरण यह मैं अतस्तत्त्व हू।

शाश्वत शुद्ध परमब्रह्म—यह मैं आत्मतत्त्व त्रिकाल शुद्ध हू, अर्थात् वह वहीका वही रहता है। इस जीवने अनादिकालसे ससारमें परिभ्रमण किया है, कर्मोंका प्रेरा चतुर्गतियोंमें भटका अशुद्ध विकारी बन रहा है। इतने पर भी यह जीव जो कुछ भी होता है वह अकेले ही होता है, कोई दो पदार्थ मिलकर विकाररूप नहीं हुआ करते हैं और स्वभावको यदि देखो तो विपरिणत होता ही नहीं। यद्यपि स्वभाव प्रकट नहीं है, यह जीव उल्टी-उल्टी चाले चलता है। रागद्वेष क्रोधादिक कषाये इन सभी विषयकषायोंमें यह दौड़ लगा रहा है, इतने पर भी स्वभाव नहीं बदलता है। आत्माका स्वभाव है—ज्ञानानन्द चैतन्य-भाव। वह चैतन्यभाव परिवर्तित नहीं होता है। ऐसा यह मैं शुद्ध आत्मा हू।

कारणपरमात्मा—यह मैं अन्तस्तत्त्व कारणपरमात्मा हू अर्थात् यह मैं परमात्मा होऊँगा तो अपने स्वभावका आलम्बन करके ही होऊँगा। परमात्मा होनेका जो कारण है अथवा जो परमात्मामें भी उपा-दान है वह उपादान भी मैं सदासे हू, अत मेरा स्वभाव चैतन्यस्वरूप कारणपरमात्मा कहलाता है। मुक्त हो जाने पर कहीं कुछ दूसरी बात नहीं हो गयी। जो मैं हू वही वहाँ है। जो मेरे स्वभावमें है वही चीज नित्य व्यक्त है। मुक्त होने पर कोई नवीन बात नहीं बन जाती है। जैसी किसी पाषाणकी कोई कारीगर मूर्ति बनाए तो वह मूर्ति कहीं दूसरी चीजसे लिपटकर नहीं बनी है। जो थी उस पत्थरमें, जो अंग अवयव थे उस पत्थरमें वे अवयव अब प्रकट दिखने लगे हैं, व्यक्त हो गये हैं। इसी प्रकार जो मेरेमें स्वरूप है, स्वभाव है, सत्त्व है, जो कुछ हो, यही विकारोंसे हटकर उपाधियोंके सम्बधसे हटकर केवल रह जाता है। भगवानका स्वरूप कैवल्य कहलाता है, केवलज्ञान भी बोलते हैं। इसका अर्थ है सिर्फ ज्ञानमात्र रह गया है, जो था वह केवल अकेला निरपेक्ष रह गया है।

कैवल्य सपद—हम आपके साथ द्रव्य कर्मका सम्बध है। ज्ञानावरणादिक ८ कर्म हैं, रागद्वेष, विषय-कषाय शरीरका बन्धन भी एक क्षेत्रमें है, ये तीन प्रकारकी उपाधिया, विकार सम्पूर्ण संसारी जीवोंके साथ हैं, ये तीनों ही बातें जब बिल्कुल दूर हो जायें, न तो ज्ञानावरणादिक कर्म रहें, न शरीर रहे, और न रागद्वेषादिक विभावपरिणमन रहे। जो कुछ परतत्त्व हैं वे परभाव दूर हो जायें और यह आत्मा जो था वही मात्र केवल रह जाय, इसीके मायने मोक्ष है। मोक्ष पानेके लिये कोई नयी चीज नहीं जोड़ना है, किन्तु अज्ञान दशाके कारण जो नई चीजे जुड़ी हुई हैं, रागादिक भावकर्म, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म और शरीर, जो तत्त्व जो पदार्थ नये जुड़े हुए हैं उन पदार्थोंको दूर करना है। जब समस्त परभाव दूर हो

जाते है और केवल यह रह जाता है तब इसे निर्वाण होता है ऐसा कहते हैं,। निर्वाणमें भी उपादान कारण मैं हू। यह मैं कारणपरमात्मा शुद्ध और त्रिकाल निरावरण हैं। ऐसे इस अंतस्तत्त्वका जो आश्रय करता है उसके परमसमाधि प्रकट होती है।

परमसमाधिके लिए धर्मध्यानका सहयोग—परमसमाधिके व्यक्त होनेमें धर्मध्यान और शुक्लध्यानका पवित्र सहयोग रहता है। धर्मध्यानमें तो कुछ उद्यम रहता है कुछ राग भी साथ वर्त रहा है, परन्तु वह वीतराग भावका आश्रय करने वाला राग है। इस धर्मध्यानमें रागद्वेषरहित स्वरूपतः स्वतःसिद्ध अन्तस्तत्त्वका आश्रय रहता है। अपने आत्माके आश्रयसे जो विशुद्ध ध्यान प्रकट होता है उसे धर्मध्यान कहते हैं। इस धर्मध्यानके बलसे परमसमाधि प्रकट होती है।

परमसमाधिमे शुक्लध्यानका सहयोग—यह धर्मध्यान जब अपना उत्कृष्टरूप रखता है तब वहाँ उद्यम ध्यानका रंच नहीं रहता, किन्तु अपने आप टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वरूपमें यह उपयोग निरत हो जाता है, शुद्ध ज्ञानप्रकाशरूप वर्तने लगता है और उस शुक्लध्यानके बाद फिर ऐसी ही वीतरागता उसके वर्तती रहती है। इस परम शुक्लध्यानके प्रतापसे ये योगीश्वर परमवीतराग तपश्चरणमें लीन हो जाते हैं। उत्कृष्ट तपश्चरण रागद्वेषरहित ज्ञाता द्रष्टा रहना है। मोही जीवके तपश्चरणकी सुध नहीं है और कभी मोह न रहे, प्रारम्भिक दशा हो, धर्ममार्गमें बढ़े तो उद्यम करता है यह कि रागद्वेषको त्यागकर मैं मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहू, लेकिन ऐसा ज्ञाताद्रष्टा रहनेके पुरुषार्थमे इस अभ्यासीको उपयोगकी स्थिरता नहीं होती है। कुछ समय आत्माके ध्यानमें लगने पर घबड़ाहटसी हो जाती है। मालूम होता है कि यह आत्मामें मग्न होनेका काम बहुत ऊँचा काम है। इसे बड़े बलशाली ही पालन कर सकते हैं। ऐसे इस ज्ञायकस्वरूपमें अभेदरूपसे निरत रहने रूप शुक्लध्यानके बलसे जो वीतराग होता है, समस्त उपरागोंसे जो दूर होता है उस भव्य पुरुषके यह परमसमाधि प्रकट होती है।

परमसमताका स्वरूप और महत्त्व—जहाँ यह परमसमाधि प्रकट होगी वहाँ द्रव्यकर्म और भावकर्मकी सेना ठहर नहीं सकती है। इस आत्मा पर ये द्रव्यकर्म और भावकर्म सेनाकी तरह जुटकर इस एक आत्माराम पर आक्रमण कर रहे हैं, उस समस्त सेनाको लूटनेमें समर्थ यह परमसमाधि है। इस समाधिभाव, समतापरिणाम रागद्वेष न रहे, सर्वजीवोंमे परममैत्री हो जाय, किसीके प्रति विरोध भावना न रहे, ऐसी परमसमता अवर्णनीय है। आत्माका कल्याण करने वाली चीज यह समता ही है। किसी कषाय में आकर किसी जीवके प्रति चाहे वह कितना ही उद्दण्ड हो, कितना ही विपरीत हो, मूढ हो, विरोधी हो, फिर भी उसको विरोधी मानना यह ज्ञानीका कर्तव्य नहीं है। ज्ञानी तो विरोधी जीवको भी जानता तो रहता है, पर विरोध-भाव नहीं रखता है, वह सबका ज्ञाताद्रष्टा रहता है।

ज्ञानियोकी विरोधीपर करुणा—भैया! ज्ञानीके उपयोगमें तो विरोधी जन करुणाके पात्र हैं। अज्ञानी जन अपने विषयबाधकोंको देखकर उन पर बड़ा रोष करते हैं, पर ज्ञानी जीव अपने किसी कार्यमें बाधक निरखकर यों देखा करते है कि इनका उपादान ऐसा ही अज्ञानमय है, और ये अज्ञानरूप परिणम रहे हैं। यह समाधि धीर, वीर, उत्तम ज्ञानी पुरुषके ही प्रकट होती है। जो जीव विषयकषायोंके लोलुपी हैं, धन, जड़ वैभवकी ममता रखते हैं ऐसे पुरुषोंके हृदयमें समताभावका प्रकाश नहीं आ सकता है। यह आत्मसम्पदा है, इस अमूर्त सम्पदाके समक्ष तीन लोकका एकत्रित वैभव भी न कुछ चीज है। आत्माको क्या चाहिये? शान्ति और आनन्द। जो भाव शान्ति और आनन्दको पूर्णरूपसे दिया करे उससे बढ़कर सम्पदा और क्या हो सकती है? आत्माकी सम्पदा आत्मासे भिन्न नहीं है। जो आत्मासे भिन्न है वह आत्माके शान्ति और आनन्दको कर सकने वाला नहीं है। ऐसी यह परमसमता, किसी भी पदार्थमें राग और विरोध न हो ऐसी समाधि किन्हीं ही उत्तम पुरुषके प्रकट होती है।

स्वयंकी अन्तर्दृष्टि हुए बिना साधुसंतोंके अन्तरङ्गके परिचयका अभाव--इस सहज आत्मसम्पदाका जब तक हम अनुभव नहीं करते तब तक हम साधुसंतोंकी विशेषताको नहीं जान सकते हैं। जो जीव अपने आप में विकल्पभावोंको तजकर निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानप्रकाशमय अनुभव कर सकते हैं वे ही मनुष्यका माहात्म्य जान सकते हैं। साधुसंतोंके अन्तरंगमें क्या बर्त रहा है ? वह कौनसी दृष्टि है जिस दृष्टिके पा लेनेसे यह साधु-पुरुष कृतार्थ हो रहा है और निरन्तर निर्व्याकुल प्रसन्न रहता है, उस मर्मका परिचय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि यह इस ज्ञानप्रकाशका स्वयं अनुभव न कर ले। दूसरे लोग मिठाई खाते हैं उनको कैसा आनन्द आता होगा ? इसकी परख वही कर सकता है जिसने उस मिठाईका स्वाद लिया हो, इस ही तरह ज्ञानीपुरुष किस भावमें रहा करते हैं, उनके अन्तरंगमें कौनसी गुत्थी सुलझ गयी है, उनके कौनसा प्रकाश प्रकट हुआ है जिससे वे धीर, प्रसन्न कर्मबोझसे हलके अनाकुल मोक्षपथगामी हुआ करते हैं, उस तत्त्वका परिचय पाना हो तो हमें भी उन जैसा ज्ञाताद्रष्टा रहकर अपने आपमें इस सहज परमात्मतत्त्व का अनुभव करना होगा। इस अनुभवके प्रसादसे अपनी भी गुत्थी सुलझ जाती है और परमेष्ठीका भी माहात्म्य समझमें आ जाता है। यों सर्वकल्याणकी प्राप्तिके लिए परमसमाधिभाव होना चाहिए। उस समाधिका ही इस अधिकारमें वर्णन चलेगा।

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥ १२३ ॥

ध्यान द्वारा परमसमाधि--जो भव्य आत्मा संयम, नियम और तपके द्वारा तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यानके द्वारा आत्माको ध्याता है उस भव्यआत्माके परमसमाधि होती है। इस वाक्यमें समाधिका लक्षण भी आ गया, जहाँ अन्तःस्वरूपमें संयमन है और बाह्यमें विषयकषायोंका निरोध है वहाँ परम-समाधि होती है। जहाँ निज शुद्ध आत्माकी आराधनामें लीनता है वहाँ परमनियम है। जहाँ निज चैतन्यस्वरूपमें अपने उपयोगको तपाना है और बाहरके कितने भी उपद्रव आने पर रंच भी खेद न माननेका तप है वह सब परमसमाधि है। जहाँ पुरुषार्थ करके अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके प्रति उपयोग करके शुद्ध आत्माका ध्यान किया जाता है वह धर्मध्यान है, यह भी परमसमाधिका रूप है और जहाँ राग-द्वेषका परिणाम नहीं है, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहा करना है, ऐसे शुद्ध परिणमनका नाम शुक्लध्यान है, यह भी परमसमाधि है।

परमसमाधिमें संयमका अनिवार्य सहयोग--संयमका अर्थ है समस्त इन्द्रियके व्यापारोंका त्याग कर देना। स्पर्शनइन्द्रिय अपने विषयमें न लग रही हो, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये सभी इन्द्रियां अपने विषयोंमें प्रवृत्त न हो रही हों और यह मन भी किन्हीं बाह्य पदार्थोंमें न भटक रहा हो, अपना जो शुद्ध सहज ज्ञान-स्वरूप है उस स्वरूपका ही ज्ञाता हो रहा हो, ऐसा जो भी विशुद्ध परिणमन है उसका नाम संयम है। समाधि कहते हैं जहाँ आधि व्याधि उपाधि समस्त शान्त हो जायें, केवल निर्व्याकुल शुद्ध ज्ञानप्रकाश ही अनुभवमें रहे। जिस जीवके मैं ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूं, ऐसा ही अनुभव चलता है उसे ही वास्तविक सम्पदा मिली है। ये जगतके झूठे ठाठ कभी आयें, कभी न रहें, जब आयें तब भी क्लेशको पैदा करनेके ही कारण होते हैं। जहाँ रंच भी चैन नहीं, शान्ति नहीं, ऐसे इन बाह्यसम्पदावोंका संयोग यह ही महा विपदा है। जिनको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, जिसने अपने इस शुद्ध स्वरूपको नहीं पहिचाना है उनको तो यह संसारका भटकना ही लगा हुआ है। ये सब संकट संयमके बलसे दूर हो सकते हैं। लोग इन्द्रियके विषयव्यापारमें अपनी चतुराई मानते हैं, मौज मानते हैं, पर मौज कहाँ ? निरन्तर क्षोभ बना रहता है। विषयोंका भोग कोई क्षोभ बिना भी कर सकता है क्या ? ऐसा यह महान् विपदास्वरूप इन्द्रियविषयका उपभोग जहाँ रुक जाय, उस संयमीके ही परमसमाधि प्रकट हो सकती है।

परमसमाधिमे नियमका अनिवार्य सहयोग—नियम कहते हैं अपने आत्माकी आराधनामें ही नियत हो जाना। नियमका अर्थ है भली प्रकार पूर्ण रीतिसे लग जाना। अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें जिनका उपयोग निरत हो गया है, जो अपने स्वभावभक्तिसे चिगते नहीं हैं, जो किन्हीं भी बाह्य विषयोंको रच भी हितकारक नहीं मानते हैं, ऐसे योगीश्वरोंके यह परमसमाधि प्रकट होती है। समाधि शान्तिके लिये है, शरीरके पोषणके लिए अथवा दुनियामें अपना चमत्कार फैलानेके लिए समाधि नहीं की जाती है। जैसे कि आजकल समाधिका यह रूप प्रचलित है कि जो सन्यासी बाबा अपना मुँह, नाक बंद करके जितनी देर तक श्वास रोके रहे, उसके उतनी बडी समाधि लोग कहा करते है कि अमुक २४ घटेकी समाधि लगाता है, यह सब शरीरकी साधना है। उनका उपयोग शरीरकी साधनामें बना रहता है, शांतिका उदय इस साधनामें नहीं है। हाँ इतनी बात है कि जो प्राणायाम कर सकता है उसके चित्तके निरोधमें बाह्य सहयोग मिल जाता है किन्तु इस सुविधाका सदुपयोग करे तो सहयोग है और दुरुपयोग करे, लोकमें मेरी ख्याति हो, मै बहुत बडी समाधि लगा सकता हू, लोकमें मुझे इस समाधिके नाम पर अभीष्ट वस्तुवोंकी प्राप्ति हो ऐसा जो अपने आपमे उद्देश्य बनाकर समाधि प्राणायाममें प्रवृत्त होते हैं उन्हें शान्तिका अभ्युदय कैसे हो सकता है? आत्मस्वरूपमे अपने चित्तको नियन्त्रित करनेका जिनके लक्ष्य ही नहीं है वे समाधिकी दिशाको भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इस नियममें ही परमसमाधि प्रकट होती है।

परमसमाधिमे परमार्थतपका अनिवार्य सहयोग—अध्यात्म तप जो परमसमाधिका मुख्य साधक है वह है आत्माको आत्मामें आत्माके द्वारा लगा देना। तपमे बड़ी घबड़ाहट लोगोंको होती है। मोही जीवको अथवा रागी पुरुषको इस अध्यात्मतपमें बडी घबड़ाहट है और कोई कोई मनचले तो यह शंका करने लगते है कि सिद्ध भगवान दुनियाके अतमें अकेले रहते हैं। न परिवार है, न मित्रजन हैं, न किसीसे बोलते-चालते हैं, कैसे उनका समय कटता होगा? अरे! वे अध्यात्मतपसे तपे हुए निज आत्मामें एकमेक अभेदरूपसे आनन्दमय परिणमन कर रहे हैं और वह परिणमन एक ही गतिसे निरन्तर हो रहा है। वहाँ आकुलताका तो नाम ही नहीं है। जिन पुरुषोंको रागकी आकुलता पैदा हुई है वे अपनी आकुलता मिटानेके लिए कुटुम्बसे बाते करते हैं, मित्रोंसे सम्बंध रखते हैं। ये बातें तो रोगके इलाजरूप हैं, कर्तव्यरूप नहीं है। प्रभुके रागद्वेष, मोहका रोग ही नहीं उत्पन्न होता है, वे क्यों अपने आत्मतत्त्वसे बाहर उपयोग लगायें? उनका यह अध्यात्मतप है कि अपने आत्माको अपने आत्मामें ही लगाये रहते हैं।

विवेकियो द्वारा सुरक्षित धामका अपरित्याग—जैसे बड़ी तेज बिजली जहाँ कड़क रही हो, गाज भी गिर रही हो, ओले भी पड़ रहे हों, ऐसे समयमें किसी भी पुरुषको बहुत अच्छी कोठरी ठहरनेको मिल जाय जहाँ पानीका प्रवेश भी नहीं हो सकता तो वह मनुष्य कोठरी छोड़कर क्या इन ओलोंके तूफानमें बाहर निकल भागेगा? अरे! वह तो उस कोठरीमे ही ठहरता है। इसी प्रकार जहाँ नाना आकुलताएँ, विषयोंका रक्षण, सयोग-वियोग, हर्ष-विशाद, अनुकूल-प्रतिकूल परिणमन और यश कामनाएँ आदिक जहाँ अनेक उपद्रव बरस रहे हों ऐसी बाहरी दुनियामें सकट सहता हुआ यह जीव बड़े सुभवितव्यसे उपद्रवरहित ज्ञायकस्वरूपका सुरक्षित निजगृह पा ले, जहाँ आकुलतावोंका रच भी प्रवेश नहीं है तो ऐसे आनन्दका धाम पाकर फिर इन बाह्य विभूतियोंमें कोई लगेगा क्या? यह तो अपने आपमें ही परिणमेगा। यों अध्यात्मतपके प्रसादसे इस जीवके परमसमाधि प्रकट होती है।

अन्त क्रियाके आधारभूत परमपदार्थके आश्रयमे परमसमाधि—जो भव्य आत्मा अपनी अंतरग क्रियावोंका आधारभूत, ध्वनिकी क्रियावोंके आधारभूत अपने आत्माको ध्याता है उसके निश्चय धर्मध्यान होता है। उसका जो सहज धाम है, किसी परउपाधिकी प्रेरणासे नहीं, न कुछ किसी बाह्य वस्तुका आश्रय करके, किन्तु अपने सत्त्वके कारण अपने आप मे जो अतरंगमे क्रिया होती है, शुद्ध ज्ञानपरिणमन होता है, उस

अर्थपरिणमनका आधारभूत जो निज आत्मतत्त्व है वह जहाँ ध्यानमें आ रहा है ऐसी परिणतिको निश्चय धर्मध्यान कहते हैं। इस आत्माकी अन्तःक्रिया केवल शुद्ध जानन देखनकी होती है। यह आत्मा आडम्बर का कर्ता नहीं है, बाह्य तन, मन, वचनकी क्रियाओंका कर्ता नहीं है। धर्म आत्माके ज्ञातादृष्टा रहनेमें है। रागद्वेष मोह न आए, केवल विश्वका जाननहार रह सके, ऐसी अपनी स्थिति बनानेमें धर्म होता है, हाथ-पैर चलानेमें धर्मके नाम पर ही सही किसी प्रकारकी तन, मन, वचनकी क्रियाएँ करनेमे धर्म नहीं है, कुछ उपयोगको धर्मकी ओर लगानेमे वे बाह्य वातावरणरूप हैं, पर निश्चयसे तो आत्माके भेदरूप जो शुद्ध क्रिया प्रकट होती है जानन देखनरूप वही आत्माकी सच्ची यथार्थ करतूत है, अतरङ्ग क्रियाओंका आधारभूत यह आत्मपदार्थ है ऐसे इस धर्मको जो ध्याता है उस पुरुषके निश्चय धर्मध्यान होता है

धर्मध्यानमे ध्येयभूत असीम ब्रह्मत्व—यह धर्मी चैतन्यस्वरूप है, जो चैतन्यस्वरूप सीमारहित है, यह चैतन्यस्वरूप इस मुझ इतनेमें रहने वाला है, ऐसी प्रदेशकी सीमा बाँधी जाय तो स्वरूपका भान फिर नहीं रहा। स्वरूपमें सीमा नहीं है, यह शाश्वत अन्त प्रकाशमान् है, इसमें किसी भी प्रकारकी उपाधि नहीं है। बाह्य पदार्थका अथवा कर्मका या कर्मजन्य परभावका प्रवेश नहीं है। शुद्ध चैतन्यस्वरूपको जो ध्याता है उसके ध्यानका ही अभ्यास बना है ऐसी विशुद्ध परिणतिको निश्चय धर्मध्यान कहते हैं। यह धर्मध्यान अपने आत्माके आश्रयसे ही प्रकट होता है। ऐसा ध्यान बने तो वहाँ परमसमाधि प्रकट होती है।

निश्चय शुक्लध्यानमे परमसमाधि—इस धर्मध्यानके फलमें इससे भी विशुद्ध परिणति जागृत होती है। जहाँ फिर ध्यान, ध्याता, ध्येयका भी विकल्प नहीं रहता है। इस ध्यानके फलमें वह अवस्था होती है कि यह भेदपरक भी वहाँ चिंतन नहीं रहता, सो जब इन्हीं विकल्पोंका जहां अभेद हो रहा है तो अन्य विकल्पोंकी तो कहानी ही क्या? यों अन्य सर्वविकल्पोंसे दूर होकर जो अपने ज्ञायकस्वरूपके अन्तर्मुख होता है उस अन्तर्मुखमें होने वाली जो विशुद्ध परिणमनोंकी सन्तान है वह सब निश्चय शुक्लध्यान है। इस निश्चय शुक्लध्यानसे परमतत्त्वमें निश्चल स्थित रहना होता है।।

निरञ्जन ब्रह्मके ध्यानमें परमसमाधि—वह मेरा आत्मस्वरूप परमतत्त्व है, परमशरण है, वह किन्हीं भी इन्द्रियोंके द्वारा जाननमें नहीं आ सकता है। स्पर्शनइन्द्रिय इस आत्मस्वरूपको जान नहीं सकती है। रसनाइन्द्रियकी इस आत्मतत्त्वमें गति नहीं है। ऐसे ही घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन्द्रियका भी विषय आत्मा नहीं है। यह आत्मतत्त्व निरञ्जन है, इसमें रागद्वेष तकका भी तो अजन नहीं लगा है। यह तो केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र है। ऐसे ज्ञानप्रकाशरूप परमतत्त्वमे निश्चल स्थित हो जाना, इसको निश्चय शुक्लध्यान कहते हैं। इस उपायसे, इन्द्रियसंयम, आत्मनियमन और चैतन्यप्रतपन तथा निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानसे, अध्यात्मसाधनसे जो परमसंयमी इस अखण्ड, अद्वैत, चैतन्यस्वरूपमात्र आत्माका ध्यान करता है उसके परमसमाधि प्रकट होती है। समता ही इस जीवका भला कर सकने वाली है। रागद्वेष, मोह परिणाम और रागद्वेष मोहके साधनभूत ये धन-वैभव, विषयसाधन, ये इस जीवका उद्धार करने में समर्थ नहीं हैं। ये तो इस जीवको भ्रमाकर, बहकाकर, भुलाकर संसारगर्तमें पटकने वाले हैं। जो भव्य आत्मा इन उपद्रवोंसे अलग होकर इस आत्मतत्त्वका ध्यान करता है उसके परमसमाधि प्रकट होती है।

विविक्त ज्ञानस्वरूपके आलम्बनमे परमसमाधि—भैया! अपने आपके सम्बंधमें चिंतन बनाना चाहिए। इस मुझ आत्माका इस शरीर तकसे भी सम्बन्ध नहीं है, यह शरीर भी छोड़कर मुझे जाना होगा, फिर अन्य वैभव, धन सम्पदा, घर मकान तो मेरे हो ही कैसे सकते हैं? सब कुछ यहीं छोड़कर जाना होगा। यह देह भी मेरा नहीं है, इसके भीतर जो रागद्वेष, क्रोध आदिक भाव होते हैं, अनेक कल्पनाएँ उठती हैं देखो तो प्राकृतिक बात कि ये कल्पनाएँ भी मुझ आत्माके साथी नहीं हैं। ये भी होते हैं और अगले समय में नष्ट हो जाते हैं। इन पर भी हमारा कुछ अधिकार नहीं है। ये मुझमें बनते ही रहें, ऐसी इन पर मेरी

शक्ति नहीं चलती है। ये भी नष्ट होने वाले हैं और जो ज्ञान हम आपने पाया है, इस छद्मस्थ अवस्था में जितना यह ज्ञान प्रकट हुआ है वह ज्ञान भी हमारा साथी नहीं है, यह भी मिट जाता है, विस्मृत हो जाता है, इसका भी ख्याल नहीं रहता है। मैं इन सबसे पृथक् एक चैतन्यस्वरूप हूं, जो मेरा स्वरूप है वह कभी मेरेसे अलग नहीं हो सकता है। जो मेरा स्वरूप नहीं है वह त्रिकाल भी मेरेमें नहीं आ सकता है। ऐसा यह मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूं। इस ज्ञानस्वरूपके आलम्बनमें परमसमाधि होती है। इस ज्ञानस्वरूपका आलम्बन ही मेरा ज्ञान है।

समाधिका आधारभूत धर्मी ब्रह्म—भैया! जो पुरुष शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें अथवा निर्विकल्प समाधिमें जहां विकल्पोंकी तरंग नहीं उठ रही है ऐसी उत्कृष्ट स्थितिमें ठहरते हैं वे साधुजन ही सर्वप्रकारके विकल्पोंसे दूर हैं। मैं उनको वंदन करता हूं समाधिका स्वरूप समाधिवानके आधारसे ही तो है। जैसे धर्म धर्मात्माओंके आधारमें है, धर्म कहीं चलता फिरता नहीं नजर आता। कहां रखा है धर्म कि उस धर्मको उठा लिया जाय? जो धर्मके पालनहार निजस्वरूपके जाननहार सत पुरुष हैं वे धर्मात्मा ही तो साक्षात् धर्म हैं। धर्मको और कहां देखना? जैसा धर्म धर्मके आधारभूत धर्मात्मामें ही रहता है ऐसा धर्मात्मा ही मानो धर्म है। जहां धर्मका आदर किया गया वहां धर्मात्माका भी आदर किया जाता है, ऐसे ही यह रागद्वेषरहित परमसमाधि समाधिवानके ही आधारमें तो है। यह पुरुष जो इस समाधिमें ठहरता है वह ज्ञानपुञ्जरूप सहज आनन्दसे भरा हुआ है। इसके निकट इसके स्वरूपके ध्यानमें आनन्दका मार्ग मिलता है। अन्य जगह तो सर्वत्र विपदा ही मिलेगी, किन्तु साधुके सत्संगमें, साधुके निकट बसनेमें, इस विशुद्ध परिणमनमें आत्माको कल्याण प्राप्त होता है।

कल्याणार्थ आत्मसंकल्प और कर्तव्य—भैया! अपना यह संकल्प होना चाहिये कि हमारा जीवन आत्माकी प्राप्तिके लिये है। ये सारे समागम छिद जावो, भिद जावो, कहीं जावो, किसी अवस्थाको प्राप्त हो, पर इनका आदर संसारमें भटकाने वाला ही है—ऐसा जानकर इनके लिए ही मेरा जीवन नहीं है, ऐसा निर्णय करें। ज्ञानार्जनसे, अध्ययनसे, ज्ञानीजनोंके सत्संगसे धर्मकी अपनी उन्नति करें और इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माका दर्शन करके इसका उपाय बनाकर इस ही में स्थिर होकर ऐसा आनन्द पावें जिस आनन्दमें यह सामर्थ्य है कि अनन्तभवोंके सर्वदुष्कर्मोंका परिहार करके निरुपम, अलौकिक, विशुद्ध-आनन्द प्रकट कर देता है। जो सिद्धभगवन्त हुए हैं ऐसा यह आनन्दस्वरूप आदरके योग्य है, विपदोंका आनन्द आदरके योग्य नहीं है। खाया जाता है जीनेके लिए, जिया जाता है शरीरको धर्मक्रियावोंमें लगानेके लिये, शरीरको धर्मक्रियावोंमें लगाया जाता है आत्माका विशुद्ध ध्यान बनानेके लिए, आत्मा का निर्मल ध्यान बनाया जाता है एक इस सहजस्वभावके शुद्धविकासके लिए। आत्माके सहज स्वरूपका विकास हो, इसके लिए ही पाये हुए समस्त तन, मन, धन, वचन आदिक हैं, ऐसा निर्णय करके इस ज्ञान-विकासके लिए ही अपना जीवन लगाना चाहिये।

किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स॥ १२४॥

[illegible]—समताका नाम परमसमाधि है, रागद्वेष न होकर केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना इसका नाम है समता। जिस योगीके समता नहीं है उस योगीको वनमें रहना कौनसा अभीष्ट सिद्ध करेगा? [illegible] रहित है, [illegible] अभिप्राय वाले हैं उनको जैसे जंगलमें रहना, शहरमें रहना बराबर है। [illegible] कौनसी सिद्धि होगी? जहां समतापरिणाम नहीं है वहां विकल्पोंके [illegible] ही निरन्तर होता रहता है। समता ही [illegible] सहज [illegible] उत्पन्न करनेमें कारण है। [illegible] दर्शनोंको [illegible] देता है [illegible] भावकर्मोंसे, [illegible] दूर है, [illegible]

आनन्दका कारण तो यह परमसमता है।

समताके बिना क्लेशजालोंकी उत्पत्ति—जगतमें जो भी जीव दु:खी हो रहे हैं वे समताके बिना हो रहे हैं, दूसरा कुछ क्लेश ही नहीं है। अपना कुछ मान लिया, कुछ पराया मान लिया, बस इसी स्व-परके पक्षमें रहकर अनुकूल घटनावोंको समझकर यह दु:खी हो रहा है। जैसे मान लो आज यह जीव हिन्दुस्तानमें है तो हिन्दुस्तानके खिलाफ जो भी देश हैं वे देश इसे अनिष्ट लग रहे हैं, उनको यह शत्रु मान रहा है और मरण करके उन्हीं देशोंमें उत्पन्न हो जाय तब उसके लिए यह देश अनिष्ट हो जायेगा और नया देश इष्ट हो जायेगा।

उन्मत्तका व्यवहार—जैसे पागल पुरुषका इष्ट क्या और अनिष्ट क्या? अभी किसीसे बड़े प्रेमकी बात करता है तो थोड़ी ही देर बाद उसे वह गाली सुनाने लगता है। जिसे गाली दे रहा है तो थोड़ी देर बाद उससे प्रेम करने लगता है। उस पागलका ज्ञान मलिन हो गया है उसका क्या भरोसा है? उसमें कुछ टिकाव ही नहीं है, ऐसे ही मोहकी मदिरा पीकर यह जीव पागल हो रहा है, इस कारण इसके किसी एक ओर टिकाव ही नहीं है, कहां टिके यह? थोड़ी देरको मनुष्यपर्यायमें है तो इसे अपना मानता है, मरण करके जिस पर्यायमें जायेगा उसे अपना मान लेगा। आज जिसे मित्र माना जा रहा है कषाय अनुकूल पड़नेसे, कदाचित् मनकी स्वार्थवासनाके विरुद्ध क्रिया बन जाय तो उसे विरोधी मानने लगेगा। यह मोही जीव ठीक पागलकी भांति है। आज किसीसे प्रेममें वार्तालाप कर रहा है तो कहो कल उसीसे शत्रुताका बरताव होने लगे।

समतारहितका वनवास निष्प्रयोजन—जिस पुरुषके तत्त्वज्ञान नहीं है उसके समता नहीं है, उसके अनाकुलता नहीं है। जो समतारहित साधु है, जिन्हें अपने परायेका पक्ष लगा है—यह मेरा शास्त्र है, यह दूसरेका शास्त्र है, यह मेरा नाम है, यह दूसरेका नाम है, इसमें मेरी बड़ाई, इसमें मेरी बड़ाई नहीं है, कितनी तरहके पक्ष लग रहे हैं। इन्द्रियके विषयोंके भी पक्ष हैं, यह मिष्ट भोजन है, यह नीरस भोजन है, यहां अच्छा संगीत होता है, यहां तो कुछ भी नहीं होता है आदिक किसी भी प्रकारके पक्ष लगे हों तो ऐसे समतारहित साधुके किसी एकान्तमें, वनमें, कहीं भी निवास करनेसे कौनसा प्रयोजन सिद्ध होगा? मुक्तिका मार्ग तो नहीं हो सकता। जो द्रव्यलिङ्गधारी योगी हैं, जिन्हें ज्ञान और वैराग्य नहीं जगा है, केवल निर्ग्रन्थ भेष है, नग्न है, दिगम्बर है और इतना ही नहीं, अपने मूल गुणोंके पालन करनेमें सावधान हैं फिर भी समता नहीं है, अन्तरमें तत्त्वज्ञानका प्रकाश नहीं है, अन्तर्मुहूर्त बाद अप्रमत्त दशा जिनके नहीं हो सकती है, ऐसे साधुवोंको वनका निवास भी क्या मुक्ति दे देगा? वह द्रव्यलिङ्गधारी है, श्रमणाभासी है, श्रमणाभासी कहते हैं द्रव्यमुनिको।

साधुपदकी श्रेष्ठता – साधुपद भी बड़ा उत्कृष्ट पद है। साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। इनकी मुद्रा, इनकी वृत्ति किन्हीं किन्हीं रूपोंमें अरहंत भगवानके अनुकूल होना चाहिए, तब वह साधु कहला सकता है। प्रभु अरहंत आरम्भ परिग्रह, रागद्वेष इनसे पूर्ण विरक्त हैं तो उन्हीं बातोंमें जिनकी गति चल रही हो, यही जिनका लक्ष्य हो, इस ओर जिनका सम्यक्‌आचरण हो उन्हें साधु कहते हैं। साधुवोंके भी आरम्भ नहीं होता है। वे अपने शास्त्र-अध्ययन, समितिपालन और षट् आवश्यक कार्योंके सिवाय, वन्दनस्तवन, प्रायश्चित्त, कायोत्सर्ग आदिक आवश्यक कार्योंके सिवाय अन्य किसी काममें हाथ नहीं देते हैं। आरम्भरहित हैं, परिग्रहसे भी रहित हैं, किसी वस्तुकी वाञ्छा नहीं, किसीकी ओर लगाव नहीं, एक विशुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्माकी ही जिनकी धुन है वे निष्परिग्रही साधु कहलाते हैं।

समतारहितके एकान्तवाससे मुक्तिका अलाभ—जिन्हें आत्मतत्त्वकी कुछ सुध भी नहीं है, कभी इसका ज्ञान भी नहीं होता है तो आप जानो कि क्या उसके परमार्थतः साधुता रहा करती है? जो ज्ञानवैराग्यसे

शून्य हैं, जिनको आत्माका अनुभव कभी नहीं होता, जिनकी दृष्टि परपदार्थोंकी ओर होती है, जिनके आत्माका दर्शन नहीं हो पाता ऐसे पुरुष निर्ग्रन्थ भेषमें यदि हैं तो उन्हें श्रमणाभास कहते हैं, झूँठे मुनि कहते हैं। ऐसे द्रव्यलिङ्गधारी श्रवणाभासके समता न होनेके कारण मुक्तिका कोई कारण नहीं बन पाता है। वह वनमें रहे, विविक्तशय्यासन करके रहे, महातप करे, अनशन आदिक दुर्धर आचरण करे तब भी मुक्तिका मार्ग नहीं मिल पाता है।

ज्ञानहीन समतारहित श्रमणाभासके वर्षायोगकी निष्फलता--साधुवोंकी कितनी कठिन तपस्या है ? वर्षाकालमें वृक्षके नीचे ही वे खड़े रहते और ध्यान करते रहते हैं। जगलमें कहा महल है, कहां रहनेका स्थान है ? कहीं कदाचित् कोई साधारण गुफा आदिक मिल गयी तो वहां भी ये रह सकते हैं, पर यह एक तपस्या है कि वर्षाकालमें वृक्षके नीचे खडे-खड़े ध्यान करना। कोई तेज बरसातमें पेड़के नीचे खड़ा हो जाय तो उस पेड़से बड़ी-बड़ी बूँदें टपकती हैं और मैदानमें छोटी-छोटी बूँदें टपकती हैं, उन बड़ी-बड़ी बूँदोंका सहना कठिन होता है, ऐसी कठिन बूँदोंको भी वे साधु सहन करते हैं और ध्यानमें रत रहते हैं। यहां एक शका की जा सकती है कि फिर वे मैदानमें ही खडे रहकर क्यों नहीं ध्यान करते हैं ? तेज वर्षामें वृक्ष में नीचे अधिक बाधा होती है, पत्तोंसे जो बड़ी-बड़ी बूँदें बनकर गिरती हैं, क्या उनसे बाधा न होती होगी ? देखा होगा कि पेड़ोंके नीचे पानीके बूँदोंके गड्ढे बन जाते हैं, बाहरमें पानीकी बूँदोंके गड्ढे न देखे होंगे, किन्तु वे वृक्षके नीचे खडे होकर तप करते हैं। इसका कारण यह है कि पानीमें जलकायके एकेन्द्रिय जीव हैं, यह पानी वृक्षपर टक्कर मारकर नीचे गिरता है तो प्रासुक हो जाता है। वे साधु षट्कायकी हिंसासे दूर रहने वाले हैं, मैदानका पानी सचित्त है और वृक्षके नीचेका पानी अचित्त है, इस कारण जीवरक्षाके प्रयोजनसे वे वर्षाकालमें पेड़के नीचे तपस्या करते हैं। उनका तप कितना अद्भुत है, लेकिन तत्त्वज्ञान नहीं है, समता नहीं है तो वृक्षकी तरह खडे होकर तप करनेमें कहीं मोक्षकी सिद्धि होती है ?

श्रमणाभासके ग्रीष्मतपसे भी मुक्तिमार्गका अलाभ--मोक्षका मार्ग शरीरकी चेष्टासे नहीं मिलता है किन्तु वस्तुस्वरूपका यथार्थ भान होने पर जो परतत्त्व हैं उनका त्याग दें और जो अंतस्तत्त्व है उसकी ओर लौ लगायें तो इस अद्भुत अतःपुरुषार्थसे मोक्षका मार्ग मिलता है। मुनिजन ग्रीष्मकालमें बैसाख-जेठके महीनेमें जब कि बहुत कठिन धूप पड़ रही है, साधारणजन मकानसे बाहर निकलनेमें भी बड़ी घबराहट मानते हैं ऐसे समयमें भी पर्वतके शिखर पर किसी शिला पर बैठकर ध्यानमग्न रहते हैं। किसीको अभीष्ट चीज मिल रही हो, मानो कोई धनका लोलुपी है और उसे कहीं हजार-पाच सौ का मुनाफा हो रहा हो तो वह भी कुछ-कुछ गरमी सह सकता है, धूपमें जा सकता है लेकिन उसकी भी हद होती है। अत्यन्त कठिन सतापमें हजार-पांच सौके मुनाफेकी सम्भावना होने पर भी गृहस्थजनोंको घबड़ाहट है। अब सोच लीजिये कि साधुवोंको ऐसी कौनसी अनुपम चीज मिल रही है कि जिस तत्त्वकी रुचिसे, जिस तत्त्वके प्रसादसे ये कठिनसे कठिन ग्रीष्मकालका आताप भी समतापूर्वक सह लेते हैं। कोई अंतरगमें अद्भुत शीतलता देने वाला निधान प्रकट हुआ है· वह है ज्ञानप्रकाशका अनुभव। उसका आनन्द आने पर फिर ये सब कष्ट न कुछकी तरह हो जाते हैं, लेकिन जो साधु तत्त्वज्ञानसे शून्य हैं, समतापरिणामसे रहित हैं, जिनमें रागद्वेषकी तरग बसी हुई है उनको ऐसे-२ बड़े तप भी क्या रच भी मोक्षमार्ग प्रकटकर सकते हैं ?

ज्ञानहीन पुरुषके शीतकालीन दुर्धरतपसे भी मुक्तिका अलाभ---भैया ! विकल्पोंका ही तो नाम संसार है। जो विकल्पोंको अपने अन्तरगमें ही बसाये रहता है वह ससारको बढ़ायेगा या मुक्तिको निकट करेगा ? ऐसे बडे तप भी समतारहित साधुके मोक्षकी सिद्धि करने वाले नहीं होते हैं। कितनी कठिन तपस्यायें हैं, जाडेके दिनोंमें रात्रिभर दिगम्बर दशामें रहकर किसी नदीके तीर, जगलमें या किसी मैदानमें रहकर आत्मध्यान करते हुए विराजे रहते हैं। जहा ठडी हवाओंके थपेड़े बेचैन कर देते हैं, ऐसे भी परिग्रह सहन

करले, किन्तु समता यदि नहीं है, तत्त्वज्ञान नहीं है, शुद्ध ज्ञानका अमृतका पान नहीं हो रहा है तो ऐसा कठिन तप करने पर भी साधुवोंके मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं होती है। अब जानो कि कितना हितकारी यह तत्त्वज्ञान है ?

श्रमणाभासके महोपवासोंसे मुक्तिमार्गका अलाभ--भैया ! ऐसे-ऐसे भी उपवास कर लिए जायें कि शरीर को दुर्बल कर दें। हाड़-चाम मात्र ही शेष रह गया है, अत्यन्त दुर्बलता शरीरमें आ गयी है, बड़े क्लेश मालूम होते हैं, मोहीजनोंको जिस दशामें, ऐसी भी शरीरकी स्थिति बन जाय, देखा होगा कि कोई-कोई महीनोंका उपवास कर डालते हैं, पीनेको पानीका भी नाम नहीं है, ऐसे कठिन उपवास करके भी मोही, अज्ञानी, रागी, श्रमणाभासी मुनिको क्या मोक्षमार्ग मिल सकता है ? जो तत्त्वज्ञान और वैराग्यसे वासित हैं ऐसे पुरुष इन महोपवासोंके बीच भी ज्ञानानुभवका शुद्ध आंतरिक भोजन किया करते हैं, उन्हें तृप्ति रहती है, पर समतारहित साधुको ऐसे कठिन महोपवाससे भी कोई भला नहीं है। हाँ, स्वर्ग आदिक मिल जायेंगे लेकिन वह भी एक संसार-दशा है और स्वर्ग मिलने पर भी विषयकषायोंकी ओर झुक गये तो कौनसी सिद्धि उन्हें प्राप्त हो गयी ?

श्रमणाभासके अध्ययनका विपरीत लक्ष्य--साधुजन अध्ययन-कार्यमें निरन्तर निरत रहते हैं। स्वाध्याय करना, गुरुवोंसे पढ़ना, कुछ याद करना, कुछ पाठ करना, इन सब उपायोंसे वे अध्ययनमें प्रगति कर रहे हैं। खूब पढ़े वे, किन्तु लक्ष्य जिनका विशुद्ध नहीं है, तत्त्वज्ञान और आत्मप्रकाश जिनको प्रकट नहीं हुआ है उनका ऐसा विशाल अध्ययन भी क्या मोक्षमार्गका आनन्द पैदा कर सकता है ? कई भाषावोंके ज्ञाता हो गए पर चित्तमें बसा है यह कि लोग मुझे समझें कि हाँ यह विद्वान् है अथवा वादविवाद करके हम सब पर विजय पायें आदिक बातोंके पीछे घोर श्रम कर रहे हैं, फिर भी चूँकि आशय मिथ्या है, संसारसे छूटनेका चित्तमें भाव नहीं है, एक वीतराग अवस्था पाकर मात्र ज्ञातादृष्टा रहनेका लक्ष्य नहीं है तो ऐसा विशाल अध्ययन भी इस श्रमणाभासका क्या कुछ काम कर देगा ? उससे भी कोई फल उपादेय नहीं प्राप्त होता है।

श्रमणाभासके मौनकी अकिञ्चित्करता--ऐसे ही कितने ही साधुजन महीना-महीना, वर्ष-वर्षका मौन ले लेने पर वचनोंका त्याग कर देते हैं निरन्तर मौनव्रत भी रहा करता है फिर भी समतापरिणाम नहीं है, तत्त्वज्ञान नहीं है तो वह विकल्प ही तो अन्तरमें गूँथेगा और बल्कि कहना तो कुछ चाहता है, पर मौनव्रत लेनेसे कह नहीं सकता है। सो एक व्याकुलता भी उस मोही पुरुषके हो सकती है। तब उसका यह मौनव्रत क्या कुछ उपादेय फलको दे सकता है ? इतनी कठिन साधना भी श्रमणाभासको कार्यकारी नहीं हो पाती है और भी कार्य हों, जाप, माला, फेरे, रातदिन जाप-जापमें ही जुटा रहे, बड़े-बड़े विधान महोत्सव आदिक व्यवहार धर्मकी धुनमें पिल रहा है, कितने भी कोई कार्य कर ले, लेकिन जो द्रव्यलिङ्गी साधु हैं, श्रमणाभासी हैं, ज्ञान वैराग्यसे शून्य हैं जिन्हें पारमार्थिक ज्ञानप्रकाश नहीं मिला है उन साधुवों को किन्हीं भी तपसे, व्रतसे उपादेयफल प्राप्त नहीं हो सकता है।

आत्महितका सीधा स्वाधीन उपाय--भैया ! अब जानियेगा कि आत्महितका कितना स्वाधीन उपाय है तत्त्वज्ञान हो, समता रही आये तो इतना तप न भी कर सके, इतना कष्ट भी न उठा सके, किन्तु साधुताकी सीमामें जो व्रतसे रहना आदिक आवश्यक है वह निरारम्भ, निष्परिग्रह है, ज्ञानध्यानकी लीनता समा जाय तो उसे तो सिद्धि है और जिसे ज्ञानानुभव नहीं हुआ है, वह कठिनसे भी कठिन तप करे तब भी कोई सिद्धि नहीं है। पहाड़ पर रहे, वनमें रहे, गुफामें रहे, झाड़ियोंमें रहे, वृक्षोंके खोखलोंमें रहे, कहीं भी जाकर रहे, फिर भी ज्ञानका अनुभव नहीं हो सका है। अपने सहजस्वरूपका परिचय नहीं हो पाया है तो विकल्पका जाल हो गूँथकर वह साधु कर्मबंध हो कर रहा है, सम्वर और निर्जराका पात्र नहीं है।

इन्द्रियका बड़ा-बड़ा संयम करे, रस परित्याग करदे, बड़े उपवास करे, तीर्थयात्रा कर डाले, अध्ययन पूजा होम आदिक कार्य कर ले तब भी इस ब्रह्मकी इस आत्माकी सिद्धि इन क्रियावोंसे नहीं है।

आत्मज्योतिके उपासकमे परमसमाधिकी पात्रता—कल्याणार्थी पुरुष बाह्य साधनके अतिरिक्त अन्य कुछ उपाय गुरुवोंके सत्संगमें रहकर ढूंढे, जिससे ज्ञानका प्रकाश मिले और आत्मसिद्धि हो। समतारहित प्राणियोंको उपवास आदिक तपोंसे कोई भला नहीं है, इसलिए समताका निधान, अनाकुल जो चैतन्य-स्वरूप है उस स्वरूपकी उपासनामें लगो। परमपिता, परमशरण, सारभूत तत्त्व एक यह ही है आत्म-प्रकाश। इस तरह परमसमता अधिकारमें समाधिकी पात्रता किनके होती है, उनका इसमें निर्देश किया गया है। यह समाधि आत्मानुभवी सन्तके हुआ करती है।

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिं दिओ।
तस्स सामाइग ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ १२५ ॥

समताका पात्र—जो सर्व तरहसे विरक्त है, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्तिका पालने वाला है, जिसने इन्द्रियोंको निरुद्ध कर दिया है ऐसे भव्यपुरुषके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवली भगवानके शासनमें कहा गया है। सामायिक, समता दोनोंका एक ही अर्थ है। चूँकि दिनमें तीन बार जो व्रती पुरुष सामायिक करता है उसमें समतापरिणाम बनानेका यत्न किया जाता है, इसलिए उस क्रियाका नाम साम-यिक रख दिया है। सामायिक वास्तविक मायनेमें समताका है और सामायिकमें फर्क है। जापमें तो प्रभुका ध्यान किया जाता है किन्तु सामायिकमें रागद्वेषोंको तजकर निर्विकल्प बनकर ज्ञाताद्रष्टा रहनेका यत्न किया जाता है। यह अन्तर है जाप और सामायिकमें। संयममार्गणामें जहाँ संयमके भेद कहे गये हैं वहा सामायिकका नाम लिया जाता है—सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातचारित्र। वहां सामायिकका प्रयोजन दिनमें तीन बार जाप देनेका नहीं है। साधु-संतोंके २४ घन्टा सामायिक रहा करती है अर्थात् वे ससार, शरीर, भोगोंसे पूर्ण विरक्त हैं, अतः उनकी किसी भी बाह्य साधनामें राग और द्वेष नहीं होता है, इस कारण उनके समतापरिणाम बना रहता है।

परमसमाधिके उपायका भी प्रदर्शन—यह सामायिक अर्थात् समतापरिणाम जो परमसमाधि स्वरूप है वह कैसे प्रकट होता है, इसका दर्शन इस गाथामें कराया गया है कि ऐसे मुनिके स्थायी सामायिकव्रत होता है अर्थात् सामायिक परिणाम ठहरता है। जो समस्त पापकर्मोंके व्यापारसे रहित हैं, जिन्होंने मन वशमें किया है, किसीका बुरा चिन्तन नहीं कर सकते, जिसने वचन वशमें किया है, किसीको अकल्याणवादी वचन न बोल सके, जिस शरीरको वशमें किया है, हिंसाकारक चेष्टा कभी शरीरसे नहीं कर सकते, ऐसे तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित और सब प्रकारके इन्द्रिय व्यापारोंसे जो विमुख हैं ऐसे संयमी मुनिके सामायिक-व्रत ठहरता है, यह बात इस गाथामें कही गयी है।

सर्व सावद्य और उनका प्रतिनिधि—सावद्य ५ प्रकारके होते हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परि-ग्रह। यद्यपि सावद्यके ये ५ भेद कहे हैं फिर भी इनमें मुख्य हिंसा है। क्योंकि झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहमें भी हिंसा होती है, सो पाचों प्रकारके पाप हिंसामे समा जाते हैं। प्रमादसे, कषायभावसे अपने और दूसरेके प्राणोंका सताना, विह्वलता उत्पन्न करना, इसका नाम हिंसा है। लोकमें ५ प्रकारके संसारी जीव हैं—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनका प्राणघात होना सो हिंसा है।

एकेन्द्रियविघात—एकेन्द्रिय जीव वे हैं जिनके केवल स्पर्शन इन्द्रिय है। जिनके शरीरके अंगोपांग नहीं हैं जिनके मुख, पैर आदि भी प्रकट नहीं होते है, उसे स्थावर कहते हैं। वे एकेन्द्रिय ५ प्रकारके हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, ओर वनस्पति। इन ५ प्रकारके जीवोंमें केवल एकरूप शरीर शरीर है, स्पर्शन ही

स्पर्शन है, शरीरके अगोपांग नहीं हैं, न मुख है, न नाक है, न हाथ है, न पैर है, वे न सिकुड़ सकते हैं, न चल सकते हैं वे स्थावर जीव हैं। जल नीची जमीन पाकर वह जाता है, किन्तु उसका नाम चलना नहीं है। अग्नि अपने स्वभावसे ज्वालाएँ उत्पन्न करती है, किन्तु यह चलती नहीं है, हवा भी चूँकि उसका बहना स्वभाव है, पर उसको चलना नहीं बोलते। कोई हाथ पैरसे सरक कर हवा चलती हो, ऐसी बात नहीं है। वनस्पति, रूख, पेड़ ये सब स्थावर हैं, जहा हैं तहां ही ठहरे हुए हैं, यों एकेन्द्रिय जीवका असंयमीजन अपने स्वार्थवश घात किया करते हैं।

साधुके एकेन्द्रियविघातका भी परिहार—साधु पुरुप इन एकेन्द्रिय जीवोंका भी अपनी प्रवृत्तिसे घात नहीं करते हैं। इस कारण साधुवोंको भोजन न बनानेका नियम है। कोई श्रावक भोजन बनाए, सब घरके लिए रोज बनाते ही हैं, शुद्ध खायें रोज अथवा न भी खाते हों शुद्ध रोज, पर किसी दिन सभी घर शुद्ध खाये, ऐसे बने हुए शुद्ध भोजनमें कोई साधु आ जाय और आहार कर जाय यह विधि धर्ममें है। वे साधु अपने-अपने भोजनका निर्माण नहीं करते, क्योंकि इसमें हिंसाका दोष है और आसक्तिका दोष है। ये नाना प्रकारके एकेन्द्रिय जीव हैं उनकी किसी प्रकारसे हिंसा करना सो एकेन्द्रियकी हिंसा है। साधुजनोंके एकेन्द्रिय जीवकी भी हिंसा नहीं होती है।

साधुवोंके विकलत्रयके हिंसाकी असभावना—दो इन्द्रिय जीव जिनके प्रकट नहीं हुए, किन्तु किसी रूपमें अगोंपाग प्रकट हो गए हैं, मुख भी बन गया है, जिह्वा भी है, जो जमीन पर सरक कर ही धीरे-धीरे चल पाते हैं ऐसे लट केचुवा, जोक, शख कौड़ी, सीप आदिक जीव दो इन्द्रिय कहलाते हैं। इन दो इन्द्रिय जीवोंका प्राणघात करना सो दोइन्द्रिय जीवकी हिंसा है। तीनइन्द्रिय जीव वे कहलाते हैं जिनमें पैर भी प्रकट हो गए हैं किन्तु उनके पैर अधिक होते हैं। चार पैरसे ज्यादा तीन इन्द्रिय जीवके होते हैं, जैसे चींटी, चींटा, खटमल, जू, बिच्छू ये सब तीन इन्द्रिय जीव कहलाते हैं। अपने आरामके लिए अथवा अपने प्रमादसे इन जीवोंका घात करना सो तीन इन्द्रिय जीवकी हिंसा है। चारइन्द्रिय जीव वे हैं जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और नेत्र भी प्रकट हो गए हैं। ऐसे जीव छोटे और उड़ने वाले होते हैं। मक्खी, मच्छर, टिड्डी, ततैया, भवरा आदिक जीव चारइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। अपने आरामके लिए अथवा अपने प्रमादसे इन जीवोंका घात करना अथवा रागद्वेषवश इनकी हिंसा करना, सो चतुररिन्द्रिय जीवोंकी हिंसा है। इन विकलत्रिक हिंसासे भी परे साधु पुरुष होते हैं।

पञ्चेन्द्रिय जीवके विघातका महापराध—पचेन्द्रिय जीव वे कहलाते हैं जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाच इन्द्रिय प्रकट हुई हैं। ये कुछ तो मनरहित भी हो सकते हैं किन्तु प्राय सभी पचेन्द्रिय सैनी होती हैं, इनके मन और हो गया है। इस कारण इनका विकास पहिले के सब जीवोंसे अधिक है, अब सज्ञी जीव तो मुक्तिका मार्ग बनाने मे समर्थ हैं। सम्यग्दर्शन को नारकी, देव, मनुष्य तो पैदा कर ही सकते हैं, तिर्यञ्चोंमें भी घोड़ा, बैल, हाथी, सिंह, नेवला, साप, बन्दर ये सभी जीव सम्यग्दर्शन पैदा कर सकते हैं। मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन है, ऐसे विकासको प्राप्त हुए पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना यह पचेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा है, और इसमे उनके मोक्षमार्गके विकासमें बाधा डालने का भी बड़ा अपराध होता है।

भावहिंसाका प्रधान सावद्य—हिंसामे तो हिंसा होती ही है और यह हिंसा हुई है अपने आपके परिणाम खोटे करनेसे। जो अपने परिणाम खोटे रखता है वही इन जीवोंके घातके लिए प्रवृत्ति करता है। इनका घात होना द्रव्यहिंसा है और अपने परिणाम बिगाड़ लेना भावहिंसा है। पापोंका बध भाव हिंसासे होता है लेकिन जो भावहिंसा रखता है उसकी प्रवृत्तिसे द्रव्यहिंसा होती है। इस कारण पर जीवोंके घातको हिंसा पाप बताया है। वस्तुत: तो अपने आपके जो परिणाम बिगाड़े हैं, कलुषित

भावनाएँ हुई है वे सब पाप के कारण हैं।

असत्यवादमें हिंसाका समावेश—भैया ! हिंसामें तो हिंसाका पाप होता ही है, किन्तु झूठमें भी हिंसाका पाप समाया हुआ है। कोई पुरुष किसी दूसरेके सम्बन्धमें झूठ बात बोलेगा तो कुछ परिणाम कलुषित करना पड़ा तभी झूठ बोल सकता है। कभी विषम साधनोंमें कोई बाधक हुआ, उसके दुःखी करनेका परिणाम हुआ तो इन कलुषित भावनावोंसे प्रेरित होकर झूठ बोला जा सकता है। झूठ बोलने में दूसरे प्राणीका भी प्राणघात हुआ और अपने ज्ञान दर्शन शुद्ध प्राणका भी विघात हुआ। झूठ बोलने में भी हिंसा समायी हुई है।

स्तेयमें हिंसाका समावेश चोरी करनेमें भी हिंसाका पाप बना हुआ है। लोग धनको प्राणकी तरह समझते हैं। मोहका उदय है, सत्यमार्गका दर्शन नहीं हुआ, वस्तुस्वरूप ध्यानमें नहीं है, अपनी सीमा, अपनी स्वरूप सत्ता समझमें नहीं है तो मोहियोंके जगतमें अन्य मोहियोंकी चेष्टाको निरखकर स्वयं भी इस वैभवको प्राण मानने लगते हैं। कोई पुरुष दूसरोंका धन चुरा ले, हड़प ले, छीन ले, तो इसमें उसने अपना परिणाम बिगाड़ा और दूसरेके परिणामघात का भी कारण हुआ। इस कारण इस चोरीके काममें भी हिंसाका पाप समाया हुआ है।

कुशीलमे हिंसाका समावेश—कुशील सेवन तो अति विन्द्य काम है, शरीरकी रुचि विषय प्रसंग घोर अनर्थका कारण है। यह मनोबल, वचन बल और कायबल, सभीका विघात करने वाला है ऐसा परस्त्री या परपुरुषविषयक कामनावोंमें हिंसाका पाप समाया हुआ है। इसमें प्रथम तो अपना ही परिणाम बिगाड़ा, कुशीलका परिणाम इतना दूषित परिणाम है कि कामविकारी पुरुष आत्मस्वरूपका ध्यान कर सकनेका पात्र नहीं है। अपने परिणाम बिगाड़नेसे, दूसरेके परिणाम बिगाड़नेसे, असंख्यात कुन्थु जीवोंका विघात होनेसे हिंसाका पाप कुशीलमें समाया हुआ है।

परिग्रहमें हिंसाका समावेश—परिग्रहमें धनसचयमें भी हिंसाका पाप बना है। प्रथम तो इस धनके लोभी पुरुषने परिग्रहमे दृष्टि डाली, अपने स्वरूपसे चिगकर बाह्य पदार्थोंमें अपना चित्त फंसाया, इस कारण उसके बहिर्मुखता होनेसे इसमें प्राणीके घातका दोष लगा और फिर जो अनेक विह्वलताएँ की जाती हैं वे सब हिंसा पाप ही तो हैं। इस प्रकार ५ प्रकारके पापोंमें हिंसाका पाप समाया हुआ है। जो साधु सत पांचों प्रकारके पापोंसे विनिर्मुक्त हैं, उनके सामायिक; समता याने परमसमाधिभाव ठहरता है।

त्रिगुप्तिपालनमें सामायिक भाव—जिनके शुभ अशुभ सर्व प्रकारके योगोंका परित्याग है, जो तीन गुप्तियोंके पालनहारे हैं, ऐसे पुरुषोंके यह सामायिक व्रत ठहरता है। यह भी बात जितेन्द्र परमागममें कही गयी है। ये मन, वचन, काय इस मोही जीवको बहुत प्रिय लगते हैं। अपने मनके अनुकूल स्वार्थसिद्धि हो, दूसरे चाहे किसी विपत्तिमें आएँ, पर अपन ने जो स्वार्थ सोचा है, न्याय अन्याय कुछ न गिनकर अपने स्वार्थकी सिद्धि करना, यह है मनका दुरुपयोग। वचन पाया है, कुछ बल पाया है, तो इन वचनोंसे दूसरे जीवोंका विघात करना, अप्रिय, अहित वचन बोलना यह वचनोंका दुरुपयोग है और शरीरसे कुचेष्टा करना, हिंसा आदिक पाप करना यह कायका दुरुपयोग है। मन, वचन, कायके दुरुपयोगसे दूर होकर और मन, वचन, कायकी शुभ क्रियावोंको लगानेका भी विकल्प तोड़कर-परमसंयमी बनकर जो अपने आत्मग्रहमें सुरक्षित रहता है, ऐसे संयमी पुरुषके यह सामायिक ठहरती है।

इन्द्रियविजयसे सामायिककी प्राप्ति—सामायिक, समता, समाधि—ये सब एकार्थक हैं। जे साधु पुरुष जो परमसमाधिके पात्र होते हैं ये अपनी इन्द्रियोंको पूर्ण वशमे किए हुए हैं। जो पुरुष इन इन्द्रियोंके

द्वारा इन्द्रियके योग्य विषयोंका ग्रहण कर रहे हैं उनकी दृष्टि बाह्यमें फँसी है और वे आत्मनिधिका परित्याग कर चुके हैं, इस कारण उन जीवोंको तृप्ति व शांतिका मार्ग नहीं मिल पाता है। निजको निजपरको पर जाननेका प्रकाश जिसके परम प्रकट हुआ है और जिसने इस आत्मीय प्रकाशके अनुभवसे परम आनन्द प्राप्त किया है ऐसे साधु संतोंके यह परमसमाधि प्रकट होती है। ये मुमुक्षु पुरुष हैं, इन्हें केवल आत्माके शुद्ध विकासकी वाञ्छा है, ये शरीर वैभव आदिसे रहित होकर केवल अपने आपमें शाश्वत लीन हो जाएँ इसकी ही भावना रहती है। ऐसे मुमुक्षु पुरुषोंके समतापरिणाम ठहर सकता है। जिसने इस जगतमें किसी बाह्य वैभवमें अपना उपयोग फँसाया है उनके समता नहीं हो सकती है।

समतावानके सामायिककी स्थायिता—ये परमवीतराग संयमी पुरुष हैं जिनके लिये शत्रु और मित्र दोनों एक समान हैं, कंचन और कांच जिनके लिए एक पौद्‌गलिक स्कंध ही नजर आ रहे हैं। निन्दा और स्तवन जिनके लिए यों प्रतीत होते हैं कि ये तो अमुक रूपसे परिणमी हुई भाषावर्गणाकी पर्यायें हैं। उन्हें भिन्न और अपने को यथार्थ ज्ञानस्वरूप जान रहे हैं, ऐसे परमवीतरागी, संयमी पुरुषोंके सामायिक निरन्तर ठहर सकता है।

आनन्दका धाम—आनन्द तो समतापरिणाममें ही है। जब कभी हम आपमें किसीकी ऐसी स्थिति हो कि बड़े विश्रामसे घरके चबूतरे पर बैठे हुए हों, किसी ओरका विकल्प नहीं, किसी विषयसाधनकी ओर लालसा नहीं, सो उस समयमें कोई आकर पूछता है कि कहो कैसे बैठे हो? तो वह कहता है कि हम सुख से बैठे हैं। भला बतलावो कि वह न किसी विषयका सेवन कर रहा है, न किसी प्रोग्राम जल्सेमें, न किसी यश-प्रशंसाकी धुनमें है, न कीर्ति-इज्जतकी ओर कुछ ध्यान है ऐसा यह पुरुष कौनसा सुख भोग रहा है? सहज इन्द्रियविषयको रोकनेसे सुखस्वभावी आत्मामें जो स्वयं आनन्दका विकास हुआ है वह इसका सुख है। जो निर्विकल्प होकर इस समतापरिणाममें लीन होता है उसका जो आनन्द है उस आनन्दकी उपमा तो तीन लोकमें कहीं नहीं है, अध्यात्मयोगसे प्रकट हुआ आनन्द क्या कहीं विषयसाधनमें मिल सकता है? ऐसे आनन्दमें मग्न साधु पुरुषके यह सामायिक व्रत ठहरता है।

समतामें शुद्ध शीलप्रकाश—शुद्ध शील समतामें है। शास्त्रोंमें सुना गया है कि परिपूर्णशील भगवानके प्रकट होता है। योगीश्वरोंसे ऊपर, श्रेणियोंके भी ऊपर वीतराग बननेके बाद जहाँ सर्वज्ञता प्रकट होती है वहाँ पूर्ण शीलकी पूर्णता बतायी गयी है अर्थात् जैसा आत्मस्वरूप है पूरी तरहसे वही स्वरूप रह जाय वह है आत्माका शील। इस शीलकी प्राप्तिके लिए व्यवहारशीलकी आवश्यकता है। अर्थात् ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता है। इस कारण लोकमें ब्रह्मचर्यको शीलव्रत कहा गया है, पर शीलका दर्जा बड़ा ऊँचा है और उस परमार्थदृष्टिसे ब्रह्मचर्यका दर्जा बहुत ऊँचा है। ब्रह्ममें, आत्मामें परिपूर्ण रीतिसे लग जाना, सो ब्रह्मचर्य है और आत्माका जैसा सहजस्वभाव है उससे शोभित हो जाना, सो शील है।

परमार्थ धर्मपालनमें परमसमाधि—जो पुरुष संसारके संकटोंको उत्पन्न करने वाले पापोंका परित्याग करता है और मन, वचन, कायका उपयोग दूर करके अपने आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वभावका दर्शन करता है, अपने ज्ञानकलाका विकास करता है ऐसा भव्य पुरुष स्थिर शुद्ध शान्तिसे भरपूर अपने स्वभावको प्राप्त करता है। समता ही परमचरित्र है। रागद्वेषका जहाँ कोई पक्ष नहीं रहता उसे समता कहते हैं। व्यवहारमें धर्म व धर्मपालनका श्रम तो करें और सत्तामें बसे हुए पक्षोंका कुछ भी परित्याग न करें तो बतावो धर्मपालन कहासे हो? मेरा घर है, मेरा वैभव है, मैं अमुक नामका हूं, ऐसी प्रतीति तो निरन्तर बस रही है तो कहासे धर्मपालन किया? इन सब प्रतीतियोंको त्यागकर एक बार भी निज ज्ञानस्वरूपका अनुभव जगे तो वहां धर्मपालन होता है। परमार्थ धर्मपालनमें ही परमसमाधि प्रकट होती है और परमसमाधिसे ही आत्मा का कल्याण होता है।

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ १२६ ॥

सर्वजीवोंमें समभावीके सामायिककी स्थायिता—जो पुरुष स्थावर अथवा त्रस सभी जीवोंमें समतापरिणाम रखता है उसके सामायिक ठहरती है, ऐसा भगवज्जिनेन्द्रके शासनमें कहा गया है। समताका अर्थ ही यह है कि समान दृष्टि रखना। जब तक इन जीवोंमें यह अच्छा है, यह बुरा है, यह मेरा है, यह पराया है, यह विषमता रहेगी तब तक सामायिक बन ही नहीं सकता। वह ज्ञानप्रकाश उत्कृष्ट वैभव है जिस ज्ञानप्रकाशमें यह समस्त जीवलोक एक समान दीखता है।

अज्ञानमें जीवकी परिस्थिति - अज्ञान अंधेरेमें पड़े हुए लोग जड़ विभूतिको पाकर अथवा कुछ मायामय यश, प्रतिष्ठा, बड़ाईको देखकर आर्तध्यान और रौद्रध्यान करते हैं, किन्तु मूलमें क्या है ? कुछ नहीं। सब मायारूप है। हम जिन बड़ोंको पूजते हैं, जिनकी प्रतिमा बनाकर पूजते हैं उनका क्या स्वरूप है ? वे केवल रह गये हैं इसलिये पूज्य हैं। जो केवल होते हैं वे उत्कृष्ट होते हैं और जहां कुछ लगा है, घर है, परिवार है, धन है, कुछ लगाव है वह तो पतित अवस्था है। पतित अवस्थामें भी अहंकार होवे तो इसे कितनी मूढ़ता कही जाय ? कोई पुरुष लोकदृष्टिमें पतित हो, जगह-जगह भीख मांगकर उदर भरता हो और फिर भी अभिमान बगराये तो ऐसे अहंकारीका कौन आदर करे ? ऐसे ही यह अज्ञानी परवस्तुवोंका भिखारी जिसने परपदार्थोंमें अपनी आशा लगायी है ऐसे इन भिखारी संसारी प्राणियोंमें अहंकार भी छा जाय, लोग बैठकर अपने आपके अहंकारका प्रकाशन करें और मनमें अपनेको बड़ा समझें, मैं धनी हू, मै नेता हू, मैं इन लोगोंमे चतुर हू, समझदार हू, किसी भी प्रकारका बड़प्पनका घमंड अन्तरमें रखे तो उसे ज्ञानी पुरुष आदर नहीं दे सकते हैं। वे अज्ञानी हैं, मोही हैं, पतित अवस्थामें है।

तत्त्वज्ञानके बिना दयनीय स्थिति—भैया ! जो कुछ विशेषताएँ मिली हैं, धन, वैभव, ऋद्धि, समृद्धि जो कुछ भी प्राप्त हुए हैं उनमें कल्पनाएँ जगती हैं तो समझना चाहिये कि कितनी दयनीय दशा है, पतित दशा है। पतित दशाका अहंकार करना विवेक नहीं है। जब तक कोई जीव सब जीवोंको समान दृष्टिसे न निरख सकेगा तब तक उससे धर्मपालन नहीं हो सकता है। भला वह कौनसी दृष्टि है, वह कौनसा लक्ष्य है जिसके सामने राजा, महाराजा, सेठ, गरीब सुअर, कुत्ता, कीड़ा, मकौड़ा, पेड़ सब जीव एक समान नजर आते हैं। कुछ अनुमान करो वह कौनसा तत्त्व है जिस तत्त्वको सामने रखने पर ये सब जीव एक समान नजरमें आते हैं ? वह तत्त्व है आत्माका आत्माके सत्त्वके कारण आत्मीयस्वरूप। इस आत्मस्वरूपकी दृष्टिसे सब जीव एक समान हैं। जब तक इतनी उदारदृष्टि नहीं बन पाती, तब तक धर्मकार्य करके, व्यवहारिक कल्पित धर्मप्रवृत्ति करके अपनेको धर्मात्मा मानकर संतुष्ट होना मूढ़ता है।

सामान्य तत्त्वके दर्शनमें धर्मका प्रकाश—धर्म तब प्रकट होगा जब एक बार उस तत्त्वका दर्शन हो जाय जिस तत्त्वके दर्शन होने पर पेड़ोंसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके सभी ससारी प्राणियोंमें एक समान बुद्धि हो जाती है। सब एक हैं। अहो ! कैसा यह दृष्टिका प्रताप है जिसके होने पर यह मोक्षमार्ग प्रकट होता है। आजकल धर्मके नाम पर कितनी विषमताओंको आदर दे दिया गया है ? ओह ! ये अमुक जातिके लोग हैं, इन्हें दूर हटावो, इस प्रकार छुआछूतका भारी मनमें जमाव है। यह जमाव क्या आत्मानुभव करा देगा ? हाँ, केवल एक भोजनप्रसगमें छुआछूतका विवेक हो वह तो ठीक है किन्तु रात-दिन वही वही बात मनमें रखे हैं तो जहां इस जीवमें विषमताकी अनुभूति हो रही हो वहां समतापरिणाम आ सके, यह कैसे सम्भव है ? जो परम मध्यस्थभावमें स्थित हैं ऐसे ही मुमुक्षु जीवोंके परमसमाधि प्रकट होती है। ये साधु योगीश्वर जो परमसमाधिके यत्नमें बर्त रहे हैं उनके सहज वैराग्य प्रकट हुआ है। अन्तरमें उनके वस्तुस्वरूपका परिज्ञान होनेसे उनके समस्त वैभवसे उपेक्षा हो गयी है।

विषमताका फल—भैया ! यह वैभव वर्तमानमें भी मुझे सुख पहुंचाने वाला नहीं है और आगामी कालमें तो इससे सुख ही क्या होगा, अथवा मरने पर तो यह सब छूट जायेगा। इन समागमोंमें विकल्प करनेसे जो पापकर्मका बंध किया है वह बंध साथ जायेगा। यह समागम अशान्तिके लिए हुआ, कुछ आत्महितका कारण नहीं बन सका। जिन कुटुम्बजनोंके अर्थ, जिन माने हुए मित्रजनोंके अर्थ न्याय अन्याय न गिनकर रात दिन श्रम करके धन संचय किया है, मरनेपर न तो धन साथ जायेगा और न ये कुटुम्बके लोग साथ जायेंगे। साथ जायेंगे तो जो संक्लेश परिणाम किया और अज्ञान वृद्धि की, उससे जो पापकर्म उपजा वह साथ जायेगा और जन्म भी मानो नरक जैसी निम्न गतियोंमें होगा।

विषमताके फलमे पछतावा—नरक गतिमें पहुंचने वाला जीव अब घबड़ाता है, तड़फता है। कुछ यदि बोध है, तो वह पछतावा करता है कि हाय ! हमने व्यर्थमें दुर्लभ नरजीवन खो दिया था, पापकर्म उपार्जित किया था, आज इस गतिके दुःख भोगनेके समय वे कोई साथी नहीं हो रहे हैं। साथी होनेकी बात तो दूर जाने दो, यदि ये कुटुम्ब जन भी साथ ही वहां नरकगतिमें जन्म ले लें तो भी वे सुखके लिए नहीं होते, उलटा लड़भिड़कर आक्रमण करके एक दूसरेको परेशान ही करते हैं। इस पर्यायमें जानेके बाद यहांके सारे भाव बदल जाते हैं। मां और बेटा दोनों ही यदि नरकमें जन्म ले लें तो वहा सबका उल्टा-उल्टा ही बोध बनेगा। मां ने पूर्व जन्ममें इस बच्चेकी बड़ी खुशामद की थी, आंखोंमें काजल अञ्जन लगाया था, नाना सेवाएँ की थीं, किन्तु अब नरक गतिमें जन्म लेने पर इस लड़केका जीव यों सोचता है कि यह मेरी आंखें फोड़ना चाहती थी, आंखोंमें सींक डालती थी, ऐसा सोचता है और शस्त्रसे, बलसे हर तरहसे आक्रमण कर देता है।

ज्ञानी और अज्ञानीका भोग—भैया ! किसका कौन साथी है ? इससे ही अनुमान कर लो कि पूर्व जन्ममें जो भी मेरा कुटुम्ब था, क्या आज कुछ मददगार हो रहा है ? वे कहा हैं इसका भी कुछ बोध नहीं है। यह संसार सब मायारूप है। यहां रंच भी विश्वास मत करो कि ये पाये हुए समागम सब कुछ हैं। जो ज्ञानी पुरुष होते हैं वे यों जानते हैं कि जो भी समागम मिले हैं तन, मन, धन, वचन ये सब धर्मके लिए मिले हैं। मेरा सर्वस्व धर्मके लिए न्यौछावर है ऐसी हिम्मत ज्ञानीके होती है। न करे कोई हिम्मत, रहा आये अज्ञानी तो भी उसका सब छूटेगा, मिटेगा। ज्ञानीका भी समागम छूटता है और अज्ञानीका भी समागम छूटता है। उनमें अन्तर इतना है कि अज्ञानी जीव तो इस समागमके मोहमें पाप बांधता है और उस पाप के फलको अगले भवमें भोगेगा और ज्ञानी जीव उस समागममें उपेक्षा बुद्धि रखता है, इस उदारताके कारण जो पुण्यका संचय किया है उसका फल भोगेगा। अन्तर इतना होगा, पर कोई चीज किसीके साथ न रहेगी, यह सुनिश्चित है।

ज्ञानका फल समता—जिस ज्ञानीकी दृष्टिमे ये सब जीव एक समान हैं उसके समतापरिणाम प्रकट होता है। यह महामुनीश्वर योगी उदार है, सबका यथार्थ मर्म और अनुभव करने वाला है। जिसके सहज वैराग्य प्रकट हुआ है उसमें विकारोंके कारणभूत अब मोह रागद्वेष नहीं रहे। अहो, अर्थका उद्देश्य तो समतापरिणाम है। जो धर्म, जो मंतव्य बना है उस मतव्यमे भी यही बात समायी हुई है कि मेरे समतापरिणाम प्रकट हो। कोई सिद्धान्तवादी ऐसा मानते हैं कि सारे लोकमे आत्मा एक है। वह अपने मतव्यमें समताकी सिद्धियाँ करते हैं। किसीसे क्यों राग करना, क्योंकि वह दूसरा है ही नहीं। वह भी मैं ही हू, किस पुरुषसे क्या द्वेष करना, क्योंकि वह भी मैं ही हू। जब सभी जीवोंको मैं ही मैं मानना इस मन्तव्यमें आया है तो अब रागद्वेषसे छूट पानेका यत्न करता है। अरे प्रशंसा सुननेमें हर्ष क्यों मानना, क्योंकि प्रशसा किसी दूसरे ने नहीं की। वह भी मैं ही हू, इसी प्रकार किसी ने निन्दा की तो उसका बुरा क्यों मानना, जिसने निन्दा की है वह कोई दूसरा नहीं है, वह भी मैं हू। इस प्रकार सर्वथा

अद्वैतवादमें भी समतापरिणाम पानेका एक रास्ता बनाया गया है। अब जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे देखिए; जितने भी जीव हैं वे सब जीव यद्यपि पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं, सबका उनका अनुभव अपने आपमें है। किसकी आशा की जाय, किससे रागद्वेष बनाया जाय ?

परमज्ञानमे पूर्ण निर्विकल्पता--भैया ! निरपेक्षस्वरूपपर जब दृष्टि डालते हैं तो सब एक स्वरूप नजर आता है। यों सब जीव एकस्वरूप हैं, वहां मैं और दूसरेका भी विकल्प नहीं है। यह दृष्टि द्वैत और अद्वैतसे परे है। कैसा वस्तुस्वरूपका विवेचन है जैन सिद्धान्तमें कि सब मंतव्योंका उद्देश्य इस स्याद्वादमें मिल जाता है। यह दूसरा है, यह दूसरा नहीं है। मैं हू, यह सब भी विकल्प नहीं हैं, किन्तु एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपपर ही दृष्टि है, स्वरूप दृष्टिमें न एकपना है किन्तु अनुभव है। अनुभव निर्विकल्प होता है। अनेक मानना यह भी विकल्प है और एक मानना यह भी विकल्प है। यह परमसमाधि तो निर्विकल्प दशासे प्रकट होती है। इस परमयोगीश्वरके कहीं रागद्वेष मोह नहीं है, विकारके कारणभूत सर्वप्रकारके रागद्वेष मोह दूर हो गए हैं। यह परमसमतारसका स्वामी है, इसमें भेद कल्पना रंच रही नहीं है। यह मैं हूं, ये दूसरे हैं, यह भी विकल्प वहां नहीं है।

उत्कृष्ट अभेदभावमें परमसमाधि--मैं हूं, ऐसा मानना भी भेद है। यह दूसरा है, ऐसा मानना भी भेद है। मैं माननेमें यह अन्डरस्टुड है कि कोई दूसरा भी है। इतना भेदभाव भी जहां पर नहीं है उस परिणाममें परमसमाधि प्रकट होती है। यों योगीश्वर त्रस जीवों और स्थावर जीवोंमें समान बुद्धि रखते है उन योगियोंके यह सामाधिक नामक व्रत होता है। ऐसा वीतराग सर्वज्ञदेवके मार्गमें प्रसिद्ध हुआ है। जिन योगीश्वरोंका चित्त त्रसहिंसा और स्थावरहिंसासे दूर रहता है, जो योगीश्वर आत्माके सहज स्वरूपमें पहुंच चुके हैं, ऐसे परमसमाधिके पुञ्ज योगीश्वर मेरे हृदयमें विराजमान् होओ, वे अभिनन्दनीय हैं। मैं उनके गुणोंकी मन, वचन, कायसे सराहना करता हू।

आस्तिकका वात्सल्य--भैया ! जिसकी धर्ममें प्रीति है उसे धर्मात्मामें बहुमान हुए बिना रह नहीं सकता और जिसे धर्मात्माओंमें प्रीति नहीं है उसे धर्ममें भी प्रीति नहीं है। आज सभी प्रकारके मनुष्य चाहे कितने हो धनी हों, पर सभी परेशानी अनुभव कर रहें हैं। परेशानी रंच नहीं है। परेशानी तो केवल कुबुद्धिकी है, मोहकी है। किसी दिन यह साराका सारा छोड़कर जाना होगा। जब यह निश्चित है कि मैं सबसे भिन्न हूं तो इन समागमों में क्यों ममता की जा रही है ? हाय ? यह कैसी कुबुद्धि बढ़ रही है कि मै धन खूब बढ़ाऊँ। जो मोह ममता करेगा, उद्दंडता करेगा, उसको परेशान होना ही पड़ेगा। सब दुःखो हो रहे हैं तृष्णावश। यही तो नास्तिकताका स्वरूप है। जो पदार्थ जैसा है वह स्वरूप ध्यानमें न आए, आराधनाके योग्य गुरु, देव, शास्त्र पर जिन्हें विश्वास भी नहीं है वे तो कुबुद्धिमें अग्रणी रहा करते हैं। धर्म और धर्मात्मावोंका तो निकट सम्बन्ध है। जिसे धर्ममें प्रीति नहीं है उसे धर्मात्मामें भी प्रीति नहीं है। खूब अनुभव करके विचार लो।

अज्ञानी और ज्ञानीकी रुचिकी दशा--जिन्हें व्यसनोंमें प्रीति है वे व्यसनी पुरुषोंका आदर करते हैं। व्यसनी पुरुष दूसरे व्यसनी पुरुषको देखकर प्रसन्न हो जाते हैं, धर्मात्मा पुरुषको देखकर प्रसन्न नहीं हो सकते। जिसको जो परिणाम सुहावना लगता है, उसको उस परिणामधारीसे अधिक प्रेम रहता है। यहां यह मुमुक्षु ज्ञानी पुरुष मुक्तिकी अभिलाषा रख रहा है और जिसे मुक्त कराना है उस सहज स्वरूपकी दृष्टि पकड़ रहा है। ऐसे सहज ज्ञान वैराग्यसे सम्पन्न यह योगीश्वर सब जीवोंको धर्ममय देख रहा है। अज्ञानी जीवोंकी जहां यह प्रकृति है कि वे गुणियोंके ऐब ही पकड़ेगे। वहां ज्ञानी पुरुषोंकी ऐसी प्रकृति है कि निन्द्यसे भी निन्द्य पर्याय वाले जीवोंमें, कीडे, मकौडे, सूकर, गधा आदि निम्न पर्यायोंमें रहने वाले जीवोंमे भी उनकी प्रभुता निहारेगा।

अज्ञानीकी दोषग्रहणप्रकृति--जिसकी जैसी प्रकृति है उसे वैसा ही सुहाता है। जो अवगुणी हैं उन्हें अवगुण ही सुहाते हैं और जो गुणी हैं उन्हें गुण ही सुहाते हैं। जिसमें दोषोंका अभाव है वह दूसरे गुणी पुरुषोंमें भी दोष ही निरखेगा। अधर्मी धर्मी पुरुषमें भी धर्मकार्योंको निरखकर ढोंग जैसा निरखता है। वह अधर्मी जानता है कि ये सभी पापी हैं, धर्मका तो ढोंग है। वह अंतरगसे यह सम्भावना नहीं कर सकता है कि धर्मात्मा भी कुछ हुआ करते हैं अथवा धर्म भी कुछ तत्त्व है और धर्मके प्रभावसे निर्वाण प्राप्त होता है, ऐसा प्रत्यय उसकी दृष्टिमें नहीं समा पाता।

ज्ञानीकी गुणग्रहणप्रकृति--जब तक जीव त्रस, स्थावर सभी प्रकारके जीवोंमें समतापरिणाम नहीं कर सकता है तब तक उसे धर्मपालनका पात्र नहीं बताया गया है। तत्त्वज्ञानी सर्वजीवोंमें अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावका ग्रहण करता है। निरपेक्षस्वरूपकी दृष्टिसे सब जीवोंको निहारनेकी ज्ञानीकी प्रकृति है। इस सामान्य भावका जो कि अचेतन पदार्थोंसे विविक्त होनेके कारण असाधारण है, दर्शन होना सर्वप्रथम आपतित है, पश्चात् पर्यायदृष्टि करके विषमपरिणतियोंका ज्ञान करना उस प्रकारका चित्त बनाने द्वारा साध्य है। जहा चैतन्य सामान्यका दर्शन होता है वहा ही परमसमाधि प्रकट होती है।

अद्वैत और द्वैतसे विनिर्मुक्ति तत्त्वकी दृष्टि--सर्वविकल्पोंको त्यागकर, परमविश्रामसे रहकर जो एक सहज ज्ञानप्रकाश अनुभवमें आता है वह तो है अद्वैततत्त्व और इस ज्ञानप्रकाशके अनुभवको छोड़कर जितने भी अनात्मतत्त्वोंमें दृष्टि पहुचती है अथवा भेदरूप जितने भी चिन्तन चलते हैं वे सब हैं द्वैत-तत्त्व। अद्वैतका अर्थ दो नहीं, अथवा उत्कृष्ट अथवा एकस्वरूप और द्वैतका अर्थ है दो या अनेक, अथवा अनुत्कृष्ट। ऐसे दो प्रकारके मार्ग हैं—एक अद्वैतमार्ग और एक द्वैतमार्ग। कितने ही पुरुष अद्वैतमार्गकी इच्छा करते हैं और कितने ही लोग द्वैतमार्गकी इच्छा करते हैं। हम तो अद्वैत व द्वैतके विकल्पोंसे निवृत्त होकर स्वमें आना चाहते हैं।

अद्वैत व द्वैतके एकान्तमे स्वका लोप—अद्वैतमार्गकी भी केवल इच्छा करने वाले लोगोंका, सर्वथा अद्वैतको जब मान लिया गया हो, तब यह रूप बन जाता है कि इस लोकमें सर्वव्यापक एक अद्वैत सत् है, ज्ञान है, शब्द है, ब्रह्म है। अनेक पद्धतियोंके रूपमें उपस्थित हुआ अद्वैत एकात बन जाता है और द्वैतमार्गकी इच्छा करनेके लिए जब बहुत भेदभावमें चले जाते हैं तो एक ही पदार्थके अनेक अंश कर करके पदार्थ मान डालते हैं। जैसे एक आत्मपदार्थ है, इसमें ज्ञान दर्शन आदिक अनेक गुण हैं और इस आत्मामें जानने, देखने, रमने आदिक क्रियाएँ हैं। इस आत्माको जब सामान्य दृष्टिसे तकते हैं तो यह एक चिदानन्दस्वरूप है, एकस्वरूप है, वह सामान्य तत्त्व है। जब हम इस आत्माको न्यारा-न्यारा भेद बनाकर समझना चाहते हैं तो इसमें यह विशेष नजर आता है। इसमें ये परिणमन हैं, ये गुण हैं आदिक बातें पहिले आत्मामें नजर आती हैं। कोई उन सबको एक आत्मा न मानकर एक-एक गुणको, एक-एक परिणमनको सबको न्यारा-न्यारा पदार्थ मानने लगे तो यह भेदवादकी स्वच्छन्दता है। यों अद्वैतके एकातमें भी स्वका लोप हो जाता है और द्वैतके एकातमें भी। अत: अब हम एकातोंको छोड़कर एक इस आत्मानुभवके मार्गमें आते हैं।

भेदैकान्तकी कल्पनामें शांतिका अस्थान--कोई भी पदार्थ हो वह तो है ही, उसके अलावा और भी चीज हैं या नहीं? उत्तर तो यह आता है कि अनेक चीजें हैं। एक हम जीव हैं, ये नाना पुद्गल हैं, अनेक हैं पदार्थ, पर कोई इस अनेकताको मना करके सब कुछ एक ब्रह्म है, सब कुछ एक ईश्वर है, सब कुछ एक ज्ञान है, शब्द है, किसी भी रूपमें नानापनका खण्डन कर डाले तो यहा इस पद्धतिसे वस्तुकी स्वतंत्रता विदित नहीं हो सकती है और कोई नानाको ही देखता रहे, यह भी है, यह भी है और इतना नानापन कर डाले

कि एकपदार्थमें भी जितनी शक्तियां हैं उन सब शक्तियोंको एक-एक पदार्थ मान बैठे तो उसने अपना उपयोग भटकाया है, शान्तिका काम तो नहीं किया है। शान्तिका आधार जो निज ज्ञानतत्त्व है उसकी ओर तो यह आ न पायेगा, क्योंकि इसका उपयोग बाहरमें भटक रहा है।

स्याद्वाद व प्रमाणका दर्शन—भैया ! न केवल अद्वैतसे, न केवल द्वैतसे हम तत्त्वज्ञान कर सकते हैं। अद्वैत मायने हैं अभेदवाद और द्वैत मायने हैं भेदवाद। जैनसिद्धान्त इन दोनोंको स्वीकार करता है, और दोनोंको मानकर यह शिक्षा देता है कि तुम ऐसे अखण्ड आत्माका आश्रय करो कि अभेद और भेद दोनोंका विकल्प समाप्त हो जाय। लोकमें गणेशकी मूर्ति प्रसिद्ध है। शरीर तो मनुष्यका है, मस्तक हाथीका है, और उसका वाहन चूहा है, ऐसी मूर्ति बनाते हैं। एक कल्पना तो करो क्या कोई महापुरुष चूहेकी सवारी करता रहा होगा अथवा अपना सर हाथीका बना लिया होगा। वह मूर्ति एक प्रतीक है किसी सिद्धान्तको बतानेका। वह स्याद्वाद और प्रमाणसिद्धान्तको बतानेका एक अलकार है। जैन सिद्धान्तमें दो नय बताये हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयका नाम है अभेदनय, जिसमें और कोई भेद न उठाया जाय और व्यवहारनयका नाम है भेदनय, जिसके जितने भी बन सकें उतने भेद करने दीजिए। गणेशका वह चूहा भेदभावका दृष्टान्त है। जैसे चूहा कागज कपड़ेको कुतर-कुतर कर खण्ड-खण्ड कर देता है जितना बढ़िया बारीकी से चूहा अपने मुखसे फाड़ सकता है, हल्केसे हल्के कागजका टुकड़ा बना देता है उतना बढ़िया टुकड़ा मनुष्य नहीं कर सकता है। तो वह चूहा व्यवहार नयका प्रतीक है और गलेपर हाथीका सिर भी फिट ऐसा किया है कि एकमेक बन गए हैं, अन्तर नहीं नजर आता। ऐसा अभेद कर देना किसी तत्त्वको, जिसका कि फिर भेद या अन्तर न मालूम हो सके, यह है निश्चयनयका प्रतीक। यह समस्त मूर्ति यह बतलाती है कि निश्चय और व्यवहारनयात्मक तत्त्वज्ञान होता है, उभयनयात्मक होता है। वहाँ पर व्यवहारनयसे समस्त तत्त्वों का निर्णय करके लक्ष्य बनाना चाहिए निश्चयका।

निर्विकल्प अनुभव की भावना—योगीश्वर यों चिन्तन करते हैं कि हम अद्वैत व द्वैत मार्गसे विमुक्त होकर एक ज्ञानानुभवरूप वर्तना चाहते हैं। परमसमाधिके प्रकरणमें उपयोगको वहां ले जाया जा रहा है जिस तत्त्वमें हम अपना उपयोग ले जायें तो रागद्वेष मोह विकल्प तरंग, ये कोई भेद नहीं उठे, ऐसे तत्त्वज्ञानमें ही हमारी समाधिकी पूर्णता होती है। एकस्वरूप सब जीवोंमें समान तत्त्वको जो निरखता है उसके परमसमाधि प्रकट होती है। कोई लोग अद्वैतके मार्गसे अपना व्यवहार बनाए रहते हैं, अपना मत, अपना विचार और अपने धर्मकी प्रभावना एक अद्वैतमार्गका विषय करके बनाते हैं। तो कोई लोग क्रियाकाण्ड करके पूजन विधान आदि अनेक प्रकारकी विधियोंसे आचमन करना अथवा जाप करना आदिक बड़े-बड़े भेदवादों सहित धर्मका पालन किया करते हैं। यह तत्त्वज्ञानी पुरुष जिसने परमात्मतत्त्वका मर्म पाया है और उस तत्त्वमें लीन होनेकी उत्सुकता बनी हुई है उसका यह चिन्तन है कि मैं अद्वैत और द्वैत सभी प्रकारके विकल्पोंको तोड़कर अपने आपके अतःप्रकाशमान् इस परमात्मतत्त्वकी उपासना करता हूं।

स्वरूपभावनाका कर्तव्य—जो पुरुष सदाके लिए संकटोंसे छूटना चाहते हैं उनका यह कर्तव्य है कि वे अपनेसे भिन्न पदार्थोंमे ममत्व न करके उनमें उपयोग न फँसाकर उनके ज्ञाता द्रष्टा रहकर अन्तरंग मे सही उत्सुकता बनायें। यह मैं आत्मा जो न जन्म लेता है, न मरण करता है, किन्तु स्वतः स्वभावसे ज्ञानप्रकाशरूप और आनन्दमय बना हुआ है, ऐसे आत्माको मैं अपने आत्मामें स्थित होकर इस ही को बारम्बार भाता हूं। मैं शुद्ध हूं, ज्ञानमय हू, अविनाशी हू, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म—इन तीन अञ्जनोंसे रहित, निरञ्जन हू, समस्त परपदार्थोंस न्यारा आनन्द मूर्ति हू, इस तरहसे अपनेको जाने

देखे, अनुभव करे तो वहाँ ज्ञानानुभवका प्रकाश होता है। यही है अलौकिक दुनिया, यही है अलौकिक वर्षका प्रारम्भ।

अनादिसे विडम्बना—भैया ! अनादिकालसे इस जीवने विषयवासना, कषायसंस्कारके वश होकर आशा लगा-लगाकर जगह-जगह अपनी भटकना की है। भटका यह खूब, आज सुयोगवश मनुष्य जैसा उत्कृष्ट जन्म पाया, श्रवण और जाननकी शक्ति पायी, अब भी यदि इन बाह्य विभूतियोंमें निरन्तर अपना उपयोग बसाये रहे तो फिर बतावो कल्याणके करने लायक भव कौनसा होगा ? क्या ये कीडे पतगे कल्याण कर सकते हैं ? कल्याण कर सकने लायक भव तो एक मनुष्यभव ही है। यहां ही पुरानी ढफली गाते रहें, विषयकषायोंकी धुन बनाए रहें तो कैसे इस आनन्द घरमें प्रवेश हो सकेगा ?

योग्य अवसरमे भूलका फल—जैसे कोई अधा भिखारी किसी नगरीमें भीख मागनेके लिए जाना चाहता था। नगरमें बहुत धनी और उदार पुरुष थे। वह नगर चारों ओर कोटसे घिरा हुआ था। उस कोटमें मान लो एक ही दरवाजा था। लोगोंने बताया कि इस कोटपर हाथ रखकर चले जाना, जहाँ दरवाजा मिले, वहींसे नगरमें प्रवेश कर जाना। वह पुरुष खुजैला भी था, उसके सिरमें खाज थी। वह हाथ टटोल-टटोलकर चला जा रहा था। जहा दरवाजा आया वहाँ हो हाथ उठाकर अपना सर खुजलाने लगा और पैरोंसे चलना बराबर जारी रखा। इस तरहसे उसने कई चक्कर लगा लिए, उसका ऐसा ही भवितव्य था कि जहाँ दरवाजा आता तहाँ अपनी खाज खुजाने लगता और पैरोंसे चलना जारी रखता। ऐसे ही यह जीव समस्त कुयोनियोंमें भ्रमण करके जब मनुष्य भवमें आया तो यहाँ भी इसने अपने आत्माकी सुध न की। विषयकषायोंकी खाज खुजानेमें ही यह आसक्त बना रहा और मनुष्यभव खो दिया, इस तरहसे कुयोनियोंमें ही भटकना जारी रहा।

कर्तव्यका स्मरण—भैया ! यदि ये अमूल्य क्षण भोगोंमें गुजार दिये जाये तो फिर बतावो उसका कौन साथी होगा ? जिस मकान, दूकान, परिवारको यह अपना सर्वस्व मानता है उनका एक अश भी एक अणु मात्र भी कुछ साथी न होगा। जब तक समागम है तब तक भी ये साथी नहीं, आगे तो साथी कुछ होगा ही क्या ? इससे कुछ आत्माकी सुध लेना चाहिए। सबसे महान् पुरुषार्थ है किसी भी प्रकार समतापरिणाम बन जाय, उत्कृष्ट समता बन जाय, जहाँ किसी भी परपदार्थका रंच भी विकल्प न हो, ऐसा उत्कृष्ट परिणाम हो जाय, ये नाना विकल्प संसारक्लेशको ही उत्पन्न करते हैं।

सहज तत्त्वके अनुभवमे नयोंकी अगोचरता—जो मेरा अनुपम आनन्दस्वरूप है ऐसा यह आत्मा समस्त नय-समूहसे परे है। यह शुद्ध ज्ञानप्रकाश किसी भी नयके द्वारा जाननेमें नहीं आता अर्थात् हम अनुदार दृष्टि बनाएँ, वस्तुके किसी एक अशको निरखें तो वहाँ इस आत्माका अनुभव नहीं होता है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि जिन जीवोंको आत्मानुभव हुआ करता है उन्हें आत्मानुभवसे पूर्व उस निश्चयनयका अलम्बन होता है और जो जीव निश्चयनयकी दृष्टिको छोड़कर केवल मात्र व्यवहार का ही अलम्बन करता है उसको धर्मका मार्ग नहीं मिल पाता। इन विकल्पोंसे मेरा क्या प्रयोजन बनेगा ? यह आत्मा तो द्वैत अद्वैत सर्व प्रकारके विकल्पोंसे दूर है। मैं निज एक उस भावका वदन करता हू, जिसके प्रसादसे अल्पकालमें ही मेरे ससारके सकट दूर होंगे। ससारके सकट धन वैभवसे नहीं दूर होते हैं, ये धन वैभव तो विकल्प बढ़ानेके ही कारण हैं। इन विकल्पोंको तोड़कर निर्विकल्प अखण्ड, अद्वैत चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वमें उपयोग जमे तो संसारके सकट दूर होंगे।

ज्ञानीकी वैभवमे उपेक्षा—ज्ञानीजन इस वैभवको यों छोड़कर चले जाते हैं जैसे नाकसे छिनके हुए मलको छोड़कर लोग चले जाते हैं। फिर उस नाककी ओर नजर भी कोई डालता है क्या ? उससे घृणा करते हैं, ऐसे ही ज्ञानी संत जिन्हें आत्मीय सत्य आनन्दका अनुभव हुआ है वे इन अचेतन व पर-चेतन समागमका परित्याग करके आत्मीय आनन्दके अनुभवके लिए उत्सुक रहा करते हैं। ससारमें

अनेक प्रकारके परिणाम हैं, कुयोनियां हैं, जन्मस्थान हैं, शरीरोंके प्रकार हैं, उन सबमें जन्म लेकर यह जीव जितना भी सुखी दुःखी हो रहा है पुण्य व पापके उदयके कारण हो रहा है। जिसने सुकृत किया उसमें पुण्य आया और जिसने दुष्कृत किया उसके पाप बना। इस आत्माके स्वरूपमे न तो शुभभाव हैं और न अशुभभाव हैं, क्योंकि आत्मा सदा एकरूप है। यह तो जिस प्रकारके सहजस्वभावका है वही स्वभाव वाला आनन्दघन अनादिसे अनन्त काल तक रहता है, ऐसा स्वभाव जो संसारके संकटोंसे मुक्त है, जिसमें शुभ-अशुभ रागद्वेष विषय कषाय किसी भी प्रकारके विभाव नहीं हैं, उस नित्य शुद्ध आत्माका मैं स्तवन करता हू।

सत्य शरण ग्रहण—हे मुमुक्षु जनो! संकटोंसे मुक्ति चाहो तो अपने आपके इस परमात्मप्रभुकी शरण लें। बाह्यमें शरण क्या हो? कुछ साथमें रहनेका नहीं है। जैसा हम चाहते हैं वैसा परिणमन परमें होता नहीं है। इस कारण अन्य विकल्पोंका परित्याग करके ऐसा साहस बनाएँ कि हम अपने आपके उस शुद्ध ज्ञानस्वरूपको निहार लें, जिससे समस्त आकुलता दूर हो जायेगी। जिसके प्रसादसे फिर यह ज्ञानी जितने जीवोंको निरखें, त्रस हों अथवा स्थावर हों, सब जीवोंको देखकर सर्वप्रथम तो उस चैतन्यस्वरूप की सुध लें।

आत्माका चैतन्यचमत्कार--यह आत्मा नित्य शुद्ध है, चैतन्यचमत्कारमात्र है। कोई प्रश्न करे कि इस आत्मामें क्या भरा है? जैसे कोई प्रश्न करे कि इस देहमें क्या भरा है? तो मांस, खून, हड्डी आदि ये सब भरे हैं। इस बोरेमें क्या भरा है? गेहू, चना आदि जो कुछ भी भरा है यह कहा जायेगा। जब यह प्रश्न हो कि इस आत्मामें क्या भरा है? तो उत्तर होगा कि आत्मा चैतन्यचमत्कारसे भरपूर भरा पड़ा हुआ है। एक जाननदेखनहार, विलक्षण, अलौकिक सत्यप्रकाश इसमें पड़ा है। जिस शुद्धप्रकाशके द्वारा यह आत्मा प्रबल अंधकारको, रागांधकारको संकटोंसे दूर कर देता है।

आत्मतत्त्वकी आस्था—यह आत्मतत्त्व जिसकी उपासनाके लिए बड़े-बड़े चक्रवर्ती जैसे महापुरुष भी ६ खण्डकी विभूतिको छोड़कर निर्ग्रन्थ दशामें रहकर अपना जीवन सफल मानते थे वह आत्मतत्त्व सर्वत्र जयवंत हो। हम आप सबमें यह आत्मतत्त्व प्रकाशमान् हो, यह आत्मतत्त्व चैतन्यस्वरूप बड़े-बड़े मुनीश्वरोंके हृदय-कमलमें नित्य विराजमान् रहता है। यह तत्त्व अज्ञानियोंको तो समझमें न आयेगा, किन्तु ज्ञानियोंको यह स्पष्ट ज्ञानमें आता है। ऐसा यह आत्मतत्त्व हम आप सब लोगोंकी दृष्टिमें सदाके लिए विराजमान् रहो। इस सामान्यस्वरूपके दर्शनसे परमसमाधि प्रकट होती है।

शुद्ध उपयोगका जयवाद—वह उपयोग धन्य है जिसमें पक्षकी रंच भी कलुषता नहीं रहती है। ऐसा स्वच्छ उपयोग ही सब आधियोंके शान्त होनेके कारण समाधि है। यह वीतराग विज्ञान ही स्वभावमें युक्त होनेके कारण योग है। ज्ञातादृष्टा रहनेकी सहज स्थिति ही समवर्तनाके कारण परमसामायिक है। यह शुद्ध ज्ञानप्रकाश परमज्योतिर्मय होनेके कारण तेजःपुञ्ज है। यह सहजस्वभावका अवलम्बन ही परमशरण है। इसके प्रसादसे ही शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है।

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ १२७ ॥

योगीका परमसामायिक व्रत—जिसका आत्मा संयममें, नियममें और तपमे सन्निहित है उसके सामायिक स्थायी है, ऐसा केवली भगवानके शासनमें कहा है। जो पुरुष बाह्य मायाजालोंके प्रपंचोंसे पराङ्मुख हैं, जिन्होंने समस्त इन्द्रियोंके व्यापारोंको जीत लिया है और जो इसी कारण भावीकालमें मुक्त होगा ऐसे योगीके संयममें अपना आत्मा जो सन्निहित होता है वही परमसामायिक है।

सामायिक व्रतका पात्र—आत्मा स्वतंत्र आनन्दस्वभाव वाला है, यह अपने आनन्दस्वभावको न मान

कर और अपने इस शुद्ध स्वरूपमें न प्रवेश करके जो बाहर बाहर डोलता है इससे इसे क्लेश है। बहुत बड़े साहसकी बात है सदाके लिए संसारके संकट मिटा लेना, अपनेको केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपमें रत कर लेना, यह बड़े ऊँचे पुरुषार्थ और भवितव्यकी बात है। यह जन्म-मरण न करना पड़े, ये संयोग-वियोग, सुख-दुःख, ये समस्त परिवर्तन खत्म हो जाएँ और निरन्तर शुद्ध ज्ञानरूप बर्ता करें, अपने आनन्द-रसमें लीन रहा करें ऐसी स्थिति पा लेनेका मार्ग जो पा ले उससे अधिक अमीर और किसे कहा जाय? जो अतस्तत्त्वकी रुचिसे इस आत्मस्वरूपमें सन्निहित हो जाता है ऐसे समृद्धिशाली योगीश्वरके ही समता-परिणाम ठहरता है।

अज्ञानमें आनन्दकी दिशाका भी अभाव—भैया! आनन्द जब भी मिलेगा, समतामें ही मिलेगा। पक्षमें, रागद्वेषमें आनन्द नहीं मिलता। कितना घोर यह अज्ञान है कि भीतर श्रद्धा में यह बात मान ले कोई कि ये दो तीन प्राणी मेरे हैं, बाकी सब गैर हैं, यह बहुत बड़ी विपदाकी बात है। वे गृहस्थ धन्य हैं जो घरमें रहते हुए भी अपने परमब्रह्मस्वरूपकी ओर रुचि लगाये रहते हैं। यों कुत्ता, गधा आदि अनेक पशु पक्षी भी अपने उदरकी पूर्ति कर लेते हैं और मौजसे खेला करते हैं, लीला करते हैं। मनुष्य भवमें भी इतनी ही बात यदि रही, खाया, खोया, मौज माना और रौद्रध्यानकी लीला की, बाह्य परिग्रहोंमें आसक्ति रखकर अपना सब कुछ समर्पण इस अज्ञान जड़ विभूतिको कर दिया, ऐसा यदि यहाँ व्यवहार चला आया तो वह तत्त्व तो न मिल सकेगा।

पशुवोंमें मानवकी श्रेष्ठताका कारण धर्मपालन—पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें ही रमण करके पशुवोंसे उत्कृष्टता मनुष्यकी नहीं कही जा सकती है। मनुष्यमें श्रेष्ठता है तो एक धर्मकी है। एक धर्मको निकाल दो तो यह भी मनुष्य बिना पूँछ, सींगका पशु है। ये पूँछ सींग तो मनुष्यसे ज्यादा हैं। पशुवोंके पास पशुवोंके ये दो हथियार हैं, मनुष्य तो निहत्था है, मनुष्यसे पशु बड़े ही हैं, घट नहीं हैं। लेकिन एक धर्मकी बात हो तो मनुष्य जैसा जीवन लोकमें कहीं नहीं है। वह धर्म क्या है? यही अपने शुद्ध स्वरूपका परिचय पा लेना, जिस परिचयसे यह आत्मा आनन्द विभोर हो जाता है। और भी स्थूल दृष्टिसे देखो, जब कुछ साथ रहना ही नहीं है, कभी जीवनके अंतमें तो वियोग होना है सबका, फिर अपनी इस जिन्दगीमें परसे माथा रगड़कर कितना समय पूरा किया जा सकता है, अंतमें नियमसे वियोग होगा ही।

परमसमाधिकी योग्यता—भैया! जो बात आगे होगी उसको अभीसे क्यों नहीं मानते? यदि यह ध्यानमें रहे कि जो कुछ हमें मिला है इसका वियोग नियमसे होगा तो वर्तमानमें भी शान्ति मिलेगी, तृष्णा न बढ़ेगी। जो कुछ भी समागम है, यह सब अध्रुव हैं, विनाशीक हैं, इतनी बातका जिसे पता रहे उसे ज्ञानी कहते हैं, इसमें अपूर्व आनन्द भरा हुआ है। जो योगी सत्य ज्ञानके कारण बाह्य मायाजालोंसे पराङ्मुख हैं, किसी भी इन्द्रजालसे अपनी आसक्ति नहीं लगाये हैं, उन्हीं पुरुषोंके समता अर्थात् परम समाधि प्रकट होती है। यह सारा लोक केवल इन्द्रियके व्यापारसे ही निरत है। पशु, पक्षी मनुष्य जहाँ जावो तहाँ देखो, इन्द्रियके विषयोंमें में रहा करते हैं, मनकी उड़ानमें ही अपना समय गँवा रहे हैं। ज्ञानस्वरूपके प्रसगमें उपयोग रमाये, ऐसा जिसको आप पा रहे हैं। जिन विरले संतोंके यह अनुभूति जगती है उनही को लोग पूज्य कहते हैं, आदर्श मानते हैं। लोकमें जितने भी कुदेव हैं, वे सब देवके नामसे पूज्य हैं। जिस कालमें इस भक्तको इन कुदेवोंकी कुदेवता ध्यानमें आ जाय तो फिर वह क्यों पूजेगा? जितने भी कुगुरुवों की मान्यता है वह सब गुरुवोंके नामपर है। यदि उनकी इस मान्यताकी अयथार्थताका पता पड़ जाय तो उनको कोई न मानेगा।

सचाईकी दृढतामे सफलताकी अवश्यंभाविता—भैया! यहाँ भी देखो, व्यापार सच्चाईके नामपर चलता

है। चाहे कितना ही झूठ व्यवहार भी करे, पर उसमें सच्चाईका नाम न रहे तो किसीका व्यापार नहीं चल सकता है। सच्चाईके नाम पर ही व्यापार चलता है। यदि पूर्णरूपसे सच्चाईका व्यवहार रक्खे तो क्या व्यापार न चले? चलेगा, पर इस सच्चाईकी ओर दृष्टि नहीं है ना, और यदि कोई हिम्मत करके एक बार भी सच्चाईका काम करे कि हमें सच्चाई नहीं छोड़ना है, चाहे हानि हो जाय तो उसका व्यापार अच्छा चलता है, पर लोग तो यह सोचते हैं कि यदि हम सच्चाईसे काम करेंगे तो फिर मुनाफा क्या मिलेगा? मान लो लाख रुपया कमाने पर टैक्समें ८० हजार चले गए तो चले जाने दो—वह तो सच्चाईकी चीज है, जो १०-२० हजार रह गए वे गुजारेके लिए काफी हैं, पर ये जो ८० हजार जा रहे हैं उनमें तृष्णाका भाव उत्पन्न होता है। उससे सच्चाईमें ढिलाई होती है। यदि सच्चाईके साथ जो कुछ भी आय हो वही गुजारेके लिए काफी है, ऐसा संतोष हो तो कहीं क्लेश नहीं है।

सात्त्विक वृत्ति व परोपकार—सात्त्विक रहन-सहन गृहस्थोंके लिए बड़े शृंगारकी चीज है। अपने शरीरके मौजके लिए खर्चा बढ़ाना, अट्टसट्ट चीजें खाना, यह तो बीमारी पैदा करनेके लिए है। अट्टसट्ट खाया, बीमारी पैदा हुई, लो और खर्चा बढ़ गया। सात्त्विक रहन-सहनमें सब अपने संतोषकी बात है। जो कुछ द्रव्य आता है वह सब परके उपकारके लिए आ रहा है, मेरे गुजारेके लिए तो इतना नियत है, ऐसी वृत्ति रहे। ऐसी वृत्तिमें यदि लाखोंका धन भी आ जाय तो भी अपनी इस सही वृत्तिमें अन्तर न डाले, तो देखो उसे कितना संतोष रहता है? कितना ही समागम बुद्धिगत हो जाय और संतोष न मिल सके तो वह समागम किस कामका है? जैसे कोई कहते हैं ना, यदि कोई बड़ा धनी बहुत अधिक बीमार रहे, खटियासे भी न उठ सके, रोटी भी न खा सके, तो लोग कहते हैं कि यह धन किस कामका है, सुखसे रोटी भी नहीं खा सकता, उसका धन किस कामका है, ऐसे ही यहाँ जानो कि जिसे संतोष नहीं मिल सका, धर्मकी ओर उपयोग लगानेकी जिसे फुरसत नहीं है उसका बढ़ा हुआ वह धन किस कामका है?

परमसंयममें परमसमाधि—तत्त्वज्ञानका उपयोग ही परमवैभव है। जिस योगीके यह तत्त्वज्ञान प्रकट हुआ है उसका आत्मा संयममें सन्निहित रहता है और इस संयमके प्रसादसे निरन्तर आनन्दमग्न रहता है। संयम बाह्यमें तो यह है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन पांचों प्रकारके पापोंका त्याग रहे, और अंतरंगका संयम यह है कि मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति रहे, इन्द्रियोंका व्यापार रुक जाय। उपयोग उपयोगके स्रोतभूत ज्ञानस्वभावमें केन्द्रित हो जाय, उसका नाम है अंतरङ्ग संयम। जिसका आत्मा इस संयममें सन्निहित है, उसके परमसमाधि प्रकट होती है। एक शुद्ध ज्ञान-प्रकट होता है जिसमें सत्य आनन्द अनुभवा जाता है। इस प्रकार आत्माका नियम है, जो आत्माका नियतस्वभाव है उस नियतस्वभावमें ही आत्माको बनाए रहना। कोई कहे कि आप नियमसे चलो, तो उसका परमार्थ अर्थ यह है कि तुम अपने निरपेक्ष नियत ज्ञानस्वभावमें स्थिर रहनेका यत्न करते हुए रहो, यह है परमार्थ नियमसे चलना। जो इस परमब्रह्म चैतन्यस्वभाव आत्माका निजस्वरूप है उस ही में अपने उपयोगका आचरण करे, ऐसे नियममें जो ठहरता है उसके समता स्पष्ट प्रकट है।

परमनियममें परमसमाधि—निश्चयनियमकी साधनाके अर्थ बाह्यमें परिमित समयके लिए आचरणका नियम किया जाता है। जैसे आज जब खा लिया तो ४८ घंटे न खायेंगे, यह नियम हो गया। इस नियमका प्रयोजन यह है कि भोजन करनेका भी विकल्प न करके और इस ही निर्विकल्प ज्ञान प्रकाशका बहुत लम्बे काल तक ध्यान रक्खें, इसके लिए आहारका त्याग है। यदि इस लक्ष्यका परिचय नहीं है, लक्ष्य नहीं है तो तो उसका आहार परित्याग लंघनका रूप रख लेगा। जैसे रोगी पुरुष लंघन किया करता है। करे क्या, रोगसे बेचैन है, भूख प्यास लगती नहीं है। खाये तो पीड़ा उत्पन्न होती है। तब उसका

लंघन ही सहारा है। इस प्रकार जो यशका रोगी है, कीर्तिका दौर-दौरा बनाना चाहता है ऐसा पुरुष दस दिन तकका उपवास ठान ले तो वह १० दिनका उपवास भी लंघन करनेकी तरह है। अपने यशके लिए उसने आहारका परित्याग किया है। आहार-परित्यागका परमार्थ प्रयोजन यह है कि मैं खानेका विकल्प तक न करूँ और निरन्तर इस निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव करता रहूं— ऐसे ज्ञानी पुरुषको अपने अंत:स्वरूपमें उत्साह जगा है, इसके फलमें उपवास हो रहा है, ये बाह्य नियम इस अतरङ्ग नियमके पालनेके लिए हैं। यों जिसका जो अंतरङ्ग आचरणमें, नियममें, परमब्रह्म चैतन्यस्वरूप आत्मामें ठहर जानेका नियम है उसके परमसमाधि प्रकट होती है।

परमआचारमे परमसमाधि—जो पुरुष सम्यग्दर्शनका आचरण किये है नि शंकित, नि'कांक्षित, निर्विचिकित्सक, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना— इन ८ अगोंका परमार्थपद्धतिसे और व्यवहारपद्धतिसे जो पालन कर रहा है, ऐसे दर्शनाचारवान् पुरुषक परमसमताका भाव प्रकट होता है। जो ज्ञानाचारमें कुशल हैं, समता शास्त्र पढ़ना, शुद्ध पढ़ना, अर्थ जानना, गुरुवोंकी विनय करना, अपने गुरुका नाम न छिपाना आदिक जो ज्ञानाचार हैं उनमें जिनका वृत्ति है उनके यह समताभाव प्रकट होता है। जो ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्तिका सुविधि पालन कर रहे हैं, जो ससार, शरीर, भोगोंसे विरक्त रहा करते हैं, ऐसे योगियोंके यह परमसमाधि प्रकट होनी है। जो ६ प्रकारके बाह्य तप और ६ प्रकारके अतरङ्गतप इनमें जो सावधान हैं, ऐसे पुरुषोंके परमसमताका भाव प्रकट होता है और इन्हीं सब कामोंके करनेकी जो अपनी शक्ति लगाते हैं ऐसे पुरुषोके ही यह कल्याणरूप समता प्रकट होती है। यह समता ही निर्वाणका कारण है। सदाके लिये सकटोंसे छूट जाएँ इसका उपाय केवल स्वरूपकी दृष्टि करना है। स्वाध्यायमें, मदिरमें, पूजनमें, तपस्यामें सर्वत्र एक ही उपाय करना है सकटोंसे छूटनेके लिये। वह उपाय है संकटरहित, निर्विकल्प, स्वतन्त्र ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्माको निरखना।

मोहीकी विपदा—मोही जीव बड़ी विपदामें हैं, मोह छोड़ा भी नहीं जाता और मोह करनेसे संतोष भी नहीं आ पाता। जैसे एक कहावत है कि 'भई गति साप छछूँदर जैसी' जैसे साप किसी छछूँदरको पकड़ ले तो छछूँदर उस सापसे निगली भी नहीं जाती और छोड़ी भी नहीं जाती। दोनों दशावोंमें साप की बरबादी है। इसी तरह मोहभावसे ग्रस्त हुआ प्राणी ऐसी दयनीय दशाको प्राप्त है कि कितना भी दुःख पा ले, कलह कितनी ही हो जाय, एक दूसरेको प्रतिकूल मानने लगें तिस पर भी मोह छोड़ा नहीं जाता है, ऐसी हालत है तो फिर आनन्द कहाँसे प्राप्त हो? जो अपने आत्मस्वरूपके दर्शनमें परमोत्साह जगाता है उससे वह समस्त दुराचारोंका परिहार करता है। इन बाह्यपदार्थोंमें कुछ मेरा है, इस प्रकारका जो भाव नहीं रखता है, यों इस मोक्षमार्गमें जो कदम रखता है उसके परमसमता प्रकट होती है।

परमसमाधिके लिये परमप्रसादका सहयोग—यह मेरा परमात्मा जो सदा आनन्दका अनुभव करानेके लिए तैयार विराजा हुआ है यह परम गुरुवोंके प्रसाद बिना प्राप्त नहीं हो पाता। सर्वोत्कृष्ट विभूति जिसके प्राप्त हो उसके समान दाता जगतमें कौन होगा? इस निर्विघ्न तत्त्वज्ञानी योगियोंके प्रसादसे पाया हुआ यह निरञ्जन निज कारणपरमात्मा जिनके उपयोगमें सदा निकट है उन वीतराग सम्यग्दृष्टि पुरुषोंके, जो वीतराग चरित्रका पालन कर रहे हैं, यह समताव्रत स्थायी रहा करता है। परमसमाधिके प्रकरण में उपाय भी बताये जा रहे हैं और इनका अधिकारी कौन है? यह भी बताया जा रहा है। जो शुद्ध दृष्टि वाले जीव हैं वे यह जानते हैं कि तपमें, नियममें, सयममें, आचरणमें सर्वत्र यह आत्मा ही उपादेय है।

निरपेक्ष शुद्ध तत्त्वकी झांकी—भैया! प्रत्येक कार्यके करते हुएमें इस शुद्ध निरपेक्ष आत्मस्वरूपका ही लक्ष्य रहे कि यह मैं हू। यदि यह ही गुत्थी सुलझ जाय तो सकट मिटेंगे। मैं वास्तवमें क्या हू, यह स्पष्ट हो जाय तो उसे फिर ससारमें सकट नहीं हैं। जो शुद्ध आत्मतत्त्वका ही लक्ष्य रखता है, जो सदा अकम्प

भवभयके हरने वाले इस आत्मतत्त्वका ध्यान करता है उसके परमसमाधि प्रकट होती है। इस ही परमसमाधिके प्रसादसे यह आत्मा ससारके संकटोंसे सदाके लिये सर्वथा छूट जाता है, अतः हम सबका कर्तव्य है कि हम सदा यह विश्वास बनाएँ कि मैं सबसे न्यारा एक ज्ञानज्योतिमात्र हू और सहज आनन्दस्वरूप हूं।

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेति दु।
तस्स सामाइग ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ १२८ ॥

रागद्वेषविकारके अभावमे परमसमाधि--जिस भव्य पुरुषके राग और द्वेष विकारोंको उत्पन्न नहीं करते हैं अर्थात् राग और द्वेष विकार नहीं उत्पन्न होते हैं उस पुरुषके समतापरिणाम ठहरता है, ऐसा केवली भगवानके शासनमें कहा है। समता नाम है रागद्वेष न उठें और केवल जाननहार रहें, उसीका नाम समाधि है और वही संकटोंसे मुक्ति देने वाला भाव है। जैसे रास्ता चलते जाते हुए अपन भी सैंकड़ों मनुष्योंको देखते हैं, पर उनमेंसे न किसी मनुष्य पर राग होता है और न द्वेष होता है, किन्तु वे सामने हैं सो जाननेमें आते ही हैं, जानना कहाँ टाला जाय ? जो भी जाननेमें आया, आ गया। अब उसमें रागद्वेष न होना, यही मोक्षका मार्ग है, यही परमसामायिक है, यही परमसमाधि है।

रागद्वेषकी अनुत्पत्तिका उपाय--जानी हुई चीजोंमें राग और द्वेष नहीं हो सके, इसका उपाय यह है कि हम वहाँ यथार्थस्वरूप विचारें। जो ये पदार्थ जाने जाते हैं ये मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, न मेरे जन्म के साथ आये हैं और न मरण पर जायेंगे, अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं, चाहे वे कुटुम्बी जन हों, मित्रजन हों अथवा अचेतन हों, कोई भी अन्य पदार्थ हों उनका परिणमन उनके गुणोंसे उन्हींके हुआ करता है। उनके परिणमनका असर मुझमें नहीं होता है। मैं स्वयं अपनी कल्पनाएँ उठाकर एक नया असर पैदा कर लेता हूं। परमार्थत· उनका असर उनमें ही है, उनसे मेरा कुछ काम नहीं बनता है, ऐसा यथार्थ स्वरूप ज्ञानमें हो तो रागद्वेष नहीं होता है। यथार्थ ज्ञान हो जाने पर किसी परिस्थितिवश रागद्वेष भी करना पडे तो भी अंतरंगसे रागद्वेष नहीं होता है। ज्ञानी गृहस्थ घरमें रहता हुआ भी देवकी तरह बताया गया है। कर्मबन्ध होता है तो अपने विकारपरिणामोंसे होता है, घरमें रहते हुए भी कोई विकारपरिणाम न करे तो कर्मबन्ध न होगा। जितने विकार रह गए हैं उतना ही बंध होगा।

कर्तव्यके सुनिर्णयकी आवश्यकता--भैया ! सर्वप्रथम तो यह बात है कि इस मनुष्यको यह पक्का निर्णय कर लेना चाहिए कि मुझे आत्मकल्याण करना है या दुनियाकी वाहवाही लूटना है, दो ही बातें इसके सामने हैं। दुनियाकी वाहवाही लूटनेमें हित कुछ नहीं है, क्योंकि प्रथम तो यह दुनिया ही जो दृश्यमान है, मिटने वाली है, मायामय है, भिन्न है, स्वयं दु खी है, सभी कर्मप्रेरे हैं, खुद अशरण हैं। इन लोगोंसे वाहवाही क्या लूटना ? दूसरी बात यह कि यह वाहवाही क्या चीज है ? उनके स्वार्थके कारण उनके कषायकी ये वृत्तियां जगी है। वाहवाही भी मायारूप है और दुनियासे वाहवाही चाहनेका परिणाम जिसके हुआ हो वह भी मायारूप है, इनमें कुछ तत्त्व नहीं रक्खा है। लेकिन, केवल दुनियाकी वाहवाहीके पीछे ही तृष्णा बढ़ाते हैं, श्रम करते हैं, मर मिटते हैं, धन बढ़ाते हैं तो वाहवाही लूटनेके लिये। अंतरङ्ग में कषाय भरी हुई है, लोग मुझे जानें कि यह धनी लखपति पुरुष है, अच्छे घरका है, चाहे वचनोंसे न बोला जा रहा हो और शरीरसे भी ऐसी प्रवृत्ति न की जा रही हो क्योंकि जहाँ सबके आगे अपनी ही बातें झोंके तो वहाँ उसका निरादर ही होता है किन्तु मनमें पोजीशन वाहवाहीकी कषाय जब तक रहती है तब तक स्व और परका यथार्थ बोध नहीं होता।

ज्ञानीके कर्तव्यका सुनिर्णय--जब तक यह ज्ञात नहीं है कि इस लोकमें मैं अकेला हू, मेरा साथी, शरण लोकमें दूसरा कोई नहीं है, यह मैं आत्मा अमूर्त, ज्ञानमात्र, ज्ञानानन्दस्वरूप सबसे न्यारा हूं, इसे

कुछ पहिचानना है, इसको कुछ आदर देना है, तब तक मायामय पुरुषोंमें, मायामय समागमको ही माया-मय आदर दिया करते हैं। ज्ञानीपुरुषका यह परिणाम नहीं रहता कि मुझे दुनियासे वाहवाही मिले। यह निर्णय तो ज्ञानीका होगा ही और दूसरा भी यह निर्णय है कि मुझे आत्मकल्याण करना है, क्योंकि न आत्महित किया अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूपमें अपने ज्ञानको स्थिर न किया तो फल क्या होगा? मरण होगा, कीड़ा पतगाकी कुयोनियोंमें जन्म लेना होगा, फिर क्या है?

इन्द्रजालके मोहका फल संसारमहाभ्रमण—इस मनुष्यकी यह दुनियावी पोजीशन क्या कुछ मूल्य रखती है? दुनिया (लोक) यह ३४३ घनराजू प्रमाण है। एक राजू कितना बड़ा होता है, उसका कुछ प्रमाण अनुमानमें लायें। जिस द्वीपमें हम रहते हैं इसका नाम है जम्बूद्वीप। यह गोलाकार है, इसका डाइमीटर एक ओरसे सामनेकी ओर तक विस्तार है एक लाख योजनका। दो हजार कोसका एक योजन होता है। एक लाखमें दो हजारका गुणा करो, इतने कोस बड़ा है यह जम्बूद्वीप और इससे दूना है एक ओर लवणसमुद्र क्योंकि उस जम्बूद्वीपको घेरकर है ना। सो २ लाख योजनका लवणसमुद्र एक तरफ है। एक-एक तरफका ही देखते जाइये। इतना ही दूसरी तरफका मान लो। लवणसमुद्रसे दूना है धातकी खण्डद्वीप, उससे दूना है कालोद समुद्र, उससे दूना है पुष्करवरद्वीप, इस तरहसे चलते जाइये तो ये द्वीप समुद्र अनगिनते हैं। नील, करोड़, शंख, महाशंख नहीं, किन्तु गिनतीसे परे हैं, इनकी गणना हो ही नहीं सकती है। तब समझ लीजिये अंतमें जो स्वयंभूरमणसमुद्र है, जितना विस्तार उसका है उतनेसे कममें ये अनगिनते द्वीप समुद्र समाये हुए हैं। इतना यह विस्तार अभी पूरा एक राजू नहीं होता, कुछ चौड़ा और मिलाकर एक राजू होता है। ऐसे एक राजू समतलके चारों ओर होनेका नाम है एक घनराजू। ऐसे ३४३ घनराजू यह लोक है। हम आप जिस चँदिया पर पैदा हुए हैं यह कितनी जगह है और इतनी जगह बसे हुए लोगोंसे वाहवाहीका ख्याल बनाना, समझलो कितनी मूढ़ताकी बात है? यही तो मोह है, मिथ्यात्व है, अनन्त संसारका भ्रमण है।

ज्ञानीकी प्रतीति व वृत्ति—ज्ञानी पुरुषके लोककी वाहवाहीमें रंच भी आस्था नहीं है, उसे आत्महितकी धुन लगी हुई है। यह मैं आत्मा अपनेको और समस्त परपदार्थोंको यथार्थरूपसे जानता रहूं, यही इसकी एक कामना है। केवल ज्ञातादृष्टा रहने पर, किसी प्रकारकी रागद्वेषकी तरग न होने पर इसका कल्याण निश्चित है। अन्यथा करते जाइए मोह। मोह कर-करके भी अतमें क्या होगा? यथार्थ ज्ञान नहीं है तो वह बड़ा हीन पुरुष है, लोकमें चाहे उसकी वाहवाही भी हो, लेकिन भीतर तो वह कोरा है, गरीब है, कुछ वैभव उसके पास नहीं है, अशान्त रहता है, परपदार्थमें ही उपयोग फँसाये रहता है। आत्महितकी धुन रखने वाला ज्ञानीपुरुष रागद्वेषसे परे रहता है, अन्यायकी बातोंसे दूर रहता है, किसी पर वह अन्याय नहीं करना चाहता है, बरताव उसका सबके साथ अपने स्वरूपके समान निरखकर हुआ करता है। ऐसे निकटभव्य पुरुषके रागद्वेष विकार नहीं होते हैं और उसके ही परमसमाधि प्रकट होती है, ऐसा जिनेन्द्र भगवानके शासनमें कहा है।

ज्ञानमय भावमें ज्ञानमयी वृत्ति—यह संयमी पुरुष परमवीतरागी है। ज्ञानका उदय होने पर वीतराग दशा होती ही है। यथार्थज्ञान हो जाय और भ्रम रहा आए—ये दो बातें एक साथ नहीं होती हैं। जैसे दूर पड़ी हुई रस्सीको कोई साप मान ले तो भ्रममें उसे आकुलता है, हिम्मत बनाकर निकट जाकर रस्सीको रस्सी समझ जाय और हाथसे उठाकर, टटोलकर निर्णय कर ले, फिर उससे कोई कहे कि तुम फिरसे पहिले जैसा भ्रम बनाकर अपना नाटक दिखावो तो क्या वह दिखा सकेगा? नहीं दिखा सकता। यथार्थ ज्ञान होने पर भ्रमकी प्रवृत्ति वह कर नहीं सकता, ऐसे ही यह मेरा हितकारी है ऐसा मानना यही तो मोह है। ये मुझे सुख देते हैं और उनको ओर आकर्षण हो, वे सुहाने लगे यही तो है राग। यह मेरा बिगाड़

करता है, मेरा विरोधी है ऐसा परिणाम हुआ तो यह तो है द्वेष। यह कब होता है ? जब तक भ्रम बना है, अज्ञान बना हुआ है। जहाँ सबकी स्वतंत्रता विदित हो गयी वहाँ फिर रागद्वेष नहीं विकार करते हैं, दृढ़ नहीं होते हैं।

यथार्थ ज्ञानमें रागद्वेषका अनवकाश—कोई मेरा लोकमें विरोधी नहीं है, जिसने मेरे प्रतिकूल कुछ किया, उसने मेरे प्रतिकूल नहीं किया, किन्तु मैंने अपनी कषायवासनासे उसका ऐसा अर्थ लगा लिया कि इसने मेरे प्रतिकूल कुछ कहा है। उसने तो अपना सुख लूटनेके लिए जिसमें उसे सुख मालूम पड़ा वैसी चेष्टा की है, उसने हमारा कहाँ विरोध किया है ? लोकमें मेरा कोई विरोधी नहीं है, जहां यह बात विदित हुई वहा द्वेष कहा पनप सकता है ? इस प्रकार लोकमें मेरा कोई सुखकारी नहीं है, वस्तुस्वरूपकी ही यह बात है। प्रत्येक जीव हित चाहता है, सुख चाहता है, अपनी सुख शांति जिसमें नजर आए उस ही प्रवृत्तिको उसने किया, मेरेसे कहा राग किया ? मैं भी किसी जीव पर राग नहीं कर सकता हू। यह वस्तुस्वरूपके दृढ़ किलेकी बात कही जा रही है। स्वरूपके किलेको कौन तोड़ सकता है ? मैं अपने प्रदेशमें हूं। जो कुछ मैं कर सकता हू अपनेमें ही कर सकता हू अन्यत्र कुछ नहीं कर सकता।

तत्त्वज्ञ वीतराग संयमीके परमसमाधि—मैं यदि राग परिणमन करता हूं तो राग परिणमन होनेकी विधि यह है कि किसी परवस्तुको उपयोगमें लेकर रागका विषय बनाकर राग पैदा करूँ। हमारे इस राग परिणमनमें जो परवस्तु विषय होता है उसका नाम लेते हैं लोग कि मैंने अमुकसे राग किया है। दूसरे पदार्थमे कोई पुरुष राग नहीं कर सकता है। जिसको ऐसा स्पष्ट भान है वह पुरुष रागके विकारोंको पनपायेगा क्या ? जिसे मोह नहीं है, रागद्वेष नहीं है वही वीतराग भाव धारण करता है। ऐसे वीतराग संयमी पुरुषके जो पापके वनोंको जलानेके लिये अग्निकी तरह है, परमतत्त्वज्ञान है और वैराग्य है। वहां पापकी बेल ठहर नहीं सकती है, ऐसे वीतराग संयमी पुरुषके राग और द्वेषके विकार नहीं होते हैं और उन ही सहज आनन्दके अभिलाषी योगीश्वरोंके सामायिक नामका परमव्रत होता है, समता, परमसमाधि प्रकट होती है।

ज्ञानपुञ्जमे विकारका अभाव—यह तत्त्वज्ञानी जीव, जिसके शरीर मात्रका परिग्रह रह गया है और शरीरमें भी इन्द्रियके विषयोंका प्रसार नहीं है, यह भी एक लक्कड़की तरह लगा हुआ है, ऐसे निर्ग्रन्थ, दिगम्बर साधु पुरुषके यह परमसमाधि उत्पन्न हुई है, ऐसा केवली भगवानके शासनमें प्रसिद्ध हुआ है। ये पुरुष परमप्रकाशमय हैं इन्होंने ज्ञानज्योति द्वारा अज्ञान, मिथ्यात्व और पापका अंधकार दूर कर दिया है। जो ज्ञायकस्वरूप आनन्दमात्र शुद्ध अद्भुत प्रकाशके उपासक हैं, ऐसे पुरुषोंके रागद्वेष विकार उत्पन्न नहीं होते हैं।

ज्ञानीकी निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वकी उपासना—अन्तस्तत्त्वके रुचिया, ज्ञानीसंत अपने आपको किस प्रकार निरख रहे हैं, यह मैं आत्मतत्त्व अपने सत्त्वके कारण ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूं। इस आत्मतत्त्वमे कोईसी वस्तु न तो है और न किसी वस्तुका निषेध है, वहा विधि और निषेधका विकल्प ही नहीं है। वह तो जो है सो है। जैसे यह चौकी है तो यह चौकी जो है सो है। यह चौकी पुस्तक वाली है, ऐसा चौकीका स्वरूप नहीं है। यह चौकी घड़ीरहित है ऐसा चौकीका स्वरूप नहीं है। पुस्तककी विधि और घड़ीका निषेध बताना यह परका निमित्त लेकर कथन है, उपचार करके है। यह स्वरूप स्वय चौकीमें नहीं है। इसी प्रकार आत्मामे क्या है और क्या नहीं है, आत्मा किसे ग्रहण करता है, किसे हटाता है ? ये कोई विकल्प आत्मामें नहीं है, वह तो जो है सो है, ऐसे निर्विकल्प आत्मतत्त्वकी उपासना करने वाले ये अंतस्तत्त्वके रुचिया ज्ञानीसंत कहा रागद्वेष उत्पन्न कर सकेंगे ?

निरापद ज्ञानीकी आनन्दमयता—भैया ! रागद्वेष ही एक विपत्ति है, अनन्त जीवोंमेंसे दो-चार जीवोंको

छांटकर उनको ही अपना सर्वस्व मान ले और अपना जीवन तन, मन, धन, वचन, सब कुछ उन पर ही न्यौछावर कर दे, यही तो एक बड़ी विपदा है, परन्तु यह मोही जीव इस विपदामें ही राजी है। इन विकारोंसे विविक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र निज तत्त्वकी रुचि नहीं कर सकता है यह। सहज कारणसमयसार का दृढ़तासे जो आश्रय करते हैं, अपने उस परमात्मतत्त्वके दर्शन किया करते हैं ऐसे ही मुनि स्वभाव परिणमन होनेके कारण समतारससे भरपूर रहा करते हैं, न उनमें रागपरिणमन होता है और न उनमें द्वेष परिणमन होता है। ऐसे ये वीतराग संयमी पुरुष सदा आनन्दसे परिपूर्ण रहा करते हैं।

स्वहित भावना—हम आपका यह कर्तव्य है कि कमसे कम यह तो ध्यान बनाए रहें कि मैं आत्मा सबसे न्यारा सत् हूं और जो कुछ भी यहां समागम मिले हैं ये भिन्न हैं, मिट जाने वाले हैं और इन समागमोंका परिणमन मेरेमें कुछ नहीं आता है। ये समस्त पदार्थ अपने आपमें अपना परिणमन करके समाप्त होते रहते हैं। इन वस्तुवोंका मुझसे कुछ सम्बध नहीं है, ऐसा यथार्थ ज्ञानप्रकाश तो रहे। इस ज्ञानप्रकाशमें ही अपने आपकी अतुल अपूर्व निधि मिलेगी। जिसे इसकी श्रद्धा नहीं है उसका देव, शास्त्र गुरुकी भक्ति करना, पूजन विधान करना, ये सब बेकारसे हैं। उसके यह श्रद्धा ही नहीं है कि ऐसी अतुल निधि भी किसीके प्रकट होती है, प्रभुके ऐसा अपूर्व ज्ञान, तेज विकसित हुआ है। यदि भगवानके इस स्वरूपकी श्रद्धा होती तो अपने आपमें भी ऐसे स्वरूपकी दृष्टी बनती। यदि अपने आपके इस सहज ज्ञानानन्द स्वभावकी दृष्टी बनायी होती तो भगवतमें भी इस ज्ञानप्रकाशकी दृष्टी हो जाती। यह ज्ञानप्रकाश ही परमशरण है, यही उत्कृष्ट वैभव है, इसमें ही सहज आनन्दका विकास होता है, अत सर्व प्रयत्न करके इस ज्ञानमूर्ति आत्मतत्त्वके ज्ञान करनेमें निरत रहना चाहिए।

जो दु अट्ट च रुद्द च झाणं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे॥ १२६॥

जो पुरुष नित्य आर्तध्यान और रौद्रध्यानको तजते हैं उनके सामायिक स्थायी है, ऐसा भगवानके शासनमें कहा है।

ध्यानका निर्देश—संसारमें जितने भी जीव हैं वे किसी न किसी ध्यानमें निरन्तर रहते हैं १२ वें गुणस्थान तक तो ध्यान बताया ही है, १३ वें और १४वें में उपचारसे कहा है। ध्यान १६ होते हैं—चार आर्तध्यान, चार रौद्रध्यान, चार धर्मध्यान और चार शुक्लध्यान। आर्तध्यानमें तो खेदका परिणाम होता है, रौद्रध्यानमें क्रूरताका परिणाम होता है जिसमें मौज माना जाता है और धर्मध्यानमें धर्मकी बातका ध्यान होता है और शुक्लध्यानमें रागद्वेषरहित केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना है।

धर्म्यध्यान व शुक्लध्यानमें विशेषता—धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें अन्तर इतना है कि धर्मध्यानमें तो विकल्प साथ रहता है—भगवानकी भक्ति की, स्तवन किया, तत्त्वका चिन्तन किया, स्वाध्याय किया, ये सब धर्मध्यान हैं। इनमें रागांश काम करता है। बिना राग अनुरागके धर्मध्यान नहीं बनता है। राग तो है, किन्तु अच्छी जगह राग है, धर्मकी ओर राग है, उस मयका जो ध्यान है उसका नाम धर्मध्यान है और जहा रागद्वेष नहीं हैं, केवल एक ज्ञानप्रकाशका प्रवर्तन चल रहा है ऐसी जो स्थिरता है उसको कहते हैं शुक्लध्यान। यह संसारी जीव आर्तध्यान और रौद्रध्यानके कारण संसारमें रुल रहा है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान तो मोक्षके कारण हैं, किन्तु आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके ही कारण हैं।

इष्टवियोगज आर्तध्यान—आर्तिका अर्थ है पीड़ा। उस पीड़ा महित जो ध्यान है उसका नाम आर्तध्यान है। जैसे इष्टका वियोग होना। जो बड़ा अनुरागी था, जिसमें चित्त रमा करता था, ऐसा कोई अभीष्ट जीवका अथवा पदार्थका वियोग हो गया, धनका वियोग, परिजनका वियोग, मित्रका हो गया तो उस वियोगके होने पर मनमें क्लेश उत्पन्न होना और संयोगके लिए ध्यान बनाना, पूर्वकालका संयोग

बिछुड़ना, वर्तमानमें संयोगकी आशा रखना, ये सब इष्ट वियोगज आर्तध्यान हैं। यह आर्तध्यान भी इस जीवको उन्मत्त जैसा बना देता है। लक्ष्मणके वियोगमें सीताहरणमें श्री रामने भी इष्टवियोगज आर्तध्यान माना था।

कर्मविपाकवश ज्ञानियोंके भी किसी पद तक इष्टवियोगज आर्तध्यानकी संभावना--यह आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक चलता है। इतना अन्तर है कि छठे गुणस्थानमें जो इष्टवियोगज आर्तध्यान है वह कुछ शुभ संकल्पकी बाधामें हुआ करता है। जैसे कोई प्रिय शिष्य है, उसका वियोग हो जाय, मरण हो जाय अथवा अन्य प्रकारका वियोग हो जाय, उस वियोगकालमें खेद आना अथवा गुरुका वियोग हो जाय तो शिष्य साधुको खेद आना, यह इष्टवियोगज आर्तध्यान है। पंचम गुणस्थानमें मिथ्यादृष्टियोंकी तरह तो आर्तध्यान नहीं है, लेकिन कुछ झलक आती रहती है क्योंकि यह गृहस्थ भी आरम्भ परिग्रहमें पड़ा हुआ है जिससे ऐसे अनेक अवसर आते हैं जिसमें विषयोंके साधनोंमें अथवा परिग्रहोंमें बाधा आ जाती है। उस कालमें जो ध्यान होता है ऐसे श्रावकके भी इष्टवियोगज आर्तध्यान है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवोंके यह इष्टवियोगज आर्तध्यान पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावककी अपेक्षा अधिक लम्बे काल तक और कुछ अधिक शक्तिपूर्वक होता है। जैसे प्रसिद्ध है कि बलभद्र नारायणके वियोगमें ६ महीने तक आकुलित हो जाता है।

मिथ्यात्वमें इष्टवियोगज आर्तध्यानकी प्रबलता--मिथ्यादृष्टिके आर्तध्यानका तो संस्कार बड़ा लम्बा है। कहो इस जीवनभर भी न छूटे और मरणके बाद परभवमें भी कहो साथ जाय। कैसा भी इष्टका वियोग हो, पर ऐसा संस्कार यह अज्ञानी जीव बना लेता है कि परभवमें भी साथ जाता है। जैसे सुकौशल की मां जब सुकौशलके पिता विरक्त हो गए थे तो सुकौशलकी माको केवल अपने पुत्रका ही आधार था और पुत्रको देख-देखकर राजी रहकर समय गुजारती थी, किन्तु कुछ समय बाद ऐसा भी अवसर आया कि सुकौशल भी छोटी अवस्थामें मुनि बन गया। अब मांके वियोगकी सीमा और बढ़ गई। उस दुःखमें निरन्तर वह संक्लिष्ट रहने लगी और इतना बड़ा संक्लेश हुआ कि मरण करके सिंहनी हुई और उसने परभवमें अपना बदला लिया। काहेका बदला कि वियोग होनेसे जो उसे संक्लेश हुआ था तो उसकी दृष्टिमें आया कि इसकी वजहसे मुझे जीवनमें क्लेश रहा, तो सिंहनीने सुकौशल पर प्रहार किया। यद्यपि सुकौशल वीतराग संयमी पुरुष थे, सिंहनीके इस आक्रमण पर भी उन्होंने अपना ध्यान नहीं छोड़ा, उनको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई, वे सिद्ध हो गये। बादमें सुकौशलके पिता जो मुनि थे उन्होंने सिंहनीको सम्बोधा कि तूने बड़ा अनर्थ किया, वह तेरा ही तो पुत्र था। सिंहनीने प्रतिबोधमें आकर इतना प्रायश्चित्त किया कि उसी समय आजीवन अन्न-जलका त्याग कर दिया और सन्यास मरणसे मरकर सिंहनी स्वर्गमें देव हुई। तो प्रयोजन यह है कि इष्टवियोगज आर्तध्यान मिथ्यादृष्टियोंको जीवनमें भी पीड़ा देता है और मरणके बाद परभवमें भी दुःख देता है। जो जीव इस आर्तध्यानको तजता है उसके ही तो समतापरिणाम हो सकता है।

अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान व इसकी ज्ञानियोंके भी किसी पद तक संभावना--अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान भी पहिले गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थान तक रहता है, किन्तु छठवें गुणस्थानमें किसी उत्तम इरादेके मूलपर यह आर्तध्यान होता है। जैसे अपने ध्यान संयममें बाधा देने वाला कोई पुरुष सामने आ जाय तो उनके लिए वह अनिष्ट है। अनिष्टोंका संयोग होने पर जो उनके कुछ खेद होता है वह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है अथवा कोई शिष्य खोटा निकल जाय, धर्मका कुछ विपरीत कार्य भी कर चुका हो तो उसे देखकर गुरुके चित्तमें खेद हो जाना सो अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है। पंचम गुणस्थान वाले श्रावकोंके यह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान कुछ विशेष डिग्रीको लेकर होता है, क्योंकि इस गृहस्थके आरम्भ और

परिग्रह लगा हुआ है, तो गृहस्थ श्रावकके जब आरम्भ परिग्रहमें बाधा देने वाले कोई लोग सामने आते हैं, अथवा यह श्रावक मंदिर संस्थाएँ आदि धर्मकार्योंको सभालता है उन धर्मकार्योंमें भी कोई बाधा देने वाला समक्ष आए तो ये सब पंचम गुणस्थान वालोंके लिए अनिष्ट कहलाते हैं। ऐसे अनिष्ट व्यक्तियोंके समागम होनेपर जो खेद उत्पन्न होता उसे अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान वाले के व्रतियोंकी अपेक्षा और विशेष होता है।

मिथ्यात्वमे अनिष्ट सयोगज आर्तध्यानकी प्रबलता—अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जनोंके यह अनिष्ट सयोगज आर्तध्यान इस जीवन भर क्लेश पहुचाता है और मरणके बाद अन्य भवमें भी क्लेश पहुचाता है। मरुभूति और कमठका चारित्र सुना ही होगा। कमठ बड़ा भाई अपने छोटे भाई मरुभूतिकी स्त्री पर कुछ अनुरागी हुआ और कुछ उपद्रव भी करना चाहा। मरुभूति उस समय राजाका मंत्री था। राजाने इस खोटे विचारको सुनकर कमठको गधे पर बैठा कर, मुँह काला करके नगरसे बाहर निकलवा दिया। अब यह कमठ साधु-सन्यासीका भेष धारणकर भभूत लगाकर और हाथके ऊपर एक वजनदार शिला रखकर खड़े होकर तप करने लगा। अज्ञानियोंका तप लोगोंके बहकानेके लिये होता है, जो बाहरी अपमानसे दुःखी होकर अथवा कोई अपराध करके, हत्या करके उन अपराधोंको मिटानेकी गरजसे जो साधुभेष रख लिया जाता है वह कुछ सही मायनेकी बात नहीं है। खैर, यहाँ तो कमठ तपस्याका ढंग करने लगा, वहाँ मरुभूतिको जब यह विदित हुआ कि कमठ इस तरहसे घर छोड़ कर भाग गया तो मरुभूतिने उसके अपराध का भी विचार नहीं किया और सीधा कमठके पास पहुचा और कहा— भाई मेरा कुछ अपराध हो तो क्षमा करो, घर चलो, लेकिन कमठको ऐसा क्रोध आया कि जो मन, डेढ मनकी शिला लिए हुए था उसीको मरुभूति पर पटक दिया। मरुभूतिका देहान्त हो गया।

मिथ्यात्वमे कुध्यानकी भवभवान्तरोमे भी पीडा—कमठका यह रोष उस भवमें ही शान्त हो गया, सो भी नहीं। इस कमठने अनेक भवोंमें शेर, हाथी, सांप सब कुछ बन बनकर मरुभूतिको कष्ट पहुचाया और मरुभूतिके प्राणातका कारण बना। उस कमठको वह मरुभूति अनिष्ट जँचने लगा था कि इस मरुभूतिकी वजहसे हमारा अपमान हुआ। यद्यपि मरुभूति निर्दोष था, लेकिन कमठने अपनी कल्पनामें मरुभूतिका अनिष्ट माना और अनिष्ट सयोगज आर्तध्यान इतना बढा कि भव-भवमें कमठने मरुभूतिके जीव पर उपसर्ग किया। यहाँ तक कि मरुभूतिका आत्मा जब पार्श्वनाथके भवमें आया तो साधुअवस्थामें ध्यान करते हुए पार्श्वनाथ पर जो कमठ अब ज्योतिषी देव बना हुआ था, अनेक उपसर्ग किया। फिर क्या हुआ, यह आगेकी बात है, लेकिन अनिष्ट सयोगके ध्यानमें कैसा परिणाम बन जाता है कि भव-भवमें यह उससे होता रहता है। यों अनिष्ट सयोगज आर्तध्यानको जो साधु तज देता है उसके ही समताव्रत स्थायी होता है।

वेदनाप्रभव आर्तध्यान—तीसरा आर्तध्यान है वेदनाप्रभव। शरीरमें कोई रोगकी वेदना हो जाय, उसके कारण जो पीड़ाका निरन्तर ध्यान बना रहता है और यह पीड़ा अधिक न बढे, ऐसी जो शका बनी रहती है उस पीड़ाको दूर करनेके लिए जो अनेक प्रकारके ध्यान बना करते हैं ये सब हैं वेदनाप्रभव नामक आर्तध्यान।

निदाननामक आर्तध्यान—ऐसे ही निदान नामक आर्तध्यान है। यह पचम गुणस्थान तक ही रहा करता है। किसी भी भविष्यकी घटनाका लालक मनमें भाव बनाना, आशा रखना, इसका नाम है निदान। सम्यग्दृष्टि जन तो उत्तम बातक निदान रखते हैं। मैं विदेह क्षेत्रमे उत्पन्न होऊँ, ऐसा तपका योग करूँ, मुझे समवशरणसे मुक्ति मिलनेका अच्छा साधन मिले, वज्रवृषभनाराचसहनन मेरे हों, मनुष्यभवकी प्राप्ति हो आदिक अनेक कल्पनाएँ करना, ये सब निदान हैं। शुभ निदान हो तो भी निदानमें पीड़ा तो होती ही

ही है। कैसी भी भविष्यकालकी आशा बनानेमें थोड़ा तो क्लेश रहता ही है। चाहे शिव लाभकी आशा करे और चाहे विषयोंके लाभकी आशा करें।

मोहमे अशुभनिदान—मिथ्यादृष्टि जीवोंके अशुभ निदान होता है। वे सांसारिक मौजके लिये इन्द्र, राजा सब कुछ बनना चाहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव तपस्या भी करे तो उस तपस्याका प्रयोजन कोई ऊँचा देव बनूँ, राजा-महाराजा होऊँ, ऐसी कामना रहती है। आशा करनेसे कहीं सिद्धि नहीं हो जाती, परन्तु पुण्य यदि किया हो अधिक और निदानमें मागा हो छटी बात तो जैसे बड़ी पूँजी वालेको छोटी चीज खरीद लेना आसान है ऐसे ही बडे पुण्यके होने पर मामूली जो इच्छा की, उसकी प्राप्ति हो जाना आसान है और इसी कारण शास्त्रोंमे अनेक जगह यह आया है कि मुनिने निदान बाँधा कि मैं अमुक सेठका लड़का होऊँ तो वह वहाँ लड़का हुआ। इसका अर्थ यह लेना कि मुनिके इतना विशाल पुण्य था कि वह यदि यह मांग न रखता तो इससे कई गुणी विभूतिमें वह होता। ये चार प्रकारके आर्तध्यान इस जीवको संसारमें रुलानेके कारण हैं।

हिंसानन्द रौद्रध्यान—रौद्रध्यान भी संसारके कष्ट ही देने वाला है। हिंसा करते हुए आनन्द मानना, किसीने हिंसाकी हो, उसको शाबासी देना, हिंसा देखकर बड़ा खुश होना, बड़ा अच्छा मारा, किसने मारा, बड़ा बहादुर है। मनसे, वचनसे, कायसे, करके, कराके, अनुमोदके हिंसामें आनन्द मानना सो हिंसानन्द रौद्रध्यान है। इसमें यह मानता तो मौज है, परन्तु आशय बड़ा क्रूर है, रुद्र है। रुद्र आशय वाला जीव आर्तध्यानसे भी अधिक पाप करता है और इसी कारण रौद्रध्यान छठे गुणस्थानमें जरा भी नहीं पाया जाता है जब कि तीन आर्तध्यान छठे गुणस्थानमें भी हो सकते हैं।

मृषानन्द रौद्रध्यान—झूठ बोलकर आनन्द मानना, किसीका मजाक करके, किसीको फँसा करके, किसीकी निन्दा करके, अप्रिय वचन बोलकर इत्यादि अनेक प्रकारके कार्योंमें आनन्द मानना, सो मृषानन्द नामक रौद्रध्यान है। कितने ही लोग इस बातसे ही खुश रहा करते हैं कि इनकी बात उन्हें भिड़ाई, उनकी बात इन्हें भिड़ाई, दोनोंको लडा दिया, ऐसी चुगलखोरी करके मौज मानना, यह सब मृषानन्द रौद्रध्यान है।

चौर्यानन्द रौद्रध्यान—कितने ही लोग चोरी करके मौज मानते हैं। चोरीका उपाय बता देते हैं, किसीका वैर विरोध हो तो चोरोंको सारा उसका भेद बता देना, यह सब चौर्यानन्द-रौद्रध्यान है या अन्य किसी रूपमें चोरी करके मौज समझना सब चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। ये सभी रौद्रध्यान संसारमें रुलाते हैं, विकट कर्मोंका बंध कराते हैं।

विषयसरक्षणानन्द रौद्रध्यान—चौथा रौद्रध्यान है विषयसरक्षणानन्द। विषयोंके जितने साधन हैं उन साधनोंकी रक्षा करते हुए आनन्द मानना सो विषयसरक्षणानन्द है। स्पर्शनइन्द्रियके विषय, ठंडे-गर्म पदार्थोंके विषय, इनकी रक्षा करते हुए मौज मानना, रसनाइन्द्रियके विषय सरस, स्वादिष्ट भोजनके साधनोंकी रक्षा करते हुए आनन्द मानना, इसी प्रकार घ्राणेन्द्रियके विषय इत्र फुलेल इत्यादिको सजाकर रखनेमे आनन्द मानना, सो रसनाविषयक विषयसरक्षणानन्द है। जो नेत्रोंको प्रिय लगें ऐसे रमणीक पदार्थोंको देखकर आनन्द मानना सो नेत्रइन्द्रियका विषयसरक्षणानन्द है। इसी प्रकार सगीत, गायन, राग भरी बातें इनके सेवनमें आनन्द मानना सो कर्णेन्द्रियका विषयसंरक्षणानन्द है। इन विषयोंके अतिरिक्त एक मनका विषय है, वह बड़ा विकट विषय है। इसने तो सीमा ही तोड दी है। कोई यश चाहता है, पोजीशन चाहता है, सभी लोग मुझे महान् मानें यों अपने बड़प्पनके लिए जो नाना कल्पनाएँ करता है और कुछ बात कभी सिद्ध हो गयी तो उसमे बड़ा मौज मानता है, ये सब उसके मनके विषयसंरक्षणानन्द हैं। यो इस रौद्रध्यानके कारण यह जीव संसारमे जन्म-मरण करके दुःखी हो रहा है।

आर्त रौद्रध्यानके त्यागमें सामायिक व्रत—इन ८ प्रकारके खोटे ध्यानोंका जो परित्याग करते हैं उनके ही निरन्तर सामायिक व्रत चलता है। ये योगीश्वर जीव हमेशा इस निरञ्जन निज कारणसमयसाररूप जो अपना आत्म तत्त्व है उसके आलम्बनसे एक वीतराग शुद्ध आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दमें ही तृप्त रहा करते हैं। यह जीव आर्तध्यान और रौद्रध्यानका निरन्तर त्याग रखता है। आर्तध्यानके फलमें तो यह जीव पशु-पक्षी आदिक तिर्यञ्चोंमें जन्म लेता है, मुख्यतासे कहा जा रहा है, किन्तु रौद्रध्यानके फलमें तो यह जीव नरक आदिक गतियोंमें उत्पन्न होता है। इन दोनों प्रकारके ध्यानोंको जो नित्य छोड़ता है उसके ही निरन्तर सामायिक व्रत होता है। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवानके शासनमें यह बात प्रसिद्ध की गई है कि जो मुनि इन दोनों प्रकारके ध्यानोंको छोड़ता है उसके सामायिक नामका व्रत होता है। इस ही सामायिकका जो उत्कृष्ट रूप है वह है—परमसमाधि महाव्रत। परमसमाधिका अधिकारी एक त्यागी साधुपुरुष ही हो सकता है। हमें भी अपने जीवनका उद्देश्य बदलना चाहिए और ऐसे आत्महित के लिए ही मेरा जीवन है ऐसा अतरङ्गमें निर्णय रखना चाहिए। सासारिक काम तो पुण्य-पापके अनुसार हमारे थोडे ही उपयोगसे स्वत बन जाते हैं। अपने पुरुषार्थका प्रयोग आत्महितके लिये ही हो, ऐसी भावना और यत्न होना चाहिए।

जो दु पुण्णं च पावं च भाव वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइग ठाई इदि केवलिसासणे ॥ १३० ॥

पुण्यपापभावके त्यागमें समता—जो योगी पुण्य और पापरूप भावोंको नित्य ही ध्याता है उसके सामायिक स्थायी है, ऐसा केवलीके शासनमें कहा है। इसमें साक्षात् तो पुण्यभाव और पापभावके सन्यास की भावना है और उपचारसे पुण्यकर्म और पापकर्म जो पौद्गलिक हैं उनके सन्यासकी भावना है। यह जीव जब शान्ति और उन्नतिके मार्गमें चलता है तब अपने ही शुद्ध परिणामोंका कर्ता होता है। जो पुरुष पुण्य-पापरहित केवल ज्ञायकस्वरूप अपने आत्माका अनुभव करता है उसके कर्म स्वयं खिर जाते हैं। जो पुण्यपापभावको नित्य त्यागता है उसके सामायिक स्थायी है।

तथ्यसूचक उपचारस्तवन—प्रभुसे भीख मागने पर कर्म नहीं खिरते है कि हे प्रभु! मेरे ज्ञानावरणादिक कर्म दूर कर दो, इन दुष्टोंने मुझे रुलाया है, इनको मेरेसे निकाल दो और हमको रख लो, ऐसा कुछ मागनेसे काम नहीं बन सकता। यह तो एक प्रभुकी भक्ति है। चूँकि प्रभुके स्वरूपके स्मरणके माध्यम से हमें आत्मतत्त्वकी सुध हुई है और जिस आत्मतत्त्वकी सुधके कारण कर्म दूर होते हैं उसका निमित्त, आश्रय, विषय प्रभु है, इस कारण प्रभुकी बात कही जाती है यह आदरकी बात है। जैसे कोई त्यागी पूछे कि आपके मकानके बारेमें कि यह मकान किसका है, तो आप कह देते हैं कि महाराज यह मकान आपका ही है। तो क्या वह मकान महाराजका हो गया? महाराजके बहुमानसे, सम्मानसे ऐसा कहा गया है। यहाँ अन्तरमें यह भाव पड़ा है मालिकके कि महाराज जैसे अन्य साधु सतोंकी भक्तिके प्रसादसे, आशीर्वादसे पुण्य फला है और हमें यह सम्पदा मिली है। इस तथ्यको उपचारमें लेकर इन शब्दोंमें कहा जाता है। प्रभु अष्टकर्मोंका विध्वस कर देंगे, ऐसा कहना उपचारमात्र है।

स्वयके पुरुषार्थ विना सिद्धिका अभाव—भैया! स्वयके किए विना सिद्धि न होगी। लोकमें यह बात प्रसिद्ध है कि स्वयके मरे विना स्वर्ग नहीं मिलता। स्वयके किये विना सिद्धि नहीं होती है। तब करना क्या है? अपने परिणामोंको निर्मल करना है। लोकमें किसी जीवका कोई दूसरा जीव न साथी है न किसी प्रसगमें मददगार है, न कुछ कर सकता है। इतना तक भी तो नहीं है कि कोई दूसरा जीव मुझ पर प्रीति कर सके। जो भी प्रीति करता है वह अपनी कषायसे प्रीति करता है। कषायसे उत्पन्न हुई वेदनाको शांत करनेके लिये प्रीतिरूप परिणाम भी अपने आपमें उत्पन्न करता है। यह आत्मा किसी दूसरे पदार्थमें कुछ

भी करनेमें समर्थ नहीं है यह तो ज्ञानस्वरूप है। जो कुछ करेगा वह ज्ञानस्वरूपका ही काम करेगा। उन्नतिके लिए हमें अपने आप दृष्टि बनाना है कि मैं आत्मा समस्त परपदार्थोंसे न्यारा इस देहसे भी जुदा केवल ज्ञानमात्र तत्त्व हूं, ऐसी अनुभूति करनी होगी। उसके प्रसादसे ये कर्म अपने आप खिर जायेंगे।

रागकी आर्द्रताके अभावमें कर्मका निर्जरण—जैसे गीली धोती नीचे गिर जाय और उसमें धूल भिड़ जाय तो विवेकी लोग यों करते हैं कि धीरेसे उसे सूखने डाल दिया। जब वह धोती सूख जाती है तो झिटका दिया, तब वह धूल झड़ जाती है। धूलके चिपटनेका कारण वहाँ गीलापन था, गीलापन खत्म हुआ कि जरासे झिटकेमें धूल दूर हो जाती है, ऐसे ही कर्मोंके बन्धन आत्माके रागद्वेषकी गिलाईसे हुए हैं। तत्त्वज्ञान और वैराग्यके प्रतापसे जब रागद्वेषकी गिलाई सूख जाती है तो ये अष्टकर्म अपने आप झड़ जाते हैं। यह ज्ञानी तो भावना करता है पुण्य-पापरहित सर्व प्रकारके विकारोंसे रहित अविकारी स्वरूप ज्ञानतत्त्व की।

पूजामें प्रभुदर्शन और त्यागभावना—गृहस्थ भी पूजनमें एक पद बोलते हैं प्रस्तावनामें—अर्हन् पुराण-पुरुषोत्तमपावनानि वस्तूनि नूनमखिलान्ययमेक एव। अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवन्हौ पुण्यं समग्रम-हमेकमना जुहोमि॥ हे अरहंत, हे पुराण, हे पुरुषोत्तम! आपके सामने ये नाना पवित्र वस्तुएँ रक्खी हैं, क्या-क्या रक्खी हैं सो निरखते जाइये। अष्ट द्रव्योंसे सजा हुआ थाल रक्खा है,बर्तन भी सब पवित्र रक्खे हैं, सामने भगवानकी मूर्ति पवित्र हैं, यह पूजक भी नहा-धोकर, पवित्र कपड़े पहिने हुए है और यह पूजक भी स्नान करके पवित्र हुआ है। व्यवहारिक पवित्रताएँ सब वहाँ उपस्थित हैं। ऐसी स्थितिमें यह पुजारी कह रहा है कि ये नाना पवित्र वस्तुएँ हैं, किन्तु हे नाथ! मुझे तो यह सब कुछ एक ही दिखता है। जिसका जो प्रयोजन है उसको सब बातोंमें वही एक नजर आता है। जिसको किसी एक चीजकी बड़ी खुशी हुई हो, वह बातें भी अनेक करे तो भी उसके चित्तमें वह एक ही बात बसी हुई है। हे नाथ! मुझे तो ये सब ठाठ, मंदिर, प्रतिमा, द्रव्य, थाल—ये कुछ भी नाना नहीं नजर आ रहे हैं, यहाँ तो सब एक ही भाव दिख रहा है। वह क्या है? यह जाज्वल्यमान् प्रकाशमय केवल ज्ञानपुञ्ज। इस ज्ञानपुञ्ज अग्निमें मैं इन समस्त पवित्र सामग्रियोंको होमता हूं।

उपासककी सकल सगसन्यासभावना—इसमें देखिये कितने भाव भरे हैं—यह न जानना कि जो थाल में सजे हुए द्रव्य हैं उनको ही होमता हू, जितनी भी विभूति मिली हैं—धन, मकान, वैभव, प्रतिष्ठा, इज्जत ये सब कुछ मैं त्यागता हू। इस प्रकार अपने ज्ञानमें वह पुजारी यों देख रहा है कि मुझमें कुछ भी पदार्थ नहीं है। ये वैभव ठाठबाट सब अचेतन हैं, जुदे हैं इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है और ऐसी ही असम्बद्ध बुद्धिको कर रहा है। मोही जीव तो एक सेकेण्डको भी अपनेको सबसे न्यारा निरख नहीं सकते हैं। इस ज्ञानी जीवने अनेक प्रसगोंमें थोड़ा ही यत्न किया, इन्द्रियोंको सयत किया, आँखे मींची कि सबसे विविक्त केवल ज्ञानपुञ्जको निहार लेता है यह। ऐसा अपने आपके विविक्तस्वरूपका उपासक यह पुजारी कह रहा है कि मैं समस्त वैभवको होमता हू।

ज्ञानीकी पुण्यकर्मसंन्यासभावना—यह ज्ञानी वैभवको ही होम रहा है, इतना ही नहीं, यह सब वैभव ठाठबाट जिस पुण्यकर्मके उदयसे मिला है उस पुण्यकर्ममें भी इस ज्ञानीके आदर बुद्धि नहीं है। इससे यह भी उसका परिणाम बन रहा है कि मैं इन समस्त पुण्यकर्मोंको भी होमता हू। पापकर्म भी मेरा स्वरूप नहीं है और पुण्यकर्म भी मेरा स्वरूप नहीं है। इसलिए इन पौद्गलिक अचेतन पुण्यकर्मोंको भी मैं स्वाहा करता हू।

ज्ञानीकी पुण्यभावसन्यासभावना—यह ज्ञानी कर्मोंसे ही उपेक्षित होता है, इतना ही नहीं, किन्तु पुण्य-

कर्मका बध जिस परिणामसे हुआ था वह परिणाम है शुभोपयोग। प्रभुकी भक्ति करना, उपकार, दया, दानका भाव रखना, ये सब कहलाते हैं शुभोपयोग। इस शुभोपयोगमें भी ज्ञानीकी आस्था नहीं है, ये मुक्ति नहीं दिलाते हैं, ये परम्परया सहकारी कारण हो सकते हैं, पर वास्तवमें तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके अनुभवसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। यह पुजारी यहाँ कह रहा है कि मैं इन समस्त शुभ-अशुभ भावोंको होमता हू। देखो कितना उत्कृष्ट ज्ञानी है यह गृहस्थ पुजारी? पूजा करते हुए भी प्रभुकी भक्ति करते हुए भी उस भक्ति और पूजाके परिणामको होम रहा है और एक शुद्ध निर्विकार ज्ञानस्वरूपके अनुभवका उत्सुक बन रहा है। बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहके त्यागी सत तो इस पुण्यभाव और पापभावको होम ही रहे हैं।

ज्ञानीका अन्तश्चिन्तन—परम जिनयोगीश्वर पुण्यपापरहित अन्तस्तत्त्वका चिन्तन कर रहे हैं। इन ही योगीश्वरोंके चरणकमलकी वैयावृत्त्य करनेसे, पैर दाबनेसे, शरीरकी अनेक सेवाएँ करनेसे, अनेक वैयावृत्त्य करनेसे या ज्ञानध्यानका सुयोग मिलाए, ऐसी अनेक सेवावोंके प्रसादसे जो पुण्यकर्म उत्पन्न होते हैं उन पुण्यकर्मोंके भी त्यागनेकी बात यहाँ कही जा रही है। यह ज्ञानी यह नहीं सोच रहा है कि मैं इन पुण्यकर्मोंको त्याग रहा हू। पुण्यकर्म तो भिन्न हैं, परद्रव्य हैं, उनको न मैं ग्रहण करता हू, न त्यागता हू, किन्तु पुण्यभावके होने पर ये पुण्यकर्म स्वय बँधते हैं और शुद्धोपयोगके होनेपर पुण्य-पाप कर्म सभी समाप्त हो जाते हैं। यह तो पुण्य-पापसे रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूपको निरख रहा है। उसके इस निरखने में ये समस्त कर्म दूर हो जाते हैं।

पुण्यकर्मके साधनोंमें प्रधान साधन—ये पुण्यकर्म, पुण्यकर्मके साधनोंसे उत्पन्न होते हैं। उन सब साधनोंमें प्रभुभक्ति और साधुसेवा—इन दोका उच्चस्थान है। यह धन-वैभव, हाथ-पैरके पीटनेसे उपार्जित नहीं होता है। यह तो जो पहिले पुण्य बना था उसका जो उदय है, उसके अनुकूल समागम मिलता है। ये पुण्यकर्म भी अट्ट-सट्ट जिसके बँधना हो बँध जाएँ, इस तरह नहीं बँधते हैं, किन्तु जो शुभभाव करते हैं उनके बँधते हैं। उन शुभभावोंमें सबसे प्रधानभाव है प्रभुभक्ति और साधुसेवा। इन दो कर्तव्योंके प्रताप से उत्कृष्ट पुण्य बंध होता है, ऐसे पुण्यकर्मको भी यह योगी त्याग रहा है और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इनके परिणामके करनेसे पापकर्म उत्पन्न होते हैं, उन पापकर्मोंको भी यह योगी त्याग रहा है।

ज्ञानीका सहज वैराग्य—ज्ञानीके तो सहज परमवैराग्य प्रकट हुआ है अथवा यो कहो कि ये साधुसत वैराग्यरूपी महलके शिखरमें जडे हुए कलशकी तरह हैं, ये विरक्त ज्ञानी सत इन पुण्य-पाप कर्मोंका त्याग कर रहे हैं। जो पुण्य-पाप कर्म इस ससारविलासको उत्पन्न करनेके एकमात्र साधन हैं। मोह रागद्वेष इन परिणामोंसे पुण्य-पाप कर्म बँधते हैं और इन पुण्य-पाप कर्मोंके प्रतापसे यह ससारका विलास बढ़ता है। यह समस्त ससार केवल दु खका घर है। किस परिस्थितिमें यह जीव सुखी हो सकता है ऐसा कुछ ध्यानमें तो लाएँ। कुटुम्बका समागम हो वहाँ भी यह सुखी नहीं रहता है, धनका, वैभवका समागम हो वहाँ भी यह सुखी नहीं रहता है, बहुतसे मनुष्योंके समुदायमें रहता हो वहाँ भी यह जीव सुखी नहीं रहता है, कौनसा समागम इस जीवको सुखका कारण है? यह सारा ससार दु खरूप है। इस ससारके कारणभूत ये पुण्य-पाप कर्म हैं उनको जो योगीश्वर त्यागते हैं, उनके नित्य ही सामायिक व्रत होता है।

ज्ञानीका एक ही निर्णय और कर्तव्य—सम्यग्दृष्टि पुरुष जब अपने आपके प्रदेशोंमेंसे शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिके बलसे पुण्य-पाप विकारोंको निकाल देता है और ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यरूप निज शुद्ध जीवास्तिकायमें उपयोग लगाता है इस ही शुद्ध जीवास्तिकायमे अपने उपयोगका विहार कराता है वह पुरुष तीन लोकके जीवोंसे पूजित अरहत प्रभु हो जाता है। अपने जीवनमे केवल एक ही निर्णय रखो,

जब कोई कहे कि बोलो क्या करना है ? तो उत्तर आना चाहिए कि मुझे निज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावका दर्शन करना है। ये बाहरी काय होना हो तो हो और न होना हो तो न हो, सभी तो एक दिन छूटेंगे। उनके विकल्पमें कौनसा लाभ मिलेगा ? क्या करना है, इसका पूरा निर्णय रखिए। मुझे सहजस्वरूपका दर्शन करना है और कुछ वाञ्छा नहीं है। यह तत्त्वज्ञान, अतस्तत्त्वका दर्शन, पुण्यपापरूप वनको भस्म कर देनेमे दावानलके समान है और ससारसतापको बुझा देनेमे यह शीतल मेघकी तरह है। इस मेरे सहज-स्वरूपके आलम्बनसे ही सारे सकट दूर होंगे। यहाँ किसीको शरण मानना बेकार बात है, ज्ञानीसंत अपने आपके परमशरण, परमरक्षक अतस्तत्त्वका आश्रय ले रहा है।

शुद्ध स्वरूपके निरखनेमे जीवका उद्धार—यह ससारका कामी पुरुष पापकर्मके उदयके वश होता हुआ इस ससारवनमें भटक रहा है। यह मानों इस ससृतिरूपी कुटिलाका वरण कर रहा है, यह कर्मजनक सुखको उत्पन्न करनेके लिए आकुल, व्याकुल होकर अपना जीवन खो रहा है। अरे! यह कभी भी अपने आपके स्वरूपकी सभालका यत्न कर ले तो इसके भव्यताका विकास होगा और यह शीघ्र ससारके समस्त संकटोंसे छूटकर शाश्वत मुक्ति सुखको प्राप्त कर लेगा। एक बार इस शुद्ध स्वरूपका शुद्ध विकास होना चाहिए फिर यह त्रिकाल भी मलिन नहीं हो सकता, ससारके सकट प्राप्त नहीं हो सकते। एक मुक्तिका ही सुख ऐसा अनुपम है और परिपूर्ण है जिसकी सानीका उदाहरण देनेको अन्य कुछ भाव नहीं हैं। यह सबसे विमुक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूपके विकासमे तृप्त रहकर आनन्द भोगता रहता है। सिद्ध होनेके बाद फिर यह आत्मा कभी भी इस ससारमें भ्रमण नहीं करता है। सबसे बड़ा काम पड़ा है हम आपके अपने आपके सहजस्वभावका आश्रय लेना, सबको असार जानकर ऐसा निर्मल ज्ञानप्रकाश बढ़ावे कि किसी परद्रव्यमें अपना अनुराग न रहे।

सहजस्वभावके आश्रयमे आविर्भूत सहजविश्रामके प्रसादसे उत्पन्न अविकारभावमे परमसमाधि—इस परम-समाधि अधिकारमें यह प्रतिपादन किया जा रहा है कि मुक्तिके अपूर्व आनन्दको पानेमें प्रधान साधन परमसमाधिभाव ही है। जिस उपायसे आत्मामें समता प्रकट हो उस उपायको करना ज्ञानी संतोंका कर्तव्य है और वह उपाय सुगम भाषामें सीधा यह है कि समस्त परपदार्थोंको भिन्न जानकर, स्वतंत्र जानकर, उनसे मेरेमे कुछ भी सुधार अथवा बिगाड़ नहीं है, ऐसी स्थिति समझकर एक बार तो समस्त परपदार्थोंको उपयोगसे हटावो और अपने सहज स्वरूपमें अनुपम विश्राम लो। इस सहज विश्रामके प्रतापसे अपने आपमें शुद्ध ज्ञानका अनुभव होगा, जहाँ रागद्वेष, सुख-दुःख, शुभ-अशुभ परिणाम किसी प्रकारका विकार नहीं है, उस ज्ञानप्रकाशमें ही परमसमता प्रकट होती है। जो योगीश्वर इस परमज्ञान-प्रकाशमें वार्ता करते हैं वे धन्य हैं, उनको हमारा भावपूर्वक वन्दन हो।

जो दु हस्सं रदिं सोग अरदिं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइग ठाई इदि केवलिसासणे॥ १३१॥
जो दु मुञ्छा भय वेदं सव्व वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइग ठाई इदि केवलिसासणे॥ १३२॥

जो पुरुष हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, वेद सब नोकषायोंको त्यागता है उसके सामायिक परिणाम स्थायी होता है, ऐसा केवली भगवानके शासनमें कहा है।

नोकषायोका प्रवर्तन—ससारी जीवोंकी प्रवृत्ति नोकषायरूप हो रही है। चारित्रमोहके भेदमें १६ तो कषाये है और नव नोकषाये हैं, उनमें प्रवृत्ति नोकषायोंसे होती है और उन नोकषायोंमें स्पीड देने वाली १६ प्रकारकी कषाये हैं। जैसे थोड़ी देरको समझलो कि काममें आते हैं बल्ब और उन बल्वोंमें प्रभाव थोड़ा मिलना, बड़ा मिलना, यह डालता है करेन्ट। तो १६ कषाये तो करेन्ट जैसा काम करती हैं

और ये नोकषायें मानों वल्ब, अगीठी जैसा काम करती हैं। प्रवृत्तिमें ये हास्यादिक आती हैं। अनन्तानुबंधी कषाय हुई तो हास्य रति आदिकमें इस प्रकारका असर हुआ। अप्रत्याख्यानावरण कषायमें हास्यादिक तो और तरहके होते हैं, प्रत्याख्यानावरणमें हास्यादिक और किस्मके होते हैं और सज्वलनमें ये अत्यन्त मद होते हैं। ज्ञानी पुरुष इन ९ कषायोंकी प्रवृत्तिसे दूर रहते हैं। इन ९ कषायोंके विजयके उपायं से सामायिक चारित्रका स्वरूप प्राप्त होता है।

नोकषायोंमें कषायोंके अनुकूल तीव्रता व मन्दता—इन हास्यादिकोंका नाम यद्यपि नोकषाय है। नोक अर्थ है थोड़ा। यहाँ नोका अर्थ संख्याके ९ से नहीं लेना। नो शब्द सस्कृतका शब्द है और ईषत् अर्थमें आता है। नोकषायमें यदि कषायोंके पुट न मिलें तो इनमें कुछ दम नहीं रहती है। जैसे वल्वको जो चाहे छू ले, उसमें क्या दम है? पर करेन्टसे जुड़ जाय तो उस ही वल्वमें तेजका असर हो जाता है, इस प्रका इन नोकषायोंके साथ कषायें जुड़ी हुई रहती हैं, ऐसा कहीं नहीं होता कि नोकषाय तो रही आए और कषाय न रहे, नोकषायका असर रहे और कषाय रच भी न हो ऐसा कोई जीव न मिलेगा। यह तो सम्भव है कि नोकषाय जरा भी नहीं है और कषायका सक्लेश बना है। जैसे नवम गुणस्थान और दशम गुण स्थानमें वहाँ हास्यादिक नोकषायें नहीं हैं, किन्तु सज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ बने हुए हैं। ९ वे गुणस्थानमें हास्यादिक छः नोकषाय रच नहीं हैं। हास्यादिक ६ नोकषायका उदय-विच्छेद अष्टम गुण स्थानमें हो जाता है और ये कषायें रही आती हैं। नोकषायोंमें ६ कषायें तो हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा—ये अष्टम गुणस्थानके अत तक ही रहते हैं। पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुसक वेद ये ९ वें गुणस्थान के कुछ भाग तक चलती हैं और सज्वलन क्रोध वेदके उदयविच्छेदके बाद कुछ समय तक रहता है और वेदके उदयविच्छेदके बाद और देर तक मायने उससे भी अधिक देर तक मान और उससे भी अधिक देर तक माया व उससे भी अधिक देर तक लोभ रहता है। नोकषायके बिना कषाय बेकार हैं और कषायके बिना नोकषाय बेकार हैं।

कषायोंकी अहितकारिता—ये समस्त कषायें जीवको मोहित करती हैं, मोह उसे कहते हैं जिसके करते हुए भला लगे, किन्तु परिणाम बरबादीका निकले, उसका नाम मोह है। मोह करते हुए भला लगे और परिणाम बरबादीका न हो उसे धर्मानुराग कहते हैं। वह मोह नहीं है, कषाय नहीं है। मोहमें परिणाम बुरा निकलता है और वर्तमानमें भला जँचता है। जैसे गृहस्थीके अनुभवमें ही देख लो, स्त्रीका स्नेह कितना भला लगता है, परन्तु उसके परिणाममें १०-२० वर्षके बाद जो बीतती है सो गृहस्थ जानते हैं। सतान हो गई, बच्चे हो गये, अब उनकी शादी करना है और खर्चे बढ़ गये हैं और यह ही दुःख रहे तो भी कुछ अधिक हानि नहीं, लेकिन वे सब क्या अनुकूल चलते हैं? कोई प्रतिकूल चलते हैं, उनकी इस अनुकूलता और प्रतिकूलताको देखकर अज्ञानवश जो अतरङ्गमें क्लेश होता है उसे कौन मिटाने आए?

अज्ञानका क्लेश—भैया! सबसे बड़ा क्लेश बेवकूफीका है, आवश्यकताकी अपूर्तिका नहीं है। जब कीड़ा-मकौड़ा भी अपना पेट किसी तरहसे भर लेते हैं तो मनुष्यको अपना पेट भर लेनेमें कौनसा कठिन काम है? जो घास है, जिसे गाय, बैल, भैंस खाते हैं उसको ही हँसियासे महीन बनाकर छौंक दीजिए, नमक, मिर्च डाल दीजिये तो उससे भी पेट भरा जा सकता है, किन्तु क्लेश है अज्ञानका। कल रास्तेमें आ रहे थे देखा कि बहुतसी सफेद रेह पड़ी है, उसको ही बटोर-बटोरकर कोई बेचे तो उससे भी पेट भरा जा सकता है, पर रेत बटोरना, इतना श्रम करना, अपनी पोजीशन घटाना ये किसे पसन्द है? बहुतसी कमजोर बुढ़िया छोटी-छोटी घासको खोदकर दिनभरमें एक गट्ठा तैयार कर लेती हैं और आजकलके समयमें वह डेढ़ रुपयेके करीबका होता है, उसको ही बेचकर अपना पेट भरती हैं। जिस कर्मके उदयवश हम आपने यह शरीर पाया है और इतना ऊँचा शरीर पाया है तो क्या पेटकी पूर्तिके लायक कर्म न होगा?

निर्मोहताकी संभालमें क्लेशका विच्छेद—अपन लोग आवश्यकताकी अपूर्तिसे दु:खी नहीं हैं, किन्तु मानसिक व्यथासे दु:खी हैं। लोकमें मेरी पैठ, मेरा सम्मान कुछ अधिक होना चाहिए, ऐसी जो अन्तरङ्गमें भावना बसी है यह दु:ख देती है। बहिर्मुखदृष्टिसे बढ़कर कोई अपराध नहीं है। इतने विकट तो हम कसूर वाले हैं और चाहते हैं हम लोकमें उत्तम अग्रणी कहलाना तो कसूर करके लोकमें अग्रणी कहलाएँ यह अपनी एक धूर्तता है। पहिले तो थी बेवकूफी और अब यह है धूर्तता। जहाँ बेवकूफी और धूर्तता दोनों मिल जायं वहाँ आरामकी आशा कहाँ रक्खी जा सकती है? यह समस्त जगत मोहनीय कर्मोंके उदयसे अथवा मोहभावके अविर्भावसे परेशान है। अपने आपको सभाल लो तो कहीं परेशानी नहीं है। अरे! कैसे सभाल ले? गृहस्थी तो अभी कच्ची है। यही तो बेहोशी है। पुराणोंमें लिखा है कि सुकौशल के जब ज्ञान जागृत हुआ तो यह नहीं देखा कि अभी गृहस्थी कच्ची है, गर्भमें बच्चा है, दुनियाके लोग बच्चोंको तरसते हैं, हम भी बच्चेका मुँह देख लें, ऐसा सुकौशलने कुछ न सोचा था। अरे! जहाँ ज्ञान जग गया वहाँ फिर क्लेश भी कुछ नहीं है।

साधनसमागमकी उदयानुसारिता—भैया! जिसका जसा उदय है उसके अनुसार उसकी आजीविका का साधन मिल जाता है। कोई-कोई पुरुष ऐसे हीन पुण्यके होते हैं कि घरमें रहने वाला बड़ा पुरखा या बड़ा भाई जो घरमें बड़ा है कहो उसके रहनेके कारण घरके छोटे भाईका, बच्चोंका पुण्य विशद प्रकट न हो और यह घरका बड़ा, पुरखा मानता है कि मैं घर छोड़ दूँ तो घरके लोग बरबाद हो जायेंगे। सम्भव है कि यह घर छोड़ दे तो उन लोगोंका पुण्य विशद प्रकट हो जाये और वे सुखी हो जाएँ, यह भी सम्भव है और यह भी सम्भव है कि बड़ा छोड़ दे तो घरके लोग बरबाद हो जाएँ, लेकिन कोई बरबादी हो जाय तो, आबादी हो जाय तो उसमें कारण उनका खुद-खुदका कर्मका उदय है, कोई किसी दूसरे जीवकी जिम्मेदारीका कर्ता-धर्ता नहीं होता।

साधनसमागमकी उदयानुसारिता पर एक दृष्टान्त—एक कोई जोशी था। उसका काम था रोजरोज इधर-उधरसे आटा-दाल मागकर लाना और बच्चोंको पालना। रोज १०, ११ बजे मांगकर लाता था तब रोटियाँ बनती थीं। एक दिन एक घर आटा दाल माग रहा था, एक साधुजी निकले, साधुने पूछा—क्या कर रहे हो? तो जोशी बोला कि आटा-दाल मांगकर ले जायेंगे तो बच्चोंका पेट पलेगा। साधु बोला कि तुम इस चिन्ताको छोड़ दो और १५ दिनके लिये मेरे साथ चलो, धर्मध्यानमें रहो। उसे ऐसी ही बुद्धि आयी कि झोली फेंक फाक कर साधुके संग चला गया। अब जब १०-११ बजे तक वह मांगकर घर न आया तो उसकी स्त्री, बच्चे सब रोने लगे। पड़ौसके लोग जुड़ आए, किसी मसखरेने यह कह दिया कि उसको एक व्याघ्र पकड़ ले गया और मारकर खा गया। अब लोग सोचते हैं कि वह तो मर गया है और ये अपने पड़ौसमें हैं, छोटे-छोटे बच्चे हैं, ये तो भूखे न रहने चाहिऐं। सो किसीने तीन-चार बोरा गेहूं दे दिया, किसीने घीकी टीन, किसीने तेलकी टीन दे दिया, किसीने कपडेके कुछ थान दे दिए, क्योंकि लोगों ने सोचा कि कमसे कम १ सालका बन्दोबस्त तो कर ही दें। अब घरके सब खुश होकर मौज करें।

अनावश्यककी पूछका अभाव—अब वह जोशी जब १५ दिन हो गए तो साधुसे बोला—महाराज! अब जाकर घर देख आएँ, कौन बच्चा मरा है, कौन जिन्दा है? तो साधु बोला—अच्छा देख आवो, पर छुपकर जाना और पहिले निगरानी कर लेना कि घरमें क्या हो रहा है? कहा—अच्छा महाराज! सो वह अपने घरकी छत पर पीछेसे चढ़ गया और एक ओरसे देखने लगा तो वहाँ कढ़ाही चढ़ी हुई थी, मगौडे-पकौडे बन रही थी, बच्चे नये नये कपडे पहिने हुए खेल रहे हैं, खूब आरामसे है। वह जोशी देखकर खुश हो गया और मारे खुशीके सबसे मिलनेके लिये अपने घरमें कूद गया। बच्चोंने देखा तो सोचा कि वह तो मर गया था। यह तो भूत है, सो लूगर वगैरह उठाकर उसे खूब मारने दौड़े। वह जोशी

अपनी जान बचाकर साधुके पास पहुंचा, बोला—महाराज ! वहाँ तो सब ठीक है, पर मुझे सब मारने दौड़े, सो जान बचाकर भाग आया हू। साधु बोला कि जब सब मजेमें हैं तो तुझे कौन पूछे ? तू तो धर्मध्यान कर। सबके साथ अपना-अपना उदय है।

मोहके बोझका क्लेश—भैया ! सभी जीव अपने-अपने उदयके द्वारा अपना-अपना गुजारा करते हैं। अपने चित्तमें किसीका जिम्मेदार समझना यह एक अज्ञानका बोझ है। क्यों न इतनी हिम्मत करें कि कुछ भी हो जाय तो भी मैं आत्मा अमूर्त निरापद हू। क्या होगा ? ज्यादासे ज्यादा जो अनिष्ट माने जा सकते हैं उन सब अनिष्टोंकी कल्पना कर डालें, इतना तक भी हो जाय तो भी मेरे आत्माका क्या नुकसान है ? यह तो ज्ञानके बल पर सुखी होता है, धन, वैभवके बल पर नहीं, धन वैभव होने पर भी ज्ञान उलटा है, कुबुद्धि है, कुमति है, तो झगडा है, विवाद है, परेशानी है, कुछ तत्त्व न मिलेगा और सुमति है, बुद्धि ठिकाने है तो दरिद्रता भी आ जाय तो भी अन्तरमें प्रसन्न रह सकता है। जितने भी क्लेश हैं वे सब मोहके कारण भोगने पड़ रहे हैं। इस मोहके परिणाममें जीवमें ९ तरहकी प्रवृत्तिया होती हैं, उन्हीं प्रवृत्तियोंका नाम है नोकषाय।

हास्य नामक कषाय—अपने आपको भला मानने वाले और लोगोंसे श्रेष्ठ समझने वाले मूढ जन दूसरे जीवोंकी प्रवृत्तिको देखकर हास्य करते हैं, मजाक करते हैं। हास्य दूसरेको तुच्छ माने विना कैसे की जा सकती है ? इस हास्यकी प्रवृत्तिमें यह जीव स्वरूपसे च्युति किये है और इस आत्मच्युतिकी दशा में यह जीव हास्यकी प्रवृत्ति करके अपने आपको रीता बना रहा है। जब कभी तेज हँसी आती है तो अपना पेट रीतासा हो जाता है, कुछ हलकापन आ जाता है। तो जैसे हास्यका प्रभाव शरीरको रीता कर देनेमें होता है। उस हास्यसे आत्मा भी गुणोंसे रीता हो जाता है। दूसरे पुरुषका क्या मजाक करना ?, खुद ही तो मजाकके लायक है। उस हास्यकर्मके उदयमें, हास्यभावकी पीड़ामें इस जीवके समतापरिणाम हो ही नहीं सकता और समता-परिणामके बिना यह जीव ससारमें क्लेश भोगता रहता है। अनन्तानुबधी की पुट ले तो यह हास्य कठिन करता है और जैसे-जैसे पुट कम हो वैसे ही वैसे हास्य मन्द होता जाता है।

रति नोकषाय व नोकषायोंमें कषायोका प्रभाव—रति कषाय उसे कहते हैं कि उत्कृष्ट वस्तुको निरख कर उसमें प्रीतिका परिणाम हो। देखिये प्रवृत्ति हो रही है नोकषायके द्वारा और इसमें प्रभाव भरा गया है कषायके द्वारा, तो शका यह हो सकती है कि प्रभाव भरने वाली कषायें भले ही चार प्रकारकी हों—अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सञ्ज्वलन, पर उनमें क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार भेद क्यों हो गये ? जब प्रवृत्ति हास्यादिकसे हो रही है तो होने दो। बात वहा यह है कि जैसे बिजलियोंके करेन्टमें भी एक प्रकारका तार नहीं रहता, दो तीन प्रकारके तारोंका बधन रहता है, ऐसे ही ये यद्यपि सामान्यता कषाय हैं, लेकिन इनमें भी विभिन्नता है और प्राय उन करेन्टोंके स्पर्शसे इन नो-कषायोंमें दो भाग हो गए हैं। कुछ कषाय हैं रागरूप जो माया और लोभके प्रभावसे प्रभावित हैं और कुछ कषाय हैं द्वेषरूप, जो क्रोध और मानके प्रभावसे प्रभावित हैं। मायामयी प्रवृत्ति एक तारसे नहीं चल सकती है। जैसे हम आपके खूनकी गति न केवल लाल खूनसे चलती है, न केवल सफेद खूनसे चलती है। लाल और सफेद दोनों प्रकारके खून इस शरीरके साथ बँध जाते हैं। सफेद खूनमें तो कीटाणुवोंके नाश करनेकी सामर्थ्य है और इस लाल खूनमें एक तेज देनेकी ताकत है और इन दोनोंसे फिर यह शरीरकी गति चलती है। इस रागद्वेषकी प्रवृत्तिमें राग भी केवल राग रहकर नहीं चलता है, वह भी किसी न किसी ढगमें द्वेषको अन्तर्निहित करके चलता है और इसी प्रकार द्वेष भी केवल द्वेष बनकर नहीं चलता है वह भी किसी ढगमें रागको अन्तर्निहित करके चलता है। कैसा

कालग्रस्त है यह, कितनी विडम्बनाएँ इन कषायोंमें पायी जाती हैं ?

मोह, राग, द्वेषसे सकटकी उत्पत्तिका एक दृष्टान्त—हाथीको वशमे करने वाले शिकारी जंगलमें एक गड्ढा खोदते हैं और उस पर वांसकी पचें बिछाकर पाट देते हैं, उस पर कागजकी झूठमूठ हथिनी बनाते हैं और दूरमें एक दौड़ता हुआ कागजका हाथी बनाते हैं। उस हथिनीसे राग करके वनहस्ती दौड़ता हुआ उसके पास आता है और सामने आते हुए दूसरे हाथीको देखकर उससे पहिले पहुंचना चाहता है। वह यह नहीं जान पाता कि यह जमीन बनावटी है, सो उस पर आते ही वह गड्ढेमें नीचे चला जाता है। तो ये राग और मोह दो आ गये। वह हाथी खूब तेजीसे दौडता हुआ आता है इसलिए कि उस दौड़ते हुए हाथीसे जल्दी उस हथिनीके पास पहुचना है, तो यह द्वेष हो गया। यों उस हाथीके गिरानेमें अज्ञान, राग और द्वेष तीनों मदद कर रहे हैं।

मोह, राग, द्वेषका पारस्परिक सहयोग—मोह, राग और द्वेष—इन तीनोंमे एक जिगरी दोस्तीसी है। एकके बिना शेष दो व्याकुल हो जाते हैं। मोह न रहे तो राग द्वेष अपने प्राण खो देते हैं, राग द्वेष मंद हो जाएँ तो मोहको अपनी जान बचाना मुश्किल हो जाता है। ये तीनों एक दूसरेके अनुग्रह पर जीवित रहा करते हैं। यह रति नामक कषाय इष्ट पदार्थमें प्रीति करने वाली है। ये हास्य और रति दोनों रागभाव हैं। इन विकल्पजालोंका जो परित्याग करता है उसके समता प्रकट होती है।

नोकषायोंमे अरति व शोकका स्थान—यह परमसमाधि अधिकार है। इस अधिकारमें पूर्व गाथावोंमें अब तक परमसमाधिके पात्रकी विशेषताएँ बताते जा रहे हैं और इन दो गाथावोंमें यह कहा जा रहा है कि जो हास्यादिक ६ प्रवृत्तियोंको नित्य ही त्यागते हैं, निरन्तर त्यागे रहते हैं उनके परमसमाधि प्रकट होती है। हास्य और रति ये दोनो राग भाव हैं, इनके विपरीत जो प्रवृत्ति है वह है--शोक और अरति। जहाँ हास्य नहीं है वहां शोक है। किसी अनिष्ट प्रसंगमे चिन्तातुर हो जाना, शोकमग्न हो जाना, यह शोकभरी प्रवृत्ति है। कुछ बाहरकी ओर मुड़ने पर ही यह नोकषाय प्रवृत्ति हुई है। रागभरे भावोंसे जब बाहरकी ओर मुडे तो हास्य आये और द्वेष भरे भावोंसे जब बाहरकी ओर मुड़े तो शोक आये। इन दोनों ही दशावोंमे मूल एक पर्यायकी पकड़ है। चाहे कोई जीव हास्यमें मग्न हो अथवा शोकमे मग्न हो, मूलमें अपराध दोनोंमें एक है, वह है अपनी पर्यायमे आत्मीयताकी कल्पना करने का।

विषमताके परिहारमे समाधिभावका आविर्भाव—यों यह जीव शोकके वशमें होकर अपनेको विषमतामें ला देता है। जो परम जिन योगीश्वर इस शोकको दूर करते हैं उनके ही परमसमाधि प्रकट होती है, ऐसे ही यह अरति परिणाम है, अनिष्ट पदार्थोंको निरखकर अप्रीतिका भाव होना सो अरति है। यह प्रायः क्रोध और मानकषायके संस्कारमें प्रकट होता है। जगतके सभी जीव अपनी ही तरह एक स्वरूपके हैं, फिर भी इन अनन्त जीवोंमे से दो-चारको अपना मानकर उनमें हास्य रतिकी प्रवृत्ति करना और बाकीको गैर मानकर उनके प्रति अरति और शोक जैसी प्रवृत्ति रखना, यह अज्ञानभरा आशय है और जब तक यह आशय है तब तक सकट नहीं छूट सकते हैं। जो जीव हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा इनको निरन्तर त्यागते हैं, उनके ही परमसमाधि होती है। परमसमाधिमें ही परमतृप्ति है, विषमतामें नहीं है।

ग्लानिभावमें समताका अभाव--जुगुप्सा ग्लानिपरिणामको कहते हैं। जो मनुष्य थोड़ी-थोड़ी बातमें भी ग्लानि करता है उसके समतापरिणामकी कैसे सम्भावना हो सकती है ? आत्मस्वरूपमें स्थिरताकी कोई बात चाहिए और उसे परपदार्थ साधारण-साधारणसी दशामे भी अनिष्ट जँचने लगे तो समता कैसे आ सकती है ? ग्लानिपरिणाम, द्वेषपरिणाम आए बिना नहीं होता है। द्वेष चेतनमें भी होता है और अचेतनके विषयोंमें भी होता है।

अचेतनविषयक ग्लानि—कहीं गन्दी जमीन है अथवा हड्डी थूक आदिक पड़ा हुआ है, मलमूत्र पड़ा है वहां भी जो भीतरमें घृणाका परिणाम उठता है वह परिणाम भी वास्तवमें कुछ द्वेष हुआ तब उठता है जब द्वेषपरिणाम परिणतमें हुआ करता है। उसे जो कुछ अनिष्ट होगा उस ही में द्वेष होता है। इस जीव का शौक शृंगारप्रिय है, शौक शान वाला है, अपनी बड़ी महत्ता समझता है, झूठा बड़प्पन मानता है, अपने शरीरको बहुत ही स्वरूपवान् और सब कुछ समझता है। उसे जब ये अन्य चीजें दिखती हैं तो घृणा आने लगती है। जिसकी प्रकृति घृणा करते रहनेकी बने उसके समता कैसे विराजेगी ?

अन्य चेतनविषयक ग्लानि—इसी प्रकार दूसरे प्राणियोंमें, मनुष्योंमें घृणाका परिणाम रक्खे तो समता कहा ठहरेगी ? दुराचारी नीच पुरुषोंका संग इसलिये दूर रक्खा जाता है कि कहीं उसके दुराचरण का प्रभाव मेरे ऊपर न आए। अपनेको सुरक्षित रखनेके लिए उनसे बचा जाता है, पर कोई उनसे अन्तर में घृणाका भाव करे, उनसे द्वेष करने लगे तो यह जुगुप्सा है, यह हितकारी भाव नहीं है। अपनी रक्षाके लिए दूर रहना यह घृणामें शामिल नहीं है, किन्तु रक्षाका तो जहा ध्यान नहीं है, अपने पर्यायको बहुत आदर्श और महत्वपूर्ण मानता है, लोकमें श्रेष्ठ समझता है और इस ही बात पर अन्य पुरुषोंसे घृणा करता है तो वह घृणा है, पाप है और इससे आगे चलो तो अपने समान कुल वाले उच्च पुरुषोंमें भी अपनी पर्यायबुद्धिके संस्कारवश अपनेको बड़ा समझकर दूसरोंको जो तुच्छ, मन्दबुद्धि मानता है वह भी जुगुप्साका पाप कर रहा है। ऐसे पुरुषोंमें समतापरिणाम कहाँ विराज सकता है ? जो जुगुप्सा परिणामसे रहित है उसके ही समतापरिणाम हो सकता है।

विभावविचिकित्सा—अच्छा और आगे चलिये—अपने आपमें जो विपरीत वृत्तियां उठती हैं, जो अपना स्वभाव नहीं है ऐसे विकार, ऐसी वेदनाएँ जो उत्पन्न होती हैं, स्नेह हुआ, द्वेष हुआ, क्षुधा हुई, तृषा हुई आदिक परिणाम होते हैं उन वेदनाओंमें ग्लानि करना याने दुःखी होना, कायरता आ जाना, जुगुप्सा का परिणाम बनना, ये वृत्तिया अगर चलती हैं तो वहां समता कहा विराज सकती हैं और इससे भी आगे देखो कि इस जुगुप्सावान् पुरुषने किसी परपदार्थ पर घृणा नहीं की, किन्तु अपने आपके प्रभुसे ही घृणा की है। जो अपने परमात्मासे भी घृणा करे उसके लिए उसकी रक्षाका ठिकाना कहा रह सकता है ? जो पुरुष जुगुप्साका परित्याग करता है उसके ही समाधिभाव स्थायी है, ऐसा केवली भगवानके शासनमें कहा गया है।

भयमें समताका अभाव—जैसे जुगुप्साभाव इस जीवका अहितकारी परिणाम है, इसी प्रकार भयका परिणाम भी जीवका अहित करता है। यह संसारी प्राणी अपनी निधि ज्ञानानन्दस्वरूपका परिचय नहीं पा रहा है, इस कारण छोटी-छोटी घटनाओंके प्रसंगमें भी यह भय किया करता है। सबसे बड़ा भय इसको यह होता है कि कहीं मैं मिट न जाऊँ। कहीं तो यह मरनेको मिटना समझता है और कहीं अपनी धन-सम्पदामें भंग पड़नेको मिटना समझता है। जहा भय है वहा न धैर्य है और न समता है। भयके मूल कारण दो होते हैं—एक तो धनसे मोह होना और दूसरा जीवनसे मोह होना। जिस पुरुषको न धनसे मोह है, न जीवनसे मोह है उसको भय कहासे आयेगा ? ज्ञानी पुरुष जानता है कि यह धन क्या वस्तु है ? अनेक परमाणुओंका मिलकर एक स्कंध बन गया है और इस स्कंधको लोग धन कहा करते हैं। यह धन मायास्वरूप है, मिट जाने वाला है, मेरेसे भिन्न है, इसके परिणमनसे मेरेमें कुछ सुधार अथवा बिगाड़ नहीं आता है, ऐसा यह ज्ञानी पुरुष निरख रहा है, इसके धनमें मोहका परिणाम नहीं होता है।

ज्ञानीका निरापद ज्ञान—धन्य है वह ज्ञानीका ज्ञान जिस ज्ञानप्रकाशमें अपना केवल ज्ञानप्रकाश ही ही नजर आ रहा है और इस परिज्ञानके कारण उसके चित्तमें किसी भी प्रकारकी विह्वलता नहीं होती है। धन बिगड़ता है तो वह मायास्वरूप है, उससे इस ज्ञानपुञ्ज आत्मतत्त्वकी कुछ हानि नहीं है। यश

बिगड़ता है तो वह मायामय पुरुषोंके हृदयकी चीज है, मेरा कुछ नहीं है। इससे मेरा कुछ बिगाड़ नहीं है। जीवन बिगड़ता है तो यह एक पुराने घरको छोड़कर नये घरमें जानेका उद्यम है। इससे भी मेरा कुछ बिगाड़ नहीं है, ऐसे यथार्थस्वरूपके परिचयके कारण जो पुरुष साहसवंत होते हैं उन पुरुषोंके ही सामायिक व्रत स्थायी हो सकता है।

भयकी कल्पनावोंके रूपक--कल्पना ही भयका मूल आधार है। जीव तो निःशंक ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र है। इस अतस्तत्त्वमें जिसका उपयोग जाय उसको किसी भी प्रकारका संकट और भय नहीं रहता है, भय तो कल्पनासे उत्पन्न किया जाता है। भयको जो ज्ञानी पुरुष छोड़ देता है उसके ही यह सामायिक व्रत स्थायी होता है। भयोंकी जाति मूलमें ७ प्रकारकी कही गयी है—इहलोकभय, परलोकभय, वेदनाभय, अत्राणभय, अगुप्तिभय, मरणभय व आकस्मिकभय। मेरी आजीविका न बिगड़ जाय, मेरी परभवमें दुर्गति न हो जाय, रोगादिककी पीड़ा न हो जाय, मेरा कोई रक्षक नहीं है क्या होगा? मेरा घर दृढ़ नहीं है, मेरी कैसे रक्षा होगी? मेरा मरण न हो जाय, कहीं अचानक कोई संकट न उन जाय, ये सब भयोंके रूपक हैं। भयका विनाश होने पर ही समताभाव ठहर सकता है।

ऐहिक भय—किसीको इसी जीवनमें आजीविकाका विकट भय लगा है, कहीं मेरी आजीविका नष्ट न हो जाय, फिर मेरा क्या हाल होगा, मैं रहूंगा अथवा नहीं, इस भयशील अज्ञानी पुरुषको यह विश्वास नहीं है कि मैं आत्मा सत् हूं, सत्का कभी विनाश नहीं होता है। इस आत्माको यह खबर नहीं है कि पुण्य-पाप कर्म सभी इस संसारी जीवके साथ लगे हैं, उनके अनुकूल जीवोंके सुख-दुःख होते हैं। बाहरी साधनोंको जुटाकर क्या मैं कर्म बदल लूंगा? कर्मपरिवर्तन होता है तो आत्माको विशुद्धिका निमित्त पाकर होता है। यह मोही जीव बहिर्मुखदृष्टि करके बाह्यपदार्थोंको जोड़कर अपनाकर अपना भविष्य उज्ज्वल बनाना चाहता है, पर ज्यों-ज्यों यह बाह्य प्रसंगोंमें भिड़ता जाता है त्यों-त्यों भयके साधन बढ़ते जाते हैं। जो पुरुष भय नामक नोकषायका सर्वथा त्याग कर देते हैं उनके ही सामायिक व्रत स्थायी हो सकता है।

वेदनोकषायकी विडम्बना—इन नोकषायोंमें बहुत विकट प्रवृत्ति है वेद की। स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद—इन वेदभावोंमें कामविषयक, मैथुनविषयक प्रवृत्ति और अभिलाषा रहती है। जो जीव काम प्रवृत्तिके योग्य भी नहीं हैं, नपुंसक हैं ऐसे जीवोंके भी यह कामविषयक पीड़ा रहती है। जो जीव पञ्चेन्द्रिय भी नहीं हैं, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय अथवा चार इन्द्रिय हैं उनमें भी यह कामव्यथा पायी जाती है, वे भी जीव हैं। परिणाम उनका उनके साथ है। किसीकी अंतःपीड़ाको हम आप कैसे जानें? अन्यकी तो बात जाने दो, जो एकेन्द्रिय जीव हैं, जो खड़े रहते हैं, जिनके कुछ उद्योग भी नहीं है ऐसे जीवोंमें भी वेद व्यथा पायी जाती है। कितना यह विडम्बित लोक है?

वेदप्रवृत्तिमें समताकी असंभावना--स्त्रीवेदके उदयमें स्त्रीको पुरुषविषयक अभिलाषा और पुरुषवेदके उदयमें पुरुषको स्त्रीविषयक अभिलाषा हुआ करती है परन्तु विडम्बना तो देखो, यदि पुरुषके भी स्त्रीवेद का उदय आ जाय तो शरीरसे यद्यपि वह पुरुष है तो भी स्त्रीके समान अपने परिणाम मलिन बनायेगा। स्त्री शरीर वाले जीवके यदि पुरुषवेदका उदय आ जाय तो वह स्त्री भी पुरुषकी तरह अपने परिणाम बनायेगी। ये कितनी विपरीत वृत्तियां हैं? कहाँ तो यह आत्मा स्वतंत्र, निश्चल, निष्काम मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहनेका विरद वाला है और कहाँ उसकी इतनी मलिन प्रवृत्ति जग गयी है। जो जीव इन वेद नोकषायोंके सताये हुए हैं उनके समाधिभाव प्रकट नहीं हो सकता है।

विषयप्रसंगकी अहितकारिता--इन नोकषायोंसे जिनका आत्मा कलंकित है, जिस कीचड़में सब प्रकार के विकार पनपा करते हैं उन समस्त विकारोंके मूल मोहभावको जो परमतपस्वी त्याग देता है, उसके यह

परमसमाधि प्रकट होती है। जीवको पारमार्थिक आनन्द समाधिभावमें ही मिलता है। समाधिभावसे उल्टा परिणाम है विषम प्रसंग। ५ इन्द्रियां और एक मन, इन ६ के विषयोंसे दूर होने पर ही समाधिभाव प्रकट होता है। इन विषय प्रसंगोंमें कदाचित् काल्पनिक सुख मिल जाता है, परन्तु वह सुख भी दु:खसे भरा हुआ है, वहां भी आकुलता मची हुई है। इन नोकषायोंसे कलंकित समस्त विकारजालोंको जो पुरुष दूर कर देता है उसके ही परमसमाधिका आनन्द प्रकट होता है।

योगीकी निश्चयरत्नत्रयात्मकता—यह परमतपस्वी निश्चयरत्नत्रयात्मक है। जैसे किसी पुरुषको निरख कर लोग नाना रूपोंमें पकड़ते हैं, यह पुरुष क्रोधी है, यह पुरुष मायावी है, यह लोभी है आदि। तो ये मोक्षमार्गके प्रमुख नेता, प्रमुख पथगामी योगीश्वर कैसे हैं? इसका उत्तर इतना ही जानो कि ये निश्चयरत्नत्रयात्मक हैं। आत्माका जो सहजस्वरूप है उसका यथार्थ श्रद्धान और उसका यथार्थ ज्ञान और उसमें ही आत्मरमण बना रहना, ऐसा जो तीनों परिणमनोंका एकत्व है, जिसको किसी एक शब्दसे भी नहीं कहा जा सकता है, ऐसे पवित्र रत्नत्रयस्वरूप ये योगीश्वर हैं, ये रत्नत्रयात्मक योगीश्वर इन विकल्पजालों को परमसमाधिके बलसे त्यागते हैं और इन ही रत्नत्रयात्मक सन्यासी जनोंके यह सामायिक नामका व्रत शाश्वत रहा करता है, यह केवली भगवानके शासनमें प्रसिद्ध किया गया है।

विवेकमयी चिन्तना—ज्ञानी संत बाह्य वृत्तियोंसे हटकर अवृत्तिमें प्रवेश करनेके लिए साहसपूर्ण चिन्तन कर रहा है। मैं इन समस्त सुख-दुःखोंकी वृत्तिको त्यागता हूं। यह कषायभाव दुःख स्वरूप है, इन कषायोंसे दुःख होता है, इतना भी विलम्ब मत डालो, किन्तु यह कषाय स्वयं दुःखरूप है, ऐसा निर्णय रक्खो। कषाय करके कोई जीव क्या सुखी हो सका है? लोग द्वेषमें आकर कलह बढ़ाते हैं, पर कलह बढाकर कभी विद्रोह शान्त हो सका है क्या? कलहमें तो कलह बढता ही चला जाता है। उन सब कलहोंके मूलकी बात अत्यन्त छोटी होती है, किन्तु मूलमें तो भयभरी छोटीसी बात है और उसका विस्तार इतना फैल जाता है कि उसका मिटाना कठिन हो जाता है। घरमें भी कोई झगड़ा बढ जाता है तो बढता ही चला जाता है, किन्तु इतना बढ़ा हुआ उत्पन्न नहीं होता है। झगड़ा जिस किसी भी समय शुरू होता होगा वह अत्यन्त तुच्छ बात रहती है। बादमें फिर वह झगड़ा बढ़ता जाता है। झगड़ा बढ़ते-बढते इतनी सीमा तक बढ़ जाता है कि जिसका निपटारा करना कठिन हो जाता है। कोई अपने मन पर विजय प्राप्त कर ले तो उसके कलह नहीं बढ सकती है।

विडम्बनाविस्तार—यहां भी संसारमें देखो, कितनी विडम्बनाएँ बढ़ी हुई हैं, किसीका मनुष्य जैसा शरीर है, किसीका पशु-पक्षी जैसा शरीर है, जलचर जीवोंका अन्य प्रकारका शरीर है, पृथ्वी, कीड़ा, मकोड़ा, पेड़, सभी जीव कैसे-कैसे विचित्र विभिन्न शरीर वाले हैं, यह तो है शरीरोंकी कथा। उन जीवों के भीतरके परिणाम भी कितने विचित्र विचित्र हैं? ये सब विचित्र विडम्बनाएँ कैसे हुई हैं? इसका जब कुछ साधन सोचते हैं तो अंतमें सोचते-सोचते बहुत छोटी बात मिलती है। वह क्या? इस जीवने अनात्मतत्त्वको आत्मारूपसे मान लिया। बस कसूर इतना ही मिलता है, पर इस अपराधका विस्तार कलह, विडम्बना, विपदा इतनी बढ गई कि आज इस विडम्बनाको मिटाना कठिन हो रहा है। यह जीव शरीर और कर्मसे छूटकर अपनेमें विश्राम पा ले, ऐसा उद्यम करना बड़ा कठिन मालूम हो रहा है।

मोहमें कुमतिप्रसार—अहो! जिस मोहके कारण यह जीव दुःखी है वही मोह इसे आसान जँच रहा है। यह मोही रागद्वेषको तो आसानीसे कर लेता है जो कि विभाव हैं, विकार हैं, पराधीन हैं और अपना धर्मपालन और स्वभावकी दृष्टि जो कि सुगम है, स्वाधीन है उसे करना कठिन प्रतीत हो रहा है। ये समस्त नोकषायोंके विकार इस मोही अंधे जीवको सुगम मालूम हो रहे हैं। जो वस्तु अपनी नहीं है, जो परतत्त्व है उसके मोहमें कितने आराम पा रहे हैं? पुराणोंको देखो—जिन-जिन जीवोंने जिनसे मोह बढ़ाया

था उनके निमित्तसे उनको केवल क्लेश ही मिला है। कौरव पांडवोंका कितना विकट युद्ध था? वह एक राज्यके स्नेहसे ही तो हुआ था। किन्हीं भी महापुरुषोंने जो-जो भी विडम्बनाएँ सहीं उन सबका मूल कारण एक स्नेहभाव था। चाहे लोकनीतिका स्नेह किया हो, चाहे अन्यायका स्नेह किया हो, पर उस स्नेहका परिणाम नियमसे क्लेश ही है।

सुगम और दुर्गम कार्य—जो जीव अज्ञान और मोहसे अंध हो गए हैं उन जीवोंको ही ये मोह और भोगके साधन रुचिकर और सुलभ मालूम होते है, किन्तु जो ज्ञानी हैं, जो सहज ज्ञानप्रकाशसे समृद्धिशाली हैं, आनन्दमग्न हैं, उन पुरुषोंको तो केवल यही निज ज्ञानप्रकाशका दर्शन ही रुचिकर होता है। उन्हें विदित है कि यह धर्मपालन कितना सुलभ है, अपना ही तो यह उपयोग है और अपना ही स्वयं यह शाश्वत परमात्मतत्त्व है। यह उपयोग अपने आपको ग्रहण कर ले तो इसमें कौनसी अटक आती है? यह तो सुगम काम है। इस ज्ञानी पुरुषको अपना यह स्वानुभवरूप कार्य सुलभ लग रहा है और इन विषयप्रसंगों मे चित्त जाना यह उन्हें कठिन लग रहा है।

ज्ञानीका धैर्य और अविचलितपना—ज्ञानी पुरुषके अनेक प्रकारके भोग साधन भी उपस्थित हों तो भी वे नहीं सता सकते है। शास्त्रोंमें सुनते हैं, देखते हैं कि अमुक पुरुषके प्रति सुन्दर देवांगनावोंने भी मनको चिगानेका काम करना चाहा तो भी न चिगे। सुदर्शन सेठको कामविह्वला रानीने कितना डिगाना चाहा तो भी न डिगे। ऐसी अडिगताकी बात सुनकर मोही पुरुष आश्चर्य करने लगते हैं, क्योंकि उन्हें तो यह कामविजय बड़ा कठिन मालूम होता है। ऐसे-ऐसे भी बलवान पुरुष जो अपने बलसे बडे क्रूर हस्ती और सिंहोंको भी वश कर लें, हजारों सुभटोंको जो अपनी लीलामात्रसे ही परास्त कर दें, ऐसे सुभट भी इस कामबाणसे व्यथित हो जाते है और-और भी रागद्वेष मोहके विकारोंसे त्रस्त हो जाते हैं। ये विकारभाव अज्ञानी जनोंको त्यागने कठिन हो रहे है, किन्तु ज्ञानी संतजनोंको तो ये एक लीलामात्र ही मालूम होते हैं। वे तो इन विकारभावोंसे अपने उपयोगको हटाकर शीघ्र ही अपने आपकी परमप्रभुताका दर्शन पा लेते हैं।

आत्मनिधिके अधिकारी—जो जीव वस्तुस्वरूपके अध्ययनसे भेदविज्ञान प्राप्त करते हैं और भेदविज्ञानके अभ्याससे परपदार्थोंकी उपेक्षा करके निज तत्त्वमे रत होनेका यत्न करते हैं, ऐसे पुरुषोंके ही यह परमसामायिक स्थायी होती है। ऐसी जिसके सामायिक स्थायी हो चुकी है ऐसे भगवत पुरुषोंने यह प्रदर्शित किया है। यह परमशरण तत्त्व समाधिलीन जीवोंका जो आनन्दरससे समृद्धिशाली हो रहे हैं ऐसे पुरुषोंको सुलभ है। जो कषायों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं उन्हें आत्मनिधि सुगमतासे प्राप्त हो जाती है।

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ १३३ ॥

धर्मध्यान व शुक्लध्यानमे समाधिकी पात्रता—जो पुरुष धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है उसके सामायिक स्थायी होना है, ऐसा केवली भगवानके शासनमें कहा गया है। यह परमसमाधि अधिकारकी अंतिम गाथा है, इसके उपसहारमें यह बात बतायी जा रही है कि जो धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है उसके ही परमसमाधि होती है। लोग समाधिभावकी प्राप्तिके लिए अनेक प्राणायामादिक शारीरिक यत्न करते हैं। धारणा, नियम, आदिक भी बाह्य पद्धतिके होते हैं, पर समाधिका सम्बन्ध क्रियाकाण्डोंसे नहीं है। प्राणायाम आदि चित्तकी एकाग्रताकी पद्धतिमें सहायक हो सकता है, पर समाधिकी पात्रता धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें ही होती है।

आनन्दमय समाधिके अधिकारी—समाधिभावको वे ही योगीश्वर प्राप्त कर सकते हैं जिन्हें केवल शुद्धज्ञानस्वरूपके विकासकी ही भावना रहती है, जिनको एक ज्ञानतत्त्वके अतिरिक्त अन्य कुछ रुचिकर नहीं

होता है, ऐसे ज्ञानके लोलुपी और आनन्दरससे भरपूर पुरुष ही इस समाधिभावको प्राप्त करते हैं। समाधिमें कष्ट नहीं है, किन्तु परमसमाधिमें तो सहज आनन्दकी निरन्तर वर्षा चलती रहती है। जो पुरुष इन्द्रियके विषयोंको जीत लेते हैं वे योगीश्वर ही समाधिकी साधना कर पाते हैं। वहिर्मुख वृत्ति बननेमें ये इन्द्रियके विषय बड़ा सहयोग देते हैं। इन्द्रियका विषय जिन्हें सुहाता है उनकी दृष्टि बाह्य-पदार्थोंकी ओर रहती है। जिन्हें हित चाहिए उनका कर्तव्य है कि इन्द्रियविषयों पर विजय प्राप्त करें।

परत्यागमे स्वग्रहणकी पात्रता—कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि खाना-पानी त्यागनेमें और उसमें बड़ा नियम बनानेमें, अमुक ही खाना, अमुक न खाना इस बातसे क्या आत्माका सम्बध है? आत्माको तो ज्ञान चाहिए, ज्ञानसे ही मुक्ति है, लेकिन उन्हें यह ध्यान नहीं है कि इन विषयोंकी ओर जो अपने भीतर भाव बनाया है वह भाव ज्ञानकी ओर आने कब देगा? जो इन्द्रिय विषयोंका लोलुपी है वह आहारादिका परित्याग नहीं कर सकता है और जब आहारादिका परित्याग नहीं कर सकता है, निरन्तर उसका सस्कार रहता है तो समाधि उत्पन्न करनेकी पात्रता आयेगी कहाँसे? जो जीव मास, मदिरा आदिका भक्षण करने वाले हैं उन्हें इस समाधिका स्वप्न भी नहीं आ सकता है। जो जीव जिस परिस्थितिमें है उस परिस्थितिमें सामान्यतया जो सद्व्यवहार चल सकता है उस व्यवहारसे भी जो गिरा हुआ है उसको समताकी पात्रता नहीं है।

उन्नतिशील आचरणमे हितसाधना—पशु-पक्षी तिर्यञ्च जीवोंका साधारण मनुष्योंसे भी गया बीता आचरण है। उनका आचरण मनुष्योंसे गिरा हुआ भी रहे तो भी यदि वे उस व्यवहारसे ऊँचे उठकर कुछ भी संभल जायें तो उन्हें हितका मार्ग मिल जाता है। तिर्यञ्च जब सभलते हैं तो उनके जब जघन्य सयमासयम होता है वह मनुष्योंके जघन्य सयमासयमसे ऊँचे दर्जेका होता है, किन्तु मनुष्योंमे जो जिस कुलका है उस कुलके योग्य जो सामान्यतया व्यवहार है उस व्यवहारसे कुछ गिर जाय तो उसकी मोक्ष-मार्गकी पात्रता नहीं रहती है। कोई जैन कुलमें उत्पन्न हुआ पुरुष रात्रिभोजन, अभक्ष्य भक्षण करता हो, किसी अन्य नीचे पुरुषके आचरणसे तुलना करके अपनेको श्रेष्ठ कहकर अपनी पात्रता दिखाए तो यहा पात्रता नहीं हो सकती है। जो जिस व्यवहारमे आया हुआ है उस व्यवहारसे गिरा हुआ उसका आचरण है तो वह पतनोन्मुख है या उन्नतोन्मुख है? उन्नतिकी पात्रता नहीं है। यद्यपि जैन कुलमें उत्पन्न हुआ पुरुष करोड़ोंसे अच्छे आचरण वाला है, परन्तु वह आचरण कौलिक है, उससे ऊपर कुछ भी अधिक उठनेकी भावना न हो तो वह वहा आचरण गिरे हुएकी हालतमें है। इस कारण समस्त सज्ञी जीवोंको अपनी उन्नतिकी ओर उठते हुए रहना चाहिये। उन्नतिकी ओर उठते हुएमें ही पात्रता आती है।

धर्मका आधारभूत सदाशिवात्मक आत्मा—ये योगीश्वर जो इन्द्रिय विषयोंके विजयी हैं, ये ही इस सदाशिव आत्माका ध्यान कर पाते हैं, जिस सदाशिवके ध्यानमें समाधिभाव प्रकट होता है। जितने भी धर्मावलम्बी हैं उन सबके मूल प्रणेतावोंमें भी मूल ऋषियोंका दृष्टिकोण विशुद्ध रहा आया होगा, किन्तु जैसे-जैसे वह ज्ञानकी किरण कमती होती गयी, वहा कुछ अपना कल्पित परिज्ञान किया और उसके आनेका यह रूपक है कि धर्मके नाम पर आज पचासों भेद पड़ गए है और इस भेदवादके जमानेमें भेद-वादके मिटानेका यत्न करने वाला स्याद्वाद भी भेदवादकी गिनतीमे आ गया। धर्म नाम है शुद्ध ज्ञान-प्रकाशका। धर्म किसे करना है हमको या भगवानको? ज्ञानप्रकाश किसे करना है? ज्ञानप्रकाश हमको करना है, भगवान तो ज्ञानमय है। हम ज्ञानप्रकाश न करना चाहें और प्रभुसे भीख मागें तो धर्म तो नहीं हो सकता। ज्ञानप्रकाशका आधार है यह स्वय आत्मा। जब तक अपने आपके ज्ञानप्रकाशके आधारका श्रद्धान न बने तब तक धर्म आयेगा कहासे? जहासे धर्म प्रकट होगा उस धर्मीकी ही श्रद्धा न हो तो धर्म की उत्पत्ति कहासे होगी?

धर्मध्यान व शुक्लध्यानकी विशेषता—इस निज आत्मतत्त्वमें जो यत्न करके लगना है वह तो धर्मध्यान है और जहां यत्न नहीं करना है, उद्यम नहीं करना है, स्वतः ही ज्ञानप्रकाश बना रहे वह है शुक्लध्यान। धर्मध्यानमें रागांशका सहयोग होता है और शुक्लध्यानमें वीतरागका पुट है, किन्तु धर्मध्यान भी स्वात्माके आश्रयसे होता है और शुक्लध्यान भी स्वात्माके आश्रयसे होता है, ऐसे स्वात्माके आश्रयमें होने वाले निश्चय धर्मध्यानके द्वारा परमसमाधि प्रकट होती है।

सदाशिवका स्वरूप—सदाशिवका अर्थ कुछ लोग यह करते हैं कि कोई जगतका रचने वाला एक ईश्वर है और ईश्वर सदासे मुक्त है। वह कभी भी बन्धनमें नहीं था और उस सदाशिवकी भक्ति करके जो सदाशिवके प्रसादसे मुक्ति प्राप्त करते हैं उनकी मुक्तिकी सीमा है। वे कब तक मुक्त रहेंगे, इसकी सदाशिव ने सीमा लिख दी है और सीमाके बाद सदाशिव उन्हें ढकेल देते हैं और उन्हें फिर संसारमें रुलना पड़ता है, ऐसे सदाशिवकी बात नहीं कही जा रही है, किन्तु जो ज्ञायकस्वरूप सदा कालसे शिवमय है, कल्याणमय है, अपने स्वरूपमें स्वरसतः त्रिकालमुक्त है, ऐसे त्रिकालनिरावरण सदाशिवके ध्यानकी बात कही जा रही है।

समाधिमें धर्मध्यान व शुक्लध्यानका अनिवार्य सहयोग—ये जिन योगीश्वर निश्चय धर्मध्यानके द्वारा इस सदाशिवात्मक आत्मतत्त्वके ध्यानके जब अभ्यासी हो जाते हैं तब इनके निश्चयशुक्लध्यान प्रकट होता है। जहा समस्त प्रकारके विकल्पजाल नहीं रहे हैं, किन्तु केवलज्ञानका उदय न होनेसे जिनके चित्तका कार्य होता है तथा चित्तकी एकाग्रताकी वृत्ति होती है उनके यह शुक्लध्यान प्रकट होता है। शुक्लध्यान केवलज्ञानके प्रकट होने पर नहीं होता है, आगममें जो दो शुक्लध्यान केवलज्ञानियोंके बताए हैं वे उपचारसे कहे गए हैं, उनमें ध्यान शब्दका अर्थ घटित नहीं होता है। ध्यानका फल निर्जरा है, सो निर्जराके कारण ध्यानका उपचार है। एक ओर चित्तके लगा देनेका नाम ध्यान है। जहा तक संज्ञी अवस्था है वहाँ तक यह ध्यान चलता है। केवली भगवान संज्ञी नहीं हैं, न असंज्ञी हैं, किन्तु अनुभय कहलाते हैं। जहाँ मनका कोई कार्य ही नहीं रहा है वहाँ ध्यान कैसे कहा जाय? शुक्लध्यानमें भी परिवर्तन होता रहता है और यह परिवर्तन ज्ञप्तिपरिवर्तन है। यह धर्मध्यान अन्य ध्यानोंकी तरह रागमूलक परिवर्तन नहीं है। जब तक ज्ञानकी समाप्ति नहीं होती है, तब तक यह ज्ञान एक बात पर टिका रह सके, ऐसी बात पूर्व वासना के कारण नहीं होती है।

विशुद्ध ध्यान—उत्कृष्ट साधनासे शुक्लध्यान प्रकट होता है और वह शुक्लध्यान १२ वें गुणस्थानोंके कुछ समय तक तो पृथक्त्ववीचार शुक्लध्यान रहता है जिसमें वीचार है, परिवर्तन है, ८ वें, ९ वें, १० वें, ११ वें गुणस्थान तक तो पूर्ण समय तक पृथक्त्व वितर्क वीचार रहता है और १२ वे गुणस्थानमें कुछ समय तक यह परिवर्तन चलता है। बादमें जब परिवर्तन नहीं होता है तो एकत्व वितर्कअवीचार शुक्लध्यान होता है, इसके पश्चात् अनन्तर ही केवलज्ञान प्रकट होता है। इस एकत्व वितर्कवीचारको भी हम क्या कहें? परिवर्तन होता है या नहीं होता है, इसका भी क्या निर्णय करें? परिवर्तनके लिए अवसर भी तो नहीं मिलता, तुरन्त ही केवलज्ञान हो जाता और उस द्वितीय शुक्लध्यानमें जो ज्ञेय विषय बन रहे थे, अब सकल ज्ञेय विषय हो गए तो हम यह भी क्या मना करें कि द्वितीय शुक्लध्यानके विषयमें परिवर्तन होता नहीं होगा। इस शुक्लध्यानके कालमें परिवर्तन नहीं होता, यह निश्चित है। ऐसे शुक्लध्यानके द्वारा ये योगीश्वर सदाशिवात्मक निज आत्मतत्त्वको ध्याता है उसके यह परमसमाधिभाव प्रकट होता है।

आत्माका चिद्विलास—यह परमब्रह्म आत्मतत्त्व निरन्तर चिद्विलासस्वरूप है। इस चैतन्यस्वरूप आत्मामें इस चेतनका ही तो विलास होगा। वस्तुका सत्त्व स्वत सिद्ध है और जो वस्तु जिस स्वभावात्मक है उस वस्तुमें उस ही के अनुरूप विलास होगा। क्या कभी पुद्गल द्रव्य जाननहार बन सकते हैं? नहीं

बन सकते हैं, निरन्तर रूप, रस, आदिक रूप ही परिणम सकते हैं। इसी प्रकार क्या यह आत्मा कभी चिद्विलासको छोड़कर रूप, रस आदिक रूप परिणम सकता है ? कभी नहीं परिणम सकता है। विकार अवस्थामें भी इस चित्स्वभावके, चित्तत्त्वके अभिन्न आधारभूत जीवास्तिकायमें जो भी विकार उपाधिवश बन सकें, भले ही हो जाय, मगर चैतन्यस्वभावके विपरीत रूप आदिक परिणमन कभी नहीं हो सकते।

आत्माका अखंड स्वरूप—यह आत्मपदार्थ निरन्तर अखंड अद्वैत सहज चिद्विलासस्वरूप है, अखंड तो यों है कि यह एक वस्तु है, यह मेरा आत्मा एक परमपदार्थ है, उसमें जो भी परिणमन होगा, यद्यपि यह आत्मा प्रदेशकी अपेक्षा विस्तारको लिए हुए है। परतु परिणमन विस्तारको लिए हुए नहीं होता। जैसे आकाश प्रदेशकी अपेक्षा विस्तारको लिए हुए है, परन्तु आकाशका परिणमन विस्तारको लिए हुए नहीं होता और इसी कारण अलोकाकाशमें पडे हुए असीम आकाशको परिणमनेके लिए लोकाकाशमें पड़ा हुआ कालद्रव्य ही निमित्त हो जाता है। कालद्रव्य लोकके बाहर नहीं है, वहाँ यह समस्या नहीं आती है कि अब यह अलोकाकाशसे परिणमे। आकाशमें प्रदेश विस्तार है, किन्तु परिणमनका विस्तार नहीं है। जो भी एक परिणमन है वह उस एक पूर्ण पदार्थमें होता है। जैसे यह चौकी जल जाय तो एक खूँट जल रहा है, चौकी नहीं जल रही है और वह परिणमन धीरे-धीरे आता जा रहा है। यहाँ यह परिणमनका विस्तार नजर आता है तो यह चौकी एक नहीं है इसलिए यह विस्तार नजर आता है। यह अनन्त परमाणुवोंका स्कंध है। एक पदार्थमें परिणमन विशेष नहीं होता। इस प्रकारका तो यह मैं आत्मा अखण्ड हू।

आत्माकी अद्वैतता व क्रियाकाण्डपराङ्मुखता—यह मैं आत्मतत्त्व अद्वैत हू। मेरे स्वरूपमें किसी दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता है। अभेद्य हू इसलिए अद्वैत हू, ऐसा सहज शुद्ध चैतन्यके विलासरूप यह मैं अंतस्तत्त्व हू। यह आत्मा आत्मीय आनन्दके विलासमें डूबा हुआ है। समस्त बाह्यक्रियाकाण्डोंसे पराङ्मुख है। यह अपने स्वरूपमें अपना स्वभाव मुख मोडे हुए है। हाथ, पैर कहीं कैसे ही चलो, पर यह अतस्तत्त्व अपनेमें ही बर्त रहा है। समस्त बाह्य क्रियावोंसे यह पराङ्मुख है। मोही जीव कल्पनावश बाह्य क्रियावों के सन्मुख होता हैं, वहाँ पर भी यह आत्मतत्त्व उन क्रियावोंसे पराङ्मुख है। यह तो निरन्तर अपनी अंत क्रियावोंका अधिकरणरूप है। ऐसे इस आत्मतत्त्वको परम जिन योगीश्वर धर्मध्यान और शुक्लध्यान के द्वारा ध्याता है।

समता परमसम्पदा—ये दोनों ध्यान परमसमाधिरूप सम्पदाके कारण हैं। आत्माकी वास्तविक सम्पत्ति समता है। कोई पुरुष गृहस्थीमें या अन्य कार्योंमें बिगड़ रहा हो उस समयकी उसकी मुद्रा निरखो और विश्राम और समतासे बैठा हुआ हो उस समयकी उसकी मुद्रा देखो, समताकी मुद्रा सुभग होती है। लोग रूपोंमें यह खोज करते हैं कि यह सुन्दर रूप है और यह असुन्दर रूप है, कैसी भी सुन्दर महिला हो अथवा पुरुष हो, यदि वह कर्कश हो, वहाँ क्रोध भी निरन्तर बरपता हो, छल-कपटसे दुनियाको परेशानी में डाले हो तो वह रूपवान् नहीं जँचता है और कोई सावला हो अथवा काला हो, पर वह परोपकारी हो और सदा शान्त रहता हो, क्षमाशील हो तो उसकी मुद्राके निरखने पर उसमें सुरूपता झलकेगी, उसमें कान्ति प्रकट होगी। जिस स्वच्छताके प्रतापसे यह रूप बनता है उस स्वच्छताका तो इस जगतके मोहियों ने अनादर किया है और केवल उस बाह्यरूपमें ही आसक्ति है। इस कारण वे रूपका मधुर आनन्द नहीं ले पाते हैं। रूप परिणमनका जा मूल साधन है उसमें प्रीति हो तो रूपका आनन्द प्राप्त होगा। यह तो पौद्गलिक ठाठ है, परम सम्पदा तो समता है। इस परमसमाधिके कारण, समताके कारणभूत ये दोनों ध्यान हैं।

स्वात्माश्रित ध्यान—यह दोनों ध्यान स्वात्माके आश्रयसे उत्पन्न होता है और निर्विकल्प है।

धर्मध्यानमें तो रागादिकका स्थूल विकार नहीं है और शुक्लध्यानमें तो ये सूक्ष्म भी विकल्प नहीं हैं, ऐसे इन दोनों ध्यानोंके द्वारा जो सदा निरावरण आत्माको ध्याता है उसके ही नित्य शुद्ध सामायिक व्रत होता है। यह समतापरिणाम मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिसे रचा गया है। जितेन्द्र भगवानके शासनमें यह बात प्रसिद्ध की गयी है कि इस जीवको भरण समाधिभाव है और वह समाधिभाव इस सदाशिवात्मक परमसमाधिके ध्यानसे प्रकट होता है। वे योगीश्वर धन्य हैं जिनकी बुद्धि धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप परिणमी हुई है, जो निर्दोष सहज आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्वका आलम्बन लिए हुए हैं, ऐसे ध्यान वाले शुद्ध रत्नत्रयात्मक योगीश्वर ऐसे विशाल आनन्द पदको प्राप्त करते हैं जहाँ समस्त दुःख समूह नष्ट हो गए हैं।

परमसमाधिका उपसहार—इस अतस्तत्त्वको वचनोंसे नहीं कहा जा सकता है। सर्वविकल्पोंको छोड़ कर सहज ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्वमें उपयोग लगायें तो मेरा यह अनुभव सहज प्रकट हो सकेगा। विकल्प करके इस परमसमाधिके दर्शन नहीं हो सकते हैं। इस परमब्रह्मकी दृष्टि उस ही पुरुषके उत्कृष्ट हो सकती है जिसको अपने इस शरीर तककी भी चिन्ता नहीं है, समस्त परिग्रहोंसे जो विरक्त है, समस्त परिग्रहोंका जो त्याग कर दे, किसी भी परिग्रहकी ओर दृष्टि न दे, आत्महितकी निष्ठासे अपने अंतस्तत्त्वकी रुचि बढाये, ऐसे उपासकोंको भी इस परमसमाधिके चमत्कारका क्षणभरको दर्शन हो जाता है। परमसमाधिके पात्र सम्यग्दृष्टि पुरुषको, परमसंयमी पुरुषको भावपूर्वक नमस्कार हो। यह परमसमाधिका उपसंहार है। उप का अर्थ है समीपमें, सं का अर्थ भले प्रकार, हार का अर्थ है आत्मायत्त कर लेना। यहाँ समतापरिणामको, परमसमाधिको अपने आपमें खपा लिया गया है। यों परमसमाधि अधिकारके उपसंहारमें परमसमाधिका उपसंहार किया गया है।

❀ परमसमाधि अधिकार समाप्त ❀

परमभक्ति अधिकार

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्ति कुणदि सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदित्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥ १३४ ॥

समता और भक्तिकी निकटता—समाधिके बाद अब यह भक्तिका अधिकार आ रहा है। समाधिका अर्थ है समता और भक्तिका अर्थ है भजना, सेवन करना या यों कहो कि यह योगी समताका तो कर्ता है और भक्तिका भोक्ता है। इस भक्ति अधिकारमें इस भक्तिको निर्वाणभक्तिके रूपमें प्रदर्शित किया जा रहा है। भक्तियोंमें उत्तम भक्ति निर्वाणभक्ति है। किसकी सेवा करना है, किसमें लगना है, जिसमें अपना शरण है, यह हो तो वहाँ ही उत्तम भक्ति है। निर्वाणका अर्थ कुछ लोग बुझ जाना भी कहते हैं। जैसे दीपक बुझ गया, दीपकका निर्वाण हो गया। इस निर्वाणमें समस्त संकट बुझ जाते हैं इसलिए इसे निर्वाण कहते हैं। जो पुरुष श्रावक हो अथवा साधु हो, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और आचरणमें भक्तिको करता है उसके निर्वृत्तिभक्ति होती है, ऐसा जिनदेवोंने कहा है।

आत्महितका कार्य—भैया! काम एक है—पदार्थ अपने स्वरूपमें रहे, यह आत्मा अपने स्वरूपमें रहे, यही मोक्ष है, यही मोक्षमार्ग है। खुद खुदमें रहे यह इतना कठिन काम हो गया है कि इसके लिए बड़ी साधनाएँ, बड़ा तत्त्वज्ञान, बड़े शास्त्राभ्यास आदि अनेक उपाय रचे जा रहे हैं। काम कितना करना था जिसके लिये इतने उपाय रचे गए? खुद-खुदमें रह जाय, इतना करना था, पर हो क्या रहा है? यह

उपयोग इस ही का है, पर यह उपयोग अपनी ओर रंच भी नहीं झुक रहा है और एकदम परकी ओ दौड़ा जा रहा है। वस्तुस्वरूप अब भी करुणा कर रहा है। उपयोग चाहे कितनी ही दूर पहुंच जाय, फि भी उपयोग आत्मप्रदेशमें ही बन रहा है। यह कहीं अपने आधारभूत आत्माको त्यागकर बाहर नह जाता। यह जीव किसी भी बाह्य पदार्थमें ममत्व कर रहा हो, तिस पर भी इसकी कुछ भी अपनी अन्तरं पर्याय आत्मप्रदेशको छोड़कर बाहर नहीं जाती है। वस्तुस्वरूप मिटता नहीं है, न वह कभी धोखा सकता है, यह जीव कल्पनासे स्वयं धोखा खाता रहता है, परपदार्थोंसे धोखा कुछ भी नहीं है। चतुर्गति रूप संसारमें जो जीवका भ्रमण चल रहा है इस भ्रमणका कारण अपने आपकी सुध न रहना और अपने उपयोगको बाहरमें फैलाना है।

आत्माका ऐश्वर्य—यह जीव ऐश्वर्यशाली है, आत्माकी ओर यह बढ़े तो बढ़नेका चमत्कार दिखात है और बाह्यकी ओर बढ़े तो यह अपने बिगड़नेका चमत्कार दिखाता है। विकृति और बिगाड़, इन दोन का एक ही अर्थ है। बिगाड़में भी वस्तुस्वरूप नहीं मिटता जैसे कि विकारमें नहीं मिटता है। विकृति *संस्कृत शब्द है, इसका प्राकृत शब्द है—विर्याड, विगडि और उसीका बिगड़कर हिन्दीमें बिगाड़ शब्द रह* गया। यह आत्मा बिगाड़की ओर लगा तो ऐसा बिगड़ता है कि पेड़ोंमें फल-फूल पत्तियोंमें फैल जाता है और उसका सन्निधान पाकर नोकर्म वर्गणाएँ फूल, पत्ते, मकरंद, केसर कितने ही प्रकारके परिणमन बन जाएँ यह क्या इस ईश्वरकी कला नहीं है? यह ही परमेश्वर अपना ऐसा चमत्कार दिखाता है कि यह अपनी ओर मुड़ जाय, स्वरूपमें प्रवेश करे तो यह लोकालोकका ज्ञाता विशुद्ध आनन्दका भोक्ता परम आदर्श बन जाता है। जिसमें कला होती है वह कलावान् अपना कलाका विस्तार किए बिना नहीं रह सकता है। यह आत्मा भी परमकलासम्पन्न है और इसी कारण यदि अपनी कलाका विस्तार बिगड़ रहा हो तो वहाँ भी बनाता है और सुधर गया हो तो वहा भी बनाता है।

आशयके अनुरूप प्रवृत्तिकी दिशा—प्रवृत्तियोंकी गाड़ी आशयसे चलती है। जैसे नावके खेने वाले तो केवल नाव खेते हैं, बढ़ते हैं आगे, परन्तु किस ओर नाव बढ़े, यह कर्णधारके आधीन है। जो पीछे कारिया लगा रहता है उसके आधीन है कि नाव किस ओर बढ़े और खेने वाले तो खेते जाते हैं, ऐसे ही आचरण तो खेने वालेकी तरह है। आत्मामें परिणति प्रतिक्षण चलती जाती है, पर किस ओर परिणति चले इसका कर्णधार है श्रद्धागुण। जिस प्रकारका आशय हो उस ओर ही इसकी परिणति बढ़ेगी। जब जीव के मिथ्या आशय रहता है तो उस आशयसे इस जीवका चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण होता है। मिथ्याभाव का उलटा है सम्यक्त्व। जब सम्यक्त्वभाव उत्पन्न होता है तो इसकी वह दशा भी बदल जाती है। अब यह आत्मा निज परमात्मतत्त्वका श्रद्धान और इस परमप्रकाशका ज्ञान और इस परमप्रकाशके अनुरूप प्रकाशमय आचरण करने लगता है। इस ही का नाम है शुद्ध रत्नत्रय परिणाम।

वस्तुका एकत्व—प्रत्येक वस्तु एक होती है, उसका स्वभाव एक होता है और उसका प्रति समयका परिणमन भी एक ही होता है। लोग कहते हैं कि आगका काम जलाना है, अग्निका काम प्रकाश करना है, अग्निका काम ठंड वालेको भला लगना है, अग्निका काम सतापसे पीड़ित पुरुषको पीड़ा देना है, इतने ही काम लोग बता डालते हैं, पर अग्निके इतने काम हैं ही नहीं। अग्निका काम अग्निमें केवल एक है, जिसको बतानेका कोई शब्द नहीं है। उस अग्निका निमित्त पाकर परवस्तुवोंमें क्या-क्या परिणमन होता है उनका नाम लेकर लोग कहा करते हैं कि अग्निका काम जलाना है, अग्निका काम प्रकाश करना है, यह सब नैमित्तिक बातोंकी अपेक्षासे प्रतिपादन है। अग्निका सन्निधान पाकर योग्य निकटमें आगत पदार्थ अपने परिणमनसे प्रकाश पर्यायरूप हो जाता है, अग्नि दूसरेको प्रकाशित नहीं करती है। अग्निका निमित्त पाकर ठंड वाले पुरुष अपनी ठंड पर्यायको त्यागकर गरमाहट अनुभव करते हैं। अग्नि

पुरुषको गर्म नहीं कर देती है, किन्तु वह एक ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि जिसमें व्यवहारमें यों ही कहना पड़ता है कि इसने ही यह सब कुछ किया।

आत्मकार्य—यह आत्मा वस्तुतः क्या करता है ? जिसको करता है वह एक चिद्विलास है, आत्मा का एक स्वभाव है, क्या स्वभाव है ? वह केवल अनुभवगम्य है। जिस कालमें उस चिद्विलासका अनुभव हो रहा है उस कालमें भी भेदरूप जानकारी नहीं चल रही है, वहाँ स्वभावके अनुभवरूप तो सुख है, पर स्वभावकी विकल्पात्मक जाननरूप सुध नहीं है। यह आत्मश्रद्धान करता है, पदार्थोंको जानता है आदिक भावरूप प्रतिपादन किया जा रहा है, पर आत्मा स्वयमें अपने आपका क्या कर रहा है ? वह तो आकाश आदिककी तरह अपने आपमें शुद्ध अर्थपरिणमन कर रहा है। अन्तर इतना है कि वह अचेतन है और यह आत्मा चेतन है। वह अचेतनात्मक विलास करता है और यह चिद्विलासात्मक विलास करता है, पर स्वयमें तो यह अपने अर्थपरिणमनरूप ही परिणम रहा है। उस एकत्व परिणमनमें जो परिणत है उसे कहते हैं शुद्ध रत्नत्रयात्मक आत्मा। इस शुद्ध रत्नत्रयात्मक आत्माका सेवन होना, भक्ति होना, आराधना होना, यही परमभक्ति है। इस परमभक्तिमें क्षमागुण स्वतः प्रकट हो गया है, इस परमभक्तिमें मान नष्ट हो चुका है और पूर्ण मृदुलता आ गयी है, इस स्वभावभक्तिमें छल कपटका अवकाश नहीं है, इस स्वभाव की आराधनामें तृष्णाका कहीं नाम ही नहीं है।

लुटे-पिटेकी तृष्णा—जब किसी बड़ी निधि वालेकी बड़ी निधि हर जाती है तो उसको छोटी चीजमें बड़ी विकट तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। कोई बड़ा पुरुष पापोदयसे अपनी निधिको गँवा दे तो वह निधि को बड़े बेढंगे ढंगसे गँवा देता है। सोना, चांदी, हीरा, जवाहरातको वह दूसरेके यहाँ गिरवी नहीं रखता है, दूसरोंके हाथसे दूसरोंके यहाँ गिरवी रखाता है। जब निर्धन हो जाता है और घरके खपरा बिकने लगते हैं तो वह उन खपरोंको गिन-गिन कर देता है। अरे ! पहिले जब निधि लुट रही थी तब रंच भी परवाह न करता था, आज जब बड़ी निधि लुट गयी तो छोटी चीजोंकी तृष्णा हो जाती है। ऐसे ही यहां अनन्त आनन्दकी निधि लुट गयी है तो छोटे-छोटे विषयोंके आनन्दकी तृष्णा हो जाती है। अपने स्वभावकी भक्तिसे सर्वविषयकषाय शान्त हो जाते हैं और गुमी हुई आनन्दकी अनन्त निधि प्राप्त हो जाती है।

श्रावकपद—इस स्वभावभक्तिको, शुद्ध रत्नत्रयके सेवनको साधु और श्रावकजन दोनों करते हैं। अब जितना जहा शुद्ध चारित्र प्रकट हुआ है, आत्मरमणका बल प्रकट हुआ है वह उतने रूपमें इस शुद्ध रत्नत्रयको सेवा करता है। श्रावक ११ पदोंमें मिलते हैं, जिनके नाम हैं—दार्शनिक, व्रती, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्त त्यागी, रात्रिभुक्तित्यागी व ब्रह्मचारी, निरारम्भी, परिग्रहत्यागी, अनुमतिविरत व उद्दिष्टाहारत्यागी—इन ग्यारह पदोंमें आत्मरमण उत्तरोत्तर विशेष जाहिर होता है। यह पद सहज ज्ञान और वैराग्यके कारण हुआ है। यह पद ज्ञानी पुरुषके सहज होता है। जैसे सामायिक नामका व्रत है। जो ज्ञानहीन पुरुष हैं, वैराग्यहीन हैं उन्हें सामायिक जानकर हठपूर्वक करना पड़ता है और ऐसी हठपूर्वक क्रियामें उनके भाव संक्लिष्ट रहते हैं, जबकि ज्ञानी पुरुष सामायिकके कर्तव्यको छोड़कर अन्य किसी कर्तव्यको आफत मानते हैं और सामायिकका काल आये, सामायिककी विधि करने लगे तो उसे परम विश्राम मिलता है और अज्ञानीकी अन्तर्ध्वनि यह निकलती है कि अब सामायिक करनेका समय आ गया है। नियम लिया है इसलिए हमें करनी पड़ेगी, वह आपत्ति मानता है। सब आचरणोंका मूलतत्त्व ज्ञान और तत्त्वश्रद्धान है।

श्रावकपदोमे विभाजन—श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंमें ऐसा विभाजन है कि प्रथम ६ प्रतिमाएँ तो जघन्य श्रावककी मानी जाती हैं, बादकी ३ प्रतिमाएँ मध्यम श्रावककी मानी जाती हैं और उसके बादकी दो प्रतिमाएँ उत्तम श्रावककी समझी जाती हैं। जब तक पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्यकी साधना नहीं होती है तब

तक श्रावकको जघन्य प्रतिमावान् कहा गया है, यद्यपि वह सचित्तका त्याग किए है, रात्रिभोजनका अनुमोदन भी नहीं करता, सामायिक और व्रत भी करता है। अब और शुभ प्रवृत्ति करनेमें कौनसी कसर है। इसके बाद यह निवृत्ति-निवृत्ति आयेगी, किन्तु प्राय काम तो ६ प्रतिमा तक है। बादमें तो निवृत्ति है, लेकिन जब तक ब्रह्मचर्यकी परिपूर्ण साधना नहीं होती तब तक ये सब जघन्य श्रावककी प्रतिमा कहलाती हैं। इसके बाद जब तक अनुमोदनका सस्कार है अर्थात् घर वालोंसे किसी प्रकारका सम्बध है तब तक मध्यम श्रावक कहलाता है, यद्यपि वह ब्रह्मचारी है, निरारम्भी है, वस्त्र और बर्तनके सिवाय कोई परिग्रह नहीं रख रहा है। ६ वीं प्रतिमामें तो किसीने बुलाया तो खा लिया, न बुलाया तो न खाया और भी कितनी ही स्थितियाँ हैं तब भी जब तक गृहकार्यकी अनुमोदना कर रहा है तब तक वह उत्तम नहीं कहलाता। अनुमोदन तकका भी त्याग हो और केवल आत्मसाधनाका समर्थन हो यह उत्तम श्रावकके होता है।

सकटहारी निर्वाणभक्ति—ये सभी श्रावक शुद्ध रत्नत्रयकी भक्ति करते हैं और परमतपस्वी जन जो संसारके सकटोंसे अलग होना चाहते हैं, परमनिष्कर्म अवस्थामें जिनकी वृत्ति है, ऐसे परमतपस्वी जन इस शुद्ध रत्नत्रयकी भक्ति करते हैं। यही भक्ति उनकी निर्वाणभक्ति है, मोक्षस्वरूप लक्ष्मीकी भक्ति है। परमभक्तिमें यह बताया है कि भक्ति करो उत्कृष्ट रूपसे तो वह भक्ति निर्वाणकी हो सकती है, उससे पहिले जितनी भी भक्ति हैं वे सब भक्ति निर्वाणकी प्रयोजिका हैं, परमभक्ति तो निर्वाणकी भक्ति है। जो जीव इस सम्यक्त्वकी, ज्ञानकी और चारित्रकी निरन्तर भक्ति करते हैं वे ससारके सकटों से निवृत्त हो जाते हैं। भवभयहारी यह भक्ति, किसी बडेकी भक्ति भयसे निवृत्त होनेके लिए ही की जाती है। समस्त भय दूर हो जाएँ, ऐसा बड़ा कौन है जिसकी भक्तिसे ये सब सकट टलें? वह है निर्वाण अथवा सदाशिवमय आत्मतत्त्व। इस विमुक्त एकत्वस्वरूपकी भक्तिमें सर्व प्रकारके भय दूर हो जाते हैं। जो इस शुद्ध रत्नत्रयको निरन्तर भक्ति करते हैं वे श्रावक हों अथवा सयमी हों, वे काम, क्रोध, मान, माया, लोभ सब बैरियोंसे मुक्त हो जाते हैं।

सुरक्षित स्वधाममे विश्रामका अनुरोध—इस जीवने विकल्प किया कि कषाय बैरियोंने आक्रमण किया, विकल्प न किये जायें तो ये बैरी कहासे आक्रमण करें? किसी खरगोशके पीछे शिकारी कुत्ते छोडे जाते हैं तो खरगोश छलांग मारकर, भागकर किसी झाड़ीमें जा छिपता है, पर वह यह कल्पना बनाता है कि कहीं कुत्ते आ तो नहीं रहे हैं सो उन्हें देखनेके लिए वह झाड़ीसे बाहर निकलता है, अपने गुप्तस्थानको छोड़ देता है और शिकारी कुत्ते उसे देखकर उसका फिर पीछा करते हैं। अरे खरगोश! तू धैर्य रख, शंका करना छोड़ देता तो फिर तुझ पर कोई आफत न आती। तू तो स्वरक्षित हो गया था, पर वह गुप्त स्थान पर गुप्त नहीं रहता है। ऐसे ही यह आत्मा जब अपने गुप्त स्थानमें पुहुच जाता है और इन वैरियोंके आक्रमणसे बच जाता है तो इसकी स्वरक्षा हो रही है, किन्तु यह आत्मा अपनी स्वरक्षाका विश्वास न करके बाहरमें झुकने लगता है। जैसे ही बाहरकी ओर झुका कि ये काम क्रोधादिक वैरी इस पर आक्रमण कर देते हैं। अरे तू एक बार तो अपने स्वरक्षास्थानमें आ। सर्व प्रयत्न करके स्वरक्षागृहमें ही बसा रहे तो इसके समस्त सकट दूर हो जायगे। बस इस स्वरक्षित आत्मधामकी सेवा ही परमभक्ति कहलाती है।

परमभक्ति व निर्वाणभक्तिका सम्बध—इस परमभक्ति अधिकारमे किसकी भक्ति की है? परमकी भक्ति की है। परमका अर्थ है—पर मायने उत्कृष्ट, मा मायने लक्ष्मी, जहा उत्कृष्ट लक्ष्मी पायी जाय उसका नाम परम है। लोकके समस्त पदार्थोंमें उत्कृष्ट स्वरूपवान् है आत्मा और इस आत्मामें भी उत्कृष्ट स्वरूप है सहज परमपारिणामिक भाव। उस ही का नाम परम है। उस परमकी भक्ति करनेसे

निर्वाणभक्ति होती है, निर्वाण प्राप्त होता है। परमभक्ति तो कारण है और निर्वाणभक्ति कार्य है। परम की भक्ति करना, इसका अर्थ है परमभावका आश्रय करना। अमुक पुरुषने अमुककी भक्ति की, इसका अर्थ है अमुकका आश्रय लिया। निर्वाणकी भक्ति करना, निर्वाणके आनन्दका सेवन करना। अमुक पुरुष ने भोजनकी भक्ति की, इसका अर्थ है भोजनका सेवन किया। परमभक्तिमें तो परमका आश्रय है और निर्वाणभक्तिमे निर्वाणके आनन्दका सेवन है। यों परमभक्तिके प्रसादसे निर्वाणभक्ति प्राप्त होती है, उस ही का वर्णन इस अधिकारमें चल रहा है।

मोक्खगयपुरिसाण गुणभेदं जाणिऊण तेसिंपि।
जो कुणदि परमभत्ति ववहारणयेण परिकहियं।। १३५ ।।

व्यवहारनिर्वाणभक्ति—जो पुरुष मोक्षमें पहुच गये है उनके गुणभेदको जानकर उनकी परमभक्ति करना, सो व्यवहारसे निर्वाणभक्ति कही गयी है। इस भक्ति अधिकारमें भक्तिके तीन स्थान जानना, परमभक्ति, निश्चयनिर्वाणभक्ति और व्यवहारनिर्वाणभक्ति। व्यवहारनिर्वाणभक्ति तो मुक्त हुए जीवोंके परमात्माके गुणोंका स्तवन ध्यान उनके विकासका अनुस्मरण होना, सो व्यवहारनिर्वाणभक्ति है और निर्वाणके स्वरूपकी, निर्वाणके मार्गकी भक्ति, उपासना, आराधना होना सो निश्चयनिर्वाणभक्ति है और जिस परमपारिणामिकभावके आश्रयसे, जिस सहजस्वरूपके आलम्बनसे निश्चयनिर्वाणभक्ति आती है, उस शाश्वत चित्स्वभावकी दृष्टि अवलम्बन आश्रय अभेद अराधन होना, सो परमभक्ति है।

निर्वाणभक्तिका फल निर्वाणप्राप्ति—इस गाथामें व्यवहारनयनिर्वाणभक्तिका, सिद्धभक्तिका स्वरूप कहा गया है। सिद्ध उन्हें कहते हैं जिन्होंने अपने आत्माको सिद्ध किया है। सिद्धका अर्थ टिकनेका है। जैसे ये चावल सिद्ध हो गए मायने पक गए। इसीको सीझना कहा गया है। जैसे लोग कहते हैं कि यह सीझ गया, ये चावल अग्निसे सीझ गए अर्थात् अग्निका सयोग पाकर उस विधिविधानमें अपनी कच्चाईकी अवस्थाको छोड़कर चावल पक्व अवस्थामें आ गए हैं, इसको ही लोग भात कहते हैं। अब जो भाने लगा उसका नाम भात है। इस प्रकार यह जीव तप, व्रत, सयम, समाधिके योगसे जब कोई कच्चाई का त्याग करे, सिद्ध परिपूर्ण विकासरूप पक्व अवस्थाको प्राप्त हो जाय तब उन्हें सिद्ध कहते हैं। अब ये सिद्ध बड़े-बड़े योगीश्वरोंको भाने लगे हैं। सिद्धसे पहिले अथवा संसार अवस्थामें तब तब यह जीव रुलता था जब तक यह जीव चैतन्यप्रतपनसे सीझ न पाया, भव्यत्वगुणका परिपाक न हो पाया था और तब तक यह भात न था, उपासनाके योग्य न था। अब सिद्ध होने पर ये भव्यजन उपासनाके योग्य हो गए हैं।

धर्मदृष्टि व धर्मरुचि—जिसकी धर्मकी ओर दृष्टि होती है उसको अपने कुटुम्ब और सम्पदासे बढ़ कर धर्म और धर्मका स्थान रुचता है। जिसको धम और धर्मके स्थानमें घर वालोंसे भी अधिक प्रीति नहीं है, उसे अन्तरमें कैसे धर्मका रुचिया कहा जाय? जिस पर रुचि हो उसका ही यह श्रद्धान है। मोक्ष को प्राप्त हुए ये पुरुष जिनका कि स्वरूप, अनुभव, विकासपूर्ण एक समान है, उन आत्मावोंको गुणभेद करके जानना, उनमें अनन्तचतुष्टय प्रकट हैं, अष्टकर्मोंका उनके विकास है। ये पहिले बलभद्र थे, चक्री थे, तीर्थंकर थे, योग्य चर्चा करना, उनके गुणोंकी दृष्टि देना, उनका स्तवन करना, उनके वर्तमान विकास को स्तवनमें लेकर आनन्दमग्न होना, यह सब व्यवहारभक्ति है।

सिद्ध भगवतोंका पूर्व कार्य—ये पुराण पुरुष सिद्ध हुए हैं। उन्होंने सिद्ध होनेके लिए क्या काम किया था? सिद्ध होनेके उपाय मर्मको न जानने वाले पुरुष तो एक बाहरी वृत्तिको निरखकर कहेंगे कि इन्होंने घर छोड़ा था, तपस्या की थी, जगलमें रहे थे, निर्ग्रन्थ साधु बन गए थे, यों आहार करते थे, यों-यों किया था, मोक्ष जाने वाले पुरुषोंने, किन्तु ज्ञानी पुरुष यह निरख रहा है कि उन्होंने एक ही काम किया

था, दूसरा तो कुछ किया ही न था, वह काम था उनका कारणपरमात्माको अभेदवृत्तिसे अपने उपयोगमें लेकर परिणमते रहना। वे जिस किसी भी अवस्थामें थे, घरमें बस रहे थे तो भी सम्यक्त्वमें यही काम किया जा रहा था कभी श्रावक बना हो कोई तो वहाँ भी यही काम किया जा रहा था, साधु बनकर भी वही किया जा रहा था। इसके अतिरिक्त जो और कुछ काम करनेको पडे थे व्यवहारधर्मके, वे बडे दोषो से निवृत्त होनेके लिये छोटे दोषरूप होकर भी लक्ष्यसिद्धिकी पात्रताके लिये करने पड़ रहे हैं ऐसा निर्णय पूर्वक किया गया था। उन्होंने उन मन, वचन, कायकी क्रियाओंको ये ही मेरा मोक्षमार्ग हैं, इनके ही आलम्बनसे मुझे सिद्धि होगी, ऐसा परिणाम न किया था। यह कारणपरमात्मतत्त्वका अभेद सेवन समस्त कर्मोंके क्षयका एकमात्र उपाय है।

व्यवहारालम्बनके प्रयोजनका एक दृष्टान्त—ये मुक्तिगत पुरुष इस कारणपरमात्मतत्त्वकी आराधना करके सिद्ध हुए थे, उनके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति इत्यादि गुणभेदोंको जान कर जो पुरुष इस परमभक्तिको करते हैं, जो निर्वाणका परम कारण है उस पुरुषके व्यवहारनयसे निर्वाणभक्ति होती है। जैसे कोई दूसरी मंजिल पर जानेकी इच्छा करने वाला सब सीढ़ियोंका आलम्बन करता है, पर उसके लक्ष्यमें सीढ़ियोंका आलम्बन करना नहीं है। सीढ़ियोंका आलम्बन करने का ध्येय उस मंजिल पर पहुचनेका है और इसी कारण सीढ़ियोंका आलम्बन करके छोड़नेकी पद्धतिमें हो रहा है। कोई मोही पुरुष किसी बढिया संगमरमरकी चित्रविचित्र सीढ़ीको निरखकर उस पर ही खड़ा रहे, ऐसा लोकमें शायद न देखा होगा। कोई ऐसा करे तो लोग यह कह बैठेंगे कि इसका दिमाग बिगड़ गया है। ज्ञानी पुरुषकी किसी भी व्रत, तप आदि व्यवहारसंयमके साधनाकी पवित्रता और शोभा लोक-आदर इत्यादि शृंगार देखकर कोई पुरुष उस बाह्य व्रत, तप को ही पकड़कर रह जाय, अपनी दृष्टिमें क्रियाकाण्ड ही अटकाकर रह जाय तो ऐसे पुरुषको ज्ञानी संतोंने विवेकी नहीं कहा है।

ज्ञानीके व्यवहारावलम्बनका प्रयोजन—ज्ञानी पुरुषके समस्त बाह्य साधनोंका आलम्बन उस शुद्ध विकासके लिए होता है अथवा उस शुद्ध विकासका भी प्रयोजन न सोचकर चूँकि भूतार्थ तत्त्व है, यथार्थ बात है इसलिए वे भूतार्थ परमार्थ स्वभावको जानते हैं, उसका आश्रय लेते हैं। एक वे पुरुष होते हैं जो व्यवहारधर्मकी प्रभावनाके लिए व्यवहारधर्म करते हैं, एक वे पुरुष होते हैं कि निश्चयधर्मके पालनेके लिए व्यवहारधर्मका सेवन करते हैं और एक वे पुरुष होते हैं जिनके चित्तमें निश्चयधर्मके पालनका भी विकल्प नहीं है, किन्तु जो सहजस्वरूप है वह जाननसे कैसे छूटे क्योंकि उस ज्ञानका आवरण रहा नहीं, इस कारण वे परमतत्त्वको जानते रहते हैं।

व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म और परमधर्म—परमधर्म पाला नहीं जाता, परमधर्मके पालनेको निश्चयधर्म कहते हैं। वस्तुका जो स्वभाव है उसे धर्म कहते हैं। स्वभाव तो स्वभाव है, शाश्वत है, वह पालनेरूप नहीं है। शाश्वत स्वभावका जो अवलम्बन लेना है, पालना है उसे निश्चयधर्म कहते हैं और निश्चयधर्मके पालनेके लिए जो मन, वचन, कायके शुभ परिणमन करने होते हैं उन्हें व्यवहारधर्म कहते हैं। जिनके परिणामोंमें ये व्यवहारधर्म रूप शुभ परिणाम भी नहीं हैं, किन्तु चित्तमें यशकी वाञ्छा, कुटुम्ब-परिवार के सुख चाहनेकी इच्छायें जिनके विकल्प हैं उनको लेकर जो धर्मके नाम पर क्रियाकाण्ड हो रहे हैं उन्हें व्यवहारधर्म भी नहीं कहते हैं। लोग इस मर्मको दृष्टिमें न लेकर चूँकि व्यवहारधर्म वाले भी जो करते हैं वही काम यह मोही भी कर रहा है। इस कारण प्रवृत्तिकी समानता निरखकर लोकमें व्यवहारधर्म कहा जाता है। इसका नाम उपचार व्यवहार भी कह लीजिए। यों परमभक्तिके आश्रयमें उत्पन्न हो सकने वाली निर्वाणभक्तिके इच्छुक व्यवहारनिर्वाणभक्ति करते हुए जो निश्चयनिर्वाणभक्ति करते हैं वे सिद्ध होते हैं।

मुक्तिवरणका उद्योग—सिद्ध जैसे विविक्त हुए उसको निरखकर और उसके विधि-विधानको अपने लिए सुगम समझकर यह किया जा सकता है और देखो निकट कालमें यही तो होना है, ऐसी भावनासे हर्ष बढ़ता है। जिसने कर्मसमूहको खिरा दिया है, जो सिद्धिके स्वामी है, जो सर्वगुणसम्पन्न हैं, शिवमय हैं, जो स्वयं शिवमय हैं, कल्याणके घर हैं, ऐसे सिद्ध भगवतोंका नित्य वन्दन करता हू। हे मुमुक्षु ! तुम्हें भी यदि मुक्तिका वरण स्वीकार हो तो देखो उस मुक्तिके वरणमें बाधक तत्त्व बहुत हैं, उन बाधकों से हटकर उनका मुकाबला करके इस मुक्तिका वरण किया जा सकता है। सो अपनी बरात तो सजा, ज्ञानकी गैसोंका उजाला तेज कर ले, बारह भावनाओंकी प्रबल सवारी पर बैठ लो और निश्चय आवश्यक कर्तव्यका तू अपने प्रदेशमें शृंगार सजा ले, तिस पर भी एक बात ध्यानमें रख, तू अपनी इस बरातमें बहुत बडे बलिष्ट बरातियोंको सगमे ले जा, नहीं तो सफलता न मिलेगी। वे बलिष्ट बराती हैं ये अनन्त सिद्ध। इन अनन्त सिद्धोंको अपने सङ्गमें, अपने उपयोगमें ले जा तो ये बाधक मुक्तिमे बाधा न कर सकेंगे। यों इन अनन्त सिद्धोंको यह ज्ञानी पुरुष अपने उपयोगमें विराजमान कर रहा है, यह है व्यवहारनयकी भक्ति। केवल थोड़ा कह देने मात्रसे कि मुझे सुख देना, मेरे दुःख मेटना, तुम सुख न दोगे, दुःख न मेटोगे तो तुम्हारी बात खत्म हो जायेगी, केवल कहने मात्रसे आनन्दलाभ न होगा। जिस पथसे जिनेश्वरदेव चलकर मुक्त हुए हैं उस पथ पर कदम रखनेसे ही सिद्धि होगी। यह है निश्चय निर्वाणभक्ति।

कर्तव्यके भान और पालनका एक दृष्टान्त—जैसे टाइमटेबुलकी पुस्तक देखते हैं, अमुक लाइन कहाँसे गई, कितने बजे छूटेगी, कितने बजे पहुचेगी ? ये सब बातें टाइमटेबुलसे निरखते हैं, अब गाड़ी चले और बैठे तो पहुचगे औ टाइमटेबुलको ही देखते रहें तो कैसे पहुच जायेंगे ? टाइमटेबुल ज्ञात होने पर अपने कर्तव्यका स्पष्ट भान हो जाता है कि इतने बजे तैयार होना है, इतने बजे बैठना है और यों पहुंच जायेंगे और टाइमटेबुल साथमें रहे चलते हुएमें भी तो घड़ीको ही देखकर यह सब अंदाज कर लिया जाता है कि इतनी दूर हम निकल आए हैं, अभी इतनी दूर और जाना है और जब मालूम हो जाता है कि अब १० मिनट या १५ मिनटके बादमें हम पहुच जायेंगे तो बिस्तर वगैरह संभाल लेना और पहिलेसे ही तैयारी कर लेना होता है, ऐसे ही स्वाध्याय, चर्चा पूजन, भवन, तप, त्याग आदिसे अपने कर्तव्यका स्पष्ट भान रहता है। फिर मोक्षमार्गमें कदम रखते भी, चलते हुए भी इस टाइमटेबुलको न छोड़ना, उनसे अदाज रहेगा कि हम कितनी दूर बढ़ गए हैं, अभी कितना चलना है और इस भानमें सही-सही गमन होने लगेगा।

कर्तव्यका भान और पालन—भैया ! कहीं ऐसा न हो कि टाइमटेबुल और घड़ी दोनों ही साथ न रहें नींद आ जाय तो कहींके कहीं भटक जायें। ये हमारे व्यवहारसाधन और हमारी आत्माका निरीक्षण अपनी घड़ीका देखना—ये दोनो न रहेंगे तो किसी जगह ऐसा न सो जाएँ कि उस स्थान पर ही न पहुच पायें और भटक जायें। इसके भटकनेका बड़ा बुरा हाल है। थोड़ा चूके और भटके तो भटकनेमें भटकना चलता चला जाता है। किसी भी प्रसगमें थोड़ा क्रोध आ जाय अथवा कोई हठ बन जाय तो यह क्रोध और हठ कहो कभी धर्मको भी तिलांजलि दिला दे। जैसे कोई गृहस्थ किसी धर्मके प्रसगमें किसी बात पर थोड़ा नाखुश हो जाय तो कहो हठ कर दे कि हम अब मंदिर ही न जायेंगे, अब हमें कुछ मतलब ही नहीं है मंदिर जानेसे और बढता जाय। हठसे धर्मको छोडकर विधर्मी बन सकता है। तो थोड़ी भी गफलत बहुत बड़ी गफ्लतका कारण बन जाती है। ऐसी प्रमादकी मनमें वासना रहनी ही न चाहिए।

आत्मबलका प्रसाद—यह सिद्धपना व्यवहारनिर्वाणभक्तिमें निरखा जा रहा है। इस सिद्धिके स्वामी परमात्मा समस्त दोषोंसे दूर हैं, केवल ज्ञान आदिक शुद्ध गुणोंके ये निलय हैं। यह पद इन्हें कैसे

मिला? इतनी बड़ी जगह वे कैसे आ गए, किसने मदद की? किसीने मदद नहीं की। दूसरेकी मददका भ्रम छोड़कर अपने शुद्धस्वरूपका आलम्बन लिया, उस शुद्ध उपयोगक फलमें ऐसी सिद्ध अवस्था उनके प्रकट हुई है। जड़ सम्पदाको चित्तमें बसाये रहना बहुत बड़ी कलुषताकी बात है। जिस हृदयमे शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप परमब्रह्म विराजमान् हो उसमें ये रूप, रस, गध आदि कहाँ विराजेंगे? कितनी अनहोनी बात की जा रही है—बाह्यपदार्थ विराज भी नहीं सकते हैं और इन्हें यह मोही जीव जबरदस्ती बैठाल रहा है और जो यहाँसे दूर नहीं हो रहा, भाग नहीं रहा, उसका आदर नहीं किया जा रहा है। आत्माके शुद्ध सहजस्वरूपके आलम्बनके फलमें यह पूर्ण शुद्ध विकासरूपी अवस्था प्रकट हुई है।

सिद्धोंका आवास—जो शुद्ध आत्मा लोकके शिखर पर निवास करते हैं, जिन्होंने सकटोंसे व्याप्त इस भवसमुद्रको पार कर लिया है, जो निर्वाणस्वरूपके अभेदपरिणमनसे परम आनन्दमय हो रहे हैं, ऐसे कैवल्य सम्पदाके महागुण वाले पापरूपी वनको जलानेके लिए अग्निके समान उन सिद्धोंको मैं प्रतिदिन नमन करता हू। ये सिद्ध प्रभु गुरु होकर भी ऊपर उठ गए हैं, जो वजनदार चीज होती है, गुरु होती है तो वह ऊपर नहीं जाती है, मगर ये सिद्ध सर्वोत्कृष्ट गुरु होकर इतने ऊपर उठे हैं जहाँके बाद फिर आकाशके सिवाय और कुछ है ही नहीं। इस ज्ञानमें त्रिलोक, त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते रहते हैं।

अनन्तनिधिकी प्राप्तिके लिये त्यागकी आवश्यकता—हमारा आनन्द परमस्वाधीन है, किसी भी परतत्त्व की आशामें आनन्दका विघात होता है, आनन्द नहीं मिलता है। जैसे नाबालिककी लाखोंकी जायदाद सरकार कोर्ट करके १००, २०० रु० माह देवे तो विवेक जगने पर वह इससे सतोष नहीं मानता, ये १००, २०० रुपये लाखोंकी निधिके बाधक हैं, जब तक इनको लेते रहेंगे तब तक वह निधि नहीं मिल सकती। यों ही आत्माके अनन्त आनन्दकी निधिके बाधक ये विषयसुख हैं। जब तक इन विषयसुखोंका ग्रहण किया जाता रहेगा तब तक अनन्त आनन्दकी निधि न मिल सकेगी। इनका सुख स्वाधीन है, सहज है अनन्त है। गुणपुञ्जका ही नाम सिद्ध है, जहाँ अन्तर्मल और बाह्यमल कुछ भी नहीं रहा है, केवल शुद्ध ज्ञानानन्दघन है, किसी परभवका लेश भी नहीं है, ऐसे शुद्ध चैतन्यका नाम परमात्मा है और जो इसकी उपासना करते हैं वे भक्त भी अपने स्वभावका आलम्बन करके सिद्ध हो जाते हैं।

भक्तिका फल—जो नित्य हैं, शाश्वत आनन्दधाम हैं ऐसे सिद्ध भगवतोंकी शरण हो अर्थात् उस गुणपुञ्जकी उस ज्ञानप्रकाशकी शरण लो। सिद्ध भगवत आज हैं नहीं और आज ही क्या, कभी वे सामने न थे। सिद्ध परोक्ष भक्ति कर रहे हों अथवा कभी उपयोगमें प्रत्यक्ष भक्ति भी कर सकते हों, सभी भक्तियोंमें अपने ही उपयोगका चमत्कार है। वे न आते हैं, न देखते हैं, न कुछ मुझमें करते हैं, वे सदा शिवस्वरूप हैं, श्रेष्ठ हैं, योगीजनोंके ध्येय हैं। जो अनुपम मोक्ष सुखका निरन्तर अनुभवन कर रहे हैं, जो भव्यजनोंके आदर्श हैं, ऐसे सिद्ध भगवत जिनके उपयोगमें विराजमान् रहते हैं वे व्यवहारभक्ति कर रहे हैं और इसके सदर्भमें निश्चयभक्ति करेंगे और निर्वाणपदको प्राप्त करेंगे। यों इस परमभक्तिमें प्रथम तो परमस्वभावके आलम्बनकी बात कही गयी है और अब व्यवहारनिर्वाणभक्तिकी बात कही गयी है।

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती।
तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ॥ १३६ ॥

निजपरमात्मभक्ति—नियमसारका यह परमभक्ति अधिकार चल रहा है। नियमका अर्थ है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। जो विशेष रूपसे आत्मामें सयमन करे, नियमित करे उसे नियम कहते हैं। नियमके प्रतिपादनमें यह परमभक्ति अधिकार है, जिसमें मोक्ष और मोक्षपथमें प्रवृत्त होनेकी

भक्ति दर्शायी गयी है। मोक्षमार्गमें अपनेको भली प्रकार लगा कर जो पुरुष निर्वाणकी भक्ति करता है उस जीवको इस भक्तिके प्रसादसे स्वतः समर्थ, स्वतत्र, असहाय गुण वाले अपने आत्माको प्राप्त करता है।

सकामतामे अलाभ--जगतमें किसी भी ओर चित्त लगावो, शान्ति प्राप्त हो ही नहीं सकती। इसका कारण यह है कि शान्तिका निधान यह आत्मा अपनी शान्तिसे हटकर, अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरमे जहाँ शान्तिका लवलेश भी नहीं है वहाँ उपयोग दौड़ाये तो शान्ति कैसे मिल सकती है? यह जीव मोहमें कुछसे कुछ कल्पना करके बाह्य पदार्थोंका आलम्बन लेकर मौज मानते हैं, किन्तु जगतके प्रत्येक प्रसंगमे क्लेशविष भरा हुआ है। कौनसा मौज ऐसा है जो इस जीवको धीर और शान्त बना सकता है? स्पर्शन-इन्द्रियका विषय देखो, यह तो अशान्तिका साधन है, लेकिन व्यामोही जीव मैथुनविषयप्रसंगमें अपनी कल्पनामें सर्वोच्च सुख समझते हैं और इन व्यर्थके झमटोंके पीछे बड़ी विडम्बनाएँ मचाते हैं और इतने-इतने कुत्सित आचरण करते हैं कि इसी प्रकरणके कारण अपनी जान तकको भी गँवा देते हैं। कौनसा सुख इस विषयप्रसंगमे मिलता है? सारे जीवनभरकी चिन्ताएँ बढ़ाना, अपने कल्याणसे दूर होना, सारी आपत्ति तो है इन विषयप्रसंगोंसे, किन्तु लोकव्यामोही जीव इसमें ही मौज समझते हैं।

रसनादिक इन्द्रियविषयोकी व्यर्थता—रसनाइन्द्रियका विषय देखो, थोड़ी देरको कोई चीज सरस, स्वादिष्ट लग गयी, उससे बतावो क्या नफा हुआ? शरीरका स्वास्थ्य स्वादिष्ट भोजन पर निर्भर नहीं है किन्तु चीजोंके खाने पर निर्भर है। इस आत्माको खाने-पीनेसे सतोष नहीं होता है, वह तो उस बड़े रोगको मिटानेके लिए अल्परोगकी चिकित्सा की जाती है। घ्राणेन्द्रियका विषय तो बिल्कुल बेकार-सी चीज है, सुगन्धित इत्र-फुलेलका सूघना, इससे क्या लाभ है? चक्षुरिन्द्रिय जो रूप अवलोकन करता है, मनको गदा करता है उससे लाभ कुछ नहीं मिलता है और विपदाएँ, विडम्बनाएँ अनेक आ जाती हैं, ऐसे ही कर्णेन्द्रियका विषय सुन्दर रागकी बातें सुन लीं तो इससे आत्माने कौनसी शांति प्राप्त की। यह जीव अशांतिसे ही तो विषयोंकी कल्पना करता है, अशांतिसे ही विषयोंको भोगता है और भोगनेके बाद भी इसको अशान्ति ही रहती है।

सुर्भवितव्यता—जिस जीवका भवितव्य अच्छा होता है उसे ही ऐसी सुमति होती है कि स्वपरका यथार्थ भेदविज्ञान होता है और परसे उपेक्षा करके स्वमें रत होनेका यत्न करता है, इस ही का नाम सयम है। अपना आत्मा अपने आत्मामे नियत कर ले, उपयोगको नियंत्रित कर ले, इसका ही नाम नियम है और यह नियम कैसे प्रकट हो, उसके ही वर्णनमें यह नियमसार कुन्द-कुन्दाचार्य देवने रचा है। इस गाथा में अपने आपके परमात्माकी भक्तिका स्वरूप बताया है। अपने आपको ससारके सकटोंसे छुटानेके लिये मोक्षपथमें लगाना, यही निज परमात्माकी यथार्थ भक्ति है। हम आप सभी जीव स्वतःसिद्ध स्वयं कारणपरमात्मतत्त्व हैं, किन्तु वहाँ अपनेकी निरखनेकी पद्धति एक विशिष्ट होती है। विरुद्ध पद्धतिसे निरखने पर हम अपनेको संसारमें रुलाते हैं और स्वानुरूपपद्धतिसे निरखनेपर संसारसे छूटकर मुक्तिमें पहुचते हैं।

कारणप्रभुके दर्शनका उपाय—इस कारणपरमात्मतत्त्वको इन इन्द्रियोंसे नहीं निरख सकते हैं। यह प्रभु इन्द्रियोंका विषयभूत नहीं है। इसे मनसे भी नहीं निरख सकते हैं। इन्द्रिय और मन दोनोंकी कल्पना को त्यागकर केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको निरखनेमें लगे तो यह कारणपरमात्मतत्त्व हमें दर्शन देगा और जब हम अपने आपमें विराजमान् कारणप्रभुको निरखने लगे तब किसी भी प्रकारकी आकुलता नहीं रह सकती।

लाभमे स्वयके उद्योगका विवरण—भैया! अब तक बहुत-बहुत परिश्रम करके सुख पानेका उद्यम

किया है, अब कुछ ज्ञानात्मक उद्यम करके भी निरखिये और जानिये कि वास्तविक शान्ति किस उद्यममें है ? ये वाहरी ठाठ-बाठ हमारी आपकी कल्पनासे नहीं उत्पन्न होते हैं। यह तो पूर्वभवमें जो धार्मिक आशय किया था, विचार-आचार शुद्ध किया था उसके फलमें जो पुण्यबंध हुआ उसका यह फल है। आप थोड़ा श्रम करें तो उतना ही मिलेगा और बहुत श्रम करें तो भी उतना ही मिलेगा, बल्कि अधिक परिश्रम न करके एक ज्ञान-ध्यानमें अपना उपयोग विशेष लगाएं तो पुण्यरस बढ़ेगा और यह ठाठ चतुर्गुणित हो जायेगा, लेकिन इस व्यामोही जीवको इस जड़ सम्पदामें इतना आकर्षण है कि वह धीरताकी बात आ ही नहीं सकती।

परचेष्टासे स्वहितकी आशा अभाव—समस्त समागम, यह सासारिक सम्पदा, ये सब पुण्य-पापके आधीन हैं। अपना वश चल सकता है तो एक भावोंके शुद्ध करनेमें चल सकता है। इस सम्पदाकी प्राप्ति हो ही जाय, ऐसी हमारे वशकी बात नहीं है। आपकी आधीनता तो आपके परिणामोंके शुद्ध करनेमें है। अपना ज्ञानबल बढ़ाये तो फिर आनन्द ही आनन्द है। मान लो, कदाचित् धन बढ़ जाय तो उससे लाभ क्या है और धन कम हो जाय तो उससे हानि क्या है ? किन्हीं मायामयी पुरुषोंने निन्दा अथवा प्रशंसा के शब्द बोल दिये तो उसमें कौनसी हानि अथवा लाभ हो गया ? मान लो, यह सारा जगत कुछ न पूछे, न कोई प्रशंसाकी बात कहे, कोई सम्बध भी न रक्खे, कैसी भी स्थिति होवे तो उससे हानि- लाभ क्या है ? कुछ नहीं है। यदि अपने आपके परिणामोंमें शुद्ध ज्ञानप्रकाश है, अपने कारणपरमात्मतत्त्वका झुकाव है तो वहाँ शान्ति प्राप्त होती है और किसी पुरुषका, नेताका सारा देश बड़ा स्वागत करे, लेकिन उसके परमात्मतत्त्वकी ओर झुकाव नहीं है तो वह उसका सारा स्वागत व्यर्थ है, उसको तो परेशानी ही रहेगी।

निश्चयनिर्वाणभक्ति—जो जीव परपदार्थोंमें दृष्टि न देकर अपने आपमें ज्ञायकस्वभावरूप अतस्तत्त्व का अनुभव करते हैं, आलम्बन करते हैं उनके ही निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग ठहरता है। जिस रत्नत्रय में भेदकी कल्पना नहीं है, यही है ज्ञानप्रकाश, इसको ही निरखना, इसमें ही रत होना, निर्विकल्प होकर केवल ज्ञानानुभव करके परम तृप्त रहना, ऐसे आनन्दस्वरूप रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गमें जो जीव लगाता है वह अपने आत्माकी सिद्धि करता है, सकटोंसे मुक्त हो जाता है, जिन पुरुषोंने इस निरञ्जन निज परमात्मतत्त्वके अनुभवके आनन्दामृतका पान किया है और इससे तृप्त होकर समस्त अनात्मतत्त्वोंसे उपेक्षा की है वे ही पुरुष मुक्तिकी परमभक्ति कर सकते हैं। ये ससारके समस्त समागम, उपद्रव, बन्धन, सम्बन्ध छूटे हुए देखे और इससे छुटकारा पानेका परिणाम करें तब तो छुटकारा मिल सकता है। कोई दु खोंके साधनोंको सचित करता जाय, दु ख भोगता जाय और यह दु ख है इतना भी न मालूम करे तो इससे बढ़कर और अधकार क्या हो सकता है ?

भेदविज्ञानका प्रताप और परिपाक—ये भव्य जीव भक्ति गुणके प्रसादसे निरावरण सहज ज्ञानस्वरूप स्वतंत्र इस आत्माको प्राप्त कर लेते हैं, यह सब प्रताप भेदविज्ञानका है। जैसे एक कहावतमें कहते हैं कि गुरु और प्रभु, इन दोनोंमें बलिहारी अपने गुरुकी है जिसने प्रभुका दर्शन कराया है ऐसे ही भेदविज्ञान और कारणपरमात्मतत्त्वका अनुभव, इनमें भेदविज्ञान तो गुरु है और आत्मानुभव देव है। उस गुरुकी बलिहारी है, उस भेदविज्ञानका यह परमप्रसाद है जिसके प्रतापसे हम आत्मानुभव कर सकते हैं। भेद-विज्ञानके लिए वस्तुके स्वतन्त्रस्वरूपके भानमें रहना चाहिये। प्रत्येक पदार्थ कितना है ? यह अपने द्रव्यगुण पर्यायरूप है, अपने स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे नहीं है, अपनेका ही कर्ता है, परकी परिणतिका कर्ता नहीं है, अपने ही परिणमनका भोक्ता है, परके परिणमनका भोक्ता नहीं है, ऐसा स्वतन्त्र प्रत्येक पदार्थ दृष्टिमें आने लगे तो समझिये कि मेरा भेदविज्ञान परिपक्व हुआ है।

विडम्बनावोका मूल कारण—भैया ! जितनी विडम्बनाएँ होती हैं वे सब कर्तृत्व, स्वामित्व और भोक्तृत्व बुद्धिसे होती हैं। मैं इन पदार्थोंका मालिक हूं, यह मिथ्या आशय हो तो क्लेश होना प्राकृतिक है। मैं अमुक कार्यको करने वाला हूं, ऐसी कर्तृत्व बुद्धि हो तो क्लेश होना प्राकृतिक है। मैंने ऐसा आराम भोगा, विषय भोगा, इस प्रकारके भोक्तृत्वबुद्धिका आशय हो तो क्लेश होना प्राकृतिक है। कौन किसका स्वामी है ? पूर्वके अनेक भवोंमें कितनी सम्पदा पायी होगी, कितना राज्य पाया होगा, जिस सब के समक्ष आजकी पाई हुई सम्पदा न कुछकी तरह है, पर उसमें कुछ भी आज नहीं है और अब भी जिसके पास है वह मरने पर साथ कुछ भी न ले जा सकेगा, लेकिन यह संतोष करता है व्यामोहमें कि हम इस सम्पदाको साथ न ले जायेंगे तो हमारे बालबच्चोंके पास तो रहेगी। अरे मरने पर बालबच्चे फिर तेरे क्या रहे ? न जाने तू कहाँ पैदा होगा ? न तेरी कल्पनामें तेरे घरके लोग कुछ रहेंगे और न उनकी कल्पनामें तू कुछ रहेगा। क्या सम्बंध है ? कुछ ज्ञानचक्षु खोलना चाहिए और परजीवोंके लिए ही अपना जीवनभर श्रम न करना चाहिए। अरे उनका भवितव्य ठीक है तो हो जायेगा, इन बच्चोंके भाग्यसे ही तो तुझे नौकरी करनी पड रही है। उन बच्चोंके पुण्यके उदयसे यह सम्पदा इकट्ठी हो रही है, तो इसका अर्थ यही है ना कि आपने बच्चोंकी नौकरी की है, अपना काम क्या निकाला है ?

चिदानन्दभगवानके विरोधमें अलाभ--अपने इस चैतन्यस्वरूपको ही अपना सर्वस्व मानो। जितनी हम इसकी सेवा कर लेंगे, जितना हम इसका आश्रय कर लेंगे उतना तो ज्ञानबल हमारे कामका है और बाकी जितने विकल्पजालोंमें उलझते रहेंगे उतनी ही हमारे लिए विपदा है, ऐसा जानकर अब मोक्षपथमें अपने को लगावो, अपनी सेवा करो। अपनी सेवा यही है कि मोह, राग, द्वेषके कष्टोंसे छुटकारा पावें और ज्ञानानुभवका असीम आनन्द भोगें, यही वास्तविक अपनी सेवा है। कितना गहन मोहांधकार है ? आपके बच्चेसे भी अधिक रूपवान, कलावान कोई बच्चा है, पर उसमें प्रीति नहीं होती है, किन्तु अपना बच्चा चाहे अज्ञानी हो, कलाहीन हो, आज्ञा न मानता हो, पर उससे बड़ी प्रीति रहती है। यह एक व्यामोहका ही तो परिणाम है।

व्यामोहसे स्वपरका विगाड—व्यामोह करनेसे न दूसरेका भला होता है और न खुदका भला होता है। जैसे लोग कहते हैं ना कि बच्चेसे लाड़ अधिक करोगे तो बच्चा विगड़ेगा और ऐसा देखा भी जाता है कि जो लोग बच्चेसे अधिक मोह स्नेह लाड़ करते हैं वह बच्चा न विशेष पढ़ पाता है और न सद्-व्यवहार, सद्वचन बोलने वाला हो पाता है। बुद्धिमान् लोग लाड़ भी करें तो प्रकट लाड़ नहीं करते हैं ताकि बच्चे पर दुष्प्रभाव न हो। लाड़ करके बच्चेको भी बिगाड़ा गया और खुदका भी बिगाड़ किया, क्योंकि वह प्रतिकूल बनेगा तो यह भी तो दुःख मानेगा। तो लोकमें भी तो प्रत्यक्ष यह बात नजरमें आ रही है कि लाड़में, मोहमें दोनों ओरसे हानि है। अध्यात्ममार्गमें आचार्य, ऋषि, संत यहाँ जो कह रहे हैं यह यथार्थ सत्य है। रागद्वेष, मोह करके न किसी दूसरे जीवका भला कर सकेंगे और न स्वयंका भला कर सकेंगे।

आत्मप्रयोगका आनन्द--जो पुरुष अपने स्वरूपको परख कर उसमें अविचल रहते हैं, अपने आपको इस निरुपम सहज ज्ञानदर्शनात्मक चित्प्रकाशमें लगाते हैं वे आत्मा इस चैतन्यप्रभुकी भक्ति द्वारा इस श्रेष्ठ आत्मगृहको प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ किसी भी प्रकारकी विपदा नहीं है, जिस बातके बोलनेसे दूसरे भी अच्छा मानें, महान् समझें उस बातके कर लेनेमें कितनी महत्ता और कितना आनन्द होगा, इसका अनुमान करो। देखो—भगवानके सामने मुखसे मोह और रागकी बातें नहीं बोल सकते हैं, लोग सुनेंगे तो अच्छा न मानेंगे। जैसे हम प्रभुके आगे स्तवनमें यह कहते हैं कि 'हे प्रभो ! आत्माके अहित विषयकषाय इनमें मेरी परिणति न जाय' इसको हम जोरसे बोलते हैं, सुनने वाले सुनते हैं, बोलने वाला भी प्रसन्न

होकर बोल रहा है, चाहे मनमें कुछ हो, चाहे मनमें धनलाभ,, यशोलाभ कुछ भी बसे हों, जिससे प्रेरित होकर यह पूजन कर रहा है, लेकिन मुखसे सबके समक्ष यह नहीं बोल सकते कि हे प्रभो ! आज हमें इतना मुनाफा हो, मेरे लड़के खुश रहें, मुझे खूब विषय मिलें, ऐसा कोई भजन भी बनाकर नहीं बोलता है और कोई बोलेगा ऐसा तो सब उसे पागल कहेंगे। चाहे मनमें मोहकी बात बसी हो, पर भगवानके आगे बोल नहीं सकता है, न किसीको सुना सकता है, तो इससे यह जानो कि वह बात गदी है जिसे हम मंदिरमें लोगोंके सामने बोल नहीं सकते। वह कष्टका कारणभूत् है, जिस बातको हम प्रसन्नताके साथ गा बजाकर बोलते हैं प्रभुके समक्ष, यदि ऐसी परिणति स्वयकी बन जाय तो उसके आनन्दका क्या ठिकाना ?

पछतावाकी बुद्धि--इन परिजनोंके स्नेहमें कितना अपने आपको बरबाद किया है ? इस जड़ सम्पदा के मोहमे अपने आपका कितना पतन किया जा रहा है ? इसका पता मोहमें नहीं लग सकता है। जब तत्त्वज्ञान जगता है तब ही भूलका पछतावा होता है। ओह ! इतना जीवन हमने व्यर्थ ही गँवा डाला अथवा जब मरणकाल होता है तो इसे कुछ विवेक होता है। ओह ! ४०, ५० वर्षकी उमर मैंने व्यर्थ ही खो दी है। न कुछ लाभ हुआ, न शान्ति हुई। अब अशान्त होकर, हानिमें रहकर यहाँसे जा रहा हू, क्या होगा अब ? उसका तब पछतावा होता है। मोहमें भूलका पता नहीं पड़ता है, भूल मिटे तब ही शान्ति हो सकती है। शान्ति तो ज्ञानसाध्य है, धनसाध्य नहीं है, शुद्ध ज्ञानप्रकाश अतरङ्गमें जगे तो वहाँ शान्ति अवश्य होगी।

विविक्त निजप्रभुका आश्रय—मैं सबसे न्यारा हू, केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हू, ऐसी दृष्टि होना इस ही के कारण ज्ञानप्रकाश है, यह केवल एक नजर द्वारा ही साध्य है, कुछ श्रम नहीं करना है, किसी परकी आधीनता नहीं है। अपने भीतर एक ऐसी नजर डाल लो कि यह तत्त्व दिखने लगेगा। जो समस्त परसे भिन्न है और अपने स्वरूपमें तन्मय है, ऐसे इस शुद्ध स्वरूपकी उपासनामें अपने परमात्मतत्त्वकी शोभा है, सेवा है और यही अपने उद्धारका करना है। अब रही सही जिन्दगीमें एक बड़े पुरुषार्थप्रयत्नसहित इस ज्ञानानन्दस्वरूप निज कारणपरमात्मतत्त्वकी सेवा करें, यही सच्ची परमभक्ति है।

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो हु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्सय कह हवे जोगो ॥ १३७ ॥

योगभक्ति—इस परमभक्ति अथवा निर्वाणभक्तिका दूसरा नाम योगभक्ति भी है। अपने आत्माको रागादिकके परिहारमें लगाना और सहज आनन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्वमें उपयोगको जोड़ना, इसका नाम है योग। जो इस योगकी उपासना करता है वह पुरुष योगभक्ति करिके सहित है। स्वरूपसे विचलित होने वाले जीवक योग नहीं हो सकता है। जब यह आत्मा परको पर जानकर, परसे उपेक्षा करके सहजस्वरूप में सहज विश्राम करता है अर्थात् जहाँ यह ज्ञानपरिणमन एक ज्ञानाकार ही रह जाता है, ऐसी परम समाधिके बलसे यह योगभक्ति प्रकट होती है, जिसमें समस्त मोह, राग, द्वेष आदिक परभावोंका परिहार है।

परभावविविक्तताकी योग्यताके निर्णयकी आवश्यकता--जिस जीवको रागादिक दोष दूर करना हो, उसे पहिले यह तो समझ लेना चाहिए कि मेरेसे रागादिक दोष दूर हो सकते हैं या नहीं। मेरेसे रागद्वेषादिक दूर हो सकते हैं, इसकी समझके लिए यह जानना आवश्यक है कि मेरा स्वरूप ही रागद्वेषादिकसे पृथक है। यदि मैं रागद्वेषादिकरूप हो होऊँ, मेरा स्वभाव ही रागद्वेष करनेका हो, तो फिर ये रागद्वेष कभी दूर नहीं हो सकते हैं। इसलिए यह जानना सर्वप्रथम आवश्यक है कि मैं रागादिक विकारोंसे न्यारा केवल शुद्ध-चैतन्यस्वरूप हू, इतनी बात ध्यानमें आये तब धर्म करनेकी बात जीभसे हिलाना कि अब मैंने धर्म किया,

धर्म कर रहा हूं यह बात तब समझो जब अपने आपमें यह निर्णय हो जाय कि मैं आत्मा रागद्वेषादि विकारोंसे विविक्त केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। अब अपने-अपने अंतःकरणमें निर्णय कर लो कि रातदिन का सारा समय हम किस प्रकारका अनुभव करनेमें गुजार रहे हैं? मैं इस घर वाला हूं, इतने बच्चों वाला हूं, ऐसी पोजीशनका हूं, मैं धनपति हूं, अमुक नाम वाला हूं, मोटा दुबला हूं, कितने प्रकारकी वासनाएँ अंतःकरणमें रातदिन रहा करती हैं, यदि यह बोझ लाद रहे हैं तो अपनेको धर्ममय कबूल मत करो। स्वरूपप्रतीति बिना धर्म करते हुए भी, मंदिर दर्शन सत्संग करते हुए भी यह जानो कि अभी हमने धर्म नहीं किया।

धर्मके समझकी पात्रता--भैया! अपना विवेक बनावो कि मुझे धर्म करना है। धर्मके बिना यह जीवन सुखमय नहीं हो सकता है। पापमय जीवनसे कोई भी प्राणी सुखी हो ही न सकेगा, क्योंकि पाप-परिणाम स्वयं आकुलतावोंको उत्पन्न किए हुए है। कोई कुत्ता किसीके रसोईघरमें चोरीसे घुस जाय तो कैसा आंखें बचाकर चुपकेसे रोटी उठाकर भाग जाता है और धीरेसे किसी एकांतस्थानमें जाकर कायरता से, आसक्तिसे वह रोटीको खाता है, यह भी देख लो और जब कभी आप ही खुद किसी कुत्तेको बुलाकर रोटी डालें तो कितना पूँछ हिलाकर और कैसे पंजे फटकारकर और मुखकी प्रसन्नता बताकर प्रेमसे रोटी खाता है। किसने सिखाया उस कुत्तेको कि यह चोरीका पाप है और यह बुरा काम है? उसका अंतःकरण खुद जानता है कि मैं पापकार्य कर रहा हूं, यह मेरे करने योग्य नहीं है इसीलिए वह खेदखिन्न होकर चोरीकी रोटी खाता है और जहाँ न्यायपूर्वक रोटी मिल रही है वहाँ रोटी प्रसन्नतासे खाता है, तो पापमय परिणामसे किसी भी जीवको शान्ति नहीं मिल सकती है।

पुण्यपापके फलरूप सांसारिक घटनायें--जो लोग धन सम्पदा बढ़ानेके लिए अन्याय करते हैं और मन में छल-कपटका जाल गूँथते हैं वे अतः कभी प्रसन्न और संतुष्ट न हो सकेंगे। सम्पदा छलके कारण नहीं आती है, किन्तु जैसा उदय है पूर्व पुण्यका उसके अनुसार सम्पदा मिलती है। घसियारे लोग दिन भर श्रम करते हैं और अन्तमें उन्हें एक रुपया ही नसीब होता है और कितने ही लोग आरामसे एक दो घंटा ही काम देखते हैं और उसीमें सैकड़ों हजारोंका मुनाफा पाते हैं। भले ही कोई देश आज समताके नामसे एक व्यवस्था बनाए कि सब लोग एकसे समान रहें, कोई कम बढ़ धनी न रहे, सबके पास एक-सी विभूति रहे, कोई भी देश कितना भी इन बातोंके लिए प्रबन्ध करे, किन्तु किसीके पुण्य, यश, आरामको कोई बना सकता है क्या? जो साम्यवादका दम भरते हैं ऐसे देशोंमें भी प्रेसीडेन्ट और मिनिस्टर कैसी शानसे रहते हैं, कितनी उन्हें मौज है, कितनी सलामियाँ मिलती हैं और कितना वैभव है और जो चपरासगिरी का काम करते हैं उनकी क्या हालत है, उनकी क्यों नहीं समता बनायी जा सकती है?

भावनासे साम्यभावका विस्तार--अरे समता तो भावोंसे बनाएँ तो बनेगी। बाहरी सम्पदाके छिन्न-भिन्न करनेसे समता नहीं बनती है। आध्यात्मिक ज्ञानका विस्तार हो और मिली हुई समस्त सम्पदासे विविक्त अपने स्वरूपका ध्यान हो व इसी प्रकार समस्त जीवोंमें स्वरूपका निर्णय हो तो वहां समता प्रकट हो सकती है। ज्ञानी गृहस्थ तो यह जानता है कि मेरे पास तो एक धेलामात्र भी सम्पदा नहीं है। समता तो समतामें है। मैं तो सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं। रही एक साम्यवाद बनाकर लोककल्याणकी बात। तो जहां ज्ञानमें समता आ जायेगी वहां धन सम्पन्न लोग स्वयं ही अपने उदार भावोंसे लोककल्याणमें सम्पदाका वितरण कर लेते हैं, किया है और कर रहे हैं। लोगोंको सताकर लोक-कल्याणके लिए समता छीनकर या करों द्वारा पैसा इकट्ठा करना यह सुखविस्तारक काम नहीं है, किन्तु लोकमें ज्ञानकी प्रगति कराकर उन्हींकी ही ओरसे लोककल्याणके लिए वे स्वयं मुक्तहस्तसे, उदारभावोंसे द्रव्य प्रदान करें, उसमें शोभा सबकी है। समतापरिणाम भावोंसे बनाना चाहिए। बाहरी चीजोंकी

व्यवस्था करके समता नहीं बनायी जा सकती है।

अन्तर्ज्ञान बिना संतोषका अभाव—भैया ! यह भी जानना चाहिए कि कोई पुरुष बाहरी सम्पदाकी व्यवस्था बनाकर संतुष्ट होना चाहे तो संतुष्ट हो नहीं सकता है, जैसे किसी तराजू पर जिन्दा मेढकोंको तौलना कठिन है. एक किलो जिन्दा मेंढक जरा तौलकर दिखा दो, नहीं दिखा सकते हो ना। एक रक्खोगे तो एक उछल जायेगा, दूसरा रक्खोगे तो फिर कोई उछल जायेगा, तौल न सकोगे। ऐसे ही धन, सम्पदा, मकान, दुकान, इनकी व्यवस्था बनाकर अपनेमें संतोष लानेकी बात उससे अधिक कठिन है। इससे कर्तव्य यह होना चाहिए कि वर्तमानमें जो समागम है उस समागममें ही अपनी व्यवस्था बनाकर धर्मपालनके लिए यत्न करें, इससे तो विजय होगी और बाहरी बातें हम कुछ अनुकूल बना लें, कुछ व्यवस्था बना लें तब मौजसे इकट्ठी धर्मसाधना करेंगे, ये उसकी स्वप्नकी कल्पनाएँ हैं। जब इस ही समय अपनी शक्ति माफिक धर्मपालनका परिणाम नहीं है तो भविष्यकालमें धर्मपालनके परिणामकी क्या आशा की जा सकती है ? इससे इन बातोंको रंच भी महत्त्व न दो। क्या सम्पदा है, क्या स्थिति है ?

ज्ञानकी सभालमें धर्मका अधिकार—यदि कोई खोमचा चलाकर भी अपना गुजारा करता हो तो वह भी उतने ही धर्मका अधिकारी है, उतना ही पात्र है जितना कि धनसम्पन्न पुरुष है। पुण्य भावोंसे उत्पन्न होता है, किन्तु यदि कोई धनसम्पन्न होकर भी कजूस प्रकृतिका है तो उसके भाव बढ़ ही नहीं सकते, अतएव पुण्य नहीं होता। कहीं पैसेके रखने देनेमें पुण्यकी बात नहीं है, भावोंसे पुण्यका बन्ध है। कोई सम्पन्न होकर व्यय न कर सके, त्याग न कर सके तो उसके परिणामोंमें उज्ज्वलता भी प्रकट नहीं हो सकती है, क्योंकि तृष्णासे रंगा हुआ है ना और एक गरीब पुरुष जिसके पास कुछ भी नहीं है वह अपनी शक्तिमाफिक दो पैसे भी कहीं लगाता है तो वह उस कृपण धनीकी अपेक्षा अधिक धर्मका अधिकारी है। सर्वत्र परिणामोंकी विशेषता है।

सहजस्वरूपके उपयोगमें योगभक्ति—भैया ! ऐसा निर्णय करो कि यह सम्पदा कमानेसे नहीं आती। यह तो पुण्योदयके अनुसार बिना विचारे ही अनेक उपायोंसे आ जाती है। इसकी तृष्णा क्या करना ? इस ओरसे सञ्चयका परिणाम हटाकर अपने आपके इस ज्ञानानन्दस्वभावकी दृष्टि और इस ही परमार्थभक्तिमें उपयोग लगाना चाहिए। जो जीव इस प्रकार सहजस्वरूपमें उपयोग लगाते हैं वे निश्चययोगभक्ति करते हैं। अपनेको अपनेमें जोड़ लेना, इस ही का नाम निश्चययोग है। इस परमश्रमण, परमसमाधियुक्त साधुके निश्चययोग हो रहा है। बाह्यपदार्थोंमें व्यासक्त कोई पुरुष इस योगका पात्र नहीं है। इस योगमें ही कल्याण है और इस ही से आत्माकी समृद्धि है। योगभक्ति कहिये अथवा उपयोगभक्ति, शुद्ध निश्चयनसे जो सहजस्वरूपकी भक्ति है उसे जो साधु करता है उसके ही कर्ममल दूर होते हैं। अन्य जन जो बाह्य प्रपचोंका सुख भोगना चाहते हैं उनके योगभक्ति नहीं हो सकती है।

व्यवहारचारित्रका योग—व्यवहारचारित्रमें योग नाम है—तपस्याओंका। क्लेश सहते हुए ध्यानसे न चूकना, इसको योग कहते हैं। वर्षाकालमें जहां बिजली तड़क रही हो, मेघमाला बरस रही हो, विकट अंधेरी हो, ऐसे वर्षाकालमें योगी वृक्षके नीचे अपने ध्यानमें मग्न हो रहे हैं ऐसे इस व्यवहारयोगके समय में उन साधुजनोंके निश्चय अध्यात्मयोग होता है और उस अध्यात्मयोगके कारण वे योगी कहलाते हैं। जाड़ेके दिनोंमें जहा कि शीतवात चल रही है, शीतका विशेष प्रकोप है, शीतऋतुके कारण वृक्ष भी जल गए हैं ऐसे शीतकालमें नदीके तट पर स्थित पद्मासन अथवा खड्गासनसे जो निज सहजस्वरूपका उपयोग कर रहे हैं उनके निश्चययोग होता है। गर्मीके दिनोंमें कितने ही दिनों तक आहार न हुआ हो भूख और तृषा दोनोंकी वेदनाएँ हों शरीरमें, किन्तु इन वेदानवोंकी ओर जिनका रंच ध्यान नहीं है, शरीरसे

भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वमें ही जो हित समझते हैं और इसी कारण इस विविक्त आत्मतत्त्वके लाभके लिए हो जिसका विचार और चिन्तन चलता है, ऐसा योगी बड़ी तेज गर्मीमें जहाँ लूकी लपटकी मार है, दसों बार पानी पीने वाले जहा प्यासे रहते हैं, ऐसे प्रबल ग्रीष्मकालमें पर्वतोंके शिखर पर एकाकी ध्यान-मग्न हो रहे हैं। अध्यात्ममें उपयोग होनेसे जिनका प्रबल योग चल रहा है, ऐसे योगी पुरुषके योगभक्ति होती है।

वाह्य प्रपचके जुडावमे योगभक्तिका अभाव व दुर्गतिकी पात्रता—जो साधुके नाम पर किसी भी भेषको रखकर केवल एक खानेपीनेका यश लूटनेका ही जिनका ध्यान रहता है, जो अपनी प्रशंसाके लोलुपी हैं, जिनका उद्देश्य लोकमें अपना नाम जाहिर करनेका है, जो सुन्दर रूप देखने, स्वादिष्ट खाने-पीने, सुहाती सुरीली चीज रागभरी बोली सुननेके लम्पटी हैं, जो गुप्त पाप करके सुख लूटना चाहते हैं, ऐसे वाह्य प्रपचोंमें, उनके सुखमें जिनकी बुद्धि लगी है उनके कहासे योग होगा ? शास्त्रोंमें लिखा है कि इस पचम-कालमें अनेक साधु और अनेक उनके सेवक श्रावक नरकगतिमें व निगोदमें जायेंगे। ऐसा क्यों होता है ? जो साधुभेष रखकर अपने इन्द्रियविषयों और मानसिक विषयोंके सुखके ही लोलुपी हैं उनके आत्मध्यान कहा होता है ? कोई गृहस्थ भी बहुत पाप करता है, वाह्य सुखोंमें मग्न रहता है, लेकिन अपने बारेमें मैं धर्मात्मा हू, साधु हू, ऐसी प्रसिद्धि नहीं रखता, इस कारण पाप करता हुआ भी उसके मायाचारका दोष नहीं लगता, किन्तु जो गृहस्थ जैसा ही दिल रक्खे, गृहस्थ जैसा ही भोग और सुख चाहे अतरगमें और वाह्यमें भेष रख ले साधुका तो मायाचारका दोष लगता है। ऐसे मायाचारी साधु और उनके भक्त दुर्गतिमें ही जाते हैं।

धर्मवेशकी ओटमें मायाचारका दुष्परिणाम—कुसाधु व उनके भक्तोंकी दुर्गतिका यह दूसरा कारण है कि जो धर्मपद मोक्षमार्गके लिए था उसको कलकित किया है और धर्मप्रभावनाको नष्ट करके इतना अनर्थ किया है लोगोंका कि लोगोंको सन्मार्ग पर चलानेका उत्साह नहीं रह गया। हर एक कोई उदाहरण लिया करते हैं। अरे इस धर्ममें क्या फायदा है, सब ढोंग है। देखो फलाना यों हुआ था यों हो गया। धर्मका भेष रखकर फिर धर्मकी अप्रभावनाके कार्य करना और अपने स्वार्थभरे कार्योंको करके लोकमें शुद्ध धर्मसे जीवोंकी श्रद्धा हटा दे, यह कितना बड़ा अनर्थ और पापका कार्य है ? यही कारण है कि साधु-भेष रखकर, ज्ञानी रहकर, विषयोंके मौजका ही ध्यान बनाकर जो मायाचारका और धर्मकी अप्रभावना का पाप करना है उसे दुर्गतिमें ही जाना पड़ता है और ऐसे पुरुषोंकी भक्ति कोई विवेकी बुद्धिमान् नहीं कर सकता। कोई पुरुष जो स्वय भी पापोंका रुचिया हो वही ऐसे साधुवोंकी संगति और भक्तिमें रहेगा। जब दोनोंका ही अनर्थ हो, जहां निश्चय अध्यात्मयोगकी सुध नहीं है। वहां कोई अपना हित कैसे कर सकेगा ?

परमभक्तिमे शुद्ध ज्ञानपुञ्जकी उपासना—परमभक्ति अधिकारमें उत्कृष्ट भक्तिका वर्णन चल रहा है। उत्कृष्ट तत्त्व है यह शुद्ध ज्ञायकस्वरूप। भगवानकी भी जो हम उपासना करते हैं उसमें भी शुद्ध ज्ञान-पुञ्जकी उपासना करते हैं। कोई उपासक चाहे किसी एक नामसे तीर्थंकरकी उपासना कर रहा हो, किन्तु उपासकके सनता बुद्धि होती है। एक तीर्थंकरको पूजकर भी शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही उसके लक्ष्यमें वसा करता है। वहा यह हठ नहीं है कि मैं तो शान्तिनाथको ही पूजूँगा और किसी भगवानको नहीं। जहां यह हठ नहीं है वहा शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी भक्ति है। अन्तरगमे यदि यह परिणाम है कि शान्तिनाथ अमुक के पुत्र है और इतने बडे शरीरके हैं, इस कुलके हैं, उनको मै पूजता हू तो यह सच्ची भक्ति नहीं है, किन्तु वह वीतराग है, ज्ञानानन्दका परमविकास है, इस नातेसे पूज रहा हू। यह उसकी सच्ची भक्ति है। जैसे किसी श्रावक भक्तके किसी नामधारी त्यागी और साधुमे भक्ति जगे और यह हठ बने कि मैं तो अमुक

नाम वालेको ही मानूँगा। नामके नातेसे माने तो उस श्रावककी वास्तविक भक्ति नक हला सकेगी। यद्यपि सब आखिर नाम वाले ही मिलेंगे, विना नामका व्यवहार नहीं चलता तो भी ये अमुक साधु है, अमुक नामके हैं, नाम भी लेते जावो, किन्तु यह रत्नत्रयका विकास है, रत्नत्रय ही धर्म है, उस रत्नत्रयके विकासके नातेसे जो भक्ति संगति होगी वह है गुरुभक्ति। ऐसे ही रागद्वेषरहित ज्ञानानन्दके परम विकास के नाते से यदि देवकी भक्ति है, तीर्थंकरकी भक्ति है तो यह है देवभक्ति।

व्यवहारभक्तियोमे भी आत्मस्वरूपभक्तिका प्रवेश—कोई ज्ञानी पुरुष देवभक्ति कर रहा हो तो वहाँ भी आत्मस्वरूपकी भक्ति है। कोई गुरुभक्ति कर रहा हो तो वहा भी आत्मस्वरूपकी भक्ति है और धर्मसाधक जितनी भी क्रियाएँ कर रहा हो उन सबमें भी आत्मस्वरूपकी भक्ति है। जैसे आपके पास कोई आपका मित्र बैठा है, कोट, कमीज, टोपी आदि पहिने हुए, आप उससे प्रेमपूर्वक वार्तालाप कर रहे है और उसके ऊपर कोई चींटी या पुराल आदिका तिनका पड़ जाय तो आप उसे हटा देते हैं तो क्या आप उस मित्र के कपड़ेकी भक्ति कर रहे हैं? आप तो उस मित्रके प्रेमके कारण उस तिनके या चींटीको हटाते हैं। किसी घरके बडे पुरुषकी टोपी किसी खूँटीमें टंगी हो और वह गिर जाय धूलमे तो आप उसे उठाकर झाड़ते हैं, कुछ अपना सिर नवाते हैं और उसी खूँटीपर टाग देते हैं तो क्या आप उस टोपीकी भक्ति कर रहे है? अरे आपकी भक्ति है, आपका अनुराग है उस महापुरुषसे, सो आप उस महापुरुषकी भक्ति कर रहे हैं। किसी त्यागीकी चद्दर किसी जगह गिर जाय तो आप कितना पछतावा करते हैं और उसे धोकर रखते हैं, क्या आप उस चद्दरकी भक्ति कर रहे हैं? मूलमें निरखिए। अरे आपका अनुराग तो उस त्यागीसे है, सो आप उस त्यागीकी भक्ति कर रहे है। ऐसे ही यह ज्ञानी पुरुष भगवानकी मूर्तिके सामने खडे होकर वदन नमस्कार करता है तो क्या वह पत्थरका वदन कर रहा है? मूर्ति तो पत्थरकी है। क्या वह पीतल का वदन कर रहा है? नहीं। वह तो ज्ञानविकासका वदन कर रहा है।

सावलम्ब ज्ञानियोंके देवभक्तिकी बाह्यरूपमे उमड - प्रभुमें इस ज्ञानी श्रावकके इतना अनुराग जगा है कि प्रभुके नाम पर उनकी मूर्ति बनाकर पूज रहा है। यह क्या उस मूर्तिका प्रेम है? अरे! मूर्तिका प्रेम नहीं है, मूर्तिका अनुराग नहीं है, मूर्तिका पूजन वदन नहीं है,' किन्तु जिसमें इतना प्रबल अनुराग जगा है कि वह उनकी मूर्तिकी स्थापना करके पूजता है तो वहा ज्ञानविकासकी पूजा है। जो लोग इस मर्मको नहीं जानते हैं उनके यह शका रहती है कि अजी किसी धनीकी भक्ति करो तो वहा कुछ मिल भी जाय। देखो तो कुछ लोग जड़, पत्थर, पीतल इनके सामने सिर रगड़ते हैं, कितना अज्ञान है ऐसी लोग शका करते हैं जिन्हें पूजाके मर्मका पता नहीं है और पूजक भी यदि यह परिणाम नहीं ला पाते हैं मूर्तिके समक्ष और वहा दृष्टि नहीं रख पाते हैं जिस स्वरूपमे परमात्मतत्त्व बसा है और न अन्तर्ध्वनि यह निकल पाती है कि प्रभु कल्याणका पथ तो यही है, मूर्तिमें निगाह गड़ाकर नहीं कहना है, किन्तु मूर्तिके समक्ष उस प्रभुस्वरूपमें निगाह रखकर कहना है। कल्याणका मार्ग तो यही है। मैं कहा विषयकषायोंमें रुल रहा हूं और मूर्तिकी नासाग्र दृष्टि निरखकर और शान्तमुद्रा देखकर मूर्तिका ख्याल भूलकर केवल शान्तमुद्रा ही निगाहमें रह जाय और वहा अन्तर्ध्वनि निकले कि हे प्रभो! आपने उत्तम विकास पाया है, कितना आनन्द भर रहा है, ऐसा भान करे तो वहा प्रभुकी भक्ति हो रही है।

परमभक्तिमें ज्ञानाकारोपयोग—इस परमभक्तिमे यह पूर्णरूपसे ज्ञानाकाररूप उपयोग कर रहा है, यही परमसमाधि है। इस परमसमाधिके द्वारा योगीश्वर समस्त मोह, रागद्वेष भावोंका परिहार कर देता है। यह आसन्न भव्य जीव अपनेमें ऐसा सातिशय आनन्द प्राप्त करता है जो अखण्ड है, अद्वैत है, अभेद्य है, सहज है, उस आनन्दके द्वारा आत्मामें लगता है और योगभक्ति करता है। देखो अपने प्रयत्नसे तो यह मन चलता है, किन्तु इस मनका चलाव वहा तक है जहा तक आत्माके प्रति मनकी गति हो। आगे

जब यह अध्यात्मयोग अनुभवमें आयेगा तब यह मन स्वयं विरामको प्राप्त होगा। मन, वचन, काय ये तीन योग हैं। काययोग प्रभुसे नहीं मिलाता है, वचनयोग प्रभुसे मिलाता नहीं, मनोयोग प्रभुसे मिलाने का उपाय तो बना देता है, पर प्रभुसे जब मिलाप हो रहा हो तो वहा मनकी गति नहीं होती है।

आत्मदर्शनके प्रसगमे मनके सहयोगका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—जैसे कोई सेठ किसी राजा-महाराजासे मिलना चाहे तो द्वारपाल उस सेठको ले जाकर वहां तक तो सहयोग देता है जहां तक राजाका दर्शन न होता हो। जिस जगहसे राजाका दर्शन होने लगता है उस भवन, उस कमरेके भीतर द्वारपालका फिर काम नहीं है। अब तो वही सेठ अकेले जाकर राजासे अपनी चर्चा करेगा। द्वारपाल वहांसे हट जाता है। ऐसे ही यह उपयोग सेठ इस अन्तस्तत्त्व प्रभुसे मिलना चाहता है तो इस मन द्वारपालसे यह उपयोग कहता है कि मुझे प्रभुके दर्शन तो करा दो तो यह मन द्वारपाल इस उपयोग सेठको वहां तक तो ले जाता है। अपनी भावनावोंसे, चिन्तनावोंसे, ध्यानोंसे जहाँ यह अतस्तत्त्व विराज रहा है, उस अध्यात्म आंगन तक ले जाता है, उसके बाद जब इस मनने उपयोगको सकेत करके दिखा दिया, देखो यह विराजा है अतस्तत्त्व तो अब उस प्रभुसे मिलाप करनेके समय मनकी गति न रहेगी, मन वहासे लौट आयेगा, शान्त हो जायेगा, विश्राम पायेगा। अब यह उपयोग इस अन्तस्तत्त्व कारणपरमात्मप्रभुसे एकाकी एकरस होकर मिल रहा है, इसीको कहते हैं आत्मानुभव, ज्ञानानुभव। यह अनुभव मन, वचन, कायसे परे है, इस अनुभवमें आत्माको जोड़नेका नाम है परमयोगभक्ति। जो आत्मा इस उपयोगको, आत्माको आत्माके साथ निरन्तर जोड़ता है वह योगीश्वर निश्चयसे परमयोगभक्ति वाला है।

सम्यक्त्वकी उपासनाका चिन्तन—अपनेको इस उपदेशसे यह प्रयोजन निकालना चाहिए कि हम जहां बस रहे हैं, रात-दिन जिसमें पडे रहते हैं, उनमें बसनेमे, उनमें रमनेमे, उनकी बात सुनकर हर्ष मौज मानना और वहा ही चैन समझना, यह बहुत बड़ी लम्बी भूल है। हम आप इस समय सघन बनमे भटक रहे हैं, शातिका मार्ग नहीं पा रहे हैं। यत्न न कर सकते बने न करें, कैसे कर लेंगे? अभी शक्ति प्रकट नहीं हुई है, पर यथार्थ ज्ञान करनेमें तो कोई बाधा नहीं है, वह तो ज्ञानकी बात है, जान जायें कि यहां सत्य तत्त्व क्या है? कितने ही काम यहा पर कर लें, पर एक यथार्थ ज्ञान न बनाया तो शान्तिका मार्ग नहीं मिल सकता है। कुन्दकुन्दाचार्यस्वामीने दर्शन पाहुडमें कहा है कि जो योगी चारित्रसे भ्रष्ट हो जाय वह भ्रष्ट तो है, पर भ्रष्ट नहीं कहा जाता एक वास्तविक भ्रष्टताको ध्यानमें रखकर, किन्तु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हो जाय, श्रद्धा ही जिसकी भ्रष्ट हो जाय उसको भ्रष्ट कहा है। हालांकि चारित्रसे भ्रष्ट हुआ भी भ्रष्ट कहा जाता है, पर सन्मार्गके परिचयसे भ्रष्ट नहीं कहा जाता है। सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो जाय, श्रद्धा ही न रहे तो उसे भ्रष्ट कहा है और वह संसारमें अपना जन्ममरण करता रहेगा।

सम्यग्ज्ञानका आदर—यथार्थ ज्ञानका बहुत आदर करो। इतनी हिम्मत बनावो कि इस ज्ञानप्राप्ति के लिए कहीं जाना पडे, हजार पाच सौ का खर्च भी हो तो उसके करनेका उत्साह रक्खो। नुकसान पड़ जाय तो कुछ हर्ज नहीं, सत्संगमें रहकर कुछ आर्थिक नुकसान हो जाय तो उसे भी लाभकी बात समझो। केवल जिनमें मोह ही बस रहा है उनके ही खातिर सब कुछ आपका तन, मन, धन, वचन लग रहा हो, यह क्या ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व प्रभुके लायक बात है? इन विनाशिक पदार्थोंसे अविनाशी वस्तुका लाभ बन सके तो इसके करनेमें बुद्धिमानी है। परवाह मत करो। इस सब ठाठबाटोंको पुण्यके उदयपर छोड दो। लक्ष्मीकी अटकी हो तो आये, पर मेरी नहीं अटकी है कि मैं उस लक्ष्मीका जाप करूँ कि मुझे इतना धन मिल जाय। मुझे तो जितना उदयमें है उतना मिलेगा, उतनेमें ही अपनी व्यवस्था बनाकर अपना गुजारा करूँगा, मेरी उस लक्ष्मीके बिना कुछ अटकी नहीं है।

धर्मसाधनाका सकल्प—भैया कितने दिनोका यह खेल तमाशा है, जिसके पीछे इतना हताश होकर

दौड़ा जाय। कुछ तत्त्व नहीं है और दौड़नेसे कुछ सिद्धि भी नहीं है, जो होनेको है सो होगा। ये सासारिक सुख-दुःख सब पुण्य पाप कर्मोंके उदयानुसार हैं। इसका यह पुरुषार्थ तो मोक्षमार्गमें काम देगा। यह ज्ञान ज्ञानका ज्ञान करना चाहे तो क्यों न होगा ? यह ज्ञान रागद्वेषसे रहित होकर शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहे तो क्यों न रह सकेगा ? अपना बल, अपना पुरुषार्थ हो तो अपने आपके हित पंथ पर चल सकता है, पर जड़ सम्पदाके सचय पर नहीं चल सकता है। जो परिस्थिति आए उसमें ही गुजारा रखनेका परिणाम रक्खो और धर्मसाधनामें कभी कमी मत करो तो इस चर्यासे आगे बढकर कभी इस अध्यात्मयोगको भी प्राप्त कर लोगे।

सव्ववियप्पाभावे अप्पाण जो हु जुजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो॥ १३८॥

निर्विकल्प आत्मयोगमे योगभक्ति—सर्वविकल्पोंका अभाव होने पर जो आत्माको आत्मामें लगाता है अर्थात् जो साधु अपने उपयोगको उपयोगके स्रोतभूत ज्ञानस्वभावमें जोड़ता है और विकल्पोंसे विविक्त होता है वही पुरुष परम योगभक्ति वाला है, अन्य अपने आत्मस्वरूपसे विमुख होने वाले किसी भी प्राणीके यह योग किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है। इस गाथामें भी निश्चय योगभक्तिका वर्णन किया है। विकल्पोंका अभाव समाधिभाव द्वारा होता है, समाधिभाव आत्माके सहजस्वरूपके दर्शनमें होता है, आत्माके सहजस्वरूपका दर्शन तब हो जब इसका परिचय हो। इसका परिचय भेदविज्ञानसे ही हो सकता है। यह मैं आत्मा उपरागरहित हू, ऐसा अतरङ्गमें शुद्धस्वभावका परिचय मिले तो उसका दर्शन भी होगा।

शुद्धस्वभावका परिचय—जैसे एक दर्पण है, जिसके सामने लाल-पीली चीजका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, वह लाल-पीली वस्तु भी जो सामने है वह बहुत लम्बी चौड़ी है, इस कारण वह दर्पण भी सारा लाल-पीला हो रहा है, तिस पर भी समझदार आदमी जानते हैं कि लाल-पीला होना इस दर्पणका स्वभाव नहीं है, लाल पीला हो तो रहा है, परन्तु दर्पणमे स्वभाव लाल-पीलेपनका नहीं है, दर्पणमें स्वच्छताका स्वभाव है। यदि स्वच्छताका स्वभाव न हो तो यह लाल-पीला प्रतिबिम्ब भी न आ सकता था। भींतमें स्वच्छताका स्वभाव नहीं है तो यह प्रतिबिम्ब भी नहीं पड़ता। प्रतिबिम्बसे रंगे हुए दर्पणमें भी प्रतिबिम्बको लक्ष्यसे हटाकर दर्पणकी स्वच्छताका जैसे आप भान कर लेते हैं ऐसे ही इस आत्मामें कर्मोंके उदयवश जो रागद्वेषका रंग चढ़ रहा है, रागद्वेष प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। ज्ञानी पुरुष उस रंगीले प्रतिबिम्बको लक्ष्य में न लेकर यह जान लेते हैं कि आत्माका स्वभाव रागद्वेष भावका नहीं है। इसका स्वभाव तो ज्ञानात्मक स्वच्छताका है, जिसमें ज्ञानात्मक स्वच्छता नहीं होती है उसमें रागद्वेष, सुख-दुःख आदिक भी नहीं प्रकट हो सकते हैं। पुद्गलमें, जड़में ज्ञानात्मक स्वच्छता नहीं है तो इसमें कभी सुख-दुःख हो सकते हैं क्या ? ज्ञानी पुरुष रागादिक विकल्पोंको लक्ष्यमें न लेकर मूलभूत ज्ञानात्मक स्वच्छ भावको परखते हैं।

मायाव्यासगमें योगका अभाव—वह आत्मतत्त्व निजरवरूप सत्तामात्र है, चिद्विलासमय है, मात्र प्रतिभास है, वही मेरा स्वरूप है, यही मेरा सर्वस्व धन है, यही समृद्धि है, यही सब कुछ है। इसके अतिरिक्त जितने जो कुछ परिकर हैं वे सब मायारूप हैं। जो जीव इस स्वरूपको भूलकर इन मायामय स्कंधोंमें अपनेको लगाते हैं अर्थात् रागद्वेष करते हैं उनके योग कहाँ सम्भव है ? परमसमाधि द्वारा जब मोह रागद्वेषादिक नाना विकल्पोंका अभाव हो जाता है तो उस समय यह भव्य जीव इस उपयोगको इस कारणसमयसारमें जोड़ता है। वही वास्तवमें निश्चययोगभक्ति है। यह निष्पक्षधर्मका स्वरूप कहा जा रहा है, जिसमें किसी प्रकारका हठ नहीं, पक्ष नहीं, केवल एक सत्यका आग्रह है।

गुलामी और उससे मुक्त होनेके दो उपाय—किसी विपदामें उलझ जाने पर सुलझनेके लिये सभ्यताके

दो उपाय होते हैं—एक तो सत्याग्रह और दूसरा असहयोग। कभी कोई अपने पर अन्याय हो रहा हो और उस अन्यायका हम किसी प्रकार निराकरण करना चाहें तो इसके दो ही उपाय बढ़िया हैं—सत्याग्रह करना और असहयोग करना। हम भावकर्म और द्रव्यकर्मके बंधनसे जकड़े हुए हैं। भला बतलावो तो सही कि चिदानन्दस्वभाववान् होकर भी यह अमूर्त ज्ञानप्रकाश एक देहमें जकड़ा है और सुख-दुःख आदिक अनेक विकल्पोंमें बस रहा है, यह क्या कम विपत्ति है? लोग मनके अनुकूल-प्रतिकूल कुछ बात न होने पर वेदना अनुभव करते हैं तो क्या यह बड़ी विपदा है? अरे बड़ी विपदा तो यह है कि जो द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरमें बंधे पडे हुए हैं, ऐसे इस बंधनबद्ध गुलाम जीवका क्या कर्तव्य है कि गुलामीसे मुक्त होकर आजाद बन जाय, बस दो ही उपाय हैं—सत्याग्रह और असहयोग। जो सत्य तत्त्व है, जिस सत्य पर इसने अपना लक्ष्य बनाया है उस सत्यका तो जबरदस्त हमारा आग्रह हो। ये कर्म सरकार थोडे-थोड़े विषयभोगोंका प्रलोभन देकर हमें बहलाना चाहें तो हम न बहलेंगे, हमें तो सत्य का आग्रह है।

सत्याग्रहका संकल्प—जैसे जो चतुर सरकार होती है, वह किसी देशको गुलाम बनाये तो उन देशवासियोंमें जो कुछ भड़कने वाले लोग होते हैं उन्हें पद, अधिकार, सम्मान देकर उन्हें वश किये रहा करते हैं, उन्हें उभरने नहीं देते, ऐसे ही ये कर्म इस गुलाम जीवको जो कि कुछ थोड़ा बहुत समझदार बन जाता है उसे कुछ अधिक विषयभोगोंके साधन देकर और कुछ सम्पदाका प्रलोभन देकर इसे बहला देते हैं और यह जीव बहल जाता है, सो संसारमें रुलता रहता है, गुलामीसे मुक्त होनेकी फिर यह आवाज नहीं उठाता है तो प्रथम तो हमें सत्यका आग्रह करना चाहिए। उस सत्यके आग्रहके मुकाबलेमें कोई कितना भी प्रलोभन दे उसमें न भूलना, किन्तु एक सहज ज्ञानानन्दस्वरूप जो आत्माका शुद्ध तत्त्व है उसका ही आग्रह करना, गुलामीसे मुक्त होनेका प्रथम उपाय तो यह है।

असहयोगका प्रभाव—गुलामीसे मुक्तिका दूसरा उपाय है असहयोगका। जो भार मुझ पर लादा जा रहा है विषयकषायोंके परिणामका, इनका सहयोग न करें, यही असहयोग है। जो जीव तत्काल भले लगने वाले और अपनी समझके अनुसार यही एक मनोरम स्थान है, ऐसी एक सुन्दरता सजावट बताने वाले इन विषयकषायके परिणामोंको जो अपना लेते हैं वे पुरुष गुलामीसे मुक्त नहीं हो सकते। जैसे भारत-स्वातन्त्र्य-आन्दोलनमें भारतियोंने बहुत सुन्दर सुसज्जित, महीन, विलायती कपड़ोंका खरीदना बंद कर दिया था। किसी व्यवस्थामें, किसी कार्यमें सहयोग न देंगे, ऐसे ही यह ज्ञानी पुरुष इन विषयकषायोंके परिणामोंमें सहयोग नहीं देता है, वह उन्हें बोझ समझता है, अन्याय जानता है। यह सब मुझ चैतन्यस्वरूप परमात्मतत्त्व पर अन्याय हो रहा है, इन्हें मैं क्यों अपनाऊँ? यह मेरा भाव नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकारका इन परभावोंके साथ असहयोग किया जाय तो इन दो उपायोंसे यह आत्मा असत्य परतन्त्रता बन्धनको त्यागकर अपने सत्य, स्वतन्त्र और निर्ग्रन्थ अवस्थाको प्राप्त हो जायेगा।

भक्तिमें दासोऽहंका प्रथम रूप—जो योगी पुरुष सर्व प्रकारसे अन्तर्मुख जो निज कारणसमयसार-स्वरूप आत्मतत्त्व है उसको अपने उपयोगसे जोड़ता है समाधिके द्वारा, उस ही के यह निश्चय योगभक्ति होती है, अन्य पुरुषोंके नहीं। भक्तिकी उत्कृष्ट रूपता वहाँ होती है जहाँ भेदभाव भी नहीं रहता है। जहाँ भेदभाव बन रहा है वहाँ परमभक्ति नहीं है, किन्तु दासता है। भक्त पुरुष सर्वप्रथम अपनेको दासोहका अनुभव करते हैं। प्रभु मैं तेरा दास हू और प्रभुका दास बनकर, सेवक बनकर प्रभुस्वरूपकी उपासना करते हैं, वे प्रभुस्वरूप पर आसक्त, अनुरक्त, मोहित होते है, अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं।

भक्तिमें सोऽहं व अहंके अनुभवका विकास—दासोहकी निश्छल लगन होने पर यह भक्त परमात्माके और निकट पहुच जाता है। जब और निकट पहुचा तो दासोहका दा खत्म हो जाता है, अब सोहं रह

जाता है। जो वह है, सो मैं हू। देखो सोहकी कैसी प्राकृतिकता है कि हम आप सभी मनुष्य श्वास-श्वास में सोह बोलते रहते है और अनुभव नहीं करते। जब श्वास भीतरको खींचते हैं तो सो की ध्वनि निकलती है और जब श्वासको बाहर निकालते है तो ह की ध्वनि निकलती है। जब यह सोहं-सोहक भावपूर्वक ध्यानके प्रसादसे प्रभुके उस शुद्ध ज्ञानपु ज स्वरूपको निरखकर और अपने आपके इस ज्ञायकस्वरूपको देखकर जब और अति निकट पहुचता है तब साका भी अभाव हो जाता है, केवल अहंका अनुभव रहता है। परमभक्ति यहाँ पूर्ण हुई जहाँ केवल अहका अनुभव रह गया। दःसोहमे दासता थी, सोहंमें अनुराग था, मित्रता थी और अहमे परमभक्ति हुई है। जो पुरुप अपने आपक स्वरूपमें अभेदभासना पूर्वक अपनेको जोड़ लेता है उस पुरुपके योगभक्ति होती है।

हितपूर्ण आन्तरिक निर्णय और साहस--भैया ! एक बार तो अतरंगसे यह निर्णय कर लो कि नाक, थूक, मल-मूत्र, हाड़-मासके लोथड वाले इन परिजनोंसे आत्माका हित नहीं होता है। यह जड़ सम्पदा, धन, सोना, चादी जो प्रकट अचेतन हैं, इन अचेतन पदार्थोंसे आत्माका हित नहीं होता है, यह बात पूरे पतेकी कही जा रही है। इसमें जब तक लुभाए रहेंगे तब तक ससारका रुलना ही बना रहेगा। एक बार आत्मतत्त्वकी झलक तो लाओ, जैसा यह आनन्दरससे भरपूर आत्मा स्वय है, वैसा यथार्थ अनुभव करें, वहाँ योगभक्ति बनेगी। यह योगभक्ति साधु-सन्तोंके बन पाती है। कारण यह है कि उनके वैराग्य भावके कारण सर्व प्रकारका सग छूटा हुआ है और केवल ज्ञान, ध्यान, तपका ही वातावरण है, उनका उपयोग इस परमशरण अतस्तत्त्वमें स्थिर रह सके, इसका अवकाश है और गृहस्थजनोंके चूँकि सभी विडम्बनाएँ साथ लगी हुई हैं इस कारण चित्त स्थिर नहीं रह सकता, लेकिन कितने भी समागम साथ जुटे हुए हों जिनको ज्ञानबलसे इस विविक्त ज्ञानस्वरूपका पता लग गया है वह तो किसी भी क्षण बड़ी विपदा और विडम्बनाके वातावरणमें भी जरा दृष्टि फेरी, भीतरको दृष्टि दी कि आकुलताओंको नष्ट कर डालता है।

आत्ममहत्त्वका स्वीकार--इस अभेद ज्ञानस्वरूप सहज अतस्तत्त्वका परिचय होने पर ही समझिये कि हमने सर्वस्व पाया है। यह सब जो कुछ पाया है मेरे क्लेशका कारण है, इससे अपना बड़प्पन न कूतें, किन्तु मैं अपने आपमें कितना रम सकता हूं उससे अपना बड़प्पन कूतें। जितने भी आनन्द हैं वे सब आनन्द इस आनन्दमय आत्मासे निकल कर परिणत होकर अनुभवमे आया करते हैं। क्या किसी बाह्य पदार्थसे आनन्द निकल कर आत्मामें आता है? अरे जो आनन्दस्वरूप है वही आनन्दरूप परिणत हो सकता है। अपने ज्ञानानन्दस्वरूपका विश्वास रखो और इसी समय ही यह स्वीकार कर लो कि मेरे को जगतमें एक भी कष्ट नहीं है।

वस्तुतः क्लेशका अभाव—देखो भैया ! ससारमें जिन पदार्थोंका समागम हुआ है क्या इनका कभी वियोग न होगा ? होगा वियोग। वियोग होने पर क्या उसकी सत्ता मिट जायेगी ? न मिटेगी। जब तक संयोग था तब तक भी न्यारे-न्यारे वे समस्त समागम हैं। क्या कोई आत्म में प्रवेश किए हुए है ? यह आत्मा तो समागमके कालमें भी केवल अपने स्वरूपमात्र था, है, रहेगा। कहाँ सकट है ? कल्पना से मान लिया कि मेरा अमुक इष्ट मिट गया। अरे जगतमे कोई पदार्थ मेरा इष्ट अनिष्ट भी है क्या ? सभी जीव अपने-अपने आशयके अनुसार अपनेमें आनन्द पानेका प्रयत्न कर रहे हैं, हमारा कोई विरोध नहीं कर रहा है। जगतमे जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपनी बुद्धिके अनुसार अपने आपको सुखी होनेका काम कर रहे हैं। मन, वचन, कायकी चेष्टा अपने सुखके अर्थ कर रहे हैं। जैसे वे अपने सुखके अर्थ अपने भाव बना रहे हैं, मैं भी अपने सुखके अर्थ अपने भाव बना रहा हू। अज्ञानवश किसी भी परतत्त्वको अपने सुखका बाधक मानकर किसीको विरोधी मान लूँ तो अब अनिष्ट समागमका क्लेश होने लगा,

यह क्यों मेरे सामने है, यह क्यों नहीं हट जाता ? अरे ! जगतमें अन्य कोई पदार्थ अनिष्ट है ही नहीं, फिर क्लेश क्या है ? हम रागद्वेषवश इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करते हैं तो क्लेश होता है अन्यथा वहाँ क्लेश का कोई काम ही नहीं है।

आत्माके यथार्थ अनुभवका कर्तव्य—एक बार तो ऐसा अनुभव कर लो कि मैं ज्ञानघन, आनन्दमय, क्लेशोंसे रहित, पवित्र, स्वच्छ ज्ञानपुंज हू, मेरेमें किसी परतत्त्वका लगाव नहीं है, ऐसा किसी क्षण अनुभव तो कर लो। यह अनुभव ही संसारके समस्त संकटोंको दूर कर सकेगा, अन्य सब ख्याल केवल विडम्बना हैं और विपत्ति हैं, ये योगीश्वर सत पुरुष ऐसी उत्कृष्ट सर्वश्रेष्ठ योग भक्ति करते हैं। जिसके जिसके द्वारा इन योगियोंको आत्माकी उपलब्धि होती है, यही मुक्ति है। मेरी सही-सही आत्मा नजर आ जाय और जैसा यथार्थ सहज है वैसा ही रह जाय, इस ही का नाम मोक्ष है। अब ऐसा बननेके प्रयत्नमें क्या-क्या करना होता है, उसे ही को रत्नत्रय कहते हैं। ऐसी परमभक्तिकी हम आपकी उपासना हो और विश्वास रख लो कि मेरा जगतमे परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है, अपने आपको प्राप्त कर लो तो इससे आत्मा सर्वसंकटोंसे मुक्त हो जायेगा। यही कर्तव्य हम आप सबके मनुष्य-जन्मकी सफलताका कारण है।

विवरीयाभिणिवेश परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो॥ १३६॥

सुतत्त्वयोगमें योगभक्ति—जो ज्ञानी पुरुष विपरीत अभिप्रायको त्याग करके जैनके द्वारा कहे गए तत्त्वो में अपनेको लगाता है, ऐसा जो उसका निज भाव है उसका नाम योग है। यहाँ जैनसे मतलब है रागद्वेष जीतने वाले जिन अर्थात् प्रभुके भक्त। वे होते हैं गणेश, महावीर स्वामीके समयमे गौतम गणेश उनके मुख्य उपासक थे। प्रत्येक तीर्थंकरके समयमे गणेश होते हैं, जो अपने गणके ईश अर्थात् नायक होते हैं उनका नाम गणेश है। उनका दूसरा नाम गणधर भी है। ये गणधरदेव समस्त गुणोंके धारण करने वाले गणके भी नायक हैं। ऐसे जैन मुनियोंके द्वारा कहे गए तत्त्वमें विपरीत अभिप्राय न रखना, विपरीत आशयरहित जो आत्माका परिणाम होता है उसे निश्चयपरमयोग कहा है।

सप्ततत्त्वोमे मूल तत्त्व—मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्व ७ होते हैं। संसारके संकटोंका नाश करनेमें समर्थ ७ तत्त्वोका यथार्थ परिज्ञान है। इस प्रकरणको ध्यानसे सुनो। यह संकटहारी उपायोंका कथन है। हम आप आत्मासे सम्बंधित मूलमे दो तत्त्व हैं एक तत्त्व तो स्वय है और एक तत्त्व उपाधिका है, जो हेय है अर्थात् जीव और अजीवका यह सारा झमेला है। न केवल जीवमें झमेला होता है और न केवल अजीव मे झमेला होता है, किन्तु जीव और अजीव जब मिलकर अपने अपने स्वभावको त्यागकर दोनों बिगड़ जाते है तब यह झमेला बनता है। मूलमें दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव।

पञ्चपर्यायतत्त्वोंके निरूपणका आधार—इस प्रकरणमे जीवका अर्थ तो चेतन सहित है और इस समय सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टि न रखकर सोचो, क्योंकि इस जीवमें ५ पर्यायोंका वर्णन किया जायेगा और दूसरा तत्त्व बनाया है अजीव। अजीवमें यद्यपि धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये ५ पदार्थ आते हैं, पर उन पांचोंमें से केवल पुद्गलको लेना और पुद्गलमें भी कार्माणवर्गणाको लेना। धन, वस्तु, सम्पदा, सोना, चादी, मकान इनका ग्रहण न करना, किन्तु कर्मोंको लेना। जीव मायने यहाँ जीव और अजीव मायने कर्म। जीव और कर्मका जो सम्बंध है उस सम्बंधके संयोग अथवा वियोगरूप निमित्तको लेकर शेष ५ तत्त्व बनते हैं—आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष।

आस्रव और बन्ध—जीवमे अजीवका आना, सो आस्रव है। आनेका नाम आस्रव, आस्रवण है आनेके अर्थमें अनेक शब्द हैं, आ गये, सरक आये, धमक आये, बोलते जाइए, आखिर आनेके ही तो ये

शब्द हैं और सब शब्दोंके जुदे-जुदे अर्थ हैं। आ गये, इसका अर्थ है कि सभ्यता जैसी चालसे जैसे आना होता है उस तरह आ गये। सरक आये, मायने इष्ट तो न था, पर धीरे-धीरे आखिर जान पर आ ही पड़ा। धमक आया, इष्ट भी न था और बड़े वेगसे यह बढ़ पड़ा। आनेके शब्द कितने ही हैं, आनेके शब्दमें यहाँ आस्रव दिया है। कर्मोंका आस्रवण होना, सो आस्रव है। इस आस्रवणका अर्थ है धीरे-धीरे निरन्तर सिलसते हुए आना, जैसे किसी पहाड़मे छोटा झरना झरता है तो निरन्तर अपनी धारमें आता रहता है, निरन्तर बहकर आनेका नाम है आस्रवण। ये कर्म आत्मामें आत्माके ही स्थानमें वहींके वहीं चू कर, बहकर, रिसकर कर्मरूप पर्यायमें आते हैं। जीवमें कर्मोंका आना, सो आस्रव है और आये हुए कर्मोंका बहुत काल तकके लिए आत्मामें ठहर जाना, इसका नाम बंध है।

सम्वर, निर्जरा व मोक्ष—कर्मरूप होनेके योग्य कार्माणवर्गणाएँ तो अनेक बैठी हैं पहिलेसे ही, वहाँ कर्मरूप न हो सके, ऐसे आत्मनियन्त्रणका नाम है सम्वर। अब कर्म रुक गये, कर्मरूप न हो सके, संवरके अर्थमें कुछ लोग यों कहते हैं कि कर्मोंका आना रुक जाना, सो संवर है और कोई यह कहते हैं कि आते हुए कर्मोंका रुक जाना, सो संवर है। सुननेमें दोनों एकसी बातें लग रही होंगी, पर इनमें बड़ा अन्तर है। अरे आते हुए कर्मोंको रोक कौन सकता है, इसलिए यह ठीक नहीं है। कर्मोंका आना रुक जाना अर्थात् आना न हो सके, इसका नाम संवर है और बंध हुए कर्मोंका झड़ जाना, इसका नाम निर्जरा है और जब समस्त कर्म जीवसे अलग हो जायें, झड़ जायें तो मूलतः इसका नाम मोक्ष है। यह है सात तत्त्वोंकी एक स्थूल परिभाषा।

व्यवहार व निश्चयके प्रतिपादनकी पद्धति—अब इस प्रसंगको निश्चयनयके रूपसे देखिये। यह हुई है व्यवहारनयकी परिभाषा। व्यवहारनय कहते हैं उसे, जहाँ दो चीजोंका सम्बंध बनाकर, नाम लेकर उसकी बात कही जाय, इसका काम है व्यवहार। इन ५ प्रकारोंमें से कहीं तो जीव और अजीवका सम्बंध बताया, कहीं वियोग बताया और कहीं विविक्तता बतायी। तो यह व्यवहारनयका प्रतिपादन है। निश्चयनयके प्रतिपादनमें एक पद्धति होती है, वह यह कि जिसकी बात कहना, उसमें ही बात कहना, उसकी ही कहना, एकमें दूसरी बात न मिलाये, दूसरेका नाम लेकर न कहना, एकमें कुछ ही कहना, वह है निश्चय प्रतिपादन।

व्यवहारिक पद्धतिका एक दृष्टान्त—जैसे गायको गिरवाँसे बाँध दिया है तो लोग तो यह कहते हैं कि गाय गिरवासे बँधी है। जैसे सुतलीका एक छोर रस्सीके छोरसे बाँध दिया जाय, इस तरहसे गायके गलेको गिरवासे बाँधा है क्या? अरे ऐसे कोई बाँधने लगे तो गाय मर जायेगी। गायका गला गिरवासे नहीं बँधा है, गायका गला पूराका पूरा वैसा ही है, गिरवाका एक छोर गिरवाके ही दूसरे छोरसे बंधा है, वहाँ यथार्थ तो यह है कि गिरवांने गिरवाको बाँधा है और उस स्थितिमें यह मरखनी गाय परतन्त्र हो गयी है, ऐसे ही कर्मोंमें कर्म आते हैं, कर्मोंमें कर्म बँधते हैं और उस स्थितिमें यह मलिन जीव परतन्त्र हो जाता है।

अजीवविषयक पञ्चतत्त्व—अब यों निरखिये कि कर्मोंमें, कार्माणवर्गणाओंमें कर्मत्व आना, इसका नाम अजीव है और उन कर्मोंमें स्थिति भी पड़ जाना कि ये कर्म इतने समय तक अमुक प्रकृतिरूप रहेंगे, इसका नाम है अजीवबंध। कार्माणवर्गणामें कर्मत्वरूप न होने देना, न आना, इसका नाम है अजीव-संवर और उन कार्माणवर्गणाओंमें कर्मत्वका झड़ जाना, इसका नाम है अजीव निर्जरा और वे कर्म, कर्मरूप न रहे, अपने मूलस्वरूपमें पहुंच गये, इसका नाम है अजीवमोक्ष। निश्चयके प्रतिपादनमें ये अजीवके ५ परिणमन हैं।

जीवविषयक पञ्चतत्त्व—अब जीवके ५ परिणमन देखिये—जीव मूलमें है ज्ञायकस्वरूप, ज्ञानान्द-

स्वभावमात्र, अविकारी, अविकार स्वभाव वाले जीवमें रागादिक विभावोंका आना, सो है जीवास्रव और रागादिक विभावोंका कुछ भी संस्कार बनाना, यह है जीव बंध। रागादि विभावोंका न होने देना, सो है जीवसंवर। रागादिक विभावोंका झडने लगना, सो है जीवनिर्जरा और रागादिक भाव फलतः अलग हो जाये, फिर कभी भविष्यमें रागादिकका अंशमात्र भी आ ही न सके, इसका नाम है जीवमोक्ष। ये हैं निश्चयनयकी दृष्टिसे ५ तत्त्वोंकी व्यवस्थाएँ। अब ये १० पर्यायरूप तत्त्व हो गये—अजीव आस्रव, अजीवबन्ध, अजीवसंवर, अजीवनिर्जरा, अजीवमोक्ष, जीवास्रव, जीवबन्ध, जीवसंवर, जीवनिर्जरा, जीवमोक्ष।

ज्ञानविलाससे पञ्चतत्त्व —अब इस निश्चयनयमें भी केवल निजस्वरूप और निजस्वरूपके विलासमें इन ५ तत्त्वोंको देखो तो वहाँ एक समृद्धिवर्द्धक एक रचना मालूम पडेगी। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, सहज निज ज्ञानाकाररूप है, सहज ज्ञानस्वभावमय है। यह ज्ञायकस्वरूप आत्मा अपने आपमें परवस्तुवोंके जाननेका परिणमन करता है, इसमें अन्य पदार्थ ज्ञेयरूप प्रतिभास होते हैं। इस ज्ञानमें परज्ञेय आता है। जो शाश्वत है वह तो होता है आधार और जो आए जाए उसको कहते हैं आना-जाना, अध्रुव चीज। इस ध्रुव ज्ञानमें यह अध्रुव ज्ञेय आता है। ध्रुवमें अध्रुवका आना, सो आस्रव है। यह अन्तःनिश्चयकी बात कही जा रही है। इस ज्ञानमें इन ज्ञेयोंका रह जाना अर्थात् उनका बने रहना, सो है बन्ध। ज्ञानमें ज्ञेयका न आना, किन्तु ज्ञान केवल ज्ञानस्वरूपको ही ग्रहण करके ज्ञान-ज्ञानमें एकरस रहा करे, इसका नाम है संवर और उन ज्ञेयाकारोंका छोडना निर्जरा और चिरकाल तक ज्ञान ज्ञानाकार रूप ही बना करे, उनकी ओर न झुके, इसका नाम है मोक्ष। भैया कई प्रकारोंसे इन जीवादिक ७ तत्त्वोंका परिज्ञान करना और उनके स्वरूपमें विपरीत आशयको त्याग देना इसका नाम है योग और आत्मकल्याणकी साधना।

व्यामोहमें विडम्बना—जगतके प्राणी अपने आपके यथार्थस्वरूपको न पहिचानकर पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, सम्पदा इनमें आत्मीयताका अभिप्राय करते हैं, यह तो प्रकट विपरीत आशय है, मिथ्यात्व है। कितने ही पुरुष तो धन, सम्पदासे ऐसा तीव्र मोह रखते हैं कि न वे अपने लिए भी आरामसे खा पी सकते हैं और न किसी परके उपकारमें भी कुछ दे सकते हैं। अन्तमें उनकी स्थिति ऐसी बुरी होती है कि मरण समयमें अत्यन्त सक्लेश होता है। जिस द्रव्यको न भोग सका, न दे सका यह साराका सारा समूचा द्रव्य अब मुझसे छूटा जा रहा है, ऐसी कल्पनामें उस समयका सक्लेश इसके बहुत कठिन होता है। एक कविने मजाकमें सबसे बड़ा दानी कजूसको बताया है। सबसे बड़ा दानी है वह कजूस पुरुष, जिसने कभी दान देनेका परिणाम तक भी नहीं किया, किसीको दे नहीं सका और न खुद खा सका। चना मटर खाकर गुजारा किया, ऐसा अपने इह लोक व परलोकके लिए तो कुछ नहीं करता और साराका सारा समूचा छोड़कर दूसरेको देकर चला जाता है, ऐसे कंजूसको बताया है कि वह महादानी है। अरे! जो अपने लिए तो कुछ नहीं करता है, समूचा दूसरोंको दे जाता है, ऐसा भी कोई आसक्त मोही पुरुष होता है? यह तो प्रकट मिथ्यात्व है, इसकी तो चर्चा ही क्या करें? किन्तु धर्मबुद्धि होने पर कुछ कल्याणकी बातमें भी चित्त दे और वहां सही रास्ता न मिलना, अयथार्थ बुद्धि वाले जो तीर्थनाथ हुए हैं, गुरु हुए हैं उनके द्वारा कहे गए जो विपरीत उपदेश हैं उनमें दुराग्रह होना, इसका नाम विपरीत अभिप्राय है जिसका निषेध इस गाथामें किया जा रहा है।

विपरीताशयवियुक्त निजभावमें योगभक्ति—विपरीत अभिप्रायको छोड़कर जैन कथित तत्त्वको निश्चय और व्यवहारनयसे जानना चाहिये। जो सकल जिन हैं, तीर्थंकर, अरहत परमात्मा हैं उन भगवान तीर्थंकर नाथके चरण-कमलकी सेवा करने वाले जो गणेश होते हैं उनका नाम है जिन। उन गणधरोंके द्वारा कहे गये समस्त जीवादिक तत्त्वोंमें जो योगीश्वर अपने आत्माको जोड़ता है उसके जो यह शुद्ध

निज भाव है उसे परमयोग कहते हैं। हे मुमुक्षु पुरुषों ! इस विपरीत अभिप्रायको त्यागकर परवस्तुमें, परपदार्थमें आत्मतत्त्वके माननेके दुर ग्रहको त्यागकर गणधर आदिक जिन-मुनिनाथोंके मुखारविन्दसे जो तत्त्व उपदेश प्रकट हुए हैं उनमें अपने उपयोगको लगावो। राग, द्वेष, मोहके विनाशके कारणभूत उस तत्त्वमर्ममें अपने उपयोगको एकाग्र करो, यह ही एक निज भावयोग कहलाता है। राग, द्वेष, मोहको त्याग कर शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावमात्र अपने आपको अनुभव करना, 'मैं तो यह हूं' ऐसी बुद्धि करना इसका नाम है योग। जो इस योगकी उपासना करता है वह कभी परमयोगी होकर अवश्य निर्वाणको प्राप्त करेगा।

उसहादिजिणवरिंदा एव काऊण जोगवरभत्ति।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्ति॥ १४०॥

भक्तिका उपसहार—भक्ति अधिकारका उपसहार करने वाली यह अतिम गाथा है। इसमे भक्तिका उपसहार अथवा उपन्यास किया गया है। उपसहार शब्दका अर्थ है—उप मायने समीप, स मायने भली प्रकार, हार मायने ग्रहण करे, अपने आपमें भक्तिको ग्रहण करना, सो भक्तिका उपसहार है और उपन्यासका भी अर्थ वही है, उप मायने अपने समीपमें, न्यास मायने रख लेना। यहाँ भक्तिके उपन्यासमें यह कहा जा रहा है कि जिनेन्द्र, ऋषभादिक जो निर्वाणके सुखको प्राप्त हुए हैं, वे इस परमयोगभक्तिको करके हुए हैं। इस कारण हे मुमुक्षु पुरुषों ! तुम सब भी इस उत्कृष्ट योगभक्तिको धारण करो।

कालविभाग—आजकल जो काल चल रहा है यह पचमकाल है, इससे पहिले चतुर्थ काल था, जिस समयमें मुक्तिका मार्ग खुला हुआ था। चतुर्थ कालसे थोडे ही पहिले भी मुक्ति होने लगी थी और चतुर्थ कालके उत्पन्न हुए चतुर्थकालमें कुछ बाद भी मुक्त हुए थे, पर वह समय चतुर्थकालसे ही सम्बन्धित है। उससे पहिले जघन्य भोगभूमि थी, जहा भोगसाधनोंके आराम थे और भोगसाधनोंके प्रेमकी वजहसे मोक्ष का मार्ग नहीं चल रहा था। उससे पहिले मध्यम भोगभूमि थी, वहा भोगोंके साधन इससे भी ज्यादा बढ़कर थे और उससे पहिले प्रथम काल था, वहा भोगोंके साधन और अधिक थे। कुछ लोग कालको ४ हिस्सोंमें बाटते हैं—सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग। इसका अर्थ भी इन्हीं ६ कालोंसे सम्बंध रखता है। वर्तमान, यह पचम काल है, इसके आगे छठा काल आयेगा। इसमें प्रथम कालको सतयुग माना, दूसरे कालका नाम द्वापर, तीसरे कालका नाम त्रेता और चतुर्थ कालका नाम कलयुग हो गया, क्योंकि कृषि, मसि आदिक कलावोंका चतुर्थ कालमें प्रादुर्भाव हुआ था और यह सिलसिला पचमकालमें भी है कुछ छठे काल तक भी चलेगा।

आदि देव—ऋषभ आदिक जिनेन्द्र इस चतुर्थ कालसे सम्बंधित थे, जिनमे ऋषभदेव तृतीय कालके अंतमें उत्पन्न हुए हैं और चतुर्थ काल प्रारम्भ होनेमें जब कुछ ही समय शेष रह गया था, तब उनका निर्वाण हुआ था। ऋषभदेवके समयसे जनतामे आजीविकाके साधनोंका और नाना प्रकारकी आजीविका के साधनाका प्रसार हुआ था। मोक्षका मार्ग भी उनसे ही प्रकट हुआ है। इस कारण ये ऋषभदेव सृष्टिकर्ताके रूपमें माने जाते हैं। वस्तुके सत्त्वकी सृष्टि नहीं की, किन्तु एक नया-सा जमाना बनाया। भोगयुक्त समयसे निकलकर एक धर्म ज्ञानप्रकाशका साधन बनाया तो इतनी बड़ी जबरदस्त जब पलटन होती है तो लोगोंकी दृष्टिमें एक नई सृष्टि बनी है, यह ख्याल आना प्राकृतिक है।

कैलाशपति आदिम महाशिव—ऋषभदेव चूंकि कैलाशपर्वतसे मोक्ष पधारे हैं, इसलिए उन्हें कोई कैलाशपति कहते हैं, ये ऋषभदेव इस कलियुगसे पहिले धर्मप्रकाशकी आदिमें उत्पन्न हुए हैं इसलिए कोई इन्हें आदमबाबा कहते हैं। जो आदिमें उत्पन्न हुआ उसे आदिम कहते हैं। शिवस्वरूप और शिवसुखको उत्पन्न उन्होंने किया इस कारण ये शिव कहलाते हैं और समस्त देवोंमें, समस्त जिनेन्द्रोंमें ये प्रथम हुए हैं अत ये महादेव कहलाते हैं। ऋषभदेवके समयसे समस्त जनसमूहकी भक्ति भावना प्रारम्भसे रही

आयी है। उनके विषयमें समयानुसार स्वरूपविकल्पना होती गई है जिससे अनेक रूपोंमें मान्यता हो गई है। जो शिवरात्रिके नामसे प्रसिद्ध है, वह ऋषभनिर्वाणकी प्रथम रात्रिकी माघ वदी १३का रूप है। गुजरातमें आजकल भी एक महीना पहिलेका नाम चलता, जो आपके यहाँ फागुन वदी १३ है वह उनकी है माह वदी १३ और आज भी उसे माह वदी १३ बोलते हैं। माह वदी १३ की रात्रि व्यतीत होनेके बाद ऋषभदेवको निर्वाण हुआ था। जो महाशिवस्वरूप ऋषभदेव निर्वाणको पधारे उनकी भक्तिमें लोगोंने रात्रि-जागरण और धर्मध्यान किया था। ऋषभदेवके समयमें कितनी बाते बतायी जायें? जो कुछ भी सनातन अर्थात् पूर्वरूप है वह ऋषभदेवको लक्ष्यमें लेकर होता है। धीरे-धीरे कोई किसी रूपमें मानने लगे, कोई कुछ स्वरूप मानने लगे।

योगभक्तिसे महापुरुषोंका निर्वाण—सकलजनपूजित ऋषभदेव आदि जो जिनेन्द्र हुए हैं और उनके तीर्थमें जो भी मुक्ति पधारे वे सब इस योगभक्तिको करके मुक्त हुए हैं। श्रीराम, हनुमान, इन्द्रजीत, नल, नील, सुग्रीव आदि जो भी महापुरुष मुक्तिको प्राप्त हुए हैं, उन्होंने इस परमयोगभक्तिको अन्तमें प्राप्त किया था। जैनसिद्धान्तमें श्रीरामका जो चरित्र बताया है—श्रीरामका अंतिमरूप क्या रहा और सीताका भी अन्तिमरूप क्या रहा, तहाँ तक वर्णन है। बीचमें नहीं छोड़ा गया है, कुछ बताकर बीचमें बंद कर दिया गया हो, ऐसा नहीं हुआ। श्रीराम बलभद्र थे इन्होंने उत्कृष्ट योगभक्ति करके निर्वाणको प्राप्त किया। यह इस भारतवर्षकी बात कही जा रही है, अन्य क्षेत्रोंमें भी अनेक महापुरुष मुक्ति पधारे। इस देशका नाम जो भारतवर्ष रक्खा है, उसका कारण इतिहासकारोंने बताया है कि ऋषभदेवके पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर इस देशका नाम भारतवर्ष रक्खा गया था और भरतक्षेत्र नाम यह अनादि नाम है और चूँकि इस भरतक्षेत्र पर भोगभूमिके महान अंधेरे समयके बाद प्रथम ही प्रथम पूर्ण भरतक्षेत्र पर विजय भरत चक्रवर्तीने किया था, इसलिए वे भारत नामसे प्रसिद्ध हुए। इस भारतवर्षमें पहिले ऋषभदेवको लेकर वर्द्धमान पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर परमदेव हुए हैं।

नाभेय ऋषभदेव—ऋषभदेवका नाम नाभेय है। कुछ बन्धु ऐसी कल्पना करते हैं कि भगवानकी नाभिसे कमल निकला और उस कमल पर ब्रह्मा पैदा हुए। यह ब्रह्मा ऋषभदेव हैं, क्योंकि मोक्षमार्गकी विधि ऋषभदेवने प्रवर्ताई है और भूली भटकी, विपदामें पड़ी हुई जनताको असी मसी कृषी, वाणिज्य, शिल्पी और सेवाके साधन बताकर एक नवीन प्रकाशकी सृष्टि की है। ये नाभि नामके राजाके पुत्र हैं इसलिये इनका नाम नाभेय है। ये नाभिसे उत्पन्न हुए हैं, नाभि तो पिता थे और मरुदेवी महारानीके कुक्षिसे ये पैदा हुए थे। वह पेटमें इस प्रकार विराजे रहे जैसे मानो कोई कमलके आसन पर बैठा हुआ हो। जैसे हम आप साधारण लोग गर्भके जेरमें लिपटे रहते हैं, महादुर्गन्धित, अपवित्र, घिनावने जेरमें हम आप लिपटे रहते हैं और उत्पन्न होते हैं तो जेर सहित उत्पन्न होते हैं किन्तु एक नाभिदेव ही क्या, समस्त तीर्थंकर निर्लेप उत्पन्न होते हैं, इनका जन्म भी शास्त्रोंमें पोतजन्म माना गया है। जैसे हिरण और सिंह पैदा होते ही निर्लेप निकलते हैं और निकलते ही दौड़ने, भागने लगते हैं, मानो इसी प्रकार ऐसे ये महापुरुष निर्लेप उत्पन्न होते हैं, इसलिए इनका आसन कमल कहा गया है। सभी तीर्थंकर कमलासन माने गये हैं अथवा समवशरणमें कमलके ऊपर अधर विराजमान् रहते हैं, इससे कमलासन कहे जाते हैं। ये सर्वज्ञ वीतराग जिनकी तीन लोकमें कीर्ति फैली हुई है, महादेवाधिदेव परमेश्वर ऐसे आत्म-सम्बन्धी परमयोगभक्तिको करके निर्वाणको प्राप्त होते हैं।

जैनेन्द्रमार्गके आश्रयका अनुरोध—हे मुमुक्षु जनों! तुम भी उसी मार्गका आश्रय लो, जिस मार्गसे ये महापुरुष चलकर परम आनन्दको प्राप्त हुए। कुछ लोग कभी यह शंका करने लगते हैं कि निर्वाणमें क्या सुख है? अकेले रह गये, न घर, न पैसा, न खाना, न पीना, न कोई बोलने-चालनेको, यहाँ कभी

कोई अकेला रह जाय तो दिन नहीं कटता और वे अकेले अनन्तकाल तक कैसे रहते होंगे ? क्या है सुख यहा ? लेकिन यह नहीं जाना कि जिन समागमोंसे हम सुख मानते हैं, सुखके साधन जानते हैं वे वास्तव मे सुखके साधन नहीं हैं, किन्तु आनन्दमें बाधा देने वाले हैं।

विषयोंकी आनन्दबाधकताका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—जैसे किसी नलका पानी बहुत तेजीसे निकलता हो और उसमे कोई हाथकी गद्दी अडा दे तिस पर भी थोडा बहुत पानीकी धार अगल-बगलसे निकले और कोई पुरुष यह मान ले कि इसने अपनी हथेलीसे पानी निकाला तो यह कितनी भूल-भरी बात है ? हथेलीने तो पानीमे बाधा डाली, निकाला नहीं। इसी तरह आत्माका सहज आनन्द अपने आप बडे वेग से निकलनेको निरन्तर तैयार रहता है, किन्तु उस आनन्दमे इन विषयभोगोंने एक गद्दी लगानेका जैसा काम किया। वहा आनन्दमे बाधा आयी तिस पर भी चूँकि यह आत्मा आनन्दमय है, सो किसी न किसी रूपमे यह आनन्द फूट निकलता है, जिसे लोग सासारिक सुख बोलते हैं। अब वे भ्रम करने लगे हैं कि इन विषयोंसे, विषय साधनोसे सुख मिलता है। सुख यहा नहीं है, सुख तो आत्माकी निराकुलतामे है। जहा निराकुलता हुई वहीं आत्माका हित है, वही वास्तविक आनन्द है। आकुलता उत्पन्न होती है किसी परद्रव्यके सम्बन्धसे। जहा अणुमात्र भी परद्रव्यका सम्बन्ध नहीं है, वहा आकुलताका क्या काम है ? पूर्ण निराकुल दशा निर्वाणकी होती है।

पुराण पुरुषोंकी शुभ स्मृति—शुद्धज्ञानानुभूतिजन्य परम-आनन्द अमृतरससे जो निरन्तर तृप्त रहते हैं, समस्त आत्मप्रदेशोंमें जो आनन्दमय रहते हैं उन्होंने इस योगभक्तिको किया था, जिस परमभक्ति का वर्णन इस अधिकारमे बहुत दिनोंसे चल रहा है। ज्ञानप्रकाश करके, परद्रव्योंकी उपेक्षा करके एक सहज स्वभावमे अपनी दृष्टि स्थित करना और परम विश्राम पाना, इसमें है यह उत्कृष्ट योगभक्ति। उस योगभक्तिके प्रसादसे ये योगी निर्वाणको प्राप्त होते हैं। कोई लडका कुछ गलत रास्ते पर चलने लगे तो लोग उसे समझाते हैं—देख तेरे बाबा-दादा कैसे बड़े कुलके थे, कितनी प्रतिष्ठा थी, कैसा सदाचार था, तुम उस कुलको नहीं निभाते ? जरा अपनी भी बात देखो—हम-आप विषयोमे, कषायोंमें और कितने ही लोक अन्यायोंमे मस्त रहते हैं, दुराचारकी प्रवृत्ति कर रहे हैं, अरे कुछ अपने पुराण पुरुषोंका ध्यान तो करें। तुम उस कुलके हो जिस कुलमें ऋषभनाथ, महावीर, श्रीराम, हनुमान आदि महापुरुष हुए हैं। उनके कुलकी परम्परामें हम, आप पैदा हुए हैं, अपने पुरुषोंका चरित्र तो निहारो, कैसी उनमे उदारता थी, कैसा धैर्य था, कैसी न्यायप्रियता थी ? वे परके उपकारके लिए अपना सर्वस्व लगानेमें उद्यत रहा करते थे, अन्तमें सरल सन्यास करके अपने परमब्रह्मको परमभक्ति की थी और सर्वसंकटोंसे मुक्त होकर परम आनन्द प्राप्त किया।

पुरखाका अर्थ—पुरुखाका अर्थ है पुरुष। पुराने समयमें ष को लोग ख बोलते थे। षट्पदको खट्पद बोलते थे। ये बहुतसे शब्द जिसमें मूर्धन्य ष आये उसे लोग ख बोला करते थे तो पुरुष शब्दका बहुवचन है पुरुखा, जो महापुरुष होते हैं उनको बहुवचन बोलनेकी पद्धति है, जैसे कोई साधु आ जाय तो लोग बोलते है कि महाराज आ गये, ऐसा कोई नहीं बोलता कि महाराज आ गया है। एक होने पर भी सम्मान भरे शब्दोंमें बहुवचनका प्रयोग किया जाता है। जो पुराण पुरुष हुए हैं उनका नाम बहुवचनसे लिया जाता है, बहुवचनमें बोला जाता है पुरुषा। और पुरानी बोलीमे बोला जाता है पुरखा। जो अपनी इस परम्परामें पहिले पुराण पुरुष हुए हैं उन्होंने क्या किया था, सो ही हमें करना चाहिये।

पुरखोका आदर्श ग्रहण—हम अपने पुरखोंकी सुध तो न लें और नये पुरखोंकी अटपट बातोंको देख कर उनकी हठ कर लें, हमारे दद्दाने तो ऐसा ही जीवन बिताया था, हम भी ऐसा ही जीवन बितायेंगे, कोई ज्यादा उन्नति न की हो। दो, तीन पीढियोंका उदाहरण लेकर अपनेको अवनतिमें ले जाय, इसके

इसके लिए तो उन पुरुषोंका उदाहरण लेते हैं और धन कमानेमें उदाहरण नहीं लेते हैं कि हमारे दद्दा-बब्बा ने ज्यादा धनकी कमायी न की थी, गरीबीसे जीवन बिताया था, वैसे ही गरीबीसे हम भी जीवन बितायें और कोई ओछी बात मिल जाय तो उसके लिए उन पुरुषोंका उदाहरण पेश करते हैं। जरा ध्यानसे तो सोचो, कुछ ऐसी भी बात हो सकती है कि दिखनेमें वह ओछी लगती हो, किन्तु उनका उद्देश्य लक्ष्य ऊँचा हो, उसका क्यों पता नहीं रखते? हमें अपने पुराण महापुरुषोंकी स्मृति करना चाहिये, आखिर हम उनके ही कुलमें उत्पन्न हुए हैं।

वास्तविक कुपूती और सुपूती--कुपूत नाम उसका है जो अपने कुलको डुबाये। व्यवहारमें हमारा कुल है मोक्षगामियोंका। जो व्रतधारी पुरुष थे, उनका कुछ भी अनुकरण न करें तो हम व्यवहारमें कुपूत हैं। निश्चयसे हमारा कुल है एक चैतन्यस्वरूप। कुल उसे कहते हैं जो चिरकाल तक अपनी सतान बनाये रहे। हमारी सतान शरीरोंके रूपमें नहीं चलती, आज मनुष्य हैं, गुजरकर कल हो जायें घोड़ा तो कहां रही वह सतान? आज मनुष्य हैं, पहिले न जाने पशु थे कि पक्षी थे कि मनुष्य थे, न जाने किस जाति के थे, किस कुलके थे? शरीरकी परम्परा हमारा कुल नहीं है। हमारा कुल तो चैतन्यस्वरूप है। हम इस चैतन्यस्वरूपको कभी भी न छोड़ें। अपना चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दमय जो पवित्र शुद्ध भाव है, शुद्ध कुल है उसकी रक्षा करे तो इसमें उत्पन्न हुए हम सपूत कहला सकते हैं। अगर भोगविषयोंमें ही उपयोग बना रहा तो हमने परमार्थसे कहाँ सुपूती की? सुपुत्र तो उसीका ही नाम है जो वंशको पवित्र करे। हमारा वंश है चैतन्यस्वरूप। हम इस चैतन्यस्वरूपका शुद्ध विकास करनेका यत्न करें तो हम वास्तवमें सपूत हैं। स्मरण करिये, प्रथमानुयोगके अध्ययन करनेसे यही बल तो मिलता है कि हमें इस चैतन्य कुलकी उन्नति की निरन्तर भावना करनी चाहिये।

परमभक्तिका प्रसाद पानेका उपदेश--इस अंतिम गाथामें यह उपदेश किया जा रहा है कि हमारे पुराण पुरुषोंने इस परमभक्तिको धारण करके निर्वाणके सुखको उत्पन्न किया है। हमारा भी यही कर्तव्य है कि भीतरमें श्रद्धासे अंतरंगमें इस ही निज ज्ञानप्रकाशको बनाएँ, मैं एतावन्मात्र हूं, मैं अन्यरूप नहीं हूं और मेरा तो स्वरूप ही मेरा है। घर, मकान, कुटुम्ब, परिवार कुछ भी मेरा नहीं है। इसकी ओर जितनी प्रीति उत्पन्न होती है वह सब इसके लिये कलंक है और दुर्गतियोंमें ले जानेका कारण है। हम कुछ ध्यान तो करें अपने शुद्धस्वरूपका और उस स्वरूपकी उपासना करके इस परमभक्तिका प्रसाद पायें।

परमभक्ति अधिकारकी समाप्तिका योग—आज यह परमभक्ति अधिकार समाप्त हो रहा है। समाप्त होनेका भाव मिट:जाना नहीं है। जैसे कि लोकव्यवहारमें लोग कहने लगते हैं कि यह तो समाप्त हो गया अर्थात् खत्म हो गया। समाप्तका अर्थ खत्म नहीं है, किन्तु समका अर्थ है भली प्रकारसे, आप्त मायने प्राप्त हो जाना, जो खूब अच्छी तरहसे पूरा मिल चुकना है, उसको समाप्त कहते हैं। इसी तरह सम्पूर्ण उसका नाम है जो पूरी तरहसे भरपूर हो गया। आज यह परमभक्ति भाव सम्पूर्ण हो रहा है अर्थात् भली प्रकारसे प्राप्त हो रहा है। अवसरकी बात है कि आज ही यह भक्ति अधिकार भी समाप्त हो रहा है और आज ही ऋषभदेवका निर्वाणदिवस भी आया है, इसमें जितने भी साधुवोंने निकटभूतकालमें मुक्ति पायी है उन सबका स्मरण किया है। इस चतुर्थ कालके आदिसे लेकर चतुर्थकालके अन्त तक ऋषभदेवसे लेकर २४ तीर्थंकर, अनेक चक्रवर्ती जिनमें भरत प्रसिद्ध हैं, अनेक बलभद्र जिनमें श्रीराम प्रसिद्ध हैं और अनेक महापुरुष निर्वाणको पधारे, उन सबने भी इसी परमभक्तिको प्राप्त किया था। आत्माका जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, जहा केवलज्ञान है, ऐसे उस स्वरूपको प्राप्त किया। धर्म तो यही है।

सम्बोधन—हे कल्याणार्थी जनो! धर्मके नाम पर भेद मत डालो, उससे कोई सिद्धि न होगी। धर्म तो आत्माका है, आत्माको करना है, आत्मामें मिलेगा, आत्माके द्वारा धर्म किया जायेगा और वह

आत्माके लिए ही होगा। तुम आत्मा हो, तुम्हें अपना भला चाहिए या नहीं? भला चाहिये तो इस आत्माके नाते आत्माका चमत्कार निरखो, इस ही में परमात्मतत्त्वका दर्शन है, इस ही में वह समस्त योग है जिससे अद्भुत आनन्द प्रकट होता है।

गुणगुरुवन्दन—जो गुणोंमें बड़ा है, तीन लोकमें जो भी पुण्य है उस समस्त पुण्यकी राशि है, ऐसे नाभेय आदिक जिनेश्वरोंको भक्तिपूर्वक हम वदन करते हैं। जिनेश्वर अथवा जिनेन्द्र भगवान, इसका अर्थ यह है कि जिस आत्माने रागद्वेषादिक शत्रुवोंको जीत लिया है, जो केवल जाननदेखनहार है, विश्वज्ञ और विश्वदर्शी है, उस आत्माको जिनेन्द्र कहते हैं, उसमें नाम कुछ भी नहीं लेना, नाम लेनेसे तो एक भेद सामने आकर खड़ा हो जाता है। व्यवहारभक्तिमें नाम लेकर भक्ति की जाती है, किन्तु परमभक्तिमें नाम, कुल, जाति, शरीर, ये सब ध्यानमें न लेना, केवल ऐसे ज्ञानपुञ्ज जिन्होंने रागादिक विभावोंको नष्ट किया है और अपने शुद्ध स्वभावको प्राप्त किया है उसका इसमें स्मरण करना। यह जिनेश्वर देव देवेन्द्रोंके द्वारा पूज्य है।

वीतरागताका प्रभाव—भैया! जरा विचार तो करो—उन देवेन्द्रोंको क्या मिल रहा है इस प्रभुके भजनमें? अपना सारा तन, मन न्यौछावर किए जा रहे हैं और यहां मनुष्योंको क्या मिल रहा है प्रभुकी भक्ति भजनमें? अपना तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर किए जा रहे हैं। कुछ भी तो साक्षात् नहीं मालूम होता। घटों पूजा करो तो भी वह एक रूपया तक भी देनेमें समर्थ नहीं है, भूख लगी हो तो वह कुछ चनोंका भी साधन दे दें, ऐसा भी नहीं होता, पर क्या वजह है कि ये मुनिनाथ, ये देवेन्द्र सब कोई प्रभुके चरणोंमें झुकते चले जा रहे हैं? वह है एक वीतरागताका प्रताप। जीवकी ऐसी आदत है कि जिसे वह रागी समझता है उसमें अंतरंगसे प्रेम नहीं करता और जिसे निष्पक्ष, रागद्वेषरहित समझता है उस पर वह लट्टू हो जाता है। वीतरागता सब आकर्षणोंमें प्रधान आकर्षणकी चीज है। हम सब भी आत्महित चाहते हैं और आत्महित इस वीतरागतामें मिल सकता है, अतएव सब कुछ साधन न्यौछावर करके इस वीतरागताकी पूजा करना है।

वीतरागता उपनाम अहिंसा—वीतरागता क्या है? रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञानप्रकाश। वही अहिंसा है, वही सत्य है, वही परमशील है, वही प्रभु और वही हमारा आराध्यदेव है। निष्पक्ष होकर रागद्वेष तज कर एक इस परमात्माकी शरण आएँ, अन्यत्र कहीं बाहरमें आँखें पसारकर देखनेमें वह परमात्मा न मिलेगा, किन्तु इन्द्रियोंको संयत करके अपने आपमें निर्विकल्प परमविश्राम लेनेसे इस प्रभुके स्वानुभव की पद्धतिसे दर्शन होंगे, ये प्रभु वास्तविक सौन्दर्यके स्वामी हैं, वास्तविक सौन्दर्य पदार्थ अपने-अपने सहजस्वरूपमें है, परवस्तुओंकी लपेट करके जो सुन्दरता बनायी जाती है उसमें आभा नहीं होती है। जैसे कुछ स्त्री पाउडर या सफेद चीजें पोतकर अपनी सुन्दरताको दिखाना चाहती हैं, पर देखने वालेकी समझ में जब आता है कि इसने तो पाउडर पोता है तो उसकी दृष्टिमें सुन्दरता नहीं विराजती, उसे तो उसका रूप विरस लगने लगता है। बनावटी परद्रव्योंका सम्बंध बनाकर सुन्दरता नहीं बनती। वास्तविक सौन्दर्य तो पदार्थके अपने ही सहजस्वरूपमें बसा हुआ है।

सुन्दर शब्दकी व्युत्पत्ति—शब्दव्युत्पत्तिसे देखो सुन्दरता कोई भली चीज नहीं है। सुन्दर शब्द ही इस अर्थको बताता है। सुन्दर शब्दमें ३ विभाग हैं—सु, उन्द् और अर, सु उपसर्ग है, उन्दी क्लेदने धातु है, अरच् प्रत्यय है, जिसका अर्थ है जो भली प्रकार तकलीफ दे, क्लेश दे, सो आप जान ही गये होंगे कि लोकमें जिन जिन चीजोंको हम सुन्दर कहते हैं वे ही चीजें लौकिक जनोंको खूब तड़फा-तड़फा कर कष्ट दिया करती हैं, लेकिन इस सुन्दर शब्दका प्रयोग मोही जीवोंने एक मनोरम वस्तुके लिए किया है।

मनोरम स्वरूप—मनोरम शब्द अच्छा है, जो मनको रमाये उसे मनोरम कहते हैं। मनोरम अथवा

अभिराम तो यह आत्मस्वरूप है। जिसका ज्ञान तीन लोक, तीन कालके समस्त द्रव्य गुण पर्यायोंको जानता है, उससे बढ़कर और कुछ भी चमत्कार हो सकता है क्या ? यह अनन्त चमत्कार, एक ज्ञायकस्वरूप इस अन्तस्तत्त्वकी उपासनामें है, इस शुद्ध ज्ञानानन्दके परमविकासरूप प्रभुको हमारा वंदन हो।

जिनसिद्धान्त उपनाम आत्मसिद्धान्त—एक बात ध्यानमें लानेकी है कि जैन सिद्धान्तको अर्थात् धर्मसिद्धान्तको राग-द्वेषको जिन्होंने जीता है, ऐसे जिनेन्द्र भगवानने कहा है इसलिए इसे जैन सिद्धांत कहते हैं। कहा उन्होंने वही है जो प्रत्येक वस्तुके स्वभावमें बसी हुई बात है। इसे आत्मसिद्धान्त कहो, चाहे धर्मसिद्धान्त कहो, इस सिद्धांतमें एक शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी पूजा है। किसी आत्माने जिस किसी भी मनुष्य पर्यायको पाकर इस ज्ञानस्वरूपका आराधन किया है वे महापुरुष कर्मजालको नष्ट करके निर्वाणको प्राप्त हुए और उन्होंने यह अनन्त ज्ञानस्वरूपका विकास पाया। अतएव हम नाम लेकर पूजते हैं ऋषभदेव, महावीर, श्रीराम, हनुमान आदि करोड़ों मुनि मुक्ति गये हैं हम नाम लेकर पूजते हैं, पर नाम पर आग्रह नहीं करना है, वह तो हमारी व्यवहारभक्ति है। जो भी अंतस्तत्त्व है, जिसका शुद्ध विकास है उसका स्मरण करना, उससे ही धर्म मिलता है और शुद्ध आनन्दका झरना झरता है। मैं इस ज्ञानपुञ्जकी भक्ति क्यों करता हूं ? इसलिए कि हमारा अपुनर्भव हो। पुनर्भव कहते हैं, फिरसे जन्म लेना और अपुनर्भव उसे कहते हैं कि फिरसे जन्म न लेना पड़े।

अपुनर्भवका ध्येय—हे कल्याणार्थी पुरुषो ! अपने आपमें यह निर्णय बनावो कि मुझे मनुष्य जीवन से जी कर क्या करना है ? अपुनर्भवकी प्राप्ति करना है। ये महल, मकान अंतमें मेरा साथ न देंगे, यहां के मायामय प्राणियोंमें अपना नाम जाहिर करके नर-भव नहीं खोना है, जिनमें नाम जाहिर करेंगे, वे स्वयं मर मिटने वाले हैं और जो जाहिरकी सोचते हैं वे भी मर मर मिटने वाले हैं, कौन-सा लाभ मिलेगा ? मुझे तो अपुनर्भवकी ही प्राप्ति चाहिए। फिर इस जीवनमें यदि लौकिक हानि हो जाय, कुछ पैसा घट रहा है अथवा कोई इष्टजन मर गये हैं या अन्य कुछ भी इष्ट वियोग, अनिष्ट-संयोग हो रहा है तो पक्का चित्त करिये, उससे हानि कुछ न समझो और इस सम्पदाके लाभमें लाभ कुछ न समझो।

समागमकी असारता—भैया ! दृश्यमान् यह सब तो मोहकी नींदका एक स्वप्न है। जैसे स्वप्नमें देखी हुई चीज केवल कल्पना है, वह मेरी नहीं हो जाती, इसी प्रकार यहाँ भी देखी हुई चीजें एक कल्पना है। वे मेरी नहीं हो सकती हैं। यह देह तक भी मेरा नहीं है औरकी तो बात क्या कही जाय ? अपने आपमें यह निर्णय बनावो कि हमने जीवन पाया है तो धर्ममय होनेके लिये, अपुनर्भव प्राप्त करनेके लिये, आत्मसाधना करनेके लिए जीवन पाया है और किसी अन्य प्रयोजनके लिए नहीं। यह प्रयोजन पक्का बनावो, नहीं तो धोखा ही धोखा खाना पड़ेगा।

अन्तस्तत्त्वके अनुभवका चिन्तन—यहाँ योगी चिंतन करता है कि मैंने गुरुके सांनिध्यमें रहकर निर्मल हितकारी धर्मको प्राप्त किया। मैंने ज्ञान द्वारा इस समस्त मोहको नष्ट किया है। अब उस रागद्वेषकी परम्पराको तज कर अपने चित्तमें वैराग्यकी वासना बनाकर आनन्दमय इस ज्ञानस्वरूप तत्त्वमें स्थित होकर मैं परमब्रह्ममें लीन होता हूं। देखिये अपने आपका जितना वाह्य अन्तरंगरूपसे परिचय हो जायेगा वैसे ही वैसे ये विशेष भाव विकल्प तरंग बुझती चली जायेंगी और निर्विकल्प स्थिति होने पर जो कुछ इसे ज्ञानप्रकाश नजर आता है उसे तो 'यह मैं हूं' इतना तक भी विकल्प करके ग्रहण नहीं होगा, किन्तु एक ज्ञानप्रकाशका अनुभव और आनन्द होगा। यह परमब्रह्मस्वरूप एक है, इतना तक भी विकल्प योगीके नहीं होगा। जो इस ब्रह्मस्वरूपका अनुभव करता है उसके यह भी विकल्प नहीं है कि वह एक है और सर्वप्राणियोंमें व्यापक है। वह तो एक विशुद्ध आनन्दरसका भोक्ता होता है। मैं इस आनन्दमय अन्तस्तत्त्वका अनुभव करूँ और इस ही में लीन होऊँ।

आत्मवैभवप्राप्तिके साधन—बड़े बड़े योगीश्वरोंने भी जो कुछ आत्मवैभव पाया है वह इन चार प्रबल साधनों द्वारा पाया है। प्रथम तो उन्होंने शास्त्रोंका गहन मनन किया, द्वितीय बात—अनेक युक्तियोंका अवलम्बन किया, जिसमें कोई दोष नहीं, अविनाभावसे परिपूर्ण ऐसी युक्तियों द्वारा भी इस परमब्रह्मका परिचय पाया है। तीसरी बात—गुरुवोंके चरणोंकी निश्छल, निष्कपट अतरग हृदयसे उपासना की है, उसके प्रसादसे यह परमवैभव मिला है और चौथी बात यह है—फिर स्वयं भी अपने अनुभवसे उस ज्ञानका ऐसा स्वाद लिया है कि जहाँसे यह आनन्दरस स्वतः ही झरता है।

यतिपना—भैया! अपने हृदयमें इतनी बात तो लावो कि यह सम्पदा तृणवत् है, असार है, इससे इस अनुपम आत्माको कुछ लाभ नहीं होता है। यह आत्मा तो अपने आत्मस्वरूपको सभाले तब इसको लाभ प्राप्त होगा। अपने जीवनका दृष्टिकोण बदल दो और दिगम्बरताका अपने चित्तमें प्रोग्राम बनावो। इस जीवनमें यदि ऐसी निर्ग्रन्थ अवस्था न भी हो सके, किन्तु दृष्टि आकिञ्चन्यकी बनानेसे कुछ लाभ प्राप्त कर लिया जा सकता है। जिन योगीश्वरोंको इन्द्रियलोलुपता नहीं रही, किन्तु एक तत्त्व-लोलुपता ही रही अर्थात् अंतरज्ञानका मर्म प्रकाशमें पायें, ऐसा ही जिनका यत्न रहे उनके निरन्तर आनन्द झरता है। एक अद्‌भुत निराकुल स्वरूप आनन्द प्रकट होता है। यति उसे ही कहते हैं जो इस निज परमब्रह्मकी उपासनासे उत्पन्न होने वाले आनन्दके लिये यत्न किया करता है, वह ही वास्तवमें जीवन्‌-मुक्त है, ससारके क्लेशोंसे दूर है।

परमप्रियभक्तिका उत्साह—इस परमभक्तिके उपन्यासमें एक अपना दृढ सकल्प बनाएँ, यह एक स्वरूप परमतत्त्व जो रागद्वेषादि द्वन्दसे भिन्न है, जो किन्हीं दो रूप नहीं है, निष्पाप है, उस अन्तस्तत्त्वमें बारबार भावना करता हू। क्या प्यारा है तुम्हें सबसे अधिक? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर यह आना चाहिए कि हमें तो इस नर-जीवनका लाभ उठाना है, वह लाभ जिसमे हो, यही हमें सबसे प्रिय है। जिसे केवल परिजन, धन, सम्पदा ही प्रिय हैं उसने समझो अपने जीवनको खो दिया है। जो स्वाभाविक आनन्दका अनुभव कर लेता है, मुक्तिकी ही जो चाह रखता है उसका तो यही उत्तर रहता है कि मुझे न चाहिएँ संसारके सुख। जैसे ताजी पूड़ियां परोसी जा रही हैं और कोई चार दिनकी बासी बफूँड़ी पूड़िया परोसने लगे तो उन्हें कोई भी लेना नहीं पसद करेगा। ऐसे ही जिसे आत्मीय आनन्द प्रकट हुआ है वह ससारके सुखोंको न चाहेगा। मैं भी इस एकाकी ज्ञानस्वरूप तत्त्वकी स्पृहा करता हू। मुझे ससारका कोई सुख न चाहिए। उसे कोई कितना ही धन-सम्पदाका प्रलोभन दे, पर उसके प्रलोभनमें वह न आयेगा, वह तो अपने परमहितस्वरूप ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वकी ही भक्ति करेगा। इस प्रकार परमभक्ति अधिकार समाप्त होता है अर्थात् भरपूर होता है।

नियमसार प्रवचन दशम भाग

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो।। १४१ ।।

वक्तव्य प्रतिपादन—इस नियमसार ग्रन्थमें जिस बातका वर्णन करना था, उस समस्त वक्तव्यका वर्णन हो चुका है। जीव क्या है? जीव अजीवसे न्यारा हो सकता है, क्योंकि इसमें शुद्धभावका स्वभाव है। अब शुद्ध भावके प्रकट करनेके लिए प्रतिक्रमण, प्रायश्चित, प्रत्याख्यान और आलोचना—ये समस्त अंतरंग तप किए जाते हैं। उनके फलमें परमसमाधि प्रकट होती है और अतमें यह योगी परमभक्तिको प्राप्त होता है, इसमे ही निर्वाणका सुख है। यों वक्तव्य तत्त्व प्रतिपादित हो चुका।

अभीष्टप्राप्तिका परम उपाय—अब उस समस्त तत्त्वके प्रतिपादनके बाद चूलिकाके रूपमें पुनः दो अधिकारोंका विवेचन किया जायेगा। पहिले तो निश्चयपद्धतिमें निर्वाणकी प्राप्तिका पुरुषार्थ बताया है। दूसरी बात, इस पुरुषार्थके प्रतापसे जीवकी स्थिति कैसी हो जाती है? इन दो अधिकारोंमें से प्रथम अधिकारका नाम है निश्चय परम आवश्यक व दूसरा अधिकार है शुद्धोपयोग। यह निश्चय परमआवश्यक अधिकार है। व्यवहारमें तो ६ आवश्यक कार्य योगीश्वरोंके द्वारा किये जाते हैं—समता, वंदन, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग करना—ये ६ आवश्यक कार्य बताये गए हैं। इस अधिकारमें निश्चयसे परम आवश्यक काम क्या है? इन ६ कामोंमें आधारभूत वास्तविक काम क्या है और इन ६ के विकल्पोंमें भी उलझन मालूम देती है तो मेरा परमावश्यक एक काम क्या है? उसका उत्तर इस अधिकारमें दिया गया है।

आवश्यक शब्दका भाव—भैया! क्या पूछा जा रहा है कि आवश्यक काम क्या है? लोग कहते हैं कि अभी हमें फुरसत नहीं है, एक आवश्यक काम पड़ा है। उससे कहो कि भाई ठहरो। अजी, हमें बड़ा आवश्यक काम पड़ा है।""क्या? दुकान खोलना है अथवा कचहरी जाना है अथवा रसोई बनाना है, इनको लोग आवश्यक काम कहते हैं, लेकिन आवश्यक शब्दसे क्या अर्थ निकलता है? वह एक पवित्र अर्थ है, किन्तु मोही जीवोंने आवश्यक शब्दकी मिट्टी पलीत कर दी है। आवश्यक शब्दमें मूलमें दो शब्द हैं, अ और वश। अवश और अवशके करने योग्य कामका नाम है आवश्य और आवश्यमें क प्रत्यय लगाकर आवश्यक बन गया। जो पुरुष अन्यके वशमें नहीं है उसे अवश कहते हैं अर्थात् जो दूसरेके आधीन नहीं है उस पुरुषका नाम है अवश।

स्ववशताका अधिकार—अवशका उलटा है परवश। परवश मायने जो परके आधीन है और जो परके आधीन नहीं है उसे कहते हैं अवश। यहां दूसरेसे मतलब है पचेन्द्रियके विषय और इन विषयोंके साधनभूत परिजन, सम्पदा आदिकसे और इस मनका विषय है यश, प्रतिष्ठाकी चाह और उसके साधनभूत ये मायाचारी असार पुरुष कुछ मेरे लिये बक दें, प्रशंसाकी बातें, ये सब हैं पर-चीजें। जो इन परचीजोंके वश नहीं है उसे अवश कहते हैं। ऐसे अवश पुरुषके करनेका जो काम है उसे कहते हैं आवश्यक। लेकिन लोग अनावश्यकको आवश्यक कहने लगे। दुकान, मकान, कमाई, गप्प, पालन-पोषण, ये सब अनावश्यक काम हैं, आवश्यक नहीं। जो निरन्तर अपने आत्माके ही आधीन रहते हैं अर्थात् ज्ञानान्दस्वभावमात्र आत्मतत्त्वको निरखकर जो इसमें ही तुष्ट रहते हैं, ऐसे पुरुषोंका जो कुछ भी अतरगमें भावात्मक पुरुषार्थ होता है उन्हें कहते हैं आवश्यक। स्ववश पुरुष कौन हो सकता है? अपने आत्मामें ही सतुष्ट रहे, आत्माको ही निरखता रहे, अपनी आत्माके ही नियन्त्रणमे रहे, ऐसा स्ववश पुरुष कौन हो सकता है? जो उत्कृष्ट इस जिनमार्गके अनुसार अपना आचरण बना सकते हैं वे पुरुष स्ववश बन

सकते हैं।

जिनमार्गकी शुद्धता—यह जिनमार्ग बडा शुद्ध मार्ग है, जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित यह मार्ग उनके द्वारा अनुभूत किया हुआ भी है। जैसे मार्गसे चलकर किनारे पहुचकर कोई दूसरेको मार्ग बताये, उसका बताना सच्चा है और कोई उस रास्तेसे गया ही न हो और बताता फिरे, यह है मेरा मार्ग, तो उसका बताना झूठ है। जैसे किसी नदीके एक किनारे एक मुसाफिर खड़ा है, उसे कोई ऐसा अमीर रईस पुरुष जो कि नदी पार हो गया है वह बताए कि भाई हम इस रास्तेसे चलकर इस किनारे पहुंचे हैं, तुम भी सीधे इसी मार्गसे चलकर इस किनारे आ सकते हो, ऐसी बात पर लोग विश्वास करते हैं और उस मार्ग से चलकर वे नदी पार हो जाते हैं, ऐसे ही जिनेन्द्रदेव ससारसे मुक्त होनेके मार्गसे चले और उस मार्ग से चलकर वीतराग सर्वज्ञ हुए हैं तब वे निरीह दिव्यध्वनिके द्वारा प्रतिपादन कर रहे थे कि हे भव्य जीवों! इस शुद्ध मार्गसे आवो तो तुम भी हमारी तरह परमात्म विलासको भोगोगे। उनका कहा हुआ मार्ग अनुभूत है, इस कारण यथार्थ है।

जिनमार्गमे परमार्थ अहिंसाकी प्रधानता—जिन-मार्गमें अहिंसाकी ही सर्वत्र विशेषता है। परमार्थतः अहिंसा नाम दूसरेके प्राणोंके न हरनेका नहीं है। वह तो औपचारिक रूप है। अहिंसा नाम तो अपना जो ज्ञानदर्शन प्राण है उस प्राणका घात न करनेका है। जब किसी दूसरे जीवके बारेमें हम उसके विनाशका संकल्प करते हैं अथवा अपने कायकी क्रियावों द्वारा उसका विनाश करते हैं तो वह जीव मारा गया, उसका विनाश हुआ, यह तो हिंसाभावका बाह्य परिणाम है, किन्तु उस पर हाथ पटकें इन बातोंसे यहाँ हिंसा नहीं लगी, यहां जो इरादा बनाया, विपरीत आशय बनाया, कुसंकल्प किया, अपने चैतन्यस्वरूपसे विमुख हुए, इसकी हिंसा लगी है। इस हिंसाके करने वाले प्राणी बाहरमें इसी प्रकारका उपद्रव कर देते हैं, यह औपचारिक रूप है, लेकिन कैसे जाने कि इस जीवने हिंसा की है, उसकी चेष्टा दूसरेके दिलको दुखानेकी हो तो उससे ही यह अंदाज हो जाता है कि इस जीवने अपने आपके चैतन्य परमात्मतत्त्वके प्राणका घात किया है।

अहिंसाकी मुद्रा—वह अहिंसा कैसे निष्पन्न हो, उसका मार्ग इस जिनशासनमे कहा गया है। ओह! **इस मार्गमें चलने वाले जो योगीश्वर हैं** उनकी बाह्य चेष्टा भी इतनी पवित्र है कि लोग अनुमान कर **सकते हैं कि अहिंसा** का तत्त्व इस मार्गसे चलकर प्राप्त होता है। जो अहिंसा तत्त्वके परमसाधक हैं उन योगियोंकी मुद्रा नग्न, दिगम्बर, केवल हाथमें पीछी और कमण्डल होता है, उनके पास न लाठी है, न शस्त्र है, न त्रिशूल है। यदि ये सब चीजें हों तो लोग यह भय खा सकते हैं कि कभी महाराजको गुस्सा न आ जाय कि त्रिशूल भोंक दें अथवा लाठी मार दे। जब तक जीवके साथ कषाय है तब तक उसका विश्वास क्या? अभयका स्वरूप है वह। किसी पुरुषको भय नहीं रह सकता। कैसी है वह मुद्रा कि निर्विकार स्वरूप है। उस नग्न पुरुषके कभी विकार होगा तो तुरन्त प्रकट हो जायेगा। लोग देख रहे हैं कि कैसो शान्त मुद्रा और अविकार मुद्रामें हैं, जिन्हें किसी प्रकारका आरम्भ नहीं करना है और इसलिए उनके पास न झोंपड़ी है, न खेती है, न तक्की-गद्दा है, मात्र शरीर उनका परिग्रह है।

पीछीका प्रयोजन—पीछी आवश्यक है जीवदयाके लिए। कोई जीव-जन्तु शरीर पर आ जाय उसे हाथसे न हटाकर पिछीसे हटाते हैं। हाथ कड़ा होता है, मक्खी, मच्छरको हाथसे हटावो तो उसे क्लेश होगा, ये मोर पक्षी जगलोंमें अपने पख छोड़ देते हैं जिनमें कोई वैज्ञानिक खोज करे तो कोई धातुका तत्त्व उससे निकल सकता है जिसमें ऐसी प्रकृति है कि कीडे भी नहीं पड़ते, पसीना भी नहीं लगता, ऐसी कोमल पिछीसे उन जीवोंको हटाते हैं अथवा बैठे, सोये तो स्थानको साफ करनेमें उपयोग करते हैं।

अनन्यवशताके अधिकारी—देखो भैया! शान्त, अविकार, दयास्वरूप जिनकी बाह्य मुद्रा है वे भीतर

में क्या करते रहते होंगे ? वहाँ अहिंसाका अनुमान होता है । खैर, द्रव्यलिङ्गी मुनि भी बाह्यमें इतना आचरण कर लेते हैं इसलिए वह यथार्थ अनुमान नहीं है, लेकिन जिनको भीतरमें अहिंसा तत्त्वका महान् आदर जगा है उनकी बाह्य मुद्रा ऐसी होती ही है । जो जीव जिन-मार्गके आचरणमें कुशल हैं वे ही पुरुष अनन्यवश हो सकते हैं अर्थात् अवश हो सके हैं क्योंकि सदा ही वे अपने अंतःस्वरूपकी ओर झुके रहते हैं । सदैव अन्तर्मुखरूप होनेके कारण वे पुरुष अनन्यवश हुआ करते हैं अर्थात् साक्षात् स्ववश हैं ।

स्नेहकी हितबाधकता—दूसरे जीवोंमें स्नेह करना नियमसे दुःखका कारण होता है । इसमें दूसरी बातकी गुन्जाइश नहीं है, व्यर्थका स्नेह है । कोई स्नेह करे और जिस दूसरेसे स्नेह किया जा रहा है वह अपनी कषायोंके आधीन होकर अपने मनकी प्रवृत्ति करे, क्या पड़ी है परजीवोंसे अंतरंगसे स्नेह किया जाय ? क्यों अपने आत्माको दूसरोंके साथ खोया जा रहा है, क्यों अपनी गरदन क्रूर पुरुषोंके सामने रक्खी जा रही है ? जो विवेकी पुरुष हैं, निकट भव्य हैं वे अपनी आत्माकी संभाल रखते हैं, वे परके वश नहीं होते हैं, जो ऐसे स्ववश पुरुष हैं उन पुरुषोंके ही यह व्यवहार होता है, जिस व्यवहारमें ज्ञानी और अज्ञानी सभी लोग धर्मबुद्धिको करते हैं, किन्तु अंतरङ्गमें जो निश्चय पुरुषार्थ है उसे अज्ञानी नहीं कर सकते, उसका अधिकारी ज्ञानी पुरुष ही है ।

व्यवहारप्रपञ्चविमुखता—जो व्यवहार क्रियावोंके प्रपञ्चोंसे विमुख है उसके ही यह परम आवश्यक होता है । योगीजन प्रभुकी वंदना भी कर रहे हैं, सिर झुका रहे हैं, हाथ जोड़ रहे हैं, ऐसा करते हुए भी वे जानते हैं कि यह भी मैं अज्ञानमय चेष्टा कर रहा हू, प्रभुकी वंदना और उसके लिए अपने शरीरसे इतना बड़ा प्रयत्न और इस चेष्टाको भी वे यों देख रहे हैं कि यह अज्ञानमय चेष्टा हो रही है । ज्ञानभावमय ज्ञानमयी चेष्टा तो केवल ज्ञानप्रकाशके अनुभवकी होती है, यह शरीरकी चेष्टा और ऐसे अनुराग के विकल्प यह सब अज्ञानमयी चेष्टा है । फिर करते क्यों है, यह प्रश्न हो सकता है । अज्ञानमयी चेष्टावोंको दूर करनेके लिए ही यह अज्ञानमयी चेष्टा किसी पद तक की जाती है ।

दृष्टिका फल—भैया ! फल दृष्टिका मिलता है, क्रियावोंका फल नहीं मिलता है । कोई पुरुष अनमना होकर आपका काम करे तो आप यह कहेंगे कि इसने कुछ नहीं किया । मन लगाकर करता तो आप उसे करनेका नाम लेते । मन तो था नहीं, अनमना बनकर जबरदस्ती किया, उससे आप राजी नहीं होते हैं और यह कहते हैं कि कुछ किया ही नहीं है । ऐसे ही ये योगी पुरुष अनमने होकर शरीरकी वेदनादिक चेष्टाएँ करते हैं, इस कारण वे करते हुए भी नहीं करने वाले हैं । जहाँ उनकी दृष्टि है, जहाँ उनका मन लगा हुआ है करने वाले तो उस तत्त्वके हैं ।

अनमना व निजमना—अनमना किसे कहते हैं ? आप लोग जानते होंगे, किसका नाम अनमना है ? ये भाई अनमने हो गये, इसके मायने क्या है ? व्यवहारी लोग तो यह अर्थ करते हैं कि ये खेदखिन्न हो गये हैं, परन्तु अनमनेका अर्थ खेदखिन्न नहीं होता, किन्तु अन्यमना, मायने अन्य तत्त्वमें मन लग गया है, जिसका अन्य तत्त्वमें मन लग जाय उसे अनमना कहते हैं । जिस पुरुषका मन अपने आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य तत्त्वमें, परभावमें लग जाय, वह पुरुष अनमना है, यहाँ स्वमना विरला ही कोई मत पुरुष मिलेगा । सबके सब मनुष्य एक छोरसे लेकर अत तक देखते जावो प्रायः सब अनमने मिलेंगे । जो अनमना बनेगा वह दुःखी होगा यह प्राकृतिक बात है । सुखी होना है तो अनमना मत बनो, निजमना बनो । अनमना बननेसे आकुलता ही होगी । जो निजमना बने उसके सर्वसंकट दूर हो जायेंगे । यह अवश पुरुष निजमना बन रहा है, इस कारण वह संकटोंसे छूटनेका उपाय पा लेगा ।

परमावश्यकका माहात्म्य—जो व्यवहारिक क्रियावोंके प्रपञ्चोंसे दूर हैं उन पुरुषोंके ही ये परमावश्यक कर्म होते हैं । यह निश्चयदृष्टिसे परमावश्यक कर्मकी व्याख्या है । इस निश्चय परमावश्यकके बिना कोई

पुरुष आकुलतावोंसे दूर नहीं हो सकता है। इसके उपयोगमें अपने आत्माकी श्रद्धा है। वहाँ निश्चय धर्मध्यान चल रहा है। यह उपयोग अपने आपके आत्मासे जुड़कर, मिलकर ज्ञानात्मक पुरुषार्थ कर रहा है, इस ही परमावश्यकमें यह सामर्थ्य है कि इन कर्मोंको दूर कर दे।

कर्मसंकटविध्वंसका उद्यम—भैया ! प्रभुसे भीख मांगते रहनेसे कर्म दूर न होंगे। हे प्रभु ! मेरे अष्ट-कर्म ध्वस्त कर दो। देखो मैं मैसूरकी बनी धूप चढ़ा रहा हू, अब तो प्रसन्न होकर मेरे भव-भवके कर्म दूर कर दो। यह तो सब आपका व्यवहारिक आलम्बन है। इस सहज शुद्ध निश्चयस्वरूपका आप आलम्बन लें तो समस्त कर्म दूर हो जायेंगे। घर-बार, कुटुम्बकी सम्पदाकी ममता तो छोड़ते नहीं बनती और कर्मोंके विध्वंस करनेका कोई ढोंग करे तो वहाँ कर्म विध्वंस न होंगे। अहंकार और ममकारको त्याग-कर किसी भी क्षण अपने इस स्वाधीन सहजस्वरूपका आश्रय बने तो ये कर्म दूर हो सकेंगे। ऐसा इस ज्ञानीपुरुषके निश्चयपरमावश्यकधर्म होता है, ऐसा उन परम जिनयोगीश्वरोंने कहा है और इस ही स्वात्ममग्नताका रूप परम तपश्चरणमें निरत रह सकता है, इस ही निश्चय परमआवश्यक तत्त्वका वर्णन इस अधिकारमें किया जायेगा।

निश्चय परमावश्यक कार्य—करने योग्य आवश्यक कामोंमें निश्चयसे केवल एक ही पुरुषार्थ है, वह है मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति द्वारा निष्पन्न होने वाला जो परमसमाधिरूप योग है वह। जहाँ मन चचल है, यहा-वहा भटकता है वहाँ योगकी सम्भावना नहीं है, प्रत्युत वह विकल्पबाहुल्य प्राणी है, उसको सर्वत्र बन्धन ही बन्धन है। मनको वश करना मुमुक्षुका प्रधान कर्तव्य है। इस मनको किस ओर लगाया जा रहा है ? इसका निर्णय रक्खो और भली ओर लगानेका उत्साह जगावो। इस जगतके अनन्त प्राणियों में से अचानक अटपट जो कोई प्राणी आपके घरमें आ गये हैं, बस गये हैं, वे खुद कर्मोंके प्रेरे हैं, विषय-कषायोंके अभिप्रायोंसे परिपूर्ण, इस अपावन, दुर्गन्धित, जीर्ण शरीरमें बँधे हुए एक असहाय भिन्न प्राणी हैं। उनमें स्नेह करनेसे क्या लाभ पावेंगे ? अपना भला तब है जब अपने सहज स्वरूपका निर्णय करके अपनी ओर झुकाव करे। तब दूसरोंसे मोह करनेसे न अपनेको लाभ है और न जिनमें मोह किया जा रहा है उनको लाभ है।

अन्तःआशयसे लाभ—धर्म धर्मविधिसे करें तो लाभ देता है। हम रूढ़िवश अपनी चर्यावोंका पालन तो करें और उसका मर्म न ग्रहण कर सकें, निर्मोहता, निरहंकारता अपनेमें न बना सकें तो धर्मका लाभ तो नहीं मिला। यह तो एक स्वार्थमयी कल्पना है। कोई चार मूर्ख पंडित भेष बनाकर अपनी उदरपूर्तिके लिये निकले। हम बड़े पंडित हैं, ऐसा जाप जपते हैं कि रोग सब दूर कर देंगे तो एक सेठने उन्हें रख लिया, हमारे धन बढ़े, समृद्धि हो इसका आप जाप कर दीजिये।" अच्छी बात। जाप क्या करें कि एकको थोड़ा-सा मालूम था, सो कहता है कि ॐ विसतु विसतु स्वाहा तो दूसरा कहता है कि तुम जपा सो हम जपा स्वाहा। तीसरा कहता है कि ऐसा कब तक चलेगा स्वाहा। चौथा कहता है कि जब तक चले तब तक सही स्वाहा तो केवल शब्दोंके रटने मात्रसे आत्मामें प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु यह ज्ञान अपनी ओर लक्ष्य बनाकर प्रगति करे तो प्रभाव होता है।

स्वयंपर स्वयके परिणमनका प्रभाव—दुनियामें प्रभाव किसी दूसरेका दूसरे पर नहीं पड़ा करता है। खुदका ही प्रभाव खुद पर पड़ता है। किसी देहाती आदमीको न्यायाधीशके पास कचहरीमें जाना पड़े तो उसके हाथ-पैर ढीले हो जाते हैं तो क्या जजका प्रभाव उस देहाती पर पड़ा ? नहीं। उस देहातीका जो अज्ञान है, कल्पना है, कायरता है, नासमझी है उससे उसने अपनेमें स्वयं भय पैदा किया और खुद डर करके अपनी विडम्बना बनायी। वह देहाती जजसे नहीं डरता है, अपनी ही गलतीसे अपने आपमें डरता है। दूसरेका तो कुछ डर है ही नहीं। वह मुझ पर क्या प्रभाव बनायेगा ? यह जीव खुद ही अपनी

कल्पना बनाकर अपने आप पर प्रभाव जमाता है। यहाँ मन्दिरमें हम आप दर्शन करने आते हैं, हम आप पर न भगवान प्रभाव डालते हैं और न यह मूर्ति प्रभाव डालती है, हम आप स्वयं ही धर्ममें लगने वाले हैं और ज्ञानमयी अपनी दृष्टि सजग बनाते हैं तो आपका खुदका अपना प्रभाव आप पर पड़ता है। यह प्रभाव जिस स्थानमें जिसके समक्ष उत्पन्न हुआ, उसका आप आदरपूर्वक सम्मान करके बोलते हैं कि सब भगवानका प्रताप है। भगवानका तो प्रताप है, किन्तु यह परक्षेत्रमें स्थित भगवानका प्रताप नहीं है, किन्तु हम आपमें अंत विराजमान् भगवानका प्रताप है।

प्रभुपरिचयकी आवश्यकता- अहो! यह प्राणी अपनी समझ न होने पर दर-दर भीख मागता और भटकता फिरता है। अरे किसी भी प्रकार निजप्रभुको पहिचानो। साधुजनोंके लिये बताया है कि उनका आत्मा स्वयं अपने आत्मतत्त्वके दर्शनमें निरत रहा करता है। उन्हें मूर्तिमुद्राके आलम्बनकी आवश्यकता नहीं रहती है, मिल जाय सुगम तो वे उसका उल्लघन नहीं करते, किन्तु गृहस्थजनोंको मूर्तिका आश्रय करना कर्तव्य बताया है, यह भेद किस बातका है? यह अपने आपमें विराजमान् भगवानकी प्रसन्नता जिसको अधिकरूपसे हुई है वह तो है साधु और जिसके भगवानकी प्रसन्नता अधिकरूपमें नहीं हुई है, वह है श्रावक और इस ही भेद पर एकको साश्रय बताया है और एकको निराश्रय बताया है।

वचनगुप्ति बिना भी समाधियोगका अभाव--जिसका मन चचल है उसके तो यह परमसमाधिका योग हो ही नहीं सकता। वचनयोग भी जिसका चंचल रहता है, अधिक बोलना, बिना विचारे बोलना, बिना सभाले बोलना, अपने आपको सबसे महान समझकर बोलना यह सब वचनोंका दुरुपयोग है। जिसे समताका आनन्द चाहिए उसे वचनोंका निरोध करना होगा। इस वचनगुप्तिके प्रसादसे अपने आपमें एक बल प्रकट होता है, जो खोटी बातें, निन्दाकी बातें, बेकारके गल्पवाद, चर्चाएँ कर रहे हैं उन्हें उसके फलमें ज्ञान प्रकट नहीं होता है। अरे वह आत्मा निर्बल होता हुआ योगसे दूर तो रहता ही है, पर चतुर्गतिरूप ससारका भटकना भी बना रहता है। हमारा कर्तव्य है कि हम वचनोंको संभाल कर बोलें। जब वचन क्रोधकी स्थितिमें बोले जाते हैं तो मुँह तन जाता है और उस समय मुँहका आकार ऐसा बन जाता है कि जैसे मानो तना हुआ धनुष हो। जैसे धनुषकी डण्डी टेढी होती है और उस पर डोर बँधी रहती है, सो तनने पर यह डोर भी टेढ़ी हो जाती है, ऐसे ही ये ऊपर नीचेके ओंठ भी धनुष जैसे टेढ़े हो जाते हैं और उनमें से जो वचन निकलते हैं वे भी इतने कठोर और तेज निकलते हैं कि मानो धनुषसे बाण निकलते हों। ये वचन-बाण जिसके लग जाते हैं उसके घावकी दवा किसीके हाथ नहीं है।

वचनगुप्तिके यत्नकी आवश्यकता--यही जीभ अच्छे वचनोंके उपयोगमें भी आ सकती है जिससे लाभ है। सब प्रकारसे शान्ति मिले, मित्रता बढ़े, धनकी प्राप्ति हो, वातावरण सुखका रहे, मधुर वचन बोलने में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। कठोर निन्दा भरे, अहंकार भरे वचन बोलनेसे एक भी लाभ नहीं होता, सो सोच लीजिये। खुदकी बरबादी, वातावरणका विषैला बनाना, जनताकी निगाहमें नीचा बन जाना और कष्ट आए तो किसीका अनुग्रह भी न मिलना, अनेक वहाँ क्लेश हैं। उत्तम तो यह है कि हित मित, प्रिय वचन बोलें, खोटे वचनोंका परिहार करें और उससे भी उत्तम यह है कि सर्व प्रकारके वचनोंका निरोध करे और निज सहजस्वरूपमें ही अपना उपयोग बनाएँ तो ऐसी वचनगुप्तिसे परमसमाधिभाव प्रकट होता है। वही परमयोग है और वही परमावश्यक काम है।

आत्मोत्थानमें कायगुप्तिका सहयोग--शरीरोंका भी यथा तथा प्रवर्तना और पापमयी कार्योंमें लगाने योग्य आचरण करना, ये सब ससारमें ही रुलानेके कारण हैं। पापोंसे किसीका भी भला नहीं होता। जो मनुष्य पाप करके कदाचित् धन भी कमा लें तो वह धनकी कमायी पाप करनेसे नहीं हुई, किन्तु पूर्वकाल में पुण्य विशेष किया था जिसके कारण इससे भी अधिक लाभ होना था, किन्तु पाप करके उस लाभको

हीन कर दिया गया है। थोड़ा ही लाभ हो पाया है, यह है उसकी स्थिति, किन्तु पापी, मोही प्राणियोंमें यह सुबुद्धि कहा जग सकती है? पापमय आचरणसे आत्माका कुछ उद्धार नहीं होता है, न पापवृत्तिसे इस भवमें कोई आनन्द प्राप्त होगा और न परभवमें ही कोई आनन्द प्राप्त हो सकेगा। यह परमसमतारूप जो परमयोग है, कायगुप्तिसे उत्पन्न होने वाला जो यह आत्मसहयोग है उसमें सामर्थ्य है कि समस्त कर्मोंका विनाश कर दे। यही परमयोग, परमपुरुषार्थ निश्चयपरमावश्यक साक्षात् मोक्षका कारण है, इसी कारण यह निवृत्तिका मार्ग कहा जाता है। निवृत्ति मायने निर्वाण अर्थात् समस्त विकल्पजालों का बुझ जाना। जहाँ सर्वप्रकारके विकल्पोंसे हटकर निर्विकल्प अवस्था रह जाय, ऐसी दशाकी प्राप्तिका उपाय यह निश्चय परमावश्यक है।

आत्माकी धर्मस्वरूपता—अहो! यह आत्मा तो स्वय ही धर्मस्वरूप विराजा है। इसमें जो अधर्म आ गया है उसको हटा दीजिए। यह तो धर्मरूप स्वयं ही पहिले से है। जैसे जितने मनुष्य उत्पन्न होते हैं वे एक ढगसे उत्पन्न होते हैं, एक समान हाथ-पैर होते हैं, वहा किसी प्रकारका भेद नहीं है कि यह ईसाई है, यह मुस्लिम है, यह सिक्ख है, यह बौद्ध है, यह जैन है। उत्पत्ति तो सबकी एक सी होती है, एकसा ही सबके शरीरका ढाचा है। कुछ बड़ा होने पर कोई दाढ़ी बढ़ा ले, यह अलग बात है, कोई सिरके बाल रखाकर, कोई मूछोंकी कुछ चाल बनाकर एक सम्प्रदायका रूप दे दे तो ये तो सब बनावटी बातें हैं, किंतु स्वय अपने आप तो सब एक ही तरहसे पैदा होते हैं, एक प्रकारका शरीर है, भेद नहीं है। ऐसे ही आत्माका जो धर्म है, स्वभाव है उसमें भेद नहीं है, वह तो सब जीवोंमें एक समान है। बस इस धर्ममें जो अधर्म घुस गये हैं, मैं अमुक जातिका हू, अमुक कुलका हू, अमुक मजहबका हू आदिक अनेक प्रकारकी जो कल्पनाएँ जग गयी हैं इन अधर्मोंको निकाल देने पर तो स्वय धर्मस्वरूप है। फिर जो इस आत्मामें सहज-प्रकाश मिले, अनुभवमें आये, उसकी दृष्टि बनाएँ, वही शुद्धोपयोग है।

अशुद्धताके परिहारमे शुद्धस्वरूपकी उपलब्धि—इस शुद्धोपयोगको पाकर ज्ञानी-सत पुरुष इस ज्ञानतत्त्व मे अपनेको मग्न कर लेते हैं। जो नित्य आनदके प्रसादसे भरा हुआ है, धर्ममय तो स्वय आत्मा है। धर्मसे जीवको आनन्द ही मिलता है। धर्मसे विडम्बना नहीं होती है, किंतु धर्ममें जो अधर्म पड़ा हुआ है, ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वमें जो विषय कषायोंका विकल्प समाया हुआ है, उससे अनाकुलता होती है। मूलमें स्वरूपमें तो यह आत्मधर्म ज्योंका त्यों ही है। स्वर्णको शुद्ध कोई नहीं बनाता। अरे! स्वर्ण तो स्वय अपने स्वरूपमें शुद्ध ही है, उसे कौन शुद्ध बनायेगा। स्वर्णकी डलीसे बने हुए गहनेमें जो अशुद्धता मिली है ताव लगाकर, योग लगाकर उस अशुद्धताको निकाल दिया तो जो था, वहीका वही रह गया है। इसको ही लोग कहते हैं कि इस सुनारने इस सोनेको शुद्ध बना दिया है। कहा शुद्ध बनाया है? वह तो जो था सो ही है।

मार्मिक अर्थमें मर्मका परिचय—एक मास्टर साहब बच्चोंको पढ़ा रहे थे। बच्चोंको डाटते डपटते हुए में कह दिया कि हमने बीसों गधोंको मनुष्य बना दिया है। एक कुम्हार इस बातको सुन रहा था। सोचा कि हमारे कोई बच्चा नहीं है, सो एक गधेका एक बच्चा इन मास्टर साहबसे बनवा लें, सो मास्टर से कहा कि मास्टर साहब हमारे ऊपर भी कृपा कीजिए, कोई हमारे बच्चा नहीं है, सो आपको मैं एक गधा दूँगा, बच्चा बना देना। मास्टरने सोचा कि आज अच्छा कोई टट्टू मिला। कहा—अच्छा भाई ले आवो गधा, हम गधेसे मनुष्यका बच्चा बना देंगे। ले आया वह कुम्हार गधा। मास्टर साहबने कहा, देखो ७ दिनके बाद ८ वें दिन ठीक १२ बजे आ जाना, तुमको बना बनाया बच्चा मिल जायेगा। मास्टर तो जानता था कि यह देहाती आदमी है या तो एक-आध घटा पहिले आयेगा या बादमें, सो गलत टाइम पर आनेसे कुछ कहकर टाल दिया जायेगा। मास्टरने उस गधेको २०, २५ रुपयेमें बेचकर अपना काम

चलाया। अब आया वह ८ वे दिन तीन बजे। मास्टर साहबसे अपना बच्चा मांगा तो मास्टर साहबने कहा कि तू तो देर करके आया है, तेरा बच्चा बनकर पढ़-लिखकर होशियार होकर न्यायालयमें पहुंचकर न्याय कर रहा है, वह जज बन गया है, अब तो हमारे वशकी बात रही नहीं कि उसे ला सके, तू ला सकता हो तो ले आ, सो वह गधेका तूमरा लेकर जिसमें कि वह गधा दाना खाया करता था, पहुचा न्यायालयके द्वार पर। जज दीख रहा था। कुम्हार कहता है— ओह ओह आजा, अरे तीन घंटेमें ही तू हमसे नाराज हो गया है। सब लोग देखकर बडे विस्मयमें पडे। चपरासीने उसके कान पकड़कर वहाँसे भगा दिया। तो शब्दका मर्म समझना चाहिये। बीसों गधोंको मनुष्य बनाया, इसका अर्थ यह नहीं है कि चार पैर वाले गधा जानवरोंको मनुष्य बनाया, किन्तु उसका सीधा अर्थ यह है कि बीसों मूर्ख बच्चोंको योग्य बनाया। यों ही हमारी समस्त क्रियावोंमें ऐसा सीधा ही अर्थ नहीं ले लेना है कि ऐसे हाथ करके चढावो तो मोक्ष मिलेगा। अरे! वह तो आलम्बन है। अपने आत्माको शुद्ध ज्ञानपुञ्ज पर जमावो तो निर्वाण मिलेगा, यह उसका अर्थ है।

संकटहरण यत्न—यह आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप है, नित्य ही इसमें आनन्दका प्रसार हुआ करता है। इस रसीले ज्ञानस्वरूपमें अपनेको लीन करके अविचल ढंगसे निष्कम्प प्रकाश वाली जो सहज अपनी ज्ञान-लक्ष्मी है उसको यह प्राप्त कर लेता है। यह सब एक अपने आपके स्वरूपका निर्णय और अपने आपकी ओर झुकावका फल है। कैसी भी कठिन विपदा आयी हो घबरायें नहीं, वह तो परका परिणमन है, उससे अपना कुछ सम्बध नहीं है। अपने आपको ज्ञानानन्दस्वरूप निरख कर अपने आपकी ओर झुक जावो, सब विपदा दूर हो जायेगी। विपदा क्या है ? एक खोटी कल्पना बना ली है, उन खोटी कल्पनावोंको त्याग दें। कुछ समय इस निर्विकल्प ज्ञानप्रकाशकी ओर अपना उपयोग लगावें तो सब आपत्तियां दूर हो जायेंगी। महापुरुष स्वाश्रयमें होते हैं, अपने आपके आत्मस्वरूपका आलम्बन लेते हैं, उस स्वाश्रितता के प्रतापसे उत्पन्न हुआ यह आवश्यक कर्म है, यही तो साक्षात् धर्म है। यह धर्म इस धर्मस्वरूप सत्-चित् आनन्दमय, परमब्रह्ममें अतिशयरूपसे प्रकट होता है। इस आत्मधर्मको प्रकट करनेमें जो कुशल है, जो तत्त्वज्ञानके बलसे बलिष्ट है, ऐसा पुरुष इस धर्मका आश्रय करके निर्वाणको प्राप्त कर लेता है अर्थात् समस्त संकटोंसे दूर हो जाता है।

आकिञ्चन्य स्वरूपके प्रत्ययमें समृद्धि—देखो! यह धर्म अपनेको आकिञ्चन्यस्वरूप देखनेमें है। तेरा इस जगतमें कुछ नहीं है, जो मेरा कुछ नहीं है इस जगतमें, ऐसा मान कर रहे, उसको सर्वातिशयरूप रूपसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है। देखो भोजन करनेमें भी न न करें आप, तो परोसने वाले प्रेमपूर्वक खूब परोसते हैं और आप मांगकर खायें, लावो-लावो कहें तो परोसने वालेका दिल नहीं रहता है। जब भोजन में भी न न के फलमें अच्छा परोसन मिलता है तो ऐसी ही सब समागमोंकी बात है। इस धन-सम्पदामें आप अन्तरङ्गसे न न करेंगे और अपने आकिञ्चन्यस्वरूपको निरखेंगे तो सदा ही आपको बड़ी बड़ी समृद्धियां प्राप्त होंगी, अंतमें निर्वाण हो जायेगा तो वहा भी अनन्तचतुष्टय सम्पन्न बने रहेंगे। अपने आपको आकिञ्चन निरखिये और ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वमें उपयोगको झुकानेका यत्न कीजिए, यही वास्तविक आवश्यक काम है।

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सय ति बोधव्वा।
जुत्तित्ति उवाअ ति य णिरवयवो होदि णिज्जेत्ति ।। १४२ ।।

आवश्यक नियुक्ति—जो बशमें न हो उसका नाम है अवश। जो पुरुष एक अपने आत्मतत्त्वके सिवाय अन्य किसी परपदार्थके वश नहीं रहते हैं, किसी भी कल्पना, परभावके आधीन नहीं रहते हैं उन पुरुषों को अवश कहते हैं और अवशका जो कर्म है, कर्तव्य है, क्रिया है, पुरुषार्थ है उसको आवश्यक कहते हैं।

यह तो हुआ आवश्यकका अर्थ। अब इस शब्दके साथ निर्युक्ति भी जुड़ा रहता है, पूरा नाम है आवश्यक निर्युक्ति। इसमें निर्युक्ति शब्दका अर्थ है निरवयवस्य युक्तिः इति निर्युक्तिः। जिसमें अवयव नहीं रहते हैं वह है मोक्ष। उस मोक्षका जो उपाय है उसे कहते हैं निर्युक्ति। युक्ति नाम उपायका है अथवा आवश्यक रूप निर्युक्ति नि शेष उपायोंमें सम्पूर्ण उपाय अर्थात् मोक्षप्राप्तिका एकमात्र उपाय है, किसी भी अन्य तत्त्वके परभावके वशमें न होना और अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूपका दर्शन करते हुए प्रसन्न रहना, यही है मोक्षका उपाय।

वास्तविक वीरता—भैया! जो अवश होता है वह परम जिनयोगीश्वर है। दुनिया जिसमें वीरता समझती है वह है कायरता और जो वास्तविक वीरता है उसमें यह दुनिया है कायर। भोग भोगना आसान काम है और भोग तजना शूरताका काम है, लेकिन जगतके लोग उसे बहादुर जानते हैं, जो बहुत महल खड़े करा दे, भोगोंके बड़े साधन जुटा दे। पर भोगोंके साधन जुटा लेना इस दुनियामें अपनी नाम-वरी प्रतिष्ठाका फैलाव बना लेना, कुछ मनोहारी भाषणों और करतूतोंके द्वारा जनतामें अपना रौब बठाल लेना, पचेन्द्रियके विषय-साधनोंका संचय कर लेना, यह बहादुरी नहीं है। बहादुरी तो समस्त परतत्त्वोंकी, परभावोंकी उपेक्षा करके जो आत्मीय ज्ञानानन्दस्वरूप है उस स्वरूपमें मग्न रहना, यही है बहादुरीका काम।

सुगम स्वाधीन आवश्यक कार्य—अथवा आत्माकी उपासनाका है तो अत्यन्त सुगम काम, किन्तु अज्ञानी जनोंसे किया नहीं जा सकता। उनकी उपेक्षासे यह बहादुर का काम है। प्रेमी पुरुषोंको परिजनोंके वातावरणमें रहकर तो न जाने कितना समय व्यर्थ गुजर गया है? उन्हें मोहका वातावरण तो आसान लगता है, कोई बच्चा प्रतिकूल हो गया, कोई झंझट आ गयी तो उन झंझटोंको सभालनेका भी काम उन्हें आसान लगता है, किन्तु पूजामें, स्वाध्यायमें, सत्संगमें, धर्मकी किसी भी साधनामें वे कभी जायें तो उनको समय गुजारना कठिन लगता है। बार-बार घड़ी देखते हैं कि अरे कितना समय हो गया है, उन्हें वह सब मोहका वातावरण आसान लगता है तो कठिन तो काम हुआ आत्मसाधनाका, किन्तु जो आत्म-साधनामें कुशल हैं उन पुरुषोंके लिए बच्चे खिलाना, पालना, अनेक प्रतिकूल बोझोंका सहना, यह कठिन मालूम होता है, जो पुरुष किसी परतत्त्वके वशमें न हो, केवल आत्मीय चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिके वशमें है उस योगी पुरुषके यह परमावश्यक कर्म अवश्य ही होता है। यह बात इस गाथामें बतायी गयी है।

आत्मयोग—योगी नाम उसका है जो योग करे, जोड़ करे, जो वस्तु पृथक् पृथक् हैं, लाखों उपाय किए जायें उनका उसमें जोड़ नहीं पहुचता है। जो वस्तु एक है, किन्तु कल्पना भेद उस धर्म धर्मीको जोड़ नहीं रहा है, ज्ञानप्रकाश होने पर उस वस्तुमें जोड़ हो सकता है। जो पृथक्-पृथक् वस्तु है उसमें कोई भी जोड नहीं हो सकता है। यह आत्मा और इस आत्माका यह उपयोग यह कोई जुदा पदार्थ नहीं है, एक ही वस्तु है, धर्मीका भेद है। उपयोग धर्म है आत्मा धर्मी है केवल समझनेके लिये भेद किया गया है। जिसमें ज्ञान होता है उसे आत्मा कहते हैं, यह समझानेके लिये कहा जाता है। कहीं ऐसा नहीं है कि आत्मा कोई चीज है अलग और उसमें ज्ञान भरा रहता है और जिसमें ज्ञान भरा हो उसे आत्मा कहते हैं, ऐसी बात नहीं है। वह आत्मा ही स्वयं सर्व ओरसे ज्ञानरसघन है। एक ही चीज है।

विचित्र वियोग और योग—किसी भ्रमसे यह मेरा ज्ञान उपयोग इस धर्मी आत्मासे बिछुड़ा हुआ है। बिछुड़ करके भी लगा हुआ है इस आत्मासे ही। इस आत्मासे ज्ञानका विछोह बड़ा विचित्र विछोह है। विछोह भी है और विछोह भी नहीं है। जो ज्ञान आत्माको छोड़कर किसी परवस्तुमें लगता है वह ज्ञान क्या आत्माका आधार छोड़कर परपदार्थोंमें लगेगा? नहीं लगेगा। परपदार्थोंकी ओर दृष्टि रहकर भी यह ज्ञान आत्माके आधारमें ही बहिर्मुख होकर रह रहा है, इस कारण ज्ञानी आत्माको विछोह नहीं

ाता, लेकिन जो ज्ञान आत्माकी खबर भी न ले, उसे तो पूरा विछोह कहा जायेगा। जैसे घरमें रहते ए लोग घरमें ही रहेंगे, झगड़ा भी हो गया तो घरमें ही लड़ें झगड़ेंगे। घरमें रहते हुए भी वे एक घरमें ह नहीं रहे है। झगड़ा मच रहा है, किसीका किसीसे मन नहीं मिला। उन्हें एक जगह रहने वाला नहीं कहा जाता है। यद्यपि एक ही घरमें रह रहे हैं, दूसरी-दूसरी जगह नहीं रह रहे हैं, किन्तु मन न मिले तो से कहते है कि एक जगह नहीं रह रहे है। यह तो एक लौकिक दृष्टान्त है। प्रकरणमें यह जानना चाहिए कि यह उपयोग आत्माका ही एक अभिन्न धर्म है, भिन्न नहीं है, आत्माका ही स्वरूप है, लेकिन जो ज्ञान अपने आधारभूत मौलिक धर्मोंका ख्याल ही न रखे, केवल बाह्य पदार्थोंका ही ध्यान है तो समझना चाहिये कि यह ज्ञान आत्मासे बिछुड गया है। बिछुडकर किसी दूसरी जगह नहीं पहुचा, लेकिन जब माना ही नहीं है अपने आधारको तो वह बिछुडा ही है। ऐसा बिछुड़ा हुआ यह उपयोग आत्मामें जुड जाय, इसका आत्मामें योग हो जाय, इसे कहते है परमयोग।

आवश्यक शब्दका वास्तविक मर्म और विकृत अर्थ रूढ होनेका कारण—ये योगीजन जिन्होंने आत्मासे योग बनाया है उन्हें कहते हैं योगी। जो भली प्रकार योगी बने हैं उन्हें कहते हैं योगीश्वर। जो योगी अपने आत्मग्रहणके अतिरिक्त अन्य किसी भी भावका, किसी भी पदार्थका अधीनत्व स्वीकार नहीं करता है उस पुरुषको अवश कहते है और उस अवश परमयोगीश्वरोंके जो काम हो रहा हो उस कामको आवश्यक कहते हैं। उस योगीका क्या काम चल रहा है ? एक आत्माका दर्शन, आत्माका ज्ञान और आत्मा का ही आचरणरूप शुद्ध चिद्‌विलासरूप पुरुषार्थ चल रहा है यही है परमावश्यक। आवश्यक नाम परिणतिका है अर्थात मुझे आवश्यक काम पड़ा है, ऐसा कोई कहे तो उसका अर्थ यह लगाना कि मुझे मोक्षके उपायका काम पड़ा हुआ है, यह है सही-सही अर्थ। अब कोई आवश्यक शब्दको विषय-साधनोंकी ओर ही लगा दे तो इसके लिए क्या किया जाय ? जैसे कुबेर शब्द बड़ा उत्तम है, जो पुरुष उदार है, दान करता रहता है, ऐसे पुरुषको लोग कुबेरकी उपमा देते हैं और कोई कजूस धनी हो जिसकी कजूसी नगर भरको विदित है और उससे कोई कहे आइए कुबेर साहब तो वह तो शर्मके मारे गड़ जायेगा और अपने को गाली मानेगा, मुझसे ये लोग मजाक करते हैं। अरे शब्द तो उत्तम बोला, पर अयोग्य पुरुषके लिए बोला, इसलिए वह शब्द गाली और मजाक बन गया है। इसी प्रकार आवश्यक शब्द बड़ा उच्च है, आवश्यक कहो या मोक्ष मार्ग कहो दोनोंका एक अर्थ है, लेकिन इस मोही प्राणीने अपने खाने-पीने, विषय भोगोंकी बातोंमें आवश्यक शब्द जोड़ दिया है और इससे यह आवश्यक शब्द मोही-जगतमें अपनी अंतिम सासें ले रहा है। अब इस शब्दमें जान नहीं रही।

आवश्यकनिर्युक्तिका फल निरवयवताकी सिद्धि—आवश्यक नाम है मोक्षमार्गका। निश्चय धर्मध्यानरूप, आत्मानुभवरूप जो योगका अतरङ्गमें पुरुषार्थ है उस पुरुषार्थका विलास यह तो हुआ आवश्यक शब्दका अर्थ। अब इसके साथ निर्युक्ति शब्द लगा रहे हैं, उसका अर्थ कह रहे हैं निर्युक्ति। युक्ति नाम उपायका है और निर्युक्ति शब्द एक सकेत शब्द है, जिसका पूरा नाम है निरवयव, अवयवरहित। जहाँ शरीर नहीं रहा, केवल ज्ञानपुञ्ज रहा, ऐसी अवस्थाको निरवयव बोलते हैं अर्थात मोक्ष। उस मोक्षकी युक्ति बना लेना, उपाय कर लेना, इसका नाम है निर्युक्ति। आवश्यक निर्युक्ति आवश्यक कार्योंके द्वारा मोक्षका उपाय बना लेना, इसका नाम है आवश्यक निर्युक्ति। जो अवश पुरुष होते हैं, जो परद्रव्योंके आधीन नहीं हैं वे ही पुरुष निरवयव हो जाते हैं।

उत्तम शब्दोंका निकृष्ट अर्थमें रूढ होनेका कारण—जमाना प्राचीन कालमें एक धार्मिक सभ्यताका था और उस समय जो पुरुषके लिए विशेषण बोला जाता था वह विशेषण अब धीरे-धीरे गालीरूप परिणत होता जा रहा है। जैसे उत्तम वस्तु दीन-हीनके हाथ पड़ जाय तो उसका दुरुपयोग ही होता है, ऐसे ही

ये सब विशेषण जो व्यवहारमें आज भी प्रचलित हैं, किसी समय लोगोंकी प्रशंसाके लिए थे, आज गाली-रूप बन गए हैं। जैसे लोग कहते हैं नंगा, यह नगा है, मायने जो आभ्यतर वाह्य परिग्रहरहित हुआ, केवल शरीरमात्र ही जिसका परिग्रह है, ऐसा जो विशिष्ट योगी है, मनुष्योंके द्वारा पूज्य है, ऐसे विजयी पुरुषका नाम है नगा, लेकिन दीन, गरीब, बेवकूफ लोगोंको नगा शब्द बोला गया, इसीसे यह गालीरूप बन गया है। ऐसे ही लुच्चा मायने आलोचन करने वाला, तत्त्वका विचार करने वाला, जो बड़ा तत्त्व-विचारक पुरुष है अर्थात् जो इतना विरक्त साधु सत पुरुष है कि अपने केशोंका भी लुंचन करता है, ऐसे योग्य पुरुषका नाम है लुच्चा, लेकिन अयोग्य पुरुषोंको बड़ी बात कह कर शर्मिन्दा करनेका उपाय किया गया था और तबसे यह शब्द गालीरूप परिणत हो गया है।

उत्तम शब्दोंकी भाति आवश्यक शब्दकी विकृति--लोग कहा करते हैं उचक्का। यह तो बड़ा उचक्का है। उचक्का शब्दका मूल शब्द है उच्चक, उच्च शब्दमें क प्रत्यय लगाकर उच्चक बना है जिसका अर्थ है लोकमें उच्च पुरुष है। जो उच्च हो उसका नाम है उचक्का, लेकिन आज चूँकि यह शब्द छोटे लोगों को शर्मिन्दा करनेके लिए किसी समय बोला गया था तबसे यह शब्द गालीरूप परिणत हो गया है। लोग कहते हैं कि यह पोंगा है। इसका मूल शब्द है पुंगव। पुंगव मायने श्रेष्ठ। पूजामें आप भगवानको भी पुंगव बोलते हैं। स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुंगवाय, भगवान पुंगव हैं मायने श्रेष्ठ हैं। पुंगव शब्द एक ऊँचा शब्द है, लेकिन लोगोंने जब किसी दुष्ट, हीन पुरुषके मजाक करनेके लिये बोल दिया तो अब यह पोंगा शब्द गालीके रूपमें परिणत हो गया है, यों ही समझ लीजिये कि जितने भी गालियोंके शब्द हैं आज, सिंगल शब्द, जोड़-मोड़के वाक्यों वाले नहीं, जैसे कोई मा बहिनका नाम लेकर कहे वह तो प्रकट उद्दण्डता है, लेकिन जो सिंगल शब्द हैं, इकहरे शब्द हैं, वे सब प्रशंसाके शब्द हैं। यहाँ उदाहरण रूप दो चार शब्द कहे हैं आज। ऐसे ही आवश्यक शब्दकी मिट्टी पलीत हो रही है। लोग गप्प करना, तास खेलना, विषय भोगना, सिनेमा देखना, लड़ाईके लिए जाना, अनेक कामोंके लिए आवश्यक शब्द बोलने लगे हैं। भाई हमारा समय अब नष्ट मत करो हमें अभी एक आवश्यक काम पड़ा है। क्या काम पड़ा है? भोग विषय। ऐसी गन्दी बातोंके लिए आवश्यक शब्द बोलने लगे हैं, परन्तु आवश्यकका अर्थ है मोक्ष का उपाय बना लेना। भाई अब व्यर्थके कोलाहलमें हम अपना समय नहीं लगाना चाहते हैं। हम तो अपना निश्चय परमावश्यक काम करेंगे।

बुद्धिका सुयोग--भैया! जो आवश्यक कार्य है योगियोंका यह ही आनन्दका देने वाला है। प्रेमसे किसी भी स्त्री, पुत्र, मित्रसे बोल लो, समझो सब एक विपरीत मार्गमें बढ़ गये हैं। उस मोहजालसे इस स्नेह परिणामसे अंतरङ्गकी कुश्रद्धासे वह मोक्ष मार्ग बहुत दूर हो गया है। इसमें तत्त्व कुछ न निकलेगा और जीवनभर स्नेह मोहकी बाधाएँ सहकर जब बुढ़ापा आ जाता है तब कुछ अकल ठिकाने आती है और इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और शरीरके नातेसे यह पराधीन हो जाता है। अब उस अकलका क्या करे, जो अकल बुढ़ापेमें आयेगी? वह यदि जवानीमें आ जाय तो यह कितना अपना भला कर सकता है? बल तो हो जवानीका, अकल हो बुढ़ापेकी और अवस्था हो बालकपनकी— ये तीनों बातें यदि एक साथ मिल जायें तो यह पुरुष एक बालप्रभु है।

स्ववशताकी भावना--योगी अपने हितमें लीन रहता है। निज जो शुद्ध जीवस्वरूप है, प्रदेशात्मक दृष्टिसे निरखकर शुद्धभाव रखने वाला जो यह जीवास्तिकाय है उस जीवस्वरूपको निरखिये, अन्य किसी भी पदार्थके वशीभूत नहीं होना है। जो ऐसा करता है उसके ही निर्युक्ति होती है, मोक्षमार्गका उपाय होता है, ऐसा जाप जपे, ऐसी भावना भाये, ऐसा ध्यान करे कि कितनी भी सम्पदा मेरे सामने आए तो भी हम उसमें न लुभाय, ऐसा मेरा ज्ञानबल बना रहे। देवांगना सदृश भी कोई रूपवती स्वयं ही कुछ प्रीति

याचना करे तब भी उसमें रंचमात्र भी लोभ न पैदा हो, ऐसा ज्ञानबल रहे, सारे जगतके लोग दृश्यमान् पुरुष मिलकर भी कोई प्रशंसा करे तिस पर भी उस प्रशंसामें मौज माननेकी कल्पना न जगे और इस तत्त्वज्ञानके बलसे अपने आपके स्वरूपका झुकाव बना रहे, ऐसा बल प्रकट हो।

ज्ञानीकी आन्तरिक चाह—हे प्रभो! मुझे अनन्त ज्ञानकी चाह नहीं है, जो ज्ञान सारे विश्वको जाने, मुझे रंच चाह नहीं है कि मेरे ऐसा ज्ञान प्रकट हो जो ज्ञान सारे विश्वका ज्ञाता बने। केवल मुझे चाह है इतनी कि यह मेरा ज्ञान इस ज्ञानके स्वरूपका ही ज्ञान करने लगे, यह ही इच्छा है। मुझे केवलज्ञानकी चाह नही है, मुझे ज्ञानके ज्ञानकी चाह है, फिर केवलज्ञान चाहे अवश्य ही मेरे प्रकट हो, मैं क्या करूँ? लेकिन मुझे वाञ्छा केवल ज्ञानके ज्ञानकी है, अन्य पदार्थोंके ज्ञानकी वाञ्छा नहीं है। हे प्रभो! मै ऐसा दर्शन नहीं चाहता कि तीन लोकका दर्शन मुझे होता रहे, मुझे तो इस श्रेष्ठ परमपुरुषका ही दर्शन चाहिए। मुझे अनन्त सुख न चाहिए, केवल कभी कोई आकुलता न रहे इतनी भर बात चाहिए। मुझे बल भी अनन्त न चाहिए, किन्तु मेरा ज्ञान ज्ञानके आधारभूत इस अभिन्न अतस्तत्त्वमें बना रहे, जमा रहे, इतना भर बल चाहिए। यों जो आत्मामें नियुक्त होता है उस पुरुषके अज्ञानरूप अंधकार नष्ट होता है। अपनेसे प्रकट हुई प्रकाशमय ज्योतिके द्वारा जो अवस्था प्रकट होती है वह निरपेक्ष, शुद्ध, सर्वथा अमूर्त अवस्था प्रकट होती है, उस ज्ञानानुभूतमें अनन्त आनन्द होता है। प्रत्येक सम्भव उपायों द्वारा एक इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका ज्ञान करना चाहिए।

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥ १४३ ॥

अशुभभाववर्ती साधुके आवश्यकका अभाव—जो साधु अशुभोपयोगसे सहित वर्तता है वह साधु अन्यवश है, इसी कारण उसके आवश्यक कर्तव्य हो सकता है। खोटे भाव रागद्वेषादिक हैं, उन रागद्वेष भावोंकरिके सहित जो मुनि वर्तता है वह वास्तवमें मुनि ही नहीं है, उसे श्रमणाभास कहते हैं, झूठा मुनि अथवा द्रव्यलिङ्गी कहते हैं। वह तो अपने स्वरूपको त्यागकर अन्य परद्रव्योंके वशीभूत हुआ है। दूसरी बात जो मूल गुणका भी भलीभांति पालन करता है और रागद्वेष, मोहकी विशेष बात भी जिसकी प्रवृत्तिमें नहीं आती है और श्रद्धान भी ठीक है, तथापि अपने पदकी सीमाके बाहर रागद्वेष कर रहा हो तो वह जघन्य रत्नत्रयमें परिणत है, ऐसे जीवके स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान नहीं होता, इससे इस अन्यवश साधुके निश्चय परमावश्यक कर्म कैसे हो सकता है? जो द्रव्यलिङ्गी साधु है जिसके सम्यक्त्व नहीं जगा है, केवल उदरपूर्तिके अर्थ द्रव्यलिङ्गको ग्रहण कर लेता है, आत्मकार्यसे विमुख है, तपश्चरण आदिकके प्रति भी उदासीन रहता है, ऐसा द्रव्यलिङ्गी साधु जिस मंदिरमें रहे, जिस क्षेत्रमें रहे उससे सम्बंधित जो पदार्थ हो उसको अपना मान लेता है, यह मेरा है, ऐसे साधुजनोंके आवश्यक कर्म नहीं होता, मोक्षमार्ग नहीं होता।

भावपूर्वक त्यागका निर्वाह—जो पुरुष किसी बातमें समृद्ध हो और वह गृह, परिवारका त्याग करके साधुव्रत ग्रहण करे तो उसकी साधुता भली प्रकार टिक सकती है। जैसे कोई धनिक पुरुष वैराग्यसे वासित होकर लाखोंकी जायदादका त्यागकर साधु हुआ है तो उसके परिणामोंमें निर्मलता बढ़नेका अवसर है। वह छोटी-मोटी बातोंमें दिल न लगा पायेगा, क्योंकि वह एक बड़ी समृद्धि और सम्पन्नता को त्याग करके साधु हुआ है, ऐसे ही जो ज्ञानकरिके समृद्ध हैं, विद्वान हैं, ऐसे पंडितजन जिनको कोई कष्ट भी न था, वे गृह-परिवारको त्यागकर साधु हों तो उनकी साधुता भी टिक सकती है, लेकिन प्रायः जो न तो ज्ञानसे सहित है और न जिसके पास धन,सम्पदा भी कुछ है, खाने-पीनेकी भी तकलीफ रहती हो, वह अपने मतलबसे ऐसे ही साधु हो जाय तो वहाँ साधुता न टिक सकेगी। परिणामोंमें उज्ज्वलता हो

कहां आ जायेगी ? जिसका प्रयोजन ही खोटा है वह कहां निर्मलताको पैदा कर सकता है ? जो मनुष्य यों ही द्रव्यलिङ्गको ग्रहण करके आत्मकार्यसे विमुख होकर कल्पनावोंको अपनाता फिरता है, धन सम्पदाको अपनाता फिरता है उस पुरुषके परमआवश्यककर्म नहीं होता है।

साधुवोंके स्नेहबन्धनका अभाव—साधुजन कोई शास्त्र भी पढ रहे हों और कोई पुरुष आकर यह कहे कि महाराज ! यह शास्त्र तो बड़ा अच्छा है, यह तो हम लोगोंके लायक भी है, क्या यह हमें मिल सकता है ? तो साधु उसकी अतरमें अपनी अटक न रक्खेगा। यह मेरी किताब है, यह तुम्हें कैसे देंगे, तुम्हें हम कोशिश करेंगे मगानेकी, बन सकेगा तो दिला देंगे, यह नहीं दे सकते, ऐसा परिणाम साधुके आये तो वह शास्त्र परिग्रहमें शामिल हो जाता है। साधुजन तो उस समय शास्त्रको देकर एक विश्राम पाते हैं अपने विकल्पोंसे हटकर एक शुद्ध ज्ञानानुभवका यत्न करते है। जो साधु शुभोपयोगमें लिप्त होते हैं वे पराधीन है। स्नेह करना एक बहुत बड़ा पाप है, इसमें सुबुद्धि हरली जाती है और खुद भी स्वतन्त्र नहीं रह पाता, जिससे स्नेह किया है उसके ही आधीन बने रहना पडता है। स्नेहमें मिलता कुछ नहीं है, नुक्सान ही मारा है। स्नेहके बन्धनमें किसीको लगा दो तो उससे बड़ा वैर और कुछ नहीं हो सकता है। जिन्हें हम मित्रजन परिजन समझते हैं उनका यत्न यही तो होता है कि स्नेहके बधनमें बधा रहे यह। लाभ क्या मिलता है ? कुछ भी नहीं। तो ऐसे ही स्नेह और द्वेषके भावसे जो साधु अपना उपयोग बिगाड़ता है उसके साधुता नहीं रहती।

मोहकी विचित्रता—मोहकी कितनी विचित्र लीला है कि जिन्हें कभी वैराग्य जगा था, जिसके फल में अपने घरको छोड़ दिया था और जैसे घ सका घर हो ऐसा मानकर त्याग दिया था, अब फिर जिस कुटीमें, जिस झोंपड़ीमें, गुफामें रहे उसमें यह बुद्धि कर ले कि यह मेरी गुफा है, यह मेरी झोंपडी है, यह तीव्र मोहकी विचित्र लीला है। देखो तो सब कुछ छोड़ा, अब जिस स्थितिमें रह रहा है उसीमें मोह करने लगा। घरवार परिजनको तो छोड़ा है और समाजके प्रजाके लोगोंमें अतरङ्गसे मोह बना लेता है, ऐसी मोहकी विचित्र लीला है। यह आत्मा ऐसे अनुपम गृहमें निवास करता है परमार्थतः, जिसकी उपमा तीन लोकमें कोई नहीं मिल सकती है, वह घर है एक ज्ञानप्रकाश, ज्ञानपुञ्ज। जिस घरमें किसी भी प्रकारके रागादिक तिमिरका सद्भाव भी नहीं ठहर सकता, ऐसे ज्ञानस्वरूपमें रहने वाला यह साधु अपने इस शाश्वत अनुपम घरकी सुध भूलकर जहा बाहर रह रहा है उस ही में स्नेह जमाये तो ऐसे साधुके मोक्षमाग नहीं रहता है।

पदविरुद्ध वृत्तिमें पतन—श्रावकजन, गृहस्थ लोग इतना मोह आरम्भ रागद्वेष रखते हैं, धनसंचय करना, उसकी ममता होना, इतने पर भी गृहस्थ कुछ भी धर्मके लिए बुद्धि लगाये है तो वह गृहस्थ भला है, किन्तु वह साधु जो गृहस्थके रागके मुकाबले हजारवा हिस्सा भी राग करता है तो वह साधु अपने साधुपदमें नहीं रहा। लाग जैसे यह कह देते हैं कि ये साधु हमसे तो अच्छे हैं, ये नाराज होते हैं तो हो जाने दो, अटपट काम करते हैं तो कर लेने दो, हमसे तो सैंकड़ों गुणा अच्छे हैं, लेकिन बात यह जानना चाहिए कि जो जिस स्थितिमें है उस स्थितिसे नीचे गिरे तो वह उस लायक नहीं कहला सकता। जो पुरुष बड़ा शान्त रहा करता है, वह किसी दिन क्रोध कर बठे तो लोगोंको यह विस्मय होता है और एक रात दिन झगड़ने वाला पुरुष कुछ भी क्रोध करता रहे, पर उस पर लोगोंको विस्मय नहीं होता है, न खेद होता है। जो कपड़ा उज्ज्वल है, साफ है उस पर एक भी धब्बा लगे तो वह कपड़ा कलकित माना जाता है और जो मला कुचैला कपड़ा है उसमें न जाने कितने धब्बे लगे हैं वह कपड़ा लोगोंकी दृष्टिमें कलकित नहीं माना जाता है। ऐसे ही जिन साधुवोंको हम पचपरमेष्ठीमें शामिल करते हैं, जिनका नाम जपते हैं, माला फेरते हैं वे साधु कितने निर्मल होने चाहियें ? इसका अनुमान करलो। वे जिनेश्वरके लघुनन्दन

माने गए है, छोटे परमात्मा माने गए हैं। यों कह लीजिए कि जो परमात्मा हो गए है वे तो परमात्मा है ही, पर साधु भी परमात्माके निकटके पूज्य पुरुष हैं, वे परमेष्ठी अन्यवश हो जाये अर्थात् रागद्वेषके आधीन हो जायें तो उनके मोक्षमार्ग नहीं कहा है, उनका परमेष्ठित भी कैसा ?

साम्प्रत भी तपस्वियोका सद्भाव—इस कालमे भी कहीं-कहीं कोई भाग्यशाली जीव मोहके कीचड़से हटकर अपने आपके धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ आजकल भी पाये जा सकते है। जिसने समस्त परिग्रहों का विस्तार त्याग दिया है, जो पाप-वनको जलानेके लिए प्रचड अग्निके समान है, ऐसे मुनिराज इस पृथ्वी पर मनुष्योंके द्वारा व देवोंके द्वारा भी पूजे जाते हैं, अर्थात् स्वर्गवासी देव भी स्वर्गसे आकर इस मनुष्य लोकमे आकर ऐसे साधुजनोंकी पूजा रचते हैं और अनेक मुनियोंके द्वारा वे साधु पूजे जाते हैं। साधु नाम उसका है जो आत्माको साधे, अर्थात् रागद्वेषसे रहित होकर शुद्ध ज्ञानप्रकाशमे ही उपयोग लगाये रहे, उसे साधु कहते है। वास्तविक तपश्चर्या यही है अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें अपने उपयोगको बसाये रहना। इस परमतपश्चर्याके लिए ही उपवास आदिक अनेक वाह्य तपश्चर्याएँ की जाती हैं।

कार्यके मर्मकी अनभिज्ञतामे विडम्बना—भैया! कोई काम तो करता रहे और उसका मर्म न जाने तो वह काम बिगड़ जाता है। कोई एक सेठ था, उसने घरमे एक बिल्ली पाली हुई थी। उस सेठकी लड़की की शादी जब हो रही थी तो वह बिल्ली इधर उधर निकले। बिल्लीका इस प्रकारका आना जाना ऐसे कार्योमें अशगुन माना जाता है। सो उस लडकीकी शादीमें उस बिल्लीको पिटारेमे बद करके भावर पारी गई। एक दो शादिया ऐसे ही हो गयीं। सेठ तो अब गुजर गया। सेठके लड़के बडे हुए, उनको जब अपनी लडकियोकी शादी करनी पड़ी तो भावरका समय आने पर वे सेठके लड़के कहते है, ठहरो, अभी भावर नहीं परेगी। जब एक बिल्ली लाकर पिटारेके नीचे बदकी जायेगी तब भावर परेगी। सब एक बिल्ली कहींसे पकडकर लाये, पिटारेके नीचे बद किया, इस प्रकारका जब दस्तूर बना लिया तब भावर परी। यह तो है बुद्धिकी बलिहारी। अरे किसलिए पिटारेमे बद किया जाता था? इस बात को तो भूल गए और यह दस्तूर बन गया कि जब बिल्ली पिटारेमें बद की जायेगी तब भावर परेगी। वास्तवमें बिल्ली तो स्वय साक्षात अशगुन है, वह चूहे आदि जानवरोसे ही अपना पेट पालती है। बहुत क्रूर जानवर बिल्ली मानी गयी है।

शकुनका आधार—शकुन और अशकुनका निर्णय ज्ञान और अज्ञानके प्रतीकसे होता है। कोई मरा हुआ मुर्दा सामने दिख जाय, जा रहा है तो आप लोग उसे शकुन मानते है। जब कभी मुर्दा दिख जाय तो लोग कहते है कि आज शकुन हुआ है। किसी मुर्देको देखकर एक बार तो अपने कल्याणकी सुध आ ही जाती है, ज्ञान जग ही जाता है, कुछ वैराग्यकी बात मनमे आ ही जाती है। इस कारण उसे शकुन माना गया है। ऐसे ही जितनी भी चीजें शकुन मानी गयी हैं उन सबके भीतर ज्ञानप्राप्तिकी बात पड़ी हुई है, इसलिए शकुन माना जाता है। सामनेसे कोई पानीसे भरा घड़ा लिए हुए आ रहा है तो उसे लोग शकुन मानते हैं। यह किस बातका शकुन है? वह घड़ा यह याद दिलाता है कि जैसे इस घडेमे पानी ऐसा लबालब भरा हुआ है कि इसके बीच एक सूतकी भी जगह खाली नहीं है, पानी भरा हुआ है तो क्या पानीके बीचमें कोई जगह ऐसी भी रह सकती है कि जहाँ पानी न हो? जितनेमें पानी भरा है वह पूरा घन है। पानी पानीसे ही रचा हुआ क्षेत्र है, ऐसे ही यह मेरा आत्मा ज्ञान ज्ञानसे ही रचा हुआ क्षेत्र है, इसके बीचमे कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहा ज्ञानगुण न हो। तो जैसे यह घड़ा भीतरमे जलघन है इसी प्रकार यह आत्मा भी ज्ञानघन है। इस ज्ञानघनताका स्मरण दिलाने में वह जलपूर्ण कलश एक सहयोग देता है इस कारण शकुन माना गया है। गायका बछड़ा कहीं दूध पीता हुआ दिख जाय तो

लोग उसे शकुन मानते हैं। किस बातसे उसे शकुन मानते हैं? वह याद दिलाता है कि जैसे गाय बछड़ेकी प्रीति निष्कपट होती है, उसमें स्वार्थकी कोई बात नहीं होती है, ऐसी ही निष्कपट प्रीति एक धर्मी दूसरे धर्मीसे करे तो उसका उद्धार होता है। इस वात्सल्यकी स्मृति दिलानेमें कारण होने से वह गायका बछड़ा शकुन माना जाता है। शकुन उसे कहते हैं जो हमारे इस ज्ञानानन्दस्वरूपकी स्मृति दिलाये।

आत्माकी प्रियतमता—अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें अपना उपयोग रमाये यह है उत्कृष्ट तपश्चर्या, यह तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियोंको प्राणप्रिय है। बतलावो सबसे अधिक प्रिय वस्तु क्या हो सकती है? प्रिय वस्तुकी परीक्षाका यह विधान है कि दो चीजें सामने रक्खी हुई हों, उनमें से जिस एक की उपेक्षा करदे उसमें तो प्यार नहीं है ऐसा समझलो और जिस चीजको ग्रहण करलें, समझलो कि इसमें प्रेम है। देखो—जब यह मनुष्य बच्चा रहता है तो इसे सबसे प्यारी अपनी मा की गोद रहती है। उसे लाखों करोड़ोंकी सम्पदा प्रिय नहीं रहती है। जब वह और कुछ बड़ा हो जाता है तो उसे फिर अपनी मा की गोद भी प्रिय नहीं रहती है, उसे खेल खिलौने प्रिय लगते हैं, अब उसको सबसे प्यारे खेल खिलौने लगते हैं, माताकी गोद अप्रिय हो जाती है। कुछ और बड़ा हुआ तो खेल खिलौने भी उसे प्रिय नहीं रहते हैं, उसे पुस्तक बस्ता, पढनेके साधन इनमें चित्त लगता है। कुछ और बड़ा हुआ तो अब उसे ज्ञानकी भी रुचि नहीं रहती। अब तो मुझे परीक्षामें पास होना है अर्थात् उसे केवल परीक्षा पास होनेकी रुचि हो जाती है। उसे तो डिग्री प्रिय हो जाती है। डिग्री मिलना चाहिए कैसे भी मिले? ज्ञानसे उसे रुचि नहीं रहती है। कुछ और बड़ा हुआ तो उसे डिग्री भी अप्रिय हो जाती है, उसे स्त्री प्रिय हो जाती है। विवाह करता है। अब कोई पुत्र पैदा हो जाता है तो उसे पुत्र प्रिय हो जाता है, अब उसे स्त्री भी प्रिय नहीं रही। कदाचित् कभी घरमें आग लग जाय और बच्चे भी भीतर पड़े हुए हों तो वहां वह अपनी जान बचायेगा, जानके मुकाबिले बच्चोंसे भी प्रेम न रहेगा। अब उसे सबसे प्यारी अपनी जान हो गयी। वही पुरुष कभी ज्ञान वैराग्यमें बढ़ जाय, साधु हो जाय, स्वानुभवका आनन्द लूट रहा हो, कोई दुश्मन आकर उसे बाधा दे, जान ले तो क्या वह अपनी जान बचानेके लिए उस दुश्मनसे लड़ाई ठानता है? अरे वह तो अपने आपके आत्माके ध्यानमें ही लीन हो जाता है। अब वह अपनी जानकी परवाह नहीं करता है, अब उसे अपने प्राण भी प्यारे नहीं रहे, उसे अपना आत्मा सबसे प्यारा रहा। ऐसे आत्माको अपने उपयोगमें लगाना, यही है परमतपश्चर्या। यही सबमें अधिक प्रिय वस्तु है। ऐसी योग्य तपश्चर्या सैकड़ इन्द्रोंके द्वारा भी मनन वन्दनीय है।

अन्यवशतासे विघात व स्ववशतासे उद्धार—तपश्चर्याके पदको प्राप्त करके कोई साधु अथवा कोई पुरुष कामाधिकारसे अन्य बनकर सांसारिक सुखमें रमे तो वह जड़मति है और अपने आपके आचरणसे अपने आपका घात करने वाला है। मुनि भेष धारण करके भी यदि वह रागद्वेषोंके वश हो जाय जो उसे संसारी जन्तु समझो। जो किसी भी परवस्तुके या रागादिक परभावोंके वश नहीं होता है वही पुरुष जीवनमुक्त है और प्रभुताके करीब करीबमें है। जो मुनि स्ववश होता है, आत्मध्यानवा अनुरागी होता है उसकी इस जैनमार्गमें शोभा है और जो दूसरेके वश हो जाता है वह यों समझिये कि जैसे कोई राज-सेवक हो, इस तरह परवस्तुवोंकी, पर जीवोंकी वह सेवा कर रहा है, उसके तपश्चरण नहीं है। प्रकरण तो साधुवोंका है, इससे हम आपको भी यही शिक्षा लेनी चाहिए कि हम व्यर्थ कल्पना बनाकर अंतरंगसे किसी परवस्तुके आधीन न बनें। अपनेको सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप निरखें तो इस सर्वज्ञताके यत्नमें मोक्षमार्ग प्राप्त होगा।

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ॥१४४॥

शुभभाववशीभूतके भी निश्चयपरमावश्यकका अभाव—जो संयमी पुरुष शुभ भावोंमें भी प्रवर्तता है वह भी अन्यवश है, इस कारण इसे आवश्यकस्वरूप कर्म नहीं होता है। निश्चय परम आवश्यक कार्य है राग-द्वेष आदिक विकल्पोंसे रहित होकर केवल ज्ञानप्रकाशमात्र निजस्वरूपका आलम्बन। यही निश्चय परम आवश्यक काम है। यह आवश्यक पुरुषार्थ जैसे रागद्वेषके अशुभ विकल्पोंमें रहने वाले साधुके नहीं होता है इस ही प्रकार दया, परोपकार, स्तवन, वंदन, यात्रा आदिक शुभ कामोंमें लगे हुए साधुके भी यह परम आवश्यक काम नहीं होता अर्थात् शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके उपयोगोंसे रहित होने पर ही इस आत्माके आवश्यक पुरुषार्थ बनता है। जो पुरुष शुभोपयोगके भी आधीन है उस अशुद्ध अंतरात्मा जीवके यह आवश्यक कर्म नहीं होता है। है यह अंतरात्मा संयमी, किन्तु शुभभावोंमें इसने उपयोग किया है, अतः इसे भी अशुद्ध कहा है।

शुभ अशुभ भावोंकी बन्धनमें समानता—शुभ भावसे कर्मबन्धन होता है, अशुभभावसे भी कर्मबन्धन होता है। शुभ भावसे पुण्यका बंध हुआ, अशुभभावसे पापका बंध हुआ, किन्तु पुण्य भाव और पाप भाव जैसे ये दोनों ही सांसारिक भाव हैं, विकार भाव हैं, इसी प्रकार पुण्यकर्म और पापकर्म ये दोनों भी संसारकी बेड़ियां हैं। जैसे किसी रईस पुरुषको जेलखाना किया जाय और सोनेकी बेड़ी बाँध दी जाय और किसी गरीबको लोहेकी बेड़ी कस दी जाय तो बन्धनमें तो दोनों ही बराबर हैं। सोनेकी बेड़ीसे कैदमें रहे तो परतंत्रता, लोहेकी बेड़ीसे कैदमें रहे तो परतन्त्रता। ऐसे ही जिसके पुण्यकर्मका उदय है वह भी परतंत्र है और जिसके पापका उदय है वह भी परतंत्र है। इसीलिए तो संसार एक गोरखधंधा है। पुण्यके उदयमें जीव मौज मानता है, अपनेको सुखी समझता है लेकिन यह पुण्य उसे फिर इस संसारमें डुबा देता है।

पुण्य पापका परिणाम—भैया! क्या होगा पुण्यकर्मसे? पुण्यकर्मका उदय है। धन सम्पदा विशेष मिल गयी तो धन सम्पदा मिलने पर प्रायः विषयकषाय भोगनेका ही यह जीव परिणाम किया करता है। ऐसे विरले ही ज्ञानीपुरुष हैं जो पुण्यके उदयसे पाये हुए धन सम्पदामें भी अपने परिणामोंको सभालकर रख सकें। प्रायः करके जीव धन सम्पदा पाकर भ्रष्ट ही हो जाता है धर्मकी पंक्तिसे। तो पुण्यके उदयसे धन सम्पदा मिली, विषयभोगोंमें आसक्ति हुई। विषयभोगोंमें आसक्ति होनेसे तीव्र पापका बंध हुआ और फिर उस पापके उदयमें नरकादिक दुर्गतियोंमें जन्म लेना पड़ा। तो यह पुण्य कौनसी भली बात हुई? जिस पुण्यके कारण कुछ समय बाद इसे दुर्गतियोंमें जाना पड़े और देखो पापका उदय आया, उपद्रव उपसर्ग आये और यह जीव उन उपद्रव उपसर्गोंमें कुछ प्रभुकी ओर आया, कुछ ज्ञान जगा, ज्ञानबल बढा शुद्ध परिणाम किया, मोक्षमार्ग मिल गया, निर्वाणका रास्ता तय करके मुक्त हो जायेगा कभी पापपुण्य रहित होकर। पापके उदयने कौनसा बिगाड़ कर दिया और पुण्यके उदयने कौनसा सुधार कर दिया? सुधार होना है जीवके शुद्ध ज्ञानभावके कारण। पुण्य पाप दोनों ही बेड़िया हैं, संसारमें रुलाने वाली हैं।

ज्ञानीकी अवशता—जो ज्ञानी पुरुष है वह न परपदार्थोंके आधीन होता है, न अशुभ भावोंके आधीन होता है और न शुभ भावोंके आधीन होता है। अशुभभावको जकड़कर रहना, अशुभ भावके करने में मौज मानना, अशुभ भावसे हित समझना, यह है अशुभभावका बन्धन और दया, दान, पूजा, वंदना यात्रा परोपकार आदिक परिणामोंमें मौज मानना और इन शुभ भावोंसे हित समझना, इन शुभ भावोंको करना अपना कर्तव्य मानना—ये सब हैं शुभभावके बन्धन। जो शुभ भावके भी बन्धनमें है उसके निश्चय परमआवश्यक काम नहीं होता है।

प्रभुका निष्पक्ष उपदेश—देखो—जिनेश्वरदेव ने स्पष्ट बताया है कि हे भक्त लोगों! तुम लोग जब तक मेरी भी भक्ति आराधना, पूजा करते रहोगे तब तक निर्वाण न पावोगे। पण्डितोंकी कल्पनामें

मानो कोई भगवान कह रहे हैं कि तुम लोग हमारी शरणमें आवोगे तो हम तुम्हें मुक्ति दे देंगे, जब कि जिनेश्वरदेवका यह उपदेश है कि भक्तजनो ! जब तक मेरी भक्तिका भी तुम विकल्प रखोगे तब तक निर्वाण न पा सकोगे। जिसकी कृपासे, जिसके उपदेशके प्रसादसे निर्वाणके मार्गमें हम लगे हैं उनका भी भेदभाव छोड़कर, विकल्प तोड़कर एक शुद्ध निज ज्ञानस्वरूपमें रम जानेपर निर्वाण मार्गकी प्रगति होती है। जो जीव शुभभावके भी आधीन है उसके भी परम आवश्यक कार्य नहीं होता है। यह योगी पुरुष जो कर्म और संसारके कर्मोंको नष्ट करनेके लिए उद्यमी होते हैं वे जिनेन्द्रदेवके निरूपित परम आचार शास्त्रोंमें लिखी हुई विधिके अनुसार अपना आचरण बनाते हैं।

साधुका त्रयोदशाङ्ग व्यवहारचारित्र—जैन आगममें साधुके तेरह प्रकारका चारित्र बताया है। हिंसा का पूर्ण त्याग, असत्यका पूर्ण त्याग, चोरीका पूर्ण त्याग, ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन और परिग्रहका पूर्ण त्याग, ये तो ५ महान् व्रत हैं। और चलें तो देखभालकर चलना, अच्छे परिणामोंसे चलना, किसी जीव को बाधा न पहुंचे, इस प्रकारसे गमन करना यही ईर्यासमिति है। हितकारी मधुर परिमित वचन बोलना यह ७वां आचरण है। भोजन करने जायें तो निर्दोष विधिसे भिक्षा आहार ग्रहण कर आना यह एषणा समिति है। कोई चीज धरना उठाना कमण्डल, शास्त्र आदिक अथवा उठे, बैठे, लेटे तो प्रासुक जमीन देखकर अथवा उस धरने उठाने वाली चीजको देखभालकर धरना उठाना यह आदाननिक्षेपण समिति है। कभी शौच जाना हो, मूत्रक्षेपण करना हो, थूक, खकार, नाक आदिको फेंकना है तो जमीन शुद्ध निरखकर फेंकते हैं ताकि जमीन पर पड़े हुए किसी भी जीवको बाधा न पहुंचे। इस प्रकारसे क्षेपण करना यह उनका १०वां चारित्र है और मनको वश करना कोई विकल्प न होने देना, अथवा मन न माने तो वन्दन पूजन चिन्तन इन ही शुभ भावोंमें लगाना, वचनोंका निरोध करना या वचनोंसे बोलना भी पड़े तो एक धर्मकी ही बात बोलना, शरीरको वशमें रखना आदिक तीन गुप्तियोंको मिलाकर १३ आचरण होते हैं।

निर्दोष बाह्यचारित्रमें भी परमावश्यकका भाव— त्रयोदशविध आचरणोंमें यह संयमी सावधान रहता है, ठीक है। यों यह शुभोपयोगमें भी चलता है। व्यावहारिक जो प्रक्रियाएँ हैं, धर्मध्यानके आचरण हैं उनमें भी लगता है और चारित्रके चरणानुयोगके जो कुछ भी प्रवर्तन हैं उनमें भी चलता है, याने समस्त व्यवहार क्रियावोंमें सावधान रहता है। समय पर स्वाध्याय करता, रोज एक बार ही भोजन करके अथवा उपवास आदिका पालन करके चारों प्रकारके आहारोंका त्याग कर देते हैं दूसरे दिन तकके लिए। जो जो क्रियाएं उसे करनी चाहियें प्रवृत्तिमें उन सब क्रियावोंमें वह सावधान रहता है। सुननेमें अच्छा लग रहा होगा कि यह संयमी बड़ा अच्छा काम कर रहा है, लेकिन संयमी पुरुषको ऐसा भला आचरण करके भी उन आचरणोंमें संतोष भी नहीं है, उसे तो ज्ञानके अनुभवमें ही संतोष आता है। इन मन, वचन, कायकी चेष्टावोंको करना ये तो कर्मोंके उदयका फल है, मेरे आत्माका स्वाभाविक काम नहीं है। ऐसा अपने स्वभावका परिचय रखने वाले भावलिङ्गी साधु जब शुभोपयोगसे भी विराम लेकर एक शुद्ध स्वभावके आलम्बनमें आता है तब उसके परम आवश्यक काम होता है। यही है आवश्यक काम।

आवश्यक शब्दका दुरुपयोग —भैया ! मोहीजन तो लड़ने भिड़नेको भी आवश्यक काम बताते हैं। मुझे बहुत जरूरी काम है। क्या जरूरी काम है ? फलाने का खबर लेना है, उसकी ठुकाई पिटाई करना है, यह जरूरी है। घर गृहस्थीमें प्रेम करना है यह जरूरी काम है। इस आवश्यक शब्दकी इन मोही जीवोंने मिट्टी पलीत की है। जो अर्थ 'आवश्यक' शब्दके किसी भी हिस्से से नहीं निकलता है उन सब दुष्कर्मोंको मोहियोंने आवश्यक काम बताया है। अरे ज्ञानीजन जानते हैं कि उपवास अथवा वन्दन स्तवन समितियोंका पालन—ये एक भी निश्चय परम आवश्यक नहीं हैं। शब्दार्थसे देखिये जो केवल

परमब्रह्म ज्ञायकस्वरूपके अवलम्बनमें ही हैं अर्थात् स्ववश हैं, उनका जो काम हो रहा हो उसका ही नाम आवश्यक है। ये साधु जब चाहें भगवान अरहंत परमेश्वर की स्तुति करनेमें भी व्याप्त रहते हैं, कितनी ही स्तुतियां कर रहे हैं और तीन कालमें जो कुछ करने योग्य काम हैं उन सबको करते हैं। यह उन साधुवोंकी बात कह रहे हैं जो बड़ी निर्दोष क्रियावों से चल रहे हैं और जो जो साधुके करने योग्य काम हैं उनमें बस रहे हैं लेकिन जब तक बाह्य क्रियावोंमें हैं, अपने ज्ञानस्वरूपके आलम्बनमें नहीं है उस समय भी परमआवश्यक काम नहीं कहा है।

प्रतिक्रमणविकल्पमें भी निश्चयपरमावश्यकका अभाव—प्रतिक्रमण ७ प्रकारके होते हैं। रात्रिक प्रतिक्रमण रात्रिभरमें जो अपराध होते हैं उन अपराधोंका दूर करना, उनकी आलोचना करना उन अपराधों से रहित आत्मस्वभावका ध्यान करना, प्रायश्चित्त लेना, ये सब रात्रिक प्रतिक्रमण हैं। दैवसिक प्रतिक्रमण दिन भरमें जो कुछ अपराध किया है रात्रिके प्रारम्भमें प्रतिक्रमण करना प्रायश्चित करना, ये सब दैवसिक प्रतिक्रमण हैं। एक अपराध कितनी बार पछतावेमें लिया जाता है सो ध्यान करिये। रोज-रोज तो करता ही था पर उन सब अपराधोंको १५ दिनमें एक बार फिरसे अपने सामने लेता है। उनकी निन्दा करता है, उनसे निवृत्त होता है। फिर इस तरह चार महीने व्यतीत होने पर उन समस्त अपराधोंको फिर अपने प्रायश्चित्तमें लेता है। फिर एक साल व्यतीत होने पर पुन एक बार साल भरके समस्त अपराधों को फिर ख्याल करके उनको दूर करता है, फिर अन्तमें जब मरणकाल आता है तो जीवन भरके समस्त अपराधोंको प्रतिक्रान्त करता है। इन प्रतिक्रमणोंको बोलते सुनते हुए शुभविकल्पमें रहते हुए साधुके भी निश्चय परमावश्यक नहीं है।

ज्ञानीके निरपराधस्वरूपका चिन्तन—अहो यह मैं आत्मा रागद्वेषादिक समस्त अपराधोंसे रहित केवल ज्ञानस्वरूप हूं। इसमें अपराधोंका स्वभाव नहीं है, किन्तु उपाधिका समर्ग पाकर अपने आपकी सुध भूल कर इन रागद्वेषादिक अपराधोंको भ्रमवश कर रहा हूं, करता था, अब ये मेरे मिथ्या हों। मैं अपने निरपराध स्वरूपको ही ग्रहण करूँगा। निरपराध स्वभावमें तीन शब्द हैं, नि' अप राध। निर उपसर्ग है, अप उपसर्ग है और राध संज्ञा शब्द है। राध् ससिद्धौ धातुसे राधो शब्द बना है। राधा अर्थात् आत्मसिद्धि। यह राधा जब पासमें नहीं रहती है तो उस भावको अपराध कहते हैं। राधा नाम है सिद्धिका आत्मानुभवका, आत्मोपलब्धिका। राधा न हो तो वह अपराध हो गया और अपराध अलग हो जाय तो वह निरपराध हो गया, अर्थात अब इस साधकके राधाका समागम हुआ है। निरपराध रहना इस आत्माका स्वभाव ही है लेकिन इस शब्दको भूलकर यह जीव अपराधी बन रहा है। उन अपराधोंका यह साधु प्रतिक्रमण भी करता है। जिस प्रतिक्रमणके स्वरूपसे ऐसा सतोष उत्पन्न होता है जिससे यह धर्मरूप शरीर रोमाचित हो गया है निरपराध होनेके लिए और धर्ममय बननेके लिए उत्साहित हो गया है, ऐसा भी यह पुरुष जब तक प्रतिक्रमणके सुननेमें बाचनेमें बोलनेमें लग रहा है तब तक उसके यह निश्चय परमआवश्यक काम नहीं है।

निश्चय परमावश्यक कार्य व उसका सहयोगी व्यवहारचारित्र—भैया! यह बहुत भीतरके पतेकी बात कही जा रही है। तब समझ लीजिए कि केवल पूजन वदन अथवा कुछ परोपकारके काम साधुसेवा इतने ही मात्रसे सतोष नहीं करना है। यह तो हम कुपथमें न चले जायें और सुपथमें हमारी दृष्टि बनी रहे उसका एक उपाय है। करने योग्य काम तो अपना जो सहज स्वरूप है उस सहजस्वरूपमें उपयुक्त होकर मग्न रहनेका है, लेकिन यह उत्तम कार्य गृहस्थजनोंसे कुछ कम बनता है, साधुजनोंसे विशेष बनता है, इस कारण श्रावकजनोंको मंदिर और अनेक विधिविधानका आश्रय करना बताया है। यह गृहस्थ साकार है, सागार है और साधु निराकार है, अनगार है। इन सब संसारके सकटोंके मिट देनेके लिए हम सबका

यह कर्तव्य है कि संसारकी छोटी मोटी बातोंमें भी हठ न करें और यहांकी गुजरी हुई घटनाओंसे सम्मान अपमान न मानें, यह तो मोहनिद्राकी स्वप्न जैसी बात है। हम अपनी प्रकृति ऐसी बनाएँ कि कोई अपराध करे तो भी उसे क्षमा कर दें। हम न क्षमा कर सकें तो आत्माका कोई लाभ न पायेंगे। बल्कि कुछ शल्य रखने के कारण हम अपना बिगाड़ ही कर लेंगे। हम अपना लोकव्यवहार इतना पवित्र रक्खें कि कभी कुछ व्यग्रता करनेकी जरूरत न रहे। जो पुरुष न्यायवृत्तिसे रहता है उसको कोई फिक्र नहीं होती है, चिन्ता और शोक नहीं होता है। जो अन्यायवृत्तिसे रहता है उसे चिन्ता और शोक क्षण क्षणमें सताते रहते हैं।

यथार्थ आनन्दलाभका उद्यम—भैया! क्या चाहिए तुम्हें? आनन्द ना? आनन्द तो ज्ञानकी स्वच्छता से मिलेगा। सोना चांदीसे आनन्दका रस निकलता हुआ कभी किसीने देखा है क्या? यदि देखा हो तो बतावो। वहां पर भी यह जीव कल्पित मौज मानता है। मौज एक ज्ञानकी कल्पनारूप उपयोग से उत्पन्न होता है, उस धनसे मौज नहीं उत्पन्न होता है। अपनी अनन्तनिधिको भूलकर साधारणसी कल्पित निधिमें अपना उपयोग जमाया है, उससे आनन्दमें बाधा ही डाली है, आनन्द नहीं लूटा है। हम सबका कर्तव्य है कि छुटपुट बातों पर ध्यान न रखकर जैसे इस एक शुद्ध ज्ञानका ही हमारा विकास हो, उसका ही हमें उद्यम करना चाहिए। अध्ययन करें, स्वाध्याय करें, चर्चा करें, परिणामोंको निर्मल रक्खें तो इस उपायसे उद्धारका मार्ग मिलेगा।

अनशन ऊनोदर तप करने पर भी पर्यायबुद्धिका खेद—मोक्षमें साक्षात् कारण अपने आत्माके आश्रय होने वाला सहज भाव है। अपने को ज्ञानमात्र अनुभव जो नहीं ले सकता ऐसा पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु होकर और बड़ी बड़ी तपस्यायें करके भी इस परमावश्यक अमूर्त तत्त्वको प्राप्त नहीं कर सकता है। बाह्य तप भी कितना दुर्धर काम है कि अनेक साधुजन दो चार दिन भी नहीं, ६ माह तक का भी लगातार निर्जल उपवास कर लिया करते हैं। आज न हों इतनी ऊंची तपस्याके साधक, किन्तु निकट पूर्वमें कभी थे। भूखसे कम खाना भी एक बड़ा तप है। कम नहीं खाया जा पाता, पेट भरनेके बाद भी कोई इस बातका खेद करते हैं कि यह मटका भर गया, नहीं तो और खा लेते। ऐसी दृष्टि वाले मोही जगतमें पेटसे कम खाना भी कितना बड़ा तप है? साधुजन कहो एक ग्रास ही लें, दो चार ही ग्रास लें, इस तरह वे सूक्ष्म भोजन करते हैं और ३२ ग्राससे कम ही आहार लेते, ऐसा उत्कृष्ट तपश्चरण भी करते, पर हाय रे मोही प्राणी, पर्याय बुद्धि हो जाय कि मैं साधु हूं, मुझे तप करना चाहिए, ऐसा सोचे तो उसका मोक्षमार्ग रुद्ध हो जाता है।

रसपरित्याग तप करके भी पर्यायबुद्धिका खेद—मोक्ष अथवा मोक्षमार्ग क्या बाहरी चेष्टावोंसे मिलेगा? अरे यह तो ज्ञानमें मिलेगा। पर ज्ञानका प्रकाश उत्कृष्ट रूपसे तब ही हो सकता है जब ज्ञान के बाधक परिग्रह, जो कि ममताके साधन हैं, न रहें। निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेषमें रहकर मोक्षमार्गकी साधना बन सकती है लेकिन कोई उस दिगम्बर भेषसे ही प्रेम करने लगे और शरीरकी बुद्धिमें अटक जाय तो उसे मोक्षमार्ग नहीं मिलता है। रसपरित्याग भी कितना कठिन तप है? रसका त्याग करना तो दूर रहो, रसीले मिष्ट पकवानके खानेकी ही धुन बनी रहती है। ऐसे इस मोही जगतमें रसपरित्याग भी कितना दुर्धर तप है? वैसे हिसाब सबका एकसा ही बन जाता है। आप चार दिन पकवान खायें तो ८ दिन मूंगकी दाल पर ही रहना पड़ेगा। हिसाब सब बराबर हो जायेगा, पर यह मोही जीव अपने विवेकका सम्हाल नहीं रखता। बारहों महीने सात्त्विक भोजन खाय, रसीले व्यञ्जन न खाये तो कोई हरज नहीं है पर कितना अज्ञान है कि मिष्ट, स्वादिष्ट, रसीली चीजें खाये बिना चैन नहीं पड़ती।

विविक्तशय्यासनमें पर्यायबुद्धिका प्रताप—एकान्त निवास भी बड़ी तपश्चर्या है। यह तपश्चरण भी

बड़ा महत्त्व रखता है। विषयोंकी दृष्टिमें आत्मा कायर हो जाता है, ज्ञानबल घट जाता है, शान्ति और आनन्दके लिए यह मोही जीव विषयोंका प्रसंग जुटाता है, किन्तु फल उल्टा निकलता है, क्लेशजाल ही रहता है। ये बाह्य तपश्चरण भी बड़ा महत्त्व रखते हैं, लेकिन धन्य है यह आत्मज्ञान जिसके बिना इतने दुर्धर तप करके भी इस संसारमें ही भटकना पड़ता है। कितने बड़े दुर्धर क्लेश साधु सहते हैं?

विविध कायक्लेश तप करने पर भी पर्यायबुद्धिका खेद—साधु जन शीतकालमें जहाँ कि झंझावात चल रहा है, नदीके किनारे अथवा किसी मैदानमें अविचलरूपसे एक आसन मारकर आत्माकी सुधके लिये यत्न करते हैं। ग्रीष्मकालमें जहाँ घरसे बाहर पैर भी रखना कठिन पड़ता है, साधुजन पहाड़की शिखर पर, छायारहित प्रदेश पर अपने आसनको स्थिर करके तपश्चरण करते हैं। ऐसे भी अनेक तपश्चरण किए जाते हैं। इन बाह्य तपोंमें निरन्तर उत्सुकता भी बढ़ रही है, किन्तु जो तपस्वी निरपेक्ष नहीं है, अर्थात् शुभभावका आलम्बन होनेसे यह परभावके आधीन हुआ है उसे स्ववश नहीं कहते हैं। उसके कर्तव्यको आवश्यक कर्तव्य नहीं कहते हैं। कोई पुरुष किसी परवस्तुके स्नेहसे बँध जाय और कोई अपने आपमें जो रागद्वेषादिक भाव हैं उनसे बंध जाय, जीव बंधता रागद्वेषसे ही है, परवस्तुसे नहीं बँधता है और कोई अपने आपमें जो धर्मके नामपर दया, दान, तप, भेष जो कुछ ममता है उसके भावमें ही बँध जाय तो ये सब परतंत्र जीव हैं। परतन्त्रता भावोंसे होती है। जिसका उपयोग स्वकी ओर लगा है, वह शरीरादिकके अनेक बंधनोंमें पड़ा हुआ भी स्वतंत्र है। जिसका उपयोग परद्रव्य और परभावकी ओर लगा है वह धर्मके नामपर बड़े कठिन तपश्चरण भी करे तो भी वह परतंत्र है। मोहमें साधुभेषका भी नाटक किया जा सकता है।

आत्मज्ञानके बिना तपश्चरण करके भी लाभका अभाव—यद्यपि यह बात निर्विवाद है कि साधु भेषमें आए बिना निर्वाण नहीं होता है, उत्कृष्ट धर्मध्यान और शुक्लध्यान नहीं किया जा सकता है, पर ऐसे भेषमात्रसे ही तो निर्वाण नहीं हो जाता। जो निरपेक्ष तपोधन निश्चयसे निज परमात्मतत्त्वमें विश्रांति लेता है, अपना स्वात्माश्रित धर्मध्यान और शुक्लध्यानको जानता है वही स्ववश है, स्वतंत्र है। उसके ही परमआवश्यक काम होता है। अरे एक आत्मज्ञान बिना ऊँचे तपश्चरण करनेका फल क्या होगा? अधिकसे अधिक स्वर्गमें उत्पन्न हो जायेगा। क्या स्वर्गमें क्लेशोंसे बच जायेगा यह जीव? यद्यपि वहाँ खाने पीने ठंड गर्मीका क्लेश नहीं है, वैक्रियक शरीर है, पर सबसे अधिक क्लेश तो मनका हुआ करता है। लोग शारीरिक सुखकी दृष्टिसे स्वर्गकी उत्सुकता मानते हैं, स्वर्ग मिल जाय, यह तो स्वर्ग ही गया होगा, पर यह नहीं जानते कि स्वर्गमें इस लोकसे भी अधिक क्लेश सम्भव है। जैसे यहां लखपति धनी पुरुष बड़ी मौजमें हैं, पर तृष्णा ऐसी बसी है कि उनके आगे जो दूसरे धनी हैं उनको देखकर मनमें क्लेश बना ही रहता है। कहां वहां सुख है?

यहांके सम्पन्नजनोंके क्लेशसे देवोंके क्लेशका अनुमान—भैया! यहीं देखलो एक भिखारीसे लेकर करोड़-पति तकके प्रायः सभी लोग दुःखी मिलेंगे। दृष्टि डाल लो ऊंचे से ऊँचा धनी हो, उसकी चर्या निरख लो सुखी कोई न मिलेगा। सुख सम्पदासे नहीं होता। आनन्द तो ज्ञानसे प्रकट होता है। आनन्दमय जो स्वयं है उस स्वयंके परिचयमें ही आनन्द प्रकट होता है। देखिये—आपका किसी पर यदि ४० हजारका कर्जा है, आपको इतना उससे लेना है और वह गरीब हो जाय, पलायन करे। लोग यह तय कर दें कि तुम उनसे १००) रु० लेकर फारकती लिख दो ३९ हजार ९०० छोड़ दो तो आप वहाँ क्या यह नहीं कह देंगे कि मुझे ये १०० रुपये भी न चाहिये। यों ही जब आपने अनेक भवोंमें अरबों, खरबोंकी सम्पत्ति को पा करके भी छोड़ दिया तो अब इस थोड़ीसी सम्पदाकी क्या इच्छा कर रहे हो? अब इस तुच्छ सम्पदामें क्या तृष्णा करना और यहाँ भी प्रकट देख ही रहे हैं कि सब कुछ किसी दिन छूट जायेगा।

इससे ही अनुमान कर लो कि स्वर्गोंमें वाहेका आनन्द है ? क्लेश परम्परा वहाँ भी है। वे निरन्तर अपने से अधिक वैभव वालोंको निरखकर मन ही मन कुढ़ते रहते हैं, जलते रहते हैं। बड़े देव छोटे देवों पर हुकूमत करके दुःखी होते हैं और छोटे देव दूसरोंकी हुकूमत पाकर दुःखी होते हैं। वहाँ भी कौनसा सुख है ? आत्मज्ञान बिना जो तपश्चरण किया जाता है उससे मानो स्वर्ग मिला जो कि शुभोपयोगका फल है। वहाँ शुभ रागके अंगारोंमें तपता रहा। कितनी मूढ़ता है वहाँ ? देवोंमें और देवियोंमें उनके शरीरमें हाड़, मास, खून, रज, वीर्य कुछ नहीं है। अच्छा वैक्रियक शरीर है, बड़ा रूपवान देह है, फिर भी वे काम वासनामें मस्त मग्न रहते हैं।

परम गुरुके प्रसादका लाभ—इन जीवोंकी संसार सीमा निकट आए, आसन्नभव्यताका गुण प्रकट हो तब ही इसे परमगुरुका लाभ होता है। सच्चे गुरुकी प्राप्ति होना समस्त पुण्योंमें महान पुण्यका फल है। गुरुजन निरपेक्ष बन्धु होते हैं। मित्रजन, परिजन तो किसी स्वार्थके माध्यमपर अपना स्नेह जताते हैं, किन्तु गुरुजन तो एक आत्महितकी स्पृहासे ही लोकके भलेकी बातके प्रतिबोधनसे ही वे जगतका उपकार करते हैं। कोई निकटभव्यता आए, होनहार निकट ही अच्छा होनेको हो तो परम गुरुका प्रसाद मिलता है। लोग कहते हैं कि गुरु जिसपर प्रसन्न हो जाये उसका भला हो जाता है। गुरु प्रसन्न वहाँ ही होते हैं जिस शिष्यके गुण रुचे हों। स्वयं गुरु आत्मगुणमें रुचि रखता है अतः ऐसे शिष्यको देखकर प्रसन्न हो जाता है। इस प्रसन्नतामें उसके मन, वचन, कायकी चेष्टा इस प्रकार होती है कि वे शिष्यजन आराम से ही कोई ऐसी कुञ्जी पा लेते हैं, कि जिससे निज परमात्मतत्त्वके दर्शनमें अटक नहीं रहती है। जिसका होनहार निकटकालमें ही उत्तम हो उसे परम गुरुके प्रसादका लाभ होता है। इस प्रसादमें इस परमात्मतत्त्व का श्रद्धान, परिज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्ध निश्चय रत्नत्रयके परिणमनमें उत्साह जगता है, वह निकट भव्य ही निर्वाणको प्राप्त होता है।

यथार्थ रुचिके विषयका निर्वाचन—देखो भैया ! खुदका खुद ही में घुल मिल जाना है ? इतना सस्ता सीधा काम, स्वाधीन काम कितना विकट पहाड़सा जँच रहा है और जिस परवस्तुमें हम त्रिकाल भी घुल मिल नहीं सकते उसमें घुलने मिलनेकी कल्पनाका काम कितना आसान जच रहा है ? निज ब्रह्ममें ही लीनता हो तो इसका कल्याण हो सकता है। बाह्यपदार्थमें स्नेह जगे यह तो दावानलमें जल भुनकर खतम होनेके समान है किसमें स्नेह करते हो ? जो पवित्र हो, पूज्य हो, जिस स्वरूपमें हित है उस स्वरूपका जहा विकास हो उसमें स्नेह करिये। इस घिनावने शरीरमें क्या स्नेह किया जाय ? जो अपनी ओरसे विरुद्ध परिणमन करे उनमें स्नेह करना फालतू है। जगतके ये सभी जीव मुझसे विरुद्ध परिणमन करने वाले हैं, किसमें दिल कब तक साधोगे, किसकी कषाय कब तक पूरी करोगे ? दिल साधते साधते भी तो रोज-रोज दिल बिगड़ना है, किससे स्नेह किया जाय ? स्नेहरहित ज्ञानप्रकाशमात्र निज सहजस्वरूपमें रुचि जगावो। यह ही पुरुषार्थ आत्महितका साधक है। इस ही आत्मपरिणतिसे निर्वाण प्राप्त होगा।

वैमानिकतामें भी सारका अभाव—हे कल्याणी जनो ! संसारकी चारों गतियोंमें क्लेश ही क्लेश हैं उनकी रति छोड़ो। स्वर्ग लोकका भी प्रेम छोड़ो, वहाँ भी क्लेश ही क्लेश है। आखिर वहाँ से भी च्युत होकर इस भूलोकमें ही जन्म लेना पड़ता है। लोकमें एक प्रसिद्धि है कि तपस्या करके जीव वैकुण्ठ में पहुंचता है और चिरकाल तक वैकुण्ठमें रहकर फिर वहाँसे कोई शक्ति ढकेल देती है, फिर संसारमें जन्म-मरण करना पड़ता है। इसमें मर्म और है क्या ? यह मर्म है कि यह मनुष्य साधु बनकर निर्ग्रन्थ भेष रखकर बड़ी ऊँची तपस्या करे किन्तु ब्रह्मज्ञान न हो, आत्मसुध न हो, पर्यायबुद्धि बनी हो, मैं साधु हूं, मुझे तपस्या करनी चाहिए, ऐसा उत्साहसहित तपश्चरण हो तो वह तपके प्रतापसे वैकुण्ठमें जन्म ले सकता है। वैकुण्ठ नाम है ग्रैवेयकका। लोक की रचनामें जहा इस मनुष्याकार लोकमें कंठका स्थान पड़ा

वहाँसे यही महाशक्ति बैकुण्ठका ही नाम मीवा है। ये साधु बाह्य तपस्या करके वैकुण्ठमें पैदा होते हैं और है उसे कहते हैं बैकुण्ठ जो छिपी हुई थी, वह इसे नीचे ढकेल देती है और संसारमें जन्म मरण लेना पड़ता है। स्वर्गके प्रति भी क्या स्नेह करें ? हे कल्याणार्थी जनो! स्वर्गकी भी प्रीति तज दो और निर्वाणका कारण जो शुद्धोपयोग है उसका आश्रयभूत जो निज सहज परमात्मतत्त्व है उसकी निरन्तर उपासना करो।

निष्पक्ष अनुभवरूप पुरुषार्थका निर्देशन—यह परमात्मतत्त्व परमआनन्दमय है। इसमें सर्वत्र निर्मल ज्ञानका विकास है यह सहजज्ञानस्वरूप निरावरण है, किन्तु यह आत्मतत्त्व किसी पक्षदृष्टिको रखकर अनुभवमें नहीं आता है। मैं मनुष्य हू, मैं अमुक कुलका हू, मैं अमुक मजहबका हूं, इस प्रकारकी जब तक दृष्टि है तब तक यह आत्मतत्त्व अनुभवमें नहीं आता है। कहा जाति है, कहां कुल है ? वह तो मनुष्य भी नहीं है, देवता भी नहीं है, कोई जतु प्राणी भी नहीं है, वह तो केवल ज्ञानपुंज है। ऐसी शुद्ध दृष्टिमें देह ही नहीं रहता तो अन्य पक्षोंकी तो चर्चा ही क्या करें ? समस्तपक्ष इस देहके देखनेसे उत्पन्न होते हैं, समस्त नाते समस्त रिश्तेदार इस देहको 'यह मैं हू' ऐसा माननेसे बनते हैं। समस्त विपत्तिया और विडम्बनावोंकी जड़ इस देहकी बुद्धि है। जो देह परिजनोंके द्वारा किसी दिन बेरहमीके साथ जला दिया जायेगा इस देहमें जो आत्मबुद्धि लगी है बस यह कुबुद्धि ही समस्त विडम्बनाओंका मूल है। किसी क्षण यदि देहरहित केवल ज्ञानपुंज आत्मतत्त्वका अनुभव करो तो ससारके सारे सकट नियमसे कट जायेंगे। किसी भी नाम पर पक्षपात न करो और आत्मतत्त्वके नाते से आत्मस्वरूपको जानकर आत्ममग्न होनेका अपना पुरुषार्थ बनावो, यह व्यवसाय ही हमारा सत्य पुरुषार्थ है और हमें आनन्दपदमें पहुचा देगा, अन्य सब रागद्वेषकी चेष्टाएँ केवल विडम्बनामात्र हैं।

दव्वगुणपज्जयाण चित्तं जो कुणइ सोवि अण्णवसो।
मोहांधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं ॥१४५॥

ज्ञानविकल्पकी प्रीतिमें अन्यवशता—प्रकरण यह चल रहा है कि निश्चयसे परमआवश्यक काम क्या है ? दुनियावी लोग विषय कषायोंके साधनोंको जुटाना ही आवश्यक काम समझते हैं किन्तु वे सब काम अनावश्यक नहीं हैं। आवश्यक उसे कहते हैं जो पुरुष किसी अन्य पदार्थके वशमें न हो, ऐसा अवश, स्वतंत्र पुरुषका जो कार्य हो, अर्थात् साधुसतजनोंके करने योग्य कामको आवश्यक कहते हैं। जो पुरुष अपने आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य किसी भी परभावके अथवा परपदार्थके वश होता है उसे अन्यवश कहते हैं। इस गाथामें अन्यवशका स्वरूप कहा गया है। जो पुरुष द्रव्य गुण पर्यायमें अर्थात् उनके विकल्पोंमें मनको लगाता है वह भी अन्यवश है। ऐसा मोहांधकारसे दूर रहने वाले साधुसत जन कहते हैं।

परवशताका विवरण—जो पुरुष धन मकान सम्पदा आदिमें चित्त रमाते हैं वे तो अन्यवश प्रकट ही हैं। जो परिजनोंमें, मित्रजनोंमें कुटुम्बियोंमें अपना चित्त लगाते हैं वे भी प्रकट अन्यवश हैं, किन्तु निश्चयसे तो वह भी अन्यवश ही है जो अपने रागद्वेष आदि विकारोंमें उपयोग लगाता है। रागादिक रूप ही मैं हू. इस प्रकार जो आत्मप्रतीति बनाये रहते हैं अथवा जो रागादिक सुहाते हैं, उनकी ही ओर जो आकर्षण बनाये रहते हैं वे भी अन्यवश हैं। यहाँ तो उन सब अन्यवशोंसे अत्यन्त सूक्ष्म अन्यवशकी बात कही जा रही है। धर्मकार्यमें ज्ञानकी आवश्यकता होती है और वह ज्ञान द्रव्य गुण पर्यायरूपमें किया जाता है, प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र स्वतत्र अपना स्वरूप लिए हुए है। प्रत्येक पदार्थमें सहज अनन्त शक्ति शाश्वत चली आयी है, उन शक्तियोंका दूसरा नाम गुण है। उन गुणोंके प्रत्येक के परिणमन निरन्तर चलते रहते हैं। वे परिणमन उन पदार्थोंके गुणोंकी व्यक्त दशा है। देखो ना विकल्पों परखुके

स्वरूपका विचार करना तो भला है ना, किन्तु इस गाथामें यह बता रहे हैं कि इन विकल्पोंमें भी जो अपना मन लगाते हैं वे भी अन्यवश हैं। केवल जो अपने सहज ज्ञानशक्ति स्वरूपमें उपयोग लगाये हैं वे तो अवश हैं, स्वतन्त्र हैं, मोक्षमार्गी हैं, किन्तु जो आत्मस्वभावसे च्युत होकर विकल्पोंमें लगता है वह अन्यवश है।

धर्मचर्चामें भी विवाद कलह होनेका मूल कारण—भैया! कभी देखा होगा विद्वान-विद्वान बैठे हों और वे कुछ धर्मकी चर्चा कर रहे हों, समझदार हैं, अपने ज्ञानकी बात कहा रहे हैं, द्रव्य गुण पर्यायकी चर्चा चल रही है, निमित्त उपादान आदि अनेक प्रकरण चल रहे हैं, उन प्रसंगोंमें एक दूसरेको जबरदस्ती कुछ मनाना चाहते हैं। बात ऐसी है, तुम जो कहते हो सो झूठ है, ऐसा दबाव डालते हैं और कभी कभी तो धर्मवार्ताके मध्यमें भी तनातनी हो जाती है और झगड़ा होने लगता है। यह झगड़ा किस बातका है? इस झगड़ेका मूल है विकल्पोंमें बुद्धिका रमाना। विकल्पोंमें जो आत्मीयताका उपयोग किया है, जो ऐसा विकल्प करता है यह मैं हूं, यह विकल्प मैं हूं मेरी बात यह मानता नहीं है, अरे यह कितनी महती विडम्बना है? धन सम्पदा पर झगड़ा हो तो यह कहा जा सकता है कि पैसेके बिना गृहस्थ जीवन नहीं गुजार सकते हैं इसलिए पैसे पर झगड़ा हुआ है, लेकिन धर्मवार्ता पर ज्ञानकी चर्चा पर भी झगड़ा होने लगे तो इसे कितना अधिक व्यामोह माना जा सकता है? जो पुरुष इन विकल्पोंमें भी अपना चित्त रमाता है उसे अन्यवश कहा है।

शुभविकल्पकी अपनायतमें श्रमणकी अन्यवशता—कोई द्रव्यलिङ्गधारी साधु जिसे अपने आत्माके सहजस्वरूपका अनुभव नहीं जगा है, किन्तु निर्ग्रन्थ भेष धारण करके २८ मूल गुणोंका विधिवत् पालन करता है, उन क्रियावोंमें विकल्पोंमें जो संतोष मान लेता है ऐसा द्रव्यलिङ्गधारी पुरुष चाहे वह बड़ा विद्वान् भी क्यों न हो और होते ही हैं ग्यारह अंग ९ पूर्व तकके पाठी, इतना विद्वान् होकर भी कितने ही द्रव्यलिङ्गी श्रमण रहा करते हैं। भगवान अरहंत देवके दिव्यध्वनिकी परम्परासे चला आया हुआ जो पदार्थका वर्णन है, कैसा वह मूलमें है, कैसा उनका परमात्म विकास है, इन समस्त पदार्थोंका प्रतिपादन करनेमें वह साधु बड़ा समर्थ है। फिर भी उन छहों द्रव्योंकी चर्चामें वस्तुस्वरूपकी चर्चाके विकल्पमें अपना चित्त रमाता है तो उसे भी परतंत्र कहा गया है। वह भी साधु पराधीन हो गया है, स्वाधीन नहीं रहा है। यद्यपि ये साधु किसी धन सम्पदाके आधीन नहीं हुए हैं, बाह्य परिग्रहोंसे पूर्ण विरक्त हैं और वे इतने दिलके पक्के हैं कि कोई दुश्मन इन्हें पीटे, मारे, इन पर उपसर्ग करे तो भी वे समता धारण करते हैं, उसे किसी भी प्रकारका वे कष्ट नहीं पहुंचाना चाहते हैं, किन्तु इस समताके मूलमें भाव यह पड़ा है कि मैं साधु हूं, मुझे समतासे रहना चाहिए, रागद्वेष न करना चाहिए, ऐसा अपने आपमें शुभ-विकल्पोंमें आत्मत्वका विश्वास बनाये हैं। तो इस पर्यायरूपके विकल्पसे वह साधु भी अन्यवश है, परतंत्र है।

परमब्रह्मस्वरूपके परिचय बिना विज्ञान निपुणके भी परमावश्यकका अभाव—यह चर्चा आत्माके अंतर्मर्मका चल रही है। आत्माका अंतरङ्ग, वास्तविक, शुद्ध, निरपेक्षस्वरूप जो है उसके स्वीकार किए बिना यह जीव दुर्धर तपस्या करके और ज्ञानकी बड़ी-बड़ी चर्चायें करके भी परवश रहा करता है, उसके आवश्यक कर्म नहीं होता। इन छहों द्रव्योंमें एक द्रव्य तो मूर्तिक है पुद्गल द्रव्य, जिसमें रूप रस गंध स्पर्श पाया जाय उसे मूर्तिक कहते हैं। मूर्त केवल पुद्गलद्रव्य ही है। शेषके ५ द्रव्य जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अमूर्त पदार्थ हैं, इनमें रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं हैं। इस प्रकार मूर्त अमूर्तके भेदसे पदार्थोंका परिज्ञान और प्रतिपादन किया जा रहा है, अथवा छहों द्रव्योंमें केवल जीवद्रव्य तो चेतन है शेष पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये ५ द्रव्य अचेतन हैं। इनका विस्तार इनकी

परिणतियां, इनका विधिविधान, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध, स्वभाव और विभाव रूप परिणति—इन सब चर्चाओंमें भी जो चित्त लगाये है और उनका वर्णन करनेमें भी जो बड़ा कुशल है ऐसा भी ज्ञानी पुरुष एक परमब्रह्मस्वरूपका ग्रहण न कर पाने से परतन्त्र है और उसके आवश्यक काम नहीं कहा गया है।

अपनी बात—यह चर्चा बहुत गहरी है, साधारण परिज्ञानसे भी समझमें नहीं आती है, लेकिन चर्चा अपनी चल रही है, अपने आपके आत्माकी बात है। जो पुरुष इतनी बड़ी प्रतिभा रख रहा हो, बड़े-बड़े व्यापार रोजगारके हिसाब कर रहा हो और बड़े विज्ञानकी बातें भी बना सकता है वह पुरुष अपने आपके आत्माकी सही बात न समझ सके ऐसा कैसे हो सकता है? किन्तु रुचि और बुद्धि चाहिए। दृष्टि अपने आपकी ओर हो तो यह सब सुगम है। निज सहज परमब्रह्मस्वरूपको 'यह मैं हूं' ऐसा अनुभव किए बिना यह जीव कर्मोंको दूर नहीं कर सकता है। इस संसारी जीवने अपने आपको नाना रूपोंमें मान रक्खा है। जो जीव जिस शरीरको धारण करता है वह उस ही रूप अपनेको मानता है और इसी कारण शरीरमें कुछ भी बाधा आए, रंच भी संकट आए तो अपनेको विपन्न अनुभव करता है। मैं बहुत विपत्तिमें हूं। अरे सबसे बड़ी विपत्ति तो यह है कि शरीरको आपा माना जा रहा है। शरीरमें रोग हो गया अथवा धन सम्पदामें कुछ कमी हो गयी तो यह कोई संकट नहीं है। ये तो समस्त परपदार्थ हैं, उनका परिणमन उन ही पदार्थोंमें हो रहा है। तेरेको इससे क्या संकट है? संकट तो यह है कि इन परपदार्थोंमें तू आपा मान रहा है, यह मैं हूं इस प्रकारका जो भीतरमें भ्रम पड़ा है यह भ्रम ही महान् संकट है, इस जीव पर अन्य कुछ संकट नहीं है। परवस्तुवोंमें होने वाली स्थितियोंसे यह मोही जीव अपने पर संकट मान लेता है।

गुण पर्यायोंका विज्ञान—यह पदार्थके स्वरूपके प्रतिपादनकी बात चल रही है। प्रत्येक पदार्थ अपने गुणोंमें कुछ न कुछ परिणमन कर रहा है और प्रत्येक पदार्थ अपनी कोई न कोई सकल बनाये रहता है। पदार्थमें आकार बननेकी परिणति है उसे तो व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और पदार्थ में गुणोंके परिणमन की जो विशेषता है उसे अर्थपर्याय कहते हैं। जैसे ये दृश्यमान भौतिक पदार्थ पुद्गल हैं, ये अपना कोई न कोई रूप रखते हैं, काला, पीला, नीला, लाल, सफेद आदि कुछ भी रंग रखते हैं। ये भौतिक पदार्थ खट्टा, मीठा, कड़ुवा, कषायला, चर्परा इत्यादि कोई न कोई अपना रस परिणमन रखते हैं। इसी तरह रूखा, चिकना, कड़ा, नरम, ठंडा, गरम इत्यादि स्वभावरूप अपने आपको बनाये रहते हैं। यों ही सुगंध दुर्गन्ध आदिक भी कुछ परिणतियां हैं। ये पकड़ी नहीं जा सकती हैं, उठायी नहीं जा सकती हैं। जरा इन पदार्थोंका रंग उठाकर दे दो। आप नहीं दे सकते हैं। इसी प्रकार जरा किसी पदार्थका रस लाकर दे दो, नहीं दिया जा सकता है। ये तो केवल स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इन्द्रियके द्वारा ज्ञानरूप ग्रहण में आया करते हैं। ये सब तो गुणपर्याय हैं। इन पदार्थोंका जो यह ढॉचा बना है, कोई गोल है, कोई चौकोर है, कोई तिखूंटा है, इस प्रकारका जो आकार बना है यह व्यञ्जनपर्याय है।

अन्तस्तत्त्वके अनुभवके बिना विविध विज्ञानसे आवश्यकका अभाव—यों अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय की चर्चा करके भी अथवा इस गुणपर्याय और व्यञ्जनपर्यायसे भी अत्यन्त सूक्ष्म जो षड्गुण हानि वृद्धि द्वारा पदार्थका निरन्तर अर्थ परिणमन चला करता है, उसका प्रतिपादन इतना गहरा सूक्ष्म वर्णन करके भी जो साधु इन विकल्पोंमें ही रमता है और धर्मकी बात करके ही अपने को सन्तुष्ट मान लेता है वह भी अन्यवश है, पराधीन है। अभी उसने जो सहज निज स्वरूप है उस स्वरूपका अनुभव नहीं किया है, इससे भी यह परमआवश्यक काम नहीं होता है। इस द्रव्यलिङ्गी साधु ने त्रिकाल निरावरण नित्य आनन्दस्वरूप जो निज कारण समयसार है अर्थात् अपने आपका जो सहजस्वरूप है उसमें चित्त नहीं

दिया है।

स्वगुणपरिणमन—यह सहजस्वरूप सहजगुणों और सहजपरिणमनोंका आधारभूत है। जिस प्रकार भी हम आपमें उस आनन्द गुणका विकास हो रहा है, चाहे वह दुःखके रूपमें हो रहा हो, चाहे सुखके रूपमे हो रहा हो अथवा शुद्ध आनन्दके रूपमे हो रहा हो, वह सब मेरे गुणों से ही उठ कर हो रहा है। किसी अन्य भोजन आदिक परपदार्थोंसे उठाकर यह सुख नहीं उत्पन्न होता है, किन्तु एक बाह्य ऐसी परिस्थिति है कि यह जीव भोजन करके उस निमित्त और प्रसगमे उठ तो रहा है अपने आपके ही आनन्द गुणसे सुख परिणमन, किन्तु भ्रमवश मानता है कि मुझे भोजनमे सुख मिल रहा है।

परानन्दभ्रमपर एक दृष्टान्त—जैसे कोई कुत्ता किसी सूखी हड्डीको चबाता है तो उस चबानेमें दातों का वजन उसके मसूड़ोंपर पड़ता है जिससे उसके ही मसूड़ोंसे खून निकलता है। उस खुदके ही खूनका स्वाद उसे आता रहता है लेकिन मानता है कि मुझे हड्डी का स्वाद मिल रहा है। यों ही ये संसारके प्राणी इन पञ्चेन्द्रियके विषयों को, इन भौतिक साधनों को भोगकर इनके प्रसगमें आनन्द तो मिल रहा है खुद के ही आनन्द गुणका किन्तु भ्रम यह हो गया है कि मुझे भोजनका स्वाद आ रहा है, पुत्र, मित्र, स्त्रीका सुख आ रहा है। इस कारण इन विषयसाधनोंको सुरक्षित बनाए रखने के लिए और इनका परिवर्द्धन करने के लिए रात दिन श्रम किया जा रहा है। भैया! इस आत्माको इतनी सुध नहीं है कि अरे यह समस्त चमत्कार तेरे आत्माका ही है, जितना ज्ञानविकास है वह तेरे आत्मासे ही प्रकट होता है, जितना आनन्द विकाश है वह भी तुझसे ही प्रकट होता है किसी बाह्य वस्तु नहीं।

महापुरुषोंको आत्मदर्शनमे सन्तोष—जो पुरुष विवेकी होते हैं, ज्ञानवान् होते है, जिन्होंने जगतका और अपने आपके यथार्थस्वरूप का भान किया है उन पुरुषोंके ऐसा वैराग्य जगता है कि पाये हुए राज्यपाट को, करोड़ों अरबोंकी सम्पदाको असार जानकर उसका त्यागकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेषमें वस्त्र मात्र भी जो परिग्रह नहीं रखते हैं, केवल शरीर मात्र ही उनके साथ है, ऐसे परमविविक्त बनकर वनमे अपने आपका ध्यान करते है, अपने आपका दर्शन करके सतुष्ट रहा करते हैं। भला उन्हें यदि उस जगलमें अपने आपका अद्भुत आनन्द न मिलता होता तो वे जगलसे भागकर अपने छोड़े हुए राजपाटको सभालने क्यों न आ जाते? एक बार घरसे निकलकर फिर आ गए हैं, ऐसा देखकर घरके लोग खुशियां मनाते, पर आपने बड़े-बड़े पुराणोंको भी पढ़ा होगा—बड़े-बड़े राजा लोग, सेठ लोग उस त्यागे हुए वैभवके बीचमें फिर नहीं आए। वे तो जगलमें ही आत्मध्यानमे मस्त रहे, उसमें ही सतुष्ट रहे। कैसा अद्भुत आनन्द है इस आत्मामें?

अध्यात्मयोगज आनन्दमे कर्मनिर्दहनसामर्थ्य—आत्माके स्वरूपका भान होनेसे जो एक अद्भुत विलास प्रकट होता है उस आनन्दमें ही यह सामर्थ्य है कि भव-भवके सचित कर्मोंको क्षणभरमें ही विनष्ट कर दे। कष्ट सहनेसे कर्म नहीं मिटते है बल्कि बँधते हैं। तपस्वीजन तपस्या करके, उपवास करके, तीनों गुप्तियोंकी कठिन साधना करके अतरगमें निरन्तर प्रसन्न रहा करते हैं, कष्ट नहीं मानते हैं। अज्ञानी जीवोंको ऐसा दिखता है कि ये साधुसत बड़ा कष्ट भोग रहे हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष इस बातका अतरङ्गमें बड़ा सतोष मान रहे हैं कि मैं अन्य पदार्थोंके विकल्पसे हटकर निर्विकल्प आनन्दधाम निजस्वरूपकी ओर लग रहा हू। जो पुरुष कभी भी अपने आपमें अपने उपयोगको नियुक्त नहीं करता वह बड़ी तपस्यायें करके भी पराधीन हैं। ऐसा प्रतिपादन उन सत पुरुषोंने किया है, जिनके मोहका अधकार रच भी नहीं रहा है। जिन्होंने इस परमात्मतत्त्वकी भावना करके वीतराग परम आनन्द प्रकट किया है ऐसे महाश्रमणोंने परमश्रमण केवली भगवन्तोंने बताया है।

योगीका आत्मप्रयोजन—ज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन करते हैं कि आत्मकार्यको छोड़कर अन्य जगह

चित्त लगाने से लाभ न होगा। जो आत्मनिष्ठ यति हैं उन यतियोंका किसी अन्य पदार्थसे कुछ प्रयोजन नहीं है। जब तक जतुवोंके परविषयक चिन्ता बनी रहती है तब तक उनका ससारमें ससरण चलता रहता है। अनेक कुयोनियोंमें वे जन्म मरण प ते रहते हैं। जैसे अग्निको ईंधनका सहवास मिल जाय तो अग्नि बढती ही रहती है इसही प्रकार इस जीवको परविषयक चिन्ता। विषय रहे तो इसका रस र बढ़ता रहता है। ज्ञानी विरक्त साधुसत समस्त परद्रव्योंसे उपेक्षा करके निज सहज ज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव करने मे ही उत्सुक रहा करते हैं और इनके ही परमआवश्यक कर्तव्य हुआ करता है।

परिचत्ता परभाव अप्पाणं भादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥१४६॥

जो श्रमण परभावको त्यागकर निर्मल स्वभाव वाले आत्माको ध्याता है वह ही वास्तवमें आत्मवश है, स्ववश है, अवश है और ऐसे ही श्रमण श्रेष्ठके आवश्यक कर्म होता है, ऐसा भगवंतदेव ने कहा हैं।

पर, परभाव व परोपाधिजभावसे विविक्त आत्मभावका ध्यान—आत्मामें वे परभाव कौन-कौन हैं जिनका विकल्प तोडना है और वह निज भाव कौनसा है जिसका आलम्बन करना है, परभावके अनेक अर्थ हैं, भावका नाम पदार्थ भी है। परभाव अर्थात् पर-पदार्थ। एक अपने आत्मतत्त्वको छोड़कर, आत्म-पदार्थको छोड़कर जितने भी अन्यपदार्थ हैं वे सब परभाव हैं। यथा—धन सम्पदा परिजन कुटुम्ब देह मित्र जन आदि। परभावका दूसरा अर्थ है परका भाव। जो परपदार्थ हैं उनका जो परिणमन है, स्वरूप है वह भी परभाव है। ये परभाव उन्हीं परपदार्थोंमें तन्मय हैं। परभावका तीसरा अर्थ है पर-उपाधिके निमित्तसे जायमान विरुद्धभाव, विभाव। ये परभाव रागद्वेष मोहादिक हैं, ये परभाव औदयिक भाव हैं। इन परभावोंका परित्याग करके यह योगी आत्मस्वभावको ध्याता है।

क्षायोपशमिक विलासोंसे विविक्त आत्मतत्त्वका ध्यान—अब इन परभावोंसे भी और अंतः परभावों को तकिये, आत्मामें जो विकल्प वितर्क विचार छुटपुट ज्ञान उठते हैं वे भी आत्माके निजभाव नहीं हैं। ये कर्मोंके क्षयोपशमका निमित्त पाकर आत्मविकाररूप भाव हैं, यह हैं क्षायोपशमिक भाव। अब इससे और अन्दर चलिए। तो आत्मामें जो मिथ्यात्व आदिक प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व अथवा चारित्र मोहके उपशमसे उत्पन्न हुआ औपशमिक चारित्ररूप भाव है यह भी परभाव है। यद्यपि यह औपशमिक भाव आत्माका एक विकास है किन्तु इस भावका आविर्भाव कर्मके उपशमको पाकर होता है और उपशम होनेपर इसकी जितनी स्थिति हो सकती है उतनी गुजरने पर यह उपशम भाव मिट जायेगा। इस कारण यह औपशमिक भाव भी परभाव है।

क्षायिकभावसे विविक्त आत्मभावका ध्यान—अब और अंतः चलिए तो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाला जो क्षायिक भाव है यह भाव यद्यपि आत्माका शुद्ध विकास है, कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण इस भावका फिर कभी अभाव भी नहीं होता है, क्योंकि कर्मोंका क्षय भी सदाके लिये हो चुका है। अब कोई भी कर्म प्रादुर्भूत न होंगे और न यहां किसी प्रकारका विकार भी आविर्भूत होगा। इतनी शुद्धता है किन्तु भावकी दृष्टि सापेक्ष है, क्षायिक भाव कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाला परिणाम। इस प्रकार क्षायिकताके नाते से यह क्षायिक भाव भी परभाव है। इन समस्त विकल्पोंका परित्याग कर जो श्रमण निजभावमें अपना उपयोग लगाता है, उसका ही आश्रय लेता है उसके ही परमआवश्यक काम होता है।

आत्माका सहज निजभाव—वह निजभाव क्या है जिसके आश्रयमें परमावश्यक होना है? वह है चित्स्वभाव, परमपारिणामिक भाव, सहजस्वरूप। यह सहज चैतन्यभाव किसी परकी अपेक्षासे नहीं है, न किसी परकी सत्तासे प्रादुर्भूत होता है, न परके वियोगसे प्रादुर्भूत होता है। यही आत्माका शाश्वत प्राण है अथवा स्वभाव स्वभाववानमें भेद नहीं होता है। [illegible]

को किसी भी दृष्टिसे स्वभाववान्से भिन्न प्रतिपादन करना, धर्मधर्मीकी रीति भी बताना, यह सब व्यवहारका प्रतिपादन है। व्यवहारसे ही यहाँ अखण्ड वस्तुको खंड करके समझाया गया है।

व्यवहारसे पारगत निजभावके ध्यानमे आवश्यक—भैया! व्यवहारके दो काम होते हैं, जोड़ करना और तोड करना। जोड़ करना यह तो व्यवहारकी जघन्य दृष्टि है और तोड करना यह व्यवहारकी उस से उत्कृष्ट कक्षाकी दृष्टि है, फिर भी जोड़ करना और तोड़ करना—ये दोनों ही व्यवहार हैं। जैसे जो आत्माके भाव नहीं हैं, परभाव हैं, रागद्वेषादिक हैं इन्हें आत्मामें जोड़ना ये रागादिक आत्माके हैं, ऐसा बताना यह जोडरूप व्यवहार है और आत्मामें ज्ञान, दर्शन श्रद्धा, चारित्र, आनन्द आदिक गुण, ये अभेदरूप हैं। इनमें आत्मा शाश्वत तन्मय है, फिर भी प्रतिबोध करनेके लिए हमें तोड़ करके कहना पड़ता है। जैसे आत्मामें ज्ञान दर्शन श्रद्धा चारित्र आदिक अनन्त गुण हैं, यह तोड़रूप व्यवहार है। इस परमपारिणामिक भावमें जोड़ लगावे, तोड लगावे ऐसी पद्धति न बना कर, किन्तु स्वयं निरपेक्षताका प्रयोग करके अपने अनुभवमें उतारे, वहां जो कुछ इसे अनुभूति होती है वह निजभाव है। ऐसे निजभाव को जो योगी ध्याता है वह आत्मवश है, अपने आधीन है अर्थात् स्वतंत्र है। उसके ही ये समस्त आवश्यक कर्म होते हैं।

परमजिन योगीश्वरका स्वरूप—इस गाथामें ऐसे योगीश्वरका स्वरूप कहा गया है जो रागद्वेषादिक विभावोंको जीतने वाला है और एक सहज चैतन्यप्रकाशके अतिरिक्त अन्य किसी भी तत्त्वका आलम्बन नहीं ले रहा है, ऐसा साक्षात् अवश परमजिनयोगीश्वरका इसमें स्वरूप कहा गया है। ऐसा शुद्ध जिसका उपयोग है, इस सहजस्वरूपमें रम रहा हो, जिसे इस शुद्ध आत्मतत्त्वके दर्शनके सिवाय अन्य कुछ भी न रुचता हो, यही साधु परमेष्ठी हैं, पूज्य हैं, आराध्य हैं, उपास्य हैं, ऐसे योगीश्वरका ज्ञान द्वारा सत्संग करनेमें वह फल मिलेगा जो इस योगीश्वरको असीम आनन्द मिला है। यह योगीश्वर निरपराग निर-ञ्जन स्वभावको उपयोगमें लिए हुए हैं। इसके देह लगा है, पर देहकी इसके दृष्टि ही नहीं है, देहका कुछ ख्याल ही नहीं है, हमारे देह भी लगा है इतना तक भी विकल्प नहीं है, यह तो रागद्वेषरहित केवल ज्ञान-प्रकाशमात्र अपने आपमें अनुभवा जा रहा है।

सहजनिजभावकी मनोवाककायागोचरता—यह परमजिन योगीश्वर औपशमिक आदिक भावोंका परित्याग करके ऐसे निर्मलस्वभावका ध्यान करता है जिसका ध्यान कायकी क्रियावोंके व वचनोंके अगोचर है। शरीर द्वारा जो क्रियाकाण्ड किये जाते हैं धर्मके प्रसंगमें भी वे क्रियाकाण्ड एक शुद्धभावके अनुमापक हैं, किन्तु वे शुद्ध ध्यानके साधन नहीं हैं। कोई पुरुष अपने आपमें अपने सहजस्वरूपका ध्यान दृढ बनाये रहता हो और उसको कदाचित् शरीर धर्मके कारण बाह्यमें कुछ क्रियाएँ करनी पडती हैं तो वे क्रियायें इस प्रकार होती हैं कि वे सब आत्मशुद्धिके अनुमापक हैं। जैसे जो पुरुष अन्याय करता हो, अभक्ष्य खाता हो, अयोग्य आचरण करता हो तो यह अनुमान होता है कि इसे धर्मकी श्रद्धा नहीं है। धर्मकी श्रद्धा न होना यह भीतरके परिणामोंका कार्य है, बाह्यप्रवृत्तिका कार्य नहीं है, किन्तु वह बाह्य प्रवृत्ति उस अश्रद्धाका, मिथ्यात्वका अनुमापक है। इस ही प्रकार ज्ञानियोंका यह समस्त चरणानुयोग, चारित्रपालन साधुवोंकी अंतरङ्ग स्वच्छताका अनुमापक है। आवश्यक कर्म अथवा कर्म विनाशका साधन-भूत परिणाम इस अन्तरङ्गमें ज्ञायकस्वरूपका उपयोग है। यह ध्यान कायकी क्रियावोंके द्वारा नहीं हो सकता है। इस ध्यानके लिए कुछ पात्रता विवेकी मनसे जगती तो है, किन्तु इस मनका भी कार्य निराव-रण निरुपम ज्ञायकस्वरूपका अनुभव करा देना नहीं है, किन्तु इस ज्ञायकस्वरूपका अनुभव जगता है तब यह मन उस परिणमन प्रसंगसे अलग हट जाता है। वहां केवल इस निरपेक्ष उपयोगका इस निरपेक्ष स्वभावमें मिलन होता रहता है, ऐसे निरावरण निर्मल स्वभावका जो योगीश्वर ध्यान करता है, वही

वास्तवमें स्वतन्त्र है, स्ववश है।

आत्माश्रयणकी शिक्षा--इस प्रकरणसे हमे यह शिक्षा लेनी है कि हम जान बूझकर अपने भ्रमसे कितनी परतन्त्रता बढाये चले जा रहे हैं, बाह्यपदार्थोंका विकल्प मचाकर परतन्त्र बने हैं और अपने आपमे उठने वाले कषायोंको अपना कर परतन्त्र बने हैं, इन विषय कषायोंके परिणामोंसे रहित एक ज्ञानप्रकाश ही जहां विस्तृत हो रहा है ऐसे ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपका आश्रय हो तो यह आत्मा स्वतंत्र है, ब्रह्मज्ञ है, ब्रह्मनिष्ठ है, आत्ममग्न है। जो आत्ममग्न पुरुष है वही वास्तवमें स्वतंत्र है। इस स्वतन्त्रताके विना, इस आजादीके विना समस्त पापरूप वैरी अपनी विजय-पताका फहरा रहे हैं अर्थात् इस जीवमे ये सर्वविषयकषायोंके पाप स्वच्छन्द उमड रहे हैं और इसे बरबाद किए जा रहे हैं। इन समस्त वैरियोंकी सेनाकी पताक को ध्वस्त कर देनेमें समर्थ यह कारणसमयसारका ध्यान है। जहाँ शुद्ध विधिसे निज ब्रह्मस्वरूपका आलम्बन लिया वहां कोई पाप नहीं ठहर सकता है। इस प्रकार जो आत्मस्वभावका ध्यान करता है वही वास्तवमे आत्मवश पुरुष है। ऐसे ही पुरुषके यह परमआवश्यक कर्म होता है अर्थात् शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप अंत क्रिया उसके ही प्रकट होती है।

योगीश्वरका उत्तरोत्तर उन्नतपदनिवास--यह योगीश्वर व्यवहारश्रद्धान् व्यवहारज्ञान व्यवहारचारित्र के प्रसादसे इससे भी ऊँचे चलकर निश्चयश्रद्धान, निश्चयज्ञान और निश्चयचारित्रकी पदवीमें आया है और यह भी भेदोपचाररूप रत्नत्रयसे उठकर एक अभेद अनुपचाररूप रत्नत्रयमें आया है, ऐसे पावन श्रमणके यह महान् आनन्दका देने वाला निश्चयधर्मध्यान और निश्चयशुक्लध्यानरूप आवश्यककर्म होता है। यह ज्ञानाश्रयरूप पुरुषार्थ समस्त बाह्य क्रियाकाण्डोंके आडम्बरसे अतीत है। नाना विकल्प कोलाहलोंका प्रतिपक्षभूत है। ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान रखने वाला साधुपुरुष कैसा श्रद्धानी है कि जिनेन्द्रमार्गसे ही चल रहा है, अपने व्रत तप क्रियाओंमे सहज सावधान बन रहा है, फिर भी इसकी दृष्टि इन समस्त क्रियाकाण्डोसे पार होकर एक निज सहज ज्ञानस्वभावमे रमती है, ऐसे ही योगीश्वरके यह परमआवश्यक कर्म होता है।

निश्चय परमावश्यक कार्य--इस अधिकारमे निश्चयसे उत्कृष्ट आवश्यक काम क्या है, उसका वर्णन किया जा रहा है। आवश्यक का अर्थ अन्य भाषाके अनुवादमें "जरूरी" कहा गया है, पर जरूरी अर्थ तो फलित अर्थ है, व्युत्पत्तिक अर्थ नहीं है। आवश्यक शब्दमें मूलमे तो 'अ' और 'वश' ये दो शब्द हैं। जो किसी भी परतत्त्वके वशमें नहीं है ऐसे पुरुषको अवश कहते है। उसके प्रवर्तनको आवश्यक कहते हैं अर्थात् आत्मकल्याणके लिए जो अतः शुद्ध पुरुषार्थ चलता है वह है आवश्यक काम। यह ही है कल्याणार्थी पुरुष का जरूरी काम। बाकी सब काम अनावश्यक हैं।

मोहनिद्राके स्वप्नका एक दृष्टान्त--जिन्हें लोग अधिकाधिक चाहते है, धन सम्पदा परिजन मित्रजन यश प्रतिष्ठा ये सब अनावश्यक चीजे है। ये सब मोहनिद्रामें देखे गये स्वप्न हैं। जैसे नींदमे किसीको खराब स्वप्न आ जाय, जगलमे फस गए है, सिंह सामने आ गया है, वह हमला करना चाहता है, ऐसा स्वप्न दीखे तो वह पुरुष कितना घबडाता है, कितना कष्ट पाता है? पड़ा हुआ है वह अपने घरके सजावट वाले कमरे में, सोया हुआ है वह कोमल गलीचों पर वहां न सिह है, न जगल है, किन्तु स्वप्नमें कल्पना आ गयी जगलकी और भयानक सिहकी, सो उसके बड़ी तीव्र वेदना चल रही है। उसकी नींद खुल जाय तो उसका सारा भय कापूर हो जाता है, सब भय नष्ट हो जाता है। उसे स्पष्ट यह प्रतीत होता है कि कहाँ है यहा सिंह, कहा है यहाँ जंगल, यह तो मै अपने ही घरमें सुरक्षित बसा हुआ हू।

मोहनिद्राका स्वप्न-- ऐसे ही जिन्हें मोहकी निद्रा छायी है उन्हें इस मोहनींदमे स्वप्नमे सब दृश्य

दिख रहे हैं कि यह घर मेरा हैं, परिजन मेरे हैं, यह वेदना आयी है। धन कम हो गया है, यह बड़ा सकट है, ये लोग अनुकूल नहीं चलते हैं, आज्ञा नहीं मानते हैं। जिस जीवसे पूछे, जिस मनुष्यसे पूछो प्राय वह अपना कोई न कोई दु ख उपस्थित करता है, मुझे बड़ा क्लेश है। क्लेशकी चर्चा सुनो तो वह यही कहेगा कि परवस्तुका यों परिणमन हो रहा है। अरे हो रहा है तो होने दो, परिणमन तो किसी का रुकता नहीं है, परका जो परिणमन है चलता है चलने दो, उसमे इसकी कौनसी बाधा आती है लेकिन इस मोही जीवने जो परवस्तुवोंको अपना रक्खा है, उसके कारण क्लेश ही क्लेश हम पर गुजरता है। यह सब मोहकी नींदका स्वप्न है। कभी गुरुप्रसादसे यह मोहनिद्रा भग हो जाय और इस ज्ञाननेत्रसे स्पष्ट तत्त्व अनुभवमें आ जाय. ओह यह मैं आत्मा तो केवल ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हू, इसके कहा मकान है, यह तो अमूर्त निज प्रदेशमात्र है, इसके कहाँ देह है, धनका कहाँ सम्बन्ध है ? यह मैं तो अपने ही प्रदेशमहमे स्वरक्षित बसा हुआ हू। इसे न कोई छेद सकता है, न कोई किसी शस्त्रसे भेद सकता है, न आधी तूफान इसे उड़ा सकती है, न अग्नि जला सकती है और न जल डुबो सकता है। यह आत्मा तो अमूर्त है, केवल ज्ञानानन्दपु ज है इस पर कहाँ विपदा है ? जब यह अपने ही घरमे बसा हुआ अपने आपको स्वरक्षित पाता है तो ये समस्त क्लेश उसके दूर हो जाते हैं।

आत्मप्रतिष्ठापकोका जयवाद—जो ज्ञानी पुरुष है वह जो कुछ अपने आपमे अपने आपकी प्रतिष्ठाके लिए अपने आत्माके उपयोगमे प्रसिद्धिके लिए जो अतरङ्गमें ज्ञानपुरुषार्थ करता है वह है आवश्यक क म, बाकी जगतमें मोही जीवोंने जिन-जिन कामोंका नाम आवश्यक रक्खा है वे सब अनावश्यक हैं। जो मुनि स्ववश है, आत्मवश है वह ही श्रेष्ठ है, वह जयवत हो।

प्रमाद न होने देनेकी सावधानी—यह स्नेह भाव थोड़ा भी तो जगे फिर यह बढ़ बढ़कर इसे फिसला देगा। जैसे किसी रिपट वाली जगहमे थोड़ा भी तो पैर फिसले फिर यह रिपट कर गिर ही जाता है। कोई थोड़ा फिसलने पर अपने आपको सावधान करले तो आसान काम है, पर वहाँ प्रारम्भमे ही प्रमाद रहा, अपनी सुध बुध न रक्खी तो यह फिसलकर पूरा गिर पड़ता है, ऐसे ही जो ज्ञानी सत पुरुष हैं, कदाचित् उनके रागादिक भाव उमडे भी तो वे तुरन्त सावधान होते हैं। जो अपने आपमें उठे हुए रागादिक विभावोंसे भी राग नहीं रखते हैं और उन्हें हटाये जानेकी कामना करते है ऐसे पुरुष किसी परपदार्थमें कहाँ परतत्र हो सकते हैं ? वह तो अपने आपमें उठे हुए रागादिक विभावोंसे भी राग नहीं रखता है और उन्हें हटाये जानेकी कामना करता है, ऐसा पुरुष किसी परपदार्थमे कैसे परतन्त्र हो सकता है ? वह तो अपने आपमें उठे हुए रागादिक कलुष परिणामके बन्धनमें नहीं है। हो रहे हैं रागादिक उनके यह ज्ञान हो रहा है, यह सब इस सहज ज्ञायकस्वरूपके अनुभवका प्रसाद है।

अन्तर्वृत्तिकी सार्थकता—ज्ञायकतत्त्वका अनुभव तो न जगे और बाहरमें ज्ञानीपुरुष जैसा इसका विधान करे तो उसका उत्थान नहीं हो पाता है। जो प्रकट समस्त मायाजालोंको असार समझता है, जिसकी बाह्यवृत्ति भी उदारताका अनुमापक बन रही है, ऐसे पुरुषको अतरङ्गमे ज्ञानका आलम्बन हुआ है ऐसा अनुमान होता है। मोहमें तो फर्क न डाले, ममतामें तो अन्तर न करे, इन्द्रियके विषयोंकी आधीनता वैसी ही बनाये रहे, कुछ बोलने चालनेकी कला पाकर विषयोमे और अधिक फस जाये, ऐसे पुरुषके न ज्ञान दृष्टि है और न इस आवश्यक कर्मकी झलक भी है।

व्यवहारवृत्ति और अन्त पुरुषार्थ—इसमें बहुत सावधान होकर चलना है, मोह ममता पर विजय पाकर ज्ञानार्जनके लिए अपना ध्यान बढ़ाना है और इस गृहस्थावस्थामें जो आचार्यदेवोंने षट्कर्म बताये है उन क्रियावोंमे भी रहते हुए हमें अपना अन्त पुरुषार्थ जगाना है। यह स्थिति ऐसी नहीं है कि इस गृहस्थके षट् आवश्यक कर्मोंको तिलाजलि देकर हम अपनेमे उन्नति बना सकें। जो व्यवहारधर्मके कर्तव्य है वे

सब कुछ करके भी हमें शुद्ध दृष्टि जगाना है।

श्रमणश्रेष्ठका जयवाद--जो श्रमण भेदविज्ञानके बलसे समस्त परभावोंसे हटकर एक निज अभेद ज्ञायकस्वरूपमें उपयोगी होता है उसके ही निश्चय परमआवश्यक है और ऐसे परमपुरुषार्थमें स्थभी श्रमण, श्रमणोंमें श्रेष्ठ कहा गया है। इस श्रमणश्रेष्ठके उत्तम उदार बुद्धि है। जगतके समस्त जीवोंमें एक स्वरूपदृष्टि करके समानता दृष्ट हुई है। भवका कारण तो इस ज्ञायकस्वरूपका अपरिचय था। अब निज आत्मतत्त्वका परिचय होनेसे संसारमें रुलनेका कोई कारण नहीं रहा और इसी कारण भव भवके बाँध हुए कर्म इसके नष्ट हुए जा रहे हैं। अब यह बहुत ही शीघ्र ज्ञायकस्वरूप सदा आनन्दमय मुक्तिको प्राप्त करेगा। इसमें परमविवेक प्रकट हुआ है। ऐसे विवेकी मुनिश्रेष्ठ सदा जयवंत रहो, जिनके सत्संग से, जिनकी सेवासे पाप नष्ट होते हैं।

गुरुवचनपालनका सौभाग्य - स्ववश अध्यात्मयोगी गुरुजनोंके वचन अलौकिक सम्पदाके कारण होते हैं। वे भाग्यहीन पुरुष हैं अथवा उनका होनहार अच्छा नहीं है जिनको गुरुके वचन रुचते नहीं हैं। जिन गुरुओंने कामदेवको ध्वस्त कर दिया है, जो निरन्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और आत्मशक्तिके आचारमें निरन्तर बर्त रहे हैं, जिन्होंने इस आत्मदृष्टिके पुन पुन' आलम्बन और अभ्यासके द्वारा अनुपम आनन्दका अनुभव किया है ऐसे गुरुजन निष्पक्ष निर्दोष रागविरोधरहित वर्तते हैं। उनकी मुमुक्षुजन भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं। जो लोग दुष्ट प्रवृत्तिके होते हैं जिन्हें गुरुदर्शन व गुरुवचन नहीं सुहाते हैं वे हीनभाग्य है, उन्हें संसारमें रुलना अभी शेष है। जो भक्तजन गुरुजनोंके वचनोंको सिर पर धारण करते हैं और बड़े विनय सहित उन वचनोंका पालन करते हैं वे निकट कालमें ही मुक्ति सम्पदाको प्राप्त करेंगे। यह रागद्वेषके विजयका मार्ग मुक्तिका कारण है।

सम्यक् दर्शनमें एकत्वका आश्रय--भैया! इस जीवको अंतमें अपने आपमें अकेलेमें ही रमण करना होगा तब इसे शान्ति मिलेगी। इस अलौकिक शान्तिका जिसने लक्ष्य बनाया है वह इस एकको ही चाहता है। एक ही है अन्त याने धर्म अथवा स्वभाव जिसका, ऐसा यह एकान्त आत्मा यही जिसका अभीष्ट है, प्रिय है, उसे जनसमुदायसे क्या प्रयोजन है? निर्वाण उसके ही प्रकट होता है जो अपने आपको सबसे न्यारा केवल ज्ञायकस्वरूप ही प्रतीत करता है और उसमें ही लगने का उद्यम करता है। सम्यग्दर्शन होने पर सब समस्त सम्यग्दृष्टियोंका मूलमें इस एक ही के आलम्बनसे पुरुषार्थ रहता है। परिस्थितियां जुदी-जुदी होनेसे भले ही कोई किसी वातावरणमें है तो वह उसकी उपेक्षा करता है। किसीके चारित्रका विकास हुआ है तो वह कम संगमें है, वह उस संगसे उपेक्षा करता है, पर अन्य वस्तुवों से उपेक्षा करनेका माद्दा समस्त सम्यग्दृष्टियोंमें स्वरसत. उत्पन्न होता है। मुनिजन केवलज्ञान, शौच और संयमके उपकरणके ही संगमें है अथवा एक धर्मचर्चाके साधनभूत शिष्यजनोंके, गुरुजनोंके, सधर्मीजनों के संगमें हैं, फिर भी वे इस समस्त संगसे उपेक्षित रहते हैं। गृहस्थ लाखों करोड़ोंकी सम्पदाके वातावरण में है और वह उस समस्त सम्पदासे उपेक्षित रहता है। सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होने पर यह परम-उपेक्षा परिणाम स्वभावत उत्पन्न हो जाता है। यह जैनेन्द्रमार्ग अर्थात् रागद्वेषपर जिसने विजय की है ऐसे योगियोंके द्वारा बनाया हुआ यह साधुमार्ग निर्वाण सम्पदाका कारण है। इसको प्राप्त करके ही पुरुष निर्वाणको प्राप्त होता है। ऐसे परमआत्मावोंको हमारा बारम्बार नमस्कार हो।

योगिभक्ति--हे योगिराज! तुम्हारी पवित्रताको निरखकर अब लोकमें अन्यत्र कहीं मन नहीं लगता है। रागद्वेष मोह कषायवान पुरुषोंके संगमें रहनेमें ज्ञानी पुरुषोंका चित्त नहीं चाहता है। ये योगी जन स्ववश हैं, इनका आत्मा अडिग है। ये किसी भी विषय आदिक परतत्त्वोंमें बधन मानने वाले नहीं हैं। ऐसे योगी सुभटोंमें भी जो श्रेष्ठ हैं, जिनके अब कनक और कामिनी की स्पृहा नहीं रही है, जो केवल

इस शुद्ध ज्ञानप्रकाशरूप ही निरन्तर वर्तना चाहते हैं ऐसे हे योगिराज ! तुम ही हमारे लिए शरणभूत हो। भक्तजन उन योगियोंके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित कर रहे हैं।

शरणभूत योगिराज--गृहस्थजन उन योगियोंमें इस वीतरागता गुणको निरखकर, आनन्दमग्न होकर अपने आपको सौंप रहे हैं। हम लोग विपदरूप, दावरूप, कषायरूप शिकारीके वाणोंसे भिदे हुए हैं, निरन्तर वेदनासे आर्त हैं, ऐसे हम लोगोंको शरण हे योगिराज आप ही हो। इस लोकमें एक यह विषय कषायकी वेदना ही विपदा है, अन्य कुछ विपदा नहीं है। सम्पदा कम हो गयी तो यह कौन सी विपदा है, किसी दिन तो सारा ही छोड़कर जाना है, फिर उसके कुछ कम होनेका यहा क्या खेद करना ? यदि कुछ थोड़ा बहुत कम हो रहा है तो वह कोई विपदा नहीं है। विपदा तो यह है कि सम्पदा कम होते देखकर उसके प्रति विकल्प बनाते हैं। ये विकल्प ही विपदा हैं हे योगिराज ! आप बाह्य परिग्रहोंसे विरक्त हुए हैं और अंतरङ्गमें भी किसी प्रकारकी वाञ्छा न होनेसे परिग्रहसे पूर्ण विरक्त हैं, आपका शान्ति, आपका संतोष आपके ब्रह्मकी मग्नता—ये अलौकिक वैभव हैं। इस मायामयी जगजालमें रुलनेको अब जी नहीं चाहता है। किससे बोलना, किससे रमना, ऐसे ही तो रव हैं। हे नाथ, हे योगिराज ! हमारे तो तुम ही शरण हो।

अन्तस्तत्त्वकी भाकीका सन्तोष--कुछ मुनिजन जो बाह्य क्रियाकाण्डोंका निर्दोष पालन कर रहे हैं, जो २८ मूल गुणोंका निरतिचार पालन कर रहे हैं, बहुत काल तक व्रत और दुर्धर तपकी साधना करने पर भी जिन्हें संतोष नहीं मिला है, एक ब्रह्मस्वरूपके परिचय बिना जो इधर उधर आत्माके अन्दर ही उपयोग को भ्रमा रहे हैं ऐसे साधुजन जब परमआवश्यकके अधिकारी परमनिस्पृह योगिराजोंके अंत मर्मपर दृष्टि देते हैं और जब कदाचित् इन श्रमणोंके भी ज्ञानप्रकाश जगता है तो वे आनन्दमग्न होकर यह कह बैठते हैं—ओह इस अनशन आदिक दुर्धर तपश्चरणसे क्या फल है ? वे अपनी ही तपस्याके प्रति कह रहे हैं, जनरल नहीं कह रहे हैं। तपश्चरण भी एक कर्तव्य है, किन्तु स्वयंको संतोष न होने पर और अब संतोषका मूल कारण जो स्वरूपपरिचय है उसके निकट आने पर स्वरूपभक्तिमें मग्न होकर कह बैठते हैं कि इन दुर्धर तपश्चरणोंका फल केवल शरीरका शोषण है, अन्य कुछ नहीं है। ओहो ! मेरा जन्म तो सफल हुआ। हे योगिराज, हे वीतराग संयमी पुरुषों ! हे वीतराग ज्ञानमय साधु ! तुम्हारे चरणकमलका जब मैंने ध्यान लगाया, तुम्हारे अंतरङ्ग ज्ञानदर्शन पादोंका जब मैंने मर्म जान पाया तब समझा कि मेरा जन्म सफल है।

योगभक्ति—हे स्ववश योगिराज ! तुम्हारा स्वरूप जिसके हृदयमें विराजता है वह पुरुष धन्य है। संसारके संकटोंसे वह शीघ्र ही पार होगा। यह सब है योगभक्ति। योगका अर्थ है इस निर्दोष आत्मस्वरूप में अपने उपयोगको जोड़ देना। धन्य है वह पुरुष जिसका उपयोग इस शुद्ध आत्मतत्त्वमें जुड़ने लगता है और जुड़ जाता है। वह पुरुष जयवंत हो, जिसके यह सहज तेज प्रकट हुआ है, जिसका उपयोग इस सहज तेजमें ही मग्न हो गया है, जो केवल इस लोकका ज्ञाता द्रष्टा ही रहता है, अपनेसे भिन्न किसी भी अणुकी अणुमात्र भी जिसके स्पृहा नहीं होती है। इन्होंने अपने इस ज्ञानरसके विस्तार द्वारा पापोंको धो डाला है। पाप है मोह, पाप हैं राग और द्वेष। जिसने इन मोहादिक कलंकोंको निर्मूल नष्ट किया है ऐसा योगिराज इस लोकमें जयवंत प्रवर्ते तो जगतका भी कल्याण है।

स्ववशता और समताका जयवाद —ये संत पुरुष समतारससे भरपूर हैं। इसके सद्वचन पुरुषोंके हित के ही करने वाले हैं। इनके वचन पवित्र हैं। ये स्वयं पवित्र हैं। इन योगिराजोंके चित्तमें किसी भी जीवके प्रति रंच भी द्वेष नहीं है, और द्वेष तो होंगे ही क्या ? किसी भी जीवके प्रति रंच राग भी नहीं है। कैसा यह निर्मल योगी पुरुष है, कदाचित् इसे करुणावश उपदेश भी करना पड़ता है, फिर भी रागद्वेष भावसे

रहित, निर्मल निज ज्ञायकस्वरूपका भान कर लेनेसे यह राग और द्वेषसे रहित निर्मल ही बने रहते हैं। ऐसे योगियोंकी पूजा करनेमें हमारी कहां सामर्थ्य है ? वास्तविक पूजा तो उन जैसा आचरण करनेमें ही बन सकेगी। ये मुनिराज सदा स्ववश है, इनका मन आत्मामें ही जुड़ रहा है। अज्ञानीजन ही मनके वशीभूत होते हैं, कर्तव्य अकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं कर पाते हैं और कल्पनावश जिसे हितकारी सुखकारी माना उसकी ओर बढ़ जाते हैं। किन्तु इन योगिराजोंका मन शुद्ध तुला है। जैसे बाल भर भी वजन शुद्ध तुलामें छुपता नहीं है ऐसे ही ये परमविवेकके तराजू रूप मन वाले योगी सन्त हैं, ये शुद्ध हैं, सहजसिद्ध हैं, अपने आपके स्वरूपसे ही जो निरन्तर पुष्ट हे ऐसे योगिराज सदा जयवंत हों, ऐसा मेरे उपयोग मे उनके गुण समाये रहें। जिससे यह मैं भी निष्पाप रहा करूँ और अपने शुद्धस्वरूपके अभ्युदयसे अपने को कृतार्थ करूँ।

योगिराजोंकी जिनराजकी निकटता--ओह ! ये योगिराज और ४ घातियाकर्मोंको नष्ट करने वाले समस्त लोकोंके जाननहार ये जिनराज ये दोनों मेरे सामने रहो और जो ऊपरी अन्तर है, योगिराजोंके केवलज्ञान नहीं हुआ अथवा यह देह साधारण औदारिक है, वह देह परमनिर्दोष औदारिक है, इन सब परिणतियोंकी दृष्टिका भेद मत आये। ये योगिराज भी एक जिनराज ही है, इनसे मेरेमें भेद करने वाली दृष्टि मत जगो। यह बात भक्तकी निकल रही है अन्तर्मर्मके स्पर्शमें। मुझे भेदसे क्या प्रयोजन है ? मैं स्वरूपदृष्टि कर रहा हू। यह सर्वज्ञ वीतराग और यह स्ववश योगी इनमें क्या भेद है ? जो अपना काम चाहते हे, मोक्षका मार्ग चाहते हे उनकी दृष्टिसे यह कहा जा रहा है। जो जड़ है अर्थात् इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको अपनी रुचिमें न लेनेके कारण बाहरी दृष्टियोंमें अपना विस्तार बनाते हैं इसलिए उनके इनमे भेद आता है कि कैसे भेद नहीं है इनमे ? ये अरहत हैं, ये साधु हैं, ये घातिया कर्मोंसे दूर हैं, परमात्मा हैं, और अभी ये महात्मा है। ठीक है, भेद है, उसका मना नहीं किया जा रहा है, किन्तु जिन्हें गुणोंमें रुचि जगी है और गुण विकासमें उत्सुकता जगी है वे इन स्ववश योगियोंकी अन्तर्दृष्टिकी पहिचान कर उन योगिराजोंकी भक्तिमें यह भेद नहीं समझ रहे हैं। थोड़ा और ऊँचे चलें कि वे जिनराज ही तो हैं, ऐसे योगिराजकी भक्तिमें निरत यह योगी योगभक्ति कर रहा है।

अन्तस्तत्त्वप्रकाश—यह स्ववश महामुनि ही एक धन्य है। यह शरीर मुनि नहीं है, किन्तु यह ज्ञानपुञ्ज यह ज्ञाताद्रष्टा रहने वाला आत्मा मुनि है। यहाँ मुनिको निरखा जा रहा है, देहको नहीं निरखा जा रहा है, फिर व्यवहारसे देहको भी यदि निरखे तो इस देह देवालयमें विराजमान जो यह महात्मा है, देव है इसमें जो विशुद्धि जगी है, यह विशुद्धि फूटकर निकल कर इस देहमें मुखमुद्रापर शरीरमुद्रा पर झलक उठी है और अब यह देह भी पवित्र हो गया है। रत्नत्रयधारी आत्माके सम्वासके कारण इन साधुराजका देह भी पवित्र है। इस जन्ममे ऐसा जो महामुनित्व है वह एक श्रेष्ठ है और धन्य है। जो समस्त कर्मोंसे [illegible]हर ही ठहरता है, अन्तरतत्त्वका रुचिया रहता है, जिसका उपयोग, जिसका ज्ञान एक इस शुद्ध ज्ञान [illegible]को ग्रहण करता है, मन, वचन, कायकी चेष्टावोंको ग्रहण नहीं करता है, केवल एक निज भावको [illegible]र रहा है, ऐसा यह मुनि स्ववश है, अपने आत्माके ही आधीन है। इसकी बुद्धि अब किसी अन्य [illegible]ों टिक रही है।

[illegible]श्यक और अनावश्यकके पात्र--इस योगिराजने समस्त परपदार्थों की अथवा पर पदार्थोंके गुणों [illegible]रपदार्थोंके परिणमनको और परपदार्थोंका आश्रय पाकर कार्माण द्रव्यका निमित्त पाकर [illegible] वाले परभावोंको त्याग दिया है और इस परमत्यागके फलमें उनका ध्यान निर्मल स्वभावमें [illegible]ो पुरुष समस्त परभावोंका परित्याग करके निज निर्मल स्वभावका ध्यान करता है वह [illegible]रा होता है, और उसके आवश्यक कर्म होता है। जो पुरुष आत्मवश नहीं है, रागके

विषयभूत परपदार्थोंके आधीन है, उन परपदार्थोंका संयोग न मिले तो खेदखिन्न रहते हैं। उन पर पदार्थोंसे ही अपना सुख मानते हैं, वे पुरुष अनावश्यक हैं और उनका कार्य भी अनावश्यक है।

दुर्लभ अवसरके लाभका अनुरोध—इस लोकमें अनादिसे भ्रमण करते-करते आज श्रेष्ठ मनुष्यजन्म पाया, श्रेष्ठ कुल पाया, धर्मका संयोग पाया, इतना दुर्लभ समागम मिल जाने पर भी यदि इस निज ब्रह्म स्वरूपका आदर न किया और विषयकषाय जगजाल विषयसाधनोंका आदर रक्खा तो वही गति होगी जो गति अबसे पहिले होती चली आयी है। कल्याण कर सकनेका श्रेष्ठ अवसर इस मनुष्यजन्ममें मिला है। मोहको ढीला करें, ममता को ढीला करें, परिजनसे उपेक्षा करें, देहसे भी निराले अपने आत्मतत्त्वकी सुध लें, इसमें ही वास्तविक कल्याण है। ऐसा कल्याण प्राप्त करनेके लिए ही हमारा उद्यम रहे, इस बातको न भूलें।

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥१४७॥

आवश्यकके इच्छुकको आदेश—हे साधक मुमुक्षु! यदि तुम आवश्यकको चाहते हो तो आत्माके स्वभावमें स्थिर भावको करो। इस स्थिरतासे ही जीवका सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है। इस गाथामें शुद्ध निश्चय आवश्यक की प्राप्तिका उपाय बताया गया है। आवश्यकका अर्थ है स्वतंत्र होनेके लिए किया जाने वाला अपूर्व पुरुषार्थ। इस परतंत्र जीवको परतंत्रतासे हटकर स्वतंत्रता कैसे मिले? उस स्वतंत्रताकी प्राप्तिका उपाय इस गाथामें कहा गया है।

परमावश्यकमें बाह्यक्रियाकाण्डोंकी पराङ्मुखता—बाह्यमें ६ आवश्यककर्म साधुजनोंके होते हैं, जिनके नाम हैं—समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग। इनका नाम आवश्यक इसलिए रक्खा गया है कि इन कार्योंमें व्यस्त रहने वाले संतजनोंमें यह पात्रता रहती है कि वे निश्चय परम आवश्यक पुरुषार्थ प्राप्त कर लें। वास्तवमें आवश्यक नाम है शुद्धज्ञातादृष्टा रहनेरूप पुरुषार्थका। उस पुरुषार्थमें जो हमारे क्रिया कलाप, पात्रता, लीनता हैं उनका नाम भी आवश्यक कर्म है। जो शिष्य बाह्य षट् आवश्यकके विस्ताररूप नदीके कोलाहलके शब्दोंसे पराङ्मुख है उस शिष्यको यह समझाया जा रहा है। जो बाह्य षट् आवश्यकमें ही अपनी बुद्धि लगाता है, मन, वचन, कायकी इन शुभ क्रियावोंमें ही जिनकी बुद्धि बसी है उनके यह परमआवश्यककार्य नहीं होता है। जो इन षट् आवश्यकके कोलाहलसे पराङ्मुख हैं ऐसे शिष्यको कहा जा रहा है कि हे शिष्य! यह आवश्यक कर्म जो कि शुद्ध निश्चयधर्मध्यानरूप है और शुद्ध निश्चय शुक्लध्यान रूप है, निज आत्माके ही आश्रित है, ऐसे इन आवश्यककर्मोंको यदि तुम चाहते हो तो अपने आत्मतत्त्वमें स्थिर भावको उत्पन्न करो।

आनन्दके उपायमें एकमात्र पुरुषार्थ—भैया! इस जीवको आनन्दके लिए केवल एक ही काम करना है, अपने सहजस्वरूपको जानना और इस सहजस्वरूपरूप अपनी प्रतीति करके इसके अनुरूप ही अपना आचरण रखना, इस ही का नाम है आवश्यक। यह आवश्यक पुरुषार्थ संसाररूप लताको नष्ट करनेमें कुठारकी तरह है। जैसे कुठार लताको भेदकर छिन्न भिन्नकर देता है, इसही प्रकार यह आवश्यक पुरुषार्थ संसारके संकटोंको पूर्णतया छेद देनेमें समर्थ है।

कल्पनाजालका संकट—संकट कल्पनाजालका नाम है। कल्पनाजाल किसी परवस्तुको विषय बनाकर ही उत्पन्न हुआ करता है। परवस्तुवोंको अपनाना, यह अज्ञानके कारण होता है। इस कारण संसारके संकटोंका विनाश करना चाहो ही तो अज्ञानको मिटाना अपना प्रथम कर्तव्य है, लेकिन आप अन्याय करके धन संचय करने वाले पुरुषोंकी गति भी निरखते जा रहे हैं। उनको इस लोकमें कितना संकट उठाना पडता है और उनकी अंतमें गति कैसी होती है, और परलोकमें क्या होगा? इसका अनुमान भी बहा की

करतूतसे हो रहा है, इतने पर भी जड़ बाह्य वैभवकी ओर इतना अनिष्ट झुकाव किए जा रहे हैं, यह कितनी बड़ी विपदा है इस माही जीवपर ? यह सब कल्पनाकी ही तो विपदा है। बाह्य पदार्थ तो जहां हैं वे वहां हा हैं। यह अपनी कल्पनाको बढ़ाकर अपने आपको कष्टमय बना रहा है। हे शिष्य ! यदि तू संसारके संकटोंका छिन्न कर देना चाहता है तो इस आत्माके स्वरूपकी आराधनामें लग।

निरञ्जन निर्विकल्प आत्मस्वभावके उपयोगमें आत्मविकास—यह परमात्मभाव समस्त विकल्पजालोंसे विनिर्मुक्त है। इन रागद्वेष आदिक अञ्जनोंका इसमें प्रवेश नहीं है। स्वभाव और निर्मल विकास इन दोनों का वर्णन एक ही प्रकारसे होता है। जलका स्वभाव क्या है ? जो निर्मल जलको देखते हो वही जलका स्वभाव है, चाहे कीचड़ मिला जल हो तिस पर भी जलमें जल ही है और गंदगीमें गंदगी है। जलका स्वभाव वही है जो एक निर्मल जलमें होता है। हमारे आत्माका स्वभाव क्या है ? आत्मस्वभाव वही है जो निर्मल आत्मा परमात्मप्रभु जिस प्रकार वर्त रहे हैं, जो वहां ज्ञप्ति है वही मेरे आत्माका स्वभाव है। इस स्वभावका विकास इस स्वभावको जाने बिना कैसे हो सकता है ? जिसे यह निर्णय नहीं है कि मेरा आत्मा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र है। इसमें रागद्वेष आदिक अञ्जन नहीं लगे हैं। वर्तमान साञ्जन परिणमन होकर भी स्वभावमें मेरा आत्मा निरञ्जन है, ऐसा निर्णय हुए बिना कोई पुरुष शुद्धविकास कैसे कर सकता है ? हे शिष्य ! निरञ्जन इस निज परमात्म तत्त्वमें तू निश्चल स्थिर भावको कर।

आत्माको सहज ज्ञान—सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहज चारित्र, सहज आनन्द आदिक जो सहज शक्तियाँ हैं वे ही सब आत्माके स्वभाव हैं। सहजज्ञानका अर्थ यह है कि जितने भी ज्ञान प्रकट हो रहे हैं वे पर्यायरूप ज्ञान हैं। प्रकट होकर दूसरे क्षण नहीं ठहरते हैं। जो ज्ञान मलिन संसारी जीवोंके हो रहे हैं उनमें तो झट यह परिचय हो जाता है कि हां यह बात सही है कि यह ज्ञान परिणमन अगले क्षण नहीं रहता है, किन्तु केवल ज्ञान जो निर्मल ज्ञान है उसके समयमें यह कठिनाईसे समझमें आता है कि केवलज्ञान भी क्या अगले क्षणमें विलीन हो जाता है ? शुद्ध ऋजु सूत्रनय की अपेक्षासे देखा जाय तो हम छद्मस्थोंके ज्ञान तो परम्परासे अन्तर्मुहूर्त तक उपयोगरूप रहता है, किन्तु भगवानका ज्ञान तो इतना स्वतंत्र है कि अगले समयमें भी नहीं रहता। अगले समयमें दूसरा केवलज्ञान हो जाता है और ऐसा प्रत्येक समय नवीन-नवीन केवलज्ञान पर्याय होता रहता है और अनन्तकाल तक इसी प्रकार होता रहेगा।

परिणमनकी क्षणवर्तिता—केवलज्ञानका विषय जो पहिले क्षण केवल ज्ञानके है वही उतना दूसरे केवल ज्ञानमें रहता है। इस कारण परवस्तुकी अपेक्षासे ज्ञानका परिचय करने वाले जीवोंको यह शका रहती है कि केवलज्ञानका कैसे विलय हो सकता है ? हम लोग किसीके ज्ञानका स्वरूप परवस्तुका नाम लेकर जान पाते हैं। यह चौकीका ज्ञान है, यह पुस्तकका ज्ञान है, यह अमुक चीजका ज्ञान है। अरे उन चीजोंका नाम लेकर ही तो निरखा। वह अपने आपमें किस रूप परिणमता है ? इसके बतानेका इसका अन्य साधन नहीं है। इस कारण ज्ञानमें जो विषय होता है उसका नाम लेकर कहा करते हैं कि यह घटक ज्ञान है, यह पटक ज्ञान है। परवस्तुका ज्ञान मिट गया, इस कारण यह ज्ञान भी बदल गया, ऐसी बात नहीं है, किन्तु ज्ञान ही बदल गया तब उसका विषय भी अन्य हो गया। परवस्तुके कारण ज्ञानका परिणमन नहीं होता है किन्तु ज्ञान आत्मद्रव्यत्वके कारण निरन्तर परिणमता रहता है।

क्षणवर्ती ज्ञानके परिणमनोंके मूलमें सहजज्ञानका प्रकाश—स्वभावगुणपर्यायवा एकसा परिणमन होने पर भी शक्ति नवीन-नवीन लग रही है, इस कारण परिणमन भी नवीन नवीन समझना। कोई बल्ब ८ बजेसे ९ बजे तक निरन्तर जलता रहा है एकसा और उसमें पावर भी एकसा बहनेके कारण रच भी मंद या तेज नजर नहीं आया। उस समय कोई कहे कि यह बल्ब क्या कर रहा है ? कुछ भी नहीं करता

है। अरे वह प्रतिक्षण नवीन-नवीन काम कर रहा है। प्रतिक्षण वह अपनी नवीन-नवीन शक्ति लगाकर परिणमन कर रहा है। यदि प्रतिक्षण वह वल्व नवीन काम न करे तो बिजली वालोंको घाटा हो जाय। वे जान जाते हैं कि अब इतने मीटर बिजली खर्च हुई है। तो एकसा काम होने पर भी शक्ति नई-नई लगती चली जा रही है। यों ही ये समस्त ज्ञान प्रतिक्षण नवीन-नवीन परिणाम करते चले जा रहे हैं। ये परिणमन ज्ञप्ति अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं परन्तु एक ताता तोड़कर परिणमन क्या भिन्न-भिन्न है? जिस ज्ञान शक्तिपर यह परिणमन जाल चलता रहता है उस ज्ञानशक्तिका नाम है सहज ज्ञान। यह सहज ज्ञान शाश्वत है और यह विकाररूप ज्ञान अध्रुव है। आत्माका स्वभाव यह अध्रुव ज्ञान परिणमन नहीं है किन्तु इन ज्ञानपरिणमनोंका आधारभूत जो शाश्वत सहजज्ञान है वह है।

क्षणवर्ती परिणमनोंके मूलमें सहजभावका प्रकाश—इस ही प्रकार दर्शनके परिणमनकी आधारभूत जो शक्ति है वह सहज दर्शन है, चारित्रके परिणमनकी आधारभूत जो सहज शक्ति है वह सहजचारित्र है। आनन्दगुणके परिणमनकी आधारभूत जो एक शक्ति है उसका नाम सहज आनन्द है। इस स्वभावमें अपने उपयोगको लगा, अर्थात इस सहजस्वभावरूप अपने को मानकर स्थिर हो जा। अब अन्यरूप कल्पना मत कर। अन्यरूप विकल्प मत कर तो तुझे यह निश्चय परम आवश्यक प्रकट हो जायेगा। जिस परम आवश्यक गुणके प्रसादसे यह निश्चय समताका गुण प्रकट हुआ है।

अभीष्टप्रयोजन सिद्धि—हे जीव! तुझे चाहिए क्या? शुद्ध आनन्द ना। यह विशुद्ध आनन्द समता परिणाममें ही मिलता है। जहा कोई रागद्वेष पक्षपात का विकल्प चलता है वहा नियमसे इसे कष्ट है, आकुलता है। जहा समतापरिणाम है वहाँ इसको आनन्द है। यह समतापरिणाम अपने आपके शाश्वत स्वभावमें इस उपयोगको स्थिर करने से प्रकट होता है। तुझे तो आनन्द ही चाहिए ना? उसका उपाय यह है कि समताभावको स्थिर कर। जब समता प्रकट हो जाय, आनन्द प्रकट हो जाय तब फिर तुझे और क्या चीज चाहिए? ये बाह्य ६ आवश्यक क्रियाकाण्ड इनसे फिर क्या सिद्धि है? ये प्राक्पदवीके कार्य हैं, जब तक वह उत्कृष्ट अवस्था नहीं मिलती है। उसके पा लेने पर फिर तुझे उन क्रियाकाण्डोंसे क्या प्रयोजन है, ये उपादेय नहीं हैं। एक दृष्टि इस परम आवश्यककी ओर लगा।

निश्चयपरमावश्यकसे ही कल्याणलाभ—यह परम आवश्यक कार्य निष्क्रिय है अर्थात् हलन चलन, क्रियाकाण्ड, विकल्पजाल—इन सब दोषोंसे परे है। वह तो एक निश्चय आत्मस्वरूपमें निर्मग्नता उत्पन्न करने वाला है। इस आवश्यककार्यसे ही जीवके सामायिक चारित्रकी निर्भरता होती है। यह आवश्यक कार्य सुगम रीतिसे मुक्तिके आनन्दको प्राप्त करा देने वाला है। हे आत्मन! यदि किसी प्रकार यह मन अपने स्वरूपसे चलित होता हो किसी बाह्य पदार्थमें हितबुद्धि करके सुखका विकल्प करके लग रहा हो तो समझो कि मैं सकटोंकी ओर जा रहा हू। जो तुझे रुचिकर हो रहे हैं ये बाह्यपदार्थ तेरी बरबादीके कारणभूत ही हैं। जिन कुटुम्बजनोंसे रागभाव हो रहा है, चित्तमें सर्वथा वही समा रहे हैं। जिनके सामने देव शास्त्र अथवा गुरु ये कुछ भी नहीं जच रहे हैं तन, मन, धन, वचन जो कुछ भी अपने वर्तमान परिकर हैं उनमें ही अपनेको न्यौछावर किये जा रहे हैं, ये सब बाह्य वैभव ही तेरी बरबादीके कारण हैं। जिन जावोंमें तेरा मोह नहीं है वे जीव तेरे लिए भले हैं। तेरे विनाशके कारण तो नहीं बन रहे हैं। विनाशके कारण तो कोई परजीव नहीं होते। स्वय की कल्पना ही विनाशका कारण है।

वैराग्यसे आत्माकी सभाल—हे सुखार्थी! तेरा मन अपने स्वरूपसे चलित होकर बाहर भटक रहा हो तो तेरेमें सर्व अवगुणोंका प्रसग आ गया है। अब तू अपने आपमें मग्न रहनेका यत्न कर। इन परपदार्थोंसे तू वैराग्य धारण कर। कुछ सार न मिलेगा राग करके। राग हो रहा हो तो कमसे कम उसे त्रुटि तो जान लो। अपराध भी करें और अपराधको अपराध भी न मान सकें तब फिर उसको कहाँ पथ

न मिलेगा। तू संविग्न चित्त वाला बन अथवा विषयप्रसंगोंका खेद मान। 'गले पडे बजाय सरे' जैसी दृष्टि तो बना, मग्न तो मत हो जा। तू परद्रव्योंसे उपेक्षा भाव करता रहेगा तो तू कभी मोक्षरूप स्वार्थी आनन्दधामका अधिपति बन जायेगा और इन बाह्य पदार्थोंमें राग करता रहेगा तो तू इन बाह्य पदार्थोंके व्यामोहमें भटकता ही रहेगा। न जाने किन-किन कुयोनियोंमें जन्म मरण करता रहेगा?

अपनी सभालसे सकटका विनाश—हे मुमुक्षु आत्मन्! अपने चित्तको सभाल, इस लोकमें अन्य कोई शरण नहीं है। सब जीव अपना-अपना परिणमन और प्रयोजन ही किया करते हैं, दूसरेका न कोई चाहने वाला है, न कोई पालनहार है। समस्त पदार्थ अपने स्वरूप सत्त्वके कारण स्वयं स्वरक्षित हैं और अपनी अपनी योग्यतानुसार योग्य उपाधिका निमित्त पाकर अपना ही परिणमन किए चले जा रहे हैं। अपने आपकी सभाल कर। मन, वचन, कायकी क्रियावोंके आडम्बरोंमें निज बुद्धि मत कर। यदि इस प्रकार नियत चारित्र बना लेगा अर्थात् आत्माका जैसा स्वरूप है शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र उसमें रमेगा, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहनेका यत्न करेगा, रागद्वेष पक्ष इनको न अपनायेगा तो ससारके दुःख अवश्य दूर होंगे।

दोषके यत्नसे दोषके मिटनेका अभाव—ये दुःख दुःखको अपनानेसे दूर न होंगे। खूनका लगा हुआ दाग खूनसे धोनेसे नहीं मिटता है। वह तो वो दाग बढता ही चला जायेगा। इस प्रकार मोह रागद्वेषकी कल्पनासे उत्पन्न हुआ यह क्लेश मोह रागद्वेष करनेसे न मिटेगा। दूसरे जीवके प्रति कोई द्वेष जग गया है तो द्वेष करनेसे यह द्वेष न मिटेगा। ऐसे ही किसी जीवके प्रति रागभाव होता है और उस रागके कारण क्लेश पाते चले जा रहे हैं तो यह क्लेश राग करनेसे न मिटेगा, ऐसे ही मोहजन्य विपदा मोह करनेसे दूर न होगी, किन्तु इन रागद्वेष मोह भावोंका प्रतिपक्षी जो आत्माका शुद्ध ज्ञानप्रकाश है इस ज्ञानप्रकाशके द्वारा ही यह समस्त क्लेशजाल मिटेगा। तू अपनी ओर आ। यह चारित्र, यह आत्मरमण, यह आत्मसतोष, यह आत्ममग्नता नियमसे सातिशय सुखका कारण होगा।

केवलताके आलम्बनसे कैवल्यका लाभ—भैया! मोक्ष इस ही को तो कहते हैं कि केवल रह जाना। कर्मोंका बन्धन टूटना, भावकर्मोंका बन्धन छूटना और शरीरका वियोग हो जाना। केवल यह आत्मा स्वयं जिस स्वरूप वाला है उतना ही मात्र रह जाय इस ही का नाम मोक्ष है। यदि ऐसा मोक्ष पाना चाहते हो, इस मोक्षके निरन्तर वर्त रहे शुद्ध आनन्दको यदि प्राप्त करना चाहते हो तो अपने कैवल्यस्वरूपका अनुभव करो। अपने आपको केवल जानो। केवल जाने माने बिना कैवल्य मिलेगा कहाँ? अब इन बाह्य क्रियाकलापोंमें आत्मबुद्धि न रखकर एक इस शुद्धज्ञानप्रकाशमें अपना स्वरूप स्वीकार करे। इस शुद्ध दृष्टिके प्रतापसे तू नियमसे निर्वाणका आनन्द पायेगा। ऐसी शुद्ध दृष्टि होना अथवा ज्ञाताद्रष्टा रहना यही है परम आवश्यक कार्य। इस कार्यके लिए तू अपने स्वरूपका ज्ञान कर, यत्न कर और इसहीमें रमण कर।

आवासयेण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥१४८॥

शुद्धोपयोगकी अभिमुखताकी शिक्षा—जो श्रमण आवश्यक कार्यसे रहित होता है वह चारित्रसे भ्रष्ट कहा गया है। इस कारण जो पहिले क्रम बताया है उस पद्धतिसे आवश्यक कर्मको अवश्य ही करना चाहिए। इस गाथामें साधुवोंको शुद्धोपयोगके अभिमुख होनेके लिए शिक्षा दी गई है।

व्यवहारसे भी चारित्रभ्रष्टताका रूप—जो साधु व्यवहारनयके आवश्यक कर्मोंको भी नहीं कर पाता है, उसमें भी त्रुटि रखता है, उससे रहित होता है वह तो व्यवहारसे भी चारित्रभ्रष्ट है। जो अपने इन्द्रियविषयोंके पोषणमें हैं, मान पाने व स्वादमें ही संतुष्ट रहा करते हैं और कुछ लोगोंसे मिलजुलकर

एक यश कीर्ति प्रशसाकी बात सुनकर तृप्त रहा करते हैं वे भ्रष्ट साधु है। वे भली प्रकारसे जो व्यवहार षट् आवश्यक बताया है उन्हें भी नहीं कर सकते हैं। व्यवहारके ६ आवश्यक ये हैं—समता, वदना, स्तुति, प्रत्याखान, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग।

समतानामक आवश्यककर्मसे भ्रष्टता—समता नाम है रागद्वेष न करना। ऐसे जीव जो विषयलोलुपी है अपने यश कीर्तिके उद्देश्यसे और अपना जीवन मौजमें व्यतीत हो, इतने मात्रसे जिन्होने साधु भेष रखा है वे तो साधु रागद्वेषके वशीभूत स्वय है, उनके कहा चारित्र रह सकता है ?। जो साधुभेष रखकर अपने आपको दोषमय बनाता है वह पतित पुरुष है। गृहस्थजन तो गृहस्थीमे रहते है, उनके कलक कलुषताएँ लगती रहती हैं, फिर भी गृहस्थको ऊपर उठनेकी मनमे इच्छा बनी रहती है, सो वे अपने पदसे भ्रष्ट नहीं कहे जाते, किन्तु जो साधुपद ग्रहण करके अपने कर्तव्यसे च्युत रहता है वह तो पतनकी ओर ही जा रहा है। जो साधु चारित्रसे गिर गया है वह पतित है और जो साधु चाहे बाह्य चारित्रको भी पाल रहा हो, लेकिन श्रद्धासे गिरा है, अपने आचार्यजनों पर श्रद्धा नहीं है वहाँ त्रुटियाँ ही त्रुटिया निरखना है, कल्पना कर करके उनकी रचनावोंको झूठी साबित करता है और उनको बदल बदल कर उसी रचनाके नामसे प्रचार करता है वह तो महापतित है। जो चारित्रसे भ्रष्ट हुआ है वह तो अपने लिए ही भ्रष्ट हुआ है किन्तु जो आचार्यकी कृतियोंको झूठी कहकर हम उनकी गलती सुधारनेके लिये पैदा हुए हैं, यों मान करके नये-नये ग्रन्थ बनाकर जगतमे प्रचार करता हो तो वह जगत्के लोगोंका भी अकल्याण करता है। उसके व्यवहार आवश्यक ही कहा रहा है ?

भ्रष्ट श्रमणसे जनताका अलाभ—व्यवहार आवश्यकमें प्रथम आवश्यक है समतापरिणाम रखना, रागद्वेष न करना। जिसे अपने शरीरमें भी परिग्रहबुद्धि नहीं है वह बाह्यपरिग्रहोंका क्या राग करेगा ? जो समतासे च्युत है वह चारित्रसे भ्रष्ट है। साधुजन लोकोंके मार्गप्रदर्शनके लिए आदर्शरूप होते हैं। जनसमूह साधुवोंकी चर्या, साधुवोंकी निष्ठा, साधुवोंका उपदेश पाकर अपना कल्याण करते हैं। साधु जन इसी कारण वदनीय हैं कि जनसमूह उनसे अपनी उन्नतिका मार्ग पाते है। जो स्वय ही समतासे च्युत हो, रागद्वेष पक्षोंसे जो स्वयं ही भरा हुआ है वह तो अपने कल्याणसे भी भ्रष्ट है। साधुपदमें ज्ञान ध्यान और तपस्या—ये तीन मुख्य कर्तव्य बताये गये हैं, इनकी ओर तो दृष्टि भी न हो व जो अन्य कुछ विडम्बनाएँ पेश करके समाजमें फूट डाले अथवा अपने आत्मकल्याणकी दृष्टि ही न रख सके, न आत्म-कल्याणका अवसर पा सके, मौजोंमें ही अपना समय गुजारे, वह चारित्रसे भ्रष्ट है।

वदनानामक आवश्यककर्मसे च्युत होनेसे चारित्रभ्रष्टता—द्वितीय आवश्यक है वदना। विषयलोलुप, कीर्तिलोलुप साधु किसी अन्य आत्माको, देवको अथवा गुरुको महान नहीं मान सकता है। वह तो अपने ही गर्वमें फूला रहता है, वह चारित्रसे भ्रष्ट है। अपने देव शास्त्र गुरुमें अपना तन मन धन न्यौछावर कर देना, यह उनसे ही बन सकता है जिनका होनहार अच्छा है। यह सारा जगत् असार और अहित रूप है। यहाँ जो कुछ भी समागम मिला है वह अभिमानके योग्य नहीं है। किस पर अभिमान करना ? कौनसी वस्तु सारभूत है ? ये बाह्य जड़ सम्पदा तो प्रकट भिन्न हैं, छूट जाने वाले हैं। ये सब मायारूप हैं, थोडे समयमें ही छूट जाने वाले हैं। जैसे नाटकमें भेष धारण करते हैं पात्र थोड़ी-थोड़ी देरमें अपना भेष बदलते हैं ऐसे ही ससारके सभी जीव भेष बदलते रहते हैं। हम आप आज मनुष्य भेषमें हैं, कुछ समय बाद इस भेषको छोड़कर नया भेष रक्खेंगे। ये सब मायारूप हैं, इन पर क्या इतराना ?

विनेयतामे ही लाभ—भैया ! अपनने ज्ञान भी क्या पाया है ? केवलज्ञानके समक्ष तो गणधरोंका भी ज्ञान न कुछ है और उन गणेशोंके ज्ञानके सामने तो अन्य विद्वान् साधुवोंका भी ज्ञान न कुछ है। जहा द्वादशागका निरूपण किया गया है उसे जब सुनते हैं, जब विचारते हैं तो ऐसा लगता है कि आज

कोई अनेक भाषावोंका भी विद्वान् हो जाय, अनेक ग्रन्थोंका, विषयोंका विद्वान हो जाय तो भी वह ज्ञान द्वादशांग समुद्रमें बूँद बराबर है। यह तो श्रुतज्ञानकी ही बात कही जा रही है। कौनसा ज्ञान ऐसा पाया है जो गर्व करनेके लायक हो? जो अपनी कलापर गर्व करते हैं उन्हें अपने आपकी सुध नहीं है। गर्व करनेसे कहीं उन्नति नहीं होती है, वह तो अमनोज्ञ हो जाता है, लोकमें प्रिय नहीं रहता है। अपनेमें अधिकसे अधिक नम्रता बतावो, अपने को न कुछ समझो और दर्शावो। और कुछ समझो तो सबसे महान् स्वभावरूपमें अपनेको समझो। केवल पायी हुई परिणतिके कारण अपनेको महान् मत समझो। ये तो मिट जाने वाले तत्त्व हैं। जिसमें नम्रता होगी वही वंदना कर सकता है। वंदना करनेमें अनेक पापोंका क्षय हो जाता है।

स्तुतिभ्रष्टतामें चारित्रभ्रष्टता—प्रभुकी स्तुति वह पुरुष क्या करे जो स्वयं अपनी स्तुतिका अभिलाषी बना हुआ है। जिसे अपने ही वर्तमान भेष पर नखरा हो रहा है वह साधु व्यवहारसे भी चारित्रसे भ्रष्ट है, वह स्तुति नहीं कर सकता। जिसमें पवित्रता हो, नम्रता हो गुणोंकी दृष्टि हो, गुणग्राहिताका स्वभाव हो, वही साधु स्तुति कर सकता है। जो व्यवहार स्तुतिसे भी भ्रष्ट है वह व्यवहारसे भी चारित्रसे भ्रष्ट है।

प्रतिक्रमणभ्रष्टतामें चारित्रभ्रष्टता— प्रतिक्रमण अथवा प्रत्याख्यान—परवस्तुवोंका त्याग है। एक शुचि संयम ज्ञानके उपकरणके सिवाय अन्य किसी उपकरणको न रखना, हिंसासाधक खटपट साथमें न रखना और अपने भावमें भी त्यागपरिणाम बनाये रहना, यह है प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान। जो इस त्यागसे भी पतित हो गया है, लोकरंजनाके अर्थ अथवा अपनी महत्ता जतानेके अर्थ नाना आडम्बर साथ रखे हो, नाना संग हो तो वह साधु व्यवहारचारित्रसे भी भ्रष्ट है।

स्वाध्यायभ्रष्टता—स्वाध्याय भी बहुत आवश्यक कार्य है। जो इतनी झमटोंमें पड़ गया हो कि स्वाध्याय न कर सके, उसके लिए अवकाश ही नहीं है, वह केवल बाह्य जगजाल प्रपचमें ही अपना समय बिता रहा है, ऐसा साधु व्यवहारचारित्रसे भी भ्रष्ट है।

कायोत्सर्गभ्रष्टतामें चारित्रभ्रष्टता—कहां तो यह कर्तव्य बताया है कि शरीर तकसे भी ममत्व न रक्खो। यही है कायोत्सर्ग नामका आवश्यक कर्म। शरीरकी तो बात जाने दो, उसका तो राग बना ही हुआ है, किन्तु अपना घर परिवार छोड़कर जनतामें एक अपनी पार्टीका परिवार बनाए और उनको राग का विषय बनाकर अपनी मौज माने ऐसा साधु व्यवहारसे भी चारित्रसे भ्रष्ट है। यह बात इसलिए कही जा रही है कि आत्माकी उन्नतिकी कामना यदि है तो हमें परमावश्यक पुरुषार्थका सुपरिचय होना चाहिये। करने योग्य वास्तविक क्या काम है, इसका जब तक परिचय न आये तब तक उन्नति नहीं कर सकते हैं। निश्चयसे तो निर्विकल्प समाधिभावरूप वर्तना ही परमआवश्यक काम है, अन्य कुछ आवश्यक नहीं है। शेष सब अनावश्यक है। जैसे किसीको कोई मकान बनवाना है तो उस प्रस सीमेन्ट, नौकर, परमिट आदिके अनेक प्रसग करने होते हैं, पर उद्देश्य केवल एक है कि मकान बनवा है। तो उसका मूल उद्देश्य एक है और शेष हैं मूल साधक उद्देश्य। यों ही साधुसत जनोंका उद्देश्य एक निश्चय परम आवश्यक भाव है, इस भावकी साधनाके लिए व्यवहारमें समता ६ आवश्यक बताये गए हैं।

निश्चयचारित्रभ्रष्टता – भैया! व्यवहार चारित्रमें रहकर व्यवहारचारित्रसे अतीत निश्चयच दृष्टि हो तो वहाँ मोक्षमार्ग चलाता है। जैसे जो व्यवहारके षट् आवश्यकसे परिहीन है उसे व्यव चारित्रभ्रष्ट कहा है, ऐसे ही जो साधु निश्चयसे निर्विकल्प समाधिभावमें ... शुद्ध ज्ञाता

रूप, रागद्वेष न करके केवल जाननहार बने रहने रूप परमआवश्यकसे रहित है वह श्रमण निश्चयचारित्र से भ्रष्ट है। तीर्थंकर प्रकृतिके बंधक भावोंमें एक आवश्यकापरिहाणि भावना कही गयी है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती मनुष्य भी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर सकते हैं, उसके भी आवश्यक परिहाणि भावना है। जब अविरत सम्यग्दृष्टिके भी निर्दोष बननेकी भावना बन रही है, फिर जो पुरुष श्रमण होता है उसे अपने आवश्यकपरिहाणिकी इच्छा नहीं होती हो, वह स्वच्छन्द रहे, प्रमादी रहे, अपना यह अमूल्य समय यों ही खो दे तो उसे चारित्रभ्रष्ट कहना युक्त ही है।

श्रमणकी द्विजता—श्रमणका नाम द्विज है। द्विज नाम साधुका है। जो दूसरी बार उत्पन्न हो उसे द्विज कहते हैं। पहिली बार तो वह अपनी माँ से उत्पन्न हुआ है जिससे उमरका हिसाब लग रहा है, पर जो पुरुष परमवैराग्यबलसे समस्त परिग्रहोंको त्यागकर, आरम्भको छोड़कर, सब प्रकारकी ममतावों का परिहार करके, देह तककी भी ममता न रखकर केवल आत्मसाधनाके लिए दीक्षित हुआ है उसका दूसरी बार जन्म हुआ है और जैसे शरीरका दूसरी बार जन्म हो जाय तो पहिले जन्मका संस्कार वासना करतूत आदत नहीं रहती है। कोई मनुष्य है और वह मरकर बन गया घोड़ा तो घोड़ा बनकर अब उसकी आदतमें उसके संस्कारमें मनुष्य जैसी क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं? कोई घोड़ा मरकर आज मनुष्य हो गया है तो वह मनुष्य घोड़ा जैसा हिनहिनाए, चार टांगोंसे चले ऐसा नहीं हो सकता है। तो जैसे दूसरा जन्म होने पर पहिले जन्मकी प्रवृत्ति नहीं रहती है इस ही प्रकार साधु हो जाने पर गृहस्थावस्थाकी प्रवृत्ति नहीं रह सकती है। उसका तो दूसरा जन्म हो गया है। ऐसे द्विज साधु श्रमणके अब सर्वप्रकारके मोह रागद्वेष आदिक दूर हो गए हैं और यह परमावश्यक परिणतिमें चल रहा है, ऐसा जो स्ववश मुनि हो, अपने आत्मवश हो, किसी भी परद्रव्यके आधीन न हो वह श्रमणश्रेष्ठ जगतमें वदनीय है।

निरपेक्षतामें साधुता व सापेक्षतामें चारित्रभ्रष्टता—साधुको किसी भी परद्रव्यकी अपेक्षा नहीं रहती है। वे साधु ऐसा नहीं सोचते कि मेरे विहारका साधन ठीक नहीं है। अरे वे तो विहारके मामलेमें चिड़ियों की तरह हैं, आखिर अकेले ही तो हैं, जैसे चिड़ियाके चित्तमें जब आया तो पंख पसारकर उड़ गयी और कहीं जाकर बैठ गई, ऐसे ही साधुके चित्तमें जब आया तो ईर्यासमितिसे चल दिया। उसके कुछ अपेक्षा नहीं है, किन्तु यदि ममता बसी हुई है तो सब अपेक्षा आ जाती है। संगमें रहने वाले जो लोग हैं वे साधुकी परवाह करें या साधु उनकी परवाह करे। हाँ, संगमें रहने वाले चूंकि वे साधुभक्तिसे रह रहे हैं इसलिए वे साधुकी परवाह करते हैं, किन्तु कोई साधु अपने संगके लोगोंकी ही चिन्ता रखें, उनका ही परिग्रह अपने सिर पर यदि लादे फिरता है तो उस साधुका व्यवहारचारित्र भी भ्रष्ट कहा गया है। अरे साधु तो हुए हैं स्वात्माश्रित धर्मध्यानके लिए, लेकिन अभी अपने नामकी वासनाका संस्कार बना है ऐसा साधु व्यवहारचारित्रसे भी भ्रष्ट कहा गया है। जो अपने आत्माके आश्रयसे होने वाले निश्चयधर्म ध्यान और निश्चय शुक्लध्यान को करता है, जो परम आवश्यकज्ञातृत्वरूप पुरुषार्थमें उद्यमी है वही परम मुनि है।

यथार्थ मुनि—मुनि उसे कहते हैं जो अपने आत्माका मनन करता रहे। केवल भेष मात्रसे मुनि नहीं कहलाता। हाँ, जो मुनि होगा, परममुनित्व पायेगा, उसको निर्ग्रन्थ अवस्थामें तो आना ही पड़ेगा, उसके चित्तमें जब किसी भी परवस्तुकी ममता नहीं रही तो कहां उसके वस्त्र रहेंगे, कहाँ घर रहेगा, कहां किसी अन्य विषयसाधनोंका समागम रहेगा। उसकी स्थिति निर्ग्रन्थ दिगम्बरकी होगी ही। लेकिन कोई जानबूझकर विषयभावनाकी दृष्टि रखकर यह दिगम्बर भेष रखकर माने कि मैं मुनि हूं तो वह आत्मदर्शन नहीं कर सकता है तब तक उसके मुनित्व नहीं होता है। मुनिजन अन्तर्मुहूर्त बाद छठे और ७ वें आते जाते रहने गुणस्थानमें हैं। छठा गुणस्थान है एक शुभ विकल्प वाला, जिसमें धर्मविषयक विकल्प

चलते हैं और ७ वां गुणस्थान निर्विकल्प है जिसमें कोई भी विकल्प नहीं होता है। निर्विकल्प अवस्था होती है। अन्तर्मुहूर्त याने इन दोनों गुणस्थानोंके प्रसगमें मिनट-मिनटमें वे निर्विकल्प बनते हैं, जो ऐसी प्रमत्त और अप्रमत्त दशामें झूला करता है वह श्रमण साधु पुरुष आत्ममनन किया करता है। वह परम मुनि है।

प्रकृत शिक्षण—यहाँ आचार्यदेवकी यह शिक्षा है कि हे मुनिजनो! आत्मवश बनो। तुमने अध्यात्मयोगका सत्य आग्रह किया है, अपने आपमें अपने उपयोगको जोड़नेका दृढ़ निश्चय किया है, अब इस निश्चय आवश्यकका जो क्रम है, पद्धति है उस पद्धतिपूर्वक अपने आत्माका ही ध्यान बनाकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानपूर्वक इस आवश्यक कर्मको करो। इस आत्माका करने योग्य कार्य केवल एक यह ही है, अपने को देखना जानना और अपने आपमें समा जाना, इस ही का नाम मोक्षमार्ग है, शान्ति है, परम संतोष है।

उपासकका कर्तव्य—श्रावकजन जो ऐसा नहीं भी कर पा रहे हैं उनकी भी दृष्टि यही करनेकी रहती है अन्यथा वे उपासक नहीं कहला सकते हैं। गृहस्थका नाम उपासक है। गृहस्थका नाम श्रावक भी है। उपासक उसे कहते हैं जो इस परमतत्त्वकी उपासना करे, परमतत्त्व जहा प्रकट होता है ऐसा मुनि पद पानेकी भावना बने, उसे उपासक कहते है और श्रावक कहते हैं। अपने इस गृहस्थपदमें जो करने योग्य कार्य हो उसमें सावधान बना रहे उसे श्रावक कहते हैं। इस आत्माको करने योग्य आवश्यक काम केवल एक यह आत्मज्ञान, आत्मदर्शन और आत्मरमण है। यही समस्त पापसमूहोंको हरने वाला है, मोक्षका कारणभूत है। जो जीव अपने आपकी संभाल कर लेता है वह अपने इस ज्ञानरसकी उपासनासे पवित्र होता हुआ ऐसे शाश्वत शुद्ध आनन्दको प्राप्त करता है जो वचनोंके अगोचर है, वाणी जिसको कहने मे असमर्थ है। पूर्ण निराकुल शान्तस्थितिको प्राप्त हो जाता है शान्तिके अर्थ करने योग्य काम यही आत्मानुभवका है।

धार्मिक प्रयत्नोमे मूल पुरुषार्थ—भैया! हमारे सब धार्मिक प्रयत्नोंका उद्देश्य एक आत्मानुभवके लिए होना चाहिए। अपना कर्तव्य है कि इस मोहजालको ढीला करके एक ज्ञानार्जनकी दशामे हम अपना कदम बढ़ायें। मैं क्या हू? जो सहजस्वरूप वाला है उसकी चर्चा करें, उसकी ही दृष्टिके लिए अपनी परिणति बनाएँ, यह काम एक ठोस काम है आत्माकी भलाईके लिए। इस विशुद्ध और अमोघ पुरुषार्थके लिए हम अपना मनुष्य जीवन समझें। विषयोंके भोगनेके लिए अपना जीवन कतई न मानें। वह तो विपत्ति है, विडम्बना है। विषय भोगोंके लिए हमने मनुष्य जीवन नहीं पाया है किन्तु अपने उद्धारके लिए पाया है, ऐसा निर्णय करके अपने ज्ञानस्वरूपके ज्ञानका ही उपयोग बनायें, इससे ही अपने आपकी वास्तविक भलाई है।

आवासयेण जुत्तो समणो सो होदि अंतरगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥

आवश्यकके लगाव व बिलगावका प्रभाव—जो पुरुष आवश्यकसे सहित है वह श्रमण तो अंतरङ्गात्मा कहलाता है अर्थात् अतरात्मा है और जो आवश्यक कर्मसे रहित है ऐसा आत्मा बहिरात्मा होता है निश्चय परमआवश्यकका अर्थ है अपने आत्मस्वभावको परखकर उसमे ही आचरण करना अर्थात् केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप स्थिति बनाना, यह है परमावश्यक। इस परमावश्यककी जिसके दृष्टि नहीं है वह पुरुष चारित्रसे भ्रष्ट बताया गया है। इस गाथामे यह बता रहे हैं कि जो आवश्यककर्मसे युक्त होता है वह श्रमण तो अन्तरात्मा कहलाता है और जो आवश्यकसे रहित होता है वह बहिरात्मा कहलाता है।

अन्तरात्मा व बहिरात्माकी वृत्ति—अन्तरात्मा उसे कहते हैं जो अपने अन्तरकी बात जाने। अन्तर

मायने अन्तरङ्गस्वरूप । अपने आत्माके सहजस्वरूपको जानने वाला सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा कहलाता है और अन्त:स्वरूपको जो न जाने ऐसा पुरुष वहिरात्मा कहलाता है। यह आत्मा कुछ न कुछ जाननेका और कुछ न कुछ प्रतीतिमे लानेका काय निरन्तर करता रहता है। जब यह अपने अत:स्वरूपको नहीं जानता है तब किसी वाह्यस्वरूपको जानता है। वाह्य पदार्थोंको आत्मारूपसे जो स्वीकार करे उसे वहिरात्मा कहते हैं। वहिरात्मा पुरुष आवश्यक कर्मकी दृष्टि भी नहीं कर पाता हैं। वह तो भ्रमवश जानता है कि मौजसे रहना, मौजके साधन जुटाना, ये आवश्यक काम हैं। वहिरात्माकी स्थिति वहिर्मुखताकी ही वनती रहती है।

वहिर्मुखतामे क्रोधकी प्रकृति—वहिरात्मा देहको ही अपना सर्वस्व मानकर सब कुछ परिणति इसके लिए करता है। इसे क्रोध आता है तो इस देहका कोई अपमान करे, विरोध करे तो क्रोध आता है। इसके घमड आता है तो इस देहको दृष्टिमें लेकर घमंड किया करता है, मैं वलिष्ट हू, इतने परिवार वाला हू, ऐसी गोष्ठीका हू, त्यागी हू, साधु हू, सब कुछ देहको लक्ष्यमें लेकर यह क्रोध किया करता है। कुछ लोग ऐसी शका करते है कि क्या वजह है कि आजकल साधुजन प्राय जितने मिलते है वे क्रोध जरा जरा सी वातोंमें करने लगते है। जो भला साधु है वह तो जरा जरा सी वातोंमे क्रोध करने का काम नहीं करता कदाचित् कोई तीव्र उदय आ जाय, न वश रहे, हो जाय क्रोध, यह स्थिति अलग है, पर जिन्हें अपने स्वरूपका पता नहीं, केवल देहको लक्ष्यमे लेकर यही जानता है कि यह मै साधु हू और जब केवल देह तक ही दृष्टि है तो यह कल्पना जगना प्राकृतिक है कि मुझे श्रावक लोग कौन नमस्कार करते हैं कौन नहीं करते हैं, अथवा मेरी भक्ति ठीक तरहसे होनी चाहिए इसमे त्रुटि दिखी तो क्रोध आ जाता है।

वहिर्मुखतामे मनका वेहूदा नाच—पहिले कहा इतनी पूजायें थीं। कितने ही मुनीश्वर हो गए है पर कहा उनकी इतनी पूजा मिलती है, लेकिन कुछ लोग तो आजकल दूसरोंसे पूजन वनवाकर छपवाकर स्वय रखकर अपने हाथ वितरण करते हैं और प्रेरणा करते हैं कि इस समय हमारा पूजन होना चाहिए। समय पर सज धजकर वैठ जाते है और उसमे मौज मानते हैं। यदि कुछ उसमें त्रुटि हो गयी तो शीघ्र ही उनके क्रोध आ जाता है। किसी श्रावकने वदना नहीं किया, इसी पर क्रोध आजाता है। हमारा आदर होना चाहिए, लोग जाने कि ये वड़े पहुचे हुए साधु आये हैं, वड़ी तपस्या करते है। चाहे समाजमें रल मिलकर रहनेके कारण आत्मवल भी खो दिया हो, देह दृष्टि रखनेके कारण चाहे कुछ चैन भी न आ पाती हो, फिर भी लोग मेरी भक्ति करें, मेरी लोग हजूरीमें खडे रहें यदि ऐसी दृष्टि है तो जहा किसी भी परपदार्थके सम्बन्धमें कुछ भी परिणमनका चिन्तन किया जाय वहा क्लेश होना प्राकृतिक है।

अज्ञानदशा—भैया! जो मन करता है, जो इच्छा होती है ऐसी वाह्यमें परिणति हो जाय, सो सोचनेके कारण यह नहीं होता है, कभी ऐसा ही मेल वैठ गया हो कि यहा हम अपनी कुछ कल्पना कर रहे थे और ऐसा परिणमन भी वहा मिल गया, पर मेरे सोचनेसे वाह्यमें यह परिणमन हुआ है, मेरे करनेसे देखो ऐसा-ऐसा काम वना है, यह सव भ्रम है। न हो परिणमन मनके अनुकूल तो चूँकि यह श्रद्धा कर वैठे हैं कि यह श्रावक हैं, हम मुनि हैं, साधु है, पूज्य है, हमारा यह दर्जा है, इनका यह दर्जा है, इनका दर्जा जमीन पर लोटकर चरणोंमें सिर रगड़नेका है, मेरा दर्जा वड़े ठाठवाटसे पुजनेका है, यों भ्रम वन गया है अज्ञान अवस्थामें, तव पद पदपर क्रोध आना प्राकृतिक वात है।

वहिर्मुखतामें घमडकी वृत्ति—घमड भी इस देहमें दृष्टि रखकर किया जाता है। न रहे देहकी दृष्टि में इस देहसे भी भिन्न केवलज्ञानमात्र आकाशवत निर्लेप आत्मा हू, यह दृष्टि रहे तो ऐसा ही दर्शन दूसरे जीवोंमें होगा कि ये भी इसी प्रकारक हैं। साधुका कर्तव्य तो मित्रतासे रहनेका है। सब जीवोंमे मैत्रीभाव का उत्कृष्टता साधुओंमें ही हो सकती है। गृहस्थजन सब जीवोंमें उत्कृष्ट मैत्रीभाव नहीं निभा सकते हैं,

किसीमें न हो, ऐसी अभिलाषा रखना। मित्रता वहाँ होती है जहां दूसरोंको अपने समान निरखा जा सकता है। दूसरोंको अपनेसे बड़ा समझे तो भी मित्रता नहीं निभती, दूसरोंको अपनेसे हीन समझे तो भी मित्रता नहीं निभती। अपनेको बड़ा समझने पर भक्ति बनेगी और अपनेसे दूसरोंको हीन समझने पर घृणा जगेगी। पर मित्रता तब ही सम्भव है जब हम दूसरोंको अपने समान समझें। साधु पुरुष जगत के समस्त जीवोंको अपने समान निरख रहे हैं।

स्वभावदृष्टिकी उदारता—यद्यपि पर्यायदृष्टिसे व्यवहारमें भिन्न-भिन्न स्थितिके जीव हैं, समान नहीं हैं, लेकिन स्वरूपदृष्टिसे, स्वभावकी परखसे सब जीव एक समान हैं और साधुके ही समान नहीं किन्तु अरहंत सिद्ध परमात्माके भी समान हैं समस्त जीव। एक स्वरूपकी समानताकी दृष्टिकी अपेक्षासे बात खोजिए, नहीं तो ऐसी विडम्बना हो सकती है कि जैसे कहीं लिखा है कि गाय और ब्राह्मण एक समान होते हैं तो क्या सर्वथा ही वहां यह अर्थ लगेगा कि गाय और ब्राह्मण दोनों सर्वदृष्टियोंसे समान है? अरे जिस दृष्टिसे समानता बतायी है उस दृष्टिसे समान है। कोई सोचने लगे कि हलुवा तो गायको खिला दें और घास ब्राह्मणके सामने डाल दें क्योंकि दोनों समान ही तो हैं तो यह एक विडम्बना बन जायेगी। तो भाई जो हीन आचरणके हैं जिनके यहां मांसभक्षणका रिवाज हैं, जो पापोंसे बरी नहीं हो पाते हैं उनमें घुलमिलकर रहने लगें तो उससे तो अपना नुक्सान ही होगा। सगति तो आत्मोत्थानके लिये उत्तम पुरुषोंकी ही बतायी है, क्योंकि इस जीवमें ऐसी कमजोरी है कि वह नीची बातोंको नीचे लोगोंका सग पाकर जल्दी उनका ग्रहण कर सकता है और ऊँची बातको ग्रहण करनेमें इसे बड़ा पौरुष करना पड़ता है।

पर्यायाश्रयमें कषायजागृति— यद्यपि ये जीव व्यवहारदृष्टिसे परस्पर बिल्कुल भिन्न हैं, कीड़ा मकौड़ा और साधुमें कोई बराबरी रक्खे तो ऐसा कैसे हो सकता है? पेड़, वनस्पति और साधु ये जीव क्या एक समान हैं? पर्यायदृष्टिमें समान नहीं हैं, लेकिन जो सहजस्वरूप है, जो अपने आप लक्षण है जीवका, उस दृष्टिसे देखो तो सब जीव एक समान हैं। जो सब जीवोंको समानदृष्टिसे निरख सकता है उसके मित्रता जग सकती है, जो नहीं निरख सकता है वह देहको ही यह मैं साधु हूं, यह मैं पडित हू, यह मैं श्रीमत हू, यह मैं धन परिजनसम्पन्न हू, यह मैं नेता हू, ऐसी दृष्टि बनाकर अपनी वृत्ति ऐसी बहिर्मुखता-की रखता है कि चित्तके विरुद्ध कुछ परिणति होनेपर क्रोध जगता है और लोगोंमें अपना मान भी पुष्ट करता है बहिर्मुख होनेपर अवगुण सभी आने लगते हैं।

बहिर्मुखतामें मायाचार व लोभकी प्रकृति— मायाचार और लोभ, ये भी तो देहमें आत्मबुद्धि करनेपर ही किये जा सकते हैं। देहपर दृष्टि देकर जब यह बुद्धि बनती है कि यह मैं हू, मुझे इतनी सामग्री जुटानी चाहिए, ऐसी इच्छा बनी रहती है तो जैसे इच्छा की है कि इतनी धन सम्पदा जुड़ना चाहिए और आग्रह करे-तो धन सम्पदा अत्यन्त अधिक जुड़ जाना क्या यह निर्मल सदाचारसे सम्भव है। मायाचार करें, लोभ करें, तृष्णा करें ऐसे मायाचारसे अनेक अन्यायसे धन सम्पदा जुड़ती है। हां! यह कोई एकान्तिक नियम नहीं है किन्तु जो तृष्णा रक्खे हैं, और धन सम्पदाके होने की ही मनमें होड़ लगाये हैं ऐसे पुरुषोंकी ही बात है कि वे अन्याय मायाचारमें अधिक लगते हैं। तिसपर भी वे असत्य व्यवहार करके नहीं सफल हो पाते। सफल तो वे अपने पुण्यके उदयके कारण हो रहे हैं। बड़े-बड़े चक्रवर्तियोंके ६ खण्ड की विभूति आयी है, उस विभूतिके उस वैभवके आनेका कोई निषेध नहीं है, तीर्थंकरोंके तो न जाने कितना वैभव रहता है? पुण्य है तो कहां जायेगा, किन्तु तृष्णा खराब है। तृष्णा किए बिना, धर्मदृष्टि रक्खे हुए अपना जीवन शुद्ध कार्मोंमें व्यतीत करके गृहस्थोंके योग्य त्रिवर्गका सेवन करते हुए सम्पदा आती है, आये, उसकी बात नहीं कह रहे हैं, पर देहमें बुद्धि रखकर हमको धनी बनना है, हमें प्रतिष्ठा

चाहिए ऐसी वहिर्मुखताकी बुद्धि आये तो वहां मायाचार और लोभ कषाय तो करना ही पड़ता है। यों वहिर्मुख होनेमें इस जीवका सर्वत्र अकल्याण है। इसको आवश्यक कार्यकी दृष्टि नहीं रहती है।

सम्यक्त्वमें स्वरूपाचरणका वास—जितने भी सम्यग्दृष्टि हैं, अविरत सम्यग्दृष्टि, श्रावक सम्यग्दृष्टि, श्रमण सम्यग्दृष्टि सबके एक ही निर्णय है। निश्चयसे परमआवश्यक काम आत्माका यह अभेद अनुपचार रत्नत्रयात्मक परिणमन है। अपने आत्माका ही श्रद्धान हो, ज्ञान हो और इस आत्मतत्त्वमें ही अनुष्ठान हो इसमें जो परिणति बनती है वह परमआवश्यक कर्तव्य है। इसकी दृष्टि, इसका ज्ञान इसका लक्ष्य, प्रत्येक सम्यग्दृष्टियोंमें रहता है, कोई इसे कर पाये अथवा न कर पाये। जो शुद्धदृष्टि रखता है वह भी तो एक करना होता है। चतुर्थ गुणस्थानमें, स्वरूपाचरण चारित्रमें और होता क्या है? चारित्र नाम छठे गुणस्थानका है और सयमासंयम नाम है पचम गुणस्थानका। इस अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानमें कौनसा चारित्र आ गया है, जिसने आत्मतत्त्वका श्रद्धान किया है? उसे बाहरकी ओर झुकनेका उत्साह नहीं रहता है, वह तो अपने अन्तरकी ओर ही झुकना चाहता है। बस इतना जो उसे अपने आत्मतत्त्वका लगाव बन गया है, वही यहा स्वरूपाचरणचारित्र है। भैया! चारित्र तो सर्वत्र स्वरूपाचरण ही है सयमासयम और विविध चारित्र पालन करके भी वहा कौन पुरुष कितना सयमी बना है, वह स्वरूपाचरणकी नापसे ही यथार्थ बताया जा सकेगा। श्रावकके स्वरूपाचरण बढ गया साधुके और वृद्धिगत हो गया, श्रेणीमें रहने वाले के यह स्वरूपाचरण और बढ़ गया है, परमात्माके स्वरूपाचरण बिल्कुल पूर्ण फिट हो गया है और सिद्ध प्रभुके तो वाह्य मल भी नहीं रहा है। यों स्वरूपाचरणका ही सर्वत्र विस्तार हो रहा है।

वहिरात्मा और अन्तरात्माका परिचय—जिसे अपने इस स्वरूपकी खबर नहीं है, जिसके विकासका लक्ष्य नहीं बना है वह पुरुष वहिर्मुख है और जिसको इस आवश्यक कर्मकी दृष्टि जगी है और जो इस आवश्यककर्मके लिए उत्सुक हैं वह सब अन्तरात्मा हैं। उनमे जघन्य अतरात्मा तो असयत सम्यग्दृष्टि है और उत्कृष्ट अतरात्मा निर्विकल्प श्रमण है। जो स्ववश है, किसी परतत्त्व, परभावकी अपेक्षा नहीं रखता है वह उत्कृष्ट अन्तरात्मा है और उनमें भी उत्कृष्ट अन्तरात्मा, महान् अन्तरात्मा वह श्रमण है जिसके कषायोंका अभाव हो गया है, जो क्षीण मोह हो गया है, वीतराग हो गया है, वह उत्कृष्ट महान् अन्तरात्मा है। उत्कृष्ट अन्तरात्मा और असयत सम्यग्दृष्टियोंके बीचके जितने अन्तरात्मा हैं वे मध्यम अन्तरात्मा हैं, किन्तु जो पुरुष न निश्चय परमआवश्यकको कर पाता है और जो व्यवहारके परम आवश्यकसे भी भ्रष्ट है, और जिन्हें इस परमआवश्यककी दृष्टि ही नहीं मिली है वे सब वहिरात्मा कहलाते हैं।

स्वसमयके कर्मविनाश—कर्मोंका विनाश अत.स्वरूपके विकासके निमित्तसे होगा, शरीरका रूपक बनाने से न होगा। शरीरका निर्ग्रन्थ रूप तो उनके बनता ही है जो विरक्त और ज्ञानीपुरुष होते हैं, पर उपादेय चीज तो आन्तरिक स्वरूप है। समय नाम आत्माका है। ये समय दो प्रकारके होते हैं—एक स्वसमय और एक परसमय स्वसमयमे यदि यह स्वरूप तका जाय कि जो उत्कृष्टरूपसे दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें स्थित हो गया है वह तो स्वसमय है और जो परसमयमे स्थित है वह परसमय है। यहा इस स्वसमयमें हुआ परमात्मा। और परसमयमें आया अन्तरात्मा और परमात्मा। यों परसमयके दो भेद हुए। यदि स्वसमयकी परिभाषा यों देखी जाय कि जिसको स्वकी दृष्टि जगी है और इस दृष्टि और उपयोगसे जो स्वकी ओर ही झुका है, परकी ओरसे उपेक्षा किए रहता है तो ऐसे स्वसमय दो प्रकारके हैं—एक अन्तरात्मा और एक परमात्मा। तब परसमय नाम केवल वहिरात्माका है।

अध्यात्मयोगीकी निरुपमनाने प[illegible]—यह अन्तरात्मा, अध्यात्मयोगी, परमश्रमण सदा परमा-

वश्यक कर्मोंसे युक्त रहता है। भैया! सांसारिक सुख दुःख, शुभभाव, अशुभभाव, कल्पनाजाल, विकल्पजाल इन सबसे दूर रहना है। ये सब एक भयानक बनकी तरह हैं। जैसे विशाल भयानक वनमें भूला हुआ पुरुष कहाँ जाय? उसे ऐसा मार्ग नहीं मिलता है कि जिससे किसी तरहसे चलते चलते उसे ग्रामका रास्ता मिले, उसे मार्गदर्शन नहीं है ऐसे ही जो विषयकषाय संकल्प विकल्प कल्पना जालमें बसते हैं उनको भी मार्ग दर्शन नहीं है कि वे किस उपयोगसे चलें कि उनको संसारके संकट टलें और मोक्षका पथ मिले। यह परमश्रमण उन सब अटवियोंसे पार है इसी कारण यह आत्मनिष्ठ रहता है।

गृहस्थ और योगियोंमे प्रसन्नताके अन्तरका कारण—गृहस्थजन तो बड़े-बड़े महलोंमें रहकर भी सुखी नहीं रह पाते हैं और योगीजन जंगलमें एकाकी रहते हुए भी कितनी प्रसन्नमुद्रामें अपने समयका सदुपयोग किया करते हैं। यह किस बातका अन्तर आ गया है? एक बड़ी सम्पदाके साधनोंमें रहकर भी चैनसे नहीं रह पाते हैं और एक सब कुछ त्यागकर निर्जन बनमें रहकर प्रसन्नमुद्रासे रहते हैं। यह किस बातका अन्तर है? यह अन्तर है आत्मदृष्टिका। जो पुरुष जितना अधिक आत्मनिष्ठ रह सकता है वह उतना ही प्रसन्न है। जो स्वात्मदृष्टिसे भी भ्रष्ट है, इन बाह्यपदार्थोंमे और इन बाह्यपरिणामोंमें जो विषय कषायके हैं उनमे जो रहा करते हैं उन्हें शान्ति कैसे मिल सकती है? अपने आपको आकिञ्चन्यस्वरूप केवल ज्ञानज्योतिमात्र, जिसके अन्दर रागादिक भाव कुछ भी नहीं है ऐसा शुद्ध सहजस्वरूपमात्र निरख लेना ही एक उत्कृष्ट वैभव है और इसका ही कोई उपाय बना ले तो यही परमपुरुषार्थ है। इस कर्तव्यसे ही इस जीवनकी सफलता है।

विषयकषायविकल्पोंसे निवृत्तिमे लाभ—भैया! यहां की जड़ सम्पदामें ही फँसे रहे, इनके ही संग्रह विग्रह रक्षणमें अपना उपयोग रमाये रहे तो क्या हित है? ये तो सब मिट जाने वाली चीजें हैं। विनाशीक चीजोंमें पड़नेसे खुदकी बरबादी है। जैसे कहते हैं ना कि जो पुरुष उद्देश्यविहीन है क्षणमें रुष्ट, क्षणमें तुष्ट हो रहा है अथवा क्षणमें मित्रता और क्षणमे बैर बनाये रहता है, ऐसे पुरुषोंमें फँसना एक बरबादी का ही कारण है। जैसे लोग इस प्रकार नीतिमे कहते हैं ऐसे ही यह विनाशीक सम्पदा, विनाशीक कल्पनाजाल, विनाशीक विषयकषायोंके जालमें फँसना, इससे तो अपने आत्माकी ही बरबादी है। इनसे निवृत्त होकर हम अपने इस शुद्ध सहजस्वरूपकी ओर आएँ, ऐसा प्रयत्न बना सके तो जीवन सफल है और ये भौतिक पदार्थ तो अब भी मेरे नहीं है न मेरे कभी थे और न कभी मेरे हो सकेंगे। इससे सर्वसे विविक्त आत्मस्वरूपकी दृष्टिमेंही कल्याण है। इसका पुरुषार्थ कीजिये।

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥१५०॥

निश्चय परमावश्यकके अनधिकारी व अधिकारी—निश्चय परमआवश्यकका अधिकारी कौन है और अनधिकारी कौन है? इस दिशाका वर्णन करते हुए आचार्यदेव बहिरात्मा और अन्तरात्माका फिर भी परिचय दे रहे हैं। जो पुरुष अन्तरङ्ग जल्प व बहिर्जल्पवादमें रहते हैं वे तो बहिरात्मा होते हैं और जो किसी भी जल्पमें नहीं वर्तते है वे अन्तरात्मा होते हैं।

द्रव्यलिङ्गी साधुकी शुभाशुभभावोंमें अटक—कोई पुरुष जिनलिङ्गको धारण करले, दिगम्बर मुद्राकी दीक्षा भी ग्रहण करले, किन्तु आत्माका क्या स्वरूप है? उस मर्मका परिचय न हो तो वह कठिन तपस्या करके भी तपोधन नहीं है। वह श्रमण पुण्यकर्मकी इच्छासे स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदिक बाह्य जल्पोंको करता है। पुण्यकर्म बँधेंगे तो हमें मोक्ष मिलेगा, ऐसी उसकी आकाक्षा रहती है। वह मोक्षमें अपने कल्पित सुखोंका उत्कृष्टरूप मानता है। मोक्षसुख और सांसारिक सुख दोनों ही बिल्कुल विपरीत चीजें हैं, ऐसा उसे भान नहीं है, सब क्रियावोंमे वह सावधान रहता है, पर उसकी सावधानी, उसकी

प्रेरणा इस पर्यायबुद्धिसे मिली हुई है, मैं साधु हूं, मुझे स्वाध्याय करना चाहिए, स्तवन करना चाहिए, मेरी क्रियावोंमें कोई दोष न रहे, बिलकुल निर्दोष हमारी क्रियाएँ सधती रहें, इससे हमारा यह साधुजीवन सफल होगा और परलोकमें आनन्द मिलेगा, ऐसी उसकी वासना बनी है, इन वासनावोंके कारण वह क्रिया काण्डोंको निर्दोष पालकर इतना महान् श्रम करके भी श्रमणाभास है।

श्रमणाभासका सत्कारविषयक लोभ--यह साधु शयन, गमन, ठहरना आदि सभी कार्योंमें सत्कार आदिका लोभी है। भोजनके समय भी बड़ी-बड़ी भक्ति हो ऐसा अन्तर्जल्प करता रहता है। यदि कोई त्रुटि हो गई तो उस साधुका चित्त बिगड़ जाता है। यद्यपि भोजनके समय साधुवोंको श्रावककी भक्तिका देखना जरूरी है, क्योंकि श्रावककी भक्तिसे आहारकी शुद्धिका परिचय मिलता है। जिसमें भक्ति न हो तो समझना कि आहार भी यों ही लापरवाहीसे बनाया है, निर्दोष नहीं है। तो यद्यपि श्रावकों की भक्ति देखना साधुजनोंको आवश्यक है, किन्तु यह श्रमणाभास तो अपना अपमान समझता है अगर किसी की भक्तिमें कमी हुई। जब कि योग्य साधु समतापूर्वक निरीक्षण करते हैं और कोई अयोग्य आचरण दिख जाये, जो क्षम्य न हो सके ऐसी त्रुटि दिखने पर समतापूर्वक ही विहार कर जाते हैं, लेकिन यह श्रमणाभास अपनी पर्यायबुद्धिके कारण अपने सम्मान अपमानका सवाल सामने रखकर भक्तको देखता है। यह ऐसे सत्कारके लाभका लोभी है। ये सभी लोग पूजक हैं, हम पूज्य हैं, हमारा पद बड़ा है, ऐसा चित्तमें बसा है इस कारण सभी बातोंमें अपने सम्मान अपमानका निर्णय वह करता है।

साधुवोंकी सम्मान अपमानमें समता—अरे साधु पुरुष तो सम्मान और अपमानमें समान बुद्धि रक्खा करते हैं। सम्मानसे बढ़कर अपमानमें अपना लाभ समझते हैं। सम्मानमें बुद्धि ठिकाने नहीं रह सकती है। सम्मानमें अपने आत्मस्वरूपसे चिग जाना सम्भव है। सम्मानसे अधिक लाभ देने वाली चीज अपमान है। अपमान नाम है उसका जो मानको नष्ट करे। जो मान कषायको नष्ट करे ऐसी घटना हानि करने वाली है या लाभ करने वाली ? लोग तो अपनी शान रखनेके लिए योग्य अयोग्य सभी काम कर डालते हैं।

झूठी शानकी चेष्टा--राजा भोजके समयमें या किसी अन्य विद्यासे भी राजाके समय एक ऐसी घटना घटी होगी जिसका कि साहित्यमें कहीं वर्णन है। सभा भरी हुई थी। राजाने विद्वानोंसे कहा कि कोई ऐसी कविता आज दिखावो जो कभी सुनी न हो, बड़ी विलक्षण हो। उन विद्वानोंमें से एक कवि ऐसा बैठा था जो चतुर भी था, किन्तु उसकी चतुराई की कद्र न होनेसे कई दिनोंसे उसे कोई पुरस्कार न मिला था। उसके मनमें बदला लेने की भावना थी। उसने कहा—महाराज मैं ऐसी कविता दिखाऊँगा जो कभी भी किसीने आज तक न सुनी हो, न देखी हो। ऐसी विलक्षण कविता आज मैं सुनाऊँगा। जेबसे उसने एक कोरा कागज निकाला जिसमें कुछ भी न लिखा था और कहा—महाराज यह है वह कविता जो बड़ी विलक्षण है। राजाने कहा अच्छा देखें। सो वह विद्वान् बोला--महाराज दिखायेंगे मगर यह कविता इतनी ऊँची है कि यह उसीको दिख सकती है जो एक बापका हो। राजा ने कागजको लेकर देखा तो उसमें कुछ भी न लिखा था, पर इस शानके मारे कि सभाके लोग कहीं यह न कह बैठें कि यह एक बापका नहीं है सो वह कागज देखकर बोला वाह ! यह बड़ी सुन्दर कविता है। पासमें एक वृद्ध पण्डित जो बैठे थे उन्होंने भी उस कागजको देखकर कहा—वाह यह बड़ी सुन्दर कविता है। इसी तरह से दूसरों लोगोंको दिखाया तो सभी ने वही बात कही। उन सबने यही सोचा था कि अगर मैंने कह दिया कि इसमें कुछ भी नहीं लिखा है तो सभी कहेंगे कि यह एक बापका नहीं है। तो भाई अपनी शान रखनेके लिए योग्य अयोग्य सभी काम लोग किया करते हैं। वह शान एक पर्यायबुद्धिकी ही बात है तत्त्व कुछ नहीं है।

ज्ञानीकी वृत्ति—कौन जानता है मुझे कि यह मैं आत्मा अमूर्त शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हू। जो जानता है उसको सम्मान और अपमानके विकल्प नहीं होते हैं। वह तो एक अलौकिक निराली दुनियामें पहुचा हुआ है। जो श्रमण समस्त क्रियावोंमें, स्थितियोंमें दूसरोंसे सत्कार आदिके लाभका लोभी है वह अपने अन्तरङ्गमें कुछ न कुछ जल्प गल्प शब्द गढता रहता है। ऐसा जीव तो बहिर्मुख है। बहिर्मुख पुरुषके निश्चय परमआवश्यक कर्म नहीं हो सकता है। सर्वप्रयत्नोंसे जिसने अपने आत्मस्वरूपकी ओर ही उपयोग किया है, जो किसी भी समय शुभ और अशुभ किसी भी विकल्पजालमे नहीं प्रवर्तता है वह है परम तपस्वी। अपने उपयोगको उपयोगके स्रोतभूत चैतन्यस्वभावमें लगाना, यही है वास्तविक प्रतपन और परमार्थ तपश्चरण। ऐसा परमतपस्वी ही साक्षात् अन्तरात्मा है। जो विशिष्ट अन्तरात्मा है प्रगतिशील उसके ही निश्चय परमआवश्यक काम होता है। हमारे लिए आवश्यक काम केवल अपना श्रद्धा ज्ञान और अपने आपमें रमण करना है।

निराधार मोह—ये जगत्के जाल, परिजनका समागम, ये सब बरबादीके निमित्तभूत हैं। इनसे शान्ति, हित, आनन्द कुछ नहीं मिलता है, ये तो संसारमें रुलानेके ही कारण बनते हैं। यह परिजनोंका समागम इस जीवको कुछ भी शान्ति दे पाता हो तो अनुभव करके देख लो। प्रथम तो यही घोर विपत्ति है कि जगतके समस्त जीव एकस्वरूप वाले हैं। मुझमें और समस्त जीवोंमें स्वरूपदृष्टिसे रच भेद नहीं है। व्यक्तिकी दृष्टिसे जैसे अन्य जीव सब मुझसे न्यारे हैं ऐसे ही पूरे न्यारे ये घरमें बसने वाले जीव भी हैं। फिर कोई ऐसी गुन्जाइश नहीं है कि अनन्त जीवोंमें से दो चार जीवोंमें आत्मीय बुद्धि की जाय, लेकिन मोहका अंधेरा छाया है इसलिए ऐसी दृष्टि गढ़ गई है कि ये परिजन तो मेरे हैं और बाकी जीव मेरे कैसे हो सकते हैं? कदाचित् कोई परिजन भी नहीं है, किन्तु एक वार्तालाप करके कुछ प्रेम बढ़ गया है तो उसमें भी ऐसा मालूम होता है कि यह मुझे अपना सर्वस्व सौंपे हुए है, यह तो मेरा ही है। अरे जब यहा यह देह तक भी अपना नहीं है तो किसकी आशा रखते हो?

ज्ञानीका आत्मशोधन—यह जीव इस मोह विडम्बनामें ही फँस-फँस कर अपने धर्म कर्तव्यसे विमुख हो जाता है और मोह-मोहमें ही अपना जीवन खो देता है। जीवन बड़े वेगसे गुजर रहा है। मृत्युके निकट अधिक अधिक पहुच रहे हैं लेकिन दो चार वर्ष भी बिना मोह किए अपने आत्माकी सुध लेते रहनेमे यह नहीं व्यतीत कर पाता है। सबसे बड़ी विपदा तो यह लगी है कि यह मेरा अपमान हो रहा है ऐसी बाह्यदृष्टि की। जैसे कोई मर रहा हो और मरते समयमें उसे विषयभोगोंके साधन सामने सारे कोई इकट्ठे करदे तो उसे वे नहीं सुहाते हैं। हालत तो यह हो रही है कि मर रहे हैं, अब इनके भोगने की क्या सुध करें? जैसे फासी लगनेको हो तो फंदा लगनेसे पहिले उसे बड़ी-बड़ी खाने पीनेकी सरस चीजें पेश करे तो भी इनके खानेमे उसका चित्त न लगेगा। वह तो जानता है कि अब हम मरने वाले हैं। ऐसे ही जिसको अपने वर्तमान बन्धन विपदाका परिज्ञान है, भव-भवके संचित कर्मजालोंसे हम घिरे हुए हैं और उन कर्मोंके उदयमें हमारी बड़ी-बड़ी दुर्गतिया हो सकती हैं ऐसा जिसके ध्यान है उस ज्ञानी विरक्त पुरुषके समक्ष ये सूक्ष्म भी विषयभोगके साधन आ जाये तो भी रुचिकर नहीं होते हैं, और कोई सम्मान अथवा अपमान करे तो उनको वह अपने चित्तमें स्थान नहीं देता है, उसे तो अपनी पड़ी है कि मेरा जो यह उत्कृष्ट सहजस्वरूप है उसकी सभालमें लगें, इसमें ही भलाई है और मायामयी जीवोंकी परिणतिको निरखकर सम्मान अथवा अपमान करनेकी कल्पना यह मुझे शरण नहीं है।

विकल्पजालोंका स्वच्छन्द विचरण—भैया! जो शुद्ध आशयके होते हैं, जिनकी दृष्टि निर्मल है वे सम्मान अपमान इत्यादि बाहरी चीजोंमें अपना ज्ञानधन नष्ट नहीं करते हैं। लोकमें कितना महान् विकल्पजाल है? एक ही सेकेन्डमें यह मन कितने विकल्प कर डालता है, इसको उचाई पलटना इत्यादि

जानेमें एक सेकेण्ड भी नहीं लगता है। कितनी तीव्र दौड़ है इस मनकी ? ये विकल्पजाल अपनी इच्छा से स्वच्छन्द होकर उछल रहे हैं इस आत्मामें। यह आत्मा विवश हो गया है भ्रमके कारण। अपने महान् स्वरूप धनकी स्मृति न होनेसे यह कायर बन गया है और इस पर अब विकल्पजाल स्वच्छन्द होकर नाच रहे हैं। और यह मोही बनकर उन विकल्पजालोंकी हाँ में हाँ मिलाकर मूढ़ बन रहा है।

ज्ञानी द्वारा नयपक्षोंका उल्लंघन—सम्यग्दृष्टि पुरुष प्रगतिशील अन्तरात्मा जन विकल्पजालोंसे भरे हुए समस्त नयपक्षोंकी कक्षाको लाँघ डालते हैं। नयपक्षोंमें पड़े कि विकल्प बढ़ेंगे, आकुलता बढ़ेगी। आत्माका शुद्ध आनन्द न जग सकेगा, इस कारण इस नयपक्षके जालोंको लाँघ करके एक समताकी समतल पृथ्वीमें स्थित रहते हैं। ज्ञानी पुरुष अपने इस आत्मस्वभावको निरखते हैं। यह आत्मस्वभाव अन्तरङ्गमें, बहिरङ्गमें सर्वप्रदेशोंमें एक शुद्ध ज्ञानप्रकाशको लिए हुए है। यह ज्ञानप्रकाश रागद्वेषकी बाधाओं से परे है। रागद्वेष अज्ञान है, मेरा स्वरूप तो ज्ञान है, ऐसा ज्ञानमात्र समतारससे भरपूर निजस्वभावको प्राप्त होता है जो कि एक अनुभूति मात्र है। किसीको बताया नहीं जा सकता कि यह मैं आत्मा क्या हूं ? यह विकल्पों द्वारा जाना नहीं जा सकता। किन्तु स्वयं ज्ञानके अनुभवरूप परिणमें तो अनुभूतिमें ही अनुभव करता रहता है।

निरापद निजगृहका सवास—यह मैं आत्मा शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र हू, जगत्के समस्त पदार्थोंसे अत्यन्त न्यारा हू। कल्याणार्थी भव्य आत्माका कर्तव्य है कि सब जल्पवादोंको छोड़नेका यत्न करे। जैसे बड़ी गर्मीके दिनोंमें जहाँ विकट लू चल रही है, कोई एक छोटी कोठी या तलघरकी बड़ी ठंड मिल जाय तो उसमें बैठे हुए बड़ा आनंद होता है। उस कोठीसे बाहर थोड़ा भी मुख निकालकर देखा तो लपटोंकी ज्वालासे यह मुख झुलस जाता है। ऐसी कोठीमें बढ़कर बाहर निकलनेकी चाह नहीं की जाती है। ऐसे ही अपने निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपमें जो उपयोग स्थित है वह बहुत आनन्दमग्न है। इससे बाहर सब जगह संतापकी ज्वालाएँ बरस रही हैं, घरमें जाये तो वहा भी नाना विकल्प, संताप, अनुताप, खेद, राग की आकुलता, कठिन विपदा इसके सिर पड़ती है, दुकान जाय तो वहा भी इसे बहुत विकल्प जाल बनाना पड़ता है। कैसे अपना चिन्तितकाम बने, इसके लिए निरन्तर व्याकुलसा बना रहता है। किसी सभा सोसाइटीमें बैठे तो वहा भी कितने प्रकारके विकल्पजाल यह बनाया करता है। इसे बाहरमें किसी भी जगह आराम नहीं मिलता है। आरामका साधन तो अपने आपके आत्माके अन्दरमें है, शुद्ध ज्ञान-मात्र अपना अनुभव बनायें तो वहाँ किसी प्रकारका क्लेश नहीं है।

जल्प विकल्पोंके त्यागका उपदेश—हे कल्याणार्थी भव्य पुरुषों ! भवभयके करने वाले इन अंतरङ्ग बहिरङ्ग जल्पोंको त्यागकर समतारससे परिपूर्ण एक इस चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्त्वको देखो। इसका ही स्मरण करो तो मोह मूलसे नष्ट हो जायेगा। मोह भावके क्षीण हो जाने पर फिर अतरङ्गमें यह लौकिक लाभ प्राप्त कर लेता है। इस आत्माका सब कुछ धन सारी समृद्धि इस आत्मामें ही भरी पड़ी हुई है। अपने आपकी यह महत्ता नहीं आकता है। इस कारण असार भिन्न विनाशीक पदार्थोंमें लगकर यह मोही जीव अपनी कितनी बरबादी कर रहा है, इस बातको वह भी खुद नहीं जानता है, किन्तु ज्ञानीजन यह समझ पाते हैं कि ये मोहीजन व्यामोहमें आकर अपना कितना नुकसान किए जा रहे हैं, निजस्वरूपका कितना घात किये जा रहे हैं ? अब बाह्य कल्पनाजालोंमें चित्त न रमाकर कुछ अपने आत्मस्वरूपकी सुध लेना चाहिए। यह निज आत्माका आश्रय ही भला कर सकेगा। यह ही हम आप सबका परमार्थ शरण है। इसकी ही दृष्टि, आलम्बन, भक्ति, उपासना करें, बस यहाँसे ही सच्चा मार्ग मिलेगा और शाश्वत आनन्द प्राप्त होगा।

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सोवि अंतरगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥

शुद्धध्यानकी उपादेयताका संकेत—निश्चय परमावश्यकके प्रकरणमें उपादेयतत्त्व क्या है? इस दृष्टि को लेकर अन्तरात्मा और बहिरात्माका लक्षण किया जा रहा है। जो पुरुष धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत हो रहा है वह तो अन्तरङ्ग आत्मा है और जो ध्यानसे रहित श्रमण है वह बहिरात्मा है।

पदभ्रष्टता—जो जिस पदमें होता है उस पदसे गिरा हुआ हो, वह चाहे अनेकसे उठा हुआ भी क्यों न हो, वह पतित कहलाता है। गृहस्थ परिवारमे रहकर भी, विषयभोगोंका सेवन करके भी यदि अपनी दृष्टि विशुद्ध रखता है और अपने कृत्यपर खेद प्रकट करता है और मुनिकी, मुनि धर्मकी उपासना का परिणाम रखता है तो वह ऐसे मुनिसे श्रेष्ठ है जो मुनि मुनिपद धारण करके भी, द्रव्यलिङ्ग धारण करनेके बावजूद भी, जिसके २८ मूल गुणोंमें पञ्चेन्द्रियके विषयोंका निरोधका मूल गुणोंके पालनेकी प्रतिज्ञा ली है। वह यदि किसी इन्द्रियविषयकी चाह रखता है तो वह मुनि पतित है। इसी दृष्टिको खयालमे लेकर यह सुनना है कि जो ध्यानसे रहित श्रमण है वह बहिरात्मा है। जिसका ध्यान निर्मल नहीं है, लौकिक बातोंको उपयोगमे ले रहा है, जो भोजन पान, चलने बैठने, इज्जत प्रतिष्ठा, बोलचाल सम्मानकी चाह, जो ऐब गृहस्थमें हो सकते हैं वे ऐब श्रमणमें आये तो वह श्रमण पतित है और उसे वस्तुत मुनि संज्ञा भी नहीं दी जा सकती है, वह तो बहिरात्मा है।

यथार्थ ज्ञातव्यता—जो पुरुष ऐसे श्रमणाभासोंको यो निरखकर चले कि अपनेसे तो ये अच्छे हैं अपन कोट, रजाई ओढते हैं, ये तो नग्न रहते हैं, अपन दस बार खाते हैं, ये तो एक बार खाते हैं, अपन से तो भले हैं, ऐसा सोचकर उन मुनियोंके जो कि ध्यानसे रहित हैं और गृहस्थोंकी तरह लोककार्योंमें उपयोग दे रहे हैं उनके उपासक गृहस्थ भी बुद्धिहीन हो जाते हैं। यह ग्रन्थ मुख्यतासे मुनियोंको समझाने के लिए कुन्दकुन्ददेवने बनाया है, पर जो बात भले मुनिराजोंके लिए सुननेको हो सकती है वह बात गृहस्थको भी जाननेके लिए भली हो सकती है।

व्यवहार धर्मध्यान व निश्चय धर्मध्यानकी पद्धति—इस गाथामें अपने आत्माके आलम्बनसे ही उत्पन्न होने वाला जो निश्चय धर्मध्यान है और निश्चय शुक्लध्यान है उन दोनोंकी उपादेयता प्रकट की गई है। निश्चयकी दृष्टिसे जिस तत्त्वको कहा जाता है उसको अभेदरूपमें देखना चाहिए। तत्त्वको भेदरूपमें देखने पर वह निश्चयकी श्रेणीकी बात नहीं रहती है। वह व्यवहारकी पंक्तिमे पहुच जाती है। धर्मध्यान करते हुए कोई पुरुष उसे विकल्प पद्धतिसे कर रहा है, अब स्वाध्याय करना है, अब पूजा करना है, अब वंदना करना है, दया पालकर चले, किसी जीवका दिल न दुःखाये, अपने शीलव्रतसे रहे, परिग्रहोंसे बहुत दूर रहे—ये सब बातें अच्छी हैं, धर्मध्यानकी हैं, किन्तु इसके साथ जो भेद लग रहा है क्या करना, कब करना, कैसे करना आदिक जो विकल्प साथ हैं, इस वजहसे वह धर्मध्यान व्यवहाररूप धर्मध्यान हो जाता है और विकल्प किए बिना यह शुद्ध तत्त्वका आलम्बन सहज बने तो वह निश्चय धर्मध्यानकी कोटिमें हो सकता है।

शुक्लध्यान—यों ही शुक्लध्यान देखिये। शुक्लध्यानको कोई भी श्रमण बुद्धिपूर्वक विकल्प बनाकर नहीं करता है। जैसे धर्मध्यानको तो बुद्धिपूर्वक विकल्प बनाकर भी किया जा सकता है, पर व्यवहार शुक्लध्यान इसलिए कहा जाता है कि उसके प्रतिपादनमें सुना ही होगा कि शुक्लध्यानका विषय बदलता भी रहता है। मनोयोगसे, वचनयोगसे, काययोगसे बदल-बदल कर, विषयोंको भी बदल बदल कर अथवा किसी विषयको किसी योगसे मनकी एकाग्रतासे जो रागद्वेषरहित होकर ध्यान करना है वह है शुक्लध्यान। इसमें भेदपद्धति अपनाई है किन्तु इसमे जो लक्ष्य आया है उस लक्ष्यको ही ग्रहण करे, इस

पद्धतिसे समझाये कोई तो उनने शुक्लध्यान कुछ समझमें आयेगा। जहाँ किसी प्रकारका विकल्प नहीं रहता है ऐसा निश्चय धर्मध्यान व निश्चय शुक्लध्यानसे जो परिणत है उसे अन्तरात्मा श्रमण कहते हैं।

उत्कृष्ट अन्तरात्मा—साक्षात् अन्तरात्मा तो क्षीण कषाय भगवान हैं। १२ वें गुणस्थानमें समस्त कषाय क्षीण हो जाते हैं, वह वीतराग प्रभु हैं, अरहत भगवान् सर्वज्ञ हो जाते हैं और अरहत भगवानकी स्थिति बहुत देर तक रहती है, इस कारण परमात्माके रूपमें लोग अरहंतको परखते हैं, पर यह क्षीणमोह भी भगवान् है, जिसके रागद्वेष नहीं रहे वह प्रभु ही हैं। जो वीतराग गुणोंके रुचिया हैं वे तो किसी स्थितिमें वीतरागताकी विशेषता देखते हैं तो उन सबको अरहतके निकटवर्ती मानकर और अरहंतमें व साधुमें भेद न डालकर अपने गुणोंकी रुचि बढ़ाते हैं। रुचिके अनुसार गुणदृष्टिका गुण बढ़ जाता है। यह क्षीण कषाय भगवान जिन्होंने षोडश कषायोंका विनाश किया है उनके समस्त मोहनीय कर्म विलय को प्राप्त हुए और वास्तवमें निश्चयत: ध्यान उनके ही उत्कृष्ट है। यह तो उत्कृष्ट अन्तरात्मा है और उस ही दिशामें जो श्रमण धर्मध्यान और शुक्लध्यानको करता है वह भी श्रमण उत्कृष्ट अन्तरात्मा है।

केवलज्ञानसे पूर्व सकल जीवोंके ध्यानकी दशायें—इस जीवने अब तक भी ध्यान तजा नहीं है। जब तक मुक्त अवस्था न हो अथवा जब तक अरहत अवस्था न हो, तब तक ध्यान निरन्तर वर्तता है। अंतिम दो शुक्लध्यान तो उपचारसे ध्यान माना गया है। जहाँ तक मनका सम्बन्ध है, मनकी एकाग्रताका सहयोग है ध्यान वहाँ तक है और जिसके मन भी नहीं है किन्तु मनका जो कार्य है उसके सदृश संज्ञाएँ जहाँ तक हैं वहाँ भी ध्यान है। मिथ्यात्व अवस्थामें इस जीवने आर्तध्यान और रौद्रध्यानको अपनाया, इष्टका वियोग हुआ, पर खेद खिन्न रहा, अनिष्टका सयोग होने पर विषादमग्न रहा, शारीरिक पीड़ावों में यह कराहता रहा। निदानकी आशाकर करके तो इसने अपने तन मन सभीका बल खो दिया। हिंसा असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इनके प्रकरणमें मौज मानना, ऐसे खोटे ध्यानोंके प्रतापसे यह जीव जन्म मरण करता चला आया है। इसके सुबुद्धि उपजे, कुछ हितका यत्न बने और अपने आपके सहजस्वरूप की दृष्टि बने तो इस जीवका फिर वह समस्त अधकार विलीन हो।

इन्द्रियविजयके अभ्यासका प्रथम सहयोग—कल्याणके अर्थ, इस परमावश्यक पुरुषार्थकी प्राप्तिके अर्थ अपना पहिला प्रयोग होना चाहिए इन्द्रिय विषयोंका विजय। ज्ञान तो सर्वत्र साथ ही रहना चाहिए, पर चारित्रके मामलेमें, प्रयोगके सम्बन्धमें हमारा प्रथम आवश्यक कर्तव्य यह है कि इन्द्रिय विषयोंपर विजय प्राप्त करें।

नियन्त्रण प्रयोग—भैया! एक थोड़ा यही प्रयोग करके देखलें, सामायिकमें जाप देते समय आँखें खोल करके जाप किया जाता है तो उस समय कैसा मन रहता है और आँख बंद करके जब जाप दिया जाता है तो उस समय कैसा मन भीतरमें प्रवेश करनेको उत्सुक रहता है? यह इन्द्रिय विषयोंपर सयमन करनेका ही तो अन्तर है। देखना चार तरहसे होता है। कोई दाहिनी आख मींचकर केवल बाई आखसे देखे, कोई बाई आख मींच कर दाहिनी आखसे देखे, कोई दोनों आँखें खोलकर देखे और कोई दोनों आँखोंको बंद करके भी अन्तरङ्गमें कुछ देखते हैं। इसकी देखनेकी प्रकृति है, कुछ ढूँढ़ने खोजनेकी प्रकृति है, इससे यह अतरङ्गमे कुछ खोजने लगता है। यही बात नय प्रमाण और अनुभवकी है। कोई पुरुष व्यवहारनयकी अपेक्षा तजकर केवल निश्चयनयसे जानता है, कोई पुरुष निश्चयनयकी अपेक्षा तजकर केवल व्यवहारसे जानता है। कोई पुरुष दोनों नयोंको सापेक्ष करके प्रमाण दृष्टिसे जानता है, तो कोई पुरुष नयप्रमाणके सब विकल्प समाप्त करके केवल अपने अनुभवसे जानता है, ज्ञानानुभूतिका अनुभव करता है। जैसे यहां उन नय और प्रमाणोंके दर्शनसे भी अधिक महत्त्व अनुभवसे परखनेका है ऐसे ही हमारे प्रयोगमें इन इन्द्रियोंसे परखने जाननेका महत्त्व नहीं है, किन्तु इन्द्रियका सहयोग तजकर केवल-

उपास्य श्रमण—यह साक्षात् अंतरङ्ग आत्मा शुद्धचैतन्यके प्रकाशरूप अपने इस अपूर्व आत्माको नित्य ध्याता रहता है अर्थात् अपने इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपको अभेदरूपसे अनुभव करता रहता है। इन ध्यानोंसे जो रहित है, द्रव्यलिङ्गधारी है, द्रव्यश्रमण है वह बहिरात्मा है। अहो! जो श्रमण निरन्तर निर्मल धर्मध्यान शुक्लध्यान अमृतरूपी समरस सागरमें निमग्न रहता है, संसारके संताप हटाये रहता है उस योगीके भाव शरणको प्राप्त होते हैं। जो इन ध्यानोंसे विमुख है वह तो बहिरात्मा है, श्रमण नहीं है। श्रमणाभासोंकी उपासना तजकर श्रमणभावकी उपासना करनी चाहिए।

अन्तरात्मा बहिरात्माका भेद जाननेका प्रयोजन—अहा, शुद्ध ज्ञानानुरागमें जब यह भक्त बढ जाता है तो उसे इस शुद्ध आत्मतत्त्वका ऐसा अपूर्वरस प्रकट होता है कि फिर उसको यह भी विकल्प नहीं आता कि यह अन्तरात्मा है और यह बहिरात्मा है। वह तो एक शुद्ध ज्ञानसामान्यस्वरूपकी ही आस्था रखकर उसकी ही भक्ति करता रहता है, कोई अन्तरात्मा बहिरात्माका भेद ही भेद कहने जानने सुननेमें लगता है तो उसे भी बहिरात्मा समझिये। तत्त्वज्ञानके लिए यह जानना आवश्यक है, मगर जिस प्रयोजनके लिए जानना आवश्यक है उस प्रयोजनको तो पाये नहीं, किन्तु केवल बकवाद और प्रतिपादन हो, वह इस अभेद चैतन्यस्वरूपकी विराधना करता है। कल्याणके अर्थ हम सबका यह कर्तव्य है कि मोहको ढीला करें, ज्ञानमें कदम बढ़ायें [illegible] अपने आपके स्वरूपमें अपना उपयोग लगाये रहनेका यत्न करें।

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि॥१५२॥

विरागचारित्रमें अभ्युत्थान—जो श्रमण निश्चयसे प्रतिक्रमण आदिक क्रियावोंको करता रहता है, अपने निश्चय चारित्रमें प्रगतिशील रहता है वह श्रमण वीतराग चारित्रमें अभ्युत्थित रहता है। इस गाथामें ऐसे परमतपस्वीका स्वरूप कहा गया है जो परमवीतराग चारित्रमें रहा करता है। अभ्युत्थित नाम है अपने आपमें सब प्रकारसे उत्कृष्टरूपसे बर्तते रहनेका। अभ्युत्थितमें तीन शब्द हैं, अभि उत् और स्थित। अभि और उत् तो उपसर्ग हैं और स्थित 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' धातुमें प्रत्यय लगाकर बनता है। स्थितका अर्थ है ठहर जाना, उत्का अर्थ है उत्कृष्टरूपसे, अभिका अर्थ है सर्व ओरसे। अपने आपके आत्मप्रदेशमें सर्व ओरसे सर्वप्रकार उत्कृष्ट रूपसे ठहर जाना—इसका नाम है अभ्युत्थित।

अपुनर्भवकी आकांक्षा व प्रयत्न—जो वीतराग श्रमण निश्चयप्रतिक्रमण आदिक क्रियावोंमें रहता है वह वीतराग चारित्रमें ठहरा हुआ होता है। यह परमतपोधन समस्त ऐहिक व्यापारोंसे विमुख है, इस जीवनसम्बन्धी, इस लोकसम्बन्धी जो आरम्भ परिग्रह आदिक चेष्टाएँ हैं उन सब चेष्टावोंसे दूर है। यह साक्षात् मोक्षका आकांक्षी है, अपुनर्भवकी स्थितिका ही अभिलाषी है। मोक्ष नाम छूट जानेका है। देहके बन्धनसे, कर्मके बन्धनसे छुटकारा होनेका नाम मोक्ष है। अपुनर्भव नाम फिरसे जन्म न लेनेका है। न पुन भव, ये तीन शब्द हैं। न का अ हो गया। फिरसे भव न हो उसका नाम अपुनर्भव है। सिद्धि नाम शुद्ध यथार्थ केवल आत्माकी प्राप्ति हो जाना है। निर्वाणका अर्थ है समस्त विपत्ति, विडम्बना संकटजाल इन सबका बुझ जाना, नष्ट हो जाना। जो पुरुष इस मोक्षस्थितिका अभिलाषी है वह पुरुष निश्चयप्रतिक्रमण आदिक सत् कार्योंको करता हुआ रहता है।

निश्चयप्रतिक्रमणका अधिकारी—निश्चयप्रतिक्रमण आदिक वही पुरुष कर सकता है जिसने समस्त इन्द्रियोंका व्यापार त्याग दिया है। जो इन्द्रियविषयोंका लोभी है वह निर्दोष आत्मतत्त्वमें कहाँ ठहर सकता है? अपने आपमें रीते होकर बाहरमें आशा बनाकर यह जीव इन्द्रियविषयोंमें तेज दौड लगा रहा है, यह अपने आपको भूल गया है, इसने समस्त इन्द्रिय व्यापारोंको ग्रहण कर लिया है, कहाँ इसके निश्चयप्रतिक्रमण सम्भव है? प्रतिक्रमणका अर्थ है अपने आपके दोषोंको दूर कर देना, यहा प्रश्न हो सकता

है जब दोष दूर हो जाते हैं तब प्रतिक्रमणकी क्या जरूरत है और प्रतिक्रमण फिर किसका नाम है ? दोप दूर हो जाना, यह तो धर्मका फल है। दोप दूर कैसे किए जायें, इसका उपाय यह है कि आत्माका जो शुद्धस्वरूप है, जिसमें किसी प्रकारके दोप नहीं हैं, ऐसे निर्दोप अन्तस्तत्त्वका उपयोग करना, यही निर्दोप होनेका उपाय है।

शुद्ध कुलका स्मरण--जैसे किसी बालकमें सज्जनता और सभ्यतासे रहने उठने बैठनेका कारण यह बनता है कि उस बालककी यह बुद्धि बनी है कि मैं बड़े कुलका हूं, सज्जन घरानेका हूं, मुझे ऐसा ही करना योग्य है और कदाचित् कभी वह बालक कुछ उद्दण्डता करता है तो समझाने वाले लोग उसे यों ही समझाते हैं कि देख तू बडे घरानेका है, उच्च कुलका है, तुझे उद्दण्डता न करनी चाहिए, तो वह उद्दण्डता नहीं करता। इसही प्रकार जो मुझमें रागद्वेप वर्त रहे हैं ये मुझमें न आयें, इसका मूल उपाय यह है कि मैं अपनेको दोपरहित समझ सकूँ। यह मैं आत्मा जो अपने स्वरूपसे सत् हूं, अपने स्वरूपके कारण केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, इसका व्यापार केवल ज्ञाताद्रष्टा रहनेका है, इसमें रागद्वेप कोई कलंक नहीं है, ऐसा अधिकाधिक उपयोग द्वारा स्वीकार करे तो ये दोप इसमें ठहर न सकेंगे।

स्वभावका आत्मसात्करण--प्रतिक्रमणमें यह साधक पुरुष अपनेको शुद्ध ज्ञायकस्वरूप निरख रहा है। मैं तिर्यञ्च नहीं, मनुष्य नहीं, देव नहीं, नारक नहीं, मैं तो केवल जाननहार ज्ञायकस्वरूप हूं, यह मैं अपने आपको सहज चैतन्यविलासमात्र ही अनुभव करता हूं। मैं अपनेको अमुक नाम वाला अथवा अमुक जाति कुलका नहीं पाता हूं, हूं ही नहीं मैं अन्य किसी रूप, ये सब परतन्त्र हैं, पौद्गलिक चीजें हैं, मायारूप हैं, मैं तो शुद्ध ज्ञानमात्र हूं, जो ऐसा स्वीकार करता है उसमें सम्मान अपमान विपय-कपाय इत्यादि कोई कलंक नहीं बस सकते हैं। निश्चयप्रतिक्रमणमें व्यवहार क्रियाकाण्डोंका कोलाहल नहीं है। भले ही विपयकपायरूप बाधामें सम्भावना तक ये बाह्य क्रियाकलाप चलते हैं और चलना चाहिए, किन्तु जिसकी दृष्टि केवल क्रियाकलाप तक है, इस ओर दृष्टि नहीं है कि मुझे निर्विकल्प ज्ञायकस्वरूप का आश्रय लेना चाहिए तो उसके क्रियाकाण्ड मोक्षका फल नहीं दे सकते हैं।

शान्तिका एकमात्र उपाय--प्रतिक्रमणका अर्थ है प्रतिक्रान्त कर देना, दूर हटा देना। यह आत्मा जो अनादिकालसे रागद्वेषोंसे सताता हुआ चला आया है उसे रागद्वेप हटानेके लिए पुरुषार्थ करना होगा, अपने स्वरूपका यथार्थ भान करना होगा। शान्तिका तरीका एक ही है, विभिन्न नहीं होते हैं और वह उपाय इस निर्दोप ज्ञायकस्वरूप शुद्ध परमब्रह्मका आश्रय है। इसको छोड़कर अन्य जितने भाव हैं उनसे यदि कोई शान्ति समझता है, सुख जानता है तो उसका अर्थ यह लेना चाहिए कि किसी विशिष्ट उपयोग के कारण कुछ बड़ी आकुलताएँ दूर हुई हैं। शान्ति तो वस्तुतः शान्त स्वभावके आलम्बन बिना नहीं प्रकट होती है। जैसे किसी पुरुषके १०४ डिग्री बुखार है और उतर कर १०० डिग्री रह जाय तो तबियत का हाल किसीके पूछने पर वह कहता है कि अब तबियत अच्छी है वस्तुतः अभी बुखार है, पर उस बड़ी वेदनाकी अपेक्षा अब कम वेदना है इसे वह कहता है कि अब तबियत अच्छी है, ऐसे ही यहां किसीको शान्ति नहीं है, पर वह शान्ति मानता है तो उसका मतलब है कि उसने किसी बड़ी आकुलतासे विराम पाया है।

आत्माकी प्रत्याख्यानमयता--यह श्रमण एक शुद्ध अंतस्तत्त्वका अनुभव होनेके कारण नित्यप्रतिक्रमण रूप रहा करता है और जो प्रतिक्रमणरूप रहता है वह निश्चय प्रत्याख्यानरूप भी सदा रहता है। प्रतिक्रमणमें जैसे अतीतदोपका स्वीकार नहीं है इस ही प्रकार इस भावनामें यह भी भरा हुआ है कि मुझमें भविष्यमें कदाचित् भी कोई दोप नहीं आ सकता है। यह मैं सदा काल ही ज्ञायकरूप रहूंगा। यों भविष्य कालके समस्त दोपोंका प्रत्याख्यान उस स्वभावकी आराधना करने वालेके सहज चल रही है। इसकी यह

दृढ़ श्रद्धा है। जो चीज मेरे स्वरूपमें नहीं है वह कभी भी मुझमें नहीं आ सकती है और जो मेरे स्वरूप में है वह कभी अलग नहीं हो सकता है। केवल उपाधिजन्य जो परभावकी भावभासना है उसे अपना यह उपयोग अङ्गीकार करता है तब इसकी विचित्र दशाएँ हो जाया करती हैं। वस्तुतः यह जीव न राग-द्वेषादिक मलिनतावोंसे सहित है और न कभी हो सकेगा। ये पुराण पवित्र पुरुष अपने आपको सर्वत्र एकाकी ज्ञायकस्वरूप ही निरखते रहे हैं। ये व्रत करें, तप करें, ध्यान करें, सभी साधनावोंमें इनका लक्ष्य केवल एक शुद्ध ज्ञानस्वरूपका आश्रय करना रहा है। व्यवहार प्रतिक्रमणमें अतीत दोषोंके छोड़नेकी भावना की जाती है, किन्तु यह जानना कि सर्वस्थितियोंमें मूल औषधि, मूल आलम्बन अपने ज्ञानस्वरूप का आश्रय लेना है।

श्रामण्यभाव—इस श्रमणके समस्त जीवोंमें समतापरिणाम रहता है, किसीके प्रति भी वैर विरोध की इसके भावना नहीं जगती है। यह श्रमण जो प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करनेमें सफल हो रहा है उसका साधन है परमआलोचना। आलोचना नाम है जो नहीं है उसे अलग करना और जो है उसे ग्रहण करना। ऐसी ही दृष्टिका, चेष्टाका नाम आलोचन है। [illegible] लोचन शब्द बना है। लोचनका अर्थ है आँख। आँख क्या करती है? जो बात नहीं है उसे हटा देती है और जो बात है उसे स्वीकार कर लेती है याने जो नहीं है उसे हटाती है और जो है उसे देखती है। यह आत्मतत्त्व अपने स्वरूपसे अपने सत्त्वके कारण अपने स्वभावमें यह केवल निराकुल ज्ञानमात्र है। कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर होने वाले विभावोंसे यह आत्मतत्त्व न्यारा है, यह प्रज्ञा द्वारा छेदन हो रहा है। यद्यपि वर्तमानमें विभावोंका परिणमन इस आत्मामें तन्मयरूपसे है फिर भी स्वभावकी दृष्टि करके निरखा जाय तो यहाँ भी भेद हो जाता है। इन समस्त विभावोंसे भिन्न अपने आपके ज्ञायकस्वरूपका आलम्बन करना सो आलोचना है। इसही आलोचनाके आधारपर निश्चयप्रतिक्रमण और निश्चयप्रत्याख्यान होता है।

शुद्धनयप्रायश्चित्तरूप आत्मक्रान्ति—भैया! यह चल रहा है अन्तरङ्ग चारित्रका वर्णन। यह ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानरूप परिणमता रहता है। इसका करना सब कुछ ज्ञान द्वारा होता है। यह तो अमूर्त ज्ञान-प्रकाशमात्र है। तो इस निज ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानद्वारा ही वर्तते रहना, यही इसका काम है। इस निश्चय आलोचनामें यह जीव अपने आपको समस्त विभावोंसे रहित निरख रहा है। यों भूत भविष्य और वर्तमानके दोषोंसे अत्यन्त दूर रहने वाले आत्मतत्त्वके निरखनेमें ये निश्चयप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाके पुरुषार्थ होते हैं। कुछ इसमें क्रान्ति जगती है तो वह शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्तका रूप ग्रहण कर लेती है। भेदविज्ञानके प्रबलसाधनसे और शुद्धस्वरूपकी प्रबल आराधनासे इन क्रोधादिक विषय कषायोंका निग्रह कर देना, दूर कर देना, यह है निश्चयप्रायश्चित्त। क्षमासे क्रोधको हटा देना, नम्रतासे मानको खतम करना, आर्जवसे सरलतासे कपटको दूर करना और निर्दोष आत्मस्वभावके आश्रयसे सतोष परिणामसे लोभको समाप्त कर देना, यह है शुद्धनय प्रायश्चित्तका क्रान्तिपूर्ण कदम।

उत्कृष्ट बोधमें निश्चय परमावश्यक—जिस मुनिके उत्कृष्ट बोध होता है, जो अपने चित्तको अपने उपयोगमें जोड़ता है उसके यह प्रायश्चित्त स्वयं होता है। इसमें आत्मस्वरूपका तो आलम्बन है और समस्त परभावोंका परिहार है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिसे अपने आपके स्वरूपमें निश्चल स्थित होना इसमें सब अपराधोंका प्रायश्चित्त हो जाता है। यों यह श्रमण निश्चयप्रतिक्रमण आदिक क्रियावोंके द्वारा अपने आपको उपयोगमें ठहराता हुआ रह रहा है और ऐसी वर्तना ही निश्चय परमावश्यक है। निश्चयसे परमार्थसे मेरे करने योग्य काम क्या है, इसके वर्णनमें कहा जा रहा है। अपने दोषों का दूर करना और गुणोंका स्वीकार करना यही है परमावश्यक काम। इस परमावश्यक कामके फलमें इस आत्मके परमसमता प्रकट होती है और समता परिणाममें ही परमनिर्वाणकी योजना बसी हुई है।

अपने आपके शुद्धस्वरूपका मनन कर लेना, यही है परमभक्ति। इन सब सत् क्रियावोंका फल सर्वसंकटोंसे पृथक् हो जाना है। जो पुरुष निश्चयप्रतिक्रमण आदिक सत् क्रियावोंको करता हुआ रहता है उस पुरुष का वीतराग चारित्रमें ठहरना हो जाता है। अपने स्वरूपमें विश्राम ले लेना यह ही वीतराग चारित्र है।

स्वरूपविश्रामका पुरुषार्थ—स्वरूपमें विश्राम लेने वाला पुरुष भेदविज्ञानकी छेनीसे इन रागादिक भावोंसे अपनेको न्यारा करता है, फिर उस निजस्वरूपमें निज उपयोगको बसाता है। उस समय इसकी एक अभेद स्थिति होने लगती है। ध्यान, ध्याता, ध्येयका भी विकल्प नहीं रहता, गुण गुणी की भी कल्पना नहीं रहती। जैसे धर्मादिक द्रव्य परिणमते हैं, परिणम रहे हैं ऐसे ही यह पवित्र आत्मा भेदवाद न लेकर अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थित रहता है। यों स्वरूपमें विश्राम लेने रूप परमवीतराग चारित्र में यह परम तपोधन ठहरना है, इसके ही निश्चयसे परम आवश्यक काम होता है। जिस पुरुषने मोह को दूर किया है, दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों प्रकारकी बेहोशिया जिसके नहीं रहीं, जो अपने ज्ञानस्वरूप में सजग निरन्तर समरूपसे बना रहता है वह आत्मा संसारको उत्पन्न करने वाले, संसार भवसे उत्पन्न होने वाले जो इन्द्रिय सुख हैं, काल्पनिक विषय सुख हैं उनसे हटा हुआ है और उन सुखोंके कारणभूत इन पुण्यकर्मोंसे भी हटा हुआ है। जो क्रियाकाण्डोंसे निवृत्त हुआ केवल एक ज्ञानक्रियाको करता है वह निर्मल चारित्रमें स्थित है।

परमगुणग्रहण—यह आत्मा ज्ञानका पुञ्ज है और इसका ज्ञानरूप ही वर्तते रहनेका स्वभाव है इस कारण चारित्रका भी पुञ्ज है। जो पुरुष इस समतारसको निरन्तर विकसित करता रहता है, इस समरस पानसे निरन्तर तृप्त रहा करता है ऐसे योगीश्वर महात्माको हमारा भावपूर्वक वन्दन हो। हम जितना गुण ग्रहणका भाव रक्खेंगे उतना ही हम उन्नत हो सकेंगे। दोषग्रहणका भाव रखकर अपने उपयोगको दूषित करने में कोई लाभ नहीं है। योगी श्रमण निरन्तर गुणग्रहण करनेमें ही निरत रहा करते हैं। अभेद चैतन्यस्वभाव भी एक परमगुण है, उसकी दृष्टिमें यह परम आवश्यक कार्य हो रहा है जिसके प्रतापसे यह समस्त संकटोंसे अवश्य ही दूर होगा।

वयणमयं पडिकमण वयणमय पच्चक्खाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झाउ ॥१५३॥

परमावश्यकका दिग्दर्शन—आत्माको आनन्दमय अवस्थामें धारण करना सो आत्माका उद्धार है। आत्माके उद्धारके लिए निश्चयसे क्या करना चाहिए? उसका दिग्दर्शन करनेके लिए यह निश्चय परम आवश्यक अधिकार कहा जा रहा है। कल्याणार्थी पुरुषको समस्त अनात्मतत्त्वोंसे दृष्टि हटाकर देह, सम्पदा, रागादिकभाव, कल्पना—इन समस्त परभावोंसे दृष्टि हटाकर एक शाश्वत अविकार ज्ञायकस्वरूप चित्स्वभावमें दृष्टि रखना चाहिए और यहाँ ही अपना उपयोग स्थिर रखना चाहिए, यही है आवश्यक काम।

वचनमय प्रतिक्रमणादिककी स्वाध्यायरूपता—निश्चय आवश्यककामका लक्ष्य रखते हुए जो मन, वचन, कायकी चेष्टा होती है वह व्यवहारिक आवश्यक कर्तव्य कहलाता है। उन व्यवहारिक आवश्यक कर्तव्योंमें जो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना की जाती है वह वचनमय ही तो होगा। यहाँ इस परमआवश्यकके प्रसंगमें यह बता रहे हैं कि वचनमय जो प्रतिक्रमण है, प्रत्याख्यान है, नियम है, आलोचना है इन सबको स्वाध्याय कहते हैं। प्रतिक्रमणका अर्थ है लगे हुए दोषोंका निराकरण करना। प्रतिक्रमण रोज शाम सुबह किया जाता है और फिर पक्षमें एक बार किया जाता है, फिर चार महीनेमें इकट्ठा प्रतिक्रमण किया जाता है, फिर एक वर्षमें एक बार एक वर्षके दोषोंका प्रतिक्रमण किया जाता है। और फिर अंतमें मरणके समयमें समस्त जीवनमें लगे हुए दोषोंके निराकरणके लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। उन प्रतिक्रमणों में वचनोंसे कहना कि मैंने अमुक अपराध किया, अमुक दोष हुआ, यह मिथ्या

हो, दूर हो, इस प्रकार वचनोंसे प्रतिक्रमणको कहना इसे स्वाध्याय बताया गया है।

स्वचनमय धार्मिक प्रकरणोंकी स्वाध्यायरूपता—वचनोंसे जो कुछ कहा जा रहा है उसे अंतरङ्गमें रख लेना सो तो वास्तविक प्रतिक्रमण है। जैसे कोई पूजन रोज-रोज करता है, दर्शन और स्तुति पढ़ता है रोज रोज तो उस दर्शन पूजनमें जो कुछ कहा जा रहा है, प्रभुके गुणोंका जो गान किया जा रहा है, हे प्रभु ! तुम वीतराग हो, सर्वलोकके जाननहार हो, तुम शुद्ध हो, समस्त संकटोंसे दूर हो, जो कुछ कहा जा रहा है उस रूप निरखनेका उपयोग बनना सो तो है वास्तविक, पूजन दर्शन और केवल वचनोंसे कह लेना यह स्वाध्याय मात्र है। जैसे ग्रन्थमें पढ़ लिया वह स्वाध्याय है, इसी प्रकार पूजन स्तवन इनका भी मुखसे पढ़ लेना सो स्वाध्याय है।

प्राकरणिक शिक्षण—इस गाथामें, इस प्रसंगको कहनेका प्रयोजन यह है कि कल्याणार्थी पुरुषको परमावश्यक कार्य करनेके लिए सर्व प्रकारके वचनोंका व्यापार छोड़ना चाहिए। जैसे किसी कार्यके प्रसंगमें लोग कहते हैं—अब बात करना तो छोड़ दो, काम शुरू करो। जैसे सभा सोसाइटीमें जब प्रस्ताव बड़े बड़े रक्खे जाते हैं तो कोई लोग यह भी प्रस्ताव कर बैठते हैं कि प्रस्ताव तो बहुत हो चुके, किन्तु अब इनको अमलमें लेना चाहिए। ऐसे ही जो हमारे कल्याणके लिए आवश्यक कर्तव्य हैं—पूजन, वंदन, स्तवन, प्रतिक्रमण, आलोचना आदिक वे सब वचनमय ही नहीं रहें, किन्तु उनका असली रूप होना चाहिए। जो असलीरूप होता है उसमें फिर वचन नहीं रहते हैं। जब तक वचन बोले जाते हैं वे वचन ही हैं, अतएव परमआवश्यकके प्रसंगमें समस्त वचन व्यापारोंका निरोध किया गया है।

कर्तव्य प्रवर्तन—आवश्यक कर्तव्यमें, व्यवहारमें यह रूप किया जाता है। प्रत्येक कल्याणार्थी पुरुष अपने निर्यापक आचार्यके शासनमें रहा करता है। आचार्य दो प्रकारके होते हैं-एक दीक्षादायक आचार्य और एक निर्यापक आचार्य। जो दूसरेको दीक्षा दे, व्रत दे वह तो है प्रव्रज्यादायक आचार्य और वह ही आचार्य निर्यापक भी होता है। निर्यापकका अर्थ है उसके व्रतको निभा देना। कोई कभी दोष होता है तो आचार्यसे आलोचना करना, उसका दोष दूर कराने के लिए प्रायश्चित्त देना, यह निर्यापकका कार्य होता है, पर कभी दीक्षादायक आचार्य न हो, उनका संग न मिले, उनका स्वर्गवास हो जाय अथवा दूर देशान्तर वियोग हो जाय तो किसी योग्य श्रमणको निर्यापक आचार्य चुन लिया जाता है और उनके शासनमें अपना व्रत पालन किया जाता है। यह सब व्यवहारमें करना आवश्यक है। निर्यापक आचार्यके समक्ष अपने दोषोंका निवेदन करना, उनके समक्ष प्रतिक्रमण करना, यह सब आवश्यक कर्तव्य हैं। निर्यापक आचार्यके मुखसे जो वचन निकले उसे ग्रहण करना व उसका पालन करना यह भी आवश्यक है। निर्यापकके आदेशका पालन करना समस्त पापोंके क्षयका कारण मूल है, किन्तु केवल एक वचनोंकी ही बात रह गयी तो यद्यपि वह भी काम किया जाता है, किन्तु साधारण रूपसे जो स्वाध्याय करना है वह जितना फल देता है उतना ही फल उस वचनमय प्रतिक्रमण आदिकसे मिलता है।

शुभ और शुद्ध प्रयत्न—भैया ! श्रमणके विषयसाधनोंसे पूर्ण उपेक्षा हो गई, वहाँ मन रखे अब ? शुभ भाव होगा कुछ अन्तरङ्गमें कर्तव्यका ध्यान रहेगा, पर वह सब स्वाध्याय है, वचनमय व्यवहारप्रतिक्रमण आदिकमें जो कुछ करना चाहिए, उपयोग द्वारा, अन्तरमें करने लगे वह है परमावश्यक और निश्चय-प्रतिक्रमण। समस्त श्रुत वचनरूप है, प्रतिक्रमण आदिकके पाठ भी द्रव्यश्रुतमें आये हैं और उस द्रव्य श्रुतको वचनोंसे वह बोल रहा है यों वह स्वाध्याय ही कर रहा है, उसे अपने अमलमें उतारें। उपयोगमें उसे लिया जाय तो वे निश्चयप्रतिक्रमण आदिक हो जाते हैं। यह सब बोलना तो वचनवर्गणाके योग्य जो पुद्गल द्रव्य हैं उनका परिणमन है। वे शब्द परमार्थतः ग्राह्य नहीं हैं, किन्तु आत्मभाव, जिसको आश्रय लेनेसे समस्त कर्म और बन्धन कट जाते हैं, वह आत्मतत्त्व ग्रहणके योग्य है।

प्रत्याख्यान और आलोचना—प्रत्याख्यान नाम है त्याग करनेका। अब आगामी कालमें मैं ऐसा न करूँगा, इस प्रकारका वचनव्यवहार प्रत्याख्यान पाठका स्वाध्याय है, उस प्रकारका जो परिणाम करना है उसका नाम है परमप्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान करने लगे और उसे भी निश्चयरूपसे करने लगे, बाह्य-वस्तुवोंका विकल्प तोड़कर निर्विकल्प शाश्वत आत्मस्वभावमें अपना उपयोग रत करें, यह है वास्तविक याने शुद्धनिश्चयतः प्रत्याख्यान। त्याग सम्बन्धी निश्चयोंको वचनोंसे कहना उसका नाम वचनमय नियम है। 'मैं यह नियम करता हू' ऐसा वचनोंसे बोलना यह तो स्वाध्यायका रूप है। बोल देने पर उसे अमलमें लेवे वह है निश्चय नियमपालन और परमआवश्यकमें यह नियमपालन शुद्धनिश्चयसे एकरूप है। यों ही आलोचना, गुरुके सम्मुख वचनोंसे बोल देना वह स्वाध्याय है। हृदय भीने भावसे कहा गया तो वह स्वाध्यायका एक विशिष्ट रूप है, जिसमें उपयोग भी लगा और उस दोषका निराकरण किया तो उस प्रसंगमें दोषरहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका दर्शन हुआ, लक्ष्य हुआ, उसकी ओर ही झुकाव हुआ तो वह नियमपालन होने लगा। वचनमय जो आलोचन होता है वह भी स्वाध्याय है।

परमकर्तव्य शिक्षण—इस प्रसंगमे यह शिक्षा लेनी है कि हम धार्मिक विषयोंसे सम्बधित जितने भी वचनव्यवहार करें, केवल बोलकर तुष्ट न हों, हमारी दृष्टि पालनमें होनी चाहिए, उस व्यवहारमें शान्ति करके हम उसके पालनमें लगें। ये सब पौद्गलिक वचनमय हैं भक्ति पाठ आदि करना है वह सब स्वाध्याय हैं। कोई कोई प्रभुकी भक्तिके अर्थ जयवाद भी बोलते हैं—भगवानकी जय हो, शान्तिनाथकी जय हो, प्रभुको नमस्कार हो, धन्य हो प्रभु आदिक जो शब्द बोलते हैं वे भी स्वाध्याय हैं। जाप करते समय जो कुछ उच्चारण करते हैं, मुखसे पाठ करते हैं, बारह भावना बोलते हैं, स्तवन पढ़ते हैं, जितने भी वचन बोलते हैं वे वचन सब स्वाध्याय हैं, जो वचन बोले जा रहे हैं उनकी दृष्टि करना, यह है भावना आदिक कार्य, परवचनोंसे बोला जाना भी तो स्वाध्याय है। स्वाध्याय भी केवल वचन बोलनेका नाम नहीं है, स्वाध्यायमें भी स्वका अध्ययन होता है। अपने आत्माके हितकी दृष्टिसे अपने आत्माका स्पर्श करना हुआ पढ़ना सो स्वाध्याय है। ये सब पौद्गलिक वचन होनेसे सबके सब स्वाध्याय हैं। इस प्रकार हे शिष्य! तू इन वचनव्यवहारोंसे भी आगे बढ़कर अन्तरमें आकर अपने स्वरूपमें अनुभव कर।

[illegible] उत्थानके लिये कैवल्यके आलम्बनकी आवश्यकता--जिसे मोक्षके सुखकी चाह हो उसे अपने आपको केवल अनुभव करना चाहिए। मोक्ष नाम है केवल रह जानेका। न शरीर रहे, न कर्म रहे न आत्माके विभाव रहें, तर्क वितर्क कल्पनाएँ रागादिक कुछ भी न रहें, केवल शुद्ध ज्ञाताद्रष्टारूप परिणमन रहे और केवल आत्मप्रदेश अबद्ध रहा करे उसका नाम मोक्ष है। उस मोक्षमें जो सुख मिला है, आनन्दका अनुभवन हो रहा है वह कल्पनाका अनुभव है, केवल अपने आपके स्वरूपका वहाँ अनुभव है, यही आनन्द है। तो कैवल्यका आनन्द पानेके लिए यहाँ भी तो कैवल्यपर दृष्टि होनी चाहिए। जो पुरुष अपनेको केवल नहीं देखता है, देहको लक्ष्य करके कहता है कि यह मैं मनुष्य हू, अमुक परिस्थितिका हू, इस प्रकार से नानारूप अपनेको मान रहा हो वह मोक्षमार्गमे नहीं है। अपने आपको अकेला अनुभव करोगे तो आनन्द मिलेगा। अपनेको अकेला अनुभव करना यही शान्तिका मार्ग है। अपने को किसी दूसरे रूप अनुभव करना, यह तो अशान्तिका मार्ग है और संसारमें रुलनेका कारण है। इस कारण सुखार्थी पुरुषों को अपने आपको अकेला निरखना चाहिए।

अनात्मतत्त्वकी उपेक्षाका शान्तिमिलनमे पूर्ण सहयोग--भैया! इस समस्त जगत-जालको, लौकिक वैभव सम्पदाको इन समस्त समूहोंको तृण समान जानो। जैसे किसी तृणसे कुछ मेरा लाभ नहीं होता है ऐसे ही इन सब को तिनकेके समान मानना है। जैसे आपके कोटपर कोई तिनका लगा हो तो उसे आप उपेक्षा करके उठाकर फैंक देते हैं, फिर उस ओर दृष्टि भी नहीं करते, इसी तरह एक आत्मस्वरूपको छोड़

कर शेष जितने भी अनात्मतत्त्व हैं, परभाव हैं, परपदार्थ हैं वे सब भी इस आत्माका हित नहीं कर सकते हैं। ये आत्महित करनेमें त्रिकाल असमर्थ हैं। अत उपयोग द्वारा उन समस्त परपदार्थोंकी परभावोंकी दृष्टि त्यागकर और उनको इस तरह त्यागकर कि फिर उनकी ओर देखनेका अतरंगमें परिणाम न उत्पन्न हो, एक बार इस निज शुद्ध कैवल्यस्वरूपका अनुभव तो किया जाय। इससे आत्माको शान्ति का मार्ग मिलेगा।

अनन्तमहिम चैतन्य महाप्रभुकी ओर ज्ञानीका आकर्षण—यह आत्मस्वरूप निरन्तर नित्य आनन्द आदिक अतुल महिमाको धारण करने वाला है जिसने आत्ममहिमा नहीं जानी है वह दूसरे जीवोंको, दूसरे पदार्थोंको चित्तसे चाह कर उनका भिखारी बन रहा है, उनसे भीख माग रहा है। इसे अपने आप की इस अनन्त महिमाका परिचय नहीं होता है। जो महिमा प्रभुमें पूर्ण व्यक्त हो गयी है उस महिमाको व्यक्त करनेकी दृष्टि ही इसकी नहीं होती है। यह पुरुष, यह निकट भव्य सर्वप्रकारकी वचनरचनाको छोड़कर ऐसा अपने आपमें उत्साह जगाता है कि मैं अबसे सदा कालके लिए गुप्त, वचनोंके अगोचर इस आत्मतत्त्वमें ही ठहरूँगा। इस सकल्पके साथ इन समस्त परभावोंसे उपयोग हटाकर अपनेमें स्थित होता है और सारे जगजालको रागद्वेष, यश प्रतिष्ठा, धन सम्पदा, परिजन व्यवहार, इन समस्त जगजालोंको त्यागकर परमविश्राम लेता है।

स्वाध्यायके प्रकार—इस गाथामें यह बताया गया है कि ये सब प्रतिक्रमण आदिक वचनरूप होने से स्वाध्याय कहलाते हैं। स्वाध्याय ५ प्रकारके कहे गए हैं। पहिला है परिवर्तन। पढ़े हुए पाठको दुहरा लेना वह स्वाध्याय कहलाता है। जिसे रूपन भी रोज-रोज करते हैं, स्तुति पूजन अथवा किसी ग्रन्थको बारबार दुहराना—ये सब परिवर्तन हैं। शास्त्रका व्याख्यान करना यह सब वांचना है। पढ़ लेना और उसका जो अर्थ है, मर्म है उसे भी उपयोगमें लेते रहना, शास्त्र पढ़ते रहना यह वाचना है। पृच्छना, पूछना अथवा शास्त्र सुनना यह सब भी स्वाध्याय है। बड़ी हितबुद्धिसे जिससे मुझे लाभ हो, मेरी शकाएँ दूर हों, ऐसा नम्रतापूर्वक जो पूछना है कुछ भी उसे भी स्वाध्याय कहते हैं। शास्त्रका सुनना यह भी स्वाध्याय है, शास्त्रको वाचना यह भी स्वाध्याय है और अनित्य आदिक बारह भावनाओंका अन्य भी तत्त्वोंका बारबार चिन्तन करना सो अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय है। महापुरुषोंके, शलाका पुरुषोंके चारित्र कहना यह धर्मकथा है, यह भी स्वाध्याय है, ऐसे ५ प्रकारोंका जो स्तुति मगल सहित शब्द वाचन है वह सब स्वाध्याय है। इस परिभाषामें वे प्रतिक्रमण आदिकके वचन भी गर्भित हो जाते हैं। यह चीज हमारे स्वाध्यायरूप रहे। स्वाध्यायका मार्ग है पर स्वाध्यायमें जो लक्ष्य है स्वाध्यायका, स्व की दृष्टि, स्वमें स्थिरता, उस ओर भी हमारा पुरुषार्थ होना चाहिए।

धर्मपालनका अनुरोध—हम यदि मोह ममताको हटाकर अपने आपमें शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपने आपको निरखनेका यत्न करते हैं तब तो हम धर्मका पुरुषार्थ कर रहे हैं, उससे हमें लाभ होगा, मोक्षमार्ग मिलेगा और अन्तरङ्गमें वह पुरुषार्थ न जगे और ये वचनमय हमारे समस्त आवश्यक कर्म चलते रहें तो ये स्वर्ग आदिक सद्गतिया देने वाले हैं, साक्षात् मोक्षका कारण नहीं है। धर्म और पुण्यमें अन्तर है। धर्म है मोक्षका कारण और पुण्य है स्वर्ग सम्पदा श्रेष्ठ मनुष्यजन्म आदिक सद्गतियोंका कारण। पुण्यसे सासारिक समृद्धि मिलती है और धर्मसे कैवल्यका आनन्द मिलता है। इसीलिए धर्म निरालम्ब है और पुण्य सालम्ब है। धर्म अपने आपमें अपने द्वारा अपने आप होता है और पुण्य भी यद्यपि आत्माका ही परिणमन है पर उसमें कोई परद्रव्य विषय रहते हैं। प्रभुके गुणोंकी ओर दृष्टि रखकर जो भक्ति स्तवन होता है उसका नाम पुण्यकार्य है। पुण्यकार्यसे भी परे होकर धर्मकार्यमें लगें। इसके लिए यहाँ प्रेरणा दी गई है कि उस वचनमय व्यवहारसे भी और ऊपर उठकर अपने आत्माके स्वरूपमें दृष्टि दें और

उत्तम ध्यान करें।

जदि सक्कादि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

श्रमणोंका कर्तव्य और श्रद्धान – निश्चयसे योगिराजोंको क्या करना चाहिए ? इस सम्बंधमें बहुत कुछ वर्णनके बाद अब आचार्यदेव यह कह रहे हैं कि करने योग्य कार्य तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदिक ही है। यदि तेरी सामर्थ्य है तो तू इस ध्यानमय प्रतिक्रमण आदिककी कर, किन्तु यदि शक्तिहीन है, हीन संहनन का धारी है तो उसका श्रद्धान तो कर ही कर। इस गाथामें शुद्ध निश्चय धर्मध्यानरूप प्रतिक्रमण ही करना चाहिए, इस बात पर जोर दिया है।

मुक्तिलक्ष्मीदर्शनकी भेंट—यह निश्चयप्रतिक्रमण आदि परमावश्यक पुरुषार्थ मुक्ति लक्ष्मीके प्रथम दर्शन करने के लिए भेंटकी तरह है। जैसे किसी महापुरुषसे प्रथम बार मिला जाय तो उस मिलने के समयमें भेंट नजर की जाती है, इसी प्रकार मोक्षलक्ष्मीके दर्शनकी तुम्हें भावना हो तो सर्वप्रथम तू अपने भेंटकी तैयारी कर। जो भेंट नजर किया जायेगा वह भेंट है, शुद्ध निश्चयप्रतिक्रमण आदिक परमआवश्यक पुरुषार्थ। हे हितैषी श्रमण, तुझे यह निश्चय कार्य ही करने योग्य है। तू अपने स्वरूपसे बाहर कुछ मत देख। बाहरमें तो सब कुछ तेरी बरबादीके ही साधन हैं। बाहर देखने पर तू बाह्य पदार्थों में अपना उपयोग लगायेगा और कल्पनावश नाना विकल्प मचायेगा। उसमे तेरे स्वरूपका घात है, बाहर कुछ मत निरख।

कुलका आदर्श—हे श्रमण ! तू तीर्थंकरोंके कुलका है। तेरे कुलमें अनेक महापुरुष दिगम्बरी दीक्षा धारण करके अपने आत्माके उपयोगको आत्मामें ही स्थित करके परमधाम निर्वाणको पधारे हैं, शुद्ध हो गए हैं। बाह्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि मत दो। समस्त बाह्य पदार्थोंको तू भिन्न अहित असार समझ। तेरे हितका साधन तेरे स्वरूपका ही आलम्बन है। निश्चयप्रतिक्रमण आदिक सत् कर्तव्य हैं। श्रमणजनों को यह शिक्षा दी जा रही है, मुनिजनोंकी यह बात है, किन्तु इस प्रकरणको सुनकर गृहस्थजन भी अपने पदके योग्य अपना कल्याण कर सकते हैं।

श्रावकका श्रद्धान, ज्ञान व झुकाव—जो करने योग्य काम है उसका ज्ञान गृहस्थ और साधुके एक समान होता है। गृहस्थ और साधुमें करनेका अन्तर है, पर जानने, मानने, श्रद्धान करनेका अन्तर नहीं है। जानने प्रयोजनभूत बातको समझनेकी जितनी स्पष्टता साधुमें है उतनी ही स्पष्टता गृहस्थमें होनी चाहिए। मोक्षमार्गके प्रति, आत्मधर्मके प्रति जो श्रद्धान, साधुका होता है वही श्रद्धान गृहस्थका होता है। फर्क केवल आचरणका है। यह गृहस्थ व्यापार आदिक अनेक प्रसंगोंमें पड़ा हुआ है इसलिए यह करनेमें कमजोर है। जो तत्त्व समझा है उसको आचरणमें लेनेका यहाँ काम रहता है, किन्तु श्रमण चूँकि समस्त आरम्भ और परिग्रहोंसे विरक्त हुए हैं, असंग हैं, निःशंक हैं, केवल गात्र मात्र ही उनके परिग्रह है, सो उनको ज्ञानानुभूति करना, ज्ञानचर्चा करना आसान है, वे स्वरूपमे उपयोगकी स्थिरताको किया करते हैं। इस प्रकार आचरणमें तो अन्तर हो जाता है, पर श्रद्धान और प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान इन दोनों बातोंमें जितना साधु है उतना ही गृहस्थ हो सकता है और होना चाहिए।

मुक्तिप्राभृत—भैया ! ज्ञानका काम जानन है। ज्ञानको अपना काम करनेमें अटक नहीं आती है। यह ज्ञान बेअटक जिस ओर चाहे पहुचता है। यह ज्ञान बाह्य पदार्थोंकी ओर न जाकर अपने आपके अन्तःचमत्कारमें इन्द्रियोंको संयत करके बाह्य पदार्थोंकी दृष्टि न करके अपने आपमें अंतरङ्गमें कुछ खोजा जाय तो क्या जान नहीं सकती ? जानेगा। अपने आपके अंतःस्वरूपको जानना और जानते ही रहना, यह है परमआवश्यक काम और यही है मुक्ति लक्ष्मीके प्रथम दर्शनके लिए भेंट। भेंटके बिना

महापुरुषके दर्शन न करना चाहिए, होते भी नहीं हैं, फल भी नहीं मिलता है। तो मुक्तिलक्ष्मीके प्रथम दर्शनमें यह साधककी भेट है। भेटमें जैसे मूल्यवान् अनेक प्रकारके पदार्थ होते हैं वे सब पदार्थ मूल्यवान होते हैं, लेकिन नाना होते हैं। इस ही प्रकार एक मोक्षमार्गकी दृष्टिसे यह समस्त भेंट एक समान है, लेकिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, शुद्धनिश्चयकी ये रूप क्रियाएँ नाना हैं। इन भेंट रूप निश्चयक्रियावोंको हितार्थी पुरुषोंको करना ही चाहिए।

अन्त पुरुषार्थका महत्त्व—हम धर्मके प्रसगमें अपना समय लगाते हैं, तनसे श्रम करते हैं वचनोंसे पाठ भी करते हैं, मनको लगानेका यत्न भी करते हैं, एक हार्दिक भावनासे यह धर्मकी लगन बने तो इसका लाभ भी उठाया जा सकता है। धर्मका लाभ वही पुरुष उठा सकता है जिसका अन्तरङ्गमें यह शत प्रतिशत निर्णय है कि यह परिजन धन वैभव यह देह सभीके सभी अत्यन्त भिन्न हैं, इनसे मेरा रंच भी नाता नहीं है। यह तो सब बखेड़ा है, जितने दिन जी रहे हैं उतने दिन मिल रहे हैं। जब दो में से कोई बिछुड़ जाता है तब पता पड़ता है कि ओह कोई न था मेरा, ध्यानमें तब आता है। अरे जो ध्यानमें पीछे आयेगा कि कुछ भी न था मेरा, वह ध्यान पहिले से रहे तो कुछ जीवन भी सफल हो जायेगा। आखिर अंतमें मानना तो पड़ेगा ही। स्ववश न माने, परवश माने, पर अपनी श्रद्धासे स्ववश ही पहिले से मान लेवे तो उसका भला हो जायेगा। अरे दिन रातके २४ घटे हैं उनमें यदि दस पाँच मिनट एक सच्चाईके पथ पर चलनेका आग्रह करके उद्यम करें अपने आपको केवल समझनेके लिए तो कौनसा बिगाड़ हो गया? रात दिन तो सम्पदा और परिजनके विकल्प लादे हुए हैं। उनसे कौनसा सुधार हो जायेगा? सर्वविकल्पोंको छोड़कर केवल एक अपनेको असहाय निरखकर आत्माके ध्यानमें ही समय व्यतीत किया जाय तो यह जीवन भी सफल हो जाय।

सगप्रसगमें आत्मविघात—लोग कहते हैं कोयलेकी दलालीमें काला हाथ। अरे कोयलेकी कोठरीमें तो काला हाथ होता है, उनसे तो कुछ टके मिल जाते हैं, पर इन सांसारिक समागमोंसे लाभ कुछ नहीं मिलता है। यहाँ जिन्दगीसे जिये, मोह बढ़ाया और सब बिछुड़ गए। सभी लोग अपने-अपने मोहकी करतूतके माफिक पापबध करके जिस-जिस दुर्गतिमें उत्पन्न होते हैं उनका दु:ख भोगना पड़ता है, सहाय कोई नहीं होगा। जब यह जीव नरकगतिमें जन्म लेता है तब यह पछताता है। जिस कुटुम्बके कारण जिस इज्जत प्रतिष्ठाके लिए, धन सम्पदाके लिये अन्याय किया, पाप किया मिथ्याचार किया वे सब बिछुड़ेगे। उनमें से आज कोई साथी नहीं है। ये सारे क्लेश इसे अकेले ही भोगने पड रहे हैं। किसका विश्वास करते हो? अरे दस-पांच मिनट अपना हृदय शुद्ध बनावो और किसी भी परवस्तुमें ममता न लावो। नाते की रस्सी को एकदम काट दो, यह निर्णय रक्खो कि मेरा किसीसे रच भी सम्बन्ध नहीं है, सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें परिपूर्ण हैं, किसी पदार्थका किसी अन्य पदार्थसे, न द्रव्य, न क्षेत्र, न काल, न भाव किसी भी दृष्टिसे सम्बन्ध नहीं है। अपनेको अकेला तको उत्कृष्ट आनन्द जगेगा। अपनेको शुद्ध ज्ञानमात्र निरखो, मोहमें कुछ न पा सकोगे। अपने आपको अकेला निरखनेमें तू अलौकिक चमत्कार पा लेगा।

कलिप्रभाव—हे श्रमण! करने योग्य कार्य तो केवल आत्मध्यान ही है। इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्माके ध्यानसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आलोचना समस्त सत्क्रियाएँ गर्भित हैं। यह ग्रन्थ पचमकाल में बना हुआ है। इसमें तत्त्व तो जिनेन्द्रदेवका ही है, किन्तु ग्रन्थ उस समयका बनाया है जिस समयमें श्रमणोंकी शक्ति हीन हो जाने से, शरीरका सहनन कमजोर होनेसे मुक्तिका मार्ग न रहा था, साक्षात् मोक्षका लाभ न होता था। आचार्यदेव थोड़ा खेदके साथ कह रहे हैं—हे मुने! करना तो यही चाहिए एक अभेद आत्मध्यान, लेकिन सहननकी शक्ति कमजोर है, तब हे श्रमण! यद्यपि भावसे तूने तो अपनी

तैयारीमें कोई कसर नहीं रख रखी है, पञ्चेन्द्रियके विषयोंसे तू अत्यन्त दूर है, शरीर मात्र ही तेरे साथ परिग्रह रह गया है। बड़ी सच्चाई ईमानदारीसे तू अपने आत्मकल्याणमें जुटा है लेकिन संहननकी हीनतामें यह उत्कृष्ट ध्यान नहीं हो पाता है, साक्षात् मोक्षका लाभ नहीं मिल पाता है। तू इतना तो दृढ़तासे ही कर कि उसका पूर्ण श्रद्धान रख और जितनी शक्ति है, जितना पुरुषार्थ है, बल है उसे लाभ की ओर लगा।

आत्माका परसे पार्थक्य—भैया! यह जीवन विनश्वर है। प्रतिक्षण हम मरणके निकट पहुंच रहे हैं। कोई पुरुष ५० वर्षका हो गया, इसका अर्थ यह है कि जितना जीना था उसमें से ५० वर्ष निकल गए। अब थोड़ी आयु रह गयी है। जो कुछ आयु रह गयी है यह भी शीघ्र व्यतीत होगी। दूसरोंको भी तो इसने देखा है वे पैदा हुए, जल्दी समय बिता गये, गुजर गए। वही हाल हम आपका भी होने को है। रहा सहा शेष यह थोड़ा समय भी किसी प्रकार व्यतीत करना है। परिजनमें रागभरी बातें बढा-बढाकर व्यर्थ ही अपने मनको बिगाड़ कर इस ही प्रकार बरबाद करना है क्या? ऐसा बरबाद करने के बाद भी तो तू यहाँ न रहेगा। तेरा यहाँ किसी से रंच भी तो सम्बन्ध नहीं है।

आनन्दनिधि निजप्रभुसे आनन्दविकास—भैया! आनन्द तो आनन्दके निधान इस निजस्वरूपमें बसने से प्रकट होता है। यह आनन्दनिधि आत्मप्रभु इतना बिगड़ गया है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जैसे विकट नाना शरीरोंमें भी आज फँसा है। अपने आपके अंतःस्वरूपमें प्रवेश नहीं कर पा रहा है। इतनी बन्धनदशा होनेपर भी जो भी जिसे सुख हो रहा है, वैषयिक सुखोंके बहाने ये आनन्दकी ही किरणें मलिन बन-बनकर प्रकट हो रही हैं। यह सुख विषयों से नहीं निकल रहा है, भोजन, वस्त्र परिजन ये जुदे पदार्थ हैं, जो दिख रहे हैं इनमें आनन्द नामका गुण भी नहीं है, फिर ये पदार्थ मुझे आनन्द कहाँ से देंगे? इनको सोचकर भी जो हम सुखी हुआ करते हैं वह मेरे ही स्वरूपका आनन्द मलिन बन-बन कर सुखके रूपमें प्रकट होता है। कहीं बाह्य चीजोंसे सुख नहीं मिल रहा है। ऐसे अतुल आनन्दनिधान अपने प्रभुकी उपेक्षा कर रहा है यह मोही जीव और स्वयं जो मलिन है, मिथ्यात्व अंधकारमें ग्रस्त है ऐसे परिजन वैभव इनकी ओर यह मोही जीव अपनी दृष्टि बना रहा है।

वर्तमान श्रमण परमेष्ठियोंका प्रतिबोध—हे मुनि! यद्यपि तू उत्कृष्ट परमजैनेन्द्र आगमकी भक्तिमें इतना लीन है जैसे कि कोई भवरा कमलके परागका तीव्र अनुरागी रहता है ऐसे ही तू भगवानके स्वाध्याय का, शास्त्र मननका विशिष्ट अनुरागी है। तेरेमें सब गुण उत्कृष्ट प्रकट हैं। सहज तुझे वैराग्य भी है। तुझे कोई सांसारिक सुखकी कामना भी नहीं है, परद्रव्योंसे तेरा उपयोग निवृत्त है, अपने आत्मद्रव्यमें अपना उपयोग ही तू लगाये है लेकिन खेदकी बात है कि यह शरीर संहननहीन है, यह काल अयोग्य काल है, कमजोर काल है, इस कालमें अब और कुछ विशेष कार्य न हो सकेगा याने निर्वाण लाभ न हो सकेगा तो इस निज परमात्मतत्त्वका श्रद्धान ही दृढ बनाये रहो। इस प्रकार खेद पूर्वक आचार्यदेव परमभक्त श्रमणजनोंको प्रतिबोधन कर रहे हैं कि श्रद्धासे तुम च्युत मत होओ। कितनी भी विकट प्रतिकूल परिस्थितियां आएं तब भी तू अपने आपको यों ही निरख कि यह मैं शुद्ध ज्ञायकस्वरूप परम रम ही अपने लिए शरणभूत हू। यह शुद्ध ज्ञान और आनन्दके स्वभाव वाला है। ऐसे इस निश्चय परमात्मतत्त्व का तो श्रद्धान करना ही चाहिए।

भवभयविनाशिनी श्रद्धान—यह संसार असार है। यहाँ किसी भी पदार्थमें प्रेम करनेसे कुछ भी सार तत्त्व हाथ नहीं आता है। जितना परकी ओर उलझोगे उतना ही अपने को रीता करते चले जावोगे। इस असार ससारमें पापोंसे भरपूर कलिकालका नाच हो रहा है। जहां जाते हैं वहाँ ही विषय कषायोंके प्रेमियोंका झुंड नजर आता है। मोह राग द्वेष छल कपट ईर्ष्या सभी अवगुण इस कलिकालमें नृत्य कर

रहे हैं, ऐसे इस समयमें निर्दोष जैनेन्द्रमार्गमें मुक्ति नहीं बतायी गई है, लेकिन खेद मत करो, अपने आपके आत्माकी ओर दृष्टि है तो तू मोक्षमार्गमें ही लगा हुआ है। विषादकी बात तो तब होती जब तू अपने श्रद्धानसे भी विचलित होता। इस कालमें उत्कृष्ट अध्यात्म ध्यान नहीं बन सकता है, जिस ध्यानके प्रतापसे अष्टकर्मोंका नाश होकर सिद्ध पद अभी मिल जाय, लेकिन हे श्रमण, तू अपनी बुद्धिको निर्मल बना। देख यह निज परमात्मतत्त्व की श्रद्धा भवनभयका नाश करने वाली है। अरे तेरे स्वरूपमें भव ही नहीं है, तू भय किसका करता है? शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप अपने अंतस्तत्त्वमें अपनी श्रद्धा बना, फिर डर किस बातका है? भव भयका नाश करने वाले निज परमात्मतत्त्व की श्रद्धा कर।

अन्तस्तत्त्वके श्रद्धानका प्रभाव—उक्त प्रकारसे इस गाथामें कर्तव्यकी बात तो एक आत्मध्यान ही है ऐसा बताया है। धर्मके लिए बाहरमें तन, मन, वचनकी अन्य चेष्टाएँ करनेकी जरूरत नहीं पड़ी है, वे तो जड़ पदार्थोंके परिणमन हैं, ये मन, वचन, कायकी चेष्टाएँ इस देहदेवालयमें रहने वाले इस परमात्मप्रभुकी निर्मलताका अनुमान कराने वाली हैं क्योंकि ज्ञानी आत्मासे अधिष्ठित देहकी क्रियायें जो होंगी वे शुभ ही होती हैं। करने योग्य कार्य तो अपनेको शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभवने का है, ध्यान करो, भावना करो तो इस प्रकारको—मैं केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, भावना अनेक बार की जाती है। ज्ञान प्रकाशमात्र अपने आपकी भावना निरन्तर बनायें तो जैसी भावना होगी तैसा अनुभव हो जायेगा। शुद्ध ज्ञानके अनुभवका यही उपाय है कि अपनेको शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करते रहें, इस भावनाके प्रसाद से इस ज्ञानतत्त्वका अनुभव भी होगा, जिस अनुभवके साथ सहजशुद्ध आनन्द प्रकट होगा और ये समस्त संसारके संकट दूर हो जायेंगे।

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वयेण जोई णियकज्जं साहये णिच्चं ॥१५४॥

मौनव्रतसहित प्रतिक्रमणादिकी साधनाका सन्देश—जो पुरुष साक्षात् अन्तर्मुख हैं अथवा साक्षात् अन्तर्मुख होने का विशिष्ट प्रयत्न कर रहे हैं, ऐसे परमयोगीश्वरों को कुन्दकुन्दाचार्यदेव यह शिक्षण दे रहे हैं कि जिनेन्द्र भगवानकी दिव्यध्वनिसे प्रणीत परमसूत्रमें जैसा कि प्रतिक्रमण आदिकका प्रतिपादन किया है उसको अपने आपके अनुभवसे परीक्षित करके मौन व्रतके साथ-साथ अपने व्रतकी साधना करनी चाहिए। जो कुछ भी आत्माके हितके लिए प्रतिक्रमण आदिक बताए गए हैं जिससे आत्माकी शुद्ध होती है उन प्रतिक्रमणोंको मौन व्रत सहित अथवा गुप्त ही गुप्त अपने आपमें धीरेसे उतार-उतार कर आत्मसाधना करनी चाहिए। आत्माको आनन्दमय बनानेमें ये प्रतिक्रमण आदिक अमोघ साधन हैं। आत्मा भावात्मक है, स्वतः सहज यह ज्ञानस्वरूप है, केवल जाननहार रहे यह ही इसका परमार्थस्वरूप है, यह भाव स्वयं ज्ञानमात्र होनेके कारण निर्लेप है। इसमें रागद्वेष मोह आदिक संकल्प विकल्प कुछ भी नहीं है। शुद्ध होना है, इसका अर्थ यह है कि रागद्वेषादिक विकल्पोंसे दूर होना है।

उपदान निमित्तकी विपरीत खेंचमें असिद्धि—यदि कोई यह श्रद्धा रक्खे एकान्ततः कि मुझमें रागद्वेष विकल्प है ही नहीं तो वह शुद्ध होनेका क्या प्रयत्न करेगा? रागद्वेष आदिक तो मुझमें हैं ही नहीं, इस एकान्त आशयमें भी कल्याणका उपाय नहीं है। कोई यह माने कि रागद्वेष करनेका तो मेरा काम ही है, स्वभाव ही है, उस पुरुषको भी रागद्वेषसे हटनेका अवसर नहीं है, किन्तु इस अनेकान्तवादमें कि रागद्वेष मेरा स्वभाव नहीं है, लेकिन उपाधिका निमित्त पाकर मेरे ही श्रद्धा और चारित्र गुणके परिणमन ये मोह रागद्वेष होते हैं, मुझमें जब रागद्वेष मोह परिणामोंकी व्यक्ति है तो शुद्ध पर्याय जो सम्यक्त्व और चारित्र है इसकी व्यक्ति नहीं हो सकती है। रागद्वेष मोह परिणाम ने सम्यक्त्व और चारित्रका घात किया है, ये औपाधिक हैं, ये मिट सकेंगे। मैं स्वभावतः राग द्वेष मोह रहित हूं। तो जैसा यह मैं स्वभावतः अपने

आप ज्ञानप्रकाशमात्र हूं वैसा ही अपने को तकूँ, प्रत्ययमें लूँ, ऐसा ही उपयोग बनाऊँ तो ये रागद्वेष मोह नियमसे दूर होंगे। कोई ऐसी बाधक शक्ति नहीं है जो मैं वीतराग होनेका उद्यम करूँ और कोई बाधा डाले। मैं ही खुद विकल्प बनाकर परको आश्रयभूत करके बाधक बन रहा हू और निर्विकल्प ज्ञानभावका आश्रय करके खुद ही खुदका साधक हो सकूँगा।

निर्दोष अन्तस्तत्त्वकी आराधनामे सिद्धि—निर्दोष आत्मतत्त्वकी आराधनामें भावी कालमें भी दोष न आयेगा, यह है प्रत्याख्यान। निर्दोष आत्मस्वरूपकी भावनामें वर्तमानमें भी आनन्द बरष रहा है और दोषरहित हो रहा हैं, यह है परमआलोचना। निर्दोष आत्मतत्त्वकी भावना करके रागद्वेषादिक विकार भावों को हटानेका जो अन्त पुरुषार्थ और पर्याय चल रहा है यही है शुद्ध प्रायश्चित्त। इस निश्चय परम आवश्यक सत् क्रियावोंसे ही निर्वाण प्राप्त होता है।

अन्त भान बिना द्रव्यभजनसे अलाभ—हम प्रभुमूर्तिके समक्ष प्रभुका भजन तो करते है, पर प्रभु क्या थे, उन्होंने क्या किया, अब क्या बने हैं, कुछ भी भान न करें, और केवल माता पिता का नाम लिया जाय, शरीरकी लम्बाई, रग जो कुछ तीर्थंकरके भवमें भी था वैसा वर्णन करता जाय तो भी प्रभुका भजन तो ऊपर-ऊपरमें किया, पर मर्म नहीं पाया। समय तो व्यतीत कर डाला प्रभु भजनमें, पर स्वाद नहीं आ पाया। जैसे एक बात प्रसिद्ध है लोकमें रावणके युद्धके समय वानर सेनाने समुद्रको लांघ डाला, लेकिन उन बानरोंने समुद्रके रत्नोंका परिचय तो नहीं पाया, ऐसे ही भगवानके भजन भक्तिमें अपना समय तो निकाल देते हैं पर स्वाद नहीं आता।

प्रभुभक्तिकी पद्धति—भैया! प्रभुकी भक्ति हम इसलिए करते हैं कि हमारी प्रभुकी निकटता है, जो प्रभुस्वरूप है वह मेरा स्वरूप है, प्रभु मेरे ही समान पूर्वकालमें ऐसी ही संसार पर्यायोंको धारण करके लीला कर रहे थे। जैसे कि यह मैं प्रभु लीला कर रहा हू, क्लेश पा रहा हूं। उन्होंने वस्तुस्वरूपका ज्ञान किया। ज्ञानका काम ही जानना है, उलटा जानना बनावटसे होता है। सीधा जाननेसे तो कष्ट भी नहीं है। प्रभुके शुद्ध ज्ञान प्रकट हुआ, निजको निज परको पर जाना, परद्रव्योंसे उपेक्षा हुई, ज्ञानानन्दस्वरूप निर्दोष इस आत्मतत्त्वमे वे जुडे। उन्होंने उपयोगको जोड़ा, उसके फलमें ये रागद्वेष आदिक दोष दूर हटे और भव-भवके सचित कर्मबन्धन भी अपने आप टले और अंतमें देहसे भी विमुक्त हो गए, यह है स्थिति प्रभुकी, जिसका हम भजन पूजन करते हैं। उनके स्वरूपका स्मरण करके अपने आपमें भी उत्सुकता जगायें कि मैं क्या गीदड़ोंकी भाति मोहीजनोंके सगमें रहकर अपनेको कायर बना रहा हू। अरे मेरा स्वरूप तो प्रभुवत् है, अनन्त ज्ञानका निधान है, उत्साह तो जगायें इस व्यर्थ मोह कीचड़को हटायें, अतरङ्गमें निर्मल श्रद्धा बनाएँ। मेरा मात्र मैं ही हू, ऐसे इस अतस्तत्त्वके भान सहित जो उपयोगको भीतर-भीतर लगाया जा रहा है वह है मोक्षपथका गमन।

जैनेन्द्र परमागम—भगवान अरहन्त देव ही इस समस्त आगमके मूल प्रणेता हैं। भगवान ही वास्तव में श्रीमान् हैं। श्री उसे कहते हैं जो अपने आपका आश्रय ले। अपने आपके आत्माका आश्रय अपना स्वरूप ही ले रहा है। अन्य पदार्थ तो सब मुझसे भिन्न हैं, ऐसे स्वरूपका विकास जिसके हुआ है वह है श्रीमान्, अर्थात् अतरङ्ग ज्ञानलक्ष्मीसे शोभायमान्। ऐसे परम श्रीमान् अरहंतदेवकी दिव्यध्वनिसे जो उपदेश निकले है, जिनमें समस्त पदार्थोंका यथार्थस्वरूप निहित है उस दिव्यध्वनिको सुनकर गणधरदेव ने सब उपदेशोंका प्रकरण बनाकर द्रव्यश्रुतकी रचना की है। वह है द्वादशाग। यह परमागम चतुरङ्ग है प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग—ये चार इसके अग हैं और यह परमागम द्वादशाग भी है। आचारादिक १२ अग हैं। द्वादशाग भुजा वाला श्रुतदेवता यही है और चार हाथ वाली सरस्वती भी यही है।

सरस्वतीका स्वरूप—लोग सरस्वतीका रूप बनाते हैं। एक विशाल तालाबके भीतर कमल पर विराजमान् सरस्वती देवी हैं जिसके निकट स्वच्छ हंस भक्ति करता हुआ बैठा है। इस सरस्वतीके चार हाथ हैं, किसी हाथमें वीणा, किसी हाथमें माला, किसी हाथमें पुस्तक, किसी हाथमें शास्त्र है। यह सब रूपक इस श्रुतदेवताका है। सरस्वतीका अर्थ है सरः प्रसरणं यस्य सा सरस्वती। सर: कहते हैं फैलाव को। तालाब भी भरा हुआ रहता है ना, इस कारण इसका भी नाम सरः बोला जाता है। जिसका बड़ा फैलाव हो उसे सरस्वती बोलते हैं। फैलाव है विद्याका और इसके प्रथमानुयोग आदि ४ हाथ हैं, अध्ययन भक्ति, संगीत, अनहद ध्वनि—इन चार उपायोंके प्रतीक वे चार पदार्थ हैं।

ज्ञानका प्रसार—बतावो अच्छा दुनियामें सबसे अधिक व्यापक पदार्थ कौन है? जो चीज सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हो वह अधिक बड़ी होती है। जो मोटी चीज हो वह बड़ी नहीं हो सकती है। ये मिट्टी पत्थर ढेला आदि स्थूल हैं और पानी इनसे सूक्ष्म पदार्थ है। सो देख भी लो, इस पृथ्वीसे भी पानी ज्यादा है। आजके भूगोल विज्ञानी भी मानते हैं कि दुनिया छोटी है, पानीका भाग ज्यादा है और सिद्धान्तसे भी देखलो—जितना बड़ा स्वयंभूरमण समुद्र है उतना बड़ा असंख्याते अन्य द्वीप समुद्र मिलकर भी नहीं हैं। जो बचे हुए द्वीप समुद्र हैं उनमें भी आधा जलका अंग है, आधा पृथ्वीका अंग है। तब पानी तीन चौथाईसे भी ज्यादा हो गया और पानीसे पतली हवा है, तो पानीसे भी अधिक दूर तक फैली हुई हवा है और हवासे भी सूक्ष्म आकाश है तो हवा तो तीन लोकमें ही है पर आकाश इस लोकाकाशके बाहर भी है, जो चीज सूक्ष्म होती है उसका विस्तार बड़ा होता है। आकाशसे सूक्ष्म ज्ञान है। यह एक भावात्मक चीज है, तो यह लोकाकाश और अलोकाकाश ये सब इसमें समाया हुआ है और फिर भी ज्ञान की महिमा, ज्ञानका विस्तार, योग्यता इतनी बड़ी है कि ऐसे-ऐसे असंख्यात भी लोक और अलोक हों तो उनको भी जान जाय।

अपनी भूलसे अपना घात—अहो अनन्तज्ञानकी कितनी अतुल निधि है हमारे आपके पास और इसको जलाये जा रहे हैं विषय और कषायोंकी ज्वालामें। न कुछ थोड़ासा द्रव्य पाया, हजारों लाखोंकी पूंजी पायी तो उसे अपना रहे हैं कि यह मेरा है, उसको ही दिलमें रक्खे हैं, इससे हो रहे हैं कितने बड़े विकल्प? जिससे अतुल अनन्तज्ञान और अतुल आनन्दका घात हो रहा है, इसको यह मोही जीव नहीं देखता है।

अज्ञानमें बहक—जैसे किसी पुरुषने बहका दिया बच्चेको कि तेरा कान यह कौवा लिये जा रहा है तो बच्चा कौवेके पीछे बेहतासा दौड़ता है, लोग समझाते हैं कि अरे बच्चे कहाँ दौड़ रहा है? बच्चा कहता है कि ठहरो-ठहरो, अभी फुरसत नहीं है, मेरा कान कौवा लिए जा रहा है। अरे नहीं लिए जा रहा है, बेटा भाई कहना मानो। नहीं बाबा हमसे तो बड़े बड़े लोगोंने कहा है। " अरे कहा होगा। जरा अपने कान टटोलकर तो देख लो। कान पर हाथ रक्खा तो देखा कि कान तो यहीं है, कौआ नहीं लिए जा रहा है। ऐसे ही यह जीव मोहको बहकमें बहक गया है, मेरा सुख परपदार्थोंमें है। ये परपदार्थ मिटेंगे तो मेरा सुख भी मिटेगा। परपदार्थोंके पीछे बेहतासा भागे जा रहा है। ' अरे कहाँ दौड़े जा रहे हो? यह उपयोग कहता है। तुम्हारी बात सुननेकी हमें फुरसत नहीं है। मेरा सुख इन परपदार्थोंमें है, कहीं ऐसा न हो कि ये पदार्थ मेरे पास न रहें तो मेरा सुख नष्ट हो जायेगा। ज्ञानी समझाता है—अरे तेरा सुख परपदार्थोंमें नहीं है, क्यों बेहतासा भागे जा रहे हो? यह नहीं मानता है, अरे तो प्रयोग करके देख, सब परपदार्थोंकी आशा विकल्प तजकर, अपनेमें विश्राम पाकर तो अनुभव कर। इसने कुछ इन्द्रियोंको संयत किया तो भीतरमें ज्ञानानन्द निधिका दर्शन होनेसे समझमें आया कि ओह! मेरा सुख किसी परपदार्थमें नहीं है, मैं ही सुखस्वरूप हूं।

साधनासे सिद्धि—परमशरण सहज शुद्ध आत्मस्वरूपका प्रतिपादन जिस परमागममें है उस परमागममें इस शुद्ध होनेकी विधिका वर्णन है, जरा शुद्धनिश्चयात्मक परमात्मतत्त्वका ध्यान तो रेंक, फिर देखो आत्माका शुद्धविकास कैसे नहीं होगा? केवल अपने ही सत्त्वके कारण जो इस आत्माका सहजस्वरूप है उसका ध्यान करो, यही है प्रतिक्रमण आदिक समस्त सत्कर्म। उनको जानकर फिर केवल इसही निज महान् कार्यमें निरत बनकर हे योगी पुरुषों, अपने अभीष्ट शुद्ध आनन्द की साधना करो। जब तक शुभ अशुभ समस्त वचन रचनाका परित्याग न होगा, जब तक समस्त व्यासंग परिग्रहका परित्याग न होगा, तब तक इस अपने आपमें बसे हुए मूल्यवान् रत्नका परिचय न पा सकेंगे और फिर तुच्छ असार इन जड़ पदार्थोंकी आशा ही आशा बनाकर भिखारी ही रहेगा। समस्त परिग्रहोंके व्यासंगको तजकर अपने आपको केवल अकेला अकिञ्चन ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभव करके मौन व्रतसहित होकर मन, वचन, कायकी चेष्टा न करके एक इस निर्वाणकी साधना करो, आत्मतत्त्वकी साधना करो।

निन्दाकी उपेक्षाके बिना बाधा—देखो कुछ मोही लोग बहकायेंगे तुझे, ये अज्ञानी जन तेरी निन्दा भी करेंगे, कायर हो गया है, कुछ दिमाग क्रैक मालूम होता है, घरको छोड़कर यों चल दिया। छोटे बच्चों की भी सुध न रक्खी। क्या कर रहा है यह, यह अकेला जंगलमें ठूटसा बैठा है, अज्ञानीजन निन्दा भी करेंगे, तेरे इन सत्कार्योंके प्रति पर तू बहकावेमें मत आ जाना। यदि तूने मोही जीवोंकी रागद्वेषभरी वाणियों पर कुछ ध्यान दिया तो तू चिग जायेगा और पवित्रमार्गसे गिर जायेगा।

मलिनाशयोंके प्रसंगका प्रभाव—एक आदमी बहुत बढ़िया बकरी लिए जा रहा था। वह बड़ी पुष्ट बकरी थी दूध देने वाली। चार ठगोंने देखा कि यह बकरी बहुत पुष्ट है, दूध देने वाली है, कोई उपाय ऐसा बनावो कि इसकी बकरी ले ली जाय। उन्होंने सलाह करली और अपनी सलाहके माफिक वे चार ठग आगे जाकर एक-एक मीलकी दूरी पर खड़े हो गए। बकरी लिए जा रहा है यह। पहिला ठग बोला—अरे भाई यह कुत्ता कहाँसे लाये हो? इसकी बातको उसने अनसुनी कर दी। एक मील बाद दूसरे ठगने कहा—भाई तुम्हारा कुत्ता तो बड़ा अच्छा है तो उसे कुछ ध्यानमें आया कि शायद यह कुत्ता ही हो एक मील बाद तीसरा ठग मिला—बोला वाह कुत्ता तो बहुत ही सुन्दर ले आये हो। तो अब उसे ख्याल हुआ कि यह कुत्ता ही हम लिए जा रहे हैं, एक मील बाद चौथा ठग मिला तो उसने कहा—अरे यह क्यों कुत्ता लिए जा रहे हो? उसको यह निर्णय हो गया कि यह कुत्ता ही है। बस उसे वहीं छोड़कर चला गया। वे तो यही चाहते ही थे, बकरी लेकर घर चले आए। तो अनेक कुबुद्धियोंके बहकानेसे भी सीधी बात उल्टी बन जाती है।

प्रसंगके अनुसार बुद्धिकी गति—भैया! हम यहाँ सोचा करते हैं कि चित्त धर्ममें क्यों नहीं लगता, ज्ञानमें ध्यानमें यह मन क्यों नहीं जमता? अरे ज्ञान ध्यानके साधकोंमें प्रीति हो, उनका सत्संग विशेष हो तो वहाँ भी मन चलेगा। रात दिन मोहियों रागियोंके संगमें ही तो बसना पड़ रहा है। तो असर उन विकल्पोंका होगा, ज्ञान ध्यानकी ओर कहाँ दृष्टि जायेगी? अज्ञानीजन निन्दा भी करें तो भी तू अपनी ही धुनमें रहा कर, निर्वाणके सुखकी साधना कर। ज्ञानी पुरुष मोक्षकी इच्छा रखने वाले कल्याणार्थी जन अज्ञानी जनोंके द्वारा किए गए लोकभयसे घबड़ाते नहीं हैं। वे समस्त जगजालसे दूर होकर धन परिजन सम्बन्धी मोहको तजकर सदा मुक्त केवल निज आत्मतत्त्वकी सर्वप्रकार सिद्धि कर लेते हैं।

परमात्मतत्त्वके आलम्बनकी शिक्षा—जो पुरुष अध्यात्मवादमें कुशल है, परमात्मतत्त्वके रहस्यका जानकार है वह मनुष्योंके द्वारा किए हुए भयसे न घबड़ाकर समस्त कल्पना विकल्पजालोंको तजकर इस ही एक आनन्दको प्राप्त करता है, जो नित्य ही आनन्द देने वाला है। आत्माका शाश्वत आनन्द एक

इस आत्माश्रयसे ही प्रकट होता है। जैसे मिश्री भीतर बाहर सभी ओर मीठी ही मीठी है, ऐसे ही इस आत्मप्रदेशके जितने भी विस्तार हैं, सर्वप्रदेशोंमें ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण घन स्थित है। केवलज्ञानमात्र अपनेको अनुभव करने से अपना ज्ञानमात्र अनुभव बनता है और जब केवल ज्ञानमात्र ही अनुभव रहा तो वहाँ शुद्ध आनन्द प्रकट होता है। अपने कल्याणके लिए मोहको दूर करके इस निर्मोह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप के जाननेका भी पुरुषार्थ करना चाहिए।

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हावयणविवादं सगपरसमयेहिं वज्जिज्जो।। १५६।।

वचनविवादके परिहारका आदेश—पूर्व गाथामें यह बताया गया था कि जिनेन्द्रदेवके परमागममें संसारमुक्तिके लिए जो प्रतिक्रमण आदिक निश्चय पुरुषार्थ बताये गये हैं उन परमावश्यक कार्योंको मौन व्रत सहित साधते रहना चाहिये। ऐसा सुनकर यह एक जिज्ञासा होती है कि मौन व्रत पर जोर क्यों दिया गया है? उस जिज्ञासाके समाधानरूप यह वर्णन चल रहा है। लोकमें नाना तो जीव है और नाना प्रकारके उनके कर्म हैं, नाना प्रकारकी लब्धिया हैं, इस कारण साधर्मीजनोंके भी साथ और परधर्मीजनों के भी साथ वचन-विवाद तज देना चाहिए। समस्त वचन-व्यापारके तज देने में कारण क्या है, उसका इसमें उपन्यास किया गया है।

वचनविवादका परिहार करनेका मुख्य कारण—जब जीव नाना प्रकारके हैं और उनके कर्मोंके उदय भी नाना प्रकारके हैं और उनके जाननेकी योग्यताएँ भी नाना प्रकारकी है तब फिर विवादसे कुछ सिद्धी ही नहीं है, विवादसे फायदा क्या मिलेगा? उनसे वचन-विवाद करनेमें अपने को लाभ कुछ नहीं है। इस कारणसे सबके ही साथ वचन विवादको त्याग देना चाहिए। किसी भी प्रसगमें विवाद करना लाभदायक नहीं होता है। जो श्रमण अपने आत्मकल्याणके साधनोमे निरत हो रहे हैं उनका तो यह कर्तव्य है कि जिस वचनमें राग अथवा द्वेष बढे ऐसे वचन यदि धर्मचर्चाके भी हों तो भी त्याग देने चाहियें। अन्य वचनोंकी तो बात ही क्या?

परकी सभालमें सभालकी असभवता—जगतके जीव नाना तरहके हैं। इस प्रसगमें जीवोंको नाना प्रकारके कहनेका मर्म यह है कि प्रत्येक पदार्थमें उनके अपने अपने उदयके अनुसार परिणमन होता है और ये परजीव मुझसे जुदा परिणमन करने वाले हैं। सभी पदार्थ यदि एकसा ही परिणमन करने वाले रहें तो भी अपनी कुछ गुञ्जायश निकाल सकते हैं कि भाई चलो इसके अनुकूल ही चलने लगें, किन्तु ये जीव तो नाना हैं और उनके परिणमन भी नाना हैं, तुम किन-किनके परिणमनको समालोगे? अपनी सभालमे ही सब संभाल होती है। दूसरे जीवोंकी सभाल करने रहनेमें कोई सभाल नहीं होती है। कैसे संभालोगे? जैसे जिन्दा मेढ़कोंको कोई तराजूपर तौलना चाहे तो कैसे तौल सकेगा? एक रक्खे तो दूसरा फुदक जायेगा, उससे भी कठिन जगतके जीवोंकी सभाल करना है। उन्हें अपने मनके अनुकूल बनाना और प्रसन्न रखना, यह बहुत कठिन बात है। कठिन क्या असम्भव है, भले ही अपनी जैसी कषाय है वैसी ही कषाय दूसरेकी मिल जाय, लेकिन ऐसी कषायका मिलना कब तक रहेगा? सब जुदे-जुदे द्रव्य हैं, जुदी जुदी परिणतिया हैं, भिन्न परिणमन हैं फिर तुम किसको आधीन बना हुआ कहोगे?

स्वयकी सभालसे वास्तविक सभाल—भैया! खुदको ही यदि निर्मल बना सके, सदाचार रख सके तो जगत्के जीव भी तुम्हारे अनुकूल चल सकेंगे। पर खुद तो रहें शून्य, विषयकषायोंसे लदे हुए और चाहें कि दूसरे जीव इस तरह परिणम जायें, यों बन जायें तो यह असम्भव बात है। जीव नाना प्रकारके हैं। उनका परिणमन जुदा-जुदा है, तुम किसीके परिणमनके स्वामी नहीं हो। इस कारण दूसरोंसे वचनोंका विवाद मत करो, झगड़ा न करो, अपनी-अपनी बात संभाल लो और अपनी सभालके लिए जितना

बोलना आवश्यक है उतना दूसरोंसे बोलो। धर्मकी बातमें भी धर्मकी चर्चा करते हुए भी यदि ऐसी स्थिति आती है कि दूसरोंको भी कुछ रोष होने लगे या अपनेमें ही रोष होने लगे तो तुरन्त बोलना बंद कर दो, धर्मचर्चा भी न करो यदि रागद्वेष हो रहा है तो। अन्य वचनोंकी बात तो दूर जाने दो।

विवादका कारण अधर्मभाव—धर्मचर्चा करते हुएमें जब कभी भी कलह विवाद होने लगता है तो उसका कारण धर्मचर्चा नहीं समझें, किन्तु धर्मचर्चाकी ओटमें अपने पक्षकी पोषणाका आशय है। मैं जो कहता हू वह ठीक कहता हूं, ये जो चार आदमी सुन रहे हैं ये यह न महसूस करें कि हमारी बात गिर गयी। हम जिस बातका समर्थन करना चाहते हैं वह बात न गिर जाय, और कभी-कभी तो इस पर्याय-बुद्धिमें इतना बह जाते हैं कि मनसे मान भी लेते हो कि मैं गलत बोल गया था, लेकिन जाहिर वह यही करेगा कि जो मेरा पक्ष है, जो मेरा मंतव्य है वह ही यथार्थ है, रागद्वेष यहां तक बढ जाता है। धर्म चर्चाके मामलेमें भी यदि ऐसा द्वेष बढ़ता है तो इस प्रसंगमें भी सधर्मी जनोंको वचन-विवाद न करना चाहिए।

दुर्विपाक कषाय—धर्मचर्चाके प्रसंगमें क्रोध होता है तो वह क्रोध उसका बड़ा अनर्थकारी है। धर्म-प्रसंगमें अभिमान करना सब अभिमानोंसे भी भयकर है। धर्मके मामलेमें यदि छल कपटका परिणाम जगे तो दुकान या अन्य व्यवहारोंमें जो छल कपट होता है उससे भी अधिक भयकर है और धर्मके प्रसंगमें यदि लोभ जग रहा है तो वह लोभ अन्य लोभके प्रसंगोंसे भी ज्यादा भयंकर है। जो उद्धारका उपाय है उसमें ही हम कषाय करने लगे तो उद्धार होगा कहासे ? इसे तो अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं। गृहस्थ पुरुष जो विवेकी हैं, घर दुकान व्यवहारके मामलेमें क्रोध भी करले, मान, माया, लोभ भी अपने-अपने समयमें चलते हैं, उनके सामने धर्मके मामलेमें किए हुए क्रोध, मान, माया, लोभ यद्यपि छोटे जँचते हैं, लेकिन आत्मघातक शक्ति इनके अन्तरमें अधिक निहित है। धर्ममें कषाय करने वाला विवेकी सम्यग्दृष्टि न होगा और घर गृहस्थीमें बडे-बडे कषाय करके भी सम्यग्दृष्टि रह सकते हैं। जीव नाना प्रकारके हैं, उनका परिणमन उन उनके आधीन है, इसलिए किसी भी मनुष्यसे वचनका विवाद मत करें।

अविवादमें दूरदर्शिता—मानलो आप कहीं घूमने जा रहे हैं, सकरा रास्ता है एक ओर अच्छा और एक ओर कम चला रास्ता है। कोई देहाती मुहढ आपके सामनेसे आ रहा है, तो आप समझते हैं कि यह देहाती है, ना समझ है, अपढ़ है इसे उस गंदे रास्तेसे जाना चाहिए और ऐसे ही वह देहाती भी समझ ले कि इन बाबू जी को इस रास्तेसे जाना चाहिए, ऐसा ही यदि दोनों हठ करलें तो काम तो न बनेगा। विवेकी पुरुष तो दूरदर्शी होता है। वह दूरसे ही रास्ता काटकर चल देगा। यदि न चले वह विवेकी रास्ता काटकर तो उसका कितना नुक्सान है ? उसका तो जबरदस्त अपमान हो जायेगा। वह सीधे साधे सरल स्वभावसे बचकर निकल गया तो इसमें उसका कुछ नुक्सान नहीं है। यदि वहाँ वाद विवाद हो जाय तो अपमान बना बनाया है। दूसरी बात समय खराब हो गया, तीसरी बात हृदयमें कलुषता बढ़ गयी, चौथी बात एक बदला देनेका अथवा नुक्सान पहुचानेका आगामी कालमें भी वासना बन बैठेगी। वचन विवादमें नुक्सान ही नुक्सान है और एक थोड़ी दूरदर्शिताके कारण बचकर निकल जाय तो लाभ ही लाभ है।

वचनविवादका अनवसर—भैया ! किससे वचनविवाद करते हो, जो हीन हैं, तुच्छ हैं उनसे तो वचन विवाद ऐसे ही न करना चाहिए। जो बड़े हैं उनसे वचन विवाद करना ही न चाहिए और जो अपने समान हैं उनसे वचनविवाद करनेकी चोट बड़ी गहरी बनेगी, फिर किससे विवाद करते हो ? ये नाना जाव हैं, इनका परिणमन भिन्न है, हमारा उन पर कुछ अधिकार नहीं है, हमने मनुष्य जन्म पाया है तो अपने आपमें अपने आपको संभालकर अपने कल्याणका काम बन जाना ही तो कर्तव्य है। इसी

कारण इन योगीश्वरोंको मौन व्रतके साथ आत्मकार्यकी साधनाके लिए कहा गया है।

सर्वपरितोषकर उपायका अभाव—इन नाना जीवोंके नाना प्रकारके कर्मोंका उदय है, जिन उदयोंसे ये जीव भिन्न भिन्न प्रकारकी वाञ्छायें रखते हैं, जब इच्छा न्यारी-न्यारी जुदी जुदी है तो तुम किसको खुश कर सकोगे ? एक ही समय है। माली चाहता है कि खूब पानी बरष जाय ताकि हमारा बाग खूब हरा भरा रहे और कुम्हार चाहता है कि खूब बादल साफ रहें, कड़ी धूप रहे ताकि हमारे बर्तन सूख जायें। अगर पानी न बरषे तो मालीका बाग सूखा और अगर पानी बरष गया तो कुम्हारके मिट्टीके बर्तन फूटे। तो जिसके मन माफिक न हुआ वह परेशानीमें पड़ जाता है। वहा तो निमित्तभूतसे जैसा जो होना है हो जाता है।

सर्वपरितोषकर्ताके अभावका एक दृष्टान्त—एक बच्चोंकी कहानी प्रसिद्ध है कि बाप बेटा घोड़ेको लिए जा रहे थे तो पहिले तो घोडे पर बेटा बैठा, जिस गाँवसे वे बाप बेटे निकले उस गांवके लोग कहने लगे कि यह हट्टाकट्टा बेटा घोडे पर चढ रहा है और बापको पैदल चला रहा है। आगे चलकर बेटा बाप से बोला कि घोडे पर आप बैठो हम पैदल चलेंगे क्योंकि लोग हमारा नाम धरते हैं। जब दूसरे गाँवसे घोडे पर बाप बैठा हुआ निकला तो लोग कहने लगे कि अपना तो हट्टाकट्टा बैठा है घोडेपर, सुकुमाल बेटेको पैदल चला रहा है। आगे चलकर विचार किया कि चलो दोनों बैठकर चलें क्योंकि लोग नाम धरते हैं। तीसरे गांवसे दोनों उस घोडेपर चढे हुए निकले तो लोग कहते हैं कि मालूम होता है कि यह घोड़ा मांगेका है क्योंकि दोनोंके दोनों हट्टे कट्टे इस पर बैठे हैं, आगे चलकर दोनों उतरकर पैदल चलने लगे तो चौथे गांवके लोग कहते हैं कि ये दोनों बेवकूफ हैं, यदि पैदल ही जाना था तो घोडेको लेकर क्यों चलते ? अब बतावो वे और क्या काम करें ? चार काम तो कर लिए। अब ५ वां काम क्या करें ? क्या घोडेको अपने कधोंपर ले जायें ? तो किस किसको तुम खुश करोगे ?

स्वहितदर्शनका कर्तव्य—यह बुद्धि तो बिलकुल तज दो कि हम दूसरोंको खुश करनेके लिए काम करें अपना धर्म देखो, अपनी शान्तिका उपाय देखो, जैसेमें शान्ति मिले वैसा कार्य करो। हमारे ये रागद्वेष विषय कषाय हट जायें, शुद्ध ज्ञानप्रकाशकी प्राप्ति हो, यह काम करनेका कर्तव्य है। इन जीवोंके नाना इस प्रकारके कर्मोंके उदय है तब भिन्न-भिन्न कर्मोदयके कारण उनमें भिन्न-भिन्न इच्छा होना अनिवार्य ही है, कारण भी तुम दूसरे जीवोंसे वचनविवाद करके अपना भला नहीं कर सकते हो।

सर्वतोषक वचनोंका अभाव—और फिर देखो—जीवमें नाना प्रकारकी लब्धियां हैं जिससे यह जीव भिन्न-भिन्न प्रकारका ज्ञान रखता है। क्षयोपशम सबका जुदा-जुदा है। कोई किसी प्रकार जानता है कोई किसी प्रकार जानता है जीवके जाननेकी जानियां भी नाना प्रकारकी हैं। जो कुछ भी आप दूसरोंको समझावोगे वह उनके लिए फिट नहीं हो सकता। सबकी जुदी जुदी योग्यता है। कभी-कभी तो कोई श्रोता वक्ताको यों परेशान कर देते कि आप कठिन बहुत बोलते हैं, कुछ सरल कीजिए और कोई लोग कहते हैं कि आप कहानी किस्से आदि ही कहते हैं, कोई तत्त्वकी ठोस बात कहो। अब बतावो वक्ता क्या करे ? जिसकी जैसी योग्यता है, जिसका जैसा क्षयोपशम है, कर्मोंका उदय है वैसा परिणमन होता है। वचन विवाद करना व्यर्थकी चीज है। इस कारण जो परमार्थवेत्ता पुरुष हैं उनका न तो सधर्मीजनोंसे विवाद करना चाहिए और न अन्य धर्मात्माओंके साथ विवाद करना चाहिए।

साधर्मीहीलनकी निर्जराहेतुता—कभी कोई सधर्मीपुरुष अपना कितना ही अपमान करें तो समझो कि वह प्रसंग भी हमारे भलेके लिए है। शास्त्रोंमें आया है कि सधर्मीजनोंके द्वारा यदि हीलन, पराभव होता है तो वह कर्मनिर्जराका कारण है। यदि कुछ समतापरिणाम हो सके तो कितना ही पराभव हो तो वह निर्जराका ही कारण है। इसलिए जो विवेकी पुरुष होते हैं वे अपने-अपने विचारकी प्रकृति माफिक

धर्मकार्योंको कर रहे हैं, अन्य जन तो कहने वाले नाना प्रकारके हैं, दोष देने वाले बहुत हैं। आप कोई सा भी काम करिये। किसी संस्थाका कोई पद संभाले हो या किसी स्कूल मंदिर आदिका कार्य करते हो तो इसमें दोष देने वाले बहुत मिलेंगे और कहीं-कहीं तो उनका पराभव भी होता रहेगा लेकिन यह पराभव, यह तिरस्कार, यह हीजन यदि समतापूर्वक सहनेकी क्षमता बन गयी और धर्मात्माओंमें यह क्षमता रहती भी है तो वह तो कर्मोंकी निर्जरा करने वाली है।

परोपकारसे भी स्वहितका लक्ष्य—भैया ! कुछ भी करो वह आत्महितकी दृष्टिसे करो। मुझे अपना उपयोग विशुद्ध रखना है। घर गृहस्थी कुटुम्बजनोंके मोहमें हमारा उपयोग विशुद्ध नहीं रह सकता। इस कारण दूसरे जीवोंका उपकार करने लगें। जिनमें मोह है ऐसे घरकी सेवा, स्त्री पुत्रकी सेवा खुशामद कौन मूढ नहीं करता है ? उसमें पाप ही लगता है। इस पापको धोनेके लिए यह कर्तव्य है कि जिनमें हमारा मोह नहीं है, जिन्हें हम अपना कुटुम्बी नहीं मानते ऐसे जनोंकी भी सेवा करने लगे, इससे वह पाप कटेगा। अन्य जनोंकी सेवा शुश्रूषासे इसने कितना आत्महित किया और जिनमें मोह बसा है उनकी सेवा शुश्रूषासे इसने अपना कितना अहित किया है, इस मर्मको विवेकी पुरुष ही समझ सकते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष न तो सधर्मीजनोंके साथ विवाद करते हैं और न अन्य धर्मी पुरुषोंके साथ विवाद करते हैं। इस गाथामें जो तीन बातें कही हैं कि नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं और नाना लब्धियां हैं उसके इस प्रकरणमें यह भाव है कि वचनविवाद उनसे इस कारण नहीं करना चाहिए।

जीव, कर्म व लब्धियोंका नानापन—अब भेदप्रभेदकी दृष्टिसे इसका अर्थ देखो। जीव नाना हैं, कोई मुक्त है, कोई संसारी है, अभव्य है, भव्य है, त्रस है, स्थावर हैं, दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, नाना प्रकारके जीव हैं, इनमें कोई भव्य कहलाते हैं, जो भविष्यकालमें अपना स्वभाव अनन्तचतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादिक गुणोंका विकास करनेके योग्य हो वह भव्य होता है और जो अपने ज्ञानादिक गुणोंका विकास करने के योग्य न हों उन्हें अभव्य कहते हैं। कर्म भी मूलमें ८ हैं, भावकर्मको भी कर्म कहते हैं, शरीरको भी नोकर्म कहते हैं। उन ८ कर्मोंको द्रव्यकर्म कहते हैं। इनके उत्तरभेद १४८ हैं और इनमें भी तीव्र फल देनेकी शक्ति, मंद फल देनेकी शक्तिकी नाना डिग्रियोंसे अनेक भेद हैं। जीवके सुख आदिककी प्राप्तिकी लब्धियां भी अनेक हैं, क्षयोपशम अनेक हैं, अथवा काललब्धिया, विशुद्ध लब्धिया देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि आदिक अनेक लब्धियाँ हैं किन्तु इन सबमें चूँकि वचनविवाद न करनेका शिक्षण किया है तो हमें तो यों देखना चाहिए कि जब जीवके नाना व्यक्तियां हैं, उनकी नाना इच्छाएँ हैं, उनमें नाना ज्ञानकी योग्यताएँ हैं तो हम वचन विवाद करके कुछ लाभ नहीं उठा सकते हैं, इस कारण हमें जीवोंके साथ वचनविवाद न करना चाहिए।

वचनविवादसे हानि होनेके कारण मौनव्रतसे आत्मसाधनाका उपदेश—सधर्मियोंसे विवाद करनेमें धर्मकी हानि है और अन्य धर्मीजनोंके साथ विवाद करनेमें कष्टकी सम्भावना है इस कारण अपने आपको शान्त रखनेके लिए वचन विवादका परिहार करना और कोई यदि जिज्ञासु है, भली प्रकार उसकी परीक्षामें सफलता पायी है तो केवल हित कामनासे आप कुछ बोलें, यहां योगीश्वरोंको मौन व्रतसहित निज परम आवश्यक काम करनेका उपदेश दिया गया है। उससे हमें भी यह शिक्षा लेना चाहिए कि हम भी वचन-विवाद न किया करें और अपने वचनोंको संयमित करके हितमित प्रिय वचन बोलें। जिससे आत्महित हो, इस प्रकार बोलनेका यत्न करें।

लद्धूण णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ॥१५७॥

परमतत्त्वकी आराधनाकी विधिका प्रतिपादन—परम आवश्यक कार्यकी व्याख्या कर चुकनेके बाद अब

कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस गाथामें इस सहज तत्त्वकी आराधनाकी विधि बता रहे हैं। अपने आपमें अपने स्वभावसे जो अपना स्वरूप है उस स्वरूपकी आराधना किस प्रकार की जाती है ? इस पद्धतिको कह रहे हैं। जैसे कोई दरिद्र पुरुष किसी बड़ी निधिको पा ले तो उस निधिके फलको किसी रहस्यभूत स्थानमें एकान्त स्थानमें गुप्त वृत्तिसे अनुभव करते हैं, इस ही प्रकार इस जीवको जो कि अनादि कालसे परकी आशा रखकर दीन दरिद्र होता चला आ रहा है कदाचित् यह अपनी ज्ञाननिधिको पा ले तो ज्ञानी होकर यह भी समस्त परसम्बन्धोंको त्यागकर एकान्त निज स्वरूपमें स्थित होकर बड़ी गूढ़ वृत्तिसे अपनी इस ज्ञाननिधिके फलका अनुभव करता है।

परके आकर्षणमें आत्माराधनाका अभाव—इसमें यह बात बतायी गयी है कि ज्ञाननिधिका भोग परकी ओर आकर्षित रहनेमें न हो सकेगा। संसारका बचनव्यवहार बनाये रहें तो वहां इस ज्ञाननिधिका भोग न किया जा सकेगा। यह तो सबसे विरक्त होकर एक निज स्वभावमें ही विशिष्ट धुन बने तो इस ज्ञानप्रकाशका अनुभव होता है। लोकमें जो भी अपनी ख्याति नामवरी प्रशंसा आदिक चाहता है वह तो दरिद्रता प्राप्त करनेका उपाय है। आत्मामें अतुल निधि पड़ी हुई है जिसकी दृष्टिमें ही अतुल आनन्द बरसता है जिसने किसी पर-चीजमें बाह्यमें कुछ भी वाञ्छा की वह अपने इस अतुल आनन्दरसको नहीं भोग सकता है।

सत्यस्वरूपके ग्रहणके आग्रहका अनुरोध—लोगोंकी आदत होती है कि जिस चीजमें आनन्द मालूम पड़ा उसकी हठ पकड़ जाते हैं। जैसे स्वादिष्ट भोजन करने वाले कोई धनिक पुरुष होते हैं, वे अपने मनमें ठान लेते हैं कि हमको आज अमुक चीज खाना है, तुरन्त बनना चाहिए, झट उसके बनवानेका उद्यम करेंगे। उनको भीतरमें यह गौरव व गारव पड़ा हुआ है कि मैं समर्थ हू, मैं जो चाहू वह तुरन्त होना चाहिए। भैया ! जैसे अन्य अनेक नुक्सान करके भी अपने मनचाही बातकी सिद्धिमें हठ कर ली जाती है आनन्द पानेके ख्यालसे तो जरा इस ओर भी दृष्टि दो कि इन विनश्वर, असार, अहित भिन्न चीजोंकी हठमें तो बुद्धिमानी है नहीं। यह काहेका सुख जो थोड़ी देरको हो और पराधीन बनकर हो, व अनेक विडम्बनाओंसे परिपूर्ण हो। परवस्तुओंके प्रेमसे पाया हुआ सुख कौनसा सुख है ? एक शाश्वत आनन्दकी हठ तो बनावो, मैं तो अपने आपके सहज शुद्ध आनन्दको ही पाउगा, मुझे न चाहिए ये बाह्य जगजाल। इन बाह्य पदार्थोंसे दृष्टि हटाकर केवल अपने आपमें अपने स्वरूपको निरखकर अद्भुत आनन्दकी हठ बनावो।

क्लेशकारी पुरानी कुटेवोंके बदलनेकी सम्मति—लोग नुक्सान पा पाकर अपना रोजिगार, व्यापार, आजीविकाके साधन बदलते रहते हैं। इसमें ठीक मुनाफा नहीं मिला, बहुत दिन हो गए टोटा सहते सहते, अब इस कामको बंद करके कोई नया काम देखें। अरे अनादिकालसे परद्रव्योंके प्रेममें टोटा ही टोटा सहते आये, उस व्यापारको तो नहीं बदलते। आँखों स्पष्ट दीखता है, लोग जन्मते हैं, मरते हैं, सब कुछ छोड़कर चले जाते हैं। जब तक यहाँ जीवित हैं तब तक भी धनसे, परिजनसे कुटुम्बसे किसी को शान्ति नहीं मिलती है, क्लेश ही क्लेश है। दूसरोंके पुण्यके चाकर बनकर उनकी सेवामें जुट रहे हैं, इतना साफ देख भी रहे हैं किन्तु मोहको त्यागनेकी और अपने आपमें विराजमान् प्रभुकी उपासनाकी अभिलाषा नहीं होती है। कैसा मोहका विकट भ्रम पड़ा हुआ है ?

रागकी विपदा—भैया ! एक तो राग करना ही विपदा है और फिर रागमें भी राग बनाया जाय, यह राग न मिटे, इस रागसे ही मेरा बड़प्पन है, इससे ही मेरी शोभा है यों रागका राग न मिटना यह इस जीवपर पूर्ण विपदा है। हम आप एक बड़ी यात्रा करते चले जा रहे हैं। इस यात्राके बीचमें एक मनुष्यभवका भी स्टेशन मिल गया है, इस पर यह गाड़ी रुकेगी नहीं। अपना समय पाकर यह आगे भी

चली जायेगी, यह यात्रा ही करना रहेगा। इसकी यह विषम यात्रा तब समाप्त होगी जब इसे निज विश्रामगृह मिल जाय जो निर्बाध हो। वह विश्रामगृह है मोह रागद्वेषसे निवृत्त होकर शुद्ध ज्ञानप्रकाशमें मग्न हो जाना। यह स्थिति जब तक न मिलेगी तब तक जगह-जगहकी यह भटकना बनी रहेगी।

बाह्यमें अरम्यता—लोग सोचते हैं कि बड़ी प्रतीक्षासे ये भोगके साधन मिले हैं सो हर्षमग्न होकर अपने आपको भूलकर उन्हें भोग लें। अरे जो भोग मिले हैं उनसे भी कई गुणे भोग अनन्ते बार मिल चुके हैं पर तृप्ति किसी भी भवमें नहीं हुई। इस जीवनमें ही देखलो किसी भोगके बाद क्या तृप्ति हो जाती है? अरे बाहरी चीजे तो ज्योंकी त्यों बनी हुई हैं, उन्हें भोगा क्या है पर खुद विडम्बनामें रह गए हैं। हम दूसरेको क्या भोग सकते हैं, बाह्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि रखकर कोई निज प्रभुकी आराधना नहीं कर सकता है। कल्याणके लिए बड़ा त्याग चाहिए, बड़ी उदारता चाहिए, बड़ी तपस्या चाहिए। जब तक उदारता न प्रकट होगी, परद्रव्योंसे भिन्न अपने आपकी आराधनाका जब तक यत्न न होगा, निर्मलता तब तक न आयेगी, शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है।

मोहमें विडम्बना—अहो यहाँ जगतके अनन्ते जीवोंमेंसे दो चारको अपनाकर कैसा विडम्बित बखेड़ा बना लिया है, गृहस्थी है, व्यवस्था है, करना पड़ता है, पर लोग करना पड़ता है इस भावसे तो नहीं करते, उनकी तो यही दृष्टि है कि मेरा जो तन है, मन है, धन है वह सब इन कुटुम्बियोंके लिए है। इस ही धुनमें ये अपने तन, मन, धन, वचन, सबका दुरुपयोग कर रहे हैं। यह बहुत बड़ी विडम्बना है। रहना तो कुछ है नहीं, पर साथ ही पाप बंध कर जाना होगा। उसके फलमें दुर्गति ही सहनी पड़ेगी। सामर्थ्य है जरा इसलिए उद्दण्डता करते हैं, मनको नहीं रोक पाते हैं, मनको वशमें नहीं करते हैं। कषाय-वश ही ऐसा समझते हैं कि जो हम करते हैं ठीक है, लेकिन इसका फल कोई दूसरा भोगने आयेगा क्या? बताओ तो। जो स्वच्छन्द, उद्दण्ड होगा, पतनकी ओर बना होगा, फल तो वही भोगेगा। हमारा कर्तव्य है कि हम मोहमें न बह जायें। अरे वे दूसरे प्राणी हैं, उनके भी उदय है। यदि उन्हें कोई कष्ट आता है तो उनके ही उदयसे आता है, मैं उनमें क्या सभाल करूँगा? और यदि वे कुटुम्बीजन आनन्द से रहते हैं तो वे अपने पुण्यके उदयसे आनन्दसे रहते हैं, उनको हम आनन्द नहीं दे सकते हैं।

आत्मरमण—यह मैं आत्मा अकेला हू, असहाय हू, अपने भावोंको ही गूँथता रहता हूं। भावोंके सिवाय हमारे पास और कुछ धन नहीं है। देह तक भी तो हमारा नहीं है, अन्य सम्पदाकी तो बात ही क्या कहें? यह तो केवल भावात्मक पदार्थ है, इसके पास तो केवल भाव ही धन हैं। उत्तम भाव बना लिया तो इसकी रक्षा है, निकृष्ट भाव बना लिया तो इसकी बरबादी है। यह ज्ञानी पुरुष अनन्त आनन्द के फलको देने वाली इस ज्ञाननिधिको पाकर गुप्त ही गुप्त अपने आपमें ही चुपचाप मौनवृत्तिसे इस ज्ञाननिधिका अनुभव करता जाता है और प्रसन्न रहता है। इसे बाह्य विकल्प परेशान नहीं कर पाते हैं।

परमतत्त्वकी आराधनाकी विधिपर एक दृष्टान्त—दृष्टान्तमें बताया है कि जैसे कोई दरिद्र अनेक वर्षों से बड़ी दरिद्रताके दुःख सहता आ रहा है, लोगोंसे भीख माग कर अपनी उदरपूर्ति कर पाता है, ऐसी दरिद्रताको कदाचित् सुकृतके उदयसे कोई निधि कहीं मिल जाय तो उस निधिके फलको स्वयं सुरक्षित स्थानमें बैठकर अत्यन्त गूढ़ वृत्तिसे चुपचाप देखकर उसका उपयोग कर करके आनन्दका अनुभव करता है, ऐसे ही सहज तत्त्वके मर्मका ज्ञान करने वाला यह जीव अनादि कालसे रागद्वेष मोह प्रसंगोंमें रहकर दरिद्रताको भोगता चला आया है। आनन्दकी निधिका इसे गौरव नहीं रहा और बाहरी पदार्थोंसे आशा करके भीख मागकर गुजारा किया। अब यह ज्ञानी जीव जब कभी निकटभव्यता आये, संसार संकटोंसे से छूटनेका अवसर पाये, तब इसमें सहज ज्ञान आदिक गुणोंकी दृष्टि जगी, सहज वैराग्य सम्पदा मिला। ज्ञानका काम जानना ही तो है ना। न जाने बाहरको, अपने आपके अन्दरको ही जानले, इसको

आत्मज्ञानकी यों निधि मिली, सहज वैराग्यकी सम्पदा प्राप्त हुई और जो परम गुरु हैं, उन तत्त्वज्ञानी विरक्त गुरुवोंके चरण कमलमें रहकर उनकी सेवा भक्तिके प्रसादसे सहजज्ञान निधि पायी तो वह अपने आपमें अन्त' गुप्त रहकर उस ज्ञानामृतका पान करके तृप्त रहा करता है।

अध्यात्मसाधनाकी विधिकी गूढ़ता—यहाँ जान बूझकर छुपकर चुपचाप ज्ञानानुभवकी बात करनेको नहीं कह रहे हैं किन्तु विधि ही उसकी ऐसी है। दूसरोंको देखकर, दूसरोंमें बनकर, दूसरोंमे व्यवहार करके ज्ञानामृतका पान किया ही नहीं जा सकता है। कहीं यह बात नहीं है कि लोगोंसे छुपकर, डर कर; कहीं कोई देख न ले, कहीं कोई छुड़ा न ले, इस भयसे यह ज्ञाननिधिका भोग करता हो। विधि ही यही है कि लोगोंको जताकर लोगोंके प्रति आकर्षित होकर लोगोंमें वचनव्यवहार बनाकर इस ज्ञाननिधिका भोग नहीं किया जा सकता। जिस ज्ञाननिधिके अनुभवसे दृष्टिसे ससारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा मिलता है।

परजनततिपरिहार—ज्ञाननिधिको पाकर ज्ञानीके यह परजनोंका समूह छूट जाता है, परजनके मायने जिस प्रकारका उसका आशय है ऐसा आशय जिसके न हो वे ही परजन कहलाते हैं। कोई आपके मित्र हों और उनमे कोई अब आपसे विपरीत हो गया हो तो आप कहते हैं कि अब वह हमारा नहीं रहा। गैर हो गया। अरे वह तुम्हारा कब था? मोहकी कल्पनामें उसे अपना मान रहे थे। जब कषायमें कषाय न मिली, विरुद्ध आशय हो गया तो कहते हैं कि अब यह मेरा नहीं रहा, गैर हो गया, इसी प्रकार ये ज्ञानीजन भी गैरोंमें बचकर रहते हैं। ज्ञानियोंके लिए गैर कौन है? जो ज्ञानहीन हैं, विपरीत आशय वाले हैं, आत्मस्वरूपकी जिन्हें खबर नहीं है ऐसे मनुष्योंसे बचकर रहते हैं। घृणाकी वजहसे नहीं किन्तु अज्ञानीजनोंके बीचकी वासना ध्यानमे बाधक होती है। अरे जो हमने ध्यान बनाया है आत्मस्वरूपकी साधनाका, उसमे हमे जहाँ-जहाँ लाभ मिलेगा वहाँ-वहाँ ही तो हमारी प्रवृत्ति बनेगी। मोहीजनोंके बीच बस करके इस आत्माको लाभ क्या मिलता है? वही अज्ञान, वही रागद्वेष जग बैठता है। तो जो स्वरूप से विकल हैं ऐसे परजनोंका समूह ध्यानमें बाधाका कारण है। ऐसा जानकर ज्ञानी इनका त्याग कर देते हैं और अपने आपमें ही अपनी ज्ञानानुभूतिको अपनेमें से भरा-भराकर पान करके तृप्त रहते हैं।

लौकिक आशयसे गृहीत धर्मवेशसे अप्रभावना—इस गाथामें सहज परमतत्त्वके आराधनाकी विधि बताई गई है। दिखावेसे धर्म न होगा। दिखावट, बनावट, सजावट इनसे धर्म नहीं है, किन्तु अपने-आप अपनेको देखा जाय, अपने आपमें अपनेको स्वय अनुभवा जाय. अपने आपमें अपने भीतर सहज सजावट हो जाय तो वहाँ धर्म मिलेगा। किसीको दिखानेसे धम नहीं मिलता है। इस बुद्धिको तो त्याग ही दो कि मैं बताऊ दूसरेको कि मैं बहुत धर्मात्मा हू, मै अच्छा सयम पालता हू। दूसरोंको दिखानेका रंच भी चित्त बनाया है तो समझिये उसपर पूरा मोहका अधकार छाया है। ऐसी कलुषता बहुत बड़ी कलुषता है और वह तो धर्मव्रत भेष सयमकी साधना करके भी हँसी कराता है क्योंकि जिसको अपने आपमें आत्म-हितकी अभिलाषा नहीं है, लोगोंके दिखाने, बताने का ही ख्याल है और इसको ही मौज माना है उसकी प्रवृत्ति हास्यास्पद होगी। वह बढ़-बढ़कर बाते करेगा, बढ़-बढ़कर आगे आयेगा, लोगोंको सुहायेगा नहीं। वहाँ तो न बाहरमे धर्मकी प्रभावना हुई और न उसही में खुद धर्मकी प्रभावना हुई।

ज्ञानीके जीवनका लक्ष्य—हे आत्मन्! तू इस लोकमें अकेला है, असहाय है, खुद ही खुदके लिए तू सहाय है, तू बाहरमें किसीसे कुछ न चाह। चाहकर होगा भी क्या? तू किसको क्या बताना चाहता है? तेरेको तो कोई मानना ही नहीं है। सभी जीव अपने अपनेको माननेमें लगे हुए हैं। स्वरूप ही ऐसा है। तेरेको तो कोई पूछता ही नहीं और तू ऐसी प्रवृत्तिसे चलता है 'कि मान न मान मैं तेरा मेहमान, ऐसी जबरदस्ती किसी परवस्तुपर थोपी नहीं जा सकती है। तू अपनी सभाल कर, अपनेको प्रसन्न रख।

अपने आपमे अपने आपका पुरुषार्थ पा। दूसरोंको खुश करनेके लिए ही तू अपना जीवन मत समझ। अपने को न्यायपूर्ण निष्पक्ष परमात्मतत्त्व रसके भोगनेके लिए प्रयोजक मान कि मेरा जीवन इस आत्म-साधनाके लिए है।

सबको राजी करनेकी अशक्यता—एक सेठके चार बालक थे। ५ लाखका धनी था। ठीक न्यायपूर्वक एक-एक लाख बांट कर दिया गया। सेठने भी अपने लिए एक लाख ले लिया। कुछ दिन बाद सेठने अपने सभी लड़कोंसे कहा कि अपन लोग शान्तिपूर्वक न्यारे हो गए, कोई बाधा नहीं होने पायी, अब अपन ऐसा करें कि सभी बेटे बिरादरियोंको प्रीतिभोज करें। तो सबसे पहिले छोटे लड़के ने बिरादरीके लोगोंको प्रीतिभोज कराया। उसने ८, १० मिठाई बनवायी। तो बिरादरी के लोग जीमते जावें और कहते जायें कि मालूम होता है कि छोटा बेटा तो अधिक प्यारा होता ही है सो इसके पिताने इसे ही सारी जायदाद सौंप दी है, इसीसे खुशीमें यह ८, १० प्रकारकी मिठाई सबको खिला रहा है। उससे बडे ने प्रीतिभोज किया तो उसने सिर्फ दो ही मिठाई बनवायी। तो बिरादरीके लोग खाते जायें और कहते जाये कि यह तो चालाक होशियार निकला, इसने तो दो ही मिठाई बनवायी। जब उससे बडे तीसरे ने प्रीतिभोज करवाया तो उसने मिठाई का नाम भी न लिया, सीधे पूड़ी और साग बनवाया, बिरादरीके लोग जीमते जायें और कहते जायें कि इसने तो मिठाईका नाम भी नहीं लिया, मिठाईका एक दाना भी जीभ पर रखनेको नहीं बनवाया। जब चौथे ने प्रीतिभोज करवाया तो उसने सीधी चनेकी दाल और रोटी बनवाई, पूड़ी साग तक का भी नाम नहीं लिया, तो बिरादरीके लोग जीमते जायें और कहते जायें कि यह सबसे दुष्ट निकला। यह सबसे बड़ा था इसीके हाथमें सब कुछ था, सब तो धर लिया होगा, पर खिलानेमें पकवान तकका भी नाम नही लिया।

अपनी परमार्थ प्रसन्नतामें लाभ—अरे भैया! थोडे ही लोग तुम्हारे अनुकूल बोलेंगे, बाकी सब प्रति-कूल बोलेंगे। तुम अपनी धुन अपनेको प्रसन्न रखनेकी बनावो। हाँ ऐसा करो कि किसी पर अन्याय न हो, क्योंकि अन्यायके परिणामसे तुम्हारा ही घात है। तुमसे कोई पापका काम न बने क्योंकि पापप्रवृत्ति से तुम्हारा ही घात है। तुम अपने आपकी रक्षाके लिए अपनी प्रवृत्ति बनावो, तुम अच्छी प्रकार चलोगे तो तुम्हारे वातावरणमे जो जो भी आयेगा उसका भी भला होगा, और तुम स्वयं खोटी रीतिसे चलोगे तो न खुदका ही भला कर सकोगे और न दूसरोंका भला कर सकोगे। अपने आपकी सुध रक्खो। जैसे कोई लौकिक पुरुष पुण्योदय आने पर निधि मिल जाय तो उसे औरोंका सग छोडकर कैसा गुप्त होकर उस निधिका भोग करता है, ऐसे ही तू ज्ञाननिधि पाकर दूसरोंका सग त्यागकर गुप्त रूपसे अपने आपकी ज्ञाननिधिका पान कर।

शुद्ध अनुभवके आनन्दके पात्र—जो पुरुष सर्व परिग्रहोंको जो कि जन्म मरणके कारण है, त्यागते हैं, और सहज वैराग्यको जो धारण करते हैं वे इस सहज आनन्दके अनुभवके कारण अनाकुल रहते हैं और अपने आपकी शक्तिमें अपने आपको डाटे रहते हैं, बन ए रहते हैं। जिनके मोह दूर हो जाता है वे महापुरुष इस समस्त लोकको जीर्ण तृणकी तरह देखते हैं। जैसे जीर्ण तृणसे हमारे जीवनका कोई काम नहीं सधता, ऐसे ही इन समस्त विभावोंसे मेरे आत्माका कोई काम नहीं सधता है। ये समस्त पर-समागम असार हैं, उनसे प्रीतिको तजकर ज्ञानी पुरुष अपने आपमें गुप्त ज्ञाननिधिका अनुभव करते रहते हैं।

सव्वे पुराण पुरिसा एव आवासय य काऊण।
अपमत्तपहुदिठाण पडिवज्जय केवली जादा ॥१५८॥

परमावश्यकके फलके प्रतिपादनसे पुराणपुरुषोका उदाहरण—परम आवश्यक अधिकारकी यह उपसहार

रूप अन्तिम गाथा है परम आवश्यकके प्रसादसे निश्चय अध्यात्म विधानसे परमआवश्यक कार्यको करके स्ववश पुराणपुरुष अप्रमत्त आदिक गुणस्थानोंको प्राप्त करके केवलज्ञानी हुए हैं। इस गाथामें आवश्यक कार्यका फल बताया गया है। जो पुराण पुरुष निर्वाण पधारे वे जीव भी अनादि कालसे मोह वासनामें ग्रस्त हुए मिथ्यात्वमें ही पग रहे थे, अनन्तकाल व्यतीत हो चुका, मिथ्यात्व भावमें वे जीव परवस्तुवोंसे पृथक् चित्स्वभावमात्र अपने आपकी श्रद्धा नहीं कर पाये थे। यद्यपि उन आत्मावोंमें किसी प्रकारकी विपदा नहीं थी, लेकिन भ्रमवश अपनी कल्पना बढ़ा बढ़ाकर अपने आपमें भावात्मक बोझ लादते चले जा रहे थे। समवितव्यतासे उन्हें तत्त्वश्रद्धा हुई व परमावश्यक के प्रतापसे कैवल्य प्राप्ति हुई।

मोहभारसे पीडित जीवकी दशा—मोहका भावात्मक बोझ विकट बोझ है जिस बोझके कारण इस आत्माकी कुछ आगे गति ठीक नहीं हो पाती है। यह धन सम्पदाको अपना समझता है जो प्रकट भिन्न पदार्थ हैं, अचेतन हैं, जिनका आलम्बन लेने पर केवल विह्वलता ही साथ लगती है, ऐसे इन असार भिन्न पदार्थोंको अपना मानते हैं, परिजन मित्र जनोंको अपना समझते हैं। हैं प्रकट भिन्न जीव, उनकी कषाय उनके आधीन हैं, उनके चेष्टा उनमें है, उनका अनुभव उनमें है लेकिन कषायवश यह जीव उन पर-जीवोंको भी अपना मानता है, इस शरीरको भी अपना मानता है। शरीरसे थोड़ा बन्धन भी लगा हुआ है। निमित्तनैमित्तिक बन्धन जिससे कुछ और विशेष यह देहको आत्मा मानता है। अपने आपमें उत्पन्न हुए रागद्वेष मोह भावोंको भी अपना स्वरूप समझता है। कोई पुरुष किसी कषायमें बाधा डाले तो उसे वह बैरी सा मालूम होता है। इससे सिद्ध है कि इस जीवने अपने कषायपरिणामको ही अपना रक्खा है।

मोही जीवके विकल्पजालोंकी अपनायत—अब जरा रागादिक भावोंसे भी और अंत चलिए तो जो कल्पना-जाल होते हैं उन विकल्पोंको पर्यायबुद्धि जीवने अपना रक्खा है। कोई यह पुरुष ज्ञानकी बात या कोई भी बात रक्खे, वहाँ इसका कोई दूसरा विरोध करे अथवा कहना न माने तो वह दुःखी हो जाता है। यही कल्पनावों को अपनाने की निशानी है। कदाचित् यह जीव कुछ सत्य ज्ञान, केवलज्ञान आदिकी भी दृष्टि बना ले, ज्ञानमें आये कि केवल ज्ञानादिक शुद्ध पर्याय ही इस जीवको शरण है तो वह उस शुद्ध पर्यायको ही अपना स्वरूप समझता है। यद्यपि शुद्ध पर्याय स्वभावके अनुरूप है, लेकिन मैं शाश्वत चित्स्वभावमात्र हूँ, जिसका शुद्ध विकास अनन्त ज्ञानादिक परिणमन हुआ है यह भान नहीं होता। यों इस जीवका काल मिथ्यात्वमें ही व्यतीत हुआ।

निकटभव्यताका परिपाक—जब कभी निकट भव्यत्व आये तो इसे वस्तुस्वरूपका यथार्थज्ञान होने लगता है। ओह मैंने व्यर्थ ही इस अनात्मभावमें, परपदार्थोंमें यह मैं हूँ, यह मैं हूँ, इस प्रकारकी वासना करके इतना समय खोया और विकलताका अनुभव किया, मैं आत्मा एक शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ। मेरा किसी भी परपदार्थसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। मैं इस ब्रह्माण्डमें, लोकाकाशमें केवल एक अकेला ही स्वतन्त्र होकर अपने आपका परिणमन किया करता हूँ। इसका बोध न रहा था, इसी कारण संसारमें भटकना पड़ा। ज्ञान होता है, सम्यक्त्व जगता है और इसके पश्चात् फिर इसही शुद्ध स्वरूपमें स्थिरताके लिए नाना व्रत आदिकका भी परिणमन करता है। यह जीव छठे गुणस्थान तक प्रमत्त माना गया है अर्थात् कुछ कुछ बाह्य बातोंका प्रसग रहा करता है। प्रमत्त गुणस्थान केवल अकेला नहीं होता। प्रमत्त और अप्रमत्त इन छठे और ७ वें गुणस्थानका परिवर्तन होता रहता है।

ज्ञानीकी सातिशय अप्रमत्तता—यह जीव जब सातिशयअप्रमत्त होता है अर्थात् रूकल्प विकल्प व्यवहार, इन सबका परित्याग करके केवल शुद्ध ज्ञायकस्वरूपमें स्थिर होता है तो इसके बाद यह अप्रमत्तता और भी सातिशय हो जाता है, फिर क्षपक श्रेणीमें बढ़कर यह जीव निश्चय धर्मध्यान और निश्चय

शुक्लध्यानकी उत्कृष्टता बनाकर क्षीणमोह हो जाता है। जितने भी पुराण पुरुष निर्वाणको पधारे हैं वे चाहे परके उपदेश बिना स्वय स्वय बुद्ध होकर केवलज्ञानी हुए हों और चाहे दूसरोंका उपदेश पाकर बोधित बुद्ध बनकर केवलज्ञानी हुए हों, सभी इस निश्चय परम आवश्यकको करके ही केवलज्ञानी हुए हैं।

बाह्य और अन्तः आवश्यक—व्यवहारमें आवश्यक काम बताया है साधुवोंको समता, वंदना, स्तवन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, जिसका कि विशेष वर्णन पहिले चारित्राधिकारमें आ चुका है। इस षड् आवश्यकको करके भी यह ज्ञानी श्रवण साधु उन विकल्पोंका परिहार करके केवल एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपने आत्माके ही वश है। इस ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वमें ही उपयोगको स्थिर करना सो निश्चय परमावश्यक कार्य कहलाता है। यह आत्माके आधीन आत्माका परमपुरुषार्थ श्रमणके सुखका कारण है। जगत्में बाह्यमें कुछ भी कर्तव्य आत्माकी शान्तिका कारण नहीं है।

मोहनिद्राके स्वप्नके दृश्य—जैसे स्वप्नमें राज्यपद देख लेवे और उसमें मौज माने तो वह उसकी केवल कल्पना की बात है, राज्य तो रक्खा नहीं है। इसही प्रकार मोहकी नींदके इन लम्बे स्वप्नोंमें जो किसी भवमें ५०–६० वर्ष तक स्वप्न आते हैं किसी भवमें और भी अधिक काल तक आते हैं। इस मोह को नींदके स्वप्नमें यह जीव राज्य, श्रीमत्ता, प्रतिष्ठा, प्रशसाके स्वप्न देख रहा है, पर ये भी सब कल्पना को चीजें हैं। यह आत्मा आकाशकी तरह निर्लेप अमूर्त शुद्ध चिदात्मक है, इसमें कहां धन है, कहां परिजन हैं, इसमें तो यह देह तक भी नहीं है। इस देह देवालयमें विराजमान यह प्रभु भगवान आत्मा अब भी इस देहसे भिन्न अपने आपमें निर्मल ही अपना स्वरूप रख रहा है, पर मोही जीव अपने प्रभुको मान नहीं सकता है, और इन अचेतन पदार्थोंसे ही भीख मागता रहता है अर्थात् इन पदार्थोंसे सुखकी आशा किए रहते हैं तो इसके लिए अन्य किसको दोष दिया जाय ?

अपनी करनी व भरनीमें परजीवकी अतत्रता—जो लोग किसी एक ईश्वरको जगत्का सुख दुःख देने वाला मानते हैं वे भी इस समस्या पर जीवकी करनीके फलपर जोर देते हैं, जब यह समस्या सामने आती है कि ईश्वर तो दयालु है, उसकी दृष्टिमें तो सब जीव एक समान होने चाहिएँ, सबको सुख दे, दुःख किसीको न दे, तो उन्हें भी यह कहना पड़ता है कि ये जगत्के जीव जैसा पुण्य अथवा पाप कर्म करते हैं उसके ही अनुसार उन्हें सुख दुःख आदि देते हैं। यद्यपि यह भी बात टिकने लायक नहीं है, क्यों कि ईश्वर दयालु है तो वह जीवोंसे पाप क्यों कराता है और पाप कराकर फिर उन्हें दुर्गति क्यों देता है, वह तो समर्थ है ना। यदि समर्थ नहीं है तो इसका अर्थ ही यह है कि ईश्वर भिन्न चीज है और ये जगत् के प्राणी भिन्न पदार्थ हैं, सभी पदार्थ अपने-अपने उपादानसे अपने आपमें परिणत हुआ करते हैं। कोई किसीको सुख अथवा दुःखका देने वाला नहीं है। यह जीव इस मोहकी नींदके स्वप्नमें कल्पनाएँ बना बनाकर अपने आपको परेशान किए रहता है। किसी दूसरे पदार्थमें रंच भी सामर्थ्य नहीं है कि कोई परपदार्थ मुझे परेशान कर सके। सारी परेशानीमें केवल इस खुदका ही अपराध है।

परमावश्यक आराधनाका प्रसाद—हमारे ये सब पुराणपुरुष तीर्थंकर आदिक परमदेव और भी जो स्वयंबुद्ध होकर अर्थात् स्वय ज्ञानी बनकर दूसरोंसे न सीखकर अपने ज्ञानके विशिष्ट क्षयोपशमसे स्वयं ही सब समस्यावोंको यथार्थ जानकर परम आवश्यक कार्यको करके मुक्तिमें पधारे हैं और जो ऐसे भी पुराणपुरुष हैं जिन्होंने दूसरोंका उपदेश प्राप्त करके अपनी ज्ञानगरिमा द्वारा आत्मतत्त्वको पहिचाना वे भी इस ही निश्चय परम आवश्यकको करके निर्वाण पधारे है। यह परमात्मा सकल प्रत्यक्ष ज्ञानका धारी है अर्थात् प्रभु अपने ज्ञानसे समस्त लोकके त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंको स्पष्ट जानता है, ऐसी प्रभुता उन्हें मिला है निश्चय परमावश्यक स्वरूप आत्माकी आराधनाके प्रसादसे।

प्रभुकी प्रभुता—भैया! प्रभुताका जब वर्णन होता है तो सबके यह अभिलाषा जग जाती है कि

प्रभुता हमें भी प्राप्त हो, ऐसे प्रभुका वैभव ही सर्वोत्कृष्ट वैभव है। जिसका ज्ञान समस्त पदार्थोंको जानता है, जिनके ज्ञानमें कोई भी पदार्थ बिना जाने हुए नहीं रह गया। जो है वह सबका सब ज्ञान है, और जब सबका सब ज्ञात है तो ऐसे ज्ञानमें व्याकुलता नहीं हो सकती है। व्याकुलता होती है अज्ञान हालत। में जहाँ सब ज्ञान है वहाँ कुछ चाह ही नहीं हो सकती है। मालूम है कि ऐसा ही है, ऐसा ही होता है। यह होगा फिर चाह क्यों करेगा? इस प्रभुको यदि आगामी समस्त कालकी बात आज भी ज्ञात है तो मानो वर्तमानमें ही रक्खी हुई हों, इस तरह स्पष्ट प्रतिभात है फिर चाह कहाँसे हो? चाह उसकी होती है जो चीज ज्ञात न हो, प्राप्त न हो। जिसके ज्ञानमें समस्त पदार्थ प्राप्त हैं उनकी चाह नहीं जग सकती है और इसी कारण प्रभु अनन्त सुखसम्पन्न हैं।

प्रभुताप्राप्तिके पुरुषार्थकी आदेयता—प्रभुकी प्रभुता जानकर भाव तो होता है कि संसारमें क्या रक्खा है? यहाँ विकट तो है जन्ममरणका क्लेश और साथ ही आज किसीसे राग किया, कल किसीसे राग किया, आज किसीसे द्वेष किया, कल किसीसे द्वेष किया, यों रागद्वेषके प्रवर्तनमें यह आत्मा झुलसता रहता है। यहां आनन्द नहीं है। प्रभु ही बनो, प्रभुता ही लावो, यह ही सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। भाव तो होता है, मगर प्रभुता पानेके लिए क्या पुरुषार्थ करना होता है, इसको भी समझो और उस पुरुषार्थको करो तो प्रभुता मिल सकेगी। प्रभुता पानेके लिए पुरुषार्थ है कैवल्यकी दृष्टि। कैवल्य शब्द बना है केवल से। केवल मायने ओनली, सिर्फ वही का वही। दूसरा उससे कुछ सम्बन्ध न हो, ऐसा बनना इसही का नाम है प्रभु होना।

कैवल्यसे शक्तिवृद्धिका स्वभाव—जो जितना केवल होता जायेगा उसमें उतनी शक्ति बढ़ती जायेगी। इन भौतिक पदार्थोंमें भी तो देखो। जब तक यह स्कंध है, अनन्त परमाणुवोंका मिला हुआ पिण्ड है तब तक उसमें शक्ति अधिक नहीं होती। जैसे वे स्कंध बिखरकर सूक्ष्म हो जायें तो उसमें शक्ति बढ़ जाती है और वही और बिखरकर आजके माने हुए वैज्ञानिकोंके अनुसार अणु बन जाय तो उसमें और शक्ति प्रकट हो जाती है। आजका माना हुआ अणु वास्तवमें अणु नहीं है, वह भी स्कंध है लेकिन इससे और छोटा कोई आविष्कार न हो जाय इसलिए उसे ही अणु कहते हैं। लेकिन सिद्धान्तमें बताया है कि उसका भी और सूक्ष्म हो जाय और बिखर बिखरकर इतना सूक्ष्म हो जाय कि जिसका कोई दूसरा भाग किया न जा सके, ऐसे अणुमें इतनी सामर्थ्य है कि वह एक समयमें १४ राजू तक गति कर सकता है। जैसे-जैसे ये भौतिक पदाथ केवल होते जाते हैं इनमें भी शक्ति बढ़ जाती है। यह जीव द्रव्य कर्मोंसे घिरा है, रागद्वेष आदिक भावोंसे बँधा है। विकल्प कल्पना जालोंसे घिरा हुआ है, इतना बोझमें है यह आत्मा और इस बोझसे दबकर यह इस संसारमें रुलता फिर रहा है, भटक रहा है। यह जीव जब केवल बन जाय अर्थात् जो कुछ इसके साथ लगा पड़ा है वह दूर हो जाय, यह खाली केवल यही का यही रह जाय, इसीके मायने है प्रभु हो जाना। इस केवल होनेमें ही ऐसी प्रभुता पड़ी है कि वह समस्त लोक अलोकको जान जाए।

केवलके उपयोगमें कैवल्यका प्रादुर्भाव—व्यक्तरूपमें केवल बनानेके लिए पहिला कदम यह होना चाहिए कि मैं स्वरूपसे ऐसा केवल हूं, दूसरी चीजोंमें मिल जुलकर रहना मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो मेरे ही सत्में है ऐसा पहिले केवलका प्रत्यय होना चाहिए। मैं अकेला हूं, केवल शुद्ध चैतन्य-मात्र हूं, जिसे इस कैवल्यकी श्रद्धा न होगी वह केवलके अनुरूप अपना उपयोग न बना सकेगा और न उसे कैवल्यकी प्राप्ति होगी। अपने इस आत्मतत्त्वको केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र अनुभव करो। जो यह अनुभव दुरनुभव कलंक लगा हुआ है कि उपयोगमें निरन्तर यह विश्वास बन रहा है कि मैं घरवाला हूं, परिजन वाला हूं, ऐसा लम्बा चौड़ा हूं, गोरा मोटा हूं या अन्य जो जो कुछ भी अनात्मतत्त्वरूप श्रद्धा

बन रही है, मै नेता हूं, त्यागी हूं, साधु हूं, मनुष्य हूं, किसी भी प्रकारके अनात्मभावरूप अपने आपकी श्रद्धा हो रही है इसे छोड़ना होगा और अपने आपको केवल शुद्ध चिन्मात्र श्रद्धानमें लेना होगा। जो पुरुष अपनेको केवल शुद्ध चित्स्वरूप निरख रहा है उसमें यह प्रगति बनेगी कि वह शुद्धचैतन्यमात्र ही अपना ज्ञान रक्खेगा।

अवशवृत्तिका प्रसाद--मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, ऐसे अनुभवनरूप पुरुषार्थको बनाए रहें इस ही पुरुषार्थ का नाम है निश्चयपरम आवश्यक कार्य। यह निश्चय परमआवश्यक ही सर्वोत्कृष्ट करने योग्य कार्य है, आवश्यक शब्दका अर्थ और न लेना किन्तु अवश के द्वारा किया जाने वाला जो कार्य है उसको आवश्यक कहते हैं। अवश नाम है उसका जो किसी भी परपदार्थके आधीन नहीं रहता है, केवल अपने शुद्ध आत्मतत्त्वको निरखकर प्रसन्न रहा करता है, स्वतत्र है, ऐसे अवश अर्थात् ज्ञानी महापुरुपके द्वारा जो काम किया जाता है उसका नाम आवश्यक है। ये समस्त पुराण पुरुष इस निश्चय परम आवश्यकके प्रसादसे केवली हुए हैं, कैवल्यमें ही आत्माका चरम विकास है।

कर्ममलविध्वसका कार्य—समस्त हमारे पुराण पुरुषोंने इस निज आत्मतत्त्वकी आराधनासे ही इन कर्मराक्षसोंका समूह नष्ट किया और ये जिन हुए अर्थात् समस्त इन्द्रियविषयोंको रागद्वेषोंको मूलसे नष्ट करने वाले हुए, यही शिव हुए, कल्याणमय हुए अर्थात् ऐश्वर्यसे सम्पन्न हुए, ईश्वर हुए। जिन्होने अपने आपके चरमविकास की सृष्टिकी, ब्रह्मा हुए। अब ये सदाकाल अपने इस शुद्ध आत्मामें ही रमण करने वाले बने, इनका ज्ञान समस्त लोक अलोकमें एकदम फैल गया, विष्णु हो गए। इनका ज्ञान समस्त सत् पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानने वाला हुआ है सो बुद्ध हो गए, इन्होने समस्त रागादिक भावोंको हर दिया है, नष्ट किया है, समस्त पापभाव इनके नष्ट हो चुके हैं सो ये हरि बने और रूपादिक समस्त बाह्यमलों को दूर कर दिया है, केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाश है यों हर हुए। इस प्रकार अनेक नामोंसे जिनकी आराधना की जा सकती है ऐसे शुद्ध उत्कृष्ट परमविकासको प्राप्त हुए है, ऐसे पुराण पुरुषोंकी जो पुरुष निस्पृह होकर अनन्यमनसे केवल उनके गुणोंकी महिमाको जानकर उनके गुणानुरागसे उनका नमन करते हैं वे समस्त पापोंको ध्वस्त कर डालते है। हमारे पाप मोही पुरुषोकी सेवासे न कटेंगे। पाप कटनेका उपाय निर्मोह ज्ञानी विरक्त साधु सतोंकी उपासना है और वीतराग सर्वज्ञदेव प्रभुके स्वरूपकी उपासना है तथा परमार्थतः अन्तस्तत्त्वकी उपासना है।

परमगुरुकी उपासनाका प्रसाद--जो पुरुष इस परमपुरुषार्थके प्रसादसे ऐसे उत्कृष्ट वीतराग हुए हैं उनके चरणोंमें सभी विवेकियोंका समूह अपना सिर झुकाता है। हे कल्याणार्थी आत्मन! अब तू एक ही यह निर्णय करले, ये समस्त वैभव, ये कनककामिनी, ये परिजन मित्र समूह, इज्जत प्रतिष्ठा ये सब भिन्न चीजें है। इनमें जरा भी फसे तो फसते चले जावोगे। उलझना तो सरल है, सुलझना कठिन है, ऐसे समस्त परपदार्थोंके मोहको त्याग करके अद्वितीय आत्मीय स्वाधीन सहज आनन्दकी प्राप्तिके लिए किसी परमगुरुकी शरणमे जा, उस सत्संगमे रहकर अपने धर्मकी दृष्टि बना, धर्मका आलम्बन करके निज परमात्मतत्त्वमें तू उपयोग बनाकर तृप्त रहा कर। यह परमात्मतत्त्व नित्य ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण है इसमें तु शीघ्र प्रवेश कर। अब किसी भी बाह्य पदार्थमें तू मत रह, उपयोगको उनमें मत बसा। केवल अपने इस शुद्ध चिदानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्वको ही परमपिता, परमशरण समझकर इनके ही आश्रयमें रह। तेरे लिए केवल तू ही गुरु है। वस्तुतः तेरे लिए केवल तू ही आलम्बन है, तेरा सहाय मात्र तू ही है।

विशुद्ध ज्ञानाराधनाके कर्तव्यका अनुरोध—हे हितार्थी! एक शुद्ध ज्ञानको प्रकट कर। सबसे भिन्न ज्ञानानन्दघन अपने आत्मतत्त्वको देख, वहाँ कोई भी क्लेश नहीं रहता है, क्लेश तो तब होता है जब हम अपने इस ज्ञानानन्दघन स्वरूपसे उठकर बाहरको मुड़कर देखते हैं, जहाँ बाहरमें कुछ भी आकर्षण होता है,

वहीं ही इसे कष्ट हुआ करता है। तेरेमें कष्टके विनाश करने वाली प्रज्ञारूपी औषधि पड़ी हुई है, उस ज्ञानानुभूतिको पाकर ससारके समस्त संकटोंका विनाश कर ले, अपनी ऐसी दृष्टि बनायें कि मेरे करने योग्य काम तो वास्तवमें आत्महितका ही है। इन बाहरी समागमोंमें मेरा कुछ हित नहीं है, ऐसी दृष्टि बनाकर धर्मपालनमें ही अपने उपयोगको लगाओ। इस प्रकार यह निश्चय परम आवश्यक अधिकारसे इस ग्रन्थका दसवां भाग समाप्त हुआ।

नियमसार प्रवचन ग्यारहवां भाग

(शुद्धोपयोग अधिकार)

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण ॥१५६॥

शुद्धोपयोगाधिकारमे दोनो नयोसे शुद्धोपयोगका विलास—नियमसार ग्रन्थमें शुद्धोपयोग अधिकार नाम का अतिम अधिकार है, इसमें शुद्धोपयोगका वर्णन किया गया है। व्यक्तरूप शुद्धोपयोग केवलज्ञान और केवलदर्शन है और शक्तिरूप शुद्धोपयोग सहजज्ञान और सहजदर्शन है। शुद्धोपयोगका अवलोकन, आलम्बन समस्त कर्मोंके विनाश करनेका हेतुभूत है। ग्रन्थके वक्तव्यमें यह सब कुछ वर्णन आचुका है, फिर भी मानो चूलिकास्वरूप एक उपसहारात्मक पद्धतिसे स्वरूपका और अपने कर्तव्यका और उस कर्तव्य के फलका स्मरण दिलानेके लिए यह गाथा आ रही है। इस गाथामें बताया है कि केवली भगवान व्यवहारनयसे सबको जानते हैं और देखते हैं किन्तु निश्चयनयसे केवली प्रभु अपने आत्माको ही जानते और देखते हैं। इस परमज्ञानके स्वपरस्वरूपप्रकाशकताका प्रतिपादन किया गया है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानका काम जानना है। जानना किसी विषयको ही लेकर होता है, जिसमें कुछ जाना न जाय और जानना हो जाय, ऐसा जाननेका स्वरूप नहीं बनता है, तो जो जानन परिणमन है उस परिणमनका ईप्सिततम क्या है, अपना वह जानना किसे है ? इस तथ्यको दो नयोंसे बताया गया है।

वस्तुका अभिन्नकारकत्व—निश्चयसे प्रत्येक पदार्थ अपने अभिन्न परिणमनको करता है और उस परिणमनमें जो अवस्था हुई, परिणमन हुआ उस परिणमनको करता है, ऐसा परिणमन अपने आपके ही परिणामसे करता है। इस परिणमनका फल, ऐसा परिणमन होनेसे अपने आपका सत्त्व रखना यह फल भी उस ही पदार्थमें हुआ करता है। परिणमन चूँकि एक परिणति है, जो परिणमन हुआ वह अगले समयमें नहीं रहता है। यों यह परिणमन अध्रुव है, मूल व्यक्त नहीं होता है, किसी मूलसे निकलता है। अध्रुवका स्रोत कोई ध्रुव होता है। ध्रुवके बिना अध्रुव व्यक्त नहीं होता है। जैसे पत्ता पेड़से गिरता है, यह गिरने वाला पत्ता अमूल नहीं है यह किसी एक ध्रुव पदार्थसे निकलता है, उसे लोकमें जिसे ध्रुव कहते हैं यह है पेड़। तो जैसे ध्रुवसे अध्रुवका निकलना होता है ऐसे ही इस आत्मपरिणमनका इस ध्रुव आत्मासे निकलना होता है। यह परिणमन अपने आपके आत्मामें होता है, यों षट्कारकका वर्तन अभेदरूपसे अपने आपके अपने आपमें है। इस दृष्टिसे आत्माने जो कुछ जाना वह आत्माको ही जाना। आत्मा जाननरूप परिणमन किसी दूसरे पदार्थमें नहीं कर सकता है। जो जाननका ही वर्तन हो, ज्ञयाकार परिणमन हो, निज क्षेत्रमे निज ज्ञेयाकार परिणमन हुआ उसे ही इस आत्माने जाना। और ऐसा जानते हुएकी स्थितिमें क्या वास्तवमें जाना, इसे निश्चयसे बताया नहीं जा सकता। तो उस जाननमें जो परपदार्थ विषय हुए उन परपदार्थोंका आश्रय करके प्रतिपादन किया जाता है कि आत्माने परपदार्थोंको

दृष्टान्तपूर्वक व्यवहारनय व निश्चयनयकी पद्धतिका समर्थन— यहां एक दृष्टान्त लो। जैसे हम दर्पणको हाथमें लेकर देख रहे हैं, पीठ पीछे दो तीन बालक खड़े हुए हैं, उनको हम नहीं देख रहे हैं। वे हमारे पीठके पीछे हैं, किन्तु उन बालकोंका निमित्त पाकर यह दर्पण उन बालकोंके आकाररूप परिणम रहा है, वह प्रतिबिम्बित हो रहा है। हम एक दर्पणको ही देख रहे हैं, पर दर्पणको देखते हुए भी हम बालककी चेष्टाका बयान करते जाते हैं। अब इस बालकने टांग उठाई, अब इसने जीभ निकाली, ये सब वर्णन करते जाते हैं, देख रहे हैं सिर्फ दर्पणको, यों ही हमने किसे देखा, इसका उत्तर लेना चाहें तो दृष्टान्त रूपमें निश्चयसे तो हमने दर्पणको देखा। यहाँ निश्चयका अर्थ केवल दृष्टान्तके प्रयोजन तक लेना, और व्यवहारसे हमने बालकोंको देखा, जाना। ऐसे ही हमारा यह ज्ञान प्रकाश यह स्वच्छ ज्ञानस्वरूप दर्पणसे भी विलक्षण अधिक स्वच्छ आदर्श है। इस ज्ञानकी स्वच्छतामें जगतके सब पदार्थ झलक जाते हैं और जगतमें जो जो पदार्थ हैं उनका आकार वहाँ ग्रहणमें आता है, अर्थात् यह आत्मा ज्ञेयाकाररूप परिणमन करता है अर्थात् परज्ञेयोंका आश्रय विषय करता है, निज ज्ञेयमें उनके अनुरूप अपना जानना बनाता है, ऐसा ज्ञेयाकाररूप परिणमते हुए हम केवल अपने आत्माको ही जान रहे हैं किन्तु ऐसा जानते हुएमें हम बखान सब परपदार्थोंका कर सकते हैं, उन्हें जान लेते हैं।

ज्ञानकी प्रकाशकताका नयों द्वारा दिग्दर्शन—हम सीधा परपदार्थों को नहीं जान रहे, स्पष्ट सीधा यथार्थरूपसे हम अपने ही परिणमनको जान रहे हैं पर उस परिणमनको हम जान रहे हैं यह बताना चाहें तो किसी परपदार्थका नाम लेकर ही बता सकेंगे। जैसे आप इस चौकी को देख रहे हैं, जान रहे हैं, आप तो अपने देहमें विराजमान हैं, आपका आत्मा तो उसके भीतर ही अपने स्वरूपमें है, उस आत्मा में जितने गुण हैं, शक्ति है वे आपके आत्मामें ही है। आपके आत्मासे निकलकर इस चौकी तक कुछ नहीं आया और आप जो कुछ कर रहे हैं वह अपने स्वरूपमें ही कर रहे हैं। आपका कुछ भी करना स्वरूपसे निकलकर चौकीमें नहीं आया, तब आप जो जान रहे हैं वह जानना भी आपका कौन करता है? आप अपने आप अपने को ही जान रहे हैं, आपका जानना आपके स्वरूपसे निकलकर इस चौकीमें न आ जायेगा। आप अपने आपमें ही अपने आपको जान रहे हैं कि यह चौकी है, वास्तवमें सीधा आपने चौकीको नहीं जाना, अपने आपको जाना है। ऐसे ही इस प्रकरणमें पूर्ण शुद्ध परमविकासको प्राप्त उपयोगके सम्बन्धमें बताया जा रहा है कि केवली भगवान निश्चयसे तो अपने आपको ही जानते देखते हैं और व्यवहारसे समस्त जगतको जानते देखते हैं।

व्यवहारसे बहिर्द्रव्यालम्बनता—आत्मामें ज्ञानशक्ति और दर्शनशक्ति है। इस ज्ञान दर्शन गुणका विकास न होने दे, आवरण हो जाय, इस प्रकारका निमित्तभूत कर्म है—ज्ञानावरण दर्शनावरण, घातिया कर्म। उसके ध्वस्त हो जानेसे सकल प्रत्यक्षभूत निर्मल केवलज्ञान, केवल दर्शन प्रकट हो जाता है, उस केवलज्ञान केवलदर्शनसे यह केवली भगवान तीन लोक तीनकालके समस्त चेतन अचेतन पदार्थोंको उनके गुण पर्यायको एक ही साथ जानते और देखते हैं। यह भगवान परमेश्वर समस्त लोकको, समस्त पर्यायों को एक साथ जानते देखते हैं, ऐसा प्रतिपादन करना, किसी परपदार्थका नाम लेकर उपचार करके, आश्रय करके किया गया है, इस कारण यह वर्णन व्यवहारनयसे समझना। व्यवहार और निश्चयका मूल अन्तर यह है कि बाह्य द्रव्यका आलम्बन करके बताया जाय वह तो व्यवहार है और जो केवल स्व द्रव्यकी ही बात स्वद्रव्यका ही नाम लेकर स्वद्रव्यसे ही बताया जाय, वह निश्चय नयका वर्णन है। यह प्रभु केवली भगवान व्यवहारसे समस्त लोकको जानते हैं।

वर्तमान वृत्ति बतानेके लिये दो पद्धतियोंका आश्रय—यहां यह भाव न लेना कि वह व्यवहारसे जानते हैं सबको तो यह सबका जानना उनका यथार्थ नहीं है। वह जो कर रहे हैं उसही को व्यवहारनयसे

बताना और निश्चयनयसे बताना--इन दो पद्धतियोंका यहां आश्रय लिया गया है। वह जानते वही का वही हैं जैसा निश्चयनयसे दिशामात्र बतायेंगे अथवा व्यवहारनयसे बतायेंगे, परद्रव्यका आलम्बन लेकर बतानेके कारण पराश्रित वर्णन व्यवहारनयका प्रतिपादन हुआ और एक स्वका ही आलम्बन लेकर बताने के कारण निश्चयका प्रतिपादन हुआ। ये प्रभु कार्यपरमात्मा हो चुके हैं, फिर भी निश्चयनयसे अपने आपको अर्थात् इस कारणपरमात्माको जानते और देखते है।

स्वपरिणमनके अनुभवकी ही शक्यता--जैसे आपने किसी दूसरेका बुखार जानना चाहा तो थर्मामीटर लगाकर उसका बुखार उन नम्बरोंसे जान जाते हैं, इसे १०२ डिग्री बुखार है। वहा पर आप उसकी बीमारीका अनुभव नहीं कर पा रहे हैं, किन्तु उसकी बीमारीकी मर्यादाको ध्यानमें लाकर जो अपना ज्ञान बना रहे हैं उस ज्ञानका अनुभव कर रहे हैं, रोगीकी बीमारीका अनुभव नही कर रहे हैं। वह आपके ज्ञानका अनुभव कैसा है, उसको बतानेका ढग यही है कि आप उस विषयको बता दें कि इसके इतनी डिग्री बुखार है, हम ऐसा जान रहे हैं। वहा आपने निश्चयसे तद्विषयक जो ज्ञान किया है उस ज्ञानका ही अनुभव किया है, रोगीके बुखारका अनुभव नहीं किया है, ऐसे ही हम आप सब सर्वत्र सर्वदा जो भी सकल्प विकल्प ज्ञान करते हैं उसका ही अनुभव करते हैं। दूसरेका अनुभव नहीं करते हैं।

एक वस्तुका अन्यवस्तुसे सम्बन्धका अभाव--देखो भैया ! परमार्थत मेरा इन परपदार्थोंके साथ जानने तकका भी सीधा सम्बन्ध नहीं है। मैं सदा अपनेको जानता हू और कल्पनाएँ विकल्प उठते हैं इस कारण मैं परपदार्थके विषयमें रागद्वेष करता हू। मैं केवल अपना ही करने वाला हू, जरा अपनी ओर दृष्टि दो। परपदार्थोंको 'मैं करता हू' इस विकल्प अधकारमें दबे रहनेका फल अच्छा नहीं होता। यह सब माया-जाल है जो सदासे अपनेको ही करता आया है और भविष्यमें भी सदा अपनेको ही करता रहेगा। यह मिथ्या वासना आपको ही क्लेश देगी। इस मिथ्यावासनाको हटावो। न मैं किसीका कुछ करता हू, न मैं किसीका कोई अधिकारी हू, न मैं किसीका कुछ स्वामी हू—इस ज्ञानप्रकाशको बनाएँ, वास्तवमें यह ही तथ्यको बात हैं।

अपना-अपना कर्मफल--जिस जीवके विशेष पुण्यका बध हुआ उसको तो सुखी होना आवश्यक है। वह लौकिक सुखोंमें कैसे सुखी हो, उसका निमित्तभूत आप बनते है तो आप अपने चिन्तनमें दूसरे व्यक्ति को आदर देकर सेवा किया करते हैं। बच्चोंका भाग्य है और आपसे बडा भाग्य है उन बच्चोंका जिनकी कि आप सेवा किया करते हैं। आप उन बच्चोंको खिला पिलाकर बहलाकर उनकी सेवा कर रहे है तो इस प्रसंगमें आप यह बतावो कि भाग्य आपका बड़ा हुआ या उन बालकोंका भाग्य बड़ा हुआ ? पुण्य विशेष आपसे उन बालकोका ज्यादा है, यह भी सम्भव है कि आप जब बालक थे तब बहुत पुण्यके साथ आये थे, आपकी भी ऐसी ही सेवा शुश्रूषा होती थी। ज्यों-ज्यो उमर बढती गयी, रागद्वेष, विषय वासनाएँ बढती गयीं, इन सभी इच्छावोंने आपके पुण्यको जला डाला। आप कुछ कम पुण्यवान रह गये, यह भी सम्भव है।

पुण्यफलप्राप्तिके बानक--जिनका महान पुण्य है ऐसे बालकोंके प्रति आप यह कल्पना जब तक नहीं कर पाते हैं कि ये मेरे बालक हैं, मैं इन्हें पालता पोषता हू तब तक आप उन बालकोंकी सेवा नहीं कर सकते हैं। उनकी सेवा करनेके लिए ही आपमें ममता और कर्तृत्व बुद्धि उत्पन्न हो रही है, वस्तुत आप भी वहा केवल अपने परिणामको ही कर रहे हैं, किसी दूसरेकी रक्षा आप नहीं करते हैं, न आप दूसरों को पालते पोषते हैं, न आप किसी दूसरेके अधिकारी हैं, न स्वामी हैं, आप तो केवल अपने आपमें ही अपना परिणाम बनाये जा रहे हैं, भला जहा परको जानने तक का भी सम्बन्ध न हो वहा परके अधिकार और स्वामीपनेका सम्बन्ध हो जाय, यह अघटित बात कैसे हो सकती है ?

कल्याणमें विविक्तताकी अनिवार्यता—भैया ! जब तक मोह न त्यागोगे तब तक शान्तिका अनुभव न आ पायेगा। अपना ही तो चित्त है, अपना ही तो उपयोग है, अपने आपमे है, इस उपयोगको केवल अपनेमें ही लगायें, बाह्य समस्त पदार्थोंका विषय त्याग दें तो क्या ऐसा किया नहीं जा सकता ? क्या इसमें कुछ कठिनाई आ रही है ? यह है मोक्षमार्गकी बात। संसारके सकटोंसे छूटना है तो अपने आपको केवल रूपमें अनुभव करना ही होगा और अपने आपके कैवल्यमे ही सतोष पाना होगा। इन बाह्य पदार्थों से निवृत्त होना ही होगा, कभी भी हो लें। कोई पुरुष तो भोगोंको बिना भोगे ही भोगोंको त्याग देते हैं, कोई पुरुष भोगोंको भोगकर उन्हें असार, अहितरूप समझकर त्याग देते हैं। कोई पुरुष उन भोगोंमे ही मरकर अतमें परवश होकर भोगोंको त्याग देते हैं। बुद्धिमानी तो इसमें है कि जो भोग आखिर छूट ही जायेंगे उन भोगोंको पहिले ही छोड़कर अपने जीवनमे आराम पायें। छूटना तो नियमसे है। जिस पदार्थका सयोग हुआ है वह पदार्थ रह न सकेगा। अब यह अपनी मर्जी है कि हम उससे किस तरह छूटें?

परिहारविधियोपर एक दृष्टान्त—एक कथानकमें एक घटना बतायी है कि कोई भगिन विष्टाका एक टोकरा भरे हुए लिए चली जा रही थी। शहरके कुछ भले लोगोने विचारा कि यह खुला हुआ विष्टाका टोकरा लिए जा रही है, इससे तो बहुतसे लोगोंको कष्ट पहुचेगा, सो ऐसा करें कि एक कपड़ा ढाकनेको दे दें सो ढाक लेगी, सो एक बहुत सुन्दर तौलिया दे दिया। अब वह बहुत सुन्दर तौलियासे ढका हुआ टोकरा लिए चली जा रही है, रास्तेमे तीन व्यक्तियोंने सोचा कि इस टोकरीमें कोई अच्छी चीज होगी, देखना चाहिए। भगिनने उनसे कहा—भाई क्यो पीछे लगे हो, इसमें मल भरा हुआ है। इतनी बात सुनकर उन तीनोमें से एक लौट गया। उन दो को विश्वास न हुआ, सोचा कि यह हमें बहका रही है। कुछ दूर जाकर भंगिन बोली—भाई क्यो पीछे लग रहे हो, इसमे तो मल भरा हुआ है। तो वे दोनों बोले कि हम ऐसे नहीं मानेंगे, हमे तो दिखावो। उसने दिखाया तो देखकर उनमें दोनोंमें से एक वापिस लौट गया, एकको अभी भी विश्वास न हुआ। वह पीछे लगा रहा। भगिन बोली, भाई तुम क्यों पीछे लगे हुए हो, इसमे मल भरा हुआ है। वह बोला कि हमें तो विश्वास नहीं है, हम तो अच्छी तरहसे सूँघ साँघ कर देखेंगे। जब समझ जायेंगे कि हाँ यह विष्टा है तब मानेंगे। उसने तौलिया उठाकर विष्टाको खोल दिया, अच्छी तरहसे सूँघ साँघ कर जब वह समझ गया कि हाँ यह विष्टा है तब वापिस लौट गया।

ससद्विधि भोगोसे निवृत्त होनेका अनुरोध—ऐसे ही इन भोगोंको ये महापुरुष तीन पद्धतियोंसे त्यागते हैं। कोई तो उपदेश पाकर अपने ज्ञानसे समझकर तुरन्त भोगोंको त्याग देते हैं, कोई भोगोंका अनुभव करके त्यागते हैं और कोई भोगोंमें ही लिप्त रहकर अतमें विवश होकर त्यागते है। ये सभी भोगसाधन प्रकट भिन्न हैं, इनसे उत्तमविधि पूर्वक निवृत्त होनेका उद्यम करें और अपने आनन्दघन ज्ञानप्रकाशका अनुभव करके अपना कल्याण करें, यही मानवजन्मकी सफलता है।

पदार्थसमूह—इस लोकमें ६ प्रकारके पदार्थ है— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन ६ में से आकाश तो लोकमें भी है और लोकसे बाहर भी है। आकाश असीम है, शेष ५ द्रव्य केवल लोकके अन्दर ही हैं। लोक उसे ही कहते है जहाँ समस्त द्रव्य दिख जायें याने पाये जावें। इन ६ प्रकारके द्रव्योंमें धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है, कालद्रव्य असंख्यात हैं, जीव और पुद्गल अनन्त हैं। यह सब गणना कैसे अनुमानमें आये ? एतदर्थ प्रथम एक का स्वरूप जानिये।

एक पदार्थके लक्षणमे अखण्डताका विवरण—एक पदार्थ उतना होता है जिसका कि दूसरा हिस्सा न हो सके अथवा एक परिणमन जितनेमे पूरेमें होना ही पड़ता है उतने को एक द्रव्य कहते हैं। जैसे हम आप सब जुदे जुदे जीव है क्योंकि हम आप किसीके जीवके कभी दो हिस्से नहीं होते। ऐसा नहीं होता कि शरीरमे आधा जीव रह जाय और आधा जीव अलग हो जाय। जब कभी यह जीव शरीरसे कुछ

बाहर भी रहता है तब भी शरीरसे और जहाँ तक बाहर जाय, फैला रहता है। इस स्थितिमें भी ऐसा नहीं है कि जीव आधे आधे भागमें है और बीच भागमें नहीं है। जैसे आपने कभी देखा होगा कि किसी छिपकलीकी पूँछ लड़ते-लड़ते टूटकर गिर जाती है. आधा धड़ एक जगह तड़फता रहता है और वह पूँछ एक जगह तड़फती रहती है तो वहाँ ऐसा नहीं है कि आधा जीव आधे भागमें है और आधा जीव आधे भागमें है, बीचमें कुछ नहीं है। जीव तो उन दोनों भागोंमें पूर्णरूपेण फैला हुआ है, वहाँ कहीं ऐसा नहीं होता कि आधा जीव आधे शरीरमें रह गया और आधा जीव आधे शरीरमें रह गया। थोड़ी देर बाद जो शरीरका मूल द्रव्य प्राण है, हृदय है, मुख है, जो भी है वे सब एक मूल शरीरमें आ जाते हैं।

एक पदार्थके लक्षणमें परिणमनके एकत्वका विवरण—आत्मा प्रत्येक एक अखण्ड है, हमारा परिणमन जो कुछ भी होता है वह पूरे आत्मप्रदेशमें होता है। हम ज्ञान करें तो पूरे आत्मामें होगा हम राग करें तो पूरे आत्मामें होगा। ऐसा नहीं है कि हमारा कुछ भी परिणमन आधे आत्मामें हो और आधे आत्मामें न हो। इन दो लक्षणोंसे इस द्रव्यकी पहिचान होती है। इस तरह निरख लो, हम आप सब अलग-अलग जीव हैं। हमारा अनुभव आपमें नहीं होता, आपका अनुभव हममें नहीं आता, इस प्रकार स्वतंत्र स्वतंत्र एक-एक जीव करके अनन्तानन्त जीव हैं।

एकत्वके लक्षणके आधारपर पुद्गलोंकी गणना—इन पुद्गलोंमें भी एक-एक अणु करके अनन्तानन्त पुद्गल अणु हैं, दिखनेमें जो स्कंध आते हैं, ये एक चीज नहीं हैं। ये सब अनन्त परमाणुवोंके समूह हैं और इसी कारण जैसे कभी कपड़ेमें आग लग जाय तो एक छोर जल रहा है बाकी कपड़ा नहीं जल रहा है, वह कुछ देरसे जलेगा। यह बात तब पायी जाती है जब वह कपड़ा एक चीज नहीं है, कपड़ा एक चीज होता या चौकी आदिक कोई भी पदार्थ एक चीज होता तो आग लगने पर एक ही साथ वह सारा पदार्थ जल जाता। पर वे सब अनन्त परमाणुवोंके पुंज हैं। जिस पर्यायमें जहाँ जो परिणमन होता है वह पूरेमें होना ही पड़ता है। इस तरह एक-एक परमाणु करके अनन्त परमाणु पुद्गल हैं, ये समस्त द्रव्य अपने आपके स्वरूपसर्वस्वको लिए हुए स्वतंत्र हैं, इनमें जब विभावपरिणमन होता है तो किसी पर-पदार्थकी उपाधिका निमित्त पाकर होता है, परन्तु उपादान केवल अपने स्वरूपको लिए हुए ही परिणमता है, किसी परनिमित्तके स्वरूपका ग्रहण करके नहीं परिणमता है। यों अनन्तानन्त पदार्थ हैं।

सारभूत पदार्थ—उन सब पदार्थोंमें जाननहार चेतन व्यवस्थापक ये जीवपदार्थ हैं, इसी कारण समस्त पदार्थोंमें सारभूत पदार्थ जीव माना गया है। यह ज्ञानवान है और समस्त जीवोंमें, जिन जीवोंके शुद्ध चरम विकास हो गया है, पूर्ण हो गया है, जिनका ज्ञान केवलज्ञान है, जिनका दर्शन केवल दर्शन है ऐसा प्रभु परमात्मा अरहतदेव सिद्ध भगवान यह समस्त जीवोंमें भी श्रेष्ठ है। स्वरूपदृष्टिसे यद्यपि समस्त जीव एक स्वभाव वाले हैं, किन्तु रागादिक भावोंका अभाव होनेसे जिन्हें शुद्ध विकास प्रकट हुआ है वे परमात्मा केवली कहलाते हैं।

प्रभुके ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकताकी पद्धति—केवली भगवानके सम्बन्धमें इस प्रकरणमें यह बात बतायी जा रही है कि केवली भगवान निश्चयसे तो अपने आत्माको जानते हैं और व्यवहारसे समस्त लोकको जानते हैं। भगवानके प्रदेशमें कैसी ज्ञानपरिणति चल रही है? इसके बतानेके दो प्रकार हैं। भगवानमें जो कुछ होता है वह तो एक ही प्रकारकी बात है, उसको जब विषयकी मुख्यता लेकर कहते हैं तो यह कहा जाता है कि प्रभु सबको जानते हैं और जब अभिन्न आधारकी मुख्यता लेकर कहा जाता है तब प्रभु अपने आत्माको जानता है यों निश्चयसे कहा जाता है। इस प्रकरणमें यह जानना चाहिए कि ज्ञानका यह स्वभाव है कि वह स्वपरप्रकाशक होता है। अपने आपका प्रकाश करने वाला है ज्ञान, और परपदार्थोंका भी प्रकाश करने वाला है ज्ञान।

ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकतापर एक दृष्टान्त—जैसे एक लौकिक दृष्टान्त दिया जा रहा है कि प्रदीप जलता है, उस प्रदीपमें दो प्रकारके धर्म हैं, एक तो अपने आपको प्रकाशित करना और एक परको प्रकाशित करना। जहाँ परको प्रकाशित करनेकी बात कही जाय वहाँ यह अर्थ लेना कि परपदार्थ प्रकाशित होता है उसमें निमित्तभूत यह प्रदीप बनता है, ऐसी दो प्रकारकी बातें दीपकमें पायी जाती हैं। घट आदिक पदार्थ जो कि प्रकाशित हो रहे हैं दियाके जलनेसे, दियासे ये घट आदिसे जुदे हैं, एक नहीं हैं फिर भी दीपकमें यह बात देखी जा रही है कि स्वको भी प्रकाशित करे और परको भी प्रकाशित करे। ऐसे ही भगवानका ज्ञान सारे लोकालोक पदार्थोंसे अत्यन्त जुदा है, फिर भी कुछ ऐसा पाया जाता है कि अपने आपको तो ये जानते ही हैं और समस्त लोकको भी जानते हैं।

सर्वज्ञानोंमें स्वपरप्रकाशकताकी शक्ति—जैसे प्रभुके ज्ञानमें स्वपरका प्रकाश करने की सामर्थ्य है ऐसे ही हम और आपके ज्ञानमें भी अपनेको और परको जाननेकी सामर्थ्य है। इस समय हम जब इतनी चीजें जान रहे हैं तो यह निश्चय समझिये कि मेरा ज्ञान, मेरा गुण, मेरी ज्ञानशक्ति कहीं मेरे आत्मा को छोड़कर बाहर निकलकर इन पदार्थोंको नहीं जान रही है। मेरी ज्ञानशक्ति मेरे ही प्रदेशोंमें रहकर मेरेमें ही परिणाम करके इस प्रकारसे अपनी वृत्ति कर रही है कि जिसका आकार, जिसका जानन इन स्व रूपोंरूप हो रहा है। इस प्रकार ज्ञानमें ऐसी अलौकिक सामर्थ्य है, किन्तु हम आप लोग अपने आपके इस ज्ञानस्वरूपकी सुध नहीं लेते हैं।

ज्ञानके ज्ञानका आनन्द—भैया! अतुल आनन्द इस ज्ञानके ज्ञानमें ही पड़ा हुआ है। भोगोंके ज्ञानमें, जड़ पदार्थोंके ज्ञानमें आनन्द नहीं है। उन भोगोंके ज्ञानमें भी जब भी आनन्द होता है तो वह आनन्द अपने आपका ही आनन्द है, भोगोंका आनन्द नहीं है। किन्तु मोही जीवोंकी दृष्टि परकी ओर व्यामुग्ध रहती है, अतएव वे यही समझते हैं कि मुझे आनन्द भोगोंसे मिला है, परपदार्थोंसे मिला है, अरे वे भोग वे परपदार्थ और क्या होंगे? पञ्चेन्द्रियके विषयभूत ही तो हैं। स्पर्शनका विषय स्पर्श है, स्पर्श अचेतनमें होता है। रसना इन्द्रियका विषय रस है, रस अचेतनमें होता है। घ्राणेन्द्रियका विषय घ्राण है, यह भी जड पुद्गलमें ही होता है, चक्षुइन्द्रियका विषय रूप है यह भी पुद्गलमें है। श्रोत्रइन्द्रिय का विषय शब्द है, शब्द भी पुद्गलमें पाये जाते हैं। शब्द पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है और वे भी सब गुणों की पर्यायें हैं। इन अचेतन पदार्थोंमें ज्ञान भी नहीं है, आनन्द भी नहीं है, तब उन पदार्थोंसे मेरेमें ज्ञान कैसे आ जाय, आनन्द कैसे आ जाय? इन पदार्थोंको विषय करके जो हमारेमें एक विशिष्ट प्रकारका ज्ञान बनता है उस ज्ञानका आनन्द लूटा करते हैं, भोगोंके भोगनेके समय भी भोगोंसे आनन्द नहीं है। जो आनन्दस्वरूप है उसकी ओर दृष्टिपात नहीं करते और जहाँ न आनन्द है और न ज्ञान है ऐसे पर-पदार्थोंकी ओर आकर्षित होते रहते हैं। इस ही भूलसे अब तक संसारमें रुलते चले आये हैं और यही भूल जब तक रहेगी तब तक संसारमें रुलते रहेंगे।

आत्मविश्रामका अनुरोध—यह मनुष्यजन्म बहुत दुर्लभ जन्म है, अनेक कुयोनियोंसे निकलकर आज मनुष्य हुए हैं तो मनुष्य भवको भोगोंमें, मोहरागद्वेषोंमें न खोयें किन्तु अपने आपकी सुध लें। अपने आपके ज्ञानामृतका पान करके तृप्त रहा करें, जिन बाह्यपदार्थोंको देखकर हर्षमग्न हुआ करते हैं वे बाह्य पदार्थ विनश्वर हैं और उनकी ओरसे मेरेमें कोई गुण नहीं आता है, वे अपनी ही जगह हैं, मैं अपने आपमें कल्पनाएँ करके अपना ही जाल गूँथ करके विकल्पोंके अनुसार हम कुछसे कुछ माना करते हैं। परमार्थसे मेरा ज्ञान, मेरा आनन्द किसी दूसरे पदार्थसे नहीं मिलता है। एक बार ऐसा उत्तम साहस करके समस्त परपदार्थोंको भूलकर अपने आत्मामें परमविश्राम तो लें। अलौकिक आनन्दकी झलक होगी और उस ही आनन्दमें यह सामर्थ्य है कि हमारे संसारके सकल संकट विनष्ट हो जायेंगे, उसके

प्रतापसे यह ज्ञानस्वरूपकी चर्चा चल रही है। जैसे दीपक प्रकाशात्मक होनेसे अपने आपको भी प्रकाशित करता है और घट आदिक जो भिन्न पदार्थ हैं उनको भी प्रकाशित करता है, इसही प्रकार ज्ञानज्योति स्वरूप होनेके कारण यह व्यवहारमें तीन लोक तीन कालको भी जानता है और स्वय ज्योतिस्वरूप हो से स्वयं ज्ञानात्मक जो निज आत्मा है उस आत्माको भी जानता है।

आत्मदेवकी देहदेवालयसे भी विविक्तता—जैसे शीशीके अन्दर पारा रहकर भी शीशीसे अत्यन्त भिन्न है, पारेका कुछ भी अश शीशीमें नहीं आता और शीशीका कुछ भी अश पारेमें नहीं जाता। पारा शीशी के अन्दर पड़ा हुआ भी अपने स्वभावसे भिन्न है, यों ही जानो कि इस देहके अन्दर रहकर भी यह आत्म देहसे जुदा रहनेका अपना स्वभाव बनाये हुए है। बल्कि शीशीके जितनी जगहमे काच है वहाँ पारेका तो निवास ही नहीं है, किन्तु यहाँ जिस-जिस जगह भी शरीर है उन-उन अणुवोंमें इस आत्माका निवास है, इतने पर भी इस देहसे यह आत्मा पूरा विविक्त ही रहनेका स्वभाव रख रहा है।

ज्ञानभावनाका प्रताप—जो केवल आत्माको ही जानना चाहता है और इसके उपायमें ज्ञानका क्या स्वरूप है, ज्ञान क्या काम करता है, ज्ञानका जानन क्या है? केवल जानन प्रकाशमे ही अपना उपयोग देगा, केवल प्रकाश मात्र ही अपने आपकी भावना करेगा वह इस विविक्त आत्माको पा लेगा, पहिचान लेगा। अपने आपका परिचय, अपने आपकी प्राप्ति एक ज्ञानभावनामें बसी हुई है। हम अपने आपको मैं केवल ज्ञानमात्र हू, केवल जाननहार हू, जानन ही मेरा स्वरूप है, उस ज्ञानमात्रकी बराबर भावना रहे। मैं ज्ञानमात्र हू, इस रुचिके साथ रहें, इस दृढताके साथ रहें कि जो शरीर है वह भी विस्मरण हो जाय, लोक भी कुछ है यह भी विस्मरण हो जाय, गाँव नगर घर कुटुम्ब धन वैभव समस्त परपदार्थ भूल जायें, उन्हें ध्यानमें न लिया जाय, 'केवल ज्ञानमात्र मैं हू' इस प्रकारकी निरन्तर भावना बनाएँ तो अपने आपके दर्शन ज्ञानानुभवके रूपमें होंगे।

निमित्तनैमित्तिक योगपरम्पराखण्डिनी ज्ञानभावना—अहो इस जीवने अपने आपको नानारूप माना है। यद्यपि यह जीव अशुद्धपर्यायमे नानारूप हो रहा है, मनुष्य तिर्यञ्च आदिक नाना पर्यायोंरूप है, रागद्वेष मोह नाना रूप है, तथापि अपनेको नानारूप मान मानकर कुछ भी लाभ न होगा, हम ससारके सकटोंसे मुक्त न हो सकेंगे। यह नानारूपता मेरे स्वभावकी नहीं है। यह ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योगका बानक बन गया है। यह विनश्वर चीज है और इस निमित्तनैमित्तिक योगका खण्डन परिहार हम केवल अपने आपको ज्ञानमात्र भावना करके, ज्ञानमात्रकी उपलब्धि करके मिटा सकते हैं और दूसरा कोई उपाय नहीं है। परको पर जानकर, निजको निज समझकर परसे हट जायें और निजमें ही लग जायें, यह ही एक उपाय है कि हम सब सकटोंको दूर कर सकते हैं। सबसे पहिले हमें निजको निज और परको पर पहिचानना होगा। धन वैभव परिजन मित्रजन इनसे सुख मान रहे हैं, इस भ्रमका खण्ड न करना होगा। इन बाह्य समागमोंमें सुख तो क्या उल्टा क्लेश ही होता है।

अविवेकप्रेरित कल्पनायात्रा—धन वैभवको, परिजन मित्रजनोंको अपना स्वरूप अपनी वस्तु माननेमें क्लेश ही क्लेश होता है। आनन्द नहीं मिलता है, यह जीव उस क्लेशको ही आनन्द समझता है। जो एक भूले रास्तेपर चल रहा है वह भूला तो है ही, पर उस भूलको और बढ़ाता चला जा रहा है। भूलको भूल न माने तो वह तो भूल बढती ही जायेगी, वह भूलसे कभी वापिस नहीं हो सकता, यों ही हम आप अन्तरङ्गमें अपनी यात्रा करते जा रहे हैं। काहेकी यात्रा? कल्पनाओंकी यात्रा, ज्ञानपरिणमनकी यात्रा कभी हम किसी कल्पनारूप परिणम रहे, कभी किसी कल्पनारूप परिणम रहे, ऐसी कल्पनावोंके परिणमनकी भीतरमें यात्रा कर रहे हैं। हे यात्री, जरा विराम ले, इस भूलकी यात्रामें तू अपनी भूलको बढ़ाता मत जा। कुछ ठहर और अपने आपमें सोच कि जिन कल्पनाओंमें हम इतना बढ़े जा रहे हैं उन

कल्पनाओंसे मेरा हित नहीं है।

विनश्वर जीवनमे अविनश्वरलाभका प्रयत्न—हे आत्मन्! मेरा हित एक निस्तरंग निर्विकल्प ज्ञान-प्रकाश मात्रके अनुभवमें है, उसकी दृष्टि कर, उसके लिए यत्न कर। उस ही उपायके करने के लिए अपने इस मनुष्यजीवनको जानो। मेरे मनुष्य होनेका प्रयोजन एक यही होना चाहिए कि मैं अन्तरङ्गमें ऐसा उपाय और पुरुषार्थ बना लूँ कि सदाके लिए जन्म मरण, भूख प्यास, संयोग वियोग ये सारे क्लेश दूर हो जाये जो कि कल्पनाओंसे उत्पन्न हुए हैं। यह पुरुषार्थ यदि किया जा सका तो हम लोगोंका मनुष्य जन्म पाना, श्रावक कुल पाना, जैनेन्द्रमार्ग पाना— ये सब सफल है।

शुद्ध उपयोगकी चर्चा— नियमसारके इस अंतिम अधिकारमें शुद्धोपयोगका वर्णन चल रहा है, इस प्रसगमें पर्यायशुद्ध उपयोगकी बात कही जा रही है किन्तु जिसका अध्यात्म लक्ष्य है वह कुछ भी वर्णन करे समस्त वर्णनोंमें उसकी शक्ति रूप शुद्ध अन्तस्तत्त्वका प्रकाश होता ही रहता है। यह तो शुद्धोपयोगका वर्णन है किन्तु जहाँ आस्रव बध जैसे सांसारिक तत्त्वोंका भी वर्णन चल रहा हो तो अध्यात्मवेदी उन सब वर्णनोंमें अपने लक्ष्यभूत मूल डोर पर ही आते रहते हैं। शुद्धोपयोगके अर्थात् केवलदर्शन, केवलज्ञानके सम्बन्धमे यह बताते हुए कि केवली प्रभु व्यवहारनयसे सबको जानते हैं और निश्चयनयसे आत्माको जानते हैं। प्रसग चलते-चलते इस समय ज्ञानका स्वरूप चल रहा है।

अपनी चर्चा—यह चर्चा किसी अन्य पदार्थकी न समझना, यही समझना कि यह चर्चा हमारी है, हमारे ज्ञानकी है। ज्ञान स्वपरप्रकाशक होता है। इस प्रकरणको लेकर चलना है। खूब उपयोग लगाकर ध्यानसे सुनियेगा तो कोई भी बात विदित हुए बिना न रहेगी, ज्ञानातिरिक्त जानते जाइए, हम आपके जाननका गुण है। वह ज्ञान स्वपरप्रकाशक है अर्थात् स्वका भी ज्ञान करता है और परका भी ज्ञान करता है। इस स्वपरप्रकाशकताके सम्बन्धमें त्रिस्थानीय उत्तर लगाइए। यह ज्ञान स्वका प्रकाश करता है और परका प्रकाश करता है अर्थात् आत्माको भी जानता है और परको भी जानता है। इस सम्बन्धमें तो बहुत कुछ कहा गया है।

ज्ञानकी स्वपरव्यवसायात्मकता—अब स्वपरप्रकाशकताकी दूसरी सीढ़ी पर आइए। यह ज्ञान स्वपर-व्यवसायी है अर्थात् स्वका भी निश्चय करता है और परका भी निश्चय करता है। इस व्याख्यामें न्याय-शास्त्रकी झलक है, सो दर्शनशास्त्रकी पद्धतिसे इसका अर्थ समझना है। कोई कोई दार्शनिक ज्ञानको स्वसम्वेद्य नहीं मानते। उनका मतव्य है कि ज्ञान सबको जानता है और जो ज्ञान सब चीजोंको जानता है, उस ज्ञानको जाननेके लिए एक नया ज्ञान और करना पड़ता है तब यह ठीक बैठता है कि मेरा वह ज्ञान ठीक है और जिस नये ज्ञानका यह निर्णय बनाए कि वह ज्ञान ठीक है इस ज्ञानको भी जाननेके लिए एक नया ज्ञान और करना पड़ता है, वह यह निर्णय करेगा कि यह द्वितीय ज्ञान ठीक है। अब यह तृतीय ज्ञान भी ठीक है, इसे समझनेके लिए चतुर्थ ज्ञान और करना पड़ेगा। उनका यह रोजगार बड़ा लम्बा चौड़ा है। कभी अन्त ही न होगा। अनवस्था दोषके वारणके यत्नमे "आवश्यकता नहीं है, वहाँ जाननेका अंत है" ऐसा उनका मंतव्य है, किन्तु ज्ञान ऐसा चमत्कारी गुण है कि वही ज्ञान जो परपदार्थोंको जान रहा है परपदार्थोंका भी निश्चय रखता है और वही ज्ञान अपने आपका भी निश्चय रखता है कि यह ज्ञान सही है, ऐसा स्वपर व्यवसायात्मक यह ज्ञान है।

स्वव्यवसायिताके बिना परव्यवसायिताका अभाव—जो ज्ञान अपने आपका व्यवसाय नहीं करता, निश्चय नहीं करता कि मैं ठीक हू, तो जिस ज्ञानसे जानता हू उसीका ठिकाना नहीं, फिर पदार्थ कहाँ ठीक होगा? जो भी ज्ञान किसी बाह्यपदार्थको जानता है वह ज्ञान अपने आपके व्यवसायपूर्वक ही परको जानता है, जो ज्ञान अपने आपका निश्चय नहीं रखता है वह ज्ञान परका भी निश्चय नहीं रख सकता।

यों दर्शनशास्त्रकी पद्धतिसे ज्ञानकी स्वपर-प्रकाशकता जानो।

अध्यात्मस्वपरप्रकाशकता—अब अन्तिम श्रेणीमे स्वपर-प्रकाशकताका अर्थ लगाएँ, यह है निश्चय अध्यात्मकी पद्धति। निश्चयसे ज्ञान ज्ञानके आधारभूत अपने आत्माको ही जानता है बाह्यको नहीं। बाह्यको जानता तो है, पर उस पद्धतिका जिकर नहीं कर रहे हैं। किस प्रकार जानता है बाह्यको, यह बहुत कुछ कहा जा चुका है। यह ज्ञान अपने आत्मामें ही निश्चयतः जानता है और इस आत्मामें ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भी गुण हैं, अन्य पर्यायें हैं उनमें से ज्ञान कर्ताके रूपमें ज्ञान तो स्व है और ज्ञानातिरिक्त अन्य समस्त आत्मीय गुण है, पर यह ज्ञान इस आत्माके आत्मगत आत्मीय परगुणोंका भी निश्चय करता है और आत्मीय निज गुणका अर्थात् जाननहार ज्ञानगुणका भी निश्चय करता है याने आत्मनिजगुणका भी निश्चय करता है। यों निश्चयपक्षसे भी स्वपर-प्रकाशकता बनी हुई है।

ज्ञाताके ज्ञानसे मोहका प्रक्षय—हम ज्ञानसे जानते हैं, जिस ज्ञानसे जानते हैं उस ज्ञानका ज्ञान होने पर हमारा मोह दूर हो जाता है। मैं वास्तवमें क्या हू? इसका शुद्ध ज्ञान हुए बिना मोह दूर नहीं हो सकता। मैं ज्ञान-ज्योति हू, सबसे विविक्त अपने सहज स्वभावमें तन्मय ऐसा एकत्व विभक्त स्वरूप हू, ऐसा जब अपने आपका परिचय नहीं होता तो भीतरसे यह कुश्रद्धा बन जाती है कि मकान मेरा है, परिजन मेरे हैं, ये मुझे सुख देते हैं, ये मुझे दु:ख देते हैं। अरे प्रियतम! अपने आन स्वरूपको सभाल कर देख। बाहरमें सभी जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपना-अपना परिणमन करते हैं, न कोई तुझ से मित्रता करता है और न कोई शत्रुता करता है, वे तो अपने आपके परिणमनसे ही फुरसत नहीं पाते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके परिणमनमें ही अपनेको बनाए रहते हैं। मेरा जगतमें कहीं कुछ नहीं है। मेरा तो यह ही मैं हू। ऐसे इस ज्योतिस्वरूप अपने आपकी खबर न रहे तो इसमें रमनेका गुण तो है ही। जब इसे अपना खिलौना न मिलेगा तो पर खिलौनों मे रमेगा ही। चारित्र गुण कहाँ जाय, वह तो कुछ न कुछ अपना प्रवर्तन करेगा ही। अपना निष्कम्प स्वरूप जब न अनुभूत हुआ तो यह फिर बाहरमें रमण करेगा, बाहरमें लगेगा।

स्वरूपनिर्णयका परिचय—भैया! हित तो अपना अपने आपके स्वरूपनिर्णयमे है और स्वरूपनिर्णय तभी अपना सच्चा समझिये जब अपनेमें कषायोंकी पकड़ न रहा करे। मैं श्रेष्ठ हू, बड़ा हू सबमें जानकार हू, अमुक परिस्थितिका हू आदिक कुछ भी लगाव चलता है तो वहा स्वनिर्णयमे अटक है अभी। धर्मचर्चाके नाम पर भी यदि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिकका प्रसग आता है तो समझना चाहिए कि अभी हमें स्वका निर्णय नहीं हुआ है। स्वका व्यवसाय होनेपर उपेक्षाभाव प्रकट हो जाता है। अरे जहाँ इस निर्णयकी डींग मारी जा रही हो कि मैं स्वतन्त्र हू, परद्रव्य स्वतन्त्र हैं, किसीकी क्रियासे मेरा परिणमन नहीं है वहा यदि उसके विरुद्ध कोई बात कहे तो वह अपनेमे बड़ा खेद मानता है, अपनी बात उस दूसरेको मनानेके लिए तैयार हो जाता है। तो बताओ कहा रहा स्वनिर्णय? स्व निर्णयका फल है उपेक्षा भाव।

सहज अविकार स्वभाव—यह सहज ज्ञान निर्विकार निरञ्जन स्वभावमें ही निरत रहता है। स्वभाव दृष्टिसे कहा जा रहा है, परम निश्चय दृष्टिसे। निश्चय स्वात्माश्रित होता है। निश्चय और व्यवहार ये भी बदलते रहते हैं, पर परमनिश्चय नहीं बदलता है। जो निश्चय किसी व्यवहारदृष्टिके मुकाबले निश्चय कहलाता है उससे और अतरङ्गदृष्टि मिल जाने पर वह निश्चय व्यवहार बन जाता है और निश्चयस्वरूप द्वितीय उपस्थित हो जाता है, पर यहा परमनिश्चयसे बात कही जा रही है। यह सहज ज्ञान सतत ही शाश्वत है अविकारस्वभावी है। स्वभाव तका जा रहा है, जो चाहे विभावपर्यायसे तिरोभूत भी हो फिर भी प्रज्ञा छेनीमे इतनी करामात है कि वह किसी भी प्रकार आवृत हुआ भी शुद्ध अतस्तत्वको निरख लेता है, ज्ञानको अटक नहीं रहती है किसी आवरणसे। हा, जो ज्ञान ही आवृत हो उसकी बात

अलग है। इस ज्ञान द्वारा हम कितने ही पर्दोंको फाड़कर भीतर प्रवेश कर जाते हैं। जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला ऐक्सरे यन्त्र चमड़ीको, खूनको, मांस-मज्जाको—सबको छोडकर केवल हड्डीका फोटो लेता है—ऐसे ही यह ज्ञान अपने आपके अन्त स्वरूपको जानना चाहे तो यह न कपड़ेसे अटकता है न चमड़ेसे, न खूनसे, न मांस-मज्जासे, न हड्डीसे, न रागादिक भावोंसे और न संकल्प विकल्पोंसे। एक शुद्ध पारिणामिक भाव स्वरूप इस सहजस्वभावका ग्रहण कर लेता है।

सहज परमपारिणामिक भाव— पारिणामिक भावका अर्थ शब्दमें स्वभाव नहीं है, किन्तु फलित अर्थ स्वभावसे है। जिसका परिणाम प्रयोजन है उस भावको पारिणामिक भाव कहते हैं। जिसका परिणत रहना ही प्रयोजन है। प्रयोजक ध्रुव होता है, ध्रौव्य अथवा नित्यता अपरिणामीपनको नहीं कहते हैं, किन्तु वस्तुके भावके होते रहनेका व्यय न हो, सदैव होते रहना—इसका नाम है नित्य। तो यह एक स्वभाव है, जिसका किसी न किसी रूपमें निरन्तर परिणाम चलता है और वह परिणाम इस स्वभावके स्वभावत्वको कायम रखनेके लिये चलता है। तो उन सब परिणामोंका जिसके प्रयोजन है, जो प्रयोजन है, वह है पारिणामिक भाव। फलित अर्थ सहज स्वभाव हुआ। शाश्वत स्वभाव, सहज स्वभाव त्रिकाल निरुपराग है। एक क्षण भी स्वभावमें यदि उपराग आया हो तो इसका उपराग किसी भी समय नष्ट न हो सकता था, उसका तो लक्षण विकारी ही बनेगा। यों स्वभाव अविकारी ही रहता है। परिणमन विकारी हो तब भी स्वभाव अविकारी है।

अविकारस्वभावके समर्थनमें एक दृष्टान्त— जैसे लोकदृष्टान्तमें पानी गर्म हो गया। अग्निका सन्निधान पाकर वह अपने आपके स्पर्श गुणके परिणमनमें गर्म हुआ है, किसी परवस्तुका वहाँ प्रवेश नहीं है, निमित्तनैमित्तिक योग अवश्य वहा है। गर्म हो जाने पर भी यह पूछा जाये कि इस पानीके स्वभावमें गर्मी है क्या? यदि कोई यह निर्णय करले कि पानीका स्वभाव भी गर्म है तो पानीका स्वभाव तो गर्म नहीं है। यदि पानीका स्वभाव भी गर्म है तो पानी कभी ठण्डा नहीं किया जा सकता। अग्निका स्वभाव गर्म है तो उसके ठण्डा करनेके लिये कोई पंखे झकोरता है क्या? पानी यदि गरम है तो उसको ठण्डा करनेके लिये पंखे झकोले जाते हैं। गर्मी होने पर भी हम आपकी यह अटल श्रद्धा है कि पानीका स्वभाव गरम है ही नहीं, न कभी हो सकता है—यह एक दृष्टान्तकी सीमा तक समझना है। पानी द्रव्य नहीं है, ठण्डा होना भी गुण नहीं है, पर इस प्रसङ्गमें पानीको द्रव्य माना और ठण्डेको गुण माना और गर्मीको विभाव पर्याय माना। ऐसा माननेकी दिशा हमें क्यों सूझी? इसका कारण यह है कि हम प्रकट यह पाते हैं कि अग्निको किसी गर्म पदार्थका, उपाधिका संयोग नहीं मिलता है तो पानी अपने आप ठण्डेपनकी ओर रहता है। स्वभाव अविकारी होता है। यों ही प्रत्येक पदार्थका स्वभाव अविकारी है।

ज्ञानकी आत्मगतस्वपरप्रकाशकता— निज सहज अविकार स्वभावमें निरत होनेसे यह सहज ज्ञान स्वप्रकाशक है और यह ही ज्ञान यद्यपि आत्मासे भिन्न वस्तु नहीं है। समझानेके लिये गुणगुणीका भेद होता है, यों सहा प्रयोजन आदिककी अपेक्षासे इसे प्रतिपादनके लिये छांट लो और यह देख लो कि यह ज्ञान अपनेको भी जानता है और आत्मामें जो श्रद्धा चारित्र आनन्द आदिक अनेक गुण हैं, उनका भी प्रकाशक होता है। ये पर हैं आत्मगत। परपदार्थोंकी बात नहीं कह रहे हैं। आत्मगत ज्ञानातिरिक्त गुण भी ज्ञानेतर होनेसे ज्ञानकी अपेक्षा पर है। यह ज्ञान ज्ञानका प्रकाशक है और श्रद्धा चारित्र आनन्द आदि गुणोंका भी प्रकाशक है। अध्यात्म परमनिश्चयसे यह है स्वपरप्रकाशकता।

अभिन्नकार्यकारणता— यह आत्मा केवली प्रभु निश्चयसे निज कारणपरमात्माको जानता है अर्थात् आत्मस्वरूपको जानता है और व्यवहारसे समस्त सत्समूहको जानता है। कार्यपरमात्मा हो जाने पर भी कारणपरमात्मत्व समाप्त नहीं हो जाता। प्रतिसमय जो कार्यपरमात्मत्व चलता है, वह कारणपरमात्मत्व

का आश्रय लेकर ही चल रहा है केवली प्रभुमें भी। कारणके विना कार्य होते रहना सम्भव नहीं है। यह ज्ञान जब कर्मबंधका छेद होता है, तब अक्षय मोक्ष सुखका अनुभव करता हुआ सहज विकासमय विकसित रहता है। अब यह ज्ञान अत्यन्त शुद्ध हो गया है। केवली भगवानका यह सर्वथा निरावरण ज्ञान निज रसकी अतिशयतासे अत्यन्त गम्भीर, धीर और एकस्वरूप है। यह अपने आपकी अचल महिमामें लीन बन रहा है।

आत्माका जगमग स्वरूप— सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन। ज्ञानकी अपेक्षा आत्मा सर्वव्यापक है, लोकमें ही नहीं वरन् अलोकमें भी व्यापक है। लोकके बाहर आकाशके सिवाय और कुछ नहीं है। अलोकमें एक भी जीव नहीं है, किन्तु यह ज्ञान अलोकमें भी व्यापक हो गया है। तो प्रभु लोक और अलोकके जाननहार हैं। ज्ञानसे तो यह इतना व्यापक है, पर आनन्द गुणके अनुभवसे यह अपने आपके प्रदेशोंसे एक भी प्रदेश बाहरमें नहीं है। आनन्दका अनुभव अपने आपके ही प्रदेशमें है। अनुभव तो निज ज्ञानका भी स्वात्मप्रदेशमें है, पर ज्ञानका विषय व्यापक है और आनन्दका विषय स्वात्मा ही है। इसी कारण यह बात घटित हो गई—सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन। ज्ञानसे तो जग और आनन्दसे मग है यह आत्मा। यह है केवलज्ञानी पुरुषका जगमग शुद्ध स्वरूप।

आत्माकी स्वपरप्रकाशकताकी सिद्धि— इस गाथामें यह सिद्ध किया है कि ये केवलज्ञानमूर्ति अर्थात् केवली भगवान व्यवहारनयसे तो निरन्तर समस्त पदार्थोंको जानते हैं और निश्चयसे ये केवली प्रभु अपने स्वरूपको जानते रहते हैं। क्या हो रहा है वहाँ काम? वह तो एक ही प्रकारका है, पर उस प्रभुता की महिमा बतानेके लिये ये निश्चय और व्यवहार दो भेद आ पड़े हैं। परद्रव्योंका आलम्बन लेकर प्रतिपादन करने वाले व्यवहारनयसे तो सर्वज्ञता बतायी गयी है और स्वद्रव्यका ही आलम्बन लेकर प्रतिपादन करने वाले निश्चयसे आत्मज्ञता बतायी गई है। यहाँ यह नहीं समझना कि व्यवहारसे जानते हैं तो वे बातें झूठ हैं याने जानते नहीं है वास्तवमें, किन्तु वास्तवमें जानते हैं। पर क्या जानते हैं? इस का प्रतिपादन बाह्यवस्तुका आलम्बन लेकर हो पाया है, इस कारण व्यवहारनयसे परका जानना कहा है। इस तरह इस गाथामें आत्माकी स्वप्रकाशकता सिद्ध की गयी है।

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥

प्रभुके ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोगकी युगपद् वर्तनाका उद्घोष— पूर्व गाथामें केवली भगवानको स्वपरप्रकाशक कहा गया है। केवली भगवानका ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है और केवली भगवानका दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है और यह आत्मा भी स्वपरप्रकाशक है। इस प्रकार इस अधिकारका मुख्य मतव्य रखकर अब इस गाथामें यह बता रहे हैं कि केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रभुमें एक साथ वर्तते हैं। जैसे कि किसी समय सूर्यके नीचे मेघपटल आ जाये तो सूर्यका प्रकाश और सूर्यका आताप—ये दोनों तिरोहित हो जाते हैं। प्रकाशके मायने हैं उजाला और आतापमें मायने हैं सूर्यकी उष्णताके कारण होने वाला जो कुछ प्रभाव है। जब कभी यह मेघपटलका जमाव क्षीण होने लगे या हट जाये तो इस आकाशस्थलके मध्यमें प्रजा लोकके ऊपर यह सहस्रकिरण अर्थात् सूर्य अपना प्रकाश और अपने प्रतापको एक साथ विकसित करता है। सो मेघपटलके हट जाने पर इस सहस्रकिरणका प्रकाश और प्रताप भी साथ वर्तता है। इस ही प्रकार भगवान परमेश्वरको यह केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ वर्तता है।

सहस्रकिरणत्वकी जिज्ञासा— दृष्टान्तमें अभी सहस्रकिरण नाम कहा गया, उसके सम्बन्धमें अब यह जिज्ञासा हो सकती है कि क्या सूर्यकी ये हजार किरणें यहाँ आती है? दिखता तो ऐसा ही है कि सूर्यमें से हजारों किरणें निकल रही हैं और सिद्धान्तमें यों सुना है कि किसी भी वस्तुका द्रव्य, गुण, पर्याय उस

वस्तुप्रदेशसे बाहर नहीं निकलता है। सूर्यकी वे किरणें क्या सूर्यद्रव्य हैं या सूर्यके गुण हैं या सूर्यके परिणमन हैं? ये किरणें कहाँसे निकलीं? क्या चीज हैं?

वस्तुका स्वतन्त्र परिणमन— वस्तुका स्वरूप त्रिकाल सही रहता है। किसी भी पदार्थका गुण और पर्याय उस पदार्थके प्रदेशको छोड़कर बाहर नहीं हुआ करता है। यह बात सर्वत्र घटा लो। चाहे कहीं कोई जबरदस्तीकी घटना हो, वहाँ पर भी चाहे लगता ऐसा है कि अमुक पुरुषने अमुकका हाथ पकड़कर यों धर्मोट दिया, पर उस पुरुषका गुण अथवा पर्याय उस पुरुषसे बाहर अपना कर्तव्य बताने नहीं जाता। सर्वत्र यह अर्थ लगाना जैसे अमुक प्रकारसे कोई बलवान् मनुष्य परिणत हो रहा है, जिसकी मुट्ठीमें अमुक मनुष्यका हाथ फसा है तो उस क्रियाशील बलवान् पुरुषके चलनेका निमित्त पाकर यह पुरुष भी यों फिसल गया। जितनी भी जबरदस्तीका प्रयोग हो, वहाँ पर भी कोई पदार्थ अपनी क्रियावोंसे दूसरे पदार्थको परिणमाता नहीं है।

प्रकाशमें प्रकाशक व प्रकाश्यका निमित्तनैमित्तिक योग— पहिले यह निर्णय करो कि सूर्य कितना बड़ा है? जिसे लोग देखते हैं, वह लगता है कि यह तो कोई हाथ-डेढ़ हाथका लम्बा-चौड़ा है, पर सिद्धान्तमें बताया है कि करीब दो हजार कोशका लम्बा-चौड़ा है। उस सूर्यका प्रकाश भी उस सूर्यमें है, उस सूर्यसे बाहर नहीं है, किन्तु सूर्य एक बहुत चमकीला पिंड है और यहाँके पदार्थ भी सूर्यके बराबर चमकीले तो नहीं हैं, किन्तु चमकीले होनेकी प्रकृति प्रत्येक पुद्गलस्कन्ध पदार्थ रखता है। अब यहाँके ये पदार्थ उस सूर्यका सम्बन्ध पाकर निमित्तनैमित्तिक योगवश ये पदार्थ भी प्रकाशमान् हो गये। यह प्रकाश वस्तुतः सूर्यका नहीं है, किन्तु सूर्यका निमित्त पाकर प्रत्येक पदार्थका अपना-अपना प्रकाश है। यदि ऐसा न होता और सूर्यका ही प्रकाश सर्वत्र होता तो प्रत्येक पदार्थका प्रकाश एक रूप रहना चाहिये था। फिर यह अन्तर क्यों आ गया कि पालिशदार चीजें अधिक प्रकाशित हैं, कांच उससे अधिक और दर्पण उससे अधिक प्रकाशित है? यदि सूर्यका प्रकाश है तो एक रूप रहना चाहिये था। इससे ही यह सिद्ध है कि जो पदार्थ जितने चमकीले होनेकी योग्यता रखते हैं, सूर्यका सन्निधानमात्र पाकर ये पदार्थ अपनी अपनी योग्यतानुसार प्रकाशमान हो गये।

प्रकाशित सूक्ष्म स्कन्धोंका पङ्क्तिरूप दर्शन— यह सब दृश्यमान स्थूल पदार्थ है। इसके सम्बन्धमें यह आशंका नहीं होती कि यह भी सूर्यकी किरण है। पर आकाशमें जहाँ बीचमें कोई अतिस्थूल पदार्थ नजर नहीं आते, वहाँसे किरणसी लगती है और पूरी आँख खोलकर देखो तो इतनी ज्यादा किरणें नहीं मालूम होतीं, पर आँखको बहुत कुछ बंद करके थोड़ा ही खोलकर देखो तो ज्यादा किरणें मालूम होती हैं। इसका कारण यह है कि जैसे यह अतिस्थूल पदार्थ प्रकाशमान है, इसी प्रकार इस आसमानमें भी पड़े हुए सूक्ष्म स्कंध प्रकाशमान होते हैं। कभी देखा भी होगा कि किसी छतके कोनेसे, तवकासे अथवा खपरैलके घरसे किसी छिद्रसे कोई जरासा प्रकाश आ रहा हो तो वहाँ बहुतसे किरण गोल-गोल उठते हुए नीचे-ऊँचे नजर आते हैं। ऐसे सूक्ष्म स्कंध आसमानमें पड़े हुए हैं और वे प्रकाशमान हैं। यह मनुष्य जब अपनी आँखोंसे कुछ तेजसी अवस्था बनाकर सूर्यको देखता है तो यह एक नेत्रोंसे देखनेकी विधि है, रूपदर्शन करनेकी नेत्रमें प्रकृति है कि उस समय सूक्ष्म स्कंध इस एक लैनरूपसे नजर आते हैं। प्रकाशित तो वह था ही, अब नेत्रोंसे अपने लैनरूपसे देखा, बस वह किरण मान लिया जाता है और सिद्धान्तमें जो यह वर्णन है कि सूर्यसे सहस्र किरणें हैं, इसका अर्थ ही यह है कि सूर्यका निमित्त पाकर पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं, जिन्हें देखने पर हमें सहस्र किरणरूपमें दृष्ट होता है। ऐसे प्रकाशका वह निमित्त है। इससे भी सूर्यकी महिमा गायी जाती है।

दृष्टान्तपूर्वक प्रभुके ज्ञानदर्शनकी युगपद्वृत्तिका समर्थन— यह सूर्य जब मेघपटलसे आच्छादित है तब

इसका प्रताप और प्रकाश तिरोहित है। मेघपटलके दूर होते ही प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट होते हैं—ऐसे ही ज्ञानावरण कर्मके पटलके उदयका निमित्त पाकर छद्मस्थ अवस्थामें यह ज्ञान और दर्शन तिरोहित आवृत रहता था, तब आत्मपुरुषार्थका निमित्त पाकर यह आवरण द्रव्यकर्म हटा और इस कालमें यह ज्ञान और दर्शन एक साथ उदित हुए।

छद्मस्थोंके उपयोगकी क्रमवर्तता— ज्ञान और दर्शन गुण इस जीवमें शाश्वत गुण हैं और जितने गुण होते हैं उन गुणोंका निरन्तर परिणमन भी होता है। इस प्रकार यद्यपि ज्ञानकी पर्याय भी सतत चलती है प्रत्येक जीवमें और दर्शनकी भी पर्याय सतत चलती है, फिर भी उनका उपयोग जिसे इंगलिशमें यूज कहते हैं छद्मस्थ अवस्थामें क्रमसे होता है अर्थात् जब उपयोग ज्ञानपर्यायोंका प्रश्रय दे रहा है, उस कालमें दर्शनको प्रश्रय नहीं हो रहा है। जब दर्शनको प्रश्रय मिलता है, तब ज्ञानको नहीं मिल रहा। ऐसी यह छद्मस्थ अवस्था अशक्य अवस्था है। किन्तु केवली भगवानका उपयोग ज्ञान और दर्शन दोनोंमें एक साथ प्रकट है। उनका यह उपयोग अत्यन्त विशुद्ध है।

छद्मस्थ व प्रभुके उपयोगकी विशेषतायें— छद्मस्थ जीवोंके उपयोगमें और केवली भगवानके उपयोग में कितनी ही बातोंसे विशेषता है। हम अन्तर्मुहूर्तके उपयोगसे ज्ञान और दर्शन किया करते हैं। यों कहो कि प्रभुका उपयोग तो क्षणक्षणवर्ती स्वतन्त्र होकर समर्थ है और हमारा उपयोग अध्रुव अन्तर्मुहूर्तकी परम्परा रखकर सीमित समर्थ है। यहाँ क्षणिक और अध्रुवसे यह अर्थ जानना कि प्रभुका परिज्ञान तो एक ही समयमें हुआ, उसी समयमें पूर्ण अर्थक्रियाकारिता बनती है अर्थात् जानने लगते हैं। किन्तु हम सबका उपयोग अन्तर्मुहूर्तकी परम्परासे जाननेमें प्रवृत्त होता है। पर्याय यद्यपि सर्वत्र प्रतिसमय नवीन नवीन होती है, परन्तु उसका व्यक्तरूप कार्य, व्यवहाररूप कार्य किसीका कुछ परम्परामें बनता है और किसीका परम्परा लिए हुए बिना ही अपने समयमें बन जाता है। जैसे और भी देखिये, हम आप लोग राग करते हैं, पर प्रतिसमयका राग अनुभवमें नहीं आसकता। अन्तर्मुहूर्त तक होतेहुए रागपर्यायोंसे हम रागव्यवहार कर पाते हैं। प्रभुका ज्ञान इतना समर्थ है कि निरन्तर प्रतिक्षण पूर्ण अर्थक्रियाकारी रहा करता है। चेतन अचेतन समस्त द्रव्य गुण पर्यायात्मक तीन लोक, तीन कालके समस्त ज्ञेयोंमें केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ वर्तता है। हाँ, संसारीके ज्ञान दर्शनपूर्वक होते हैं।

छद्मस्थके उपयोगकी वृत्तिका विवरण— अब कुछ इसी प्रसंगमें अपने कामकी बात कही जा रही है। कठिन भी है और सरल भी है, ध्यानसे सुनिये। जैसे इस समय हम इस खम्भेको जान रहे हैं, इसका ज्ञान छोड़कर हम इस चौकीको जानने लगे तो खम्भेका ज्ञान छूटा और चौकीका ज्ञान हुआ। इस खम्भे और चौकी दोनोंके ज्ञानके बीचमें थोड़े समयका अन्तर रहता है। जिसका भान हम लोग नहीं कर पाते हैं। एक पदार्थका ज्ञान छोड़कर दूसरे पदार्थका ज्ञान जब हम करने जाते हैं तो उस बीचमें अन्तरात्मामें हमारा दर्शन होता है। एक पदार्थका ज्ञान छोड़कर दूसरे पदार्थका ज्ञान करनेके बीचमें हमारे आपके छद्मस्थोंके दर्शनोपयोग होता है और उस ज्ञान और इस दर्शनमें होता क्या है ? ज्ञानकी बात तो सबको मालूम है कि ज्ञानसे हम समझते हैं कि यह अमुक चीज है और दर्शनमें क्या होता है ? इसको यों समझ लीजिये कि एक पदार्थका ज्ञान छोड़नेके बाद दूसरे पदार्थको जाननेमें हम सफल हो जाएँ—ऐसी सामर्थ्य हम अन्तरमें झुक कर लेते हैं। यही है दर्शन। यों समझिये कि हमारा उपयोग एक सर्पगतिसे चलता है। इन पदार्थोंकी ओर उपयोग गया, फिर अपने आपकी ओर झुका, फिर दूसरे पदार्थ पर उपयोग गया, फिर और गया—ऐसा निरन्तर उपयोग सर्पगतिसे स्वपरकी ओर चलता रहता है, किन्तु जो जीव आसक्त हैं, परद्रव्योंके लोभी हैं, परपदार्थोंकी ओर आकर्षण होनेसे, परपदार्थोंकी ही ओर धुन बननेसे वे अपने आपकी ओर झुकने वाले कामोंसे अपरिचित रहते हैं। यह मोहका माहात्म्य है, मिथ्यात्वमें ऐसा ही

होता है।

सहूलियतका अनुपयोग— देखो भैया ! कितनी सहूलियत है हम आप सबको कि हम अन्तर अन्तर्मुहूर्तमें अपनी ओर झुकते रहते हैं। मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों ही अपनी-अपनी ओर झुकते हैं। दर्शनोपयोगका काम सबके चलता है, पर जिसको इस दर्शनका भी दर्शन हो जाता है, उसको समझिये कि इसे सम्यग्दर्शन हुआ है। एक पुरुष धनी होनेके ख्यालसे पारस पत्थरकी खोजके लिये चला। सोचा कि क्या रोजिगार करना, कहींसे एक पारस पत्थर मिल जाये तो फिर मालोमाल हो जायेंगे। किसी पुरुषने उसे बताया कि अमुक पहाड़ पर पारस पाषाण है। उसने वहाँ जाकर १०-२० गाड़ी पत्थरोंका ढेर समुद्रके किनारे लगा दिया। समुद्रके किनारे एक लोहेका डण्डा गाड दिया। उन करोड़ों पत्थरोंमें कोई एक पारस पाषाण भी था। वह पत्थर उठाकर लोहे पर मारे और देखे कि वह लोहा सोना हुआ कि नहीं। नहीं हुआ तो उसे समुद्रमें फेक देता। अब यही क्रम उसका जल्दी-जल्दीका बन गया। पत्थरको उठाये, लोहे पर मारे और समुद्रमें फेक दे। उसी धुनमें एक पारस पत्थरको भी उठाया, मारा और समुद्रमे फंक दिया। देखा तो लोहा सोना हो गया। अब वह पछताता है कि हाय ! पारस पत्थर तो समुद्रमे फेक दिया। तो जैसे उसकी ऐसी धुन बन गई कि पारस पत्थरको समुद्रमे फेक दिया, ऐसे ही हम आप सब ज्ञान करते है बाह्यपदार्थोंका, पर इन पदार्थोंमे हम आपके लोभ लगा है। बाहरी पुद्गल जो कि अचेतन हैं, इनमें इतना आकर्षण है कि हम दिन रातमें न जाने कितना अपना ज्ञान बदलते हैं और अपनी ओर झुका करते हैं, पर आकर्षण बाह्यपदार्थोंमें होनेसे हम अपने झुकावको भूल जाते हैं और इनमें ही रत रहा करते हैं। यह है छद्मस्थोंकी परिणति।

विशुद्ध व अविशुद्ध ज्ञानका परिणाम— छद्मस्थोंके ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं, किन्तु केवली भगवानमें ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग एक साथ परिणमते रहते हैं। प्रभुका ज्ञान और दर्शन समस्त लोकका ज्ञाता और द्रष्टा है, इसी कारण अब जो भी हम आपकी कल्पनामें इष्ट हैं, उन इष्टोंसे भी इष्ट सब कुछ प्राप्त हो गया और समस्त अनिष्ट नष्ट हो चुके। यही एक सर्वोत्कृष्ट वैभव है। यह वैभव हम आप सबके मौजूद है, पर इस विधिकी स्मृति न करके और इस नाक, थूक, मलके पिंड, इन कुछ जीवोंको अपना मानकर उनको ही उपयोगमें बसाये रहते हैं। मेरे तो सब कुछ ये ही हैं। अपना तन, मन, धन, वचन—सब कुछ उन मायामय जीवोंके लिये ही सौंप रहे हैं। इस प्रकारके ढलाचलामें यह कब तक रुलेगा ? जब तक यह अपने इस लगावकी डोरको काट न डालेगा, जब तक यह समस्त परके विकल्पोंका त्यागकर अपने इस निर्विकल्प अखण्ड चैतन्य चमत्कारमात्र शुद्ध ज्ञान ज्योतिस्वरूपको न अनुभवेगा, तब तक इसके कर्मबन्धन दूर न हो सकेंगे और यह जन्मके बाद मरण व मरणके बाद जन्म—ऐसे ही क्लेश पाता रहेगा।

व्यर्थका ममत्व और उसका फल— भैया ! पूर्वभवमे जो कुछ भी समागम मिला था, उसकी आज खबर भी है क्या ? न की तरह है। चाहे आजके इस समागमसे करोड़ों गुना अधिक समागम पहिले मिला हो, पर आज कुछ भी नहीं है। उसका आज कोई भी विकल्प नहीं हो रहा है, किन्तु उस कालके विकल्पोंके संस्कारमें बसे हुए हम आज न कुछ थोडेसे वैभवको अपना सर्वस्व मान रहे हैं। कुछ काल बाद में ये भी सब समागम न रहेंगे। इनको भी त्यागकर आगे किसी भवमें जन्म लेंगे। तो जो अध्रुव है, विनश्वर है, चलते हुए मुसाफिरके लिये मार्गमे मिले हुए पेड़ोंकी तरह है, उन विनश्वर विनाशीक चीजोंमें अपना श्रद्धान, ज्ञान, रमण बनाना यह अपने आपके प्रभु पर बहुत बड़ा अन्याय है। जिस प्रभुके प्रसादसे अर्थात् निर्मलतासे कुयोनियोंसे निकलकर आज मनुष्यभवमे आये हैं, इन विषय कषायोंके हमले हम इस प्रभु पर कर रहे हैं तो प्रभुको तो एक धीरेसे अन्तरसे इतनासा ही आशीर्वाद देना है कि जिस

निगोदसे निकले थे, वहीं फिर चले जावो।

उत्तम अवसरके सदुपयोगका विवेक— अहो, यह बड़ा उत्कृष्ट अवसर पाया है। ये पशु, पक्षी, गाय, बैल, भैंसा, कुत्ते—ये सब मन्दिर क्या जानें, गुरु क्या जानें, देव क्या जानें, शास्त्र क्या जानें, वचन बोलना क्या जानें? अपने मनकी बात दूसरोंको नहीं बता सकते, दूसरेके मनकी बात खुद नहीं ग्रहण कर सकते। कितनी जघन्य दशा है? और हम आप आज कितनी ऊँची स्थितिमें हैं—विचार करते हैं, विवेक करते हैं। ऐसे इस अवसरमें विशुद्ध धर्मको भी पाकर हम मोहमें ही पगे रहें, विषय-कषायोंमें ही रत रहें, दूसरे मोही मलिन जीवोंको ही अपना सर्वस्व समर्पण करते रहें तो इसका परिणाम क्या होगा? फिर हम सावधान हो सकनेके लायक भी न रहें—ऐसी भी स्थिति हो सकती है। इससे हमारा कर्तव्य है कि हम अपने स्वरूपकी सुध लें और इन विनश्वर मायामय गोरखधन्धोंसे कुछ विरक्ति पायें। इस शुद्ध ज्ञानके आलम्बनसे ही हम आपमें वह निर्मलता जागेगी, जिसमें विशुद्ध आत्मीय आनन्दका अनुभव होता है।

प्रभुकी प्रभुता— स्वात्माश्रय निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानके प्रसादसे जिसमें आत्माके सहज शुद्ध चरम विकास अवस्थाको प्राप्त किया है ऐसे धर्मतीर्थके अधिनाथ सर्वज्ञदेवके यह केवलज्ञान और केवलदर्शनका उपयोग प्रतिक्षण निरन्तर एक साथ चलता रहता है। जिसकी कषायोंमें अटक हो उसके उपयोगमें इस प्रकारकी अटक आ सकती है कि दर्शन और ज्ञान दोनोंका उपयोग एक साथ न कर सके, परन्तु प्रभु तो कषायरहित है और इस कषायरहितताके प्रतापसे अघातिया कर्मोका भी विध्वंस करके जिन्होंने अनन्तचतुष्टयात्मक सर्वज्ञता प्राप्त की है—ऐसे यह प्रभु जो ज्ञानतेजकी राशि हैं, समस्त अंधकार जिन्होंने नष्ट कर दिया है और भव्य लोगोंके अज्ञान अन्धकारके दूर होनेमें भी जो निमित्त हैं—ऐसे प्रभु की भक्ति कषाय और अज्ञान अन्धकारको दूर कर देती है।

प्रभुभक्ति व उसका प्रसाद— प्रभुकी भक्ति उत्कृष्ट तब कहलाती है, जब प्रभुके अतिरिक्त अन्य अप्रभुवोंमें अथवा मोह रागद्वेषसे लिप्तों में जिनकी दृष्टि भी विशुद्ध नहीं हुई है—ऐसे परिजन, मित्रजन किन्हींमें भी चित्त न बसता हो, सबसे अलौकिक उत्कृष्ट यह प्रभु है ऐसा जिसका दर्शन हुआ करता हो, उस पुरुषके ही प्रभुकी उत्कृष्ट भक्ति हो सकती है। प्रभुभक्ति बिना पूरा पड़ना, अपना निस्तार होना कठिन है। जो पुरुष प्रभुकी अभेदभक्तिमें भी पहुचे हैं, वे पुरुष भी प्रभुभक्तिके प्रसादसे पहुचे हैं। ज्ञान भी शुद्ध हो जाये और हमारा चारित्र भी शुद्ध हो जाये, हम अपने व्रत आदिक क्रियावोंमें भी बड़ी सावधानी रखें, फिर भी हे प्रभो, हे ज्ञानपुञ्ज! जब तक तुम्हारे प्रति उत्कृष्ट भक्ति नहीं जगती है, तब तक हम इस मोह किवाड़से आवृत मुक्तिमन्दिरके द्वारको नहीं खोल सकते हैं।

प्रभुभक्तिकी आवश्यकता— भैया! यदि इन दुर्विकल्पोंको मिटाना हो तो एक उत्कृष्ट ज्ञानप्रकाशके प्रति भक्ति करनी होगी। हम आप इस समय जिस स्थितिमें हैं, उस स्थिति पर कुछ नजर तो डालें। हम कुछ ज्ञान प्राप्त करके यह सोचा करते हैं, प्रश्न किया करते हैं कि हमने जानने योग्य बात तो सब जान लिया, किन्तु उस शुद्ध ज्ञानकी परिणतिमें स्थिर नहीं हो पाते अथवा हमारा चित्त अस्थिर रहता है। हम ज्ञानोपयोगमें नहीं टिक पाते, इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि हमारी जो आजकी परिस्थिति है, उस परिस्थितिमें प्रभुभक्तिकी साधना होनी चाहिये। इस प्रभुभक्तिमें प्रवृत्ति हो।

प्रभुभक्तिका प्रताप— प्रभुमें जो ज्योति प्रकट है वह स्वरूप, वह स्वभाव मेरे आत्मामें भी है। वह एक अतुल निधि है, अमर्यादित सुखको देने वाली है। वह आज भावकर्मोंके पृथ्वीपटलके नीचे दबी हुई है निधि। रागद्वेष विषयकषाय इन परिणामोंसे दबा हुआ है यह शुद्ध ज्ञानानन्दका खजाना। इस पृथ्वीपटल को खोदनेमे समर्थ, इन भावकर्मोंको उड़ा देनेमें समर्थ हमारा साधन एक प्रभुस्तवन है, प्रभुभक्ति है, प्रभु

की उपासना है। उस प्रभुस्तवनरूप कुदालियोंसे यदि हम इस कर्म पृथ्वी-पटलको खोदें तो हमें यह ज्ञानानन्दनिधि प्राप्त होगी, जिस ज्ञानानन्दनिधिकी चर्चामें ही हमें विलक्षण आनन्द आता है। फिर जब निधि प्राप्त हो जावे तो उसके आनन्दका अनुभव वे ही जान सकते हैं कि बहुत उत्कृष्ट आनन्द है।

धर्मके बिना नीरसता— यह मनुष्य खोटी चर्चाएँ करके पापोंको भोग करके अपनेको विश्राम और शान्तिमें नहीं ला पाता है। ऐसे पुरुषकी लोकमें कदर भी नहीं है। प्रत्येक गोष्ठिमें चाहे वह साधारण जनोंकी गोष्ठी हो, चाहे वह पढे लिखे लोगोंकी गोष्ठी हो, धर्मकी बात कुछ व्यवहारमें आए बिना उस समूहकी शोभा नहीं होती है। प्रत्येक देश, प्रत्येक मण्डल इस धर्मका नाम आगे रखता ही है, चाहे कोई आशयमें अधर्मकी भी बात सोच ले। अधर्मका रूपक रखकर कोई पुरुष, कोई देश, कोई समूह उन्नत नहीं हो पाया है। जरा धर्मकी हितकारिताका भी अदाज तो करो। विवाह आदिक अवसरोंमें यदि धार्मिकता का कुछ सम्बन्ध, प्रसग न लाया जावे--जैसे मन्दिर जाना, कुछ मन्दिरमें चढावा चढाना, दोनोंका मिलकर पूजन करना अथवा भँवरके समय जो विधि-विधान पूजन किये जाते हैं, यह किसी भी प्रकारकी धार्मिक योजना न हो तो ससारी जनोंके लिये रसिक माना गया भी समारोह नीरस हो जायेगा। धर्मका सम्बन्ध हुए बिना जीवनमें रस आ ही नहीं सकता है, चाहे कोई किसी भी प्रकारका यत्न करे।

ज्ञानदीपके प्रकाशमें निर्विघ्न आत्मयात्रा-- शान्तिमार्गमें, अध्यात्ममार्गमें, अध्यात्मप्रवाहमें और धर्मके मर्म तक पहुंचनेमें यह निश्चल प्रभुभक्ति एक अनुपम बल प्रदान करती है। हमें अपने अन्तरङ्गकी यात्रा करना है। उस यात्रामें बडे हमारे विघ्न पडे हुए हैं। प्रथम तो हमारा यह मार्ग जिस पर हमें चलना है, अधकारसे प्रच्छन्न है, ढका हुआ है, यह जीवन हमारे अज्ञान अंधकारसे व्याप्त है और फिर चलें भी तो बीचमें उस मार्गमें बहुत प्रकारके गड्ढे पडते हैं, वे क्लेशके गड्ढे हैं। इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, वेदना, दुराशय आदिक अनेक गड्ढे भी पडे हुए हैं मार्गमें, अन्धेरा भी है मार्गमें। अब हम कैसे उस मार्गको तय करें और इष्ट साधनमें पहुच जायें? इसका एक ही उपाय है कि हम अपना ज्ञानदीपक जलाकर उस मार्गको तय करें तो अंधकारकी भी बाधा न रहेगी और क्लेशके गड्ढोंको बचा-बचाकर अथवा उनके ही गड्ढोंमें से उतर उतरकर जाना पडे तो संभल-संभलकर उन क्लेशोंके गड्ढेमें भी उतर सकते हैं, निकल सकते हैं और उस ज्ञानदीपके प्रकाशके सहारे हम अपने इष्ट स्थान पर पहुच सकते हैं, किन्तु उस ज्ञानदीपककी ज्योति बढ़ाते रहनेके लिये हमें प्रभुभक्तिरूप तैलकी नितान्त आवश्यकता है, अन्यथा यह ज्ञानदीप कब तक जल सकता है? विषयकषायोंकी झझा वायु इतनी तीव्र चलती है कि यह ज्ञानदीप तो एक ही झोंकेमें बुझ सकता है। हमारा ज्ञान सजग रहे, हम अपने आपमें बहुत सावधान रहें, इसके लिये आवश्यकता है कि हम प्रभुकी भक्तिमें अपना उपयोग लगायें।

प्रभुस्वरूप— प्रभु किसका नाम है? अरे, जो शुद्ध ज्ञानानन्दका पिंड है उसका नाम प्रभु है। प्रभु नामरहित होता है। हम नाम लेकर यदि प्रभु पर दृष्टि डालें तो हमारे उपयोगमें प्रभुता किनारा हो जाती है पर्याय, कुल, देह, अवगाहना—ये सब सामने आ जाते हैं। अतः प्रभुभक्ति नाम रहित होकर खुद भी अपने नामका ध्यान न करें और प्रभुके भी नामका कुछ भी ध्यान न करे—ऐसा निर्नाम होकर निर्नाम ज्ञानानन्दस्वभावमात्र प्रभुकी भक्ति हो तो वहाँ प्रभुकी उपासना बन सकती है। नाम लेकर भक्ति हो तो वह व्यवहारभक्तिमें आ जाता है और नामकी कल्पना बिना केवल ज्ञानानन्दस्वरूपकी भक्ति हो तो वह निश्चयभक्तिमें आता है।

व्यवहारभक्तिका उपकार— भैया! व्यवहारभक्ति भी कर्तव्य है, उससे यह ज्ञात होता है और एक पक्का प्रमाण बैठ जाता है कि हाँ, प्रभु हुए हैं। ऋषभ, वीर, महावीर, श्रीराम आदिकका चारित्र बाँचकर, नाम लेकर इन्होंने इन्द्रिय-विजय किया, मोहको क्षय किया और इसके प्रतापसे परमप्रभुता प्राप्त की,

यह प्रमाण हो जाता है, श्रद्धान् भी एक समूल बन जाता है, फिर भी व्यवहारभक्तिमें निश्चयकी दृष्टि न रहे, उसका झुकाव न रहे तो यह व्यवहारभक्ति व्यवहार ही में बढ़-बढ़कर और अनेक विपरीतता बता करके नानारूप रख लेता है, जिसका कि यह फल है कि आज प्रभुके नाम पर अनेक नाम वाले विभिन्न धर्मोंके प्रभुका विस्तार बन गया है। कोई कहते हैं कि हमारे प्रभु ईश हैं, हमारे प्रभु खुदा हैं, हमारे विष्णु हैं, हमारे शिव हैं और फिर इसी पद्धतिमें कोई यह भी कहते हैं कि हमारे प्रभु ऋषभ हैं, महावीर हैं।

भक्त और भगवानकी निकटता— हे प्रभो! जब तक यह भक्त अपनी स्वच्छता प्रकट नहीं करता है, तब तक प्रभुकी भी महिमा कुछ ख्यात नहीं होती है। यों तो परमाणुकी महिमा भी परमाणुमें है, पर हमारी महिमाका विस्तार, हमारी महिमाकी परिस्थिति तो इस निर्मलचित्त भक्तिकी करतूत से हुई है। तब क्या कहें नाथ! तुम भक्तोंके उठाने वाले हो, तारने वाले हो या भक्त प्रभुके उठाने वाले हैं। तारना नाम उठानेका है। हे प्रभो! तुम भक्तोंका उत्थान करने वाले हो या भक्त तुम्हारा उत्थान करने वाले हैं। तुम्हारे स्मरणके प्रसादसे भक्त उठता है और भक्तकी इस निर्मलताकी करतूतसे और भक्तों द्वारा आपका गुणगान होनेसे आप उठते हैं। पानीमें तैरने वाले लोग हवाभरी हुई मसकको पानीमें डालकर उस पर पेट रखकर तैरते जाते हैं और तैरते तैरते किनारे पर पहुच जाते हैं। हम क्या कहें कि यह पुरुष मसक ले जाता है या मसक पुरुषको ले जाती है? प्रभु और भक्तकी अतीव सन्निकटता हो जाये भक्तके उपयोगमें तो प्रभुकी उपासनासे भक्तमें सच्चिदानन्दमयता प्रकट प्रतिभात हो जाती है। वहाँ ज्ञानानन्दपुञ्ज प्रभुकी उपासनाका आनन्द प्रकट होता है।

चित्तविशुद्धिका उपाय— कुछ लोग यह आशंका करते हैं कि हमारा चित्त धर्ममें नहीं लगता, ज्ञानमें नहीं स्थिर हो पाता, त्याग और विरक्ति नहीं उत्पन्न होती। अरे, कहाँसे त्याग और विरक्ति उत्पन्न हो? कोई अग्रिम अन्तरिम स्थानको छोड़कर, छलांग मारकर स्थिति शक्ति न विचारकर एकदम आगे जाना चाहे तो कैसे जाये? हम अपने प्रभु-भजन आदि साधनोंको तजकर प्रभुभक्ति न करके ज्ञानमें, ध्यानमें अपनेको स्थिर नहीं कर सकते हैं। कहीं भी बैठे हों—मन्दिरमें हों, घरमें हों अथवा यात्रामें हों, प्रभुके प्रति यदि भक्ति न जगे तो हम धर्ममार्गमें आगे नहीं बढ़ सकते हैं। हे नाथ, आपका प्रताप और प्रकाश एकदम प्रकट हो रहा है। आपका प्रताप तो यह है कि राग द्वेष, इष्ट-अनिष्ट, संकल्प-विकल्प, भावकर्म कोई अब प्रकट नहीं हो सकते हैं और प्रकाश यह है कि समस्त लोक त्रिकालवर्ती समस्त अर्थ-समूह आपके ज्ञानमें एक साथ प्रकट है—ऐसे विशुद्ध प्रभुकी उपासना हमारे उपयोगको धीर बना सकती है।

मोही जनोंकी उद्दण्डता— ये मोहीजन अपने ज्ञानकी होड़में भगवानसे भी आगे बढ़ना चाहते हैं। भगवान तो जो है उसीको जानते हैं, जो नहीं है उसे नहीं जानते, किन्तु यहाँ यह मोही पुरुष जो नहीं है उसे जाननेकी होड़ कर रहे हैं। मकान मेरा नहीं है। भगवान नहीं जानते कि यह मकान अमुकचन्दका है, पर हम अमुकचन्द खूब डटकर जान रहे हैं कि यह मकान मेरा है। अरे, तुम महापुरुषोंसे होड लगावोगे तो गिर ही जावोगे, पतन ही होगा। धन, वैभव, सम्पदा अपना नहीं है। भगवानके ज्ञानमें यह नहीं झलकता कि यह इसका धन है, इसका मकान है, इसके रिश्तेदार हैं। वे ऐसे हैं ही नहीं, जानें किसे? वे ज्ञानके धनी तो हैं, पर जो है उसके ज्ञानके धनी हैं और यहाँ मोही पुरुष जो बात नहीं है, उस में भी अपनी होड़ मचा रहे हैं। हे प्रभो! तब तक तुम्हारी शुद्ध भक्ति न जगेगी, जब तक विषयकषायों के गड्ढोंसे उठानेका हममें बल प्रकट न हो सकेगा।

शरणभूत ब्रह्मदर्शन— ब्रह्मका स्वरूप आनन्द है, इसीका ही स्मरण आपके स्तवनमें होता है। वह

स्वरूप मेरे देहमें भी व्यवस्थित है, किन्तु मोहके अंधकारसे आछन्न हो जानेके कारण इसको जान नहीं सकते हैं। प्यासे आदमीको अपने ही पीठ पीछे अवस्थित जलाशयकी खबर न हो तो वह प्यासा ही मर जाता है। ऐसे ही आनन्दके अभिलाषी इस पुरुषको अपने आपमें बसे हुए इस आनन्दसागरकी खबर नहीं है, सो यह तो प्यासा ही प्यासा रहकर आनन्दकी अभिलाषा-अभिलाषा ही करके और उसके लिये विपरीत प्रयत्न करके यह अपना विनाश कर डालता है। हे प्रभो! सम्यग्ज्ञानरूपी नौका पर चढ़कर आपने संसार-सागरको पार करके यह मुक्ति नामकी शाश्वत नगरी प्राप्त की है। अब हे नाथ! जिस मार्गसे तुमने संकटोंसे उबरकर यह आनन्दधाम प्राप्त किया है, उसे मैं भी प्राप्त करूँगा। जीवको सिवाय एक इस अध्यात्ममग्नताके अन्य कुछ शरण नहीं है।

युगपत् स्वपरप्रकाशकता— इस प्रकार इस शुद्धोपयोग अधिकारमें इन दो गाथावोंमें भगवानका प्रताप और प्रकाशका प्रकाशन किया है। प्रभुमें केवलज्ञान निरन्तर है और केवलदर्शन निरन्तर है उपयोगरूप में। केवलज्ञानके द्वारा त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जानते हैं और समस्त पदार्थोंको जान रहे आत्माको अवलोकित कर रहे हैं केवलदर्शनके द्वारा। यों प्रभु ज्ञान और दर्शनसे निरन्तर स्वपरप्रकाशक बन रहे हैं। प्रभु स्वपरप्रकाशक हैं, उनका ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है व दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है। ये प्रभु आत्मीय आनन्दका निरन्तर अनुभव कर रहे हैं।

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो होदित्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१६१॥

आत्माकी स्वपरप्रकाशताकी विधिमें शंकाकारका मतव्य— इस गाथामें शङ्काकार जिज्ञासु आत्माका स्वपरप्रकाशकपना इस प्रकार सिद्ध करना चाहता है कि ज्ञान तो परप्रकाशक है और दर्शन आत्मप्रकाशक है और चूँकि आत्मा ज्ञान दर्शन दोनों गुणोंसे युक्त है, इस कारण आत्मा स्वपरप्रकाशक है। ऐसा यदि मानते हो तो आचार्यदेव उत्तरमें कह रहे हैं। इस पर जो विपदा हो सकती है, उसे आचार्यदेव अगली गाथामें बतावेंगे, फिर चूँकि समाधान करनेका सकल्प इसी गाथामें किया गया है, इस कारण कुछ समाधान इसीमें बताया जायेगा।

शङ्काकारके पक्षका विवरण— शंकाकारका यह मन्तव्य है कि आत्मा ज्ञान दर्शन आदिक विशेष गुणोंसे समृद्ध है अर्थात् आत्मामें अनन्त गुण हैं और यह आत्मा उन सब अनन्त गुणोंसे तन्मय है, उनमें से एक ज्ञान गुण है। वह ज्ञान शुद्ध आत्माके प्रकाशनमें समर्थ नहीं है, वह तो केवल परका ही प्रकाश करता है। लोगोंके अंदाजमें यही बात आती है कि हम ज्ञानसे बाहरी पदार्थोंको जाना करते हैं और जब यह बात सही बैठ जाती है कि ज्ञान परका प्रकाशक है तो यह भी सिद्ध हो गया कि आत्मा केवल अपने अन्तरमें अपने आत्माका ही प्रकाश करता है। इस विधिसे आत्मा स्व और परका प्रकाशक है—ऐसा शङ्काकारने अपना पूर्वपक्ष रक्खा है। उसके समाधानमें अब सुनिये।

शङ्काकार द्वारा अभिमत आत्मप्रकाशकताकी विधिका समाधान— आत्मा है एक प्रतिभासस्वरूप पदार्थ। वह प्रतिभास साकार स्वरूप भी है और निराकार स्वरूप भी है। निराकार प्रतिभास न हो तो साकार प्रतिभास हो ही नहीं सकता। आत्मा निराकार प्रतिभास भी है और साकार प्रतिभास भी है। साकार प्रतिभासका अर्थ यह है कि पदार्थके जाननेरूप प्रतिभास है, पदार्थको समझनेरूप विकल्प है। यों यह साकार प्रतिभास ज्ञान कहलाता है और निराकार प्रतिभास दर्शन कहलाता है। जहाँ पदार्थोंके ग्रहणका विकल्प नहीं है, वह निराकार प्रतिभास है। इस दिशामें यद्यपि यह शीघ्रतामें कहा जा सकता है। तब तो फिर यह सिद्ध हो गया कि जो बाह्यको प्रकाश करे वह ज्ञान है और जो अन्तरङ्गको प्रकाश करे वह दर्शन है, किन्तु यहाँ यह भी ध्यानमें लायें कि वह साकार प्रतिभास आत्मामें है या बाह्यपदार्थमें है। यदि यह

ज्ञान केवल बाह्यपदार्थोंको ही जाने याने बाह्यपदार्थोंमें ही यह ज्ञान हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान का आधार आत्मा नहीं रहा। ज्ञानका आधार आत्मा तब माना जा सकता है, जब ज्ञानमय आत्मा माना जाये। ज्ञानमय आत्मा मानने पर यह मानना अनिवार्य है कि यह ज्ञान आत्मा को भी जानता है।

समाधानमें दीपकका दृष्टान्त— भैया! कहीं ऐसा दीपक देखा है जो परको तो प्रकाश करे और खुद को प्रकाश न करे? यदि ऐसा दीपक होने लगे तो बड़ी अव्यवस्था मच जायेगी। किसीसे कहा जाये कि उस कमरेमें लालटेन जल रही है जरा उसे उठा लाना तो क्या वह यह कहेगा कि हमको जलती हुई एक लालटेन दे दो, जिससे उस लालटेनको देख सके और ला सके, क्योंकि अब ऐसे भी दीपक माने जाने लगे हैं जो खुदका तो प्रकाश करें नहीं और बाह्यमें ही प्रकाश करते हैं तो ऐसे दीपकको लानेके लिये, ढूँढनेके लिये नया दीपक चाहिये। इस सिद्धान्तको समझनेके लिये दर्शनशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रकी संधि पर ध्यान देना होगा। दर्शनशास्त्रके अनुसार यह ज्ञान परको प्रकाशित करता है और ज्ञान निजस्वरूपको भी प्रकाशित करता है। भले ही कोई परपदार्थके व्यामोहके कारण अपने ज्ञानकी प्रकाशकता न समझे, किन्तु युक्तिसे ही विचारो कि ऐसा कोई भी ज्ञान जो अपने आपके बारेमें यह न जानता हो कि मैं ज्ञान पुष्ट हूं, ठीक हूं, तब तक बाहरी पदार्थोंको भी ठीक जान नहीं सकता, यों ज्ञान स्वप्रकाशक भी है और परप्रकाशक भी है। अब यह ज्ञान स्वतन्त्र निराधार तो है नहीं, कोई अलग वस्तु है नहीं। आत्मा ही ज्ञान है। आत्माको समझनेके लिये भेद करके इसमेंसे यह ज्ञानगुण विभक्त किया है। यह ज्ञान यदि आत्माको प्रकाशित न करे तो परको भी प्रकाशित नहीं कर सकता है।

व्यवहारसे अभिमत परप्रकाशकताके एकान्तपर आपत्ति--व्यवहार पक्षके वक्तव्यको सुनकर कि ज्ञान पर का प्रकाशक है व्यवहारसे और उस व्यवहारपक्षका एकान्त करके यदि सर्वथा यह ही माना जाये कि ज्ञान परका प्रकाशक है तो ज्ञानका आत्मासे सम्बन्ध नहीं रहा, क्योंकि यह ज्ञान तो सदा बाहरमें ही अवस्थित है। काम करनेसे ही होता है और काम करनेसे ही स्थान मिलता है। ज्ञानने जब इस पक्षमें केवल बाहर ही काम किया, बाह्यपदार्थोंमें ही इसका फिर अवस्थान होगा। इसका आत्मासे क्या सम्बन्ध रहा? जो ज्ञान आत्मामें प्रभाव न डाले, जिस ज्ञानकी क्रियाका विषय आत्मा न रहे, इसका अर्थ यह है कि ज्ञान अलग है, आत्मा अलग है। ऐसा पृथक् ज्ञान निराधार होनेसे सद्भूत न हो सकेगा।

ज्ञानको मात्र परप्रकाशक माननेमें ज्ञानकी सर्वगतताका अभाव— पदार्थमें जितने भी गुण होते हैं, उन सब गुणोंकी क्रियावोंका विषय वही पदार्थ होता है। ज्ञान ही क्या, जिस ज्ञानका जो भी काम है, चाहे वह चेतक गुण है या अचेतक गुण है, उन गुणोंकी जो अर्थक्रिया है, उन समस्त क्रियावोंका विषय यह आत्मा है। कोई भी गुण बाहरके काम करे और अपने आधारके काम न करे तो इसका अर्थ यही तो हुआ कि जैसे कोई परद्रव्य हो, वह जितना भिन्न है आत्मासे उतना ही भिन्न वह गुण होगा, जिसकी क्रियाका विषय पर रहे और आत्मा न रहे। आप जो कुछ सोचते हैं, उस सोचनेका विषय आप ही रहते हैं, मै तो नहीं हो जाता। आप जो भी विकल्प करते हैं उसका अनुभवन आपमें ही रहता है, मुझमें तो नहीं होता, क्योंकि मेरेसे आपका कुछ सम्बन्ध नहीं। आप भिन्न पदार्थ हैं, मैं भिन्न पदार्थ हूं। यों ही इस ज्ञानगुणमें अर्थक्रियाका विषय केवल पर है, खुद नहीं है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह ज्ञान आत्मासे भिन्न है और ऐसा होने पर जब आत्माकी प्रतिपत्ति न हो सकी, आत्माको यह ज्ञान न जान सका तो ज्ञानको फिर सर्वगत भी कैसे कह सकेंगे?

स्वप्रकाशकताके विना ज्ञानकी सर्वगतताका मखौल— वाह रे, शंकाकारके ज्ञानका सर्वगतपना कि सबमें तो यह व्यापक बन जाये और आत्मामें यह व्यापक न हो सके, अपने ठौर ठिकानेमें न रहने पर परके

अपना ठौर बनाने वाले लोग तो ठोकरें खाते फिरते हैं। यों यह ज्ञान खुदमें व्यापक न हो और अन्यत्र व्यापक हो चले तो ठोकर खाता रहेगा, इसका सिद्धान्त ही कुछ न हो सकेगा और फिर तो यह ज्ञान मृग-तृष्णाके जलकी तरह प्रतिभासमात्र ही रहेगा, फिर तो ठोस परिज्ञान कुछ कर ही नहीं सकते, क्योंकि इस ज्ञानने अपना आधार छोड़ दिया। इस ज्ञानकी पुष्टिका करने वाला तो ज्ञानका स्वत्व था, उस स्वत्वका विच्छेद हो गया। अब यदि यह जानता है तो समझ लो यों जानता है मृगतृष्णा जलकी तरह अटपट भ्रमरूप, जिसका कुछ ठोस मूल्य भी नहीं है। जैसे कोई चालाक पुरुष किसी प्रसंगमें कभी हँसता भी है तो वह बेमूल हँसता है। उसके खुश होनेका आधार कुछ नहीं है। सो केवल उसकी आदतमें ऐसा शुमार हो गया है, उसने अपनी ऐसी व्यवहार-कला बनाई है कि आपको अपना बड़प्पन जतानेके लिए एक ढंग से, जैसे बडे पुरुष किसी बात पर मुस्कराते हँसते रहते हैं। इस तरहकी मुद्रासे बात करेंगे हँसेंगे, पर उनका यह हास्य, उनका यह हर्ष अमूल है, भीतरमें कुछ जड़ नहीं है। यों ही यह ज्ञान जानेगा भी तो नाममात्र मृगतृष्णाजलकी तरह भ्रममात्र निराधार अटपट, उसका कोई ठोस प्रमाण भी न रहेगा। इस कारण ज्ञानको केवल परप्रकाशक मत मानो। उसमें ज्ञानकी भी सिद्धि न हो सकेगी।

ज्ञानको मात्र परप्रकाशक माननेपर अचेतन पदार्थोंके अभावका प्रसङ्ग— एक नई आपत्ति और सुनिये। यह ज्ञान यदि परमें ही व्यापक बनता है तो ज्ञान जिसमें व्यापक है, ज्ञानका जो विषय है वह सब ज्ञान-मय ही रहेगा। यों सारा जगत् ज्ञानमय हो जायेगा, कुछ अचेतन रहेगा ही नहीं। फिर तो एक विज्ञान अद्वैतवाद आ उटेगा। विज्ञानवादमें यह सिद्धान्त है कि जो कुछ है वह सब ज्ञान ही ज्ञान है। यह भींत दिखती है यह तो झूठ दिखती है। है नहीं कुछ। जो कुछ भी दिख रहा है यह सब कोरा भ्रम है। सब ज्ञान ही ज्ञान है। ऐसा विज्ञानवादका सिद्धान्त है। वस्तुतः ऐसा है नहीं। अरे, ये प्रकट अचेतन हैं। जाननहार कोई पदार्थ अलग रहता है, किन्तु विज्ञानवादमें यह सब ज्ञान ही ज्ञान है—ऐसा माना जाता है।

ज्ञानैकान्तमें वास्तविक परिणमनोंकी भ्रांतिकी भ्रांति—ज्ञानाद्वैतकी सिद्धिके प्रमाणके लिये शङ्काकारकी ओरसे पूछ रहे हैं—अच्छा, यह तो बतावो कि जब सोते हुएमें स्वप्न आता है और उस स्वप्नके समयमें जो कुछ दीखा वह सही लगेगा कि न लगेगा? यह नदी है, मैं यहाँ गिर गया—यों स्वप्नमें देखा तो दुःखी हुआ कि नहीं? कुछ डूबने जैसा स्वप्न आ जाये, तबकी बात सोचो व यह तो बतावो कि उस समय वहाँ है क्या? केवल ज्ञान ही ज्ञान है, कल्पना ही कल्पना है, है कुछ नहीं। वह सब भ्रममें दिखता है। ऐसे ही विज्ञानवाद यह कहता है कि तुम्हें भ्रम हो गया है कि यह भींत मालूम पड़ती है, चौकी मालूम पड़ती है। यह तो सब ज्ञान ही ज्ञान है, कल्पना ही कल्पना है, है कुछ नहीं।

वास्तविक परिणमनोंमें स्वप्नभ्रमकी तुलना— अरे बाबा! हम हाथसे उठाकर, टटोलकर भी तो देख रहे हैं कि यह चौकी है। इस भींतसे हम टकरा भी तो जाते हैं कि यह भींत है। अरे, तो क्या स्वप्नमें टकराते नहीं हो? किसी चीजको स्वप्नमें उठाकर रखते नहीं हो? वहाँ भी तो तुम्हें सही नजर आता है। यहाँ भी ये सब तुम्हें सही मालूम पड़ते हैं, यह सब भ्रममात्र है। यों ज्ञानका आधार आत्माको न मानोगे और बाह्यमें व्यापक मानोगे तब क्या हो जायेगा? बस ज्ञान ही ज्ञान तत्त्व रह जायेगा, क्योंकि फिर ज्ञानसे जुदा कुछ नहीं रहा। तो ज्ञान भी किसका नाम है? लो यों ज्ञान भी मिट जायेगा। अरे! सीधे-सीधे ठीक सिद्धान्तकी बात मानते जावो, आत्मा स्वपरप्रकाशक है, ज्ञान स्वपरप्रकाशक है और दर्शन स्वपरप्रकाशक है।

दृश्यमान पदार्थोंकी मायारूपताका कारण— भैया! जो चीज जिस प्रकारसे असार है उसको उस प्रकारसे असार समझो, अन्य भांतिसे असार समझनेका यत्न न करो। ये बाहरी पदार्थ जो भी नजर आ

रहे हैं ये सब मायारूप हैं, पर ये मायारूप किस कारणसे हैं, उसकी विधि तो यथार्थ जानो। यों ही कहने से काम न चलेगा कि जैसे स्वप्नमें यह दिखता है कि वह भ्रम है, मायारूप है--ऐसे ही इन खुली हुई आँखोंसे भी जो कुछ दिखता है वह माया है। यों माया नहीं है, किन्तु जो कुछ दिखता है वह परमार्थस्वरूप नहीं है। परमार्थस्वरूप तो इन भौतिकोंमें अणु-अणु हैं और उन अणुवोंका यह ढेर बन गया, जिसका विश्वास नहीं है, विनश्वर है, संयोग वियोग होता रहता है। यों विनश्वर संयोगवियोगात्मक ये सब पिंड नजर आ रहे हैं, इसलिये माया हैं परमार्थ नहीं हैं। यह ज्ञान मायाको भी जानता है, परमार्थ को भी जानता है, स्वको भी जानता है।

दर्शनकी प्रकाशकताके सम्बन्धमें शङ्का समाधान— ऐसे ही केवल आभ्यन्तरका ही प्रकाश करता है, बाह्यवस्तुवोंका नहीं। ठीक है, दर्शन भी जो करता है सो ठीक है, ज्ञान भी जो करता है सो ठीक है, किन्तु इन दोनोंका प्रतिपादन जब हम बाह्यद्रव्योंका सहारा लेकर करते हैं और उसमें जो कुछ कहा जाता है वह व्यवहारका वर्णन है और उसमें बाह्यद्रव्य ही बताये जायेंगे, यों दर्शन भी परप्रकाशक समझा जायेगा और स्वप्रकाशक भी समझा जायेगा।

दर्शनसे परप्रकाशकताकी भी सिद्धि— और भी देखो भैया! बात केवल एक समझानेके लिये कही जा रही है—यह आँख देखती है, यह हमेशा बाहरी चीजोंको देखती है खुदको तो देख ही नहीं पाती। आँखों में कभी काजल लगा हो तो उसे आँखें खुद नहीं देख पातीं। आँखें दर्पणको देखेंगी तो जान पायेंगी कि ऐसे कागज लगा है, वहाँ भी उसने बाहरी चीजोंको निरखा। तो दर्शन तो प्रत्यक्ष बाहर ही बाहर देखता है, खुदको नहीं देखता है। यह एक समझानेके लिये दलील है और तुम अड़ रहे इस बात पर कि आत्माका दर्शन परको प्रकाश करता ही नहीं, मात्र खुदका प्रकाश करता है। तुम उल्टी बात बनाये जा रहे हो। यद्यपि दर्शनका विषय मुख्यतासे आत्मा ही है। परकी बात कहना तो व्यवहारसे है, लेकिन उसके समझानेके भी यों ढङ्ग होते हैं। जो रोग ज्यादा बढ़ गया है, उसे लेबिल पर लानेके लिये भी उसके विरुद्ध भी कुछ दवाई दी जाती है।

आत्मा, ज्ञान व दर्शनकी स्वपरप्रकाशकताकी सिद्धिका उपसहार-- खैर, युक्त बात इतनी है कि आत्मा प्रतिभासात्मक है और वह स्वपरप्रकाशात्मक है। परका प्रतिभास करनेमें भी स्वका प्रतिभास साथ चल रहा है और स्वका प्रतिभास करनेमें भी परका प्रतिभास साथ चल रहा है। ज्ञानने समस्त विश्वको जाना और यह जानना ठीक है। इस प्रकारसे खुदको भी जाना और ऐसे खुदको जानने वाले ज्ञानसे तन्मय आत्माको प्रतिभासमें ले लिया गया है। इस प्रकारसे दर्शन भी स्वपरप्रकाशक हुआ और ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक हुआ। जिन सिद्धान्तोंमें यह लक्षण किया गया है अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन कहते हैं और बहिर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन कहते हैं। करणानुयोगशास्त्रमें इसी प्रकार परिभाषा है। उसमें भी यह निषेध नहीं किया गया था कि बहिर्मुख चित्प्रकाश करने वाला आत्मा स्वका प्रकाश नहीं करता है। वहाँ तो बहिर्मुखताकी पद्धति बताई है। यों ज्ञान और दर्शनमें स्वपरप्रकाशकता युक्तियुक्त है, इस कारण आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है और वह स्वपरका प्रकाश करता है, यह सिद्ध हुआ।

केवली भगवानका ज्ञातृत्व व द्रष्टृत्व— ये भगवान केवली समस्त लोकको जानते हैं, फिर भी मोहका अभाव होनेसे पररूप परिणमते नहीं हैं अर्थात् कल्पनामें परका सम्बन्ध, परका हित आदिककी भावना प्रभाव नहीं डालती। इस कारण यह समस्त विश्व ज्ञेयाकारको पी लेने वाला भी यह भगवान प्रभु मुक्त स्वरूप है। यह तो अल्पज्ञानी, रागी, द्वेषी, मोहियोंकी बात है कि "तनकी भूख है तनिकसी, तीन पाव या सेर। मनकी भूख अपार है, लीलन चहत सुमेर॥" यह ज्ञान सहज परमात्मतत्त्वको जानता हुआ समस्त लोकको जानता है। यह नित्य शुद्ध क्षायिक ज्ञान है और दर्शन भी नित्य शुद्ध क्षायिक दर्शन है

और स्वपरको साक्षात् प्रकाशित करता है। यह आत्मा भी स्वपरप्रकाशक होता है, इस प्रकार शंकामें समाधानमें संकेत किया गया है। अब इसका विशदरूपसे समाधान अगली गाथामें करेंगे।

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६२॥

ज्ञानकी मात्र परप्रकाशकताका निषेध—पूर्व गाथामें जो शंकाकारने पक्ष रक्खा था कि आत्मा परप्रकाशक इस प्रकार है कि आत्मा है ज्ञानदर्शनस्वरूप, इसमें ज्ञान है परप्रकाशक और दर्शन है स्वप्रकाशक, इस ही कारण आत्मा स्वपरप्रकाशक है। इस पूर्व पक्षके समाधानमें सिद्धान्तरूप इस गाथामें प्रतिपादन किया है। यदि ज्ञान मात्र परका प्रकाशक हो तो ज्ञानसे दर्शन जुदा कहलायेगा और यह तो स्वीकार ही कर लिया था शंकाकारने कि दर्शन परप्रकाशक नहीं है। तो दर्शन तो रहा स्वप्रकाशक ही इस शंकाकारके मन्तव्यमें और ज्ञान रहा परप्रकाशक ही। जिसका इतना विरुद्ध काम है, विरुद्ध मुख है तो वे दोनों भिन्न ही हैं। ज्ञान तो परकी ओर मुख किये हुए है, दर्शन स्वकी ओर मुख किए हुए है—ऐसे अत्यन्त भिन्न ज्ञान और दर्शनका एक जगह कैसे सम्बन्ध होगा ?

ज्ञानकी अनात्मनिष्ठतामें ज्ञानके अभावकी आपत्ति— जैसे विन्ध्याचल पर्वत और हिमाचल पर्वत—ये दोनों जुदी-जुदी दिशामें बने हुए हैं, भिन्न-भिन्न क्षेत्रमें बने हैं तो क्या एक हो जायेंगे ? नहीं होंगे। तो शंकाकार यह कहता है कि इसमें क्या हर्ज है ? ज्ञान जुदी चीज है, दर्शन जुदी चीज है। ज्ञान तो बाह्यनिष्ठ हो गया, दर्शन आत्मनिष्ठ हो गया। यहाँ उत्तरमें कह रहे हैं कि हे जिज्ञासु ! यदि ज्ञान आत्मनिष्ठ नहीं है, आत्मासे सम्बन्ध नहीं रखता, सम्बन्ध रखनेका अर्थ प्रकाश करना होता है। ज्ञान आत्माका प्रकाश न करे तब ज्ञानका सम्बन्ध क्या ? ज्ञान कोई अलग द्रव्य नहीं है कि संयोग मान लिया जाये कि आत्मामें ज्ञानका संयोग हो गया है। जैसे कि चौकीका और वस्तुसे संयोग हो गया। ज्ञानका सम्बन्ध जाननरूप ही हुआ करता है, अन्यरूप नहीं होता। ज्ञानका सम्बन्ध आत्मासे नहीं माना तुमने, क्योंकि तुम्हारे मन्तव्यमें ज्ञान जानता नहीं आत्माको परको जानता है। तो ज्ञानका सम्बन्ध परसे रहा, परनिष्ठ हो गया। आत्मा तो आधार रहा नहीं और ज्ञानका पर आधार है ही नहीं। परपदार्थ तो समस्त अचेतन हैं। जो आत्मनिष्ठ है वह दर्शन ही है। ज्ञान तो अब निराधार हो गया। निराधार होनेसे ज्ञान शून्य हो जायेगा। कुछ भी नहीं रहा ज्ञान।

ज्ञानकी मात्र परप्रकाशकता माननेमें आपत्तिका विवरण— यद्यपि इस शंकाका इसी प्रकारका समाधान कलकी गाथामें कर दिया गया था, क्योंकि उस पूर्व गाथामें उत्तर देनेका भी पूज्यश्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने वायदा कर लिया था। उसी समाधानको पूज्यश्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव गाथाके रूपमें वर्णित कर रहे हैं। ज्ञानको मात्र परप्रकाशक माननेपर क्या विपदा आती है, इस बातका वर्णन इस गाथामें है। ज्ञान जाननेका काम करता है, पर शंकाकारने यह कहा है कि ज्ञान मात्र परको जाननेका काम करता है, किंतु सिद्धान्त यह कह रहा है कि ज्ञान मात्र परको ही नहीं जानता है। देखो ज्ञान स्वको जाने बिना किस ही प्रकार अभ्यासरूपसे सही, न हम उसे पकड़ पायें, फिर भी यह ज्ञान अन्तरङ्गमें यदि अपने आपको जानता न हो तो जो ज्ञान किया जा रहा है, वह ज्ञान पक्का है, ठीक है, उसका ज्ञान सही है। इस प्रकारका अपने आपमें निर्णय न होनेसे परके जाननेकी भी गारंटी क्या रही ? हमने यह ठीक ठीक जाना कि नहीं जाना ? इस पकाईके साथ ही परके जाननेकी पकाई है। हाँ, मैंने ठीक समझा है कि यह चौकी है। इतना अंश यदि न प्रकट हो तो चौकीके जाननेकी कीमत क्या रही ? यह तो अटपट प्रतिभास मात्र ही रह गया।

ज्ञानकी अनात्मनिष्ठता मानने पर ज्ञानकी शून्यताकी आपत्तिका विवरण— अब इसी प्रसंगसे सम्बन्धित

यहाँ यह बात कही जा रही है कि ज्ञान आत्मनिष्ठ नहीं है तो निराधार होनेसे ज्ञानमें शून्यता आ जाएगी। दर्शन शास्त्रमें है एक सिद्धान्त ऐसा, जिसने ज्ञानको केवल परप्रकाशक माना है, स्वप्रकाशक नहीं माना है और उस ही से सम्बन्धित यह भी कुछ दर्शनका मंतव्य है कि ज्ञान आत्माका गुण नहीं है, आत्माका धर्म नहीं है, स्वभाव नहीं है। ज्ञानसे आत्मा तन्मय नहीं है, आत्मा तो केवल चेतन है। इस चेतन आत्मामें ज्ञानका जब संयोग होता है तो आत्मा ज्ञानी बनता है। इस सिद्धान्तमें ज्ञानको व आत्मा को जुदा जुदा कर दिया गया है। वे जो ऐसा कहते हैं उसमें भी कुछ बल है, उन्होंने यह आशय क्या समझकर बनाया है? उनका परम्पराका मूल भाव समझनेके लिये इस ओर ध्यान दो कि हम आप जो कुछ भी ज्ञान करते हैं, यह ज्ञान आत्मामें कहाँ रहता है? हुआ ज्ञान और मिट गया। अभी भींतको जान लिया, अब चौकीको जानने लगे, वह ज्ञान मिट गया। तो ज्ञानके संयोग-वियोग तो हो रहे हैं ना? ऐसा ही निरखकर वह पक्ष बना है, जिसका समाधान दिया जा चुका है।

ज्ञानको कलङ्क माने जानेका एक भ्रान्त सिद्धान्त— इस प्रसंगसे ही सम्बन्धित यह भी बात उनके अभिमतमें है कि इस आत्माके साथ जब तक ज्ञान रहेगा तब तक संसारमें रुलना पड़ेगा, जन्म मरण लेना पड़ेगा और जब इस ज्ञानसे मुक्त हो जाएगा तो जीवको मोक्ष मिल जायेगा ऐसा भी उनका सिद्धान्त है। इसमें भी उनका परम्परापूर्वक मूल पूर्वका आशय समझनेके लिए इस ओर ध्यान दीजिये। हम आप लोगोंका ज्ञान यह सब क्लेशका कारण बन रहा है। धन, वैभव, परिजन, सम्पदा, यश, प्रतिष्ठा—इनमें फंसा हुआ ज्ञान हम सबके दुःखका कारण है और ऐसा लगता है कि हम यदि ऐसा ज्ञान न बनाया करें तो कोई क्लेश न होगा। यदि यह ज्ञान मिट जाए तो सारा क्लेश भी मिट जाये। इस अंशको लेकर उन का यह सिद्धान्त बना है कि ज्ञानका जब तक जीवमें संयोग है तब तक जीवको संसारमें रुलना पड़ता है और जब ज्ञान बिलकुल हट जाये, यह जीव जीव ही रह जाए, चेतन ही रह जाये, ज्ञान न रहे तो इसकी मुक्ति है। इससे तो यह शिक्षा लेनी चाहिये थी कि ज्ञानस्वभाव जीवका स्वरूप है, ज्ञानविपरिणमन नहीं।

ज्ञानकी निष्कलङ्कस्वरूपताका समर्थन— वह चेतन क्या है कि जिसमें ज्ञानका सम्बन्ध न रहे और फिर भी चेतन रहे? ऐसा अपरिणामवादियोंसे पूछिये तो उनका स्पष्ट कथन है 'चैतन्य पुरुषस्य स्वरूप'। चैतन्य तो पुरुषका स्वरूप है। उसमें ज्ञानपना कहाँ बताया गया है? ज्ञान तो तरङ्ग है आत्मा निस्तरंग है। ऐसा कहाँसे उन्हें बल मिला? इस ओर ध्यान दीजिये। हम आप ज्ञान करते हैं तो अन्तरंग तो उठती ही है। कोई बड़ा निर्मल ज्ञान भी करे तो भी अर्थाकार विकल्प तो होता ही है। ऐसे ही अंशको कुछ प्रतिग्रहमें रखकर यह बात कही गई है कि आत्माका स्वरूप ज्ञान नहीं है, चैतन्य है। अब देखते जाइये, ये सब मंतव्य ज्ञानको मात्र परप्रकाशक ही मानने पर बने हैं। यहाँ यह ध्यानमें नहीं रहा कि ज्ञानशक्तिके मूलमें तो केवल ज्ञानाकार है, उसकी खबर न रही और उसका परिणमन उस व्यक्त परिणमनमें ज्ञेयाकार आता है। ज्ञानका स्वरूप ज्ञेयाकार है यह सिद्धान्त भी नहीं कहा। वह तो उसका उस उस समयका परिणमन है, पर ज्ञान ज्ञानाकारमें शाश्वत अव्यक्तरूपसे रहता है।

स्वपरप्रकाशकताका अविनाभाव— वह ज्ञान जिससे भी सम्बन्धित होगा, उसको प्रकाश किए बिना बाहरको प्रकाश कर दे, यह कैसे हो सकता है? दीपक जिस कमरेमें रखा होगा, दीपकका जो आधार है और निकट चलो—दीपकका स्वयं ही जो आधार है, निश्चयसे जो भी आधार है, दीपक आधारको तो प्रकाशित न करे और कह दें कि दीपकका सम्बन्ध इस जगह है, यह कैसे सम्भव है? अरे, ज्ञानज्योति-स्वरूप जाननका सम्बन्ध है। उसका अर्थ ही यह है कि यह उसे जान रहा है। यों ज्ञान स्वपरप्रकाशक है और आत्मा भी स्वपरप्रकाशक है। केवल मात्र परप्रकाशक नहीं है।

भलाई चाहते हो तो अन्तरङ्गमें सत्य श्रद्धा बना लो कि मैं सब पदार्थोंसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हूं। बात सही हो तो मानलो, न सही हो तो न मानो, निर्णय तो कर लो।

मोहकी विडम्बना— भैया! कितनी ही बार इन परपदार्थोंकी ओरसे कष्ट आपत्तियाँ भोगते आ रहे हैं और फिर भी नहीं मानते हैं। इस मोहका फल तो खुदको ही भोगना पड़ेगा। कोई एक बूढ़ा अपने नाती पोतोंको खिलाकर प्रेम करके उन्हें अपने सिर पर चढ़ाकर खिलाता था। वे नाती पोते थप्पड़ मारें, मूँछ भी नोचें, परेशान करें। वह बूढ़ा बड़ा दुःखी होता था, कभी रोता भी जाता। वहाँसे निकले एक साधु। पूछा--बूढ़े बाबाजी! तुम क्यों दुःखी हो? तो उस बूढ़ेने अपने दुःखका कारण बताया। तो साधु ने कहा कि हम तुम्हें ऐसा उपाय बतावें कि तुम्हारे ये सारे दुःख दूर हो जावें। उस बूढ़ेने समझा कि साधु महाराज कोई मन्त्र फूँक देंगे तो ये नाती पोते चौबीस घण्टे हमारी हुजूरीमें लग जायेंगे। साधुने कहा कि तुम अपना घर छोड़कर हमारे सगमें हो जावो, तुम्हारा सारा कष्ट मिट जायेगा। तो वह बूढ़ा बोला कि महाराज! ये नाती पोते चाहे हमें मारें, चाहे जो करें, पर हम इनके बब्बा तो न मिट जायेंगे। हम उनके बब्बा ही कहलायेंगे और वे हमारे नाती ही कहलायेंगे। तो ये मोही जीव दुःखी भी होते जाते हैं और दुःखके ही कार्य करते जाते हैं।

आत्माकी सुरक्षाकला— भैया! अपने ज्ञानको जिस क्षण भी सभाल लो उसी क्षण सारे क्लेश मिट जायेंगे। कोई नदीमें तैरने वाला कछुवा पानीमें ऊपर सिर उठाकर चले तो सैकड़ों पक्षी उसकी चोंच पकड़नेके लिये झपटते हैं। अरे कछुवे! तू क्यों घबड़ाता है, क्यों दुःखी होता है, जरासी कलामें ही तेरे सारे सकट दूर हो जायेंगे। वह क्या कला है कि पानीमें चार अगुल डूब जा, फिर सभी पक्षी तेरा क्या बिगाड़ कर लेंगे? यों ही हे आत्मन्! तूने बाहरमें अपना ज्ञान उपयोग बनाया है तो तू इष्टवियोग अनिष्टसंयोगमें बढ़ गया है और दुःखी हो रहा है। तो तू दुःखी मत हो। तेरे में तो वह कला है कि तेरे सभी सताप एक साथ नष्ट हो सकते हैं। वह कला है तेरी ही अन्तर्मुखवृत्ति। अपनी अन्तर्मुखवृत्ति कर के अपने आपके स्वरूपमें मग्न हो जा, फिर एक भी सताप न रहेंगे। यह ज्ञानमय आत्मा आत्मा आनन्दमय है और सबसे निर्मल है, इसके आलम्बनसे ही समस्त संकट दूर होंगे।

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६३॥

आत्माकी मात्र परप्रकाशकता माननेमें दोषापत्ति व उसका निवारक सिद्धान्त— पहिली गाथामें ज्ञानको केवल परप्रकाशक माननेका खण्डन किया था और यह श्रद्धान् उत्पन्न किया था कि ज्ञान स्वका और पर का दोनोंका प्रकाशक है। अब इस गाथामें आत्माके सम्बन्धमे कह रहे हैं कि आत्मा भी स्वका और परका प्रकाशक है। शङ्काकारके मन्तव्यके अनुसार यदि आत्मा केवल परका प्रकाशक हो तो दर्शन आत्मासे भिन्न हो जायेगा, क्योंकि दर्शनका लक्षण स्वप्रकाशक माना है और आत्मा हो जाये मात्र परप्रकाशक तो जो मात्र परप्रकाशकता माननेमें ज्ञानके प्रसगमें दोष दिया था वही सब दोष आत्मको परप्रकाशक मात्र माननेमें आ गया। क्योंकि भाव और भाववान ये एक अस्तित्व करि रचे गए हैं। कोई कहे कि अग्निकी गर्मी ईंधनको जला डालती है तो इसका अर्थ यह है कि अग्नि ईंधनको जला डालती है। क्या ऐसा होता है कि गर्मी तो ईंधनको जला दे और अग्नि ईंधनको न जलाए या अग्नि ईंधनको जला दे और गर्मी ईंधनको न जलावे? बात तो दोनों ही जगह एक है--चाहे गर्मी कह लो, चाहे अग्नि कह लो। गर्मी है भाव और अग्नि है भाववान। भाव और भाववान एक ही अस्तित्व से रचे गये हैं। ये जुदे जुदे नहीं हैं।

आत्माकी स्वपरप्रकाशताके समर्थनके सम्बन्धमे— पहिली गाथामें ज्ञानको व दर्शनको जुदा माननेकी

पद्धति दिखाकर दोष बताया था। ऐसा बिल्कुल विमुख दिखाया था जिसका एक आधार भी न बने। अब यहाँ आत्माको और ज्ञानको जुदा दिखानेकी पद्धति कही जा रही है। मूल बात यह है कि यह मैं आत्मा अपनेको भी समझता हूं और परपदार्थोंकी बात भी समझता हूं। इसमें कोई इतना ही अश ग्रहण करे कि मैं परको ही समझता हूं, आत्माको नहीं समझता हू तो वहाँ यह आपत्ति आती है कि फिर अपनेको समझने वाला फिर रहा कौन ? उत्तरमें कहोगे कि दर्शन। यदि दर्शनका काम जुदा रहा, आत्माका काम जुदा रहा तो ये दोनों भिन्न हो जायेंगे। यदि कहोगे कि ठीक है, आत्मा मात्र परद्रव्यगत ही नहीं है। आत्मा आत्माका भी प्रकाशक है, आत्मनिष्ठ है। तो इसी प्रकार दर्शन भी आत्मनिष्ठ है, वह भी मात्र परप्रकाशक नहीं है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि आत्मा स्व और परका प्रकाशक है, ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है और दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है।

उत्कृष्ट अवसरका अनुपयोग— हम आप लोगोंने आज कितना उत्कृष्ट अवसर पाया है। इस अवसरका आभार माननेके लिए, इस अवसर पर न्यौछावर हो जानेके लिए हम अपने वचन प्रकट नहीं कह सकते हैं। कैसा वह सजग सचेत मनुष्यजन्म मिला है ? हम अपने इस ज्ञानके द्वारा कितना चिन्तन मनन कर सकते हैं और दु:खोंके नष्ट होनेका कितना उपाय बना सकते हैं? दु:ख दु:खसे दूर नहीं होता। दु:ख तो सत्य आनन्दके अनुभवसे दूर होता है। इतने श्रेष्ठ जीवनको हम विषय और कषायोंमें, विकल्पोंमें अपनेको उलझाकर यों गँवा दें, जैसे कोई दुर्लभ रत्नको पाकर कौवोंको उड़ानेके लिए समुद्रमें फेंक दे। कोई कौवा समुद्रके ऊपर उड़ रहा था। किसी पुरुषको ऐसा ही कौतूहल हुआ कि अपने पासमें जो दुर्लभ रत्न था उसे कौवेको उड़ानेके लिए फेंक दिया। वह समुद्रमें गिर गया। इसमें कौनसी बड़ी सावधानीकी करतूत की इसने ? यों ही इस उत्कृष्ट सारभूत जीवनको विषय और कषायोंमें ही लगा दिया तो इस दुर्लभ नर-रत्नको इसने यों ही खो दिया समझिए। किञ्चित् प्रयोजनके लिए, कल्पनामात्र सुखके लिए ऐसे उत्कृष्ट अवसरको हम यों ही बिता दें, यह कितनी अफसोसकी बात है ?

उत्कृष्ट अवसरका दुरुपयोग—जैसे किसीको बर्तन माजनेके लिए राख चाहिए थी। यदि कीमती चंदनके वनोंको जलाकर उसकी राख बनाकर बर्तन माजे तो क्या उसे कोई बुद्धिमान कहेगा ? अरे, कितना कीमती चदन पेड़—सेर भरके भी वजनका पचासों रुपयेमें मिल पाता है, उसे यों ही बर्तन मांजनेके लिए जला दे तो इसमें कोई बुद्धिमानी नहीं है। ऐसे ही कल्पनाजन्य इन्द्रिय सुखको प्राप्त करनेके लिए इस दुर्लभ ज्ञानोपयोगका, इस विशुद्ध विकासका इसने यों उपयोग किया तो यह कितने खेदकी बात है ? हाथी जैसा श्रेष्ठ पशु पाकर कोई हाथी पर मल ढोये, ईंधन ढोये तो क्या यह कोई बुद्धिमानीका काम है ? इसी प्रकार ऐसे इस उत्कृष्ट ज्ञानको पाकर हम विकल्प मैलेको ही ढोते रहें, कल्पनाएँ ही अटपट ऊँधी सूँधी बना बनाकर अपने आपके प्रभुको हैरान करते रहें, दु:खी करते रहें तो क्या यह कोई बुद्धिमानीका काम है ?

भैया ! जितना भयंकर द्वेष परिणाम है उससे भी भयकर राग परिणाम है। किसी भी पदार्थसे राग किया जाए वह मेरे लिए कुछ सहाय नहीं है, कभी सहाय हो नहीं सकता। एक तो वस्तुके परिणमन हैं, सब स्वतन्त्र है, किसीके परिणमनको कोई दूसरा बदल नहीं सकता है। हमें चाहिए कि हम अपना उपादान दु:ख योग्य न बनाएँ। जैसे आनन्दका विकास हो उस प्रकारका अपना परिणाम बनाएँ, यही हमें करना चाहिए।

वर्तमान उत्कृष्ट अवसरके परिचयके लिए अतीत दुर्दशावोंका विवरण— यह जीव अनादि कालसे निगोद अवस्थामें रहा आया है। अनन्तकाल तो निगोदमें बीता। निगोद जीव ऐसे सूक्ष्म होते हैं जो आँखोंसे कभी दिख नहीं सकते। वे निगोद जीव कहीं कही तो निराश्रय रहते हैं। यह जो पोल भी आकाशमें दिख

रहा है यहां भी सर्वत्र ठसाठस भरे पड़े हुए हैं। वे निराश्रय जीव हैं और साश्रय जीव वनस्पतिके फलमें पत्तोंमे, जड़ोंमें और किसी-किसी त्रस कायमें भी दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय व किसी किसी पचेन्द्रिय जीवोंके शरीरमे भी रहा करते हैं। निगोद जीव इन ८ जगहोंको छोड़कर अन्य सब शरीरोंमें रहते हैं। वे ८ स्थान कौन हैं जहा निगोद नहीं होते ? पृथ्वीका शरीर, जलका शरीर, अग्नि और वायुका शरीर—चार तो ये स्थावर हैं जिनमे निगोद जीव नहीं रहते हैं। देव और नारकियोंका शरीर इनमें भी निगोद जीव नहीं रहते हैं। केवली भगवानका शरीरपरमौदारिक होता है, उसमे निगोद जीव नहीं रहते हैं और एक आहारक शरीर है जिसमें निगोद जीव नहीं रहते, यह छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके मस्तकसे धवल पवित्र प्रकट होता है। इन ८ शरीरोंके अलावा अन्य जितने भी संसारी जीवोंके शरीर हैं उनमें निगोद जीव बसा करते हैं। निगोद जीवोंकी स्थितिमें एक श्वासमें १८ बार जन्म मरण करना बना रहता है। श्वास भी कौनसी ? स्वस्थ पुरुषकी नाडी एक बार उचकनेमे जितना समय लगता है उतने समयका नाम श्वास है। मुखसे हवा लेनेका भी नाम श्वास है और इस नाड़ीके भी चलनेका नाम श्वास है। इतनेमें १८ बार जन्म मरण करना होता है। हे आत्मन् ! अपनी पहिले दुःखकी स्थितिको भी तो सोचो। आज तू अपने मनकी स्वच्छन्दतासे दुःखकी कल्पनाएँ बना कर दुःखी हो रहा है। उन निगोदिया जीवोंके स्थितियोंके दुःखका विचार तो कर।

निगोदनिर्गमन—निगोदसे निकला तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति, इनमें उत्पन्न हुआ। ये भी स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं, इनमें जिह्वा तक भी प्रकट नहीं है केवल स्पर्शन और रसना इन्द्रिय है। ये दशायें अन्य जीवोंकी हैं ऐसा समझकर अलग न हो जाना, इन सब दशावोंको कभी हम आपने भी भोगी है। स्थावरसे निकला तो दो इन्द्रिय जीव हुआ। दो इन्द्रिय जीव वे हैं जो बिना पैरोंके छोटे छोटे जीव जमीन पर रेंगते फिरते हैं, लट, केचुवा, जोंक, शंख, कौड़ी, सीप इनमें जो जीव हैं वे दो इन्द्रिय हैं। उनकी क्या स्थिति है ? उनके इस अपरिचित लोकमें उनकी कुछ गिनती भी होती है क्या ? लोग उन्हें बिल्कुल बेकार जड़वत् मानते हैं और अपने किसी उपयोगमें उनकी हिंसा करते हुए कुछ हिचकिचाते नहीं हैं। विरले ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो उन जीवोंकी हिंसासे अपनेको बचाते हैं।

दोइन्द्रियसे निकलकर तीनइन्द्रियमें आगमन—दो इन्द्रिय जीवसे निकला तो उसका और विकास हो गया, तीनइन्द्रिय हो गया, अब स्पर्शन, रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियोंका सुयोग मिल गया। यह सब हम आपकी कहानी है। चींटा, चींटी, बिच्छू आदिक हुए वहां भी कौनसे महत्त्वकी स्थिति प्राप्त की ? केवल आहार कर लेना और खाने ही खानेकी संज्ञा व अन्य संज्ञायें बनी रहना।

चतुरिन्द्रिय व पञ्चेन्द्रियमें आगमन—तीन इन्द्रियसे निकलकर चारइन्द्रिय जीव हुआ, आँखें भी मिल गयीं, तो देखो जैसे हम आप आँखोंसे सब कुछ देख लेते हैं ऐसे ही ये मच्छर मक्खी आदिक स्थितिमें भी आँखोंसे देखा करते हैं, पर उनके देखनेको कुछ कीमत है क्या ? उससे वे अपना कुछ फायदा निकाल पाते हैं क्या ? अपनेको इन्द्रिय विषयके पोषणमें ही लगाते रहते हैं। फिर और कुछ विकास हुआ तो पञ्चेन्द्रिय हुए, पर वहा भी कितने ही जीव तो असंज्ञी होते हैं, मन नहीं है, हित अहितकी कुछ बात नहीं सोच सकते हैं, ऐसा असंज्ञी पञ्चेन्द्रियका भव पा लेने पर भी कुछ हितकी बात हुई क्या ? कदाचित् मन भी मिला और लब्ध्यपर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय बना, ऐसा मनुष्य भी बना, तो भी क्या लाभ ? जो लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य हैं वे आँखों नहीं दिखते, बहुत सूक्ष्मरूपमें हैं, अदृश्य हैं, शरीरके अङ्गोंमें उत्पन्न होते रहते हैं, वहां भी कौनसा कल्याण पा सके ? संज्ञी पञ्चेन्द्रियमें पशुपक्षी बने तो उनकी स्थिति तो आप प्रकट देखा करते हैं। कौनसा हित मिलता है ?

श्रेष्ठ पद्पापरका सदुपयोग—इन सब स्थितियोंको लांघकर आज श्रेष्ठ मनुष्यभवमें आये हैं तो

हे प्रियतम ! इसे यों ही दुःखमें मत बिता दो। केवल क्लेश मोह राग द्वेष विकार—इनमें ही इन अमृतमय क्षणोंको मत गँवा दो। कुछ दया करो अपने आप पर। अपने आपको प्रसन्नतामें आनन्दमें ज्ञानविकास में शुद्ध अभिप्रायमें अपने को लेओ। जितने भी समागम हैं ये सब तेरे लिए बेड़ी हैं। जैसे बेड़ीमें फसा हुआ कैदी कैसा बन्धनमें पड़ा हुआ है, दुःखी है, ऐसे ही परिजन वैभवके मोहके बन्धनमें पड़ा हुआ प्राणी कैसा बन्धनमें जकड़ा हुआ है ? ये समागम जिसपर तू नखरे करता है, अभिमान करता है ये सब तेरी बरबादीके लिए निमित्त कारण हैं। तू इन मिले हुए समागमोंका अहंकार तज दे। इनको अहित मानकर इनकी आशाको तज दे। अपने आपको सम्भाल, अपने आपकी आस्थामें रह। देख तेरा आत्मा अनन्त आनन्द और अनन्त महिमाका निधान है। सब कुछ सारभूत, कल्याणभूत तेरा तुझमें है। तू अपनेसे बाहर जब निकलता है तब क्लेश ही क्लेश तुझे प्राप्त होता है। अंतरमें तो आनन्द ही आनन्द बसा हुआ है। पायी हुई शक्तिका सदुपयोग करो। इतनी उत्तम ज्ञानशक्तिका सदुपयोग करो। मोह राग द्वेषमें ही इस उपयोगको बसाकर इन चेतन अचेतन मोहके विषयभूत पदार्थोंके साथ बिके हुए अपने आपको रिक्त मत कर दो। अपनी निधि, अपनी महिमाको निरखो। यह आत्मा स्वपरप्रकाशक है।

आत्माके स्वपरप्रकाशकताकी अनन्त महिमा—इस स्वपरप्रकाशकतामें अनन्त महिमा बतायी गयी है। यह आत्मा समस्त द्रव्योंमें सारभूत है और इन सारभूत आत्मद्रव्योंमें ही आत्मतत्त्वके सहज स्वरूपका दर्शन है। यही सहजस्वरूप समयसार कहलाता है। जो इस कारणसमयसारसे अपरिचित होते हैं उन्हें फिर जगतमें संकट नहीं रहता है। सकलपरमात्माका जीवन्मुक्त नाम है, किन्तु जो पद्धतिशैली सम्यग्दृष्टिकी है उस शैलीको निरखकर अनेक जन उसे भी जीवनमुक्त कहते हैं।

स्वरूपप्रवेशका अनुरोध—जो अपने आपको ज्ञानमात्र निरखता है वह विशुद्ध आनन्दमें पहुंचता है। इस विशुद्ध ज्ञानानन्दमें पहुंचनेका उपाय यह है कि विरक्तिसहित अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करते जाइए। मैं आत्मा केवलज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, अपनी दयाकी बात कही जा रही है, सब दुःख और संकटोंसे दूर हो जानेकी बात कही जा रहा है। तेरे परमकल्याणकी यह बात है। इन मोहीजनोंसे आप कुछ लाभ न पा लोगे। मोहियोंको प्रसन्न करनेके लिए, जनतासे अपने को बड़ा कहलवानेके लिए ही धनसञ्चयकी होड़ मत करो। इस प्रकरणसे तो अंतमें बड़ी मुँहकी खानी पड़ेगी। आपको ही कष्टका अनुभवन करना पड़ेगा। इन असार, भिन्न, अचेतन पुद्गलोंके खातिर इस अनन्त महिमानिधान परमार्थ पदार्थको लगा दिया, इसका दुरुपयोग किया यह कितने बड़े विषादकी बात है ?

धर्मपालन—देखो भैया ! अब यह कहा जाय कि धर्म करो, तब क्या करना है ? तू अपने आपको ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभव कर। केवल ज्ञातादृष्टा रह। यह आत्मा स्वयं धर्म है। यह आत्मा साक्षात् धर्मस्वरूप है, शुद्ध ज्ञानस्वरूपात्मक है। जिसे इस प्रतिभासस्वरूप आत्मतत्त्वका दर्शन होता है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। ये सम्यग्दृष्टि जीव इन इन्द्रियविषयोंको नष्ट करनेमें स्वभावतः ही समर्थ हैं, किन्तु जब भ्रम करके विपरीत वृत्तिसे रहा तो ये सब उपद्रव इसके सिरपर मँडराने लगते हैं। यह आत्मा अपने आपमें अपने आपके द्वारा गुप्त ही गुप्त अपनेमें आनन्दका अनुभव कर पाता है। इसे कहीं कुछ दिखाना नहीं है। बनावट, सजावट, दिखावटसे आत्माको कुछ मिलता नहीं है। तुम अपने आपमें अन्दर ही अन्दर ज्ञानका घूँट उतारते जाओ और विशुद्ध ज्ञाता रहकर समस्त क्लेशजालोंको दूर कर लो। यह सब कल्याणकी बात अपने आपमें अपने आपके द्वारा अत्यन्त सुगम है। इस दुर्लभ संसारका समुचित लाभ उठा लो अन्यथा इन पाते ज्ञानसामर्थ्यका दुरुपयोग करनेसे फिर उन्हीं भवोंमें रुलना फिरना बना रहेगा। जो भव बहुत असमर्थ विलासरूप हैं, एकेन्द्रिय आदिके भव। अब नीचेसे उठ-उठकर आजइतनी उच्च अवस्थामें आये हैं तो अब गिरनेका काम तो न करें। ऐसा ही पुरुपार्थ बना, ऐसी ही निर्मलता

कर कि तू उठ। गिरने वाली बातके करने से तुझे लाभ कुछ न मिलेगा। इस स्वपरप्रकाशक ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्माका विश्वास कर और उसही में अपने आपके उपयोग को रमा।

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥

व्यवहारनयसे परप्रकाशकताका समर्थन—इस प्रकरणमें अब तक यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, दर्शन स्वपरप्रकाशक है और आत्मा स्वपरप्रकाशक है और इस स्वपरप्रकाशकताके बारेमें यह भी प्रसिद्ध कर दिया गया कि व्यवहारनयसे तो इन तीनोंमें परप्रकाशकता है और निश्चयनय से इन तीनोंमें स्वप्रकाशकता है। आत्मा धर्मी है ज्ञान और दर्शन धर्म है। ये तीनों कोई स्वतन्त्र सत् नहीं हैं, किन्तु प्रतिपादनके सम्बन्धमें भेद किये जाने पर इस बातकी विशेषता बतायी गयी है। व्यवहारनयसे जो कहा गया है उसके समर्थनरूपमें व्यवहारनयकी सफलताका द्योत इस गाथामें करते हैं। व्यवहारनयसे ज्ञान परप्रकाशक है और इसी कारण दर्शन भी व्यवहारनयसे परप्रकाशक है और आत्मा भी व्यवहारनयसे परप्रकाशक है।

व्यवहारनय व निश्चयनयका दिग्दर्शन—व्यवहारनय उसे कहते हैं जो पराश्रित प्रतिपादन या बोध किया जाय और निश्चयनय कहते हैं उसे जो स्वाश्रित प्रतिपादन और बोध किया जाय। जिस पदार्थका वर्णन करना है उस पदार्थका ही उस पदार्थमें सब कुछ दिखाया जाय, इसको तो कहते हैं निश्चयनय और दूसरे किसी पदार्थका नाम लेकर फिर कुछ बताया जाय, यह है व्यवहारनय। आत्मा अपने रागपरिणमन से रागी होता है, अपनी योग्यतासे अपने ही गुणोंके विकाररूपसे परिणत होकर रागी होता है यह बात भी सत्य है और ऐसा कहना यह निश्चयनयका कथन है। आत्मा अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण रागी नहीं होता है, किन्तु कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर ही रागी होता है। यह राग कर्मोंके उदयसे होता है यह बात भी सत्य है और इस पराश्रित प्रतिपादनका नाम है व्यवहारनय।

परमार्थपरिचयसे व्यवहारनयकी कार्यकारिता—व्यवहारनयमें परमार्थमर्मकी दृष्टि न हो तो वह व्यवहाराभास कहलाने लगता है। व्यवहारनय नहीं रहता है। जिस कर्मके उदयसे राग हुआ है ऐसा वर्णन सुनकर यदि यह ही दृष्टि बना ली जाय कि कर्मोंके उदयसे रागकी किरण निकलती है, कर्मोंसे राग पैदा होता है, कर्मोंका परिणमन है यह व्यवहाराभास हो गया। वह असत्य कथन हो गया। व्यवहारके प्रतिपादनमें किस ओर दृष्टि दिलायी गयी है ? उसका परिग्रहण होना चाहिए। अपने कल्याणके लिए निश्चय का प्रतिपादन भी कार्यकारी है और व्यवहारनयका प्रतिपादन भी कार्यकारी है।

नयोंके एकान्तसे अलाभ—यथार्थ स्वरूपसे अपरिचित होकर निश्चयको एकान्त बनाने पर भी काम बिगड़ता है। जैसे आत्मा अपने ही गुणोंसे रागी होता है इसको सर्वथा एकान्त मान लिया जाय कि आत्मासे ही राग चला करते हैं तो यह स्वभाव बन बैठेगा। व्यवहारकी अपेक्षा छोड़कर निरपेक्ष, परिपूर्ण सर्वथा यथार्थ मान लिया जाय तो यह राग करना जीवका स्वभाव हो जायेगा और यह फिर कभी मिट न सकेगा। यदि जीवमें ऐसा स्वभाव मानते हो कि कभी राग होता है, कभी मिटता है तो उसमें तो यह अटपट बात बन जायेगी कि कभी मिट गया तो फिर हो जायेगा, क्योंकि वह राग जीवके स्वभावसे ही उत्पन्न हुआ करता है। आज नहीं है राग, फिर कभी हो बैठेगा। तब निश्चयको ऐसा ही एकान्त मान लेने पर अपने व्यवहारनयकी अपेक्षा छोड़ देने पर वहाँ भी हितका मार्ग रुद्ध हो गया। कोई व्यवहारको ही एकान्त मान ले, अजी कर्मोंके उदयसे ही राग होता है, जीव क्या करेगा ? तो कर्मोंके उदयसे होता है तो साहब अब कर्मोंका उदय ही प्रभु कहलायेगा। उसकी मर्जी होगी तो राग बनेगा, उसकी मर्जी न हो तो राग मिटेगा। रागके होने न होनेकी स्वतंत्रता कर्मोंकी है तो फिर जो करे सो भोगे। कर्मोंने ही राग

किया है तो हमारी बला से। कर्म राग करते हैं तो कर्म भोगेंगे, मेरा क्या बिगड़ता है उसमें ? यों इस एकान्तमें भी हित न मिल पायेगा।

प्रज्ञ पुरुषकी तत्त्वनिपुणता—जैसे कोई बालक खेलमें अत्यन्त निपुण हो तो उसके लिए वह खेल खेलना आसान है। चलकर, बैठकर, मुड़कर उस खेलको वह खेला करता है। इसही प्रकार वस्तुस्वरूपके यथार्थ परिचयकी कलामें निपुण ज्ञानी पुरुष प्रत्येक दृष्टिसे अपनी कला खेलता रहता है। वह व्यवहार नयके प्रतिपादनसे भी हित निकालता है और निश्चयनयके प्रतिपादनसे भी हित निकालता है। अहित तो दुराशय है, नयोंके प्रयोगसे अहित नहीं है।

सदाशयमे व्यवहारनयसे भी लाभकी प्रस्तावना—भैया ! कहो व्यवहारनयका प्रतिपादन इसको शुद्ध दृष्टिका बहुत अधिक भी साधक बन जाय। जैसे कि समयसारमें जीवजीवाधिकार है, वहाँ यह बताया गया है कि जीवमें राग नहीं, द्वेष नहीं कर्म नहीं, देह नहीं, ये सब परभाव हैं, पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न हुए हैं और इसही प्रसंगमें इसही सदर्भमें यह कह दिया कि शुद्ध निश्चयनयसे ये रागादिक पौद्गलिक हैं, पर यथार्थज्ञानका, मर्मका परिचयी पुरुष कहीं भी भ्रममें नहीं पड़ सकता है और इस दिशामें जहाँ यह बताया है कि शुद्ध निश्चयसे रागभाव पौद्गलिक है, वहां प्रयोजन यह है कि वह द्रष्टा पुरुष अपने आप को शुद्ध चैतन्यमात्र समझ लेवे। इस निश्चयनयका नाम है विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय।

सदाशयमें व्यवहारनय और निश्चयनयकी एक मंजिल—विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनयमें कितनी उत्तम अंतरङ्गकी तैयारी है कि ये रागादिक भाव हैं, ये जीवके स्वरूप नहीं हैं। जीव तो शुद्ध चैतन्य-स्वरूपमात्र है और फिर ये रागादिक, ये हो कैसे गये ? ये रागादिक क्या जीवके निजभाव नहीं हैं, हां स्वभाव नहीं हैं, सहजभाव नहीं हैं ? हा हां नहीं हैं। तो क्या परभाव हैं ? इसका मतलब रागादिक पर-भाव है, इसका मतलब यह है कि यह परपदार्थोंके साथ अन्वयव्यतिरेक रखता है। परउपाधि हो तो रागादिक होंगे। परउपाधि न हो तो ये रागादिक न मिलेंगे, ऐसा अन्वयव्यतिरेक इन रागादिक भावोंका पुण्यकर्मोदयके साथ है। इससे पुद्गलकर्मोंके उदयके निमित्तसे उत्पन्न हुए भाव हैं, ये परभाव है। तब फिर ये रागादिक किसके क्या हो गए, किसके बन गए ? हम इन रागादिकोंको किसके निकट पहुंचाएँ, इन रागादिकोंको रक्षाका भार किसके जिम्मे, सौंपोगे ? पुद्गलके जिम्मे, क्योंकि मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, मैं अपने आपको शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही निरखना चाहता हू, ऐसे शुद्धस्वरूपकी दृष्टिका आश्रय होनेपर इन रागादिक भावोंको जो कि आत्माके ही निजभाव हैं, औदयिक परिणमन हैं फिर भी इसे पौद्गलिक बना देना इसकी प्रशंसा की गई है। भूल कहां है ? नय सब पथदर्शक होते हैं। नयका अर्थ यह भी है जो इस जीवको हितकी ओर ले जाय वह नय है। नयका अर्थ यह भी है कि जो इस जीवको यथार्थ परिज्ञान की ओर ले जाय, प्रमाणपरिगृहीत अर्थके एकदेशके ज्ञानमें ले जाय उसका नाम नय है। यह नय जब निरपेक्ष होता है तब मिथ्या होता है और जब सापेक्ष होता है तब यह सम्यक् कहलाता है।

व्यवहारनयसे परप्रकाशकताके प्रतिपादनमे अन्तरङ्ग आशय—इस प्रसगमे व्यवहारकी सफलताका प्रति-पादन किया गया है। समस्त जो कर्म ज्ञानावरणादिक हैं उनके क्षयसे उत्पन्न होने वाला जो निर्मल केवलज्ञान है वह मूर्त अमूर्त चेतन अचेतन समस्त परपदार्थोंके गुण और पर्यायोंके समूहका प्रकाशक है, ज्ञान सबको जानता है। यह बात व्यवहारनयसे समझनी है। कहीं उसका कोई यह अर्थ न लगा ले कि यह ज्ञान परपदार्थोंमें प्रवेश कर करके उन परपदार्थोंको आधार बना-बनाकर जानता है। ऐसा कोई न समझ ले, इसके लिए यह व्यवहारनयका कथानक है, यह बात समझायी गयी है। ज्ञान शक्ति है और शक्ति-शक्तिमानमे रहती है। शक्ति और शक्तिमानका कोई भेद नहीं है। यह ज्ञान अपने आत्मप्रदेशमें रहते हुए ही यहीं ही जाननरूप व्यवस्थासे समस्त पदार्थोंका परिज्ञान कर रहा है। किसी भी परपदार्थमें

यह जाता नहीं है।

अपना ज्ञान और दर्शन—भैया! अपन आँखोंसे किन्हीं चीजोंको निरखते है, यह एक ज्ञान हुआ, इसे दर्शन नहीं कहा करते। आँखोसे देखनेका नाम दर्शन नहीं है। इसे भी ज्ञान कहते है। समस्त इन्द्रियोंसे ज्ञान ही होता हैं, दर्शन नहीं होता है। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा कोई ठंडा गर्म रूखा चिकना आदि परिज्ञान हुआ तो उसे दर्शन नहीं कहा, उसे ज्ञान कहा हैं, ऐसे ही रसनाइन्द्रियके द्वारा जो खट्टा मीठा आदि रसोंका परिज्ञान हुआ उसे दर्शन नहीं कहते हैं, वह ज्ञान है। ऐसे ही घ्राण इन्द्रिय द्वारा जो गधका परिज्ञान होता है यह भी दर्शन नहीं है, ज्ञान है। इस ही प्रकार नेत्रेन्द्रिय द्वारा जो हमने रूपका परिचय कर लिया है, यह काला है, पीला है, नीला है, यह भी दर्शन नहीं है, यह भी ज्ञान है और कर्णेन्द्रियके द्वारा जो कुछ भी हमें शब्दोंका परिचय मिलता है वह भी दर्शन नहीं है, ज्ञान है। दर्शन तो इन सब पदार्थों को जानने की शक्तिसे सम्पन्न आत्माको प्रतिभासना सो दर्शन है।

दृष्टान्तपूर्वक प्रतिभासमें निश्चय व व्यवहारके अशका समर्थन—चूँकि हमने ऐसे जाननहार आत्माको देखा तो हमने फिर सबको देख लिया, यों व्यवहारनयसे कहा जायेगा। जैसे हम दर्पणको तो देख रहे हैं और पीठ पीछे खडे हुए दो चार व्यक्तियोंकी हरकतें उस दर्पणमें प्रतिबिम्बित हो रही हैं, हम दर्पणको देख रहे हैं, इसमें ही यह बात आ गयी कि हम उन तीन चार व्यक्तियोंकी हरकतको भी देख रहे हैं, पर हम उनकी हरकतको कहाँ देखते हैं? हम तो दर्पणको ही देख रहे है। ऐसे ही ज्ञानद्वारा समस्त पदार्थों का परिज्ञान हुआ और ऐसे परिज्ञान करने वाले या परिज्ञानकी परिणति रखने वाले आत्माको हमने एक झलकमें देख लिया, इसका अर्थ यह हो गया कि मैंने आत्माको देख लिया और सबको देख लिया। यों सबको देख लेना, इतना अश तो है व्यवहारनयका और अपनेको देख लेना, यह अश है निश्चयनयका। ऐसे ही हमने ज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंको जाना, किन्तु सब पदार्थोंमे तन्मय होकर नहीं जाना। मैं यह ज्ञान अपने ही आत्मामे ठहरकर इन सब पदार्थोंको जानता रहता हू, तो हुआ क्या कि ज्ञानमें जो जाननरूप, ज्ञेयाकाररूप परिणमन किया उसको हमने जाना, यह है निश्चयनयसे और सब पदार्थोंको जान लिया, यह है व्यवहारनयसे।

निश्चयव्यवहारविधानका प्रतिबोध—नयप्रतिबोधके लिये एक लौकिक दृष्टान्त लीजिये। आपके १०१ डिग्री बुखार चढ़ा है तो आप उस बुखारको जान रहे हैं, एक तो यह जानना है और दूसरेको १०१ डिग्री बुखार हो तो उसके थर्मामीटर लगाकर देख लिया कि १०१ डिग्री बुखार चढ़ा है। तो इन दोनों जाननोंमें क्या अन्तर है? अपने बुखारको जानना लौकिक दृष्टान्तमें तन्मय होकर अनुभवने रूप जाना है और दूसरेके बुखारको जानना तन्मय होकर अनुभवने रूप नहीं जाना है। इसी तरह यह ज्ञान अपने आपके ज्ञेयाकारोंको जानता है, वह तन्मय होकर अनुभवने वाली बात है और अन्य समस्त पदार्थोंका जो जानना है यह तन्मय होकर अनुभवने वाली बात नहीं है। यही यहाँ व्यवहारनय और निश्चयनयका अन्तर जानना चाहिए। जिस पर व्यवहारनयसे यह ज्ञान परप्रकाशक है इस ही प्रकार यह दर्शन भी परप्रकाशक है और इसही तरह कार्यपरमात्मा अरहतदेव जो बडे बडे इन्द्र देवेन्द्रोंके द्वारा भी प्रत्यक्ष वदनाके योग्य हैं ऐसे तीर्थंकर परमदेवके आत्माका भी परप्रकाशकत्व जानना चाहिए, अर्थात् यह आत्मा भी व्यवहारनयसे परप्रकाशक है।

परमदेवकी महिमा—ये तीर्थंकर परमदेव तीन लोकके प्रक्षोभके हेतुभूत हैं। प्रक्षोभ मायने खलबली। खलबली हर्षमें भी होती है और विषादमें भी होती है। जब तीर्थंकर देव जन्मते हैं तो तीनों लोकमें खलबली मच जाती है। भवनवासी, वैमानिक व्यतर और ज्योतिषी आदि देवोंके निवासमें स्वय ही शखध्वनि, घटाध्वनि, आसनका हिलना—ये सब खलबली मच जाती हैं। निमित्तनैमित्तिक योगकी परख

करना, कितना विचित्र सम्बन्ध है ? तीर्थंकरदेवके पुण्य कर्मोका उदय भी आत्मासे निकल कर उन शंख और घंटोंमे ठोकर नहीं मारता है और उन कर्मोमें ठोकर मारनेकी योग्यता भी नहीं है और फिर भी इतनी विचित्र घटनायें हुआ करती है, यह सब बिल्कुल भिन्न-भिन्न स्थानोपर होकर हो रहा है, यह एक विचित्र बात है। ऐसे तीन लोकके प्रक्षोभका कारणभूत तीर्थंकर परमदेवका आत्मा भी व्यवहारनयसे परप्रकाशक है, यह आत्मा भगवान, ज्ञान व दर्शन भी व्यवहारसे पर प्रकाशक है, इसी प्रकार व्यवहारनयसे परप्रकाशकता और निश्चयनयसे स्वपरप्रकाशकता दृष्ट की है।

प्रभु और छद्मस्थके ज्ञानदर्शनकी वृत्तिका परिचय--भगवान कार्यपरमात्माके केवलज्ञान और केवल दर्शन एक साथ होते हैं। इस कारण यह बात तो स्पष्ट घटित होती है कि केवलज्ञानसे जो जान रहे हैं ऐसा जानते हुए आत्माको जो दर्शनसे प्रतिभास रहे हैं उनका दर्शन भी व्यवहारनयसे परप्रकाशक है। किन्तु यहाँ छद्मस्थ अवस्थामें चूँकि ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है अतः जिस ज्ञानके लिए तैयारी कर रहा है यह आत्मा, एक ज्ञान छोड करके नवीन जाननकी तैयारीके कालमें, इस ज्ञानयोग्यता सम्पन्न आत्माको प्रतिभास रहा है। और साथ ही यह जानो कि छद्मस्थ अवस्थामें भी ज्ञानका परिणमन और दर्शनका परिणमन एक साथ होता है। केवल उपयोग क्रम पूर्वक है। कोई भी गुण ऐसा नहीं है जो गुण अपने परिणमनको एक क्षण भी बंद कर सके। चूँकि आत्मामें जैसे ज्ञान शाश्वत गुण माना है यों ही दर्शन भी शाश्वत गुण माना है और इन दोनों गुणोंका परिणमन प्रतिक्षण निरन्तर होता रहता है, पर उपयोग जिसे यूज कहते हैं इंग्लिशमें, छद्मस्थ अवस्थामें क्रमपूर्वक होता है और इस दर्शनोपयोगकी स्थितिमें यह आत्मा नवीन ज्ञानकी तैयारीके सम्मुख होते हुएकी स्थितिमें ज्ञानकी जिस वृत्तिरूप परिणम रहा है, उस आत्माको प्रतिभासनेका काम कर रहा है। इस तरह यह आत्मा, ज्ञान, और दर्शन ये व्यवहारनयसे परप्रकाशक कहे गये हैं।

ज्ञानपुञ्जका जयवाद—यह कार्यपरमात्मा भगवान जिसने दोषोंको जीता है, जिसके चरण देवेन्द्र और नरेन्द्रोंके मुकुटोंसे प्रकाशमान होते हैं, जो लोकालोकके समस्त पदार्थोको एक साथ जानते हैं। ये समस्त पदार्थ स्वतत्र हैं, किसीका सत्त्व किसी दूसरे पदार्थमें प्राप्त नहीं होता है, ऐसी भिन्न-भिन्न स्वतंत्र-स्वतत्र चीजें है, वे जैसी हैं तैसे उन्हें प्रभु एक साथ जानते हैं। वह जिनेन्द्र जयवंत हो। किसी भी महापुरुषके जयवादमे अपना जयवाद विदित होता है और लोकव्यवहारमें भी किसी-किसीकी यह पद्धति होती है। भिखारी लोग भी सेठ लोगोंके यहां भोजन पा जाने पर आशीर्वाद देकर जाते हैं, तुम खूब फलो फूलो, वह अपने फलने फूले बननेके परिणामके हर्षकी ध्वनि है, ऐसे ही भगवानके गुणोंका स्मरण करते हुएकी स्थितिमें जो हमारे गुणविकासकी ध्वनि हो रही है उसके हर्षमें हम समा नहीं पाते हैं और प्रभुका मुखसे जयवाद बोलते हैं। उसमें अपने ही जयकी बात निहित है और दूसरी बात यह है कि जयवादमें श्रद्धा प्रकाशन है, हम भगवानके उपकारसे कितना उपकृत हुए हैं, उसका बदला देनेकी सामर्थ्य हममें कहा है ? यह ही वंदन, नमस्कार और जयवादके शब्द ही आभारप्रदर्शनके लिए समर्थ हो पाते हैं। यह प्रभु जयवत हो।

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥१६५॥

निश्चयनयसे स्वप्रकाशकताका समर्थन--इस गाथामें निश्चयनयसे आत्मामे, ज्ञानमे व दर्शनमें स्वप्रकाशकताके स्वरूपका समर्थन किया है। निश्चयनयसे ज्ञान स्वपरप्रकाशक है और इस ही प्रकार दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है और निश्चयनयसे आत्मा स्वपरप्रकाशक है। यों ज्ञान, दर्शन और आत्मा ये सब निश्चयनयसे अपना ही प्रकाश करते है। शुद्ध ज्ञानका लक्षण स्वप्रकाशकपना है। ज्ञानमे ज्ञानके कारण

ज्ञेयाकार परिणमन होनेपर भी ज्ञानने उस निज ज्ञेयाकारको ही प्रकाशित किया है पर ज्ञेयाकारको ज्ञानने नहीं प्रकाशित किया है। इस ही प्रकार सर्व आवरणोंसे मुक्त शुद्ध दर्शनमें भी स्वका ही प्रकाश हुआ है, पर प्रकाश नहीं किया गया है निश्चयनयसे।

ज्ञान व दर्शनमें प्रधान प्रकाश—यहां अपने आपके समझने के लिए अपने चर्चा-क्षेत्रके अन्दर ही रह बात जानें, यहां ज्ञानकी परप्रकाशकता जल्दी समझमें आ जाती है और दर्शनके व्यवहारनयकी परप्रकाशकता विलम्बमें समझमें आती है और दर्शनकी स्वप्रकाशकता शीघ्र समझमें आती है और ज्ञानकी स्वप्रकाशकता विलम्बसे समझमें आती है। कारण यह है कि ज्ञान होता है बहिर्मुख चित्प्रकाश और दर्शन होता है अन्तर्मुख चित्प्रकाश। ज्ञानका अर्थ जानन है, यह तो बात सुविदित है। दर्शनका काम सामान्यप्रतिभास है, यह लोगोंको कुछ कम विदित रहता है। हम जो कुछ समझ पाते हैं, जिस समझमें यह ग्रहण हुआ है कि यह है कुछ, वह तो है ज्ञान, उससे भी पहिले जो सामान्यप्रतिभास है जिसके बारेमें हम कुछ भी निर्देश नहीं कर सकते हैं वह है दर्शन।

ज्ञानके मूलनिकटमें दर्शन—हमने आँखों देखा और यह जाना कि यह बहुत बढ़िया हरा रंग है, यह क्या हुआ? ज्ञान या दर्शन? ज्ञान। हमने इतना ही जाना कि यह हरा रंग है, यह भी ज्ञान हुआ और हरे रंगको जाना, पर हरा है यों कुछ समझा ही नहीं है रूपके बारेमें, सो कुछ यहां न सोच सके कि यह हरा है किन्तु, उसे ग्रहणमें ले लिया कि यह है, यह भी हुआ ज्ञान। अब इससे और भीतरमें नीचेमें जो प्रतिभास है वह है दर्शन। दर्शनको नाम लेकर नहीं बना सकते कि दर्शनमें क्या जाना? दर्शन सामान्य प्रतिभासरूप है। नाम लेकर तो सामान्य कहलायेगा या विशेष? जहां नाम लिया वही विशेष बन जाता है, सामान्य निर्नाम होता है। उसकी संज्ञा नहीं हम रख सकते हैं।

लौकिक और आध्यात्मिक सामान्य विशेष—लोकरूढ ये सामान्य तो हमारे लिए व्यवहारके हैं। ये वास्तविक सामान्य नहीं हैं, विशेष हैं। जैसे सब लोग बैठे हैं और कह दिया जैन समाज, तो लोग तो कहते हैं कि सामान्य बात कह रहे हैं, किसी व्यक्तिका नाम तो नहीं लिया। तो व्यक्तिके मुकाबलेमें जैनसमाज कहना सामान्य है, पर सर्व जनसमाज इस शब्दके मुकाबलेमें जैनसमाज विशेष हो गया। और कह दिया कि जीव समाज, जिसमें सभी जीव आ जायें तो जीवसमाजके सामने समस्त जनसमाज भी विशेष हो गया और कहा पदार्थसमूह। इसके सामने यह जीवसमाज भी विशेष हो गया जहां तक भी हमारे ग्रहणमें आकार है, सकल है तहां तक है विशेष। सामान्य तो निर्विशेष रहता है। देखो दुनियामें आदर विशेषका हुआ करता है, सामान्यका नहीं, किन्तु कल्याण मार्गमें, शान्तिमार्गमें, अध्यात्मक्षेत्रमें सामान्यकी कदर है, विशेषकी नहीं। विशेषको पकड़कर रहनेमें शान्ति नहीं, आनन्द नहीं, मोक्षमार्ग नहीं। जितना सामान्यकी ओर लगाव है उतने ही हम उन्नतिमें हैं।

आत्मपरिचयके लिये आत्मविश्रामकी आवश्यकता—यह ज्ञान निश्चयनयसे स्वका ही प्रकाश कर रहा है और यह दर्शन भी स्वका ही प्रकाश कर रहा है। यह आत्मा भी चूँकि निश्चयसे समस्त इन्द्रियके व्यापारसे रहित है, भीतर गुनगुनाहट, विकल्परूप भाव व्यापारोंसे भी रहित है इस कारण अपने प्रकाशके लक्षणसे ही लक्षित होता है। मैं आत्मा क्या हूं, इसकी जानकारी आँखें फाड़कर देखनेसे नहीं हो सकती है। जरा अमुक पुरुषके आत्माका निरीक्षण तो करो, आँखें फाड़कर देखनेसे आत्माका निरीक्षण न हो जायेगा। किसी भी इन्द्रियसे हम व्यापार करके आत्माको नहीं पहिचान सकते हैं। यह इन्द्रियव्यापार यह इन्द्रियजज्ञान, यह इन्द्रियजसुख, ये सब तो मुझे बहकानेके प्रलोभन हैं, हे आत्मन्! तू इस प्रलोभनमें न बहका रह, नहीं तो तू अपनी निधिका अधिकारी नहीं बन सकता।

ज्ञानीकी स्वनिधिरुचिपर एक दृष्टान्त—किसी सेठके एक नाबालिग बच्चा हो और वह सेठ गुजर

जाय तो सरकार उसकी जायदादको अपने कोर्टमे ले लेती है और उसकी एवजमें मानो ५०० रु० मासिक खर्च को दे देती है। वह बालक १५, १६ वर्षका हो, उसे हर महीने मिल जाता है तो वह उसमे मग्न रहता है, सरकारके गुण गाता है, देखो सरकार घर बैठे हमें ५०० रुपये माहवार भेजती है। अभी उसे यह पता नहीं है कि २० लाखकी जायदाद कोर्ट आफ वोर्ड कर ली है। जब १८ वर्षका हो गया तब उसे ज्ञान हुआ कि मेरी २० लाखकी निधि तो सरकारके आधीन है, वह अब ५००) रुपये महीना लेना स्वीकार नहीं करता। सरकारको नोटिस दे देता है कि मैं अब बालिग हो गया हूं, मुझे ५००) रुपये माहवार न चाहिए। मेरी २० लाखकी जायदाद मुझे दी जाय। उसकी निधि उसे मिल जाती है।

ज्ञानीकी स्वनिधिरुचि—यों ही ये संसारी आत्मा नाबालिग है। अनादिकालसे नाबालिग चले आये अभी से बालिग नहीं हुए। इनका बालिग होना समयपर निर्भर नहीं है कि कितना समय बीत जाय तो हम आप बालिग बन जायें। हम आपका बालिग बनना सम्यक्त्व पर निर्भर है। जिस दिन सम्यक्त्व हो जाय, समझो कि हम बालिग हो गए हैं। इन नाबालिग संसारी प्राणियोंकी निधि तो मानो पुण्य सरकारने हर ली है और उस अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्दकी निधिको हर करके इन इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुखमें विलम रहे हैं। जब वस्तुस्वरूपका सच्चा ज्ञान हो जाता है तो वह विवेकी इस पुण्य सरकार को नोटिस दे देता है कि मुझे न चाहिए ये इन्द्रियजन्य सुख और इन्द्रियजन्य ज्ञान। यह इन्द्रियजन्य सुखोंको भोगनेको भी मना कर देता है और इन्द्रियजन्य ज्ञानके व्यापारको भी मना कर देता है। जब इसे अपने आपका बल मिलता है वहां पुण्य सरकार विलीन हो जाती है। इसे आत्मीय आनन्दकी निधि मिल जाती है।

आत्माकी स्वरूपप्रत्यक्षता—निश्चयसे देखिये दर्शन भी बाह्य पदार्थोंसे विमुक्त है, इस कारण वह भी स्वका ही प्रकाशक है। यों स्वरूप प्रत्यक्षलक्षणसे यह आत्मा निरखा जाता है। परिणमन प्रत्यक्ष और स्वरूप प्रत्यक्ष, दो तरह प्रत्यक्षपना परखें। परिणमन प्रत्यक्ष तो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान में होता है, किन्तु स्वरूपप्रत्यक्ष सम्यग्दृष्टिके हो जाता है। जैसे लोग कहते हैं 'जलमे मीन पियासी, मोहि सुन-सुन आवे हांसी।' यों ही यह देखिये कि ज्ञानस्वरूप ही तो यह मैं हूं, फिर भी अपने ज्ञानको नहीं जान पाता, यह हँसीकी ही तो बात है। खेदकी बात है। यह खुदकी ही बात है, अन्यकी नहीं। मैं अखण्ड हू और सहज ज्ञान दर्शन स्वरूप हू। सब कुछ जानता हुआ भी अथवा कुछ भी जानता हुआ भी अपने स्वरूपमें अपने मूलमें समस्त द्रव्य गुणपर्यायोंके विकल्पसे पृथक् हूं। यह अपने सहज स्वरूपकी चर्चा चल रही है। मैं तो जो हू सो हू।

शुद्ध आत्मतत्वका स्वरूप—समयसारमें जहां शुद्ध आत्माका लक्षण पूछा गया है वहां यह उत्तर हुआ है कि यह आत्मा न तो कषायसहित है और न कषायरहित है, किन्तु एक ज्ञायकस्वरूप है। उसमें भी अमुकका जानने वाला है, इस ढंगसे न निरखना, किन्तु शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र है यों देखना। यह नाथ तो जो है सो ही है। इसे किसी भी विशेषणके नामसे नहीं बता सकते हैं। आत्मा कषायसहित नहीं है, कुछ धर्मध्यान बनानेपर यह बात समझमें आती है कि जीवमें कषायका स्वभाव नहीं है, कर्मोदयका निमित्त पाकर ही कषाय हुआ है सो जीव कषायसहित नहीं है। जीव कषायरहित भी नहीं है यह बात मुश्किलसे समझमें आती है। आत्मा कषायरहित भी नहीं है तो फिर तीसरी बात क्या ? तीसरी बात जो है सो है। न जीव कषायसहित है और न कषायरहित है, फिर जो है सो है।

निरपेक्ष स्वरूपकी सिद्धिका एक दृष्टान्त—अभी यहां कुछ विकल्प उठा सकते हैं कि ये तो बातें ही हो रही हैं, जैसा चाहे मोड़ दो, जैसा चाहे बोल दो। अच्छा हमें आप यही बतावो कि यह चौकी पुस्तक सहित है या पुस्तकरहित है, इसका क्या स्वरूप है ? इस चौकीका पुस्तकसहित होना तो स्वरूप नहीं है,

यह तो आप मान जायेंगे क्योंकि पुस्तक सहित स्वरूप यदि होता तो सदा पुस्तक सहित ही रहना चाहिए। पुस्तक इस चौकीपर रखी हुई हो, फिर भी इस चौकीका स्वरूप पुस्तकसहित होना नहीं है। तो क्या चौकीका स्वरूप पुस्तकरहित है ? चौकी का स्वरूप पुस्तकरहित भी नहीं है। तो क्या है ? जितनी लम्बी चौड़ी है, जैसा काठ है, जिस रंगका है उसका वर्णन करके बता दिया जाय कि ऐसी चौकी है, पर वस्तुका नाम लेकर चाहे सहितपनाको बनावो चाहे रहितपना बतावो, वह अन्यवस्तुका रूप नहीं है।

परभावरहितपनेका जल्प भी अपमान—भैया ! कभी कभी तो रहितपनेकी बात भी बुरी लगने लगती है। जैसे कहा जाय कि तुम्हारे बाप तो जेलसे रहित हो गये, तो बात तो ठीक कही जा रही है जेलमें नहीं हैं, पर यह भी बुरा लग रहा है कि नहीं ? क्यों बुरा लग रहा है कि इसमें यह भाव आ गया है कि यह जेलमें थे, अब जेलसे रहित हो गये हैं, तो उसने तो गाली दे दी है कि ये जेलमें थे, अब जेलसे रहित हो गये हैं। ऐसे ही जीवके स्वरूपमें हम यह सोचें कि जीव कषायरहित है तो इसका यह अर्थ है कि कषायकी बात पहिले सोची है। जीवमें कषायका स्वरूप कब था, जो अब यह कह रहे हो कि जीवकषाय-रहित है।

परभावनिषेधमें भी विकल्प—किसीसे कहा जाय कि भाई तुम ६ बजे रातको अमुक जगह जावो, जरूरी काम है और देखो यहाँसे इतनी दूर जानेके बाद एक बटका पेड़ मिलता है, उसमें लोग व्यर्थ गप्प उड़ाते हैं कि यहाँ तीन चार भूत रहते हैं, सो भूत तो बिल्कुल नहीं है, तुम डरना मत। वहाँ भूत नहीं हैं, यही तो कहा, किन्तु यह सुनकर जाने वाला व्यक्ति बटके पास पहुचकर डरने लगेगा। क्यों डरते हो, यही तो समझाया था कि भूत नहीं है। वह अन्तरसे समाधान देगा कि तुम ठीक तो कह रहे हो, भूत तो नहीं है, पर भूतके बाद नहीं हैं, यह पीछे बोला जायेगा, पहिले तो भूत बोल रहे हो, फिर कहते हो कि भूत नहीं हैं। तो पहिले भूतका विकल्प करके दिल तो घबड़ा गया। अच्छा तो यह था कि वह कुछ भी न कहता। कह देता कि चले जावो अमुक जगह, तो वह उस बटके नीचेसे भी निकल जाता, पर घबड़ाहट नहीं होती। आत्माको कषायरहित कहनेमें प्रथम तो आत्माके निजस्वरूपका उपयोग छोड़कर कषायोंको देखता गया यह चर्चावाला और आत्मा कषायोंसे रहित है, यह यों निरखे तो यह भी विकल्प है।

स्वरूपमनन—यह जीव समस्त विकल्पोंसे परे रहनेके स्वभाव वाला है। इसका स्वरूप सचेतन ही लक्षण है, ऐसे निज प्रकाश द्वारा पूर्णरूपसे अन्तर्मुख होनेके कारण यह आत्मा अखण्ड अद्वैत चैतन्य-चमत्कारमात्र है, यों निश्चयनयसे आत्माके स्वरूपका आख्यान किया गया है कि आत्मा और ज्ञान दर्शन भी स्वप्रकाशक है। निश्चयसे आत्मा स्वप्रकाशक है, ज्ञान भी स्व प्रकाशक है और दर्शन भी स्वप्रकाशक है। एकाकार अपने रसके विस्तारसे भरपूर पवित्र अनादि अनन्त यह आत्मा अपने निर्विकल्प महिमामें ही सदा वास करता है। जो पुरुष आत्मस्वरूपके उपयोगमें मग्न हो जाता है उसे शुद्ध आनन्दका अनुभव हो जाता है, और समस्त विकल्पोंके संकट भी समाप्त हो जाते हैं। यह बात इस देह-देवालयमें विराज-मान निज आत्मा भगवानकी कही जा रही है, इससे नेह लगाये बिना, इसकी भक्ति उपासना किए बिना, भो बाह्यमें प्रचुर व्यापार कर डाले तो भी शान्ति और संतोष न होगा। इस कारण हम आपका यह कर्तव्य है कि इस आत्मतत्त्वके ज्ञान, मनन, चिन्तन अनुभवनमें प्रयत्नशील रहें।

ज्ञानस्वभाववृत्तिरूप स्वविश्रामका अनुरोध—विषयोंकी आकुलता तब नहीं रहती है जब अपने आपमें एक परमविश्राम होता है। उस विश्रामके समय निज ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्वका अनुभव होता है उस आत्माकी बात कही जा रही है। यह आत्मा स्वयं प्रकाशमान और स्वका प्रकाशक है। इस आत्माका विराट वीर करनेके लिए इसमें अपनी क्या तैयारी करनी है, वह तैयारी है मात्र दृष्टिकी। यह जीव केवल

दृष्टि और भावना ही किया करता है। इस भावनामें यदि रागद्वेषका सम्बन्ध है तब तो हैरानी होती है और रागद्वेषका सम्बन्ध न होकर केवलज्ञानसे सम्बन्ध है तब यहाँ अलौकिक आनन्द जगता है, किन्तु यह आत्मा कहीं भी सिवाय भावनाके और कुछ नहीं कर सकता है। गृहस्थीमे हो तब, साधु पदमें हो तब केवल भावना ही भावना बनाया करना है, यह न धन पैदा कर सकता है, न वैभव इकट्ठा कर सकता है और न किसीको सुखी दुःखी कर सकता है। यह सब राग द्वेष सहित भावनामें मान्यता होती है कि मैं धन कमाता हू। अरे धन तो जड़ पदार्थ है, बाह्य वस्तु है, उसमे तो हमारा प्रवेश भी नहीं है। तुम तो केवल अपने एक ज्ञानस्वरूपमें ही रहते हो। तुमने परपदार्थोंमें क्या किया, सो बतावो। अरे इस शरीर तककी भी चीजें परमें नहीं गयीं। आत्माकी तो अलग बात है।

सन्तोषका स्वयं आश्रय—यह आत्मा आकाशवत् निर्लेप है, यह अपनी भावनासे ही अपनी अथवा जगतकी व्यवस्था बनाता है, अर्थात् कल्पनासे उस प्रकारका अपना रस अनुभव करता रहता है। इस आत्माको किस दृष्टिसे देखा जाय कि हमें अपने आपका स्पर्श अधिक हो सके? इस उपयोगमें परपदार्थ का स्पर्श अनादि कालसे किया और उन स्पर्शोंमें इसे सतोष न हुआ। कोई कह सकता है कि मनुष्यके पास कितना धन हो जाय तो उसे सतोष हो जायेगा? कोई सीमा बना सकता है क्या? या कोई धनिकों का सम्मेलन हो और उसमें यह निर्णय करना चाहें कि कितना धन होनेपर उसे धनी कहा जाना चाहिए? तो कोई प्रस्ताव पास न हो सकेगा। कोई व्याख्या है क्या कि इतना धन हो तो उसे धनी कहा जाय? ये सब आपेक्षिक बातें हैं। लखपति हजारपतियोंकी दृष्टिसे धनी हैं न कि वे स्वय धनी हैं। उन्हें करोड़पति नजर आ जायें तो वे अपनेको धनी नहीं मानते और दुनियाके लोग भी करोड़पतियोंके बीच बैठे हुए लखपतिको धनी नहीं मानते। कितनेका नाम धनी है और कितना धनी होने पर सतोष हो जाना है, इसकी कोई परिभाषा नहीं है। संतोषका साधन बाहरमे नहीं है, धनमें नहीं है, परिजनमें नहीं है, इसके सतोषका साधन तो यह आत्मा ही स्वयं है।

ध्रुवकी रुचिमे कल्याण—देखो भैया! अपने आत्माको। यह मैं आत्मा ध्रुव हूं, सदा काल रहने वाला हू, ये चेतन अचेतन समागम इनका तो कल तकका भी भरोसा नहीं है, भले ही कल्पनामें ऐसा मानते रहें कि मेरा यह कभी न बिछुडेगा, किन्तु यह कभी हो नहीं सकता। ये सब अध्रुव हैं, विनाशीक हैं, यह वैभव ही अध्रुव नहीं है किन्तु ये सारे कषाय सकल्प विकल्प सुख दुःख सब अध्रुव हैं। आपसे कहा जाय कि यह अमुक चीज ले लो ५ मिनटके लिए, बादमें फिर हम ले लेंगे, तो उसको ग्रहण करने में आपकी कोई खुशी नहीं है, क्योंकि आप जानते हैं कि यह थोडे समयको है, बादमें तो छुड़ा ही ली जायेगी। आप तो चाहते यह हैं कि मुझे वह चीज मिले जो मेरे पास सदा रह सके। अपनी छोटी सी झोंपड़ी बनाकर उसमे रहनेमें सुख माना जाता है और कोई बड़ा पुरुष यह कहे कि तुम ६ महीने तक हमारी हवेलीमें टिक जावो। टिक तो जायेगा पर उसमें वह उस प्रकारका हर्ष न मान सकेगा जैसा कि छोटी झोंपड़ी बनाकर रहनेमे सुख मानता है। उसके चित्तमे यह है कि यह तो मेरी सदा ही बन कर रहेगी, यहाँसे तो ६ महीने बादमें निकल जाना पड़ेगा। मनुष्यकी प्रकृति है कि वह ध्रुवको चाहता है, अध्रुवको नहीं चाहता। तो तू भी सयाना बन। ये चेतन और अचेतन समागम अध्रुव ही तो हैं। तू इन अध्रुवोंमें प्रीति मत कर। तेरा ही स्वरूप तेरे लिए ध्रुव है। तू अपने उस ध्रुव स्वरूपका आदर कर।

धर्मका अनुग्रह—जिसके सत्य ज्ञान जग गया है वह जीता हुआ भी मुक्तसा है, उसे आकुलता नहीं होती है। अरे क्या आकुलता करना? विघटता है सारा धन विघट जावो, पर एक अचेतन पदार्थके विघटनेके पीछे इस चैतन्य निज आत्मतत्त्वको दुःखी किया जाय तो यह कहांकी बुद्धिमानी है? कोई तो दिन ऐसा आयेगा ही कि सब कुछ छोड़ ही देना पडेगा। तो जीवनमें ही क्यों न अभ्यास किया जाय।

जो होता हो सो हो, मुझे कुछ विकल्प नहीं करना है। विकल्प ही करनेकी क्या जरूरत है? उदय अच्छा है, अच्छा होगा, उदय बुरा है तो विकल्प करने से भी क्या पूरा पडेगा, आखिर इसे पापके उदयसे दुःखी होना ही पडेगा। विकल्प न करके धर्ममार्गपर डटे रहें तो पापके उदय भी निकल जायेंगे, शान्ति हो जायेगी। प्रत्येक स्थितिमें धर्मकार्य करना और पवित्र भावना रखना लाभदायक है चाहे पुण्यका उदय हो, उसमें भी पवित्र भावोंसे ही लाभ है और चाहे पापकी स्थिति हो वहां भी पवित्र भावमें ही लाभ है। ईर्ष्या दम्भ कषाय, विशाद आदि अपवित्र भावोंसे तो उत्तरोत्तर हानि ही हानि बढ़ेगी। लाभ नहीं हो सकता।

निजस्वरूपास्तित्वका अवलोकन—अपने आपके आत्माको अकेला देखो। मैं सबसे न्यारा केवल निज स्वरूपमात्र हूं। जरा विश्वाससहित अपने आपके अकेलेपनका अनुभव करो तो सारा बोझ हट जाता है अपने ऊपरसे, और समस्त चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं। मैं समस्त पदार्थोंसे न्यारा, किन्तु अपने आपके स्वरूपमें तन्मय हूं। मैं जो कुछ करता हूं अपने भावोंका कर पाता हूं, मेरी कोई भी करतून मेरे स्वरूपसे बाहर इस जीवास्तिकायसे बाहर नहीं है। इस ज्ञानपुंज चैतन्यने न किसी परका परिणमन किया, न अभी भी कर रहा है और न कभी कर सकेगा। केवल यह भावना बनाता है।

आत्माका परमें अकर्तृत्व—देखो इस बोलते हुए और हाथ चलाते हुए की हालतमें भी यह मैं आत्मा नहीं हाथ चला रहा हूं। यहां भी केवल एक भावना बना रहा हूं, परपदार्थोंका परस्परमें ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि यह हाथ अनुकूल निमित्त पाकर स्वयं इस प्रकार चलता है और ये जीभ ओंठ स्वयं ही निमित्त पाकर इस प्रकार चलते हैं जिससे जिसका निमित्त पाकर ये वचन वर्गणाएँ भी वचनरूप बन जाती हैं। यह मैं आत्मा तो केवल अपने भाव करता हूं। यह पिंड जो आप हम सबका दिख रहा है यह तीन चीजोंका पिंड है—जीव, कर्म और शरीर। इन तीनका यह पिंड बना हुआ है, उसमेंसे कर्मोंका काम तो कर्मोंमें है, शरीरका काम शरीरमें है और जीवका काम भाव करना है, वह जीवमें है, पर इन तीनमें ही परस्पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि दूसरेकी हरकतोंका निमित्त पाकर दूसरा अपनी हरकत करने लगता है।

निमित्तनैमित्तिक परम्परामें शब्दविलासका विकास—इस जीवने भाव बनाया है, ऐसा कहूं, मैं इस प्रकार की बात बताऊँ ऐसी इच्छा बनायी, ज्ञान की, इच्छा किया, यहां तक तो आत्माका काम रहा। अब ज्ञान और इच्छा करके जो एक परिस्थिति बनी उसमें निमित्त पाकर शरीरमें रहने वाली वायुमें सचरण हुआ। शरीरमें वायु जैसे चली उसके अनुसार ये ओंठ और जीभ हिले और इन ओंठ जीभके हिलनेका निमित्त पाकर उस प्रकारके शब्द निकले। ये शब्द निमित्तनैमित्तिक परम्परासे निकले हैं। ये हाथ पैर इस निमित्तनैमित्तिक परम्परासे चल उठे, पर यह मैं आत्मा तो केवलज्ञान और इच्छा कर पाता हूं, भावना बना पाता हूं, अन्य किसी पदार्थमें परिणमन करने का सामर्थ्य नहीं है, ऐसा अपने आपके अनन्त सामर्थ्यका उपयोग करके जो पुरुष मोह ममताको मिटा देता है उसे आनन्द प्रकट होना है।

परकर्तृत्वका व्यर्थ विकल्प—अहो विषय भोगोंका आनन्द तो इस तरहका आनन्द है जैसे लाल तेज मिर्चे खाते जा रहे हैं और सी सी करते जा रहे हैं, आंसू निकलते जा रहे हैं और फिर भी मिर्चकी मांग करते जा रहे हैं। कैसी कल्पना बनाई है कि भीतर भी वेदना हो रही है, चरचराहट भी लग रही है, आंसू तक निकल आये हैं और फिर भी मिर्चकी चाह बनी हुई है, ऐसे ही इन बाह्य विषय भोगोंका भोगते हुए क्लेश भी हो रहा है, आकुलता मच रही है, पराधीनता हो रही है, आनन्द रहा ही नहीं है, किन्तु इस स्थितिको भी आनन्दका भ्रम करके व्यर्थ भ्रम चाह रहे हैं कि भोग मिले, धन मिले, समता मिले। अरे ये समस्त समागम तेरेसे अत्यन्त जुदे हैं, क्या इनको तू चाह करता है? ये चाहे जायें तो,

न चाहे जाये तो, उदयानुसार इन्हें सामने आना ही पड़ता है। भला बतलावो जो आज श्रीमान हैं उन ही जैसे हाथ पैर तो अन्य बुद्धिमानोंके भी तो है, पर यहां लक्ष्मी बिना सोचे ही आती रहती है और वहाँ यत्न करने पर भी न आये तो कैसे कहा जाय कि धनको कमाने वाले श्रीमान् हैं। वह तो आना है सो आती है, पर कोई पुरुष उस लक्ष्मीमें आसक्ति करे तो वह पाप है और लक्ष्मी न होते हुए भी जो लक्ष्मीसे उपेक्षा रक्खे वह मनुष्य भी पुण्यात्मा है।

स्वरूपकी सभालमे सकटकी समाप्ति—अपने स्वरूपको निरखो। मैं केवल अपने परिणामोंका ही करने वाला हूं। करने वाला भी क्या, मुझमें परिणमन होता है, क्योंकि परिणमे बिना कोई वस्तु अपना सत्त्व नहीं रख सकती है, इसलिए अपने आपकी ओर मुडें तो परके बिगाड़ने और सुधारनेका सब संक्लेश खत्म हो जाता है, जो केवल तेरे ही कारण तेरेमें उठकर विकसित हो वह तो है तेरा धन और बाकी समस्त परभाव और परपदार्थ इनका सम्बन्ध मानना यह है तेरा कलक। अहो! यह आत्मा तो केवल ज्ञान और आनन्दस्वरूपी है। इसमे तृष्णाका कलंक कैसे लग गया है? जिस तृष्णा कलकके पीछे यह जीव परेशान बना रहता है। पर्यायबुद्धि छोडो और विभक्त एकस्वरूप निज आत्माकी बुद्धि करो। तेरा सुख तुझमें ही है, कहीं गया नहीं है, पर चिन्ताने सुखका घात कर दिया है। इस परचिन्ताको तू मत कर। वे पर भी अपना कर्मोदय लिए हुए हैं, उनका पोषण तेरी चिन्ताके कारण नहीं हो रहा है, सब जीवोंका पोषण सुख सुविधा उनके ही उदयानुसार होती है, तू अपने को केवल भाव ही करने वाला समझ।

भेदज्ञानका यत्न—हे आत्मन्! अपने स्वरूपको तो निरख। मैं अनादि अनन्त शुद्ध एक ज्ञानस्वरूप हू। अरे जो इस शरीरको छोड़कर निकल गया वह है जीव और जो यहां पड़ा रह गया वह है अजीव। तो ऐसे ही इस जोवित अवस्थामें भी समझो कि जिसके निकल जानेके कारण यह अजीव ही नजर आयेगा वह तो है मैं जीव और उस जीवके निकल जानेके कारण जो यह जला दिया जायेगा या जो कुछ तब दिखा है वह है अजीव। जीव और अजीवके भेद करने मे अधिक तकलीफ नहीं है, किन्तु उसके लिये अपने विकल्पों के रोकनेका प्रयत्न करना है। ज्ञानस्वरूप ही मेरा भाव है। ये रागादिक समस्त विकारभाव अचेतन है। ये उदयानुसार होते हैं। मैं इन सबसे न्यारा केवल एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप हू। तू स्वरूपकी भावना भा और अन्य भावनावोंमें भी स्वरूपकी भावनाका लक्ष्य रख।

अनित्यभावनामे स्वनित्यत्वका दर्शन—भैया! जब अनित्य भावनामें तुम अपना विचार कर रहे हो कि ये सब मिले हुए वैभव धन आयु ये सब अनित्य हैं, मिट जायेंगे, तो मिट जाने की बातको रो-रो कर क्या काम पूरा कर लोगे? अरे इस मिटते हुएका जानना तो न मिटने वाले निज स्वरूपके जानने के लिए है। इन मिटने वालोंको ही रो रोकर पुकारना इससे क्या लाभ मिलेगा? जान लिया कि ये सब पदार्थ विनाशीक हैं, पर इस जाननेसे फायदा क्या? अविनाशी जो मैं आत्मा हूं वह मैं इनसे न्यारा हूं और अविनाशी हू, ऐसा जानकर अपने आपकी ओर झुकना तब अनित्य भावना भाना सफल है।

अशरणभावनामें स्वशरणताका दर्शन—अशरण भावनामे यह सोच लिया कि कोई मेरा शरण नहीं है सब स्वारथके साथी हैं, कोई अतमें काम नहीं आते। दल बल देवी देवता परिवार कुटुम्ब मित्र सबके सब खडे रहते है, पर कोई शरण नहीं होता है। अरे इस रोनेसे क्या फायदा है, ये कोई भी शरण नहीं हैं, ऐसा माननेका प्रयोजन तो यह है कि तू ही तेरे लिए शरण है। तू अपनी शरण रह और सुखी रह। जब तक अपने शरणकी सुध न रहेगी तब तक अशरण भावनासे लाभ कुछ न मिलेगा।

ससारभावनामें निज आनन्दघनका दर्शन—ससार भावनामे बड़ी विस्तारदृष्टि बना ली है। संसारके सभी लोग दुःखी है, श्रीमान गरीब सब दुःखी हैं। अरे उनके दुःखको देखकर तू दुःख ही बढायेगा।

किसीके दुःखको उपयोगमें रखकर क्या कोई सुखी हुआ है ? तू जगतके जीवोंका दुःख निरख रहा है, इस जाननेका लाभ तो यह है कि यह समझ जा कि मैं सब दुःखोंसे न्यारा स्वभावतः स्वयं आनन्दका निधान हूं। ऐसे इस दुःखरहित ज्ञायकस्वभावकी ओर दृष्टि आये तो संसार भावना करना ठीक है।

एकत्वभावनामें अन्त एकत्वका दर्शन—लोग घबड़ाते हैं अपना अकेलापन जानकर कि मैं अकेला ही मरूँगा, अकेला ही जन्मा हूं। अरे इस अकेले के रोनेसे लाभ क्या मिलेगा ? अरे इस अकेलेपनके जानने का प्रयोजन तो यह है कि इससे भी और अत्यन्त विशुद्ध ज्ञायकस्वरूपका एकत्व जो आनन्दमय है, तुममें पड़ा है, तू अपने इस एकत्वस्वरूपकी सुधले तब एकत्व भावना सफल है। केवल जन्ममरण सुख दुःखमें अकेलापन भानेसे तो दुःख बढ़ेगा, सुख न मिलेगा। घबड़ाहट बढ़ेगी, पर अपने स्वरूपका विशुद्ध एकत्व दृष्टिमें लेनेसे आनन्द बढ़ेगा।

अन्यत्व भावनामें यह भाया करते हैं कि ये धन कन कंचन सब निराले हैं। मेरा तो देह तक भी नहीं है। तो इस बकवादसे लाभ क्या मिलेगा ? अरे इस वार्तालापके फलमें यदि मैं यह जान जाऊँ कि मेरा ज्ञानानन्दघन स्वरूप आत्मतत्त्व मुझसे न्यारा नहीं है, इसकी उपासना करो और इस धन वैभव आदि प्रकट निराले पदार्थोंकी उपासना मत करो। यह प्रेरणा जगे तो अन्यत्व भावना करना सफल है।

अशुचिभावनामें आत्मशुचिताका दर्शन—अशुचि भावनामें हम गाते रहते हैं कि यह देह, हड्डी, चाम, खून, मांस, मज्जा, मलसे भरा हुआ है। गाते रहें और ऐसा देखते भी रहें। अरे इन अशुचि पदार्थोंके देखनेपर तुम्हें यदि अपने शुचि पवित्र ज्ञानानन्द स्वरूपकी खबर नहीं होती है तो इन अशुचि पदार्थोंके गानेसे तुझे लाभ क्या मिलेगा ? ग्लानि ही बढ़ेगी। यह शरीर बड़ा दुर्गन्धित है, घृणा ही पैदा करता रहेगा। अशुचि भावना भानेका प्रयोजन तो शुचि निर्मल जो अपना स्वरूप है, जो एक ज्ञानज्योतिर्मय है, समस्त लोकालोकको जाननेकी जिसमें सामर्थ्य है ऐसा यह आत्मतत्त्व ज्ञानमें आये, भावनामें आये तो यह अशुचि भावना भी सफल है।

स्वरूपदर्शनका प्रसाद—भैया ! कुछ भी विचार करो, अपने स्वरूपके स्पर्शकी ओर आयें तो लाभ है, बाकी ममतामें, अहंकारमें, विषय कषायोंमें या यों कहो कि मूढ़ोंके मुँह लगनेमें कोई सार नहीं है। मूढ़ मायने मोही। मूढ़का अर्थ लोगोंने मूर्ख कर रक्खा है, पर मोहका अर्थ है मोहोन्मत्त। मोहोन्मत्त विषयोंके साधनभूत परजीवोंसे उपयोग जुटाने में सार न मिलेगा। अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करो, उसमें निर्विकल्पताके कारण स्वयं यह स्वपरप्रकाशक आत्मतत्त्वका अनुभव हो जायेगा और तब पूर्ण निर्णय होगा कि यह मैं आत्मा स्व का भी प्रकाशक हूं और परका भी प्रकाशक हूं।

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६६॥

प्रतिभासविषयक सिद्धान्तस्मरण—केवली भगवान निश्चयसे तो आत्माको जानते देखते हैं और व्यवहारनयसे लोकालोकको जानते देखते हैं, यह सिद्धान्त स्थापित किया गया था, अर्थात् प्रभु सारे लोकको जानते तो हैं किन्तु लोकमें तन्मय होकर नहीं जानते हैं, प्रभु अपने आपके आत्मामें ही ठहर कर समस्त लोकालोकको जान जाते हैं। इसमें जाननेकी तन्मयता आत्मासे है, परपदार्थसे नहीं है। यों लोक और अलोक इन परपदार्थोंमें तन्मय होकर नहीं जानते हैं। जैसे कि आनन्दगुण अपने आप तन्मय होकर ही अनुभवा जाता है। किसी बाह्य पदार्थमें तन्मय होकर नहीं अनुभवा जाता है। इस ही प्रकार यह ज्ञान भी अपने आपके आत्मामें ही तन्मय हो करके जानता है, किसी परपदार्थमें तन्मय होकर नहीं जानता है। इस सिद्धान्तको लेकर दो नयोंकी बात कही गयी है कि निश्चयसे तो भगवान अपनेको ही जानते देखते हैं और व्यवहारसे भगवान समस्त लोकालोकको जानते देखते हैं।

शंकासमाधानरूपमें निश्चयप्रतिभासका प्रकाशन—इस सम्बन्धमें अब कोई शंकाकार केवल निश्चयनय की ही बात मानता है। व्यवहारकी बातको झूठ कहता है और वह यों बोलता है कि केवली भगवान अपने ही स्वरूपको देखते हैं, लोक और अलोकको नहीं। यदि हम ऐसा कहें तो इसमें क्या दूषण आता है ? यह शंकाकारकी ओरसे शंका है। यह गाथा शंकारूप भी है व समाधानरूप भी है, क्योंकि निश्चय-नयसे तो ऐसा ही है। इसमें भाव यह है कि जब भगवान अपने ज्ञानसे अपनेमें ही तन्मय हैं, अपने ज्ञान से अपनेमे ही बढ़ रहे हैं निश्चयसे। भले ही उनमें यह महिमा है कि जितने भी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और अन्य जीव इन सबके द्रव्य गुण पर्यायोंको एक समयमें जानने मे समर्थ यह केवल ज्ञान है, लेकिन यह तो परपदार्थोंमें प्रवेश करके नहीं जानता है, अपने आपमे ही तन्मय होकर जानता है। इन भगवानके तीसरा नेत्र प्रकट हुआ है अर्थात् सकलप्रत्यक्षप्रतिभास समस्त मनुष्योंके दो नेत्र हैं, जिनसे देखते जानते हैं, किन्तु यह अरहंत महादेव इनके तीसरा लोचन प्रकट हुआ है और इसी कारण अरहंत भगवानका नाम त्रिलोचन है। यह तीसरा नेत्र है सकल प्रत्यक्ष निर्मल केवलज्ञान। इस तीसरे नेत्र के द्वारा प्रभु समस्त ब्रह्माण्डको और लोकके बाहरके समस्त अलोकाकाशको एक साथ जानते है। उनका ज्ञान निरपेक्ष है, परपदार्थोंके कारणसे परपदार्थोंको नहीं जानते, किन्तु अपने ही स्वभावसे समस्त लोकालोकको जानते हैं।

सर्वत्र गुणका अभिन्न आधारमे प्रयोग—वास्तवमे तो सभी जीव केवल अपने को ही जानते देखते हैं। जो लोग इन समस्त दुकान घर इन सबको जानते हैं वे भी लोग वास्तवमें अपने को ही जान रहे हैं क्यों कि उनका ज्ञान उनके आत्मामें है। उनका ज्ञानस्वभाव ज्ञानगुण उनके आत्माको छोड़कर कहीं बाहर जाता नहीं है, वहीं रहकर ज्ञान सब कुछ जानता रहता है, यहाँसे बाहर कहीं नहीं जाता है। यों हम आपका ज्ञान भी बाह्य पदार्थोंमें तन्मय होकर नहीं जानता। हाँ, जो मोही जीव हैं, जिनमें अज्ञान भरा है, रागद्वेष प्रबल है वे बाह्य पदार्थोंमें आसक्त हो जाते हैं अर्थात् बाहरी पदार्थोंको अपने ध्यानमें लेकर और उस ध्यानमें कल्पनाएँ बनाए रहते हैं। बाह्य पदार्थोंमें कोई नहीं लग सकता है। बाह्य बाह्यकी जगह है, हम अपनी जगह हैं। जब तक यह जीव अपने आपका और इन पदार्थोंका ऐसा एकदम रस्सी तोड़ अन्तर नहीं डालता है तब तक इसका मोह दूर नहीं होता है। इस प्रकरणसे हमें यह जानना चाहिए कि हम सीधा परपदार्थोंको जानने तकका भी काम नहीं करते हैं। हम अपनेको जानते हैं और मेरी स्वच्छता ऐसी है कि सारे पदार्थ यहां झलक जाते हैं, इस झलकसे हम जानते हैं, परपदार्थोंको नहीं जानते हैं जब जानने देखनेका भी बाह्य पदार्थो से सम्बन्ध नहीं है तो फिर किस पदार्थको हम भोग सकते हैं, किस पदार्थको विषय बना सकते हैं ? यही तो संसारमें रुलनेका साधन है।

प्रभुपरिचय—भगवान प्रभु पूर्णरूपसे अन्तर्मुख है, वे यद्यपि समस्त पदार्थोंके ज्ञायक हैं, फिर भी अपने ही आनन्दरसमें लीन हैं। यहाँ हम लोगोंका यह जानना भी कलंकको तरह बन रहा है। जानते हैं और जाननेके ही साथ राग द्वेषकी कल्पनाएँ उठ जाती है, हम अपने आपमें नहीं रह पाते, बाहरकी ओर आकर्षित हो जाते हैं, किन्तु भगवानका कितना उत्कृष्ट ज्ञान है कि वे तीन लोकका सब कुछ जानते हैं फिर भी वे अपने आत्मीय आनन्दको तजकर बाहर कहीं नहीं जाते हैं। हम ऐसी अपने मर्मकी बात न जानें तो हम भगवानकी पूजा भी करनेके पात्र नहीं हैं, यों लोकरूढ़िसे भगवानके आगे सिर नवा लें, द्रव्य चढा ले, स्तवन करलें, यह बात दूसरी है, किन्तु भगवानमें खासियत क्या है, भगवानका स्वरूप क्या है, उनका स्वभाव कैसा है, इस बातकी परख न हो तो हम भगवानके गुण ही क्या समझेंगे और फिर उनकी पूजा और वंदना भी क्या होगी ? भगवानकी जो भक्ति करता है उसे अपने स्वरूपका अवश्य परिचय रहता है। जिसे अपने स्वरूपका परिचय रहता है वही यथार्थरूपसे भगवानकी भक्ति कर सकता है।

प्रभुकी गम्भीरता—हे प्रभु ! आपका कितना विशद स्वरूप है, आपके ज्ञानमें तीन लोक तीन कालके सब पदार्थ झलक रहे हैं फिर भी आप रच भी आकुलता नहीं कर रहे हैं। भैया ! हम लोग न कुछ थोड़ी सी बात जानकर मेरे पास इतना धन है, मेरी इतनी प्रतिष्टा है, मेरे ऐसे परिजन हैं, न कुछ इन खंड खंड बातोंको जानकर हम आप लोग आपेसे बाहर हो जाया करते हैं, अपनेमें नहीं रह पाते हैं, पर प्रभुका यह ज्ञान कितना उदार है कि यहां समस्त लोक झलक रहा है, पर ये प्रभु एक अणुके प्रति भी वे आसक्त नहीं होते हैं, सबके ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं। जब तक रागद्वेष रहेगा, अज्ञान, मोह, रहेगा तब तक यह जीव शान्ति नहीं पा सकता, न कर्मों का नाश कर सकता है। मोहसे कर्म बढ़ते हैं और निर्मोहतासे कर्म कटते हैं। भैया ! प्रभुने क्या किया था जिसके प्रसादसे वे आज त्रिलोकपूज्य हो गए हैं और वे अपने आपके आत्मामें परम आनन्दमग्न हैं। जो उन्होंने किया था उसकी सुध अपने को नहीं होती, जिस मार्ग पर वे चले थे उस मार्ग पर चलनेकी अपनेमें प्रेरणा न हो, तो हम कर्मो को नहीं काट सकते हैं।

प्रभुकी विशुद्धि—निश्चयसे जो केवल अपने ही स्वरूपका प्रत्यक्ष कर रहे हैं, इस ही वृत्तिमें जो निरत हैं ऐसे ये प्रभु इस सहज केवल दर्शनके द्वारा सच्चिदानन्दको ही निश्चयसे देख रहे हैं। ऐसी ही चर्चा शंकाकार कर रहा है कि यदि हम ऐसा मानें तो हममें कौनसा दोष है ? हाँ ठीक है। यदि तुम शुद्ध निश्चयकी दृष्टिसे ऐसा मानो तो कोई दोष नहीं है पर सर्वथा एकान्त न कर लेना चाहिए। यह आत्मा अपने स्वरूपको देखता है। यह परमात्मा एक है। जो देख रहा है, जिसको देख रहा है वह एक है, विशुद्ध है। रागद्वेषकी कलुषता उसमें रंच नहीं है अन्तरङ्गमें तो निर्मलता प्रकट हुई है, इसीसे इतनी अनन्त महिमा है कि हम आप भी उनकी मूर्ति बनाकर, उनकी स्थापना करके प्रातःकालसे ही नहा कर पवित्र मन करके पूजन और वंदनमें आते हैं। हम जिसकी पूजा करने आते हैं, उसका यथार्थ बोध कर लें तो हम आपका जन्म सफल है। रूढि मात्रसे तो वह लाभ न मिलेगा।

प्रभुका पथ—प्रभुने इस समस्त जगतको असार जान कर पहिले तो आरम्भ और परिग्रहका त्याग किया था। निर्ग्रन्थ, दिशा ही जिनका अम्बर है, ऐसी शुद्ध दिगम्बरी मुद्रासे आत्मध्यानमें रह रहकर अपना उपयोग विशुद्ध किया था। ५ इन्द्रिया और छठा मन, इन ६ के विषय इस जगतको बड़ा हैरान कर रहे हैं। यह प्राणी इन विषयोंकी आधीनतामें बरबाद हो रहा है, पर प्रभुने इन विषयोंको सर्वप्रथम जीता था और विषयोंको जीतकर मोह और कषायोंको क्षीण कर लिया था। जब कषायें बिल्कुल न रहीं तो अन्तर्मुहूर्तमें ही केवलज्ञान प्रकट हो गया था।

ज्ञानाश्रयका परिणाम—देखो लोग चाहते हैं कि मुझे सबसे अधिक ज्ञान मिले, पर ज्ञानकी ओर झुकें तो ज्ञान बढ़े। ज्ञानको छोड़कर इन बाहरी पदार्थों की ओर झुकेंगे तो ज्ञान न बढेगा। ये समस्त दिखने वाले बाह्यपदार्थ अज्ञानमय हैं। इनकी ओर झुककर अज्ञानमय वेदन ही होगा और ज्ञानमय निज तत्त्वकी ओर झुककर जो वेदन होगा वह ज्ञानमय वेदन होगा। अपने आपकी ओर झुकने का अर्थ है अपनेको ज्ञानमात्र ही अनुभवना, मनन करना, चिन्तन करना। जैसे हम आप लोग अपने को नाना रूप अनुभव कर रहे हैं, मैं अमुक गाँवका हू, अमुक घरका हू, अमुकका पिता हू, अमुकका बेटा हू, ऐसे धन वाला हू, ऐसी पोजीशनका हू, इतना लम्बा हू, गोरा हू, काला हू, कितने ही रूप यह जीव अपनेको अनुभव रहा है, यदि इन नाना रूपोंमें अपनेको अनुभव करता रहेगा तो इसका संसार कभी दूर न हो सकेगा। इन नाना रूपोंको छोड़कर अपने को केवल ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करेंगे तो ये संसारके संकट दूर होंगे।

निर्ममत निजके आश्रयसे संकटोंका अभाव—भैया ! संकट है क्या ? रागद्वेष बढ़ जाना ही संकट है। किसी पदार्थके प्रति ममता हो जाना यही एक संकट है। चीजका मिटना, गुजरना यह संकट नहीं है

किन्तु अपने आपमें किसी परवस्तुके प्रति ममताका परिणाम होना यही संकट है। संकटोंकी जड़ ममता है, अहंकार है, संकट अन्य कुछ नहीं है। जो ज्ञानी जीव निजको निज परको पर दृढ़तासे जानते हैं, कि त्रिकाल भी मेरा स्वरूप चतुष्टय किसी पर रूप न होगा, किसी परपदार्थका स्वरूप मुझमें तन्मय न होगा, त्रिकाल न्यारे हैं समस्त पदार्थ परस्परमें ऐसी स्वतंत्रताकी जो दृष्टि बनाता है उसको मोह कहाँसे होगा ? मेरा मात्र मैं ही हूं, ज्ञानादिक गुणोंको छोड़कर अन्य कुछ मेरा नहीं है, मैं अपने ही स्वरूपमें तन्मय हूं, ऐसा जिसे अपने स्वरूपकी दृढ़ताका विश्वास है वह बहुत मजबूत किलेमें बैठा हुआ है। जैसे कोई पुरुष मजबूत किलेमें बैठ जाय तो उसे अब विनाशका भय नहीं रहा, ऐसे ही हम आपका यह ज्ञान इस दृढ स्वरूपमें बैठ जाय कि जो मेरा है वह कभी मेरेसे छूट नहीं सकता, जो मेरा नहीं है वह कभी मेरेमें आ नहीं सकता, ऐसा स्वरूपकी दृढ़ताका भान हो वह पुरुष सुरक्षित है। उसे व्याकुलताएँ नहीं हो सकती हैं।

ज्ञानभावनाकी शिक्षा—प्रियतम ! करना यही है धर्मके लिए, भगवानका पूजन करके सीखना यही है, ज्ञानभावनाको पुष्ट करना है। गुरुवोंका सत्संग करके सीखना यही है। जगतमें धनका होना, संतानका होना यह सब कर्मानुसार है। इनके लिए पूजा करना, प्रार्थना करना या गुरुसेवा करके धन, संतानकी कामना करना, यह कर्तव्य नहीं है। जो देवपूजन नहीं करते उनके भी तो दमादम संतान होते रहते हैं। धन भी बढ़ता रहता है। जो गुरुसेवासे विमुख हैं वे भी लोकमें सुखी देखे जाते हैं। इन सब सुखोंके लिए देवपूजा या सत्संग आदिका उपयोग नहीं करना है। किन्तु मेरेमें वह धर्म प्रकट हो, जिस धर्मके प्रसादसे संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूट जाऊँ, ऐसी विविक्तता और निर्मलताके मार्गमें कदम बढ़ाना है, उसके लिए ही यह देव वन्दन है।

प्रभुत्वविकास—यह देव अनन्त महिमाके निधान हैं, धीर हैं, अपने आपमें यह शाश्वत आनन्दमग्न रहते हैं, अविचल हैं। प्रभु जिसरूप अपनेमें वर्त रहे हैं उस रूपको त्रिकाल भी ये तज न सकेंगे। हम आप लोग तो छिन-छिनमें कभी खुश होते हैं, कभी दुःखी होते हैं, कभी कुछ निर्मलता प्रकट करते हैं, कभी मलिन बन जाते हैं, पर प्रभुके ऐसी परम स्वच्छता है, ऐसी परम निर्मलता है कि वह त्रिकाल भी अपनी इस स्वच्छताको छोड़ न सकेंगे। है क्या ? चेतन प्रभु है, चेतन हम हैं। हम आप पर रागद्वेष मोहका कूड़ा कचरा पड़ा हुआ है, बस इसी कारण हम आत्मा और प्रभु परमात्मामें अन्तर है। यह एक रागद्वेष मोहका कूड़ा कचरा न रहे तो वही स्वरूप यह है, वही परमात्मत्व यह है, पर कैसा कर्मविपाक है कि मोह प्रायः छोड़ा नहीं जाता।

धर्मपालनको अन्त पुरुषार्थकी आवश्यकता—भैया ! रागद्वेष तजने रूप ही धर्मसेवन करने योग्य है। रूढ़िगत तौरसे भले ही सब धर्मव्यवहार करें, किन्तु मोह जो २० साल पहिले था कहो उससे भी बढ़कर मोह मौजूद हो तो जब मोहमें अन्तर नहो आया तो धर्मकी क्या पकड़ कर सकेंगे कि हाँ हमने कुछ धर्मसाधन किया है ? अरे धर्म तो नाम है मोहरहित और कषायरहित होनेका। अपने अन्तरङ्गमें निरीक्षण तो करो कि हमने कितना मोह तजा है ? क्या कभी हमने समस्त परपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप मात्र अनुभव किया है ? क्या कभी इस ज्ञायकस्वरूप एकाकी निज आत्मामें विश्राम किया है ? यहां ही ठहरकर क्या हमने कभी सन्तोष पाया है ? यदि नहीं पाया है, बाहरी आडम्बर और पदार्थोंमें ही यह उपयोग लगा रहा है तो समझो कि हमने अभी धर्म नहीं कर पाया, इसके लिए अभी यत्न करना है।

धर्ममूर्ति—प्रभु साक्षात् धर्मस्वरूप है और शक्तिरूपमें हम आप समस्त आत्मा साक्षात् धर्मस्वरूप हैं। धर्म नाम है स्वभावका। जिसका जो स्वभाव है वह स्वभाव प्रकट हो जाय यथार्थ निर्दोष उसीके मायने हैं धर्ममूर्तिका बनना। प्रभु धर्मकी मूर्ति हैं इसीलिए हम पूजते हैं। धर्ममें ही आनन्द है। धर्मभावको छोड़कर रहें तो आनन्द न मिल सकेगा, दुःखी ही होंगे, क्लेश ही मचेगा। धर्ममूर्ति भगवानकी वंदना

करके हमे अपने धर्म-स्वभावका झुकाव होना चाहिए।

प्रभुका विशुद्ध ज्ञानघनस्वरूप—यह प्रभु स्वभावमें महान है। इसमे व्यवहारका विस्तार ही नहीं है, यहाँ निश्चयनयसे तका जा रहा है। प्रभु अपने ही स्वरूपको देख रहे है किसी बाह्य लोकको नहीं, जानते तो हैं प्रभु लोकालोकको, मगर ऐसा कहनेमे एक तो परका नाम लेकर कहना पड़ा, दूसरे एक आत्माको तजकर दूसरे पदार्थको बताना पड़ा, वह सब व्यवहार है। प्रभु शुद्ध है, स्वच्छ है निर्दोष है, निराकुल हैं, कोई विषयवासना उनके अन्दर नही है, वे शुद्ध ज्ञानके पिंड है। ज्ञान पिंडका ही नाम भगवान है। ज्ञानघन प्रभु है। घन उसे कहते हैं जो ठोस हो, जिसमे दूसरी चीजका समावेश न हो। केवल वही का वही हो। जैसे कोई काठ होता है बडा सारभूत हो, वजनी बन जाता है। लोग कहते हैं कि यह ठोस काठ है। उसका अर्थ यह है कि इसमे किसी अन्य चीजका प्रवेश नहीं है। न घुन है, न दरकल है, न कोई पोल है। यह प्रभु भी ज्ञानसे ठोस है, ज्ञानके ही पिंड है।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानानन्दघनका विवरण—जैसे घडेमें पानी भरा हो तो पानी घडेके अन्दर ठोस रहता है। उसके भीतर एक सूत भी जगह ऐसी नहीं होती जहाँ पानी न हो और वह अगल बगल पानीसे ठोस होता है, इसी प्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञानसे ठोस है। यहाँ एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जहाँ ज्ञान न हो और अगल बगल ज्ञानरस भरा हुआ हो। ज्ञानमे ठोस है। इस ज्ञानघनताका स्मरण यह पानीसे भरा हुआ घड़ा दिलाता है, इसीलिए लोग पानीसे भरे हुए घडेको सगुन मानते है। रास्ता चल रहे हों और पानी भरा घडा मिल जाय तो लोग सगुन समझते हैं। अरे उसे सगुन क्यों कहा? वह पानीसे भरा हुआ घडा यह सुध दिलाता है कि जैसे यह घडा पानीसे लबालब भरा हुआ है ऐसे ही यह आत्मा ज्ञान और आनन्दसे लबालब भरा हुआ है, ऐसे अपने आत्माकी सुध दिलानेके कारण वह पानीसे भरा हुआ घडा सगुन माना जाता है। प्रभु ज्ञानानन्दघन है, अखण्ड अद्वैत चैतन्य चमत्कारमात्र हैं। उनका ध्यान करने से हमारे कर्मकलंक भी दूर होते है। यों प्रभुभक्ति हम आप लोगोका एक आवश्यक कार्य है।

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ॥१६७॥

प्रत्यक्षज्ञानकी व्यापकता—प्रभुका ज्ञान कैसा होता है इस सम्बन्धमे यह गाथा कही गयी है। प्रभु मूर्त अमूर्त समस्त द्रव्योंको जानते है, चेतन अचेतन समस्त द्रव्योंको जानते हैं व आत्मा और अनात्मा समस्त द्रव्योंको जानते है, इसका कारण यह है कि उनका ज्ञान प्रत्यक्ष है और अतीन्द्रिय है।

प्रभुके समस्त मूर्त अमूर्तका ज्ञान—जगतमे जितने भी पदार्थ हैं अर्थात् जो है वे दो प्रकारके है, एक तो रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले और एक ऐसे जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है। जैसे पुद्गलमे तो रूप रस हैं और बाकी सब पदार्थोंमें रूप आदिक नहीं है। पदार्थ ६ जातिके होते हैं जिनमें पुद्गल तो मूर्त है और शेषके द्रव्य याने जीव, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये अमूर्त हैं। केवली प्रभु मूर्त अमूर्त समस्त द्रव्योंको जानते हैं।

जीवद्रव्य—जैन शासनकी प्रमुख विशेषता यह है कि यह पदार्थका यथार्थ स्वरूप बताता है। एक जातिकी विशेष बात दूसरेमें न मिले और अपनी जातिमें पूर्ण रूपसे समान हो उसका नाम जाति है। जैसे जीव कहो, तो जीव-जीव जितने हैं वे सब एक समान हैं, और इनका जो असाधारण गुण, ज्ञान दर्शन, जानना देखना वह किसी अन्य पदार्थमें हो नहीं सकता। इस कारण जीव एक जाति है और इस जीव जातिमें अनन्त जीव आ गये हैं और जीव जातिमे कोई भी जीव छूटता नहीं है, जीवका जो स्वरूप है उस स्वरूपकी दृष्टिसे चाहे भव्य संसारी हों, चाहे अभव्य संसारी हों और चाहे सिद्ध भगवान हों, सबका एक स्वरूप है। जीवत्वस्वरूपके नातेसे कोई जीव नहीं छूटता। ज्ञानी संत वे ही कहलाते हैं जो

सब जीवोंमें इस जीवत्वस्वरूपको देखते हैं। कहते हैं ना कि जीव जीव सब एक समान हैं। चाहे सिद्ध भगवान हो, अरहन्त प्रभु हों, साधु परमेष्ठी हो, श्रावक हों, कीडा मकौड़ा हों, स्थावर हो, निगोद हो, सभी जीवोंमें स्वरूप और स्वभाव एक समान है। स्वभावकी दृष्टिसे किसीमें अन्तर नहीं पडता है। जाति उसे ही कहते हैं कि जिसमें सब बराबर अधिकारसे समा जाय, जैसे गाय जाति कहो तो चाहे काली गाय हो, चाहे लाल हो, चाहे सफेद हो, अथवा छोटे सींग की हो, बडे सींग की हो, सब गायें गौ जातेमें आ जाती है। जाति नाम उसका है कि जिसमे एक भी पदार्थ उस जातिका छूटे नहीं। इस दृष्टान्तसे जीव एक जाति है। जिसमे अनन्त जीव समाये हुए है।

पुद्गल द्रव्य—पुद्गल एक जाति है जिसमे गर्भित पदार्थोंमे रूप, रस, गंध, स्पर्श पाया जाय। पुद्गल जातिमें कोई पुद्गल नहीं छूटना, चाहे वह सूक्ष्म स्कध हो अथवा परमाणु हो, सबमें रूप, रस, गंध, स्पर्श होता है। किसीको न भी विदित हो कोई गुण लेकिन जहाँ रूप आदिक चारोंमें से कोई एक है वहाँ तीनों अवश्य होते हैं। ये दिखने वाले जो पदार्थ है, इनमें शीघ्र समझमें आता है कि इनमें रूपादिक हैं, पर शब्द जो सुनाई दे रहे हैं ये भी पुद्गल हैं, इनके ठोकर भी लगती है। कोई जोरसे बोले तो कानों में बहुत आहट पहुचती है। छोटे मोटे पदार्थ तो बोलने के ठोकरसे ही उडकर भाग जाते हैं। कोई मनुष्य भींतके उस तरफ बोल रहा हो तो उसके शब्द भिड जाते है, यहाँ उन शब्दोंको नहीं सुन सकते। और शब्दोंको तो वैज्ञानिकोने यत्रोमे पकड रक्खा है, तो इस प्रकार ये शब्द भी रूप, रस, गध, स्पर्श वाले है। इनसे भी और सूक्ष्म स्कध है--जैसे कर्म, ये भी मूर्त हैं। ये कर्म न भिडते हैं। न स्वादमें आते हैं, न इनमें गध विदित होती है, न इनके आवाज है, न इनमें रग विदित होता है। कुछ विदित इसमें होता नहीं है, लेकिन है ये सब। एक आवाज तो नहीं है, बाकी चार गुण परिणमन है। आवाज होना पुद्गलका गुण नही है। यदि आवाज पुद्गलका गुण होता तो कर्ममे भी होता। आवाज तो पुद्गलकी द्रव्यपर्याय है। यो कर्म भी पुद्गल है और उनसे सूक्ष्म अनेक स्कध और पडे हुए है। वे सब पुद्गल हैं और एक अणु भी जो कि अबद्ध है, एक समयमें १४ राजू तक गमन कर जाता है, ऐसा अणु भी पुद्गल है, तो इनमे दूसरी जाति है पुद्गलकी।

धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य—तीसरी जाति बतायी है धर्मद्रव्य। धर्मद्रव्य एक ही है इसी लिए उसे चाहे जाति कहलो, चाहे व्यक्ति कह लो, एक ही बात है। धर्मद्रव्य उसे कहते हैं जिसके निमित्तसे जीव और पुद्गल गमन कर सके। यदि लोकमें धर्मद्रव्य न होता तो यह जीव और पुद्गल चल न सकते थे। इतनी सूक्ष्म बात जैनदर्शनसे बतायी गयी है। इसके विषयमे वैज्ञानिक लोग भी कुछ अनुमान करते हैं कि आकाशमे भी सूक्ष्म तरग है जिसके सहारे शब्द चलते है। उससे भी और सूक्ष्म यह धर्मद्रव्य है। अधर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीव पुद्गल जो कि चलकर ठहरते हों उनके ठहरनेमें सहायक होता है। यह भी एक ही पदार्थ है, इसलिए अधर्म जाति कहो या अधर्म नामका कोई व्यक्ति कहो, एक ही बात है।

आकाश द्रव्य—एक आकाशद्रव्य है जो असीम है, लोकमें भी वही एक आकाश है और लोकसे बाहर भी वही एक आकाश है, क्योंकि कल्पना करो कि आकाशका यदि कहीं अन्त हो जाय तो फिर जहाँ आकाश नहीं रहा वहाँ क्या चीज होगी? आकाश नाम मान लो पोलका है, जहा आकाश नहीं है, तो आकाश जब नहीं रहा तो इसका अर्थ है कि कुछ है, कोई ठोस चीज है। जब कोई ठोस चीज है तो आकाश भी है और उस ठोसका भी तो अंत होता है, ठोसके बाद फिर आकाश। कल्पना करते जावो, आकाशका कहीं अत बता ही नहीं सकते हैं, ऐसा सीमारहित एक आकाशद्रव्य है।

धर्म, अधर्म व आकाशकी एक एक सख्याका कारण--धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य व आकाश, ये एक-एक क्यों हैं? एक उसे कहते है कि जो एक परिणमन जितने पूरेमे होना ही पडे, अथवा जिसका कभी हिस्सा ही

न हो सके वह एक होता है, आकाशका कभी हिस्सा नहीं होता है वह एक होता है और उसका जो भी परिणमन है अपने आपके स्वरूपमे, वह एक परिणमन सम्पूर्ण आकाशमें होता है।

आकाशपरिणतिविषयक एक जिज्ञासाका समाधान व काल द्रव्य—यहाँ यह शंका की जा सकती है कि कालद्रव्य तो केवल लोकाकाशमे है और कालद्रव्यका काम है वस्तुवोंके परिणमनका निमित्त होना। तो लोकाकाशके कालद्रव्यकी वजहसे लोकाकाशके आकाशका तो परिणमन हो जायेगा, पर इसके बाहरमें जो आकाश है उसका परिणमन तो नहीं हो सकता। उसका उत्तर यह है कि चूँकि आकाश एक द्रव्य है, अखण्ड है, इस कारण आकाशका जो भी एक परिणमन है वह समस्त आकाशमें होता है और उस परिणमनके लिए निमित्त चाहिए काल, सो वह कालद्रव्य कहीं भी स्थित हो वह तो निमित्तमात्र है। लोकाकाश में स्थित कालद्रव्यका निमित्त पाकर आकाश परिणमन करता है। कालद्रव्य असख्यात है, लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु मौजूद हैं। जहाँ जो कालद्रव्य है उसपर स्थित जो भी पदार्थ है उसके परिणमनका निमित्तभूत वह काल है।

मूर्त अमूर्तके बोधका प्रतिपादन—इस प्रकार द्रव्य ६ होते हैं, उन द्रव्योंमें यदि मूर्त और अमूर्त दो विभाग किए जायें तो मूर्त तो हुआ पुदगल और अमूर्त हुए ५ पदार्थ। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन ५ प्रकारके पदार्थोंमें रूप आदिक नहीं होते हैं। प्रभु भगवान मूर्त और अमूर्त समस्त पदार्थों को जानते हैं और इन मूर्त अमूर्त पदार्थोंके जो परिणमन हो चुके हैं, हो रहे हैं, होंगे, उन समस्त परिणमनों को जानते हैं।

प्रभुके चेतन अचेतन समस्त द्रव्योंका ज्ञान—इसी प्रकार इन ६ जातिके पदार्थोंका यदि चेतन और अचेतनकी पद्धतिसे भेद किया जाय तो चेतन तो केवल एक जीव है और बाकी ५ अचेतन हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये ५ पदार्थ अचेतन हैं। चेतन उसे कहते हैं, जिसमें चेतनेका परिणमन पाया जाय। चेतन नाम है प्रतिभासका, जो कुछ जान सके, देख सके। जीव प्रतिभासता है और बाकी ५ द्रव्य रंच भी प्रतिभास नहीं कर पाते हैं, इसी कारण जीव तो मात्र ज्ञाता ही बने अथवा ज्ञेय ही बने, ऐसा नहीं है। वह ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है, किन्तु शेष ५ प्रकारके पदार्थ केवल ज्ञेय हैं, ज्ञाता नहीं हैं। जीव जानने वाला भी है और जाननमें भी आता है किन्तु शेष ५ प्रकारके पदार्थ जानने में तो आ जाते हैं परन्तु वे स्वय जानते नहीं हैं। इस तरह चेतन और अचेतनमें भी सब पदार्थ आ गए, इन समस्त पदार्थोंको केवली भगवान एक साथ स्पष्ट त्रिकालवर्ती परिणमनों सहित जानते हैं।

प्रभुके आत्मा और अनात्माका समस्त परिज्ञान—इसी प्रकार इन पदार्थोंका यदि आत्मा और अनात्मा इस तरहसे भेद किया जाये तो इस आत्मामें तो केवल एक ही पदार्थ लेना है, जो जानने वाला भगवान है उसका आत्मा हो हुआ स्व। उसके अलावा अनन्त जानने वाले जो और प्रभु हैं वे भी पर हैं, संसारके समस्त जीव भी पर हैं, पुदगल धर्म अधर्म आकाश और काल भी पर हैं। इस तरह स्वको और परको ये प्रभु स्पष्ट त्रिकालवर्ती परिणमन सहित जानते हैं अर्थात् जो समस्त सत्को जाने वह केवली प्रभु है। यह निरन्तर जानते और देखते रहते हैं, उनमें एक समयका भी बीचमें व्यवधान नहीं होता है। उनके ज्ञानमें तो समस्त भूतकालके और भविष्यकालके भी पदार्थ ऐसे स्पष्ट हो रहे हैं जैसे मानो वर्तमान में हों। ज्ञानमें तो सभी पदार्थ वर्तमान रहते हैं। उन पदार्थोंमें भूत और भविष्यका भेद है। पदार्थोंमें यह परिणमन तो हो चुका था और ये परिणमन आगे होंगे, ऐसा पदार्थोंमे तो भेद है, पर जाननेमें क्या भेद ?

प्रभुके ज्ञानमें भूत भविष्यके ज्ञानकी वर्तमानता—जैसे आप अबसे १० वर्ष पहिलेकी बातका स्मरण कर रहे हो तो वह बात, घटना आपके ज्ञानमें इसी समय है। भले ही उस घटनाको १० वर्ष गुजर गये

हैं, पर १० वर्ष पहिले की बातको जाननेमें आपको १० वर्ष नहीं गुजारना है, आप तो वर्तमानमें उसे स्पष्ट जान रहे हैं, तो भूतकाल का ज्ञान आपके ज्ञानमें वर्तमानकी तरह है। यों ही भविष्यकालकी बात भी आप अनुमानसे जानते हैं, न प्रत्यक्ष ज्ञान हो उसका भी अनुमानरूप सम्भावनारूप जाना गया भविष्य काल भी वर्तमान की तरह हो जाता है। फर्क यह है कि हम अपने ज्ञानमें भूत और भविष्यकी बात आये तो विशदपना न होनेसे अर्थात् स्पष्ट जानन न होनेसे हम उसे वर्तमानवत नहीं कहते हैं, किन्तु प्रभुके ज्ञानमें तो भूतकालके समस्त पदार्थ ज्ञान हो रहे हैं और भविष्यकालके भी समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात हो रहे हैं, उनके लिए तो वर्तमान है।

वर्तमान ज्ञानकी विशदताका अनुमान—जैसे जिन-वाणी संग्रहमें जहाँ भूतकालके २४ तीर्थंकरोंके नाम लिखे है और वर्तमान कालके २४ तीर्थंकरोंके नाम लिखे हैं और भविष्यकालके २४ तीर्थंकरोंके नाम लिखे हैं, तो नामरूपसे जाननेमे तो आपके वे ७२ नाम सामने हैं। प्रभुका ज्ञान तो विशद है, उनके ज्ञानमें तो भूत और भविष्यके सब पदार्थ ऐसे सामने हैं जैसे कि आपके सामने पत्थर पर लिखे हुए भूत और भविष्यके पुरुषोंके नाम हैं। उनके ता ज्ञानमें समस्त पदार्थ ही सदा ही वर्तमान रहते हैं, पदार्थोंमें यह पर्याय पहिले थी, यह पर्याय आगे होगी, इस प्रकार काल भेद है, पर हम आपके ज्ञानमें जैसे कुछ-कुछ भूत और भविष्यकी बात सामने आती है इससे भी अत्यन्त विशद जीवका निरावरण ज्ञान है, प्रभुके ज्ञानमें भूत और भविष्यका सब परिणमन स्पष्ट ज्ञात होता है, क्योंकि उनके ज्ञानमें क्रम नहीं है।

छद्मस्थोंका क्रमिक ज्ञान—जो इन्द्रियसे जाने उसके ज्ञानमें क्रम होता है, अभी हम अमुक इन्द्रियसे जान रहे है तो शेष चारों इन्द्रियोंका ज्ञान अभी नहीं हो रहा है, बादमें होगा। हमारा इन्द्रियज ज्ञान एक साथ नहीं होता। कल्पना करो कि कोई बेसनसे तेलकी पपरिया बनाए बड़ी कड़ी और आप उसे मुखसे खा रहे हैं तो कल्पना जग सकती है कि उस समय हम पपरियोंकी आवाज भी सुन रहे है, चुर्र चुर्र हो रही हैं, आखों भी देख रहे हैं, स्वाद भी आ रहा है, गध भी खूब आ रही है, यह कड़ी है इस प्रकारका बोध भी हो रहा है। पाचों इन्द्रियोंसे इस प्रकारका ज्ञान हो रहा है, पर वहाँ भी एक साथ ज्ञान नहीं होता। इस ज्ञानकी ऐसी तीक्ष्ण गति है या यहाँके लिये यों कहो कि मनकी ऐसी तीव्र गति है कि वह क्रम-क्रमसे इन सब इन्द्रियों द्वारा ज्ञान कराता रहता है लेकिन क्रम नहीं मालूम पड़ता। जैसे ५० पान रक्खें हैं एक गड्डीमें और आप उसमे एक सूई मार दें तो ऐसा लगता है कि पचासों पान एक साथ छिद गए हे पर ऐसा नहीं है। वे एक के बाद एक छिदे हैं। उन पचासों पानोंमें ५० बार विलम्ब लगा, किन्तु वह विलम्ब ज्ञात नहीं होता है, ऐसे ही इस मनकी इतनी तीव्र गति है कि हम इस ज्ञानको क्रम-क्रमसे जानते हैं। फिर भी हम ऐसा महसूस करते है कभी कभी कि हम एक साथ ही तो जान रहे हैं, लेकिन है नहीं ऐसा।

प्रभुका युगपत् सर्वज्ञान--प्रभुका ज्ञान एक साथ स्पष्ट जानता है, किन्तु हम आप छद्मस्थोंका ज्ञान क्रम क्रमसे जानता है। प्रभुके ज्ञानमे कभी कोई व्यवधान नहीं है। हम आपके आँखोंके आगे यदि भींत आड़े आ जाय तो हम चीजोंको नहीं जान सकते हे जो भींतके उस पार रक्खी हैं, हमारे ज्ञानमें व्यवधान आ गया है परन्तु प्रभुका ज्ञान व्यवधानरहित है, वह केवल आत्मासे ही जानते हैं, इन्द्रियसे नहीं जानते। सिद्ध भगवानके तो इन्द्रिय हैं ही नहीं, वह तो अशरीर हैं। अरहत भगवानके शरीरमें यद्यपि इन्द्रियोंका आकार है पर केवलज्ञान हो जानेसे वे उन इन्द्रियों द्वारा नहीं जानते हैं, केवल आत्मासे जानते हैं। तब उनके लिए आड क्या काम करे? जैसे मनके द्वारा हम किसी चीजको जानते हैं तो आड हमारे ज्ञानको रोकता नहीं है, जैसे यहा बैठे हुए आप अपने घरको तिजोरीके भीतर सदूकमे रक्खी हुई पेटीके भीतर किसी पोटलीमे बंधी हुई अगूठीका आप जानना चाहे तो आपके ज्ञानको न तो आपके घरके किवाड़

रोक सकेंगे, न तिजोरीके फाटक, न संदूक, न पेटी और न कपड़ेकी पोटली आपके ज्ञानको रोक सकेगी। यहाँ बैठे ही बैठे आप उस गुप्त चीजको जान जायेंगे। तो मनसे तो विलक्षण विशुद्ध ज्ञान है प्रभुका, वे अपने ज्ञानसे समस्त लोकको जानते हैं, उसमें किसकी अटक होगी।

प्रभुकी निर्मल ज्ञानमयता—प्रभुका ज्ञान व्यवधानरहित है और इन्द्रियरहित है, ऐसा पूर्ण निर्मलज्ञान केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष प्रमाणरूप होता है। वह मूर्त अमूर्त, चेतन अचेतन, आत्मा अनात्मा समस्त पदार्थोंको क्रमरहित व्यवधानरहित स्पष्ट जानते हैं। जो इन्द्रियों द्वारा जाने उसका ज्ञान तो है परोक्ष और जो केवल आत्माको ही जाने उसका ज्ञान है प्रत्यक्ष। ऐसे इन प्रभुके केवलज्ञान नामका तीसरा नेत्र प्रकट हुआ है। जिस केवलज्ञान नेत्रके कारण जिनकी महिमा प्रसिद्ध है, जो तीनों लोकके गुरु हैं, शाश्वत अनन्त जिनका तेज है ऐसे तीर्थंकर नाथ जिनेन्द्रदेव केवली प्रभु निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानते हैं। ऐसे सर्वज्ञदेवको हम बड़ी भक्तिपूर्वक पूजने आते हैं। हम जिसे पूजते हैं उसका स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। प्रभुका स्वरूप जाने बिना हमारी प्रभुपूजा कैसी? प्रभुपूजा प्रभुके गुणस्मरणमें है और उसका फल यह निकालो कि जो प्रभुमें ऐश्वर्य है, स्वरूप है, वही ऐश्वर्य, वही स्वरूप मुझमें है। जिस पथसे चलकर प्रभु निर्दोष हुए हैं उसी पथसे चलकर हम भी निर्दोष हो सकते हैं, ऐसा अपने स्वरूपमें उत्साह जगाना, यही केवली प्रभुके गुणानुवादका फल है।

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जयेण संजुत्तं।
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ॥१६८॥

सकलज्ञता——जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन ६ द्रव्योंमें प्रत्येक द्रव्यमें नाना गुण हैं और जितने गुण हैं उतने ही उनके सदा परिणमन होते हैं, ऐसे नाना गुण और पर्यायोंसे सहित समस्त द्रव्योंको जो स्पष्ट जानता है उसके तो प्रत्यक्ष ज्ञान है और जो इन्हें स्पष्ट नहीं जानता है उसके परोक्ष दृष्टि कही गयी है अर्थात् केवलज्ञानीको सकलज्ञ कहा है। केवलज्ञान जिसे न हो उसको सकलज्ञ नहीं कहा गया है।

इन्द्रियावलम्बनकी परमार्थतः ज्ञानानन्दमें बाधकता—हम आप इन इन्द्रियोंके सहारे जानकारी करते हैं, इस कारण पदार्थकी पूरी जानकारी नहीं हो पाती है। जो इन्द्रियके साधनोंसे पदार्थोंको नहीं जानते किन्तु ज्ञानपुंज इस आत्माके ही सहारेसे जो पदार्थोंको जानते हैं उनको स्पष्ट ज्ञान होता है, पूर्ण ज्ञान होता है। ये मोही जीव इन इन्द्रियोंके ही सम्हालमें लगे रहते हैं, यह जानकर कि ज्ञानका साधन तो ये इन्द्रिया हैं, आनन्दका साधन तो ये इन्द्रिया हैं, ऐसा समझकर इन इन्द्रियोंके पोषणमें ही वे निरत रहा करते हैं, लेकिन यह विदित नहीं है कि जब तक इन्द्रियका आश्रय करते रहेंगे तब तक न समस्त ज्ञान होगा और न शुद्ध आनन्द जगेगा। जैसे इन्द्रिय द्वारा जाननेसे स्पष्ट परिपूर्ण ज्ञान नहीं होता है ऐसे ही इन्द्रियों द्वारा विषयोंके उपभोग करनेसे आनन्द भी पवित्र पूर्ण नहीं होता है। ज्ञान और आनन्दका बाधक है इन इन्द्रियोंका आलम्बन, पर मोही जीव जानता है कि जो कुछ ज्ञान और आनन्द जगता है वह इन इन्द्रियोंके साधनोंसे जगता है। हम आखोंसे किसी पदार्थको देखते हैं तो सामनेका भाग तो दिखता है, उसके पीछे क्या है, उस पदार्थके अन्दर क्या है अथवा रूपके अतिरिक्त और-और गुण क्या हैं, इन सबका कुछ भी भान नहीं होता है। किसी भी इन्द्रियसे जाने, पदार्थका अधूरा ही कुछ अंश और वह भी अस्पष्ट रूपसे जाननेमें आता है।

समस्त द्रव्यगुणपर्यायके वर्णनका स्मरण—इससे पहिले की गाथामें यह बता दिया गया था कि समस्त द्रव्य गुण पर्यायात्मक पदार्थ दो प्रकारके हैं। कोई तो रूपी है जो कि इन्द्रियों द्वारा समझमें आता है और कुछ अरूपी है जो इन्द्रिया द्वारा समझमें नहीं आ सकता है। इन्द्रियका विषय है स्पर्श, रस, गंध,

वर्ण और शब्द—ये पाँचों ही चीजें जिनमें चार तो हैं गुणपर्याय-रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द है द्रव्यपर्याय, ये सब पुद्गलमें होते हैं, जिसे लोग भौतिक पदार्थ कहते है। भौतिक शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ ऐसा नहीं है जिससे भौतिक शब्द द्वारा वाच्य पदार्थ ही ग्रहणमें आये और दूसरा न आये, किन्तु पुद्गल शब्द इतना सगठित शब्द है कि पुद्गलके कहने से रूप आदिक सयुक्त पदार्थ ही ग्रहणमें आते है, अरूपी पदार्थ ग्रहणमें नहीं आते।

पुद्गलका सही अर्थ—पुद्गलकी प्रकृति है पुद और गल। पुद्का अर्थ है पूरण, जो मिलकर परिपूर्ण बनाकर कुछ बढ़ाकर अधिक हो जाय और जो गल करके घट जाय उसे कहते है गल। ये पदार्थ जितने भी आँखों दिखते हैं, ये ढेर है एक एक पदार्थ नही है, यह भींत ईंटोंका ढेर है, ईंट अनेक परमाणुवों का ढेर है, उनके अश भी सूक्ष्म स्कधोंसे बनते हैं, सूक्ष्म स्कंधोंमे भी अनेक पुद्गल परमाणु मिले हैं। दृश्यमान् समस्त पदार्थ अनन्त परमाणुवोंके पिंड हैं। जिस परमाणुके साथ हम आपका कभी व्यवहार भी नहीं चलता है वह परमार्थ चीज है, जिस जिससे व्यवहार चलता है वे सब मायारूप हैं, इनका नाम पुद्गल यथार्थ है, ऐसा अन्य द्रव्योंमें नहीं होता कि वे मिल मिल करके इकट्ठे हो जायें और फिर बिखर कर अलग-अलग हो जायें। जीव-जीव मिलकर एक कभी नहीं हो सकते हैं। जितने जीव हैं वे सब अलग-अलग ही अवद्ध रूपसे रहेंगे, पुद्गलमें बन्धन हो जाता है। धर्म, अधर्म आकाश और काल द्रव्य ये भी कभी मिलजुल नहीं सकते हैं, मिलकर एक पिंड नहीं बन सकते हैं और बिछुड़कर अलग-अलग हो जानेका काम भी पुद्गलमें होता है।

द्रव्यकी गुण व पर्यायोका सक्षिप्त वर्णन—पुद्गल मूर्त हैं, मूर्त पदार्थमें गुण भी मूर्त होता है। पुद्गल अचेतन हैं अचेतन पदार्थके गुण भी सब अचेतन होते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ भी अचेतन हैं। इन ६ द्रव्योंमें से पुद्गल तो मूर्तिक द्रव्य है। पुद्गलको छोड़कर शेषके ५ द्रव्य अमूर्त है, अमूर्त पदार्थमें गुण अमूर्त होता है। जीव चेतन है, चेतनके गुण चेतन होते है। वस्तु के स्वरूपकी यह सत्य व्यवस्था जिन ज्ञानी पुरुषोंके प्रत्ययमें आ जाती है उनके मोह नहीं रहता और वे अपने इस विशुद्ध सम्यग्ज्ञानसे अपना पोषण करके अपनेको निर्दोष बना लेते हैं। इन पदार्थोंमें ऐसा स्वभाव पड़ा है कि वे अपनी ही प्रकृतिसे घटते बढते रहते हैं अर्थात् उनमें पर्याय बदलती रहती है। एक पर्यायका त्यागकर दूसरे पर्यायोंका ग्रहण करना यह हानि वृद्धिका रूप है जैसी कि सूक्ष्मतासे षड्गुण हानिवृद्धि बनायी गयी है।

पदार्थोंके साधारणगुणोकी नियामकता—पदार्थोंमें ६ साधारण गुण होते है। कोई भी पदार्थ हो, जीव हो अथवा पुद्गल हो अथवा अन्य कोई हो उसमें अस्तित्व तो है ही, जिसकी वजहसे वह पदार्थ है और वह पदार्थ अपने ही स्वरूपसे है परके स्वरूपसे नहीं है। जैसे एक मोटा दृष्टान्त लो। गेहूं और चनों को कितना ही मिला दिया जाय, पर गेहूका स्वरूप गेहूमें है और चनेका स्वरूप चनेमें है और कदाचित् उन दोनोंको पीस दिया जाय, चून बन जाय, फिर भी गेहूका स्वरूप गेहूमें है, चनेका स्वरूप चनेमें है। ऐसे ही इस लोकमें छहों द्रव्य एक जगह रह रहे हैं। जिस जगह आप है, आप जीव हैं और उस ही जगह इस शरीरके सहारे रहने वाले अनेक त्रस जीव भी हैं, निगोद जीव भी हैं, शरीर भी हैं। धर्म, अधर्म, आकाश तो सर्वत्र हैं ही। कालद्रव्य भी है। छहों द्रव्योंको एक जगह होने पर भी कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यसे मिल नहीं सकता है, एक नहीं हो सकता है। एक क्षेत्रमें मिलने पर भी सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूपमें अपना-अपना परिणमन करते हैं, तो प्रत्येक द्रव्य अपने ही चतुष्टयसे है अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है, परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। यही वस्तुत्व गुण है इस वस्तुत्व गुणके प्रतापसे पदार्थोंमे परिणमन होता है, अर्थक्रिया होती है। यह पदार्थ निरन्तर परिणमता रहेगा, ऐसा भी स्वभाव सब पदार्थों

मे है। कोई पदार्थ खाली नहीं रह सकता कि वह परिणमे नहीं और बना रहे। जो पदार्थ परिणमता नहीं है वह पदार्थ होता ही नहीं है। यदि कुछ है तो वह निरन्तर परिणमा करेगा, ऐसा वस्तुमें स्वभाव पड़ा हुआ है और यह ऐसा स्वभाव है कि वस्तु अपने स्वरूपसे परिणमेगा, दूसरेकी परिणतिसे न परिणमेगा। हम कुछ ज्ञान करेंगे या सुख शान्ति भोगेंगे तो अपने ही परिणमनसे अपने ही परिणमन रूप भोगेंगे, कहीं आपके परिणमनरूप नहीं भोग सकते हैं। प्रत्येक पदार्थमें यह स्वभाव पड़ा है कि वह अपने ही गुण के रूपमे परिणमन करेगा, दूसरेके रूप परिणमन नहीं कर सकता है। इसका नाम है अगुरुलघुत्व। पदार्थ प्रदेशात्मक तो है ही और वह किसी न किसी ज्ञानके द्वारा प्रमेय भी रहता है, यों प्रदेशत्व और प्रमेयत्व भी होता है।

कर्तृत्वबुद्धिका अनवकाश—अब इस वस्तुके स्वरूपसे यह शिक्षा ले सकते है कि वस्तुमें निरन्तर स्वभावका परिणमन ही पड़ा है। जैसा योग मिला, जैसी योग्यता है उस प्रकार वह परिणमता रहता है। जिसमें विभावरूप तो जीव और पुद्गल ही परिणमता है। शेष चार द्रव्य शुद्ध परिणमन रूप परिणमते रहते हैं। किसी पदार्थका किसी अन्य पदार्थके प्रति कर्तृत्व नहीं है। जब वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है तब बतावो कहाँ गुन्जायश है ? जो यह विकल्प कर रहे है मोहीजन कि मैं अमुक पदार्थका यों कर देता हू, अमुक पदार्थको मैंने किया, इस पदार्थको मै कर दूगा, यह कर्तृत्वका आशय महाविष है। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थको कर नहीं सकता है और जो माना कि मैं अमुक पदार्थको कर देता हू तो करने वाले के आशयमें भी यह बात रहेगी कि मैं कर देता हू। कर्तृत्व बुद्धिका आशय होना, परपदार्थका अपनेको कर्ता समझना यह एक बड़ी भूल है, यह दोष है जो अनहोनीको होनी कल्पित किया जा रहा है फिर भला बतलावो जो उत्कृष्ट आत्मा वीतराग सर्वज्ञदेव हैं, उनके प्रति जो यह भाव करता है कि यह जगतको रचते हैं, हम लोगोंको सुख देते हैं, पुण्य पाप कराते है, सद्गति, दुर्गति देते हैं, तो यह ईश्वर पर कितना बड़ा भारी अपराध थोपना है और उनके स्वरूपको बिगाड़ देना है ?

प्रभुका ज्ञानानन्दस्वरूप—प्रभु तो उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्दके पिंड हैं, उनका स्वरूप केवलज्ञान ज्योतिर्मय है, वे समस्त लोकालोकके पदार्थोंको स्पष्ट जानते है और किसी पदार्थके जाननेसे अपने आप में कोई आकुलता नहीं उत्पन्न करते हैं। जिनके आकुलता उत्पन्न करनेका साधन नहीं है उनके तो शुद्ध आनन्दका ही साधन है। आनन्दका अविनाभाव ज्ञान परिणमनसे है, लेकिन मोही जीवोंमे ज्ञानके साथ-साथ राग और द्वेष भी पडे हुए हैं ना, इच्छा भी लग रही है ना। इस कारण वे इच्छाके ही कारण दुःखी होते हैं और अपराध लादते हैं ज्ञानपर। यदि यह बात ज्ञानमें न आयी होती तो हमें कष्ट न होता, लोग ऐसा मानते हैं। कोई बाहर कहीं दुकान हो, फर्म हो और वहासे खबर आ जाय कि इस वस्तुके बेचेमें दो लाखका नुक्सान हुआ है तो यह दुःखी हो जाता है। नुक्सान हो भी गया हो और खबर आ जाय कि दो लाखका फायदा हुआ है तो नुक्सान होकर भी यह तो सुखी नजर आ रहा है, तो वह या कहता है कि मुझे तो इस ज्ञानने दुःखी किया। अरे ज्ञान दुःखका साधन नहीं होता। उस ज्ञानके साथ जो रागद्वेष मोह वाञ्छाका पाप लगा हुआ है। इस पापने दुःखी किया है। ज्ञान तो उत्कृष्ट आनन्दका ही साधक है।

अवस्थायें—इन पदार्थोंकी जो पर्यायें हमारे ज्ञानमें आ रही हैं वे सब दशाएँ स्थूल दशाएँ हैं। सूक्ष्म पर्याय तो अर्थ पर्याय है जो आगम प्रमाणसे जानी जाती है। प्रति समय, प्रतिक्षण अनन्त भाग वृद्धि आदिक बारह प्रकारसे तो बढ़ते हैं और उसही प्रकारसे हानिको प्राप्त होते है। यह क्रम प्रत्येक पदार्थमें लगा हुआ है। वह अपने मूलमें सूक्ष्मतासे निरन्तर अर्थपर्यायरूप परिणमते हैं, ऐसी सूक्ष्म परिणति प्रत्येक पदार्थमें पायी जाती है। अब जरा अपने मुताल्लक कुछ निगाह कीजिए। यह जीव आज किस स्थितिमें दबा पड़ा हुआ है ? कोई मनुष्य है, कोई नारकी है, कोई देव है, कोई पशु पक्षी स्थावर आदिक

हैं, ऐसी जो नाना व्यञ्जनपर्यायें हुई हैं ये संसार प्रपंचोंकी पर्यायें हैं। आत्माका शुद्धस्वरूप तो केवल ज्ञानानन्द मात्र है, किन्तु जो अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूपको नहीं पहिचान पाते, वे परपदार्थोंसे कुछ न कुछ आशा लगाये रहते हैं। उनके इस अन्तरके कलुषित परिणाममें अनेक कर्मोंका बंध होता है उसके उदयकालमें जीवकी ये नाना दशायें होती हैं।

वीतराग सर्वज्ञ प्रभुका भजन पूजन करने आयें तो यही निरखने आयें कि हे प्रभु! जब तक आप की तरह कैवल्य प्राप्त न हो जायेगा, जैसे कि आप अब केवल आत्मा ही आत्मा हैं, आपमें न अब रागादिक विभाव हैं, न कर्मोंका बन्धन है, न शरीरका बन्धन है, निर्दोष ज्ञानपुञ्ज आनन्दघन जैसा कि केवल आपका स्वरूप रह गया है ऐसा स्वरूप जब तक हमें प्राप्त न हो, हमारे संकट मिट न सकेंगे।

संसारभ्रमण और परोक्षदृष्टि—संसारमें यह परिभ्रमण बहुत विकट जंगल है। यहाँ मनुष्य पर्यायों में कुछ थोड़ेसे दुःखोंको मानकर हम आकुलित होते हैं और कदाचित् मनुष्यभव छूट कर तिर्यञ्च पशुपक्षी कीट मकौड़ेका भव मिल जाय तो यहाँ भी क्या विवेक काम देगा? हमारा शरण हमारा निर्मल परिणाम है, दूसरा और कुछ हमारा शरण नहीं है, ये नर नारकादिक पर्यायें हमारी ही करतूतके फल हैं। हम मलिनता त्याग दें, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रका विशुद्ध पालन करें तो ये सब झंझट समाप्त हो सकेंगे। प्रभुका ज्ञान समस्त पदार्थोंको विधिवत् जानता है। ये पुद्गलके नाना परिणमन हैं। कोई सूक्ष्म है और कोई उससे स्थूल है, कोई उससे स्थूल है, कोई उससे सूक्ष्म है, कोई उससे सूक्ष्म है। ऐसे ६ प्रकारके परिणमनोंमें पाये जाने वाले ये स्कंध पर्यायें हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इनका तो निरन्तर शाश्वत शुद्ध परिणमन ही चलता है, ऐसे अपने-अपने गुण और पर्यायोंसे संयुक्त इस पदार्थको जो नहीं देख सकते हैं ऐसे संसारी जीवोंके परोक्षदृष्टि होती है।

प्रभुकी निर्बाध परप्रकाशकता—भगवान प्रभु तो प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा समस्त सत्को एक साथ स्पष्ट जानते हैं। यह चर्चा इस प्रकरणमें चल रही है कि यह आत्मा स्वका प्रकाशक है और परका भी प्रकाशक है। उन दो पक्षोंमें से स्वप्रकाशकताको भली भांति सिद्ध कर चुके थे। यहाँ उपसंहाररूपमें परप्रकाशकता का वर्णन चल रहा है। जो भी सत् है वह नियमसे प्रभुके ज्ञानमें ज्ञात है। जो प्रभुको ज्ञात नहीं वह है ही नहीं, जो नहीं है वह कैसे ज्ञात हो? जो है वह ज्ञानमें से कैसे ओझल हो? जिनका ज्ञान केवल आत्माके नातेसे चल रहा है उनको किसी पदार्थकी अटक नहीं होती है।

इन्द्रियजज्ञानकी सव्याबाधता—भैया! हम इन्द्रियसे जानते हैं तो भींतके पीछे क्या है? हम नहीं पहिचान सकते हैं किन्तु जो इन्द्रियसे नहीं जानते, केवल आत्मीय शक्तिसे जानते हैं उन प्रभुके ज्ञानमें किसा चीजकी आड़ आ ही नहीं सकती है, पर सिद्धप्रभु लोकके अन्तमें विराजे हैं और वहीं विराजे हुए लोकके और अलोकके समस्त द्रव्य गुण पर्यायोंको जानते रहते हैं। जैसे कोई पुरुष किसी कमरेमें खड़ा हो, उस कमरे में चार पांच खिड़कियां हैं। वह पुरुष बाहरका कुछ ज्ञान कर सकता है तो उन खिड़कियों के सहारे ज्ञान कर सकता है। कभी किसी खिड़की से देखे कभी किसी खिड़कीसे देखे। बाहरके पदार्थों को जाननेका साधन द्वार माध्यम खिड़कियां हैं, पर यह तो बतावो कि क्या इन खिड़कियोंने जाना है? जाना तो पुरुषने है। कदाचित् उस कमरेकी सब खिड़कियां तोड़ दी जायें और भींतको तोड़कर बिल्कुल साफ मैदान कर दिया जाय तो क्या वह पुरुष सब तरफसे न जान लेगा? अब कहाँ खिड़कियाँ रहीं? खिड़कियोंके सहारे जानने वाली बात अब कहां विराजेगी उस पुरुषको तो अब चारों ओरसे स्पष्ट दिखने लगेगा। ऐसे ही कोई पुरुष आत्मा जो कि देहके बन्धनमें पड़ा हुआ है, कर्मोंके बन्धनमें पड़ा हुआ है उस पुरुषको इन पञ्चेन्द्रियोंकी खिड़कियोंसे ही कुछ ज्ञान होता है।

इन्द्रियजज्ञानमें नियतज्ञता व अतीन्द्रियज्ञानमें सकलज्ञता—इन्द्रियोंके आलम्बनसे होने वाला ज्ञान नियत

है, ऐसा भी नहीं है कि कानके द्वारा हम सब तरफकी बात जान जायें, केवल शब्द ही जान पायेंगे। आंखोंके द्वारा हम रूप, रस, गंध, स्पर्श सब जान जायें ऐसा नहीं होता। आंखोंसे हम केवल रूप ही जान सकते हैं, नाकसे केवल गंधका ही ज्ञान कर पाते हैं, जिह्वासे केवल रसको ही परख कर पाते हैं और स्पर्शन इन्द्रियसे हम केवल ठंड गर्मी आदिक स्पर्श ही जान पाते हैं। कैसी विभिन्नता है? जीभपर कोई गर्म चीज रखदी जाय खानेके लिए तो उसमें जो रस आ रहा है वह तो रसना इन्द्रियसे लिया जा रहा है और जो गर्मी जिनगी आ रही है वह रसना इन्द्रियसे नहीं, स्पर्शन इन्द्रियसे जाननेमें आ रही है। यों इन खिड़कियों वाला यह देह है। बद्ध संसारी आत्मा कुछ थोड़ा-थोड़ा जान पाता है। कल्पना करो कि जिस आत्माके देह भी नहीं रहा, कर्मबन्धन नहीं रहा, केवल ज्ञानपुञ्ज रह गया है, जिसे अखण्ड और शुद्ध कहते हैं, ऐसी स्थितिमें अब ज्ञान इन्द्रियके सहारे क्या करेंगे? वे तो आत्मीय शक्तिसे सर्व ओरसे सबको जानते हैं। यों यह आत्मप्रभु निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ समस्त सत् पदार्थोंको जानते हैं।

ज्ञानाभिमान तजने व सहजज्ञानावलम्बन करनेका अनुरोध—प्रभुका ऐसा व्यापक परप्रकाशक ज्ञान है जो इन तीनों लोकका एक ही समय एक ही साथ तीनों कालकी सब परिणतियोंको जान जाते हैं। जो यों सकल पदार्थोंको नहीं जान सकते हैं वे सर्वज्ञ नहीं हैं, कोई अपने ज्ञानका अभिमान करे तो वह व्यर्थ है। उसकी प्रत्यक्ष दृष्टि नहीं है। जडबुद्धि पुरुष ही छोटे-छोटे ज्ञानपर अभिमान किया करते हैं। अरे भगवान सर्वज्ञका ज्ञान तो देखो—इसके समक्ष क्या ज्ञान पाया है? अरे अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपका आलम्बन लेनेसे ही ऐसा परिपूर्ण केवलज्ञान प्रकट होता है, इस कारण सब तप विकल्प मोह अहंकारको तजकर यह यत्न करें कि हम अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपका ही दर्शन करते रहें।

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भयवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ॥१६६॥

व्यवहारनयसे परप्रकाशकताका समर्थन—केवली भगवान लोक और अलोकको जानते हैं। आत्मासे नहीं जानते हैं, ऐसा यदि कोई व्यवहारनयकी दृष्टि रखकर कहता है तो उसको क्या दूषण होता है? इस गाथामें व्यवहारनयकी अपेक्षा केवली भगवानके ज्ञानका निर्णय किया है। प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानका काम जाननेका है। किसी भी पदार्थका कोई भी गुण, कोई भी शक्ति खाली नहीं रह सकती। प्रत्येक शक्ति प्रति समय अपना काम करती है। आत्मामें ज्ञानशक्ति है जिस शक्तिके प्रतापसे यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। यह जानन ज्ञेयाकारपरिणमनरूप है जिससे ज्ञेयोंका जानना सिद्ध ही है।

सर्व आत्मावोंके ज्ञानस्वरूपत्वका स्मरण—आत्मा शब्दका अर्थ ही यह है—अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा। जो निरन्तर जानता रहे उसका नाम आत्मा है। कोई भी स्थिति हो, कैसी भी स्थिति हो, आत्माका ज्ञान बन्द नहीं होता। जिसे जैसी योग्यता मिली है वह अपनी योग्यतानुसार जानता ही रहता है। पर हम आप मनुष्य हैं, जरा विशेष अनुभव है। हम लोग विशेष जानते हैं। क्या ये पशु पक्षी नहीं जानते हैं? ये भी चलते फिरते नजर आते हैं। ये भी हाँकनेकी आवाज देनेसे चलने लगते हैं। खड़े होनेका संकेत देनेसे अर्थात् पुचकारना आदि करनेसे वे खड़े हो जाते हैं। इससे हम सभी सुगमतया जान जाते हैं कि इनमें जाननेकी शक्ति है। पर जो कीड़ा मकौड़ा पशु पक्षी आदिक हैं क्या ये नहीं जानते हैं? इनमें भी हम इससे अनुमान कर लेते हैं कि वे चीजें उठाकर ले जाते हैं। जैसे मीठा आदि कोई चीज हुई तो ये चींटा चींटी आदि उठा उठाकर ले जाया करते हैं। ये जमीनमें अपना घर भी बनाते हैं। इन सब बातोंको देखकर यहां भी यह अनुमान कर लिया जाता है कि इन कीड़े मकौड़ोंमें भी निरन्तर जानते रहनेकी शक्ति है। ये जो पेड़ पौधे खड़े हुए हैं, क्या ये समझते नहीं हैं? इनमें भी जानने समझने की शक्ति है। उनकी योग्यता कुछ कुण्ठित है इस कारण वे खुदके अपनी ही तरह जानते हैं इसे हम आप

लोग पहिचान नहीं पाते हैं। लेकिन हरा भरा होना सूख जाना आदि इन सब बातोंको देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इनमे भी ज्ञान है। और जिनमें ज्ञान है वे जानते ही रहते हैं, यह तो संसारी जीवोंकी बात है। यही जीव अपना विकास कर करके जब मनुष्यपर्यायमें आया और वहाँ सम्यग्ज्ञान जगा, वैराग्य हुआ, अपने इस आनन्दके निधान आत्माकी ओर झुकाव हुआ, इस आत्मा भगवानका आलम्बन लिया तो इसके प्रतापसे वे। कर्मोंका विनाश करके केवली प्रभु हो जाते हैं। ये समस्त लोकालोकको युगपत् जानते रहते हैं।

आत्माकी प्रभुस्वरूपताका ज्ञान—भगवान प्रभु कोई विलक्षण चीज हैं, हमसे न्यारी जातिके हैं, ये शासक हैं, हम उनके शासनमे रहने वाले हैं ऐसी बुद्धि रखकर उनको न देखें किन्तु वे मेरी ही जातिके हैं, मेरा भी स्वरूप उनका जैसा हो सकता है, विशेषता तो वीतरागता और सर्वज्ञताकी है, रागद्वेषादिक विचार जब नहीं रहे तो वीतरागता हो जाती है, और यह ज्ञान जब इन्द्रियकी अपेक्षा न रखे, केवल अपने ही ज्ञानका आलम्बन ले तो इसमें ऐसी शक्ति प्रकट होती है कि आत्माकी ही शक्तिसे समस्त लोका-लोकको जानने लगता है। ये सब स्वरूप मैं हो सकता हू, ऐसी जिसके अन्दर भावना नहीं है उसे वास्तविक मायनेमे जैन नहीं कहा जाता है।

अपनी परख और कर्तव्य—भैया! अपने हृदयकी बात टटोलो। इस जीवनसे जीकर मैंने अपना उद्देश्य क्या बनाया है, धन जोड जोड़कर क्या किया जायेगा, क्या होगा उसका? आखिर सब कुछ छोड़कर तो जाना ही होगा। फिर यहाँ का कुछ भी समागम हमारे काम न आयेगा। जिस गतिमें जायेगा यह जीव उसही गतिके योग्य सुख दुःख भोगेगा। धन कमाते रहनेका ही सकल्प और प्रोग्राम न होना चाहिए। क्या करना है इस जीवनमें? इन मायामयी पुरुषोंमें जो सभी कर्म और कषायोंके प्रेरे हुए हैं खुद हो अशरण है। यहाँके मायामयी लोगोंसे कुछ अपनी प्रशसाके शब्द सुननेको मिलें, क्या इतने भर प्रयोजनके लिए यह हमारा अमूल्य जीवन है? वह भी सारभूत नहीं है। हमारे जीवनका प्रयोजन यही हो कि हमें ज्ञानभावना करना है, मैं ज्ञानस्वरूप हू, इस प्रकारकी प्रतीति रखकर सदैव इतनी ही भावना बनानी है। जैसे हम अपने मनमें सैंकड़ों विकल्प बना रहे हैं, बजाय उन विकल्पोंके अधिकाधिक समय ज्ञानस्वरूप मैं हू, ज्ञानमात्र मैं हू, ऐसी भावनामे व्यतीत होना चाहिए।

प्रभुताका पथ—प्रभु जो केवली हैं, अरहंत सिद्ध हैं उन्होंने केवल ज्ञानभावना ही भायी थी जिसके प्रसादसे कर्मोंको दूर कर आज सर्वज्ञ हुए है और उनके चरणोंमें हम सब भक्त जन नमस्कार करते हैं। यही स्वरूप मेरा है, जिस पथको उन्होंने अपनाया था उसी पथसे हम आप भी चल सकते हैं। वह पथ है रत्नत्रयका पथ। उस पथ पर हम भी चल सकते हैं। मैं ज्ञानमात्र हू, ऐसी भावना रहे, ऐसी श्रद्धा रहे, ऐसा ही उपयोग स्थिर रहे तो एक ज्ञानस्वरूपके ग्रहणके प्रतापसे वे समस्त वैभव मिल जायेंगे जो वैभव प्रभुके प्रकट हुए हैं। अपनेको प्रभुस्वरूप निहारकर प्रभुकी टोलीमे अपना शुमार करो। मोहियोंकी टोली में अपना शुमार न करो।

हितकारी झुकावका निर्णय—जीवके दो ही तो प्रकार है—संसारी जीव और मुक्त जीव। यद्यपि हम ससारी है, किन्तु अपना झुकाव कहाँ होना चाहिए? संसारियोंमे रुलने मिलनेका झुकाव होना चाहिए या जो प्रभुका स्वरूप है ऐसे ही स्वरूपके स्वभाव वाला मैं हूं ऐसी चिन्तना करके प्रभुकी ओर झुकाव होना चाहिए। जीवनमें निर्णय तो कर लो। यह निर्णय ठीक न हो सके तो जीवन विक्षिप्त रहेगा, मन, यत्र तत्र डोलेगा और अपना निर्णय सही हो जायेगा तो जीवन स्वर्णिम हो जायेगा। अब तकके अनुभवके आधार पर भी आप जान जायें कि हमारा प्रेम हमारा मोह परिजनोंसे, धन वैभवसे रुच से रहा, क्या उस मोहके फलमें आत्मामें कुछ विकास हुआ है? क्या आत्मामे कोई शान्ति हुई है? अरे

न भी शान्ति हो, लेकिन कुछ मौलिक शान्ति होने योग्य कुछ शान्तिमय स्वरूपका स्पर्श भी किया गया? यह सब जो कुछ भी किया गया है वह असार और व्यर्थ है। प्रभु केवलीके स्वरूपको निरखकर उनकी ओर ही झुकाव हो, उन जैसा बननेका ही प्रोग्राम हो, मैं ऐसा हो सकता हू, ऐसा अपने आपमें दृढ़ विश्वास हो तो प्रभु पूजा सफल है।

प्रभुका ज्ञान और आनन्द—केवली भगवानके ज्ञानके सम्बन्धमे यह प्रसग चल रहा है कि प्रभु जानते क्या है? कितने ही लोग तो ऐसी भी शका कर बैठते हैं कि भगवान अब अकेले रह गये हैं, सिद्ध लोक में विराजमान् हैं, उनका किसी भी दूसरेके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है तो वह अकेले ही सिद्ध लोकमे विराजे-विराजे क्या करते होंगे? उनका जी कैसे लगता होगा? यहाँ तो कुटुम्ब हैं, मित्रजन हैं, कारोबार हैं, उपयोग फँसा रहता है, समय ठीक निकल जाता है, पर प्रभुका समय कैसे कटता होगा, ऐसी भी कुछ जन आशका कर बैठते हैं, लेकिन यह तो बतावो कि यहा हम आप लोगों को जो काम करने पड़ते हैं वे सब काम आकुलताके कारण किया करते हैं या निराकुलताके कारण किया करते हैं? हमारे इन सब कामोंमें आकुलता ही कारण है। काम न करना पड़े ऐसी स्थिति आये तब निराकुलता होती है। मेरे करने को अमुक काम पड़ा है, ऐसी बुद्धि जब तक रहती है तब तक आकुलता रहती है।

वस्तुका परिपूर्ण स्वरूप और परमें अकर्तृत्व—हम आपका स्वरूप परिपूर्ण है, इस देहमंदिरमे विराजमान् यह आत्मा भगवान अपनी शक्तिसे परिपूर्ण है, यहा अधूरापन भी कुछ नहीं है। ज्ञान और आनन्द का यह निधान है। इसका स्वरूप ही ज्ञान और आनन्द है। अलगसे और कुछ रूप नहीं है, ज्ञान और आनन्द—इन दो गुणोंको निकाल दो अर्थात् न मानो तो फिर आत्मा नामकी कुछ चीज ही न रहेगी। यह ज्ञान और आनन्दका पिण्ड है। यह जो कुछ कर पाता है अपने आपमें ही किया करता है, अपनेसे बाहर किसी भी परपदार्थमें कुछ भी परिणमन करनेकी सामर्थ्य अपने में नहीं है।

अकर्तृत्वके भावमें अनाकुलताका वास—कोई बालक आपकी आज्ञाके विरुद्ध चल रहा हो, बड़ा हो गया है, देहमें बल हो गया है, कमाने वाला भी हो गया है, उसे परवाह ही नहीं है आपकी, और वह आपकी आज्ञा न मानता हो तो आप अपने चित्तमें कुढ़ कर रह जाते हैं। आप कर क्या सकते हैं उसका? ऐसे ही समझो कि जब बालक छोटा भी हो, आपकी आज्ञा भी मानता हो तब भी आप बालक का कुछ नहीं कर रहे हैं, तब भी आप केवल अपनी ही कल्पनाएँ बना रहे हैं। बाह्य वस्तु चाहे मेरे मन के अनुकूल भी बन जायें तो भी मैं किसी बाह्यवस्तुका कर्ता नहीं हू और कभी कोई चीज मेरे प्रतिकूल भी हो जाय तो मैं किसी परचीजका कर्ता नहीं हू, मैं सर्वदा अपना ही परिणमन किया करता हू। मेरे करने योग्य काम कुछ बाहरमे है ही नहीं।

अपना परमें अकर्तृत्व—जो जीव मोह और प्रेममें आकर परिश्रम करते हैं वे भी किसीसे मोह और प्रेम नहीं करते हैं, अपने आपमें ही मोह और प्रेमका परिणमन किया करते हैं। इस आत्माकी देहसे आगे कुछ करतूत नजर ही नहीं आती। देहमें भी करतूत नजर नहीं आती। शरीर जब बड़ी उमरका हो जाता है तो बूढ़ा होना पड़ता है। क्या यह जीव चाहता है कि मैं बूढ़ा हो जाऊँ, क्या यह चाहता है कि मेरा शरीर दुर्बल और क्षीण हो जाय, क्या यह दु:ख चाहता है? पर होना पड़ता है। हमारा वश जब शरीर पर भी नहीं चल सकता तो अन्य जीवों पर या अन्य वैभव पर तो क्या वश चलेगा? यह तो सब पुण्योदयका ठाट है। जिसने जैसा पूर्वभवमें सुकृत किया, निर्मल परिणाम किया, दया दान, परोपकार, सबके सुखी रहनेकी भावना, अपने विद्योंपर विजय आदिक उत्तम कार्य किये उनका फल है। यह जो कुछ समागम प्राप्त हुआ है। क्या किसीके हाथ पैर सिर धन कमाया करते हैं? यह जब आता है तो आपको भी विदित नहीं होता है कि किस ढगसे आ गया और यह वैभव जब जाता है तो आपको भी

विदित नहीं होता है कि यह वैभव किस रास्तेसे जायेगा ? यह तो पुण्य और पापके अनुसार होने वाली बात है। उसे कोई जीव यों मानते हैं कि मैं कमाता हू उसमें कर्तृत्वकी बुद्धि लादें तो वह पापकर रहा है।

पाप और महापाप—बाहरमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—ये पांच पाप माने गये हैं। किसी जीवका दिल दुःखाना, प्राण लेना हिंसा है, किसीके सम्बन्धमें झूठ बोलना झूठ है, हिंसा है, पाप है। किसी की चीज चुरा लेना चोरी है, हिंसा है, पाप है। किसी परस्त्री पर, परपुरुष पर मनमें विकार लाना कुशील है, पाप है, हिंसा है और परिग्रहमें बुद्धि फसाये रहना, खूब परिग्रह जोड़ना। मैं अधिकसे अधिक धनी कहलाऊँ ऐसा भाव करना पाप है, हिंसा है। ठीक है पर इन सब ५ पापोंसे भी मूलमें महान पाप अज्ञान है। जिस जीवके अज्ञान होता है उसमें सदैव महापाप लगता रहता है।

अज्ञानका महापाप—कोई यह सोचे कि जानकार मनुष्य तो जान बूझ कर पाप करते हैं, इसलिए अधिक पाप होता होगा और कोई मूर्ख देहाती अथवा ये कीडे मकौडे पशुपक्षी ये मनुष्यों जैसा ज्ञान नहीं पाते, छल. कपट, झूठे लेख आदि नहीं कर पाते, इसमे कम पाप लगता होगा, ऐसा नहीं है। जिस जीवके अज्ञान पड़ा हुआ है उसके महापाप अपने आप है। भला सामने कोई थोड़ी सी आग पड़ी हो, दो चार अकुलका जलता हुआ कोयला पड़ा हो, आप उसे देख रहे हैं, किसी ने पीछे से धक्का मारा, आपको आगे बढ़ना ही पड़ा और आगपर आपका पैर पड़कर चलना हो तो आप कितनी जल्दी पीछे से पैर रखकर आगे निकल जाते हैं, आप ज्यादा चल नहीं पाते हैं क्योंकि आपके ज्ञानमें है कि यह आग है और आगपर पैर रखेंगे तो पैर जल जायेगा। किन्तु पीछे आग पड़ी हो, जहाँ आपके ज्ञानमें भी नहीं है, और किसी वजहसे आपने अपना पैर पीछे रक्खा है तो आप उसमें ज्यादा जलेंगे, क्योंकि उस आग का आपको ज्ञान नहीं है। इसी तरह जो पुरुष समझदार है, जानकार है कि अमुक चीजमें पाप लगता है और इस पापका फल बुरा होता है ऐसा अनुभव होने पर पूर्वकृत कर्मोंकी प्रेरणासे कदाचित् करना भी होता है तो वह उस चीजमे आसक्त होकर नहीं करता है। जिस जीवको अपने स्वरूपका भान ही नहीं है, परके स्वरूपका भी यथार्थ परिज्ञान नहीं है और विषय कषायोंसे हमारी बरबादी है ऐसा कुछ भान नहीं है उसके निरन्तर महापाप चलना रहता है। अज्ञान सबसे बड़ा पाप है।

प्रभुका तृतीय नेत्र—प्रभुका ज्ञान इतना निर्मल है कि वह समस्त लोक और अलोकको जानता है, जो कुछ भी है वह सब प्रभुके ज्ञानमे ज्ञात है। व्यवहारनयसे यह भगवान चूँकि केवल ज्ञानरूपी तीसरा नेत्र उनके प्रकट हुआ है सो वे अरहंत भगवान, सकल परमात्मा, महादेव हैं, जिनका कि हम आप लोग स्तवन करते हैं। वह तीसरा नेत्र है केवलज्ञान, जिस ज्ञानके द्वारा समस्त विश्वको ये जानते रहते हैं। यह सकल परमात्मा जीवनमुक्त हैं, शिवस्वरूप हैं। शिव नाम है कल्याणका। यह कल्याणमय शिवस्वरूप परमात्मा केवलज्ञानरूप तृतीय लोचनसे विभूषित हैं। ये अब अपुनर्भव पदको पायेंगे जहाँसे फिर ससार न होगा, ऐसी मुक्तिको प्राप्त करेंगे और अनन्त काल तक जैसा कि सब कुछ आज जाना, जानते रहेंगे।

वस्तुस्वातन्त्र्य—यह लोक छह प्रकारके द्रव्योंसे भरा हुआ है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। इनके बाहर सब आकाश ही आकाश है। प्रभु लोक व अलोक सबको जानते हैं, इस व्यवहार की प्रधानतासे हमें यह देखना है कि प्रभु समस्त बाह्य पदार्थोंको जानते हैं, यों प्रभुके ज्ञानके स्वरूपका विचार करने में चतुर ज्ञानी पुरुष प्रभुका स्वरूप कह रहा है। यह समस्त जगत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है। एक-एक अणु हम आप सभी जीव व समस्त पदार्थ निरन्तर नवीन-नवीन परिणतियोंमें गुजरते हैं और पुरानी पुरानी परिणतियोंको विलीन करते रहते है और फिर भी ये पदार्थ सब वहीं के वहीं रहते हैं, ऐसा वस्तुका स्वरूप है। किसीके स्वरूपको कोई दूसरा बदल नहीं सकता है, किसीके सुखको कोई दूसरा पैदा नहीं कर सकता, किसी जीवके दुःखको कोई दूसरा जीव दे नहीं सकता। सब केवल करने ही सुख

दुःखके कर्ता भोक्ता, अपने ही विकल्पोंमें अनुभव करने वाले हैं। कभी सम्यक्त्व जग जाय, सुमवि- तव्यता आ जाय तो यह जीव अपने को निर्विकल्परूपमें अनुभव कर लेता है। यह जीव अपने को ही करता है, दूसरेको कोई कुछ नहीं कर सकता है। ये चेतन अचेतन समस्त संसार निरन्तर परिवर्तन करते जा रहे हैं, किसी दूसरेके प्रवर्तनमें हमारा कोई दखल नहीं है।

शान्तिकारक प्रत्यय—देखिये अपने आपमें शान्तिका अनुभव करना हो तो यह विश्वास अभी बना लीजिए कि मैं जो कुछ करता हू अपनेका ही कर पाता हू, दूसरे पदार्थमें तीन काल भी मेरा दखल नहीं है, मेरा दखल किसी परमें न पहिले था, न वर्तमानमें है और न आगे होगा। हम अपना ही काम कर रहे हैं, आप अपना ही काम कर रहे हैं। भले ही आपका प्रेम, आपकी जिज्ञासा हमारे ज्ञानमें जगे और उसकी प्रेरणासे हम कुछ बोलने लगें और आपको कुछ मनमें कल्याणकी भावना जगे और उससे प्रेरित होकर आप अपने आपमें इस जिनवाणीके शब्दोंका कुछ मनन करने लगें तो आपने अपनेमें अपना काम किया, हमने अपनेमें अपना काम किया। न हम आपमें कुछ कर पा रहे हैं और न आप हममें कुछ कर पा रहे हैं, ऐसा यह वस्तुका स्वतंत्रस्वरूप है। ऐसी जो दृष्टि बनाए उसको कभी अशान्ति नहीं हो सकती।

प्रभुका हितमय उपदेश—इस लोकमें हमारा अधिकारी, हमारा शरण, सर्वस्व, हमारा रक्षक अन्य कोई नहीं है। हम ही ढंगसे चलें, ढंगसे रहें, ढंगसे सोचें तो हम अपनेमें शान्ति पा सकते हैं। दूसरेके हाथकी बात नहीं है कि कोई हमें शान्ति दे। प्रभु अरहंतदेव भी स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि हे जीव, यदि तुम संसारके संकटोंसे सदाके लिए दूर होना चाहते हो तो पहिले तो हमारे ध्यानका आलम्बन लो, कोई हर्ज नहीं, लेकिन अन्तमें मेरे ध्यानका भी आलम्बन छोड़कर तुम्हें अपने ही शुद्ध अभेद ज्ञानस्वरूप का ध्यान करना होगा तो संसारके संकटोंसे छूट जावोगे। जैनसिद्धान्तने स्वतन्त्रताका महाघोष किया है। प्रत्येक वस्तु अत्यन्त स्वतंत्र है।

स्वातन्त्र्यकी सत्तासिद्धता—जैसे भारतमें कुछ वर्ष पूर्व यह नारा बुलन्द किया गया था कि स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। यह हुकूमत करने वाली सरकार विदेशी सरकार हम लोगों पर हुकूमत करना छोड़ दे, हमें हमारा शासन दे, स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, यह नारा पहिले उठाया गया था, किन्तु वस्तुमें तो यह नारे वाली बात स्वयमेव पड़ी हुई है। प्रत्येक वस्तुका यह प्रकट घोष है कि स्वतन्त्रता मेरा सत्तासिद्ध अधिकार है। चूँकि हम सत् हैं अतएव पूर्ण स्वतन्त्र हैं। जो है वह स्वतंत्र हुआ ही करता है। यों जब सब पदार्थ स्वतन्त्र हैं, अपने आपमें अपना परिणमन कर रहे हैं तो मैं किस का कर्ता हूं और किसका भोक्ता हू ? मैं सबसे निराला केवल अपने स्वरूपमात्र हू। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हू, इस प्रकारकी ज्ञानभावना जगे और हम परमात्माके निकट, उनकी ओर अपना उपयोग बनाये रहें तो हमारा जीवन सफल है।

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।
अप्पाणं णवि जाणइ अप्पादो होदि विदिरित्तं ॥१७०॥

आत्माकी ज्ञानमयता—यह आत्मा ज्ञान और आनन्द स्वरूप है। इन्द्रियोंको संयत करके, अपनी इन्द्रियोंको विषयोंमें न लगाकर अपने आपकी ओर यह झुके तो एक परम विश्राम मिलता है। जिसे किसी भी वस्तुकी चिन्ता नहीं रहती है ऐसी स्थितिमें यह स्वयं अनुभव कर लेता है कि मैं केवल ज्ञानमात्र हू मेरा ज्ञानस्वरूप ही वैभव है, ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ वैभव नहीं है।

बहिर्मुखतामें ज्ञानमयताका अपरिचय—जहाँ इन इन्द्रियोंको केन्द्रित न करके जैसे आँखों देखा और अनेक मायामय जीव नजर आने लगे यों सभी उन मोहियोंमें अपना उपयोग फँसायें तो आत्मदृष्टि नहीं

रहती, पर्यायबुद्धि हो जाती है। पर्यायबुद्धिसे ही मोही जीव इस शरीरको ही निरखकर कहते हैं कि यह मैं हू, ये दूसरे हैं। यह बाहरी दुनिया जिसमे सारे शरीर ही नजर आ रहे हैं एक अंधकारको उत्पन्न कर देती है। मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं। मैं क्या हूं इसको अधिकाधिक अन्तरमें प्रवेश करके निरखते जाइए तो यह विदित होगा कि जो जो कुछ मैंने मान रक्खा है वह सब मैं नहीं हूं।

परका असहयोग—भैया! एक मोटीसी बात है, जब तक जीवन है, लोगोंके बीच रहना है तब तक यह नाच चल रहा है। इस देहको छोड़कर चले गये तो फिर मेरे साथ क्या रहेगा? यहां का कोई पदार्थ मेरे साथ नहीं रह सकता। लाखोंका, करोड़ोंका वैभव भी सचित करलें, उस सबको भी छोड़कर अकेले ही जाना पड़ता है। मेरे साथ तो यह तन भी नहीं जाता है। फिर क्या-क्या चीजें जाती हैं इस जीवके साथ? इसके साथ जो कर्म बँधे हैं वे साथ जाते हैं। ये कर्म पौद्गलिक हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले हैं, किन्तु इतने सूक्ष्म हैं कि पहाड़ और कांच आदि कुछ भी आडे आ जायें, जैसे जीव उन सबोंके पटलके बीचसे भी साफ निकल जाता है, ऐसे ही ये कर्म भी जीवके साथ बँधे बँधे यों ही साफ निकल जाते हैं। इन कर्मोंका रंग सिद्धान्तमे श्वेत कहा गया है, इनका फल तो काला है, खोटा है, संसारमें रुलाना है। ये कर्म जब उदयमें आते हैं तो नाना प्रकारकी खोटी बुद्धि हो जाती है।

व्यर्थका विकल्प और क्लेश—इस जीवको अशान्ति कहीं नहीं है, दुःख कहीं नहीं है, खूब निरख लो। जितना यह मैं आत्मा हूं उतना ही मैं अपनेको निरखूं तो वहाँ कष्ट नहीं है। अन्य जीवोंको चित्तमें पकड़ करके कष्ट बनाया जाता है। क्या उन अन्य जीवोंके भी कर्मोंका उदय नहीं है? किसीके पापका उदय हो तो क्या मैं उसे सुख दे सकता हू? नहीं दे सकता। ऐसे ही किसीके पुण्यका उदय हो तो क्या मैं उसे दुःख दे सकता हू? नहीं दे सकता। फिर भी व्यवस्थाके नाते साधारण विकल्प करके भी गृहस्थीका निर्वाह कर सकते हैं, किन्तु भीतरमे आशय कर्तृत्वका पड़ा है। मैं मालिक हूं, मैं करने वाला हूं, इन विकल्पोंके कारण गहरी चिन्ता बन जाती है। मोहसे बढ़कर दुनियामें विपदा कुछ नहीं है। शरीर पर कितने ही सकट आ जायें तो उन्हें मेला जा सकता है, पर मनके अन्दर कोई विकल्प सकट अनुराग मोह जग जाय तो उसकी विपदा झेलना कठिन हो जाता है।

सकटमुक्तिका उपाय—सर्वसकट एक ज्ञानसे ही समाप्त होंगे। ज्ञानरूप मेघजल ही ऐसा समर्थ उपाय है कि विषय कषायोंकी तेज लगी हुई आगको बुझा देनेमें समर्थ है। खोटा कार्य करने के बाद भी तो बुद्धि संभलती है ना। वैसी सभली बुद्धि खोटा कार्य करनेसे भी पहिले रहे तो अशुभ कार्य कैसे किया जायेगा? यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हू। इस ज्ञानमात्र आत्मामें कर्मोदयवश रागद्वेष वितर्क विचारकी तरंगें उठती हैं। ये तरंगें भी चलती हैं और ज्ञानप्रकाश भी साथ रहता है और इस तरह कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि मेरेमे कोई दो बोलने वाले बैठे हैं—एक पापकार्यके लिए प्रोत्साहन देता है और एक पापकार्य को मना करने के लिए प्रोत्साहन देता है। इसे लोग कई अलंकारोंमे कोई दिल और ज्ञान कोई पिशाच और विवेक आदि अनेक शब्दोंसे कहते हैं। है चीज वहाँ क्या? एक तो है अपने आपका सहज विलास और एक है कर्मकृत उपद्रवका, आक्रमण। आक्रमण और सहज विलासका अन्तर्द्वन्द्व है। इस जीव पर ये मोहादि भाव बने हुए हैं। जब कभी यह जीव अपनी असलियतको जानता है तो उन मोहादिकको दूर करके एक अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है।

विश्रामका अनुरोध—कार्यश्रम करते करते शरीर थक जाता है तो आध पौन घंटे शरीरकी मालिश करके थकान दूर करके आप नई शक्ति लेना चाहते हैं और यह आत्मा विकल्प कर करके इतना थक गया है तो इसकी थकान को मिटानेके लिए क्या उद्यम किया जाता है सो बतावो। आत्माके विकल्पोंकी थकान मिटाने के लिए १०–५ मिनट परको उपयोगसे हटाकर उपयोगको बिल्कुल स्वच्छ कर लो, एक

अपने आपमें इतनी हिम्मत बनावो कि जिस संगमें हम हैं उस संगका विकल्प तोड़ दें। सभी पदार्थ सुरक्षित हैं, किसी पदार्थका कभी भी नाश नहीं होता है। हम न भी विकल्प करें किसीके सम्बन्धमें तो भी वह जीवित रहता है। अपना यह कार्य कर रहा है। १०—५ मिनट कभी भी सर्वविकल्पोंको तोड़कर अपनेको अकिञ्चन ज्ञानमात्र निरखें तो यह बहुत बड़ी कमाई है। सब कुछ वैभव इसमें है।

योग्य भावनाका निर्णय—धन आदिक जड़ पदार्थ कुछ वैभव नहीं हैं, वैभव तो आत्माका ज्ञानानुभव है। जिस चित्तमें ये तरगें उठती रहती है कि यह मेरा है, मैं ऐसा हू, मेरेको यह काम पड़ा है, अभी मुझे अमुक चीज भोगना है और करना है, मैं अमुक हू, नाम लेकर, परिवार वाला सोचकर जैसे अपने मे नाना विचार उठाया करते हैं, बजाय उन सब विचारोंके कि एक बार इतना तो अनुभव करलें कि मैं केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप हू, केवल एक सामान्य विलक्षण उजाला ही उजाला हू, तन्मात्र ही मैं हू, ऐसा कभी भी अनुभव जगे तो उसमें इतनी सामर्थ्य है कि शुद्ध आनन्दका अनुभव करादे। बस यह स्थिति कभी-कभी बनालें तो यह आत्मामें ऐसा बल प्रकट करता है कि विकल्पोंकी थकान फिर नहीं रहती।

बड़प्पनका कार्य—विकल्पोंकी थकान मिटानेके बाद भी फिर विकल्प बनता है। तब विकल्पोंको मिटानेके लिए ज्ञानमात्रभावनाका ही उद्यम करो। बड़प्पन इसीमें है।' धनसे बड़ा बन जाय, परिवारसे बड़ा बन जाय, गोष्ठीमें बड़ा हो जाय, तो क्या है ? ये सब स्वप्नवत हैं, मायाजाल हैं। हित तो इसमें है कि सर्व परका विकल्प तोड़कर किसी क्षण अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर सकें, यही है सच्चा बड़प्पन। जो इस बड़प्पनसे रहेगा वह दुःखी नहीं रह सकता। क्या इतने अधिक बिजी हैं कि इस ज्ञानमात्र महत्व का अनुभव करने के लिए फुरसत नहीं है ? कौनसा काम पड़ा है जो रात दिन कल्पना ही कल्पना करके पूरा किया जा सकता हो ? विकल्प क्यों किए जा रहे हैं रात और दिवस ? अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करने का पुरुषार्थ भी साथमें रक्खो।

ज्ञानभावनाके अभ्यासकी आवश्यकता—आत्मोपयोगका पुरुषार्थ ऐसा नहीं है कि अनभ्यास दशामें इसे जब जी आये तब कर लो। ऐसी स्थिति बन तो जायेगी कि कितना ही व्यग्र हों, अब कभी जिस समय चाहे उस समय अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करने लगें। मेरा कहीं कुछ नहीं है, मैं केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हू, लेकिन इसके अभ्यासके लिए रात दिवस कुछ परिश्रम करना होगा। हमारा ज्ञानार्जन, गुरुमुखसे अध्ययन, तत्त्वचर्चा, अपना बड़ा विनयपूर्ण व्यवहार इनका सन्यास करनेके प्रकृति—ये सब चीजें आवश्यक हैं और अपने लाभके लिए माने हुए तन, मन, वचन, धन आदि न्योछावर करने पड़े, किसी को देने पड़े, किसी को संतुष्ट करना पड़े तो भी कोई बड़ी चीज नहीं है और अपना मन प्रसन्न रहे, अपना ज्ञान निर्मल रहे, ज्ञानपथ मिले, यही सबसे उत्कृष्ट वैभव है।

अपने स्वरूपकी बात—इस प्रसंगमें यह बताया जा रहा है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। यह प्रकरण बहुत भीतरी मर्मका होगा, कठिन भी होगा, लेकिन जिस समय ऐसी तैयारी करके आप बैठेंगे कि मुझे और कुछ नहीं सोचना है। मैं अपने आपके भीतरके मर्मको जाननेके लिए तैयार होकर बैठा हू तो सब चीजें ध्यानमें आयेंगी और उस सुनते-सुनते के बीच थोड़ा भी प्रमाद आयेगा, थोड़ा भी मनको स्वच्छन्द बनाकर किसी परपदार्थमें भेजेंगे तो यह बात उड़ आयेगी, यह ज्ञान जीवका स्वरूप है। यह ज्ञान अखण्ड है। हमारे ज्ञानमें जो चीजें आती हैं हम उन चीजोंको छोड़-छोड़कर जैसा जानते हैं, इसे जाना, अब इसे जाना, लगता है कि हमारा ज्ञान टुकड़े-टुकड़े में बँट गया है। अब खम्भेको जाना, अब चौकीको जाना, यह तो ज्ञानकी तरंग है, ज्ञानस्वरूप नहीं है। ज्ञानस्वरूप तो अखण्ड ही रहता है। अखण्ड अद्वैत अपने ही स्वभावमें निरत यह ज्ञान है अथवा आत्मा है।

अध्यात्म क्षेत्रमें सामान्यका महत्त्व—भैया ! इस दुनियामें सामान्यको कोई नहीं पूछता है। विशेष

मनुष्य हो तो उसका हर जगह आदर चलता है। साधारण मनुष्य हो, सामान्य हो तो उसका आदर नहीं होता है, लेकिन शान्तिके मार्गमें, अध्यात्म क्षेत्रमें विशेषको ठुकरा दिया गया है और सामान्यको अपनाया गया है। जो विशेषको ठुकराकर सामान्यको अपनाए वह अपनेमें आत्माका अनुभव कर सकता है। आत्मामें रागद्वेष होते हैं यह विशेष बात है सामान्य बात नहीं। सामान्यबात समान होती है, समान एवं सामन्यम्। सामान्य शब्द निकला है समानसे, जो समानमें रहे उसे सामान्य कहते हैं। ये रागद्वेष क्या समान रहते हैं, कभी बढ़े, कभी घटे, कभी किसी रूप हो यों ये रागद्वेष सामान्य नहीं हैं और जो विशेष हमारी शिक्षा हैं वह भी सामान्य नहीं हैं, उसमें भी घटाव बढ़ाव है। घटाव बढ़ाव वाली चीजोंमें हम दृष्टि रक्खेंगे तो नियमसे आकुलता बनेगी। बहुतसे पुरुषोंके समूहमें यदि किसी व्यक्तिगत विशेष पुरुष पर दृष्टि होगी तो आकुलता मच जायेगी। जहाँ सब पुरुषोंको सामान्य रूपसे निरखेंगे वहाँ आकुलता न जगेगी। तो विशेषपर दृष्टि होनेसे ससारमें रुलना पड़ता है।

आत्माका शुद्ध सामान्य भाव—सामान्य है यह ज्ञानप्रकाश। यह जानन, केवल जानन सदा समान रहता है। मात्र जाननमें घटाव बढ़ाव क्या ? जाननके साथ जो हमारा घटाव बढ़ाव चलता है वह रागद्वेषकी तरग है, जानन नहीं है, जो शुद्ध जानन है वह सामान्य होता है। इसको जानकर जो यह सोचने में आता है कि खम्भा है यह रागद्वेषकी तरंग का निष्कर्ष है। शुद्ध जानन क्या कि जानन तो हो जाय पर कोई विकल्प तरंग न आये, न रागका विकल्प आये, न नामका विकल्प आये, किन्तु जानन हो जाय, ऐसा जानन अरहत सिद्ध प्रभुके होता है। निर्विकल्पको जाननेको सामान्य कहते हैं। जिसे आनन्द चाहिए वह इस सामान्यका प्रतिभास करके आनन्दमग्न हो जाय, जो अपने आपमें बसे हुए इस ज्ञानप्रकाशका आलम्बन करता है, वह मोक्ष पाता है।

सामान्यकी सीमाके दुरुपयोगका विघटन—यह आत्मतत्त्व स्वयं ही बाहरी कौतूहलसे दूर है, यह है स्वभावका निरखना, लेकिन कोई पुरुष इस सामान्य तत्त्वकी प्रशसामें सीमा तोड़कर बढ़ जाता है वह पुरुष यहाँ यह तर्क रख रहा है कि ज्ञानी जन इतना तक भी विकल्प क्यों करें, यों ही मानें कि ज्ञान जानता ही नहीं है, ज्ञान अपने आपको समझता ही नहीं है। जैसे अग्निका स्वरूप उष्णता है। क्या उष्णता अग्नि को जानती है ? ऐसे ही आत्माका स्वरूप ज्ञान है तो क्या ज्ञान आत्माको जान सकेगा ? जैसे उष्णता का काम दूरमें होता है, ऐसे ही ज्ञानका काम दूरमे होता है। इतनी तेज दौड़ लगाकर यह अलंकारमे कह रहे है। ज्ञान आत्माको जानता नहीं है, ऐसा कहने वाला पुरुष यह भूल गया उपमा देनेमें कि अग्निकी उष्णता अचेतन है, अग्नि अचेतन है। उस अचेतनकी उपमा इस चेतन पर लाकर नहीं होती। जैसे दीपक जलता है तो वह परको भी प्रकाशित करता है मगर खुदको भी तो प्रकाशित करता है।

आत्मामें ज्ञानकी अव्यतिरिक्तताका प्रकाशन—आत्माके ज्ञानस्वरूपके प्रतिपादनके प्रसंगमें दूसरी चर्चा यह है कि यदि यह ज्ञान अपने आपमें जाननेका काम न करे तो जो काम न कर सके खुद स्वय, वह भिन्न चीज होती है। जैसे कोई पुरुष कुल्हाड़ीसे काठ काटता है तो क्या कुल्हाड़ी स्वयं अपने आप बिना किसी पुरुषके सम्बन्धके बिना काठको काटने लगती है ? काटनेमें नहीं समर्थ है। इससे ज्ञात होता है कि कुल्हाड़ी भिन्न चीज है आदमी भिन्न चीज है। स्वयं काम न कर सके और समय पाकर करने लगे तो कहते हैं कि ये दो चीजे न्यारी-न्यारी हैं, ऐसे ही यह ज्ञान यदि जानने का काम बंद कर दे तो इसका अर्थ यह है कि यह ज्ञान आत्मासे जुदी चीज है। पर आत्मासे ज्ञानको जुदा मान लें तो आत्माका स्वरूप ही कुछ नहीं रह गया। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, अपने ज्ञानस्वभाव का परिचय मिल जाय, यही परमात्माकी प्राप्ति है।

प्रभुका अन्तर्दर्शन—लोग कहते हैं कि मुझे भगवानके दर्शन मिल जायें, उदाहरण भी देते हैं कि

देखो अमुकको भजन करते करते भगवान सामने आ गये बांसुरी बजाते हुए या हाथमें धनुष बाण लिए हुए। यों प्रभुके दर्शन नहीं होते हैं। प्रभु है ज्ञानमय। तब अपने आपको ज्ञानमय अनुभवा जाय, कुटुम्ब रूप नहीं, धनी रूपी नहीं, कलाकाररूप नहीं, देह रूप नहीं। केवल एक मैं उजेला मात्र हूं, ऐसा ज्ञानमात्र अनुभवा जाय तो उस प्रभुके शुद्ध स्वरूपका दर्शन होता है। इन्द्रियोंसे प्रभुका दर्शन कभी नहीं हो सकता। समवशरणमें भी जाय और वहाँ साक्षात् अरहंत भी विराजे देखने तो वहाँ भी प्रभुका दर्शन आँखों से न हो सकेगा। आँखोंसे तो प्रभुका देह दिख जायेगा, पर देह प्रभु नहीं है। भले ही वह परमौदारिक शरीर है, किन्तु वह तो अरहंत नहीं है, प्रभु नहीं है। समवशरणमें भी प्रभुका दर्शन इन्द्रियोंका व्यापार बंद करके अपने आपको केवल ज्ञानमात्र अनुभव करनेसे होगा। यही है सच्चा पुरुषार्थ, यही है अपने आपको प्रसन्न रखने का उपाय, यही है अच्युतपद जिस पदसे गिरें नहीं। जिसको अपना यह अविनाशी अच्युत पद पाना हो उसे चाहिए कि निरन्तर ज्ञानभावना करे।

प्रवर्तनकी भावनानुसारिता—देखो—जैसी अपनेमें भावना बनाली जाती है वैसा परिणमन चलने लगता है। कोई लड़की विवाहसे पहिले कैसी स्वच्छन्द विचरती है? विवाह होनेके कुछ ही देर बाद कैसे चलना, कैसे कपड़े संभालना, कैसे पैर रखना, यह सब चलने लगता है। उसे कौन सिखाने जाता है? अनुभव किया उसने कि अब मैं वधू हूं, इतनी ही भावनाके फलमें उसका ढाल चाल ढंग सब कुछ बदल गया। कोई पुरुष जब तक अपनेको यह अनुभव करता है कि मैं अमुकका बेटा हूं तब तक उस पर भार नहीं मालूम होता, जहाँ यह अनुभव किया कि मैं अमुकका बाप हूं बस वहीं बोझ लादना शुरू हो जाता है। तो भावनाकी सारी बात है। जो अपनेको माने कि मैं अमुकचंद हूं, अमुक लाल हूं, इस प्रकार बाहरी चीजोंमें जो आत्मारूपसे अनुभव करेगा वह दुःखी रहेगा और जो मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, मैं इस स्वरूपको न बिगाड़ूंगा, मैं इसकी उपासना न तजूंगा, मैं निरंतर यही प्रतीति रक्खूँगा कि मैं ज्ञानमात्र हूं। निरन्तर ऐसी भावना बनाए तो उसको यह आत्मपद प्राप्त हो जाता है। ज्ञान जीवका स्वरूप है, यह नियमसे अपने आत्माको जानता है। यदि यह ज्ञान अपने को न जाने तो आत्माका स्वरूप ही कुछ नहीं रहा। ज्ञान जीवसे अभिन्न है। मैं ज्ञानमात्र हूं, ऐसा अपने को ज्ञानमात्र ही अनुभव करते रहें तो इससे अपूर्वबल प्रकट होता है। और सच पूछो तो यह कठिनाई से पाया हुआ मनुष्यजन्म, श्रावककुल, जैनधर्म—इन सबका समागम सफल हो जाता है। इस कारण अपने को ज्ञानमात्र ही निरन्तर मानना चाहिए।

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ॥१७१॥

ज्ञानकी महिमा—आनन्दका उपाय मात्र सम्यग्ज्ञान है। एक सम्यग्ज्ञानके पुरुषार्थको छोड़कर अन्य लौकिक वैभवके लिए अथक प्रयत्न कर लिया जाय तो भी आनन्द अथवा शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। यह बात अनुभूत व पूर्ण युक्तियुक्त है, इसमें रंच भी संदेह नहीं है। किसी मनुष्यने लौकिक बड़प्पन पाया हो, वह अच्छे कुलमें उत्पन्न हुआ हो, उसके अच्छे आजीविकाका भी साधन हों, इसे दश गौरव समाज वाञ्छनीय तत्त्व प्राप्त हों, ऐसी स्थितिमें भी इस जीवका जो बड़प्पन है वह यथार्थ ज्ञानसे बड़प्पन है, ज्ञानके सिवाय अन्य समस्त परिश्रम इसके बड़प्पनके कारणभूत नहीं हैं। यथार्थ ज्ञानकी ऐसी महिमा है कि उसके होते सते पुण्य रस बढ़ता है, पाप रस घटता है, मोक्षका मार्ग मिलता है और स्वयं ही जब तक संसार शेष है तब तक ऊँचीसे ऊँची स्थिति प्राप्त होती है। फल उसका अन्तमें परमनिर्वाण है।

ज्ञानबलके बिना रीतापन—संसारके संकटोंसे छूटनेका अर्थ है। मोह और कषायोंसे छूटना; कारण कि संकट मोह और कषायोंका ही नाम है। बाह्यपदार्थोंमें कुछ घटी बढ़ती हो जाय तो यह कोई संकट

नहीं है। बाह्य पदार्थोंके प्रति जो ममेदं बुद्धि लगी है, अपने शरीरके प्रति 'यह मैं हूं' ऐसा जो अहंकार बसा है, जिसके कारण मायामयी कर्मबन्धनसे परतंत्र मोही प्राणियोंसे कुछ अपने बारेमें प्रशसाकी बात सुननेकी चाह बनी रहती है, ये हैं सब संसारके घोर संकट। लोकमें हम जिन्हें बहुत बड़ा समझते हैं, ये देशके नेता हैं बड़े हैं, इनका बड़ा ठाठ है, मिनिस्टर हैं, आराम है, सारी जनता जिनका सम्मान करती है, सब लौकिक ठाठ हैं किन्तु वहाँ भी सम्भव है कि, कहो वह आत्मवैभवसे बिल्कुल रीता हो। यत्न करके मायाचार बनाकर किसी तरह कहो अपना पोजीशन रख रहा हो। पूर्वकृत पुण्य साथ दे रहा है, वहाँ भी वह धुक रहा है, जल रहा है, यह कोई वास्तविक बड़प्पन नहीं है, और ऐसे ऐसे ही लोगोंसे भरा हुआ यह संसार है। तब रीते, दुःखी, परतन्त्र अज्ञान अंधकारमें खोये हुए इन लोगोंसे क्या चाहते हो? अरे आपका स्वय का बल है तो दूसरे भी आपके आराममें निमित्त बनेंगे। स्वयका बल नहीं है, पुण्य नहीं है, ज्ञान और आचरण नहीं है तो दूसरे भी क्या साहस कर सकते हैं?

ज्ञानबलका प्रताप—वस्तुस्वरूपके यथार्थ ज्ञानमें यह चमत्कार है कि इसके प्रतापसे सब कुछ अभीष्ट प्राप्त हो जाता है। ये जो जड़ सम्पदा मिले है ये क्या कीमत रखते हैं? प्रसन्नता तो शुद्ध ज्ञानके कारण हुआ करती है, परिग्रह और लिप्साके कारण प्रसन्नता नहीं होती है, मौज भले ही हो जाय, पर प्रसन्नता नहीं रहती। मौज और प्रसन्नतामें बड़ा अन्तर है। मौज नाम तो है मा ओज, जहाँ कोई कान्ति ही न रहे, कोई प्रभाव ही न रहे, बुझ जाय, ऐसी स्थितिका नाम है मौज। प्रसन्नताका अर्थ है निराकुलता। प्रसन्नता शब्द जिस धातुसे बना है उसका अर्थ निर्मलता है। तत्त्वज्ञानमें प्रसन्नता होती है। सारी प्रसन्नताका कारण मोहका दूर होना है। जिस क्षण मोहकी वासना नहीं रहती उस क्षण आत्मामें अद्भुत आनन्द प्रकट होता है।

समागमकी क्षणिकता—यहाँ सार क्या रक्खा है? कोई जीव कहींसे आया, कोई कहींसे, थोड़ी देर को इकट्ठे हुए, जैसे चारों ओरसे रास्तागीर आते हैं, थोड़ी देरको एक चौहटा पर मिल जाते हैं, राम राम करने में जितना सग रहता है, बादमें अपना-अपना स्थान छोड़कर चले जाते हैं, ऐसे ही यहाँ भी चारों गतियोंसे कोई किसी गतिसे, कोई किसी गतिसे आये हुए जीवोंका यह सग है, जिसे परिवार कहते हैं। ये थोड़े समयके लिए ही मिले है, पश्चात सबको अपने- अपने करतबके अनुसार भिन्न-भिन्न गतियोंमें जाना पडेगा। काहेको यह मोह किया जा रहा है, ऐसी स्थिति होने पर भी जो मोह किए जा रहे हों उनको बड़े क्लेश और सक्लेश भोगने पड़ते हैं। ये समस्त संकट मोहके विपदाके तत्त्वज्ञानसे ही समाप्त होते हैं।

सत् स्वरूप—वह यथार्थ ज्ञान क्या है, उसे जानने के लिए जैन सिद्धान्तमें बहुत ही सुगम ढगसे स्वरूपका प्रतिपादन है। जो उपयोग अनादि कालसे मोहवासनासे वासित है उसे इस ज्ञान तपश्चरणके लिए कुछ पुरुषार्थ और त्याग तो करना ही होगा, लेकिन थोड़ासे भी पुरुषार्थ पर यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जो बडे-बडे लेनदेन कारोबार बड़ी बड़ी व्यवस्थाएँ हिसाब करनेके योग्य हैं क्या उन पुरुषों के ज्ञानमें यह योग्यता नहीं है कि अपने आपके निजस्वरूपकी बात भी जान सकें? योग्यता है, किन्तु थोड़ी रुचि चाहिए और इस ओर पुरुषार्थ चाहिए। कार्य सुगमतया सिद्ध होगा। हाँ हमें जानना है पदार्थोंको। पदार्थ जो 'है' सो ही है। जो भी है वह गुणपर्यायात्मक होता है। यदि कुछ है तो वह शक्ति का पुञ्ज है और उसमें निरन्तर परिणमन चलता रहता है। शक्ति और व्यक्ति इनका जो समवाय है इसही को "है" कहते हैं। उसके सम्बन्धमें कुछ विशेष कहते है उसे सुनिये।

वस्तुका असाधारण स्वरूप—कुछ भी हो, वह "है" ६ भागोंमें विभक्त है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से किसी भी द्रव्य को पहिचानने का लक्षण कोई असाधारण स्वभाव होता

है। वैसे तो सभी पदार्थ हैं और सभी पदार्थोंमें अनेक शक्तियां हैं, पर हम जान जायें कि यह जीव है उसके लिए कोई ऐसा लक्षण जानना होता है जो जीवमें तो सबमें पाया जाय, पर जीवको छोड़कर अन्य में न पाया जाय। ऐसा जीवका लक्षण है ज्ञान। यह जीव ज्ञानस्वरूप है, आत्माको ज्ञान ही जानो ज्ञानको ही आत्मा जानो। ज्ञान और आत्मामें अन्तर नहीं है, मैं आत्मा हूं, ज्ञानमात्र हूं कुछ अन्तरप्रवेश करके देखो। इन इन्द्रियोंका सहारा छोड़ो और बाहरी समस्त पदार्थोंको भी भूल जावो और अन्दर ह देखो कि मेरा स्वरूप क्या है? अपने स्वरूपके भान के बिना चाहे आप कई मंजिले मकान बनवा लो और कितना भी वैभव एकत्रित करलो, मगर है क्या इसमें तत्त्व? किसी भी समय यों ही छूट जायेगा। अथवा जब तक भी यह साथ है तब तक भी चैन न मिलेगा। अपने स्वरूपका परिचय करलो।

दुर्लभ विभूति—भैया! धन वैभव कुटुम्ब परिजन सब सुलभ है पर यथार्थ ज्ञान संसारमें दुर्लभ है। ज्ञानी पुरुषको कहीं भी चिन्ता नहीं है, कहीं भी आकुलता नहीं है, प्रत्येक परिस्थितिमें वह प्रसन्न है। उसने कोई मर्म की बात जानली है, अपने स्वरूपको भांप लिया है, जिसके कारण वह समस्त परपदार्थों से उदासीन है। बाह्यमें यों हुआ तो क्या? न हुआ तो क्या? बाहरी चीजोंके परिणमन हमें दुःखी नहीं करते। हमारे भीतरमें जो मोह तृष्णा नाना विभाव तरंग उठते हैं वे शल्यकी तरह हमें पीड़ित कर रहे हैं, यह शल्य वैभवके संचयसे न मिटेगी। इसके मिटनेका उपाय यथार्थ ज्ञान ही है।

संकटमुक्तिके उपाय पर एक दृष्टान्त—कोई एक सेठ था। गर्मीके दिनोंमें बड़े ठंडे सुसज्जित कमरेमें पड़ा हुआ था, वहीं सो गया और उसे एक स्वप्न आ गया कि मुझे बड़ी तेज गर्मी लग रही है, सही नहीं जाती। चलो इस गर्मीको मिटानेके लिए थोड़ा समुद्रमें सैर कर लें। स्त्री, बच्चे, पहरेदार सभी बोले कि हमें भी गर्मी लग रही है, हम भी समुद्रकी सैर करने चलेंगे। सेठ गया, सपरिवार, एक छोटेसे जहाज पर बैठ गया। यह सब स्वप्नकी बातें कही जा रही हैं। जब जहाज एक मील समुद्रमें निकल गया तो समुद्रमें एक बड़ी भंवर उठी। जहाज डूबने लगा। तो नाविक बोला—अब तो जहाज डूब जायेगा, हमें छुट्टी दो, हम तो किसी तरह तैर कर निकल जायेंगे। सेठ कहता है कि हम लोगोंको भी बचावो, तुम्हें ५००) देंगे, हजार देंगे, ५० हजार देंगे। नाविक बोला कि देर करने से तो हम भी मर जायेंगे, तुम्हारे रुपया कौन लेगा? वह तो नाव छोड़कर कूद कर चला गया। अब सोचो जिसे ऐसा स्वप्न आ रहा हो उसकी पीड़ाका मिटा देनेमें क्या मकान महल नौकर चाकर मित्रजन समर्थ हैं? कोई भी समर्थ नहीं है। उसके दुःखोंके मिटनेका उपाय यही केवल कि नींद खुल जाय, बस यह नींदका खुलना ही, जग जाना ही उसके समस्त दुःखोंको मिटाने में समर्थ है। सेठ दुःखी हो रहा है, हाय सारा धन वैभव कुटुम्बके लोग छूटे जा रहे हैं, उस सेठकी तो बड़ी दुर्दशा हुई जा रही है। उसके इस दुःखको मिटाने में समर्थ कोई नहीं है। केवल वह जग जाय वही उसके सारे दुःखोंको दूर करनेका उपाय है। जहाँ वह जग जाय और यह निरखे कि यहाँ तो कुछ भी संकट नहीं है, कहाँ है समुद्र, कहाँ हम डूब रहे हैं, ? मैं तो बड़े मौजसे इस भवनमें बैठा हुआ हूं। जहाँ उसकी यह दृष्टि हुई वहां ही उसका दुःख मिट जाता है।

संकटमुक्तिका मूल सुगम उपाय—ऐसे ही मोहकी नींदमें सोये हुए संसारी जनोंको नाना स्वप्न आ रहे हैं। यह मेरा वैभव है, इतना हमारा नुकसान हो रहा है, यह वैभव यों चला जा रहा है, अमुक मेरे प्रतिकूल हो गया। कितनी-कितनी बातें इसकी कल्पनामें आ रही है और उन कल्पनाओंके कारण ये संसारी प्राणी दुःखी हैं। इनके दुःखको कौन मेटे? अरे जो दुःख मिटानेका दम भरते हैं वे ही इसके दुःखका कारण बन जाते हैं। यह मोही उस मोहके दुःखको मिटानेके लिए परिजनोंसे मोह करता है। उस से तो इसके क्लेश और बढ़ते रहते हैं, नष्ट नहीं होते हैं। इस मोहीके क्लेशको मिटानेमें समर्थ यही जीव है। मोह त्याग दे, मोहकी निद्रा भंग कर दे और यथार्थज्ञानसे निरखे कि यह मैं तो अमूर्त ... [illegible]

प्रभुकी भांति केवल ज्ञान और आनन्दका पिंड हूं, स्वभावत: मेरेमें कष्ट नहीं है, मेरे स्वरूपमें दुःखका नाम ही नहीं है, पर मोहकी नींदमें कल्पनावोंके स्वप्न उसके आने लगते हैं तब इसे कष्ट भोगना पड़ता है। कितना सुगम उपाय है ?

अपनी बात—भैया ! खुद ही खुदमें भीतर सोच लो और भीतर अपने अंत स्वरूपको छू लो, फिर देखो सारे संकट मिटते हैं, सम्यक्त्व जगता है, मोक्ष पानेका निर्णय और निश्चय हो जाता है। इतनी तो बड़ी सुविधा मिली है हम आपको इस मनुष्य जीवनमें और इस सुविधाको सदुपयोगमें न लें, धन वैभवके ही स्वप्न आयें तो फिर भव-भवमें इस मनुष्यभवसे हाथ धोना पड़ेगा, कीट पतंग आदिके ही भवोंमें भ्रमण करना पड़ेगा। आज तो सामर्थ्य है, मनुष्य हैं, सोच सकते हैं कलके दिन कीड़ा मकौड़ा पेड़ पोधा हो गए तो इससे तो बरबादी ही होगी। अपने आत्माके उपभोग को बिगाड़ा जायेगा तो उससे तो पुण्य घटेगा और पाप बढ़ेगा, शुद्ध दृष्टि न रहेगी। अपने आप पर कुछ करुणा करो। प्रभुका शरण प्रभुकी भक्ति, प्रभुका स्वरूप स्मरण यह एक रक्षाका साधन है, बाकी तो कहीं बाहरमें, घर देश पड़ौस आदि जहां कहीं भी चित्त लगाया, उपयोग दिया वहाँ क्लेशजाल ही बिछा हुआ मिलता है। जितने क्षण प्रभुके निकट बैठे हों, प्रभुकी वाणीके निकट हों उतने क्षण तो इसके सफल हैं और बाकी तो सब व्यर्थका परिणमन है।

आत्मप्रेक्षण—देखो अपने आत्माके शुद्धपवित्र स्वरूपको। यह आत्मा ज्ञानमात्र है। जैसे हम किसी खम्भे चौकीमें यह खोजते हैं कि इसमें क्या भरा है, देखते हैं कुरेद कुरेद कर देखते हैं तो मिलता है कि इसमें कुछ ठोस चीज है। जरा अपने आपके स्वरूपका इस प्रज्ञा छेनीसे कुरेद-कुरेद कर देखो तो सही कि मैं क्या हू ? देह तो मैं हूं नहीं, यह जड़ है, मिट्टी है, इस देहसे न्यारा मैं कुछ भीतरमें तत्त्व हूं, इसकी खोज करना कोई मुश्किल बात नहीं है, किन्तु इतना यत्न जरूर करना होगा कि समस्त परपदार्थोंको भिन्न जानकर, अपने लिए असार जान कर उनकी उपेक्षा करना होगा, उनका उपयोग हटाना होगा। किसी भी परपदार्थको कुछ क्षणके लिए अपने चित्तमें मत बसावो, अपने आप ज्ञान प्रकट होगा। ज्ञानमय तो यह है ही। ज्ञान होनेमें कौनसी कठिनाई है, पर इतनी सी बात अवश्य है- कि परपदार्थोंको पर जानकर उनकी उपेक्षा कर जावो और एक विश्रामसे बैठ जावो, अन्तरमें ज्ञानका अनुभव होगा और अद्भुत आनन्दका भी अनुभव होगा।

निजप्रभुताके असम्मानमें विडम्बना—मोह और कषाय ही वास्तविक विडम्बना है। इनसे परे होने का यत्न करो तो इसही में सच्चा बड़प्पन है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्माको ही ज्ञान समझो, ज्ञानको ही आत्मा समझो। यह आत्मा अपने प्रतिभास स्वरूपके कारण स्वपरप्रतिभासक है और यह ज्ञान दर्शन भी स्वपरप्रतिभासक है। यही तो एक तत्त्व है, उसको समझनेके लिए गुण और गुणी का भेद कर दिया जाता है। यह आत्मा ज्ञानरूप है, निरन्तर जानता रहता है और समस्त परपदार्थोंसे न्यारा रहकर जानता रहता है, यह अपने स्वरूपको जाननेमें समर्थ है। ऐसा जो सहजज्ञान ज्योतिस्वरूप है, तन्मात्र ही आत्माको जानो। यह मैं आत्मा सबसे न्यारा, केवल प्रतिभास स्वरूप, आकाशकी तरह निर्लेप, अपने आपमें शुद्ध, समस्त पदार्थोंमें उत्कृष्ट, प्रभुतासे सम्पन्न, अनन्त आनन्दका निधान यह मैं आत्मा हूं। इसका जब सम्मान इसने नहीं किया, यत्न नहीं किया तो यह ससारकी दुर्गतियां भोगता फिरता है।

आत्मतोषमें सकलपरितोष—देखो आत्माकी उपासना कुछ क्षण हो जाय तो बाकी चौबीस घंटे गृहस्थीके कर्तव्य करते हुए भी इसमें ताजगी रहा करती है और एक इस आत्मस्वरूपका भान किए विना ये सब बातें ऊपर फट्टी कुछ कल्पनासे ही मौज रूप मालूम होती है। पर मोहमें सतोष हो नहीं पाता। जिसको आत्मस्वरूपका अनुभव है, आत्मसंतोष मिला है उसको सर्वत्र सतोष रहा करता है। जिसे अपने

आपमें संतोष नहीं रहा उसे बाहरके परपदार्थोंमें कहां संतोष मिलेगा ? अपना घर देखो, अपने स्वरूप को निरखो। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूं, यह आत्मा ज्ञान दर्शनरूप है, यह अपनेको भी जानता है और परको भी जानता रहता है। बस इतना ही इसका स्वरूप है, इसके आगे रागद्वेष करना, अच्छा सुनना, बुरा सुनना, अच्छा कहना, बुरा कहना, समस्त व्यवहार नाटक हैं। दुनियाकी उल्टी रीति है। यह नाटकमें अटका हुआ है और नाटक शब्द खुद यह कह रहा है कि न अटक। इन दोनों को ही मिलाकर नाटक बना। अरे तुम अटको नहीं, पर यह तो वहाँ ही अटक रहा है।

हितपथ—भैया ! कुछ चैन पावो, समस्त परपदार्थोंके परिग्रहोंका इस ज्ञानसे बोझ हटाकर, अपने उपयोगको निर्भार करके विशुद्ध आनन्दका अनुभव करो। हमारे इन विजयी पुरुषोंने पुराण तीर्थंकरोंने यही किया था, इसीसे ये विजयी हुए, जिन कहलाये और इसीसे ही हम आप उनकी वंदना उनका स्मरण करते रहते हैं। हितके पथ पर लगने की धुन बनावो। जिस भी प्रकार ये मोह और कषाय दूर हो सकें उसही उद्यममें लगो। इसके लिए चाहे तन मन धन वचन सब कुछ भी न्यौछावर करने पड़ें और फिर भी आत्मस्वरूपके अनुभवका वैभव मिल जाय तो समझलो कि इस एक समयके अनुभवके बलपर अनन्त कालके लिए अनन्त आनन्द रिजर्व कर लिया गया है। विशुद्ध ज्ञानादर्शनात्मक निज सहज आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान्, ज्ञान और इसी स्वरूपमें अनुष्ठान करने रूप बोधिको प्राप्ति होना अपूर्व और अनुपम लाभ है। एतदर्थ वस्तुस्वरूपके ज्ञानका अभ्यास बनाओ।

जाणतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
केवलणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगोभणिदो ॥१७२॥

प्रभुकी विशेषता—इस गाथामें प्रभुकी मुख्य विशेषता बतायी गयी है। लोग प्रभुका स्वरूप नानारूपोंमें देखना चाहते हैं—खूब कपड़ोंसे भरपूर मुकुटोंसे सुसज्जित बासुरी बजाते, संगीत आदि साधनों से सुसज्जित खूब हँसते हुए, मन बहलाते हुए, लोगोंमें रमते हुए आदिकरूपोंमें देखना चाहते हैं, परन्तु प्रभुका दर्शन इन रूपोंमें हो ही नहीं सकता है, कारण कि ये रूप संसारी जीवोंके हैं। हम आप भी तो कपड़ोंसे सुसज्जित और नाना दिल बहलाने के साधनोंके इच्छुक और उनमें ही व्यग्र रहा करते हैं। प्रभुकी प्रभुता इन कामोंमें नहीं है, प्रभु ज्ञान और आनन्दका पिंड है, ऐसा आत्मा जो कि परम हो गया है, उसका नाम परमात्मा है। आत्मा तो सब एक समान हैं, पर इन आत्मावोंमें जो परम बन गया है उसका नाम परमात्मा है। परमका अर्थ है परा मा यत्र स परम। उत्कृष्ट मा अर्थात् ज्ञान लक्ष्मी जिसके हो उसे परम कहते हैं और परम जो आत्मा है उसका नाम परमात्मा है। जिसका ज्ञान इतना विशाल है जो समस्त लोकालोकको जानता है ऐसा जो ज्ञानज्योतिपुंज है उसका नाम परमात्मा है। वह परमात्मा समस्त लोकालोकको जानता और देखता है किन्तु उसकी इच्छा ईहा वाञ्छा रंच भी नहीं है। प्रभुके यह विशेषता है कि उनके इच्छा किसी प्रकारकी नहीं है और जानते हैं समस्त विश्वको।

प्रभुदर्शनकी विधि—हम आपके अन्दर इस शरीरके भीतर एक ज्ञानज्योतिस्वरूप पदार्थ है। वह पदार्थ अपने स्वरूपसे जिस ज्ञानरूप है उतनेको ही देखो, शरीरका भी ध्यान न रखकर केवल आकाशवत् अमूर्त निर्लेप किन्तु ज्ञानमय एक यह मैं आत्मा हूं—इस प्रकार बारबार भावना करें तो इस भावनाके फलमें ओ। इस ज्ञानकी अनुभूतिके समयमें विचित्र अनुपम आनन्द प्रकट होगा। उस समयके शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्दके अनुभव द्वारा यह पहिचान होगी कि अहो ! प्रभु तो इससे भी अनन्तगुणे शुद्ध ज्ञान और अनन्तगुणे शुद्ध आनन्दके स्वामी होते हैं। जब तक कोई अपने आपके अन्तरङ्गमें शुद्ध स्वरूपके दर्शनका बल न पायेगा तब तक उसे प्रभुका दर्शन नहीं हो सकता है।

छद्मस्थ और सर्वज्ञका अन्तरप्रदर्शन—प्रभुका नाम केवलज्ञानी है जो केवल अपने ही आत्माके द्वारा

जानते हैं उन्हें केवल ज्ञानी कहते हैं। हम आप इन्द्रियों द्वारा जानते हैं। इन इन्द्रियोंका बल लेकर जानने का हम आपका स्वभाव नहीं है। भला जो आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है वह अपने स्वरूपको अथवा किसी भी पदार्थको जाननेके लिए दूसरोंका सहारा ले, यह तो स्वभावकी बात कैसे हो सकती है? यह परतंत्रता है। हम इन्द्रियों द्वारा जानते हैं यह परतन्त्रता है। आँखें खराब हो जायें तो हमारा जानना रुक जाता है, कानोंमें खराबी आ जाय तो शब्दोंका जानना रुक जाता है यह सब परतंत्रता है। ज्ञानमय आत्मा अपने ज्ञानको रोक दे ऐसा स्वभाव नहीं है परन्तु कर्मोंकी आधीनता है, ऐसी ही वर्तमान कायरताकी परिस्थिति है। इस कारण इन्द्रियोंसे हम जानते हैं और इन्द्रियोंसे ही हम आनन्द पाना चाहते हैं। मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूं, इसमें इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं है। मोहीजन इन इन्द्रियोंके द्वारा चूँकि जानते हैं ना, इस कारण इन्द्रियोंमें प्रेम करते हैं। ज्ञानीजन चूँकि अपने स्वरूपको ज्ञानमय अनुभवते हैं ना, इस कारण इन्द्रियकी उपेक्षा करके केवल एक आत्मशक्तिसे ही अन्तरमें जानते हुए उसकी रुचि रखते हैं।

बन्धका कारण—प्रभु समस्त विश्वको जानते हैं, फिर भी उनके किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है। इसी कारण वे कर्मोंके बन्धक नहीं होते हैं, वे अबंधक माने गए हैं। हम आप थोड़ा भी जानते हैं तो उस जाननेके साथ ही कुछ राग भी किया करते हैं, इच्छा बनाया करते हैं। यहाँ जो हमें बन्धन होता है वह जाननेका बन्धन नहीं है किन्तु इच्छाका बन्धन है। जगतमें अनेक पदार्थ हैं। अभिलाषी पुरुष अपने इष्ट पदार्थोंको जानते हैं और बँध जाते हैं। इस बंधते हुएमें ज्ञान कारण नहीं है किन्तु अभिलाषा कारण है।

दृष्टान्तपूर्वक बन्धहेतुका समर्थन—एक बार चार पांच मित्र बागमें सैर करने जा रहे थे। वहां एक चिड़ीमार जाल बिछाए हुए एक पेड़की ओटमें छिपा हुआ था। चिड़िया आयी, जाल पर बैठी, वहाँ दाने चुगने लगी और फँस गयी। तो एक पुरुष बोला कि यह बाग बड़ा हत्यारा है, यह कितनी ही चिड़ियों को फांस डालता है। दूसरा पुरुष बोला कि यह बाग हत्यारा नहीं है, यह शिकारी हत्यारा है, यही जाल में चिड़ियोंको फांस रहा है। तीसरा पुरुष बोला कि यह चिड़ीमार हत्यारा नहीं है, यह जाल जो सूतका बना हुआ है यह हत्यारा है, इस जालने कितनी ही चिड़ियोंको फंसाया है। चौथा बोला कि इस जालने चिड़ियोंको नहीं फांसा है किन्तु जालके भीतर पड़े हुए जो ये दाने हैं (चावल, गेहूं, आदि अनाज) उन्होंने फांसा है। तो ५वां बोला कि नहीं नहीं, इन दानोंने नहीं फांसा है, किन्तु चिड़ियाकी स्वयंकी जो इच्छा है मैं इन दानों को चुग लूँ ऐसी इच्छाने इन चिड़ियोंको फाँसा है।

बन्धनविधि—ऐसे ही हम आप सब अपने भीतरका निर्णय करें। लोग यहाँ कैसी बड़ी परेशानी अनुभव करते हैं, मुझे इस कारोबारने फांस लिया है, मुझे इस गोष्ठीने समाजने अथवा घर गृहस्थीने फांस लिया है, इन बन्धोंने मुझे बंधनमें डाल दिया। कितनी ही बातें आप सोचते जाइए, सब गलत हैं। हम आपपर न परिवारका बन्धन है, न गोष्ठी समाज आदिका बन्धन है किन्तु उसही में जो मोह है, इच्छा है, राग है, अज्ञानकी अंधेरी है इन सबके मिश्रणसे जो एक अध्यवसानका भाव होता है उसका बन्धन है। किसी भी पदार्थका बन्धन नहीं है। प्रभु तो समस्त विश्वको जानते हैं किन्तु वह तो कहीं भी नहीं फंसते, उनके कोई बन्धन नहीं है। संसारके यह पदार्थ स्वयं है और जो है उसमें ऐसी प्रकृति है कि वह निरन्तर परिणमता रहे और यह पदार्थ जब विभावरूप परिणमता है, अपने स्वभावके खिलाफ परिणमता है तो नियमसे किसी दूसरे पदार्थका सम्बन्ध होगा निमित्त होगा ही, तभी उसकी यह स्वभाव के खिलाफ परिणति है। अपने स्वभावके अनुसार ही परिणमने के लिए पदार्थको किसी दूसरे निमित्त को जरूरत नहीं होती है, किन्तु जब स्वभावके विरुद्ध परिणमे तो वह निमित्त पाकर ही परिणमता है।

सृष्टिस्वातन्त्र्य—यह सारा जगत अपनी सृष्टिया कर रहा है, इस जगतको जानने वाले प्रभु

क मान लिया जाय तो यों मानने वाले ने अपनी कल्पनामें प्रभुपर महा संकट थोपा है। प्रभु तो सर्वज्ञ होकर भी अपने अनन्त आनन्द रसमें लीन रहा करते हैं। पदार्थोंमें ही स्वयं अपने आप प्रकृति पड़ी हुई है, जिसे चाहे उत्पादव्ययध्रौव्य कहो या सत्त्व रजः तमः कह लो। ये पदार्थ निरन्तर अपने ही स्वरूपसे उत्पन्न होते रहते हैं, नई दशा बनाते हैं और पुरानी दशाको विलीन करते हैं, फिर भी वे पदार्थ शाश्वत निरन्तर रहते हैं। इसे चाहे उत्पाद व्यय ध्रौव्य कहो अथवा सत्त्व रज तम गुण कहो। सत्त्व गुणके कारण यह पदार्थ शाश्वत रहता है, रजोगुणके कारण यह पदार्थ नई दशा बनाता है, तमोगुणके कारण यह पदार्थ अपनी दशा विलीन करता है। यह त्रिमूर्तिमय देवता प्रत्येक पदार्थमें स्वभावसे ही मौजूद है, इस ही मर्मको ब्रह्मा विष्णु और महेश शब्दसे कहो। जिस पदार्थमें नवीन दशा होनेकी प्रकृति है वह ब्रह्मत्व है और वर्तमान दशा विलीन होने की जो प्रकृति है वह महेशत्व है और फिर भी वह पदार्थ सदाकाल रहता है यह उसमें विष्णुत्व है। इन पदार्थोंको बनाने वाला कोई पृथक् प्रभु नहीं है।

आत्मसेवाका ध्यान—भैया! प्रभु तो केवलज्ञानके द्वारा समस्त विश्वको जानते हैं। निर्दोष हैं, वीतराग हैं, शुद्ध ज्ञानानन्दके पुञ्ज हैं ऐसे प्रभुकी उपासनासे, भक्तिसे एक निर्मलता प्रकट होती है। हम आप ऐसे निर्दोष चमत्कारमय प्रभुके निकट ज्यों-ज्यों अधिक पहुंचेंगे उतना ही हम आप अद्भुत आनन्द पायेंगे। इन मोही जीवोंके निकट जितना हम अधिक जायेंगे उतने ही व्यग्र होंगे। गृहस्थजन चूँकि बहुत से कामोंमें बिजी रहते हैं, सभी काम उन्हें करने पड़ते हैं फिर भी यह ध्यान रहे कि इन चौबीस घंटोंमें एक आध घंटा समय अपने आत्माकी सेवाके लिए रक्खें। २३॥ घंटे तो पड़े हैं जो चाहे काम कीजिए, पर आध घंटा किसी भी प्रकार देवदर्शनसे, स्वाध्यायसे, सत्संगमें सम्मिलित होने से, प्रवचन सुनने से, धर्मचर्चा करनेसे किसी भी प्रकार अपने आत्माकी सेवा करें। इस आत्मसेवाके प्रसादसे ऐसा भी बल प्रकट होगा कि आपके २३॥ घंटे बड़ी कुशलतासे व्यतीत होंगे। जिन सांसारिक गृहस्थीके कार्योंको आप करेंगे उनमें और भी आप सफलता पायेंगे। ये कमाने वाले मनुष्यके हाथ पैर सिर नहीं हैं। जो जीव पूर्वकालमें जैसा पुण्य उपार्जित करके आये हैं उसके अनुसार थोड़े से ही पुरुषार्थमें सब कुछ प्राप्त हो जाता है। उस धर्मकी रक्षा करो, अपने आत्माकी सेवा करो।

आत्मसेवाका एक प्रासंगिक उदाहरण—एक पौराणिक घटना है। किसी शत्रुने राजा पर आक्रमण कर दिया। राजा सेना लेकर शत्रुसे लड़ने चला गया। इतने में दूसरे राजाने किसी दूसरे शत्रुने भी उस पर हमला किया। उस समय महारानी राजगद्दी पर आसीन थी। उसने दूसरा सेनापति बुलवाया। वह सेनापति जैन था, रानीने उस सेनापतिसे कहा कि तुम्हें उस शत्रुसे युद्ध करने जाना है। सेना सजाकर वह शत्रुसे युद्ध करने चला गया। हाथी पर सवार था वह सेनापति। जहाँ सन्ध्या हो गयी वहीं हाथी पर चढ़े-चढ़े सामायिक करने लगा और उस सामायिकमें प्रतिक्रमण भी करने लगा। मेरे द्वारा किन्हीं भी पेड़ पौधों को, किन्हीं भी कीड़ों मकौड़ों को किसी को भी क्लेश पहुचा हो तो वे सब क्षमा करें। इस प्रकारका क्षमापणाका पाठ वह पढ़ने लगा। एक चुगलखोरने रानीसे जाकर चुगली कर दी कि आपने ऐसा सेनापति भेजा, जो कीड़ा मकोड़ा पेड़ पौधोंसे भी क्षमा मागता है। वह क्या युद्ध करेगा? खैर ५-७ दिनमें ही वह सेनापति युद्धमें विजय पाकर आ गया। रानी पूछती है—ऐ सेनापति हमने तो सुना है कि तुम पेड़ों से और कीड़ों मकौड़ोंसे भी माफी माग रहे थे, तुमने शत्रु पर विजय कैसे पा ली? तो सेनापति, ने कहा कि मैं आपका २३॥ घन्टेका सेवक हूं। उन २३॥ घन्टोंमें खाते हुए, सोते हुए भी कुछ काम का आये तो खाना सोना छोड़कर आपकी ड्यूटी बजाऊँगा, किन्तु आध घन्टे अपने आत्माकी सेवाके लिए रक्खा है, उस आध घन्टेमें संसारके सब जीवोंसे क्षमायाचना करता हूं, मेरे द्वारा किसीको भी कष्ट पहुंचा हो तो माफ करो। तो उस समय मैं सब जीवोंसे क्षमायाचना कर रहा था। जब अपनी आत्मासेवा करली तब

आपकी सेवाको चला गया और वहाँ वीरतासे लड़कर विजय प्राप्त करके आया।

समयके सदुपयोगकी शिक्षा—उक्त कथानकसे हमें यह शिक्षा लेनी है कि हम २४ घन्टे यदि अनेक कामोंमें फँसे रहते हैं तो कमसे कम आध घन्टा एक घन्टा विशुद्ध धर्मध्यानका अवश्य ही रखना चाहिए। न रक्खें तो समय तो यों ही गुजर जाता है, जैसे चाहे गुजर जाय। समय गुजर जाता है, लाभ कुछ नहीं मिलता है। लगता ऐसा है कि हम संकटोंसे बच गए पर लाभ क्या मिला, कौनसा संकट बच गया? जो आत्मसेवा न करके गप्पोंमें रहा आया। यदि अहर्निश कमाई कर सकते हो तो खूब चौबीसों घन्टे धनार्जनका काम कीजिए। नहीं कर सकते हो ना चौबीसों घन्टे धनार्जनका काम, तो बचे हुए समयमें से ही आधा घन्टा एक घन्टा धर्मसाधनमें लगाओ, धनार्जनके लिए तो चार छः घन्टेका ही समय नियत है, बाकी समयका क्या उपयोग करना, इस पर जरूर विवेक रखना चाहिए।

प्रभुकी विशिष्टता—प्रभु सर्वज्ञ वीतरागदेव के वाञ्छा नहीं है। ये अरहंत कहलाते हैं। अरहंत कहते हैं पूज्यको। अर्ह पूजायां धातुसे अरहंत शब्द बनता है। भगवान अरहंत परमेष्ठी हैं, परमेष्ठी उन्हें कहते हैं जो परमपदसे स्थित हो। लोकमें जिससे बढ़कर और कुछ पद नहीं है उस पदमें जो स्थित रहते हैं उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। यह प्रभु केवल ज्ञानादिक शुद्ध गुणोंके आधारभूत हैं। यह केवलज्ञान उनको तपश्चरणसे प्रकट हुआ है। अब यह केवलज्ञान कभी भी न मिट सकेगा। ये प्रभु इन्द्रियों द्वारा नहीं जानते हैं किन्तु समस्त आत्मप्रदेशोंसे जानते हैं। जैसे मिश्री मीठे रससे भरपूर है, ऐसे ही प्रभुका यह आत्मा ज्ञानरससे भरपूर है, सर्व ओर से प्रभु समस्त विश्वको जानते रहते हैं, वे समस्त विश्वको जानते हैं फिर भी मनकी प्रवृत्ति उनके नहीं हैं। इस कारण इच्छापूर्वक उनका जानना नहीं होता है और इच्छा पूर्वक उनका विहार और उपदेश भी नहीं होता है।

प्रभुका निरीह विहार—प्रभु सकल परमात्मा सगुणब्रह्म सर्वज्ञप्रभु जब तक शरीर सहित हैं तब तक उनका विहार भी होता है। विहार किस ओर होता है जहाँ के अतिशय पुण्यसे, उस पुण्यके निमित्तसे प्रभुका विहार उस ओर हो जाता है। वह जान बूझकर विहार नहीं करते किन्तु जिनके पुण्यका उदय आ जाता है वहां ही विहार हो जाता है। जैसे ये मेघ उड़ते हैं तो यह जानकर नहीं उड़ते, जानकर नहीं बरषते कि मैं इस गाँवमें बरष जाऊँ और किसानोंकी खेतीको खूब हरा भरा कर दूं, किन्तु जहाँ की जनताका अधिक अच्छा भाग्य है वहां ही ये मेघ आ जाते हैं और बरषते हैं। ऐसे ही प्रभुका विहार होता है।

प्रभुकी निरीह दिव्यध्वनि—मेघ गरजते हैं, ये चाह कर नहीं गरजते हैं किन्तु उनकी प्रकृति है। यों ही वहां प्रभुका उपदेश होता है वह चाहकर नहीं, किन्तु भव्य जीवोंके पुण्यका उदय है और प्रभने मुनि अवस्थामें या इससे पहिले जीवोंके कल्याणकी भावना खूब भायी थी। सो भव्योंके पुण्यके प्रतापसे व प्रभु के वचनयोगके कारण प्रभुसर्वज्ञदेवकी ध्वनि निकलती है। निरीह उपदेष्टा भगवान केवलज्ञानी कर्मोंसे नहीं बँधते हैं क्योंकि उनके इच्छा ही नहीं है। बन्धन तो इच्छासे होता है। कोई पुरुष किसी अन्य पुरुष या स्त्रीके वश हो तो उसमें उस पुरुषकी इच्छा ही कारण है। इच्छा ही बन्धन है, इच्छा ही परिग्रह है। जिसके इच्छा है उसको संसारमें रुलना होता है, जिसके इच्छा नहीं है वह संसारसे मुक्त हो जाता है। यह प्रभु इन पदार्थोंको जानकर भी न तो इन पदार्थों रूप परिणमते हैं, न इन पदार्थोंका ग्रहण करते हैं, न इन पदार्थों रूप उत्पन्न होते हैं। प्रभु स्वतंत्र है, अबंधक हैं।

मनोविजयमें ही महान् विजय—भैया! रंच भी इच्छा हो जाय तो वह इच्छा काँटेकी तरह हृदयमें चित्तमें पीड़ा देती रहती है। इस जीवकी वैरी इच्छा है। इसका कर्तव्य है कि ऐसा ज्ञानाभ्यास करे कि उन इच्छाओं पर विजय प्राप्त करे। इच्छा थोड़े समयको होती है। उस ही समयमें यदि यह बढ़ जाय तो

वह और भी विपदाका पात्र होता है। इच्छाको न बढ़ने दें, मनको वशमें करें, ऐसा अपना ज्ञान बनाएँ तो वह पुरुष संसार पर विजय प्राप्त कर सकता है। एक राजा था, उसने सब राजावों को वश कर लिया अपने तेज और प्रतापसे, तब सभी राजा लोग उसे सर्वजीत कहने लगे। पर उसकी माँ उसे सर्वजीत न कहे तो वह बोला—माँ मुझे सारी दुनिया सर्वजीत कहती है, पर तू मुझे सर्वजीत क्यों नहीं कहती? तो माँ बोली—बेटा! अभी तू ने सबको जीता नहीं है इसलिए मैं तुझे सर्वजीत नहीं कहती। तो वह बोला—अच्छा बतावो अब कौनसा राजा मुझे जीतनेको बाकी रह गया है? तो माँ कहती कि बेटा, तू ने सब राजावोंको तो जीत लिया है, पर अभी तू ने अपने मनको नहीं जीता है। तू इन राजाको जीत कर हर्षके मारे फूला नहीं समा रहा है। तू अभी संसारके स्वरूपको नहीं जानता है, तू अभी अपनी इच्छावों पर विजय नहीं पा रहा है तो तुझे कैसे सर्वजीत कहूँ? बेटा, जब तू अपनी इच्छावों पर भी विजय प्राप्त कर लेगा तब मैं तुझे सर्वजीत कहूंगी।

प्रभुका सर्वविजयित्व—ये प्रभु सर्वजीत हैं, इन्होंने सब पर विजय प्राप्त कर ली है। देखो मध्य लोक, अधोलोक और ऊर्द्धलोक—इन तीनों लोकोंके सभी जीव इनके चरणोंमें अपना शीश नमाते हैं। आप यह शंका कर सकते हैं कि कहाँ सब जीव इनके चरणोंमें अपना शीश नमाते हैं, यहां तो १०-२० लोग ही इनके चरणोंमें शीश नमाते हैं, और बाकी तमाम लोग तो गालियां भी देते हैं। तो भाई सब नहीं आते तो न सही, पर मध्यलोकका इन्द्र सम्राट् चक्री भगवानके चरणोंमें आजाय तो इसका ही यह मतलब है कि मध्यलोकके सभी जीव उनके चरणोंमें आ गए। इसी प्रकार अधोलोक और ऊर्द्धलोकके इन्द्र भगवानके चरणोंमें आ जायें तो इसका यह ही मतलब है कि अधोलोक और ऊर्द्धलोकके सभी जीव भगवानके चरणोंमें आ गए। अधोलोकके भवन व्यंतर जातिके देवोंके इन्द्र जब भगवानके चरणोंमें आ गए तो इसका मतलब है कि वहां के सभी जीव भगवानके चरणोंमें आ गए। यह प्रभु सर्वजीत है। सारे जहानको उन्होंने जीत लिया है।

प्रभुकी उपासनीयता—सर्वज्ञ प्रभु सहज महिमावंत हैं। सारे विश्वको जानते देखते हुए भी मोहके अभावके कारण किसी भी परपदार्थका वे ग्रहण नहीं करते हैं और समस्त विश्वके ज्ञाता द्रष्टा रहकर अपनी प्रभुताका अपने शाश्वत आनन्दका भोग करते हैं। ऐसी प्रभुता पा लेना हम सबका भी स्वरूप है। हम प्रभुके अधिकसे अधिक निकट पहुचें और अपने इस दुर्लभ नरजीवनको सफल करें।

> परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
> परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७३॥
> ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
> ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७४॥

निरीह ज्ञाता द्रष्टा प्रभुके बन्धाभावका समर्थन—पूर्व गाथामें यह बताया था कि केवली भगवान ईहापूर्वक जानते देखते नहीं हैं इस कारण उनके बंध नहीं होता। उसही विषयका विवरण इन दो गाथावोंमें किया गया है। मनके परिणामपूर्वक जो वचन निकलते हैं वे वचन जीवको बंधके कारण होते हैं, किन्तु भगवान केवली सकल परमात्माके मनके परिणामसे रहित वचन निकला करते हैं। सातिशय दिव्यध्वनि खिरती है, उससे केवलज्ञानी को बंध नहीं होता है। प्रभुके रागद्वेष रंचमात्र भी नहीं रहा। करते हां रागद्वेष तो उनमें और हममें विशेषता क्या हुई? हम भी रागी द्वेषी हुए और प्रभु भी रागीद्वेषी हुए, किन्तु यह प्रभुताकी बात नहीं है। शुद्ध पदार्थ ही प्रशंसाके योग्य है। भगवान आत्मा रागद्वेषरहित विशुद्ध है इस कारण यह अबन्धक है और यह ही पूज्य है।

------ी सातिशय दिव्यध्वनि—जिनमें राग और द्वेष न हों उनके वचन भी नहीं निकला करते हैं,

ऐसे वचन जो पदवर्ण सहित हों, संदर्भसहित बोले जायें, ऐसे वचन राग बिना नहीं निकला करते हैं। प्रभुके राग नहीं है इस कारण भगवान हम आप मनुष्यों जैसो बात प्रीति नहीं करते। फिर भी उन्होंने साधक अवस्था में जब आत्मसाधना कर रहे थे उन समयोंमें यह भावना की थी कि जगतके ये प्राणी भ्रमवश अज्ञानसे दुखी हो रहे हैं। इनके सुखी होनेका जरासा तो सुगम उपाय है, जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा समझ जायें, विपरीत ज्ञान न बनायें, फिर तो इनकी संसारके संकटों से मुक्ति हो ही जायेगी, इतना सीधा उपाय नहीं कर रहे बन रहा है इन जीवोंसे, इनमें सुबुद्धि जगे और यह भ्रम वासना विनष्ट हो, सब जीव सुखी हों, ऐसी भावना की थी। उस भावनामें विशिष्ट पुण्य प्रकृतिका बंध हुआ था, जिन पुण्य प्रकृतियोंके कारण अब भगवानके जन्म समय, भगवानके जीवनमें प्रभुता प्रकट होनेसे पहिले ही इन्द्रोंने मनुष्योंने, चक्रियोंने सभी ने उनकी बड़ी महनीयता प्रसिद्ध की थी। यह प्रभु उस ही पुण्य प्रकृतिके उदयमें और भव्य जीवोंके भाग्यकी प्रेरणासे बोलते तो हैं पर मुखसे नहीं बोलते। सारे शरीरसे एक 'ॐ' की प्रणव अनहद दिव्यध्वनि खिरती है। जिसकी ध्वनि है ॐकार रूप। निरअक्षरमय महिमा अनूप॥ उसमें अक्षर नहीं हैं, वचनपदविन्यास नहीं है। मेघगर्जनावत् है, किन्तु सुहावनी है और अनेक मूल मंत्राक्षरोंसे भरी हुई दिव्यध्वनि निकलती है। उनके ये वचन बधके करने वाले नहीं हैं। हाँ, अपनी बुद्धि से अपने मनके परिणमनसे वचन बोले जायें तो उससे बंध होता है।

प्रीतिकल्पनामें बन्धन--कोई मनुष्य किसी मनुष्यसे प्रेमपूर्वक वचन बोलता है। वह भी बोलता है तो परस्परमें वह बँध जाता है, एक दूसरेके आधीन हो जाता है, एक दूसरेकी सेवा करनेके लिए हृदसकल हो जाता है। यह बन्धन वचन व्यवहारसे नहीं हुआ, किन्तु उस वचनव्यवहारके कारण दूसरेके हृदयक प्रेम जाना, उस प्रेमसे आकर्षित होकर परस्परका बंधन बँधा, वचनोंसे बन्धन नहीं बंधा। यदि यह विदित हो जाय कि यह ऊपरी मनसे बिना रागके अथवा हमें फँसानेके लिए बहुत प्रेमपूर्वक बोल रहा है तो उसकी प्रेममयी वाणीको सुनकर भी बधन नहीं होता क्योंकि जबतक यह अनुभवमें न आये कि इसमें मेरे प्रति बहुत प्रेम है तब तक आकर्षण नहीं होता है। तो वचनव्यवहार करने पर भी जो बन्धन हो जाता है वह वचनोंका बन्धन नहीं है, किन्तु प्रेमकी प्रतीति हुई उसका बन्धन है। सारांश यह है कि जितने भी बंधन होते हैं वे मनके प्रयत्नसे बन्धन होते हैं, वचनों से नहीं।

भगवानकी अतीन्द्रियता व अमनस्कता--भगवान मनरहित है। मन एक भीतरकी इन्द्रिय है। जैसे यहाँ ५ इन्द्रियां ऊपरसे दिखती हैं इसही प्रकार एक भीतरमें इन्द्रिय है जो इन पांच इन्द्रियोंसे भी सूक्ष्म है किन्तु कार्य करनेमें इन पांचोंसे भी तेज है, उसका नाम है अतःकरण। करण नाम इन्द्रियका है। ५ तो हैं वाह्यकरण और एक है अन्तःकरण। भीतरकी इन्द्रियका नाम है अतःकरण। लोग कह तो देते हैं जरा अतःकरणसे सोचिये, पर अतःकरणका क्या मर्म है इससे प्रायः लोग अपरिचित रहते हैं। जैसे कान आंख नाक आदिक जो बाह्य इन्द्रिया हैं इनके माध्यमसे इनके उपयोगसे हम पदार्थोंको जानते हैं ऐसे ही हम अन्तरमें ८ पाखुरीके कमलके आकार बने हुए मनके उपयोगसे हम बहुतसी बातें जान जाते हैं, जैसे इन्द्रियोंसे जाननेका विषय नियत है, कानोंसे केवल शब्द ही जाने जायें, आँखोंसे रूप ही समझा जाय, नासिकासे गध ही जाना जाय, रसनासे रस ही चखा जाय, और स्पर्शनसे स्पर्श जाना जाय, ऐसा नियत विषय मनका नहीं है कि यह मन किसे जाने ? इन ५ इन्द्रियोंके विषयोंको छोड़कर बाकी सब कुछ जो भी ज्ञान होता है वह सब मनका विषय है। इन छहों प्रसगोंमें बन्धन है। भगवान जैसे इन्द्रियज्ञानसे रहित हैं ऐसे ही मानसिक ज्ञानसे रहित हैं। वे केवलज्ञानी है, उनके बन्धन नहीं होता।

प्रभुका स्वसहाय ज्ञान--भगवान मनुष्यगतिमें ही तो हुए हैं। जब शरीर न रहेगा तब वे गतिरहित कहलायेंगे, सिद्ध कहलायेंगे, पर जब तक शरीर है तब तक यह मनुष्यगतिके ही तो कहलायगे। अरहंत

प्रभु भगवान सकलपरमात्मा सगुण भक्त मनुष्य ही तो हैं, इनके मन था। जिस मनका अभी आकारमें वर्णन किया है उसका तो नाम है द्रव्यमन, पौद्गलिकमन, भौतिकमन और इस मनके निमित्तसे जो कुछ ज्ञान किया जाता है वह ज्ञान है भावमन। प्रभु अरहंतके शरीर है, इस कारण द्रव्य मन कहाँ जायेगा? द्रव्यमन तो बना हुआ है। जैसे कि प्रभुमें शरीर, रसना, नाक, आँख, कान बने हुए हैं ऐसे ही भीतरके मनको इन्द्रिय भी बनी है, लेकिन जैसे भगवान इन्द्रियके द्वारा जानते नहीं हैं, किन्तु आत्मीय शक्तिसे समस्त पदार्थोंको युगपत् स्पष्ट जानते हैं ऐसे ही प्रभु केवली मनके द्वारा जानते नहीं हैं किन्तु मनके अवलम्बन बिना केवल आत्मीयशक्तिसे समस्त विश्वको जानते हैं।

निरिच्छ ध्वनि—ये प्रभु केवली मनरहित हैं। मनकी परिणतिपूर्वक वचन निकलना, सो बंधका कारण है, किन्तु प्रभुका वचन मनकी परिणति पूर्वक नहीं होता। प्रभुके मुखारविन्दसे निकली हुई वाणी यद्यपि यह वाणी सर्वाङ्गसे विनिर्गत होती है, किन्तु जैसे वह सर्व अंगसे प्रकट हुई, मुखसे भी प्रकट हुई। वाणी सबके मुखसे ही निकलती है, इस कारण मुखारविन्दसे निकली हुई वाणी केवली के भी बतायी जाती है। वे वचन, वह दिव्यध्वनि इच्छापूर्वक नहीं है। प्रभुका वचन समस्त मनुष्योंके हृदयको आह्लाद उत्पन्न करने वाला है।

सज्ज्ञानिसमागमकी दुर्लभता—भैया! जगतमें सब कुछ मिल जाना सुगम है, पर सम्यग्ज्ञानियोंका संग मिलना अति दुर्लभ है। इस लोकमें सर्वत्र मोही-मोही जीव ही तो भरे पड़े हैं। ये स्थावर कीड़े मकौड़े ये सब तो प्रकट ही मोही हैं, अज्ञानी हैं, सिवाय एक अपने यथातथा जीवन बितानेके और कुछ इन्हें लाभ नहीं है। जिनकी जो पद्धति है उस पद्धतिसे आहार करते हैं और अपने मोहमें जीवन व्यतीत करते हैं। जो उन्हें शरीर मिला है उस शरीरको ही अपना सर्वस्व समझते हैं और शरीरकी रक्षामें ही उनका मौज रहा करता है। पशु पक्षी भी वह मोही जगत है, यह मनुष्य समाज भी मोही जगत् है, किसी देश में चले जावो आत्माकी दृष्टि रखने वाले मोह और कषायों पर विजय करने वाले पुरुष कितने मिलेंगे? जो संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त हैं, जगत्के समस्त पदार्थोंके मात्र ज्ञाताद्रष्टा हैं, किसी भी पदार्थ के प्रति रंचमात्र भी भ्रम नहीं करते हैं, किसी को अपनाते नहीं हैं, ज्ञानस्वरूप अपने आपको ही मान रहे हैं ऐसा ज्ञानानुभव करने वाले सतजन इस ज्ञानानुभूतिके प्रसादसे घातिया कर्मोंका नाश कर सर्वज्ञ होते हैं, ऐसे सम्यग्ज्ञानियोंका संग मिलना बहुत दुर्लभ है।

परकी उपेक्षा—जैसे किसी उदास बच्चेका मन भरनेके लिए अनिष्ट चीज साधारण तुच्छ चीज हाथमें दे दो तो वह उसे फेंक देता है, उसका उस तुच्छ चीजमें मन नहीं रमता है। जिसे जो अनभीष्ट है उसमें कहाँ रमेगा वह? यों ही इस ज्ञानीसंत पुरुषको एक ज्ञानस्वरूपकी उपासनाके अतिरिक्त सब कुछ अनिष्ट है। किसी भी बाह्य पदार्थमें उसका चित्त नहीं रमता। जो केवलज्ञानकी ही उपासना किया करता है, ऐसा विरक्त संत इस लोकमें दुर्लभ है। उसका संग मिले, यह बहुत ही विशेष पुण्यको बात होगी। मोही जनोंमें रम-रमकर या उनमें ही सिर मार मारकर कुछ भी मेरा हित न होगा, ऐसा जानता है ज्ञानी, इस कारण अनिष्ट वस्तुको यों ही फेंक देता है, पर पदार्थकी उपेक्षा करता है।

आत्मत्व और परमात्मत्व—केवली भगवान परमवैराग्य और ज्ञानके फल हैं। उनकी इच्छापूर्वक वचनरचना नहीं है इसलिए वे महिमावंत हैं, समस्त लोकके नाथ हैं। एक राजा था, वह न भगवानको माने, न आत्माको माने। इस विषय पर मंत्रीसे बहुत कुछ विवाद कभी कभी चला करता था। एक बार वह राजा घोड़े पर सवार हुआ मंत्रीके दरवाजे के सामने से निकल रहा था। मंत्री भी बाहर खड़ा हुआ था। राजा कहता है मंत्री तुम हमें आत्मा और परमात्माकी बात जल्दी समझावो, ५ मिनटमें समझा दो। मंत्री बोला—महाराज ५ मिनट भी न लगेगा, पाव मिनट लगेगा। आपको हम आत्मा और परमात्मा

की बात पाकिस्तानमें समझा देंगे किन्तु हमारा कसूर जो जचे वह माफ हो। राजा बोला—अच्छा माफ। इसके अनन्तर राजाके हाथसे मंत्रीने कोड़ा छीन लिया और दो चार कोड़े राजाके जमा दिये, तो राजा बोला—अरे रे रे भगवान। मंत्री बोला, जिसने अरे रे रे कहा है वह तो है आत्मा और जिसको भगवान कहा है वह है भगवान। अब समझमें आया कुछ? राजा बोला—हाँ अब समझमें आया तो आत्माकी बात कौन नहीं जानता? जिसमें सुख दुःख अनुभव तर्क वितर्कके अनुभव जग रहे हैं वही तो आत्मा है। जिसमें मैं मैं की अंतर्ध्वनि चलती है, मैं हूं मैं हूं, वह कुछ तो है और जब यह मैं जाननहार कोई चीज हूं तो जो भी जाननहार पदार्थ राग द्वेष रहित दोषरहित और अपने गुणोंके विकास से परिपूर्ण हो वही भगवान है।

निरीह और ईहासहित ज्ञानका फल—हम आप जितना नेह भगवानको तजकर अन्य पदार्थोंमें लगायेंगे उतने ही हम दुःखी और भ्रान्त बनते चले जायेंगे। मंगल प्रभुस्वरूप है, लोकमें उत्तम यह प्रभुरूप है और शरण भी ऐसी प्रभुता ही है। यह भगवान प्रभु तीनों लोकके गुरु हैं, इन्होंने घातिया कर्मोंका नाश किया है, इनके ज्ञानमें समस्त विश्व ज्ञात हो रहा है। इनके न बंधकी कल्पना है, न मोक्षकी कल्पना है, न इनमें बेहोशी है और न होश है किन्तु शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। यह सब माहात्म्य किस बातका है? प्रभु ने समस्त परपदार्थोंका मोह त्यागकर रागद्वेषसे परे होकर केवल एक स्वच्छ ज्ञान प्रकाशकी ही उपासना की थी, उसका यह फल है कि सारा विश्व उनके ज्ञानमें झलक रहा है। हम लोग जान-जानकर अर्थात् राग कर करके अपने प्रयोजनसे स्वार्थसे पदार्थोंको जाननेमें लगते हैं। फल यह होता है कि हम ज्योंके त्यों रहते हैं, ज्ञानमें जरा भी बढ़ नहीं पाते हैं। जो पुरुष बाह्य पदार्थोंमें मोह त्यागकर केवल ज्ञानप्रकाश का ही आश्रय लेता है उसका ज्ञान इतना विशिष्ट हो जाता है कि उसको लोक और अलोक सब कुछ प्रतिभात हो जाते हैं।

प्रभुमहिमा—भगवानमें न धर्मका प्रपंच है, न कर्मका प्रपंच है। जैसे लोग व्यवहारधर्म किया करते हैं, व्यवहारधर्ममें इन्द्रियका उपयोग लगाते हैं, ये भी प्रयत्न प्रभुके नहीं हैं। रागका अभाव हो जानेसे उनके अतुल महिमा प्रकट हुई है। इस लोकमें भी जो मनुष्य पक्षपात नहीं करता, रागद्वेषमें नहीं उलझता उस पुरुषकी यहां भी महिमा गायी जाती है। लोगोंका आकर्षण पक्षपातियोंकी ओर नहीं होता, किन्तु सरलपुरुषोंके प्रति लोगोंका आकर्षण होता है। प्रभु तो रागद्वेषसे बिल्कुल परे हैं, वे तो अपने ही सुखमें लीन हैं। इस प्रभुके बन्धन नहीं है।

गुणविकासकी प्रभुता—इस शुद्धोपयोग अधिकारमें आत्माके ज्ञान और दर्शन—इन दो उपयोगोंका वर्णन चल रहा है। इस प्रसंगमें यह कहा जा रहा है कि भगवानका ज्ञान और दर्शन अतीव स्वच्छ है। उनका न अब जन्म होगा और न मरण होगा, न वे अब संसारमें रुलेंगे, किन्तु समस्त ज्ञेय पदार्थोंको जानकर वे सदा अपने आनन्दरसमें लीन रहते हैं, रहेंगे। प्रभु नाम है ज्ञान और आनन्दके शुद्ध विकास का। प्रभुको सर्वज्ञ सर्वदर्शी और आनन्दघन कहा करते हैं। हम आप सब कुछ जानने, सब कुछ देखने और आनन्द पानेके अभिलाषी रहते हैं। इन तीनोंकी पूर्णता प्रभुमें है, इसी कारण उन्हें सच्चिदानन्द स्वरूप कहा करते हैं। उन भगवानके राग द्वेषकी वासना न होने से बंध नहीं है। वे स्वतंत्र और सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, आनन्दघन हैं। इनके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगका शुद्ध विकास हुआ है जिससे केवली प्रभु निज और पर समस्त पदार्थोंको युगपत् जानते और देखते रहते हैं।

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
तम्हा ण होइ बंधो साक्खट्ठं मोहणीयस्स ॥१७५॥

केवली प्रभुके अपना स्वभाव—केवली भगवानके विहार करना, बैठना, खड़े रहना—ये सब इच्छा

पूर्वक नहीं होते। इस कारण केवली प्रभुके इन देहकी प्रवृत्तियोंके कारण बंध नहीं है। इन्द्रियके विषयों के रूपमें देहकी प्रवृत्ति हो तो बंध होता है। भगवान सकलपरमात्मा जो परम आर्हन्त्य लक्ष्मीसे सहित हैं उन केवली प्रभुके, उन वीतराग सर्वज्ञदेवके कुछ भी प्रवृत्ति इच्छापूर्वक नहीं होती है। कितना शुद्ध स्वरूप है प्रभुका ? यद्यपि चार अघातिया कर्मोंका उदय होनेसे शरीरका अभी बन्धन लगा है प्रभुके, किन्तु निर्दोष हो जाने के कारण उस शरीरकी वजहसे न बंध होता है, न क्लेश होता है।

प्रभुकी मानुषोत्तरता—प्रभुका शरीर परमौदारिक शरीर है, हम लोगोंका शरीर औदारिक शरीर है। ऐसा ही शरीर उनके भी था, पर केवलज्ञान होते ही उस शरीरमें अतिशय हो जाता है, वह निर्दोष हो जाता है, कान्तिमान् हो जाता है। जहां भगवान विराजे हों वहां अंधेरा नहीं रह सकता। उनका शरीर भी स्वयं देदीप्यमान होता है। धातु और उपधातु मलिन नहीं रहते हैं। उनके शरीरमें अपवित्रता नहीं रहती। मनुष्योंके देहसे विलक्षण देह उनका हो जाता है। इस कारण उन्हें मानुषोत्तर प्रकृति वाला कहते हैं। वे मनुष्योंसे उठे हुए हैं, उनकी कुछ भी प्रवृत्ति इच्छापूर्वक नहीं होती है क्योंकि उनके मन ही नहीं है, मनकी प्रवृत्ति नहीं है, इसी कारण प्रभु कुछ नहीं चाहते हैं। इसी निर्दोषताके कारण वे सकलज्ञ हुए हैं व परमौदारिक शरीरी हुए हैं।

मनःपरिणतिपूर्वक प्रवृत्ति न होनेसे प्रभुके बन्धका अभाव—भैया ! जितना भी बन्धन है वह सब चाह में बन्धन है। अन्तरङ्गमें चाहकी दाह होती है उसकी वेदना नहीं सह सकते तो बाहरी चीजोंका बन्धन बना लिया जाता है। गृहस्थावस्था अनेक चाहों कर भरी हुई है फिर भी इतना विवेक रखना चाहिए कि हम किसी न किसी क्षण समस्त कलंकोंसे विमुक्त अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूपका मनन कर सकें। यह पुरुषार्थ ही वास्तविक शरण है, अन्य सर्वसमागम असार है। केवली भगवान मन रहित हैं, किन्तु वे मनरहित असंज्ञी जीवोंकी तरह नहीं हैं किन्तु द्रव्यमन होते हुए भी भावमन नहीं चल रहा है, यों अमनस्क हैं। वे इच्छापूर्वक न तो ठहरते हैं, न बैठते हैं न उनका श्रीविहार होता है। सोच लीजिए मनुष्यगतिके नाते केवली भगवानका औदारिक शरीर है, हाँ परमौदारिक जरूर है, और हाथ पैर नाक आँख जैसे हम आपके हैं वैसे ही उनके हैं। जैसे हम चलते हैं डग भर कर ऐसे ही वे चलते हैं डग भर कर और फिर भी इच्छापूर्वक न वे चलते हैं, न उठते हैं, न बैठते हैं। इसी कारण तीर्थंकर परमदेवको चारों ही प्रकारका बंध नहीं होता है।

बन्धनकी चतुष्प्रकारताका दृष्टान्त—कर्मोंके बन्धनमें चार प्रकार प्रकार हैं। प्रकृतिका बंध हो, प्रदेश का बंध हो, स्थितिका बंध हो और शक्तिका बंध हो। हम आप भोजन करते हैं तो उस भोजन किए गये पदार्थका जो पेटमें सम्बन्ध हुआ है वह तो समझिये दृष्टान्तमें कि प्रदेशबंध है भोजनका और उस भोजनमें जो यह प्रकृति पड़ी है कि इतना अंश रुधिर आदिक द्रव धातु बनेगा, इतना अंश मल आदिक फोक बनेगा, इतना अंश हड्डी आदिक कठोर चीज बनेगा। तो जो उस किए हुए भोजनके विभाग हैं उसे समझिए दृष्टान्तमें प्रकृतिबंध। यह अमुक पदार्थ इतने दिनों तक शरीरके साथ टिकेगा। खून बनने वाला पदार्थ मानो १०, २० वर्षों तक टिकेगा, हड्डी बनने वाला पदार्थ ५० वर्ष तक टिकेगा आदिक उन पदार्थोंकी शरीरमें स्थिति बंध गयी। पसेव बनने वाले पदार्थ कुछ मिनट ही टिकते हैं, मल बनने वाले पदार्थ कुछ घंटों टिकते हैं। ऐसी जो स्थिति बँध गयी वह है दृष्टान्तमें स्थिति बंध और उन पदार्थोंमें भी शक्ति बस गयी। हड्डीमें विशेष शक्ति है खूनमें कम शक्ति है, पसेव में बहुत कम शक्ति है। इस तरह उन पदार्थोंमें जो शक्ति बँध गयी वह है दृष्टान्तमें अनुभाग बंध।

कर्मबन्धकी चतुष्प्रकारता—ऐसे ही चार प्रकारका बन्धन कर्मोंके विषयमें होता है। कर्म एक पुद्गल भौतिक पदार्थ है, जिसे कार्माण वर्गणाएँ कहते हैं। समस्त लोकमें ठसाठस कर्मपुद्गल बसा हुआ है और

इस प्रत्येक संसारी जीवके साथ अनेक कर्मपुद्गल ऐसे साथ लगे हुए हैं जो कि अभी कर्मरूप तो नहीं बने किन्तु बँध सकते हैं। ऐसे भी कर्मपुद्गल, मरने पर जीवके साथ जाते हैं, और जो कर्मरूप बन गए ऐसे कर्म पुद्गल भी जीवके साथ जाते हैं। जब यह जीव कषाय करता है। मोह करता है तो अनेक कर्म वर्गणाएँ कर्मरूप बन जाती हैं। उन कर्मोंका जीवके साथ सम्बन्ध होना यह तो है प्रदेशबंध और उन कर्मोंमें जो यह प्रकृति आयी इतने कर्मपुद्गल जीवके ज्ञानगुणको घातेंगे, इतने कर्मपुद्गल जीवके सुख दुःखके कारण होंगे, इतने कर्मपुद्गल जीवके शरीरबन्धनके कारण होंगे। इस तरह जो प्रकृति पड़ गई वह है प्रकृतिबंध। ये कर्म करोड़ों वर्षों तक साथ रहेंगे, ये कर्म सागरों पर्यन्त साथ रहेंगे ऐसी जो उसमें स्थिति बँध गयी वह है स्थितिबंध और उनमें फलदानकी जो शक्ति आयी है यह है अनुभागबंध। हम आप लोगोंकी जरासी असावधानीमें सागरोंकी स्थितिके कर्म बँध जाते हैं।

इच्छाके अभावसे बन्धनका अभाव—भगवान अरहंत केवलीके चूँकि रागद्वेष रंच नहीं हैं, इच्छाका अभाव है इस कारण कर्मोंका बन्धन नहीं होता। यद्यपि उनके भी दिव्य वचन निकलते हैं। विहार, उठना बैठना ये सब भी उनके देहसे हो रहे हैं, लेकिन इच्छा न होनेसे बन्धन नहीं है। कुछ दृष्टान्तरूप फर्कका अदाज तो यहाँ भी कर सकते हैं। एक मुनीम सेठकी फर्म पर सारा काम संभालता है, बैंकका, तिजोरीका, हिसाबका। सब कुछ प्रबंध करने पर भी चूँकि उस मुनीमके उस सम्पदाकी इच्छा नहीं है इससे उसके शल्यरूप बन्धन नहीं है, केवल जो स्वयं वेतन लेता है उसकी इच्छामात्रका बंध है और बन्धन नहीं है, जब कि सेठको जो कि फर्मपर बैठता भी न हो, अथवा घंटा आध घंटा ही बैठता हो उसके उसका बन्धन है। यह मेरी इतनी जायदाद है यह प्रतीति बनी है। उसके हानि लाभमें उसे हर्ष विषाद है। फर्मके घाटे अथवा लाभमें जो कुछ प्रभाव उसके वेतनपर पड़ सकता है उतने अंशमें उसे खेद और हर्ष है। इच्छा ही एक बन्धन है। प्रभुके इच्छाका अभाव है, इस कारण प्रभुके बन्धन नहीं है।

बन्धहेतुता—यह बन्धन किस कारणसे होता है, किसको होता है? यह बन्धन मोहनीय कर्मोंके विलाससे होता है। मोह रागद्वेषका जो फैलाव है इससे बन्धन है। थोड़ा परिचय हो जाय, वहीं यह बन्धन कर लेता है तो जिसका मोह और रागका अन्तरङ्गसे सम्बन्ध है उनको तो बन्धन प्रकट ही है। अच्छा बतलावो जैसे शरीर वाले त्यागी साधुसत होते हैं ऐसे ही शरीर वाले तो ये गृहस्थजन हैं, जैसे वह अकेला है ऐसे ही आप सब भी अकेले हैं। क्या साथ लाकर आप बैठे हैं? किन्तु अपने नगरको छोड़कर, घर छोड़कर आपका जाना नहीं बन सकता है। साधुके चित्तमें आया तो जहाँ चाहे चल दिया। उसको कुछ बन्धन नहीं है और गृहस्थजनोंको बन्धन है।

भावबन्धनवशता—भैया! यहां भी कोई बँधा नहीं है शरीरसे। शरीर ये भी अकेले ही हैं, किन्तु भीतरमें जो मोह भाव है उस मोह भावका बन्धन है। यों कहो कि आपको गृहस्थी ने नहीं बाँधा है, परिजनोंने आपको बन्धनमें नहीं जकड़ा है किन्तु आपने ही अपनी मोहमयी कल्पनासे परिवारको भीतरसे जकड़ रक्खा है, और इसी जकड़ावका बन्धन है, यह तो बताया जा सकने वाला बन्धन है पर साथ ही जो कर्मोंका बन्धन लगा है, जो सूक्ष्म है वह तो और भी विचित्र बन्धन है। यह बन्धन जो इन्द्रियविषयोंका प्रयोजन रखते हैं उन ससारी जीवोंके होता है। विषय बंधन, विषयोंकी अभिलाषा जिसके न हो वह आजाद है, बन्धनरहित है। अहा, वस्तुस्वरूपके यथार्थज्ञानमें और कौन सी कला पड़ी हुई है। यही तो कला है कि जहां वस्तुस्वरूपका सही ज्ञान हो वहाँ यह मेरा है, यह मेरा है ऐसी बुद्धिका अनवकाश न होने से बन्धन नहीं रहता। जो इन्द्रियके विषयोंकर सहित हों उन ही पुरुषोंके बन्धन है। पुराण पुरुषोंके और वर्तमान पुरुषोंके भी इन सब बन्धनोंको परखते जाइए।

रागकी दुःखमूलता—कोई पुरुष यदि अपने कुछ दुःखकी कहानी कह रहा है तो सुनिये और अर्थ

लगाते, जाइए कि इस पुरुषको अमुक पदार्थकी अभिलाषा है, इस इन्द्रिय विषयका लालची है, इस कारण दुःखी है। इन्द्रिय विषयोंकी लालसा हुए बिना दुःख नहीं हो सकता है। लालसासे ही दुःख होता है। मिष्ट सरस पदार्थ खानेको चाहिए, इच्छा लगी है, मिले तो दुःख न मिले तो दुःख, मनमें यश प्रशंसा की कल्पना जग जाय तो दुःख, यश मिले तो दुःख, न मिले तो दुःख। यह संसारजाल पूरा असार है। यहां अपने भले की बात मिल ही नहीं सकती है। इन्द्रियोंको सुहावने वाली बात मिले तो उसमें मरे, इन्द्रियोंको न सुहाने वाली बात मिले तो उसमें मरे। किसीको हुक्म माननेमें कष्ट होता है और किसीको हुक्म देनेमें भी कष्ट होता है। जो हुक्म देते रहते हैं उन कष्टोंको वे जानते हैं और जो हुक्म मानते रहते हैं उन कष्टोंको वे जानते हैं। इस संसारमें कुछ भी स्थिति बने सभी स्थितियोंमें खेद है। एक सम्यग्ज्ञान हो, आत्मतत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा हो, सबसे निराले ज्ञानमय आत्माकी अनुभूति हो यही सत्य शरण है, इससे ही जीवोंका कल्याण है। शेष समागम तो सब क्लेशके ही कारण हैं।

प्रभुके अभ्युदयमें—प्रभुका धर्मोपदेश भी एक नियोगवश होता है। जानकर बनावट करके, रागद्वेष करके प्रभुके देहकी प्रवृत्ति नहीं होती है। प्रभुके ऐसा अभ्युदय प्रकट होता है केवलज्ञानरूप जिसके अभ्युदयके कारण देवेन्द्रोंके आसन कम्पायमान हो जाते हैं सूचना देने के लिए। प्रभु जब चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त करते हैं तो इसकी सूचना इन्द्रोंको हो जाय इतने मात्रके लिए उनका आसन कम्पायमान हो जाता है, अर्थात् प्रभुमें चमत्कार प्रकट हुआ है। तुम आसन पर बैठे हुए अभिमान मत करो, अथवा आसनसे उठकर विनय करो। वह आसनसे उठता है वहीं ही ७ पग चलकर नमस्कार करता है फिर उत्तर विक्रिया शरीर धारण करके समवशरणमें आता है।

देवोंका वैक्रियक शरीर—देवोंका शरीर वैक्रियक शरीर है। जो उनका खास शरीर है। वह स्वर्गसे उतर कर यहाँ नहीं आता किन्तु वह नवीन वैक्रियक शरीर बनाकर यहाँ आता है। मूल शरीर स्वर्गमें ही रहता है। देवोंकी भी ऋद्धि देखो। कितने शरीर बना लें और जितने शरीर बनेंगे जितनी दूर तक उनका शरीर जायेगा, मूल स्थानसे लेकर जहाँ तक उन्होंने बनावटी शरीर भेजा है वहाँ तक पूरी जगहमें उनका आत्मा रहता है। मानो दूसरे स्वर्गके देवका शरीर यहाँ आया तो यहांसे लेकर दूसरे स्वर्ग तकमें मूल शरीर तक बीचके क्षेत्रमें उनका आत्मा रहता है, क्योंकि आत्मा अखण्ड है। वह टुकड़ोंमें बँटकर नहीं फैलकर वह हजारों शरीर भी धारण करले और उन हजारों शरीरोंसे भी क्रियाएँ करें तो उनका मन क्रम क्रमसे इतनी तेजगति करके उन सब देहोंकी क्रियाएँ कराता है कि आप यह जान पायेंगे कि एक साथ ही सब काम हो रहा है, किन्तु वहां क्रमसे होता है।

इन्द्रकी प्रभुसेवानिष्ठता—मनुष्य लोकमें किसी समय एक साथ १७० तीर्थंकरोंका जन्म हो सकता है। इस ढाई द्वीपके भीतर ५ तो भरतक्षेत्र हैं, ५ ऐरावत क्षेत्र हैं, ५ विदेहोंमें ३२-३२ नगरियां होने से १६० स्थान विदेहोंके हैं जिस समय चतुर्थकाल चल रहा हो तब भरत और ऐरावतमें सबमें एक साथ प्रभुका जन्म हो और विदेहकी सब नगरियोंमें भी जन्म हो तो ऐसी स्थितिमें एक ही कालमें १७० तीर्थंकर मनुष्य लोकमें हो सकते हैं और उन सब तीर्थंकरोंकी सेवाके लिए मुख्य इन्द्र एक ही है सौधर्मइन्द्र। वह कैसे सब तीर्थंकरोंकी सेवामें एक साथ रह सके? इन्द्र इतने उत्तरविक्रियाके शरीर रचते हैं और अपनी कलावोंसे, सेवावोंसे तीर्थंकर देवको प्रसन्न किया करते हैं।

तीर्थङ्करका बल—तीर्थङ्करदेवके अकेलेमें भी इतना महान बल है जो सैंकड़ों इन्द्रोंको मिलाकर भी बल न हो सके। लोग महत्तामें इन्द्रका नाम लिया करते हैं पुराणोंमें। इन्द्र प्रसन्न हो गये। कोई चीज समझमें न आयी तो इसके भी करने वाले इन्द्रको मान लिया। मेघ बरस रहे हैं तो लोग कहते हैं कि आज इन्द्र प्रसन्न हो रहे हैं। इन्द्र क्या है? देवतावोंका राजा। इन्द्र भी तीर्थङ्करके चरणोंकी सेवाके लिए

आया करता है। यह तीर्थंकर मनसे भी वलिष्ठ, वचनसे भी वलिष्ठ, कायसे भी वलिष्ठ है। इनके जब केवलज्ञान होता है तो देवेन्द्रोंके आसन भी कम्पायमान हो जाते हैं।

सद्धर्मप्रकाश—भगवान सद्धर्मके रक्षामणि हैं। अहिंसामय, मोक्षमार्गको प्राप्त कराने वाला धर्म इसको प्राप्त करके वे स्वयं पावन हुए हैं और भव्य जीवोंको इस ही सद्धर्मका मार्ग बताते हैं ऐसे केवली भगवानके दिव्यध्वनि भी खिरे, विहार भी हो, खड़े हों, बैठ जायें, सब प्रकारकी प्रवृत्तियां होने पर भी चूँकि उनके इच्छा नहीं है इस कारण कर्मबन्ध नहीं होता। इस शुद्धोपयोग अधिकारमें शुद्धोपयोगके स्वामी अरहंत और सिद्ध भगवान हैं। सिद्ध भगवान तो निष्क्रिय हैं, उनमें हलना, डोलना प्रदेशमात्र भी नहीं होता। अरहंत प्रभुके विहार आदिक होता है, सो शुद्धोपयोगके प्रसादसे और इच्छाके अभावसे प्रभुके इतनी क्रियाएँ होकर भी उनके बंध नहीं है। हम आप भी जितने अंशोंमें इच्छा पर विजय पा सकें उतने अंशोंमें बंधसे दूर रह सकते हैं। ज्ञानार्जनका प्रयोजन यह है कि हमारे वस्तु स्वातन्त्र्यकी दृष्टि जगे और इच्छाका अभाव हो ताकि शुद्ध आनन्दका अनुभव कर सकें।

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीण।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण ॥१७६॥

आत्माके परमविकासका संकेत—हम आप जीव वर्तमानमें मलिन हैं, परतंत्र हैं, देहके आधीन हैं, कर्मोंके उदयके अनुसार परिणमन कर रहे हैं, भव भवमें जन्म मरण करते आये हैं, ऐसे ये अशुद्ध जीव किस प्रकार अपनी इस अकल्याणमय स्थितिको त्यागकर शुद्ध स्वाभाविक कल्याणमय स्थितिमें पहुंचते हैं इसका अन्तिम संकेत इस गाथामें किया गया है।

जीवकी प्रकृतिबद्धता—यह जीव सूक्ष्म कर्म पुद्गलसे बँधा हुआ है। निमित्तनैमित्तिक बन्धन इस जीवके साथ प्रकृतिका है। अन्य लोग भी कहते हैं कि इस आत्माके साथ प्रकृतिका बन्धन है और जब प्रकृतिका और आत्माका भेद ज्ञात हो जायेगा तब यह मुक्त हो जायेगा। वह प्रकृति क्या चीज है? इस सम्बन्धमें जितना स्पष्ट विवेचन जैन सिद्धान्तमें है प्रकृतिके बारेमें, वह समझनेके योग्य है। प्रकृतिका नाम अनेक पुरुष कुदरत कहते हैं। यह तो प्रकृतिकी चीज है। यह तो कुदरती बात है। प्रकृतिका लोग अनेक प्रकारसे उपयोग करते हैं, पर प्रकृति है क्या? उसके जाननेके लिए कुछ मूलसे उठकर पहिचानिये।

अविरुद्धसम्पर्कमें बन्धनकी असिद्धि—हम आप जीव हैं, जीवका जो निजी स्वरूप है वह स्वरूप जीवके बन्धनके लिए नहीं बनता। वस्तुका स्वरूप वस्तुके विनाशके लिए नहीं होता। वह तो वस्तुके विकासके लिए होता है। तो हम स्वयं अपने आपके लिए बन्धनके कारण पड़ जायें, बरबादीके विनाशके हम ही मात्र एक कारण हों यह तो बात नहीं है। पदार्थका स्वरूप पदार्थके विनाशके लिए नहीं होता। तब यह मानना पड़ेगा कि मेरे साथ कोई अन्य चीज लगी हुई है, जिसका बन्धन है, जिसके कारण मलिनता है, बरबादी है, उसही चीजका नाम प्रकृति है। अब वह उपाधिभूत प्रकृति किस ढंगमें होती है? यह एक समझने की बात है। जो भी प्रकृति उसके साथ लगी है वह उसकी ही तरह स्वरूप वाली तो हो नहीं सकती। जैसे काचमें काचका प्रतिबिम्ब नहीं झलकता, काचमें गैर काचका प्रतिबिम्ब झलकता है, क्योंकि काच भी पूर्ण स्वच्छ है, दूसरा भी पूर्ण स्वच्छ है, एक जातिका है, तो काचके कारणसे काचकी छाया नहीं बनती। काचसे विरुद्ध चीज हो तो उसके निमित्तसे काचमें दृश्य बनेगा। ऐसी ही बात जीवके स्वरूपकी है।

प्रतिपक्षसे बन्धकी सिद्धि—प्रकृतिका स्वरूप मेरे ही जैसा हो तो मुझमें कलुषता न बन सकेगी। इस कारण यह भी मानना होगा कि मैं जीव चेतन हूं तो प्रकृति जड़ है। मैं जीव अमूर्त हूं, रूप आदिकसे रहित हूं तो प्रकृति मूर्त है, रूप आदिकसे सहित है। हां, साथ इतनी बात अवश्य है कि वह प्रकृति

स्थूल न होगी। वह सूक्ष्म है, इसी प्रकृतिको लोग कर्म शब्दसे कहते हैं। उस जड़ प्रकृति उपाधिका निमित्त पाकर जीवमें जो राग द्वेषादिक कलुषताएँ बनती हैं, उन कलुषतावोंका भी नाम प्रकृति है। जीव की मलिन परिणतियोंका नाम है भावप्रकृति और कर्म पुद्गलका नाम है द्रव्यप्रकृति। हम आपका जो यह शरीर बना है इस शरीरके बन्धनमें द्रव्यप्रकृति तो निमित्त है और इस मुक्त आत्मामें जो अनेक मनुष्योंके योग्य विचार और रागादिक होते हैं वे सब भावप्रकृति हैं। इस ही का नाम कुदरत है। जैसे लोग पहाड़ नदी आदिको देखकर कहते हैं कि देखो कितना सुहावना यह प्रकृतिका दृश्य है तो प्रकृतिके मायने क्या? जिसका दृश्य बताते हो? वह प्रकृति यह है। सुनिये—द्रव्य कर्म प्रकृतिका उदय पाकर यह जीव पेड़ पानी आदिके रूपमें आया है। बस यही प्रकृतिका अर्थ है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण व वेदनीयरूप प्रकृति—इस जीवके साथ १४८ प्रकृतियां लगी हुई हैं, किसीके दो एक कम भी हो सकती हैं। इन १४८ प्रकृतियोंके मूल प्रकार ८ हैं। जीवके साथ इस प्रकारकी एक प्रकृति लगी है जिसके कारण यह जीव ज्ञानमें ठहर नहीं पाता है। इन्द्रियों द्वारा ही कुछ जानकर रह जाता है। उस प्रकृतिका नाम है ज्ञानावरण। इस जीवके साथ एक ऐसी प्रकृति लगी है जिसके कारण यह सर्व विश्व के जाननहार अपने आत्माको सामान्य प्रतिभास नहीं कर सकता, दर्शन नहीं कर सकता। प्रकृतिका नाम है दर्शनावरण। इस जीवके साथ एक ऐसी प्रकृति लगी है जिसका निमित्त पाकर यह जीव इन्द्रियोंके द्वारा कभी सुखका अनुभव करता है और कभी दुःखका अनुभव करता है। उस प्रकृतिका नाम है वेदनीय।

विभावकी अस्वभावता—भैया! साथ ही साथ यह भी निरखते जाइये कि इन प्रकृतियोंके निमित्तसे जो वारदात उत्पन्न होती है वह जीवका स्वरूप नहीं है। जीवका स्वरूप है पूर्ण ज्ञानस्वरूप रहना। उसमें भग पड़ा है प्रकृतिके कारण। जीवका स्वरूप है समस्त विश्वको, पदार्थोंको दृष्ट कर लेना, उनका दर्शन करना, इसमें बाधा आयी है दर्शनावरण कर्म प्रकृतिके निमित्तसे। जीवकी प्रकृति है निर्बाध सुख, शुद्ध भय रहित, किसी प्रकारकी बाधा वेदना न हो, किन्तु उसमें बाधा आयी है वेदनीयकर्म प्रकृतिके निमित्तसे।

मोहनीय व आयुकर्मरूप प्रकृति—जीवके साथ चौथी प्रकृति एक ऐसी लगी है जिसके कारण यह जीव वस्तुस्वरूपका यथार्थ श्रद्धान नहीं कर सकता। और जड़ पदार्थोंको विषय बनाकर क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय करता रहता है। इस प्रकृतिका नाम है मोहनीय कर्म। इस जीवके साथ एक ऐसी प्रकृति बँधी हुई है जिसके कारण यह जीव शरीरमें रुका रहता है। शरीरमें रुका रहना जीवका स्वरूप नहीं है, जीवको क्लेश नहीं है किन्तु यह कलंक है, दुःख है, परतन्त्रता है। जिस प्रकृतिके निमित्तसे जीव शरीरमें रुका रहता है इस प्रकृतिका नाम है आयुकर्म। आयु कर्मको बहुतसे लोग ऐसे बोलते हैं–इस जीवका आयु कर्म इतना ही था। जब तक आयुकर्म बलवान है तब तक मरण कैसे होगा? वह आयुकर्म भी प्रकृति है।

नाम, गोत्र व अन्तरायरूप प्रकृति—एक प्रकृति है नामकर्म, जिसके कारण जीवका भव त्याग होने पर, मरण होने पर फिर नई देहकी रचना होने लगती है। देहकी रचनाकी कारणभूत प्रकृति जीवके साथ लगी है इसलिए कभी ऐसी भूल नहीं हो सकती कि कोई जीव मरनेके बाद बिना शरीरका रह जाय या कुछ दिन यहाँ वहाँ घूमता फिरे या कोई बनाने वाला खबर न ले, क्योंकि अनन्त जीव हैं, किसी की लिखा पढ़ीमें चूक हो जाय तो वह जीव बिल्कुल शरीररहित हो जाय, ऐसा तो इस संसारमें नहीं होता, क्योंकि शरीरका रचना का निमित्तभूत नाम कर्मकी प्रकृति जीवके साथ लगी है। ७ वीं प्रकृति है ऊँचे नीचे कुल की संज्ञा दिलाने वाली। यह मनुष्य है उच्च कुलका, यह नीच कुलका है। तिर्यञ्च सब नीच कुलके हैं। नारकी सब नीच कुलके हैं, देव सब उच्च कुलके हैं। मनुष्योंके ही ये दो भेद पड़े हुए हैं कि कोई मनुष्य

उच्चकुलमें है और कोई नीच कुलमें है। यह एक प्रकृति भी जीवके साथ लगी है। ८वीं प्रकृति है अंतराय प्रकृति, जिसके उदयके निमित्तसे यह जीव दान नहीं कर सकता, चीजकी प्राप्ति नहीं कर सकता, भोग उपभोग भी नहीं कर सकता, अपने पुरुषार्थका उपयोग भी नहीं कर सकता।

प्रकृतिके विनाशक्रममे प्रथम दर्शनमोहप्रकृतिका विनाश—जीवके साथ मूलमें ८ व उत्तररूप १४८ प्रकृतियां लगी हुई हैं। उन सब प्रकृतियोंमें से यह जीव कुछ विवेक बुद्धिका अवसर पाकर मोहनीय प्रकृति का विनाश करता है। इस मोहनीयकी दो प्रकृतियां हैं, एक तो श्रद्धा विपरीत कराना, दूसरी प्रकृति है कषायोंमें लगाना आदि। तो सबसे पहिले यह जीव मोक्षमार्गके उद्यममें श्रद्धा उल्टी करने वाली प्रकृति को विनष्ट करता है। जहाँ इसकी श्रद्धा सही बन गयी, मैं आत्मा परमार्थतः सहज चिदानन्दस्वरूप हूं, मेरा मात्र मैं ही हू, मेरा किसी अन्य पदार्थसे कुछ सम्बन्ध नहीं है मेरेमें सबका अत्यन्त अभाव है, ऐसी श्रद्धा बनाकर जब यह जीव समस्त परपदार्थोंकी उपेक्षा करके अपने आपमें निरत होता है, अपने शुद्ध ज्ञानका अनुभव करता है तो दर्शनमोहनीय पर विजय हो जाती है।

दर्शनमोहके विनाशसे मोक्षमार्गका अपूर्वकदम—अब यहांसे उसका प्रोग्राम बदल गया। इससे पहिले तो यह संसारियोंमें रुलने मिलने वाला था, अब इसका उपयोग मुक्त जीवोंमें, प्रभुमें मोक्षगामी जीवोंमें रहने लगा है। सगतिका परिवर्तन हो गया। सम्यक्त्व जगनेसे पहिले तो इसकी मोहियोंकी सगति थी। सम्यक्त्व होनेके बाद अब इस ज्ञानी पुरुषके ज्ञानियोंकी सत्संगति हो गयी। यह गृहस्थ ज्ञानी चाहे मोही पुरुषोंके बीचमें भी रहे लेकिन जिसके सगकी हृदयमें भावना, प्रवृत्ति और ध्यान रहे, संगति उसकी ही कहलाती है। कोई पुरुष व्यसनी पहिले किसी प्रसंगवश धर्मसभामें भी बैठ जाय तो भी उसके चित्तमें पापकी ही बातें बसी हैं इसलिए वह सत्संगतिमें नहीं बैठा है, ऐसा समझिये। जिसका हृदय सत्संगतिसे सुवासित है ऐसा ज्ञानी गृहस्थ भी मोक्षमार्गी है।

आत्मगुणघातक प्रकृतियोंका विनाश—जब यह ज्ञानी गृहस्थ विशेष वैराग्य वृद्धिके कारण समस्त परिग्रहोंसे विरक्त हो जाता है, सर्वपरिग्रहोंका त्याग करके साधु होकर केवल एक आत्मध्यानमें ही रत रहता है तब इसके प्रकृतियोंके विनाशका तीव्र पुरुषार्थ जगने लगता है। अब यह मोहनीयकी शेष प्रकृतियोंका नाश करनेमें लग गया। यों जब इस जीवके मोहनीयकर्मका पूर्ण विनाश हो जाता है तब अन्तमुहूर्तमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय—इन तीन मूल प्रकृतियोंका भी नाश हो जाता है तब इस जीवको स्वभावपरिणति प्राप्त होती है, शुद्ध ज्ञान प्रकट होता है जिसके द्वारा समस्त लोकको वे प्रभु यथार्थ स्पष्ट जानते हैं; अनन्त दर्शन प्रकट होता है जिससे अनन्त पदार्थोंको जानने वाले इस आत्मा को अपने प्रतिभासमें ले लेते हैं। मोहनीय कर्मका नाश होनेसे शुद्ध सम्यक्त्व जग गया, अमिट क्षायक सम्यक्त्व बना हुआ है और कषायरहित प्रवृत्ति हो गयी है, अंतरायका क्षय होने से अनन्त सामर्थ्य प्रकट हो गया है।

सकल प्रकृतियोंका विनाश—अब यह पावन आत्मा सकल परमात्मा कहलाता है। प्रभुके जब तक आयु कर्म मौजूद है तब तक वह शरीर सहित है और अंतिम कुछ समयको छोड़कर शेष प्रभुताके समयों में उनका विहार होता है, उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। वे चलते उठते बैठते भी हैं लेकिन ये सब प्रवृत्तियां प्रभुकी इच्छाके बिना होती रहती हैं। इच्छा होना रागद्वेषका भाव करना यह दोष है, आत्माका गुण नहीं है, यह तो अवगुण हैं, जो ससारी जीवोंमें होते हैं। प्रभु निष्पृह परमउपेक्षासे सहित सारे लोकका जाननद्वारा अपने ही शुद्ध आत्मीय आनन्दरसमें लीन आराध्य भगवान है। जब इस सकल परमात्माके आयुका क्षय होता है तो उसके ही साथ समस्त बाकी बची हुई प्रकृतियां नष्ट हो जाती हैं।

भगवतोंकी निष्कलकता—अब यह प्रभु सिद्ध भगवान प्रकृतिरहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हो गया

है। सिद्ध भगवानके शरीर तक का भी सम्पर्क नहीं है, इनका अब जन्म मरण भी न होगा। ये प्रभु इस मनुष्यलोक से ही तो सिद्ध बने हैं। ये सकल परमात्मा, सशरीर प्रभुका एक समयमें शीघ्र ही लोकके अंत को प्राप्त हो जाते हैं। शुद्ध जीव अपने स्वाभाविक, गतिको यों प्राप्त कर लेता है। इसका संकेत इस गाथामें किया है। स्वाभाविक गति है इनकी, यह जीव मरण करके जन्म ले तो पूर्वसे पश्चिम, उत्तरसे दक्षिण, पश्चिमसे पूर्व, दक्षिणसे उत्तर, नीचेसे ऊपर, ऊपरसे नीचे–यों ६ प्रकारकी गतियोंसे गमन करता है। प्रभुकी एक दृष्टिसे गति भी न समझिये। एक ही समयमें शीघ्र ही सीधमें ऊपर जाकर लोकके शिखर पर विराजमान हो जाता है। अरहत प्रभुके ध्यान-ध्याता-ध्येयका विकल्प नहीं हैं। अब ये सिद्धक्षेत्रके अभिमुख हैं। इनके कोई प्रयोजन नहीं, अपने स्वरूपमें अविचल स्थित रहते हैं, ये अरहंत प्रभु परम शुक्लध्यानके प्रतापसे ज्यों ही आयुकर्मका क्षय पाते हैं त्यों ही वेदनीय नाम गोत्र आदिका भी विनाश होता है। यों चार घातिया का नाश होने पर शरीर सहित परमात्मा होते हैं और चार घातिया कर्मोंका भी नाश हो जाय तो सिद्ध भगवान होते हैं।

सिद्धस्वरूपका अभिवन्दन—सिद्ध भगवानका अर्थ है केवल आत्मा रह जाना। जहाँ न कर्मका सम्बन्ध है, न शरीरका सम्बन्ध है, केवल ज्ञानानन्दपुञ्ज है। शुद्ध निश्चयनयसे यह भगवान अपने ही सहज महिमामें लीन हैं, पर व्यवहारदृष्टिसे इनका सिद्ध लोकमें जाना कहते हैं। ससारी जीव ६ दिशाओंमें गमन करते हैं मरने पर, किन्तु सिद्ध ऊर्ध्वगामी ही होते हैं। भगवान ऊपर ही विराजमान रहते हैं, लोग जब भगवानका नाम लेते हैं तो जमीनमें आँखें गड़ाते हुए नाम नहीं लेते हैं, प्रकृति से ऊपर ही आँखें उठाकर हाथ जोड़कर नाम लेते हैं। यह लोगोंकी प्रकृति भी सिद्ध करती है कि प्रभुका निवास लोकके शिखरपर है। बंधका विनाश होनेसे जिनके अनन्त महिमा प्रकट हुई है ऐसे सिद्ध भगवान अब देव और मनुष्योंके प्रत्यक्ष स्तवनसे भी परे हो गये हैं। अब उनकी एक परोक्षभक्ति ही रह गयी है। जैसे वे अपने शुद्धस्वरूपमें विराजमान हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनंत आनन्दमय हैं ऐसे ही वे सदाकाल रहेंगे। अब इनका ससारमें भ्रमण न होगा। ऐसे सिद्ध प्रभुको मैं अपनी विभाव प्रकृतियोंके क्षयके हेतु, अपने रागादिक बाधावोंके विनाशके हेतु वंदन करता हू।

उपासनीय तत्त्वके दर्शनका पुरुषार्थ—हम आपको उपासना करने योग्य दो ही तत्त्व हैं। एक तो प्रभुका स्वरूप जो सच्चिदानन्दमय है और एक आत्माका स्वभाव जो कि सच्चिदानन्दमय है। केवल ज्ञानभावका चिन्तन ज्ञानभावका मनन हम आपमें निर्मलताको बढ़ाने वाला है इस कारण अनेक यत्न करके हम ज्ञानस्वरूपकी भावनाको प्राप्त करें। कुछ भी करना पड़े, बाहरके कामोंको महत्त्व न दें, उनसे अपना हित और अपनी महिमा न आँके। ये सब स्वप्नवत् दृश्य हैं, एक अपना ज्ञान बढ़े, अपनेमें निर्मलता जगे, ऐसा भावपुरुषार्थ अपना बनाना चाहिए।

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१७७॥

कारणपरमात्मतत्त्व व कार्यपरमात्मतत्त्वकी समानताका प्रतिपादन—इस गाथामें सिद्धप्रभु और आत्मस्वभाव का स्वरूप बताया गया है। जैसे निर्मल जल स्वरूप रखता है वैसे ही गंदला स्वभाव अपना स्वरूप रखता है। स्वच्छ पानी कैसा है? उत्तर मिलेगा निर्दोष, निर्मल, कीचड़रहित, साफ स्वच्छ और गंदा जल कटोरेमें भरकर लाकर दिखायें और पूछें कि इस जलका स्वभाव कैसा है? तब भी उत्तर मिलेगा निर्मल, निर्दोष, कीचड़रहित, साफ स्वच्छ। जो जलका स्वभाव है वह स्वभाव सदा निर्मल है, पर उस गन्दे जलमें मिट्टीका सयोग है इस कारण उसकी यह स्वच्छता तिरोहित हो गयी है, पर जलका स्वभाव और निर्मल जलका स्वरूप एक समान है, ऐसे ही सिद्धभगवान और यहाँ हम आप सब आत्मावोंका

स्वभाव भी समान है, इसी दृष्टिसे कहा है कि—मैं वह हूं जो है भगवान। जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥ मैं वह हू जो भगवान है, सिद्ध है, परमात्मा है, जो परमात्मा है सो मैं हूं।

दृष्टिविवेक—यद्यपि सर्वथा यह बात ठीक न बैठेगी कि मैं व प्रभु समान ही हूं, क्योंकि व्यवहार-दृष्टिसे जब देखते हैं हम अपना और प्रभुका परिणमन, तो वहाँ अन्तर प्रतीत होता है। और वह अन्तर है—अन्तर यही ऊपरी जान। वे विराग यहं राग वितान॥ परिणमनकी दृष्टिसे, अनुभवनकी दृष्टिसे यह अन्तर है। वह वीतराग है और यहां रागका फैलाव है, किन्तु अतःस्वरूप सहजभावकी दृष्टिसे अपने को निरखें तो अपनेमें और परमात्मामें अन्तर नहीं है। इस स्वभावदृष्टिसे हममें और प्रभुमें ही क्या, पेड़ कीट जैसे जीवोंमें और प्रभुमें भी अन्तर नहीं है। जब इस गाथामें आत्मस्वरूपका वर्णन आये तब तो स्वभावदृष्टि करके सुनना और जब सिद्ध भगवानका वर्णन आये तब सर्वदृष्टियोंसे सुनना।

जन्मजरामरणरहितपनेकी प्रभुता—यह भगवान जन्म जरा मरणसे रहित हैं। अब भगवानका न जन्म होगा, न बुढ़ापा आयेगा। शरीर ही नहीं है तो बुढ़ापा कहाँसे आये? बुढ़ापा तो अरहंत भगवानके भी नहीं होता। कोई बूढ़ा मुनि अरहंत बन जाय तो अरहंत होने पर उनका शरीर बूढ़ा नहीं रह सकता। उनका शरीर कान्तिमान, युवा, हृष्ट पुष्ट हो जाता है, यह प्रताप है कैवल्यप्राप्तिका। यह शरीर परमौदारिक हो जाता है। शरीर पुष्ट हो गया इतना ही नहीं, किन्तु कोई मुनि रुग्ण हो, कोढ़ निकल आया हो या कोई शारीरिक रोग फोड़ा फुंसी खाज खुजली कुछ हो गयी हो, अथवा कोई अंगुली आदिमें विरूपता आ गयी हो अथवा कोई अंग टेढ़ा मेढ़ा हो गया हो, बेडौल शरीर हो जाय, ऐसी भी स्थिति पहिले हो, किन्तु वह योगिराज जब कैवल्य प्राप्त कर लेता है तो उसके भी शरीर पुष्ट और दर्शनीय हो जाता है। कुछ ऐसा भी विचारो कि किसी साधुका अंग बेडौल हो, बूढ़ा हो और वह अरहंत हो जाय और ऐसा ही बूढ़ा हड्डी निकली टेढ़े टाप्टे हाथ पैर भगवानके रूपमें दिखे तो क्या कुछ भला सा लगेगा? भक्तोंकी श्रद्धा जिन भगवानमें है वे भगवान परमौदारिक शरीर वाले होते हैं, उनके बुढ़ापा रोग आदिक भी नहीं हैं।

आत्मतत्त्वकी परमस्वभावता—जैसे सिद्ध भगवानमें जन्म जरा मृत्यु—ये तीन रोग नहीं हैं ऐसे ही हम आपके आत्मपदार्थमें स्वभावमें जन्म जरा मरण नहीं है। इस आत्मस्वभावके तीक्ष्ण प्रज्ञासे हमें सब की अटकें त्यागकर बहुत अन्दर प्रवेश करके निरखना है। जैसे एक्सरा यंत्र चमड़ा, खून, मांस, मज्जा आदिमें न अटक कर सीधा भीतरकी हड्डीका फोटो ले लेता है ऐसे ही हमें इस सम्यग्ज्ञानके बलसे देहमें रागादिक भावोंमें, तर्क वितर्कमें, कल्पनावोंमें न अटककर सीधे अंतःसहज ज्ञानस्वरूपको ग्रहण करना है। यह ज्ञानस्वरूप जन्म, जरा, मरणसे रहित है, इस आत्माका स्वभावसे ही संसरणका अभाव है। यह सिद्ध भगवान उत्कृष्ट हैं और यह कारणसमयसार हम आपका अंतः स्वरूप परमपारिणामिक भावमें स्थित होनेसे परम है।

आत्मतत्त्वकी निरुपाधिता—सिद्ध भगवान अब सदा उपाधिरहित रहेंगे। भविष्यमें कभी भी कर्मोंका रागादिक भावोंका संयोग न हो सकेगा। और यहाँ आत्मस्वभावमें देखो हम सब अपने आपमें तो यह आत्मा अपने सत्त्वके कारण जैसा स्वयं है तैसा ही है, तैसा ही रहेगा, इसमें किसी अन्यतत्त्वका प्रवेश नहीं होता है। यद्यपि इस संसारी अवस्थामें इस आत्मस्वरूपका कुछ भान भी नहीं रहा और त्रस स्थावर की योनियोंके रूपमें इसका रूपक बना हुआ है फिर भी सत्त्वकी महिमा अतुल है। यह जीव अपने स्वभावसे त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप है। इस कारण इसमें आठों कर्म नहीं हैं। भगवान सिद्ध तो अष्ट कर्मों के विनाशसे ही हुए हैं और यहाँ देखो तो अष्टकर्मोंका सम्बन्ध होने पर भी जब हम अपने स्वभावमें

उतरते हैं तो यहाँ कहाँ कर्म रक्खे हैं, यहाँ तो मात्र यह मैं आत्मतत्त्व हूं। यों यह कारणपरमात्मतत्त्व अष्टकर्मोंसे रहित है। सिद्ध भगवानके न ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म हैं, न रागादिक भावकर्म हैं। समस्त कर्मोंसे रहित होनेसे अत्यन्त शुद्धि व्यक्त हो गयी है। अब जरा अपने आप में अंतःस्वरूपमें अपने को देखो। यह मैं आत्मा अपने सत्त्वके कारण जैसा स्वयं हू, अमूर्त निर्लेप ज्ञानानन्दस्वरूप भावात्मक उसमें भी न द्रव्यकर्म है और न रागादिक भावकर्म हैं। दोनों प्रकारके कर्मोंसे रहित यह मैं कारणपरमात्मतत्त्व शुद्ध हू।

आत्मतत्त्वकी सहजानन्तचतुष्टयात्मकता—प्रभुमें अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्तशक्ति प्रकट हुई है। वे अनन्तचतुष्टयात्मक कहलाते हैं। यह चारों प्रकारका स्वभाव हम आपमें सहज, अन्तःप्रकाशमान है। सहजज्ञान अर्थात् ज्ञानके जितने भी परिणमन होते हैं उन सब परिणमनोंकी शक्ति रूप, आश्रयरूप जो एक स्वभाव है वह है सहजज्ञान। यह सहजज्ञान हम आपमें अनादि अनन्त अन्तःप्रकाशमान है। सहजदर्शनके जितने भी पर्याय हैं उन पर्यायोंका आधारभूत सहज दर्शनस्वभाव है। यों ही चारित्रस्वभाव अथवा आनन्दस्वभाव और चैतन्यशक्ति हम आपके सहज हैं। सबमें सहज है जो सिद्ध प्रभु हुए हैं उनमें यह सहज स्वभाव व्यक्तरूप भी है और हमारा यह सहजस्वभाव शक्ति रूप है। इस तरह यह मैं सहज अनन्तचतुष्टयात्मक हू।

आत्मतत्त्वकी अविनाशिता—प्रभु सिद्ध अविनाशी हैं, इनका अब सिद्धत्व न मिट सकेगा इसलिए, वे अक्षय हैं और यहाँ हम आप स्वभावदृष्टिसे अपने को देखें तो हम सब भी अक्षय हैं। आत्मस्वभावमें कोई विभाव व्यञ्जनपर्याय नहीं है। मनुष्य पशु पक्षी आदि जो कुछ नजर आते हैं, जिन्हें निरखकर लोग जीव कहते हैं वे सब विभाव व्यञ्जनपर्यायें हैं। विभाव व्यञ्जनपर्यायोंका विनाश होता है जैसाकि आँखों भी देखते हैं, पशु मर गया, पक्षी मर गया, मनुष्य मर गया, अब विभाव व्यञ्जन पर्याय नहीं रही। देखिये देह भी वहीं पड़ा है, जीव भी कहीं का कहीं चला गया है, मरा कोई नहीं, नष्ट कोई नहीं हुआ, देहमें देह है, जीवमें जीव है, फिर वहाँ मरना किसका नाम हुआ? अरे भले ही देह रहे, भले ही जीव कहीं रहे किन्तु अब यह विभाव व्यञ्जनपर्याय नहीं रही। यह तो मिट्टी है और जीव कहीं है? इसको विभाव व्यञ्जनपर्याय न कहेंगे। मरण होता है, विनाश होता है तो यहा विभाव व्यञ्जनपर्याय का होता है। जब अपने आत्मामें अंतःस्वभावको निरखें तो यह निर्णय होगा कि इस स्वभावमें विभाव व्यञ्जनपर्याय नहीं है।

परमात्मतत्त्वकी अनादिनिधनता व विभावव्यञ्जनपर्यायकी सादिनिधनता—मैं अनादि हू किन्तु विभाव व्यञ्जनपर्यायको तो आदि है। इस मनुष्यकी आदि है ना। लोग कहते हैं कि तुम्हारी कितनी उमर है? तो बताते हैं कि ४९॥ वर्षकी मेरी उमर है। अरे लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है किन्तु जिसकी ४९॥ वर्षकी उमर कही जाती है उसको ५० वर्षकी उमर जानो। ६ मासके करीब जो गर्भमें रहा क्या वह मनुष्यकी उमर बिना रहा। इस विभाव व्यञ्जनपर्यायकी आदि है और अन्त है, पर मुझ अतस्तत्त्वकी, इस ज्ञानानन्दप्रकाशको न आदि है, न अन्त है।

आत्माकी अमूर्तता व विभाव व्यञ्जनपर्यायकी मूर्तता—यह देह, यह विभाव व्यञ्जनपर्याय मूर्तिक है, किन्तु यह मैं आत्मस्वरूप अमूर्त हू। यह देह इन्द्रियात्मक है, सर्वत्र इसमें इन्द्रिया भरी पड़ी हैं। कान, आंख, नाक, जिह्वा ये तो थोड़ी सी जगहमें हैं, किन्तु स्पर्शन इन्द्रिय सारे शरीरमें पड़ी है। स्पर्शनइन्द्रिय का कार्य है पदार्थका ठडा गर्म चिकना आदिक स्पर्श जान लेना। इस नाककी चमड़ीसे भी चीज छू जाय तो स्पर्श मालूम हो जाता है, हाथ छू जाय तो भी मालूम हो जाता है, पैरसे, पीठसे किसी भी स्थानसे छू जाय तो स्पर्श मालूम होता है। यह सारा शरीर इन्द्रियात्मक है, किन्तु यह आत्मा इन्द्रियात्मक नहीं है।

आत्माकी इन्द्रियात्मकविभावव्यञ्जनपर्यायरहितता--आत्मामें इन्द्रियात्मकताकी बात कहना तो दूर रहो, इन्द्रियके माध्यमसे जानने वाला होकर भी यह इन्द्रियोंसे जानने वाला नहीं हो रहा, किन्तु अपने ज्ञानपरिणमनसे जानने वाला हो रहा है। ये इन्द्रिया तो असमर्थ हैं। यह स्पर्शन स्वयं अपने आपको स्पर्शमय बनाने के लिए तैयार हैं। बुखार चढ़ा हो तो वह बुखार वाला रोगी उसे कितना बुखार है, कितना गर्म शरीर है, इसको वह अपने ही हाथसे अपने ही देहको छुवे बिना नहीं जान पाता। अरे जब शरीर गर्म हो रहा है तो हाथ पैर न आपसमें लगावो और जान जावो कि मेरा शरीर गर्म है, तो नहीं जान पाता है। एक हाथसे अपने ही दूसरे हाथको छूकर यह जान पाता है कि मेरा गर्म शरीर है। अरे जब तेरा यह शरीर गर्म है तो हाथसे हाथ क्यों छूता है, जान जा कि गर्म है, नहीं जान सकता। रसना इन्द्रिय यह जीभ अपने आपके रसका पता नहीं कर सकती कि मैं मीठी हू क्या हूं? इसे अपना स्वाद नहीं आ रहा है, ये इन्द्रिया खुदका ज्ञान खुद नहीं कर पाती। इस इन्द्रियात्मक समस्त विजातीय विभाव व्यञ्जनपर्यायसे मैं रहित हूं।

आत्माकी अविनाशिता व अच्छेद्यता--मैं अविनाशी हू, क्योंकि शुभ, अशुभ गतियोंमें जाय यही तो इसकी बरबादी है। शुभ अशुभ गतियोंका कारणभूत है पुण्यकर्म और पापकर्म। इसका द्वन्द्व मुझमें है ही नहीं। अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूपको निरखकर ज्ञानी चिन्तन कर रहा है कि प्रभुमें ये बाते ही नहीं है। वह तो पुण्य पाप दोनोंसे रहित हैं और यह मैं अपने स्वभावमें पुण्य पाप कर्मोंसे रहित हूं इसलिए मैं बरबादीसे परे हूं। मैं अच्छेद्य हू, मेरा कोई छेदन नहीं कर सकता। जैसे सिद्ध भगवानका कोई छेदन भेदन नहीं कर सकता। वह तो निर्लेप अमूर्त शुद्ध ज्ञानानन्दपुञ्ज हैं, वहाँ तलवार कहाँ चलेगी? न आग जला सके, न वहाँ किसीका प्रवेश है, ऐसे ही अपने आत्माके स्वरूपको देखिये, जो यह शुद्ध ज्ञानानन्द-स्वभावमात्र है। उसमें भी न शस्त्र चल सकते, न उसे कोई जकड़ सकता, न हवा उड़ा सकती, न पानी डुबो सकता, न आग जला सकती, यह अछेद्य है। यों यह मैं कारणपरमात्मतत्त्व इन समस्त दंदफंदोंसे रहित हू।

धर्मपालनके लिये एकमात्र यत्न--जो भव्य जीव ऐसे विशुद्ध आत्मस्वभावका ध्यान करता है वह ऐसा ही व्यक्त स्वभावपरिणमन प्राप्त कर लेता है। धर्म करने के लिए दसों तरहके काम नहीं करना है केवल एक ही प्रकारका काम करना है। वह है अपने सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका दर्शन, आलम्बन, आश्रय ध्यान, यत्न, चिन्तन; एक ही निज ज्ञानस्वरूपका आश्रय करना है। व्यवहार धर्म अनेक प्रकारके है, उनमें भी यही ध्यान रखिये, पूजामें भी यही करना है, सामायिक आदि जितने भी धार्मिक कार्य हैं उनमे भी यही करना है। समस्त परपदार्थोंसे विविक्त ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र निज सहजस्वरूपका आलम्बन लेना है।

शुद्धोपयोगप्रकाशका विधान--यह मैं कारणपरमात्मतत्त्व स्वरसत पवित्र सनातन हूं। कितनी सुविधा है अपने आपको धर्ममय बनानेके लिए। कोई पराधीनता नहीं है। यह मैं आत्मा अविचल हूं। अखण्ड ज्ञायकस्वरूप हू; रागद्वेषादिक द्वन्द्वोंसे रहित हूं। समस्त अघसमूहको जलानेमें प्रचण्ड दावानल समान हू। ऐसे दिव्य सुधामृत स्वभावी आत्मतत्त्वको हे आत्मन् तू भज। जो तू स्वय है इस निजस्वरूपका आश्रय कर। बाहरमें सब धोखा है, माया है। विनश्वर है, कुछ भी सार नहीं है। समस्त बाह्य पदार्थोंसे अपना उपयोग हटा। अपने आपके सहजस्वभावको तू निरख। इस विधिसे तुझे यह शुद्धोपयोग प्रकट होगा।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वके आलम्बनका अनुरोध--इस शुद्धोपयोग अधिकारमें केवलज्ञान और केवलदर्शनका मुख्यरूपसे वर्णन चल रहा है। आत्मामें ऐसी ज्ञानशक्ति है कि जिसका पूर्ण विकाश हो तो वह समस्त

लोकालोकका जाननहार होता है। समस्त लोकालोकका जाननहार बने, इसका उपाय है निज सहज ज्ञानशक्तिका आलम्बन करना। अपने आपके स्वरूपमें झुके, बाह्य पदार्थोंके विकल्प तोड़े, तो यही है वास्तविक धर्मपालन। हिम्मत बनाकर अपने आपमें ही गुप्त इस धर्मपालनका आनन्द लूटते जाइए। इससे ही बेड़ा पार होगा। किन्हीं बाह्य पदार्थोंकी आशासे, आश्रयसे, संगसे यह आत्मस्वरूप प्रकट न होगा। यों शुद्धोपयोग अधिकारमें व्यक्त शुद्धोपयोगका वर्णन करके सहज शुद्धोपयोगका इस गाथामें वर्णन किया है। यह मैं आत्मा ऐसा सहज अविकारी, निरञ्जन, अखण्ड, अछेद्य, अविनाशी, जन्मजरामरणादिक रोगोंसे रहित, द्रव्यकर्म भावकर्मसे रहित, केवल शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी बान लिए हुए यह मैं चैतन्य चमत्कारमात्र हू। यों जो निज अद्वैतका आश्रय करता है उसके समस्त सिद्धि प्रकट होती है।

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचल अणालंबं ॥१७८॥

प्रभुकी अव्याबाधस्वरूपता—जिन उपास्य आत्मावोंके शुद्धोपयोगका परम विकास हुआ है वे प्रभु परम उत्कृष्ट स्थितिमें हैं और उन ही जैसा स्वभाव मुझ आत्मामें है, इसका वर्णन इस गाथामें है। प्रभु भगवान अव्याबाध है, बाधारहित है। जिसके बाधायें लगी है वह संसारी है, प्रभु नहीं है, समस्त पाप वैरियोंकी सेनाका जहाँ प्रवेश ही नहीं है ऐसे सहज ज्ञानस्वरूपमें उन प्रभुका आवास है।

प्रभुके आवासका उत्तर जाननेकी पद्धति—प्रभु कहाँ रहते हैं? इसका उत्तर जाननेसे पहिले आप ही बतावो कि आप कहाँ कहाँ रहते हैं? आपका उपयोग जिस ओर लगा हुआ हो आप वहां रहते हैं, यह इसका उत्तर है। जैसे प्रवचन सुनते हुएमें आपका चित्त उचट जाय, मन न लगे तो कोई पूछ ही सकता है कि आप अभी कहाँ चले गये थे। अरे कहां चले गये थे? यहीं तो बैठे है ५ मिनटसे। अरे शरीरका निवास है यहाँ, पर हम पूछ रहे हैं आपके जीवका निवास। आप कहां चले गये थे? जिस वस्तुमें आपको ममताका परिणाम जगा वहा आप चले गए थे। जहा आपका चित्त लग रहा था वहाँ थे आप। आप इस समय कहां हैं? उसका उत्तर बाह्य द्रव्योंको लपेटकर न दिया जायेगा। मैं मदिरमें हूं, यह इसका सही उत्तर नहीं है। मैं अमुक नगरमें हूं, यह मेरा सही उत्तर नहीं है। आप जिस पदार्थमें अपना उपयोग बसाये हुए हों आप वहाँ हैं, अन्यत्र नहीं हैं।

प्रभुका आवासस्थान—ऐसे ही जब पूछा जाय कि प्रभु कहाँ रहते हैं? तो उसका उत्तर यह नहीं है कि वे सिद्ध लोकमें रहते हैं या परमौदारिक शरीरमें रहते है या ढाई द्वीपमें विराजमान हैं, यह उसका उत्तर नहीं है। प्रभु अपने स्वरूपमें रहते हैं, अपने ज्ञानबलसे सारे लोकको जानकर भी समस्त विश्व उनके ज्ञानमें स्पष्ट झलक रहा है, झलक रहा है तिसपर भी वे रह रहे हैं अपने सहजस्वरूपमें यह सहज आत्मस्वरूप ऐसा दृढ़ दुर्ग है कि इसमें पाप वैरियोंका प्रवेश नहीं हो सकता है। हम अपने स्वरूपकी दृष्टि दृढ़ बनायें तो पाप नहीं सता सकते हैं। जब हम अपना ही घर नहीं मजबूत कर पाते हैं, हम अपने ही अन्तस्तत्त्वकी भावना सुदृढ नहीं कर सके हैं तो यह पाप वैरी स्वच्छन्द होकर सता ही रहे हैं और उसके फलमें ससारमें अब तक रुलते चले आये हैं। भगवान अव्याबाध हैं। उनके किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है। यहां मैं अपने स्वरूपको निरखूँ तो यह मैं भी अव्याबाध हू।

प्रभुकी अतीन्द्रियता व विशिष्टता—भगवान अतीन्द्रिय हैं, समस्त आत्मप्रदेशोंमें चिदानन्दस्वरूप। भरा हुआ है, इन्द्रियां नहीं भरी हैं, आत्मतत्त्वमें इन्द्रियका स्वरूप नहीं है। यह स्वरूप अतीन्द्रिय है, मैं भी केवल एक ज्ञानानन्दभाव स्वरूप हू। इसमें भी इन्द्रिय नहीं हैं। यह आत्मा यद्यपि पर्यायदृष्टिसे तीन स्थितियोंमें रह सकता है बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा। फिर भी इन तीन तत्त्वोंसे यह कारणपरमात्मा स्वरूपदृष्टिमें विविक्त है अत एव विशिष्ट है और प्रभु परमात्मा इन तीन तत्त्वोंमें उत्कृष्ट

तत्त्वोंरूप है, विशिष्ट है।

बहिरात्मत्व—बहिरात्मा कहते हैं उसे जो जीव शरीरको और आत्माको एक मानता हो। शरीर ही मैं हूं। शरीरका रंग निरखकर यह विश्वास रखता है कि मैं गोरा हू, काला हू, लम्बा हू, ठिगना हूं। शरीरको जैसे यह मैं हूं मानता है ऐसे ही दूसरे शरीरोंको देखकर यह अमुक है ऐसा मानता है। ये सब दृश्यमान, मायारूप हैं, परमार्थ आत्मपदार्थ तो विलक्षण तत्त्व है, ऐसी श्रद्धा बहिरात्मा जीवके नहीं होती है। वह शरीरको और जीवको एक मानता है। इसीका ही नाम मूढ़ दुरात्मा, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी, मोही आदि है। बाह्य पदार्थोंमे अपना स्वरूप देखना अथवा बाह्य पदार्थोंसे अपना ज्ञान और आनन्द मानना इस ही का नाम बहिरात्मापन है। जगतके सब जीवों पर एक ओरसे दृष्टि डालते तो जावो, प्रायः यही चर्या सबकी मिलेगी। बाह्यपदार्थोंसे अपना हित और आनन्द समझना और बाह्यको ही अपना स्वरूप मानना, यह भूल पशु पक्षीमे मनुष्योंमें कीड़ों मकोड़ोंमें वनस्पतियोंमें सबमें पड़ी हुई है।

आत्माकी विशिष्टता व सामान्यरूपता—विरले ही पचेन्द्रिय संज्ञी जीव इस बहिरत्वको त्यागकर निज अंतःप्रकाशको ग्रहण करते हैं। यह मैं आत्मा शाश्वत शुद्ध ज्ञानानंद स्वभाव मात्र हूं। यह मैं न बहिरात्मा हूं और ज्ञानी बनकर अन्तरात्मा बना हू तो भी स्वरूपतः अन्तरात्मा नहीं हूं और इस अंतस्तत्त्वके ध्यानके प्रसादसे परमात्मप्रभु होऊँगा तो भी मैं स्वयं स्वभावतः शाश्वत ज्ञानस्वरूप हूं, शुद्धआत्मा हूं। परमात्मा होना शुद्ध आत्माके आलम्बन का प्रसाद है। शुद्ध स्वभावकी दृष्टि रखकर यह प्रकरण समझा जायेगा। मैं अव्याबाध हूं। अतीन्द्रिय हूं और उपमारहित हू। जगतके समस्त पदार्थोंमें एक आत्मा ही श्रेष्ठ पदार्थ माना गया है क्योंकि यह व्यवस्थापक है। अन्य समस्त पदार्थ अचेतन हैं, वे व्यवस्था नहीं बना सकते, वे कुछ जान नहीं सकते। हम आप जानते हैं, व्यवस्थाएँ बनाते हैं।

सासारिक सुखोंसे अतृप्ति—सिद्ध भगवान, शुद्धोपयोगी जीव ससारके सुखोंसे भी परे हैं, ये सांसारिक सुख केवल गोरखधधे ही हैं। भोगते समय सुहावने लगते हैं, पर पीछे बड़ा खेद पहुंचाते हैं। आप देख लीजिए ना, गृहस्थीमें सांसारिक सुखका विशेष प्रारम्भ मान लीजिए वहासे जैसा कि लोग विवाहको माना करते हैं। विवाहके समय कैसा उत्सव समारोह मनाया जाता है। कितने ही रुपये व्यय किए जायें, एक दुनिया भी समझ ले कि हां इन्होंने समारोह बहुत ऊँचा किया है और खुदको भी बड़ी खुशी है सो अनापसनाप बड़ा उत्सव मनाते हैं। ठीक है, विवाह हुआ कुछ दिन पड़े प्रेम वचनालापसे कटे, पर कुछ ही दिनके बाद कोई न कोई प्रकारकी चिन्ता कलह मनमोटाव या जो उत्सुकता थी वह तो समाप्त हुई, सो स्वयं ही किसी बातसे अतृप्ति आने लगी। लो अब संतान बढ़े, उनकी चिन्ता, आजीविकाका साधन मजबूत बनाना पड़ा, न जाने कितने खटपट हुए? बुढ़ापेमें पूछा जाय कि जीवन भर तुमने विविध श्रम किये, उनके फलमें क्या तुम्हारे हाथ आज लगा? तो वह यही कहेगा कि हाथ तो कुछ भी नहीं लगा। नाना श्रम किये, जिन्दगी भर अपने मनको खुशीमे रक्खा, पर आज खाली हाथ जा रहे हैं।

सासारिक सुखोंकी असारता—ये सांसारिक समस्त सुख असार हैं, मायारूप हैं। पानीमें जो फेन उठता है, नदियोंके या समुद्रके किनारे जो फैन इकट्ठा हो जाता है उसमें जरासा थप्पड़ मारो तो सब फैन यहा वहा अलग हो जाता है, तो जैसे पानीके फेनमें सार कुछ नहीं है ऐसे ही इस सासारिक सुखमें सार कुछ नहीं है। पानीको कितना ही मथो मटकेमें भरकर तो क्या उससे मक्खन निकल आयेगा? कभी नहीं निकल सकता। मक्खन तो दहीमें निकलता है। दहीको एक दो घंटे मथानीसे मथो तो मक्खन निकल आता है, पर पानी को चाहे वर्षों तक मथानीसे मथो, पर मक्खन नहीं निकल सकता है। ऐसे ही बाह्यपदार्थोंको मथनेसे, निग्रह अनुग्रह करने से आनन्द कहासे निकलेगा? तुम चाहे जिन्दगीभर परपदार्थों में सिर मारो, पर आत्माका गुण जो शान्ति है वह वहासे कैसे प्रकट होगी? प्रभु सासारिक सुख

से परे हैं और आत्मीय आनन्दमें ही सदा मग्न रहते हैं।

सिद्धकी आयागमनविमुक्तता व समृद्धता—अब ये प्रभु पुन' संसारमें न आयेंगे, ये जिस भवसे मुक्त होते हैं वह भव इनका बड़ा सांसारिक दृष्टिसे वैभवसम्पन्न होता है। दीन दुखी दरिद्री लोग मुनि बन कर मोक्ष जाने वाले अत्यन्त ही कम होंगे, किन्तु सेठ, राजा, ज्ञानी, विद्वान्, अनेक कलासम्पन्न पुरुष साधु बनकर मोक्ष गये वे ही प्रायः समस्त सिद्ध हैं। यहां उपासक जन भी जब जानते हैं कि यह परम योगीश्वर हैं, ये निर्वाण पधारेंगे तो वह अधिकाधिक भक्ति और अपना सब कुछ उन पर न्यौछावर करता है, बड़ी पूजाके साथ योगिराज मुक्ति पधारते हैं। आप भी अपने घरके किसी बालकको विदेश भेजते हैं किसी कारणसे तो कितना शकुन मनाकर और कितना समारोह मनाकर आप विदा करते हैं? वह तो वर्ष दो वर्षमें लौटकर घर भी आयेगा, किन्तु जिन जीवोंको आप इस संसारसे सदाके लिए विदा कर रहे हैं अर्थात् जो निर्वाण प्राप्त करते हैं, जो कभी भी इस ससारमें लौटकर न आयेंगे वे क्या ऐसे रूखे सूखे ही संसारसे चले जायेंगे ? बडे कल्याणकके साथ, बडे समारोहके साथ उनका सभा मण्डप इन्द्र रचता है, उनका समवशरण इन्द्र कुबेर बनाता है, वे आखिर मुक्त होते हैं। अब ये प्रभु ससारमें पुन. न आयेंगे क्योंकि संसारके आवागमनका कारण शुभ और अशुभ भाव हैं। मोह रागद्वेषके वशीभूत होकर यह जीव संसारमें रुलता है। अब रागादिक भावोंका सर्वथा परिहार हो गया, अब ये पुन' संसार में न आयेंगे।

परमात्मतत्त्वकी नित्यता—उस निर्मल आत्माका यहाँ चिन्तन किया जा रहा है, जो निर्दोष है, कर्म रहित है, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्तिसे सम्पन्न है। ये प्रभु नित्य हैं। इनका न अब नित्यमरण होता है, न तद्भव मरण होता है। यह मरण शरीरसे सम्बन्ध रखता है। हम आप रोज-रोज मर रहे हैं, प्रति समय मर रहे हैं, वह कैसे ? मानो किसी की आयु ६० सालकी है, अब २० वर्षका हो गया, इसका अर्थ यह है कि २० वर्ष मर चुका। २१ वर्षका हुआ तो एक वर्षका मरण और हो गया। आयु निकलती है, जितनी निकल गयी समझो उतना मरण हो गया। जितनी आयु है उतना अभी जिन्दा है। आयुके प्रति समय झड़नेका नाम नित्यमरण है और जब इस भवसे बिलकुल ही चले गए तो उसका नाम तद्भव मरण है। लोग उस तद्भवमरणके समय समाधि ग्रहण करते हैं, करना चाहिए। अब इस देहको त्याग कर बिलकुल ही जा रहे हैं तब भी यदि समता प्राप्त न करें, परिजन और वैभवमें मोह ममता ही बढायें तो इसका फल उत्तम न होगा। पर एक बात और ध्यानमें रखनेकी है कि जब हम रोज-रोज प्रति मिनटमें मर रहे हैं तो हमें प्रति मिनट समाधिभाव रखना चाहिए, समतापरिणाम करना चाहिए। नित्यमरण और तद्भव मरणका कारणभूत जो यह शरीर है इस शरीरका सम्बन्ध ही न रहा भगवानके, इस कारण भगवान नित्य है। यह भगवान जैसे नित्य है तैसे हम आप भी स्वभावत नित्य हैं। हम आपका भी कभी मरण नहीं है। जो स्वरूप है उस ही स्वरूप सहित निरन्तर रहा करते हैं।

परमात्मतत्त्वकी अचलता व अनालम्बता—प्रभु अचल हैं, उनमें जो गुणविकास हुआ है वह अब गुणविकास न छूटेगा। उसके प्रच्यवन न होनेसे वह प्रभु अचल है। यह मैं आत्मा भी चैतन्यस्वरूपको लिए हुए हू। मेरा स्वरूप सहज ज्ञानस्वभाव, सहज आनन्द स्वभाव है उसको भी मैं त्रिकाल त्याग नहीं सकता हू। मैं अपने स्वरूपमें अचल हू, मेरेमें मैं ही हू, मेरेको परद्रव्योंका आलम्बन नहीं है। किसी परद्रव्यके सहारे हम अपनी सत्ता रखते हों ऐसा नहीं है। जो पदार्थ है वह स्वय स्वतंत्ररूपसे अपने आप है। किसी दूसरेकी मददसे मेरी सत्ता नहीं है, परद्रव्योंका मुझमें आलम्बन नहीं है इस कारण अनालम्ब हू और यह प्रभु भी परद्रव्योंके आलम्बनसे रहित है। ऐसा यह निरुपाधिस्वरूप मेरा स्वभाव और प्रभुका व्यक्त तत्त्व है।

स्वरूपदर्शनका अनुरोध—अहो कितने खेदकी बात है कि ऐसा प्रभुतास्वरूप होकर भी यह जीव अनादिकालसे प्रत्येक स्थितिमें मोहमत्त होकर सोया हुआ है और दुःखी हो रहा है। अरे जिस स्थिति में तुम मत्त हो रहे हो उसे तुम अपना पद मत जानो, उसमें अंध मत बनो, जो कुछ भी समागम मिला है इस समागममें सदा रहनेका विश्वास न करो। सदा न रहेगा यह, इसमें राग मत करो। विषयांध मत बनो, अपने आत्माकी भी सुध लो। यह समस्त दृश्यमान मायाजाल है, यह तुम्हारा कुछ नहीं है, यहांसे हटो और देखो अपने आपकी ओर आवो जहां तुम्हें यह चैतन्य निधि प्राप्त होगी, जहां केवल ज्ञानप्रकाशका ही अनुभवन होगा, समस्त संकट और आकुलताएँ दूर होंगी, ऐसे इस आत्मतत्त्वमें आवो और जिन बाह्य स्थितियोंमे तुम भरम रहे थे उनसे विराम लो।

परमात्मतत्त्वकी सहजरूपता व उसके आलम्बनका सदेश—जीवमें भाव ५ होते हैं। कुछ कर्मोंके उदयसे होते उन्हें औदयिक कहते हैं, कुछ कर्मोंके दबनेसे होते उन्हें औपशमिक कहते हैं, कुछ कर्मोंके विनाशसे होते उन्हें क्षायिक कहते हैं और कुछ कर्मोंके मिटने से, कुछ दबने से कुछ उदयसे होते हैं उन्हें क्षायोपशमिक कहते हैं, किन्तु यह मैं आत्मस्वरूप इन चार भावोंसे भी विविक्त केवल शुद्ध चैतन्यप्रकाशमात्र हूं, परमपारिणामिक भावस्वरूप हूं। यह मेरा शुद्धस्वरूप मुझे दिख जाय, इसीके मायने है सम्यग्दर्शन। बुद्धिमान् पुरुष समस्त रागद्वेषोंको त्यागकर इस शुद्ध चैतन्यस्वभावका आलम्बन करते हैं। जो पुरुष बाहरी पदार्थोंका रागद्वेष मोह तजकर अपना जो असहाय केवल अपने आपके कारण जो अपनेमें स्वभाव है उस स्वभावका आलम्बन करता है वह पुरुष ससारके समस्त सकटोंसे परे हो जाता है। हम आपका कर्तव्य है कि व्यवहारमें तो प्रभुकी उपासना करें। जो वीतराग है, सर्वज्ञ है और अपने आपमें अपने अंतःप्रकाशमान इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी उपासना करें। अपने आपको ऐसी प्रतीति में लें कि मैं सिर्फ ज्ञानमात्र हू, मेरा स्वभाव केवल ज्ञानस्वरूप है, ऐसी प्रतीति करे तो इस शुद्ध ध्यानके प्रतापसे संसारकी समस्त उलझनें दूर हो जायेंगी और प्रभुता प्राप्त करली जायेगी।

णवि दुक्ख णवि सुक्ख णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७९॥

यातनाओंके अभावमें निर्वाण—निर्वाण वहाँ ही है जहां न दुःख है, न सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है। ससार अवस्थामें ये सभी दोष हैं। दुःखोंका कारण है अशुभ कर्मका उदय। असाता वेदनीयके उदयमें दुःख होता है। यह असाता वेदनीय बनता है तब, जब आत्मामें अशुभ परिणमन होता है। यह अशुभ परिणमन कलक है। यह परमात्मतत्त्व, यह आत्मा भगवान अपने ही सत्त्वके कारण शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र है। इसमें दुःखका अवसर ही नहीं है, किन्तु अनादि कालसे ऐसा उपादान मलीन चला आ रहा है कि अशुभ कर्मका उदय पाकर यह जीव दुःखी बन रहा है। यों तो जितने भी कर्म हैं वे सब कर्म दुःखके हेतु हैं, यह आत्मा केवल जैसा अपने स्वरूपसे है वैसा ही रहा आये तो इसको कोई दुःख नहीं है। लोग कल्पनायें करके अन्य पदार्थोंको मानते हैं कि ये मेरे हैं, यह मैं हू, यह कल्पनाजाल जो इसमें घर बनाये हुए है वही समस्त दुःखोंका कारण है।

इच्छावोंकी क्लेशकारणता—अशुभ परिणति मेरा स्वरूप नहीं है। जो निरन्तर अपने आत्मस्वरूपमें अन्तःप्रकाशमान् रहा करता है उस अपने आपके सहजस्वरूपकी ओर झुकाव हो तो अशुभ परिणमन नहीं होता। जितनी भी इन्द्रियोंकी इच्छा है यह सब इच्छा बाह्य दृष्टि होने पर होती है। इस इच्छासे आत्माको साध्य कुछ नहीं है। केवल इच्छा करके यह क्लेश पाता रहता है। मोक्ष तक की भी जब तक वाञ्छा रहती है तब तक मोक्ष नहीं मिलता है, अन्यकी वाञ्छावोंका तो कहना ही क्या है? ज्ञानी विरक्त पुरुष मोक्षकी चाह रखता है, ठीक है, यह शुभ परिणाम है, फिर भी यह जानो कि जब तक

मोक्षकी इच्छा है तब तक सविकल्प अवस्था है। एक शुभ विकल्प अपना हुआ।

निर्वाणकी पात्रता—जब यह आत्मा, आत्मा ही ज्ञाता, आत्मा ही ज्ञेय रहकर एक अभेदोपयोगी बनता है, तब मोक्ष तककी भी वहाँ इच्छा नहीं रहती है। वहाँ मर्म यह है कि एक अद्वैत बुद्धि रहना सो तो सिद्धि है और जहाँ द्वैत भाव आया, द्वैधीकरण आया बस वहीं क्लेश है। यह मैं आत्मा हू इतना तक भी परिणाम हुआ तो वह विकल्प है। आत्माको पूर्ण निर्विकल्प समाधिमय होना चाहिए तब उसकी मुक्ति होती है। यह आत्मतत्त्व निरुपराग है, जो कुछ भी है वह अकेले है, दूसरेको लेकर है कोई नहीं बनता। दूसरेका गुण उधार लेकर सत् नहीं बना करता है। जो भी पदार्थ है वह पूरा अपने आप है, मैं आत्मा हूं तो मैं अपने आप ज्ञानमात्र हूं, सत् हूं, किसी दूसरेका सहारा लेकर नहीं हू।

ज्ञायककी ज्ञानानन्दस्वरूपता—भैया ! ऐसा मालूम होता है मोहमें कि मैं इन्द्रियोंके सहारे जानता हू। पहिली बात वहाँ यह है कि इन्द्रियोंका सहारा लेने से हमारे ज्ञानमे कमी आयी है, ज्ञानका विकास रुक गया है। ये इन्द्रिया तो एक कमरेकी खिड़कियोंकी तरह हैं। जानने वाला पुरुष तो अलग है, खिड़कियाँ नहीं जानती हैं। खिड़कियोंके होनेसे तो बल्कि उस जानने वाले पुरुषको रुकावट हो रही है। वह अब केवल खिड़कियोंसे जाने और जगहोंसे नहीं जान सकता। ऐसे ही मैं तो ज्ञानमात्र हू। ज्ञानसे सबको निरन्तर जानता रहता हूं। इन इन्द्रियोंके कारण तो मेरेमें रुकावट आयी है। मैं अब सबको नहीं जान सकता। इन्द्रियोंका जब तक हम सहारा लेते हैं तब तक हम सर्वज्ञ नहीं हो सकते। इन्द्रियोंका सहारा मोहवश लेता है यह जीव। इन इन्द्रियोंकी उपेक्षा करके अपने शुद्ध ज्ञानामृतका पान करना चाहिए।

मोहमें भ्रमपूर्ण श्रम—लोकमें किसी भी स्थितिमें आनन्द नहीं है। यह जीव मोहसे पीड़ित हुआ नाना श्रमोंको करके सुखी होना चाहता है, किन्तु सुखी होनेका यह रास्ता ही नहीं है। हम गलत रास्ते पर चल रहे हों और गलत रास्ता हम जान जायें तो यह भी एक सुलझनेका मार्ग है। रास्ता तो गलत रखें और सही समझें तो यह मेरे भटकनेका मार्ग है, ऐसे ही यह भी एक धर्मपालन है कि हम इसका खेद विषाद मानते रहें कि मेरा उपयोग क्यों बाह्यपदार्थोंमें अटकता है, क्यों परिजनोंमें ममता बुद्धि बनती है ? मेरा तो यह देह भी नहीं है मैं तो नामरहित एक आत्मसत् हू।

परमार्थतः पदार्थकी निर्नामता—भैया ! सच पूछो तो नाम तो किसी वस्तुका होता ही नहीं है। जो भी विशेषता उस वस्तुमे नजर आयी वही नाम लोग लेते है। वह नाम उस वस्तुका नहीं है। जैसे लो। कहते हैं इस देहको शरीर। तो कोई कहे कि शरीर तो नाम है। पर शरीर नाम नहीं है, शीर्यते इति शरीरम्। जो सड़े गले उसका नाम शरीर है। यह विशेषण है। इस शब्दने विशेषता बतायी है। देह दिह्यते उपचीयते इति देहः जो सचित हो उसे देह कहते हैं। संदूक भी नाम नहीं है, 'स' मायने अच्छो तरहसे 'दूक' मायने छिप जाय जिसमें वह सदूक है। यह विशेषता है, पदार्थका निजका नाम नहीं है, नाम किसीका होता हो नहीं है, विशेषताको लोग पुकारते हैं। दुकान-दुकान नाम नहीं है, जहा दो कानों से व्यवहार चले उसका नाम दुकान है, एक बेचने वालेका कान और एक लेने वालेका कान। अथवा, दुका न, कोई चीज दुकावो नहीं, सामने रक्खो, उसका नाम दुकान है। चौकी—यह नाम नहीं है, किन्तु चार काने जिसमें हों उसका नाम चौकी है। किसी वस्तुका नाम ही नहीं होता। लोग तो अपने मतलब के अनुसार जो उनके प्रयोजनकी विशेषता मालूम हुई—नाम रख लिया। किवार कि मायने किसीको वार दे मायने रोक दे, कुत्ता बिल्ली आदमी आदि सबको किसी को न आने दे वह किवार है। भींट-भींच करके ईंट लगाये उसका नाम है भींट। नाम किसीका होता ही नहीं है, अपने स्वार्थवश जो विशेषता हम देखते हैं उसका नाम लगा देते हैं।

परमार्थत आत्माकी निर्नामता—इस आत्माका भी नाम कुछ नहीं है। आत्मा तो एक विशेषता है।

अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा। जो निरन्तर जानता रहे उसका नाम आत्मा है। क्रोध कर रहे हों वहां भी जानते हैं, मान आदिक कर रहे हों वहाँ भी जानते हैं, कषाय न कर रहे हों वहां भी जानते हैं, यह सत् जाननेसे कभी नहीं चूकता है, इसका नाम है आत्मा। जीव—दसों प्राणों करि जीवे उसका नाम है जीव, चैतन्यप्राणसे जीवे सो जीव। ब्रह्म अपने गुणोंसे जो बढ़नेकी प्रकृति रखता है उसका नाम है ब्रह्म। इस मुक्त सत्का कोई नाम नहीं है। लोगोंने व्यवहारके अर्थ इस व्यञ्जनपर्यायका नाम रख लिया। नामधारी बन जानेसे अब इस जीवको धनमें हो गया ममत्व। इस कारण अब अपनी कल्पनाके अनुसार इसे नाना श्रम करने पड़ते हैं। कलह और विवाद भी करने पड़ते हैं।

परमात्मतत्त्वमें क्लेशहेतुवोंका व क्लेशोंका अभाव—यह परमात्मतत्त्व तो निर्लेप रत्नत्रयात्मक परमात्मस्वरूप है। सदा अन्तर्मुखाकार परम अध्यात्मस्वरूपमें निरत है। इसकी अशुभ परिणतिका अभाव होनेसे न इसके साथ कर्म हैं; कर्मोंका अभाव होनेसे न इसमें दुःख है। स्वभाव दृष्टिसे अपने आपमें ऐसा निरखिये। और पर्यायदृष्टिसे सिद्ध भगवानमें, मुक्त अवस्थामें ऐसा निरख लीजिए। प्रभुके किसी प्रकारका दुःख नहीं है। हम प्रभुको क्यों पूजते हैं ? हम दुःखरहित होना चाहते हैं, और दुःखरहित है प्रभुका स्वरूप। सो प्रभुके स्वरूपका ज्ञान बनाकर मैं अपने दुःखरहित स्वरूपका पोषण करता हूं। उससे दुःख दूर हो जाता है। यदि प्रभु दुःखरहित न होते तो हम उनको कभी न पूजते।

परमात्मतत्त्वमें सुखरूप क्षोभोंका भी अभाव—प्रभुके सांसारिक सुख भी नहीं हैं। सांसारिक सुख मलिन परिणाम है। यह पुण्य कर्मोंके उदयसे होता है। जैसे दुःखमें क्षोभ रहता है ऐसे ही सुखमें भी क्षोभ रहता है। पुण्य और पाप ये दोनों कर्म इस जीवको बेड़ीकी तरह बाँधे हुए हैं। जैसे लोहेकी बेड़ी कैदीको पहिना दिया जाय, चाहे सोनेकी हो, पर वह तो एकसा ही बन्धन है, यों ही संसारके प्राणियों में कोई पुण्यकी बेड़ीसे जकड़ा है, कोई पापकी बेड़ीसे जकड़ा है। पुण्य पापसे रहित सिद्ध भगवत हैं। अनुभव करके भी देखलो जब इष्टवियोग अनिष्टसयोग आदिक पापके फल मिलते हैं वहां भी चैन नहीं रहती और जब सम्पदा इष्टसंयोग आदिकके फल मिलते हैं तो वहां भी इस जीवको होश नहीं रहता। सुखके रूपमे क्षोभ मचता है, शान्ति तो रहती नहीं। शान्ति होना ज्ञानका फल है, पुण्यका फल नहीं है। पुण्यका फल क्षोभ है, पापका फल क्षोभ है। पुण्यपाप दोनोंसे रहित यह सिद्ध भगवंत हैं, अतः इनके न दुःख है और न संसारका सुख है।

परमात्मतत्त्वमें पीड़ा व बाधाका अभाव—प्रभुके शरीर ही नहीं है, केवल ज्ञान और आनन्दकी ज्योति हैं वह। जहां दुःखयातनायोग्य शरीर हो वहां पीड़ा होगी। शरीर ही नहीं है तो पीड़ा क्या होगी ? भूख प्यास ठंड गर्मी रोग ये समस्त शरीरके सहारे होते हैं। पीड़ाके योग्य यातनामय शरीर है। शरीररहित होनेसे सिद्ध भगवानके पीड़ा नहीं होगी। हम जिस भगवानकी आराधना करते हैं हमें चाहिए कि हम भगवानके स्वरूपसे पूर्ण परिचित रहें। संसारमें कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिसका शरण गहा जाय और शान्ति मिले। एक प्रभु स्वरूप ही ऐसा है कि जिसका शरण गहें तो शान्ति मिले। प्रभुके बाधा भी रंच नहीं है। असाता वेदनीय कर्मका अभाव होनेसे रंच मात्र भी बाधा नहीं है। मानसिक जितनी भी वेदनाएँ हैं वे सब बाधाएं कहलाती हैं। शरीरके सहारे जितनी वेदनाएँ हैं वे सब पीड़ा कहलाती हैं। प्रभुके न कोई पीड़ा है और न किसी प्रकारकी बाधा है।

निर्वाणमें मरणका व मरणके आश्रयभूत शरीरोंका अभाव—प्रभु मरणरहित हैं। शरीर हो तो मरण हो। किसी प्रकारका सिद्ध प्रभुके शरीर ही नहीं है, वे तो शुद्ध ज्ञानानन्दका पुञ्ज हैं। शरीर ५ होते हैं—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। इन ५ शरीरोंमें दो शरीर तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं और सदा साथ रहते हैं संसारी जीवोंमें। वे दो शरीर हैं तैजस और कार्माण। जीवके मरने पर यह शरीर

तो यहीं रह जाता है किन्तु तैजस और कार्माण शरीर जीवके साथ जाते हैं, इसीको लोग सूक्ष्म शरीर कहते हैं। तैजस शरीर उसे कहते हैं जिसके कारण पाये हुए शरीरोंमें तेज उत्पन्न हो। लोग जैसे कहने लगते कि इसमें जान नहीं रही, मुर्दा हो गया है, मुर्दनी छा गयी है, कान्ति नहीं रही है, जब जीव ही निकल गया और उसके साथ तैजस शरीर भी निकल गया तो कान्ति कहांसे रहे? कार्माण शरीर उसे कहते हैं जो इस जीवके कर्म बंधे हैं, पुण्य अथवा पाप। उन समस्त कर्मोंका जो एक शरीरात्मक ढाँचा है उसे कार्माण शरीर कहते हैं। यह सूक्ष्म शरीर जीवके साथ जाता है। औदारिक और वैक्रियकमें स्थूल शरीर है, आहारक भी सूक्ष्म है, पर वह किसी साधुके प्रकट होता है। हम आपका शरीर औदारिक कहलाता है। देव और नारकका वैक्रियक शरीर सर्व प्रकारके शरीरोंका अभाव होने से अब प्रभुके मरण नहीं है। अब यह प्रभु, शरीर जिससे बनता है ऐसी वर्गणावोंको कोई ग्रहण नहीं कर सकता, इस कारण अब उनके जन्म मरण नहीं है।

प्रभुका आराध्य स्वरूप—भैया! सर्व झंझटोंसे रहित ज्ञायकस्वरूप परमात्मतत्त्व केवल ज्ञानादिक अनन्तचतुष्टयसे सम्पन्न प्रभुके सदा निर्वाण रहता है। हमें आराधना करनी है प्रभुकी, तो प्रभुको हम यदि नाना रूपोंमें तकते हैं, यह आ गये मुकुट बाँधे, अथवा बढ़िया पोसाक पहिने संगीत बाजे बजाते हुए, शस्त्र हथियार रखते हुए, स्त्री साथमें रखे हैं, भगवानके ये बच्चे भी पासमें बैठे हैं, इस रूपमें यदि हम भगवानको तकते हैं तो आत्मामें शान्तिका तो कोई साधन नहीं बन पाया। विकल्प ही बढ़ाया और इन्द्रियोंपर ही जोर देकर ऐसा प्रभुको तकनेका यत्न किया। आप प्रभुको केवलज्ञान और आनन्दके स्वरूपमें निरखें। प्रभु तो शरीररहित है। केवल ज्ञान और निरन्तर आनन्दमग्नता जिनमें बनी हुई है ऐसा विशुद्ध एक भाव है परमभाव। उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति प्रभु है, उस ज्ञान और आनन्दके स्वरूपका अनुभव करते जाइए, तो इस पद्धतिसे अपने आपमें शान्ति भी मिलेगी और जो वास्तविक प्रभुता है उसका दर्शन भी होगा।

प्रभुभक्तिका प्रयोजन—इस लोकमें जीवके भव-भवमें सुख दुःख बने रहते हैं, ये सुख दुःख जिसके नहीं हैं, बाधा जन्म जरा मरण जिनके नहीं है ऐसे परमात्माको मैं किसलिए नमस्कार करता हूं, इसलिए कि जो ज्ञान और आनन्दका विकास प्रभुके प्रकट हुआ है वह मेरे प्रकट हो। तुलसीदास जी जब काम वासनासे पीड़ित होकर स्त्रीसे मिलने रात्रिको गये स्वसुराल, तो मुर्देको पकड़कर नदी, तैर गये, सांपको पकड़कर महल पर चढ़ गये। स्त्री ने जब पूछा कि कैसे नदी तैरी और कैसे महल आ गए? देखा तो मालूम पड़ा कि यह तो सांप है जिसके सहारे तुलसीदास मकानमें आये हैं और यह मुर्दा है जिसको पकड़कर नदी पार कर पाये हैं। तो स्त्री बोलती है 'जैसा हेत हरामसे, तैसा प्रभुसे होय। चले जावो बैकुन्ठमें पल्ला न पकडे कोय॥' तुलसीदासको वहाँ सीख मिली और स्त्रीसे हाथ जोड़कर बोले कि आज से तुम हमारी माँ हो, गुरु हो और वापिस चल दिया। जितना स्नेह हम इस जड़ वैभवसे करते हैं उतना स्नेह प्रभुकी प्रभुतासे करें तो हम संसारके संकटोंसे पार हो सकते हैं। यहाँके श्रमसे कुछ लाभ न होगा।

आत्माकी आराधनामें निरपराधता—जो पुरुष आत्माकी आराधना नहीं करते हैं उन्हें तो अपराधी कहा गया है। राध मायने आराधना और अप मायने दूर हो गयी। जिसके आत्माकी आराधना नहीं है उसे अपराधी कहा गया है। मैं निरपराध होऊँ, इसके लिए कर्तव्य है कि मैं इस आनन्दपुञ्ज ज्ञानमय आत्माको भजूँ। इस ज्ञानस्वरूप आत्माको ज्ञान ही रूपमें ज्ञानसे जाना करूँ, अन्य सब विकल्पों को तोड़ दूँ, यह है आत्माकी आराधना। जो आत्माकी आराधना करता है वह निरपराधी है और इस ही सहज ज्ञानस्वरूप आत्माके ध्यानके प्रसादसे ऐसे निर्वाणको प्राप्त होता है ज्ञानी संत, जहाँ न दुःख है, न सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न जन्म है न मरण है। हम प्रभुकी उपासना करें और ऐसे ही स्वरूप

वाले आत्मतत्त्वकी आराधना करें।

> णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
> ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८०॥

परम तत्त्व—समस्त संकटोंके कारण व उपकारणोंके बुझ जानेका नाम निर्वाण है। इस जीवके परमोत्कृष्ट अवस्था मोक्षकी है। जहाँ शरीर, कर्म और रागादिक भाव सभी प्रकारके कलंक समाप्त हो जाते हैं और केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप यह परमात्मतत्त्व रहता है उस स्थितिको निर्वाण कहते हैं। यह दृश्यमान् जगजाल मायारूप है, यहाँ परमार्थभूत तत्त्व कुछ नहीं है। जैसे नाना पुद्गल स्कंधोंके मेल से ये सब कुछ जो स्थूल दिख रहे हैं, ये स्थूल परम पदार्थ नहीं हैं, इनमें जो अतिसूक्ष्म कारण अणु हैं वे अणु परमार्थ चीज हैं, ऐसे ही हम आपके आत्मामें जो राग, विकार, विचार, वितर्क, विषय कषाय, इच्छा ये तरंग उठते हैं ये परमार्थभूत नहीं हैं। ये माया हैं, इन्द्रजाल है, असार हैं, इनमें न अटक कर इन्हें असार जानकर इनकी उपेक्षा करके अपने आपमें अन्तःज्ञानानन्दस्वरूप हूं, ऐसी प्रतीति होना सो ही वास्तवमें कल्याणकारी पग है। जिनसे मिलाप होता है ये कोई सहाय न होंगे। यह तो चंद दिनोंका झमेला है। अपना पूरा पडेगा तो अपने सहज स्वरूपके दर्शनसे, आलम्बनसे, वहां ही निवास करनेसे पूरा पड़ेगा। इस गाथामें परमनिर्वाणके योग्य कौनसा परम तत्त्व है, किस तत्त्वका सहारा लें कि शान्ति हो शान्ति रहे। उसका इसमें वर्णन है और उसको जो प्राप्त कर चुके हैं, वे परमशुद्ध अवस्थामें हैं ऐसे सिद्ध भगवन्तोंका इसमें वर्णन है।

सिद्धोंकी अनिन्द्रियता व संसारियोंकी इन्द्रियरूपता—सिद्ध भगवानमें किसी भी इन्द्रियका व्यापार नहीं रहा। वह अखण्ड स्वरूप हैं, अखण्ड ही प्रदेशोंमें निवास है, उनके देह ही नहीं है, इन्द्रियां कहाँसे रहें? इन्द्रिया ५ होती हैं जिनसे संसारी जीवोंकी पहिचान होती है। संसारमें जीवोंकी पहिचानका इन्द्रिय ही एक तरीका है। पहिली इन्द्रिय है स्पर्शन। आत्मासे प्रतिपक्ष कोई पुद्गल स्कंध, कोई भौतिक पदार्थ विलक्षण आत्माके साथ जुड़ गये वही देह है और यह सारा दृश्यमान देह स्पर्शनइन्द्रिय है। स्पर्शनइन्द्रिय उसे कहते हैं जिसके द्वारा स्पर्श जाना जाय, यह ठंडा है यह गर्म है, यह रूखा है, यह चिकना है, यह कड़ा है, नरम है, हल्का है, भारी है—ये बातें जिस इन्द्रियसे जानी जायें उसका नाम स्पर्शनइन्द्रिय है। संसारका प्रत्येक जीव स्पर्शन इन्द्रियसे तो जानता है ही, पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा पेड़ ये भी स्पर्शन इन्द्रियसहित हैं, इनका जो शरीर है वह समस्त स्पर्शन इन्द्रिय है।

दोइन्द्रिय जीवका विकास—रसना इन्द्रिय जिह्वाका नाम है, जीवकी निकृष्ट स्थिति एक इन्द्रियपने की है। जब इन जीवोंका कुछ विकास होता है तब उन्हें जिह्वा वाला देह मिलता है। अब यह जीव दो इन्द्रियोंसे जानने लगा। स्पर्शन इन्द्रियसे तो स्पर्शकी बात जानता है और रसना इन्द्रियसे रस भी पहिचानता है, स्वाद आता है अब यह मुखसे खाने लगा। पहिले यह स्थावर जीव समस्त शरीरोंसे भरम लेता था। पेड़ है वह जड़ोंसे आहार ग्रहण करता है और जड़ोंसे ही नहीं, शरीरके प्रत्येक अंगसे वह रसका ग्रहण करता रहता है। सूक्ष्म स्कंध वायु मंडलमें प्राप्त जो भी इन पेड़ वगैरहके पास आता है उस योग्य सबको आहरण करता है। अब दो इन्द्रिय होने पर यह जीव मुखसे भी खाने लगा। लट, जोक, केंचुवा शंखका कीड़ा, सीपका कीड़ा आदि ये सब दो इन्द्रिय जीव हैं इनके शरीर है और मुख है।

तीन इन्द्रिय जीवका विकास—स्पर्शन, रसना व घ्राण, इन तीन इन्द्रियों द्वारा जान लेना यह जीवका अगली श्रेणीका विकास है। जब इस जीवमें ज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष बढ़ता है अर्थात् कुछ ज्ञान-विशेष जगता है। तब इसके बादका विकास होता है तीनइन्द्रिय जीवका। अभी यह जीव स्पर्शन और रसना, इन दो इन्द्रियोंसे ही जानता था, भोगता था तीन इन्द्रियां होने पर अब घ्राणसे भी ज्ञान करने

लगा। चींटा चींटीमें घ्राणका बहुत तेज विषय रहता है। कहीं मिटाई रक्खी हो तो तमाम चींटा चींटी सूँघ सूँघ कर इकट्ठे हो जाते हैं।

चार इन्द्रिय जीवका विकास—कुछ और ज्ञान बढ़ा कुछ और विकास हुआ तो इस जीवने आँखों वाला देह पाया। मक्खी मच्छर टिड्डी, ततैया ये सब चारइन्द्रिय जीव हैं। आंखोंसे भी जान सकते हैं। यहां तक सब जीव मनरहित होते हैं। केवल आहार, भय, मैथुन, परिग्रह—चार संज्ञावोंसे पीड़ित रहते हैं, उनके हित अहितका विवेक नहीं जगता। कोई शान्तिका साधन नहीं बन सकता। उनका जीवन मरण सब एक समान है। जी कर भी क्या किया, मर कर भी क्या किया ?

पञ्चेन्द्रिय जीवका विकास—अब इस विकासके बादका विकास है कर्ण इन्द्रियका। अब यह जीव कानोंसे भी जानने लगा। पंचेन्द्रियमें कुछ होते हैं मनरहित, कुछ होते हैं मनसहित। मनरहित तो विरले ही होंगे। प्रायः जिनके कर्ण हैं उनके मन हुआ करता है। पशु पक्षी ये भी पचेन्द्रिय हैं, इनके मन है। मनुष्य सम्यक्त्वमें जितना भला कर सकते हैं करीब करीब उतना भला करने की पात्रता इन पशु पक्षियोंमें है। जिस उत्कृष्ट बातको ध्यानमें लाकर यह मनुष्य बड़ा कहला सकता है, जिस ब्रह्म-ज्योतिका अनुभव करके यह मनुष्य सम्यग्दृष्टि कहलाता है उस ब्रह्मज्योतिके अनुभव करने की पात्रता इन गाय बैल आदि जानवरोंमें भी है। हालाँकि ऐसा दिखता है कि यह जानवर क्या शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, यों ही तो मनुष्योंमें भी दिखता है, कौनसा मनुष्य शुद्ध ज्ञान मार्गका आलम्बन कर पाता है, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय, मोह, राग, द्वेष ये सबके सब सता रहे हैं मनुष्योंको भी, उस ब्रह्मज्योति का दर्शन जैसे विरले मनुष्यको होता है ऐसे ही उस ब्रह्म ज्योति का दर्शन विरले पशु और पक्षियोंको भी हो जाता है। पचेन्द्रिय अवस्था तक ५ इन्द्रियोंका विकास हुआ।

निर्वाणमें इन्द्रियोंका अभाव—ये ससारी जीव इन ५ इन्द्रियोंका व्यापार करके, इनका उपयोग करके जानते हैं और अपनी कल्पनावोंके अनुसार मौज मानते हैं, लेकिन प्रभु सिद्ध भगवंत इन्द्रियके व्यापार से रहित हैं। ज्ञानमय होकर भी जब तक इन इन्द्रियोंके सहारे जानने और मौज माननेका प्रयत्न बनाता है यह प्राणी तब तक एक न एक संकट इनके सिरपर मंडराते रहते हैं। भगवानके इन्द्रियां नहीं हैं, इन्द्रियोंका व्यापार नहीं है। वे तो ज्ञान और आनन्दके पिंड हैं। हम प्रभुका ध्यान करके भव्यजीव इसी कारण शान्ति पाते हैं कि प्रभु शान्त है, आनन्दघन है, शुद्ध ज्ञानमय है, ऐसा उपयोग बनाने से हमें भी आनन्दसिंधु आत्मतत्त्वकी याद आती है और शान्ति प्रकट होने लगती है।

निर्वाणमें उपसर्गका अभाव—सिद्ध भगवंतोंके किसी प्रकारका उपसर्ग नहीं है। मोक्ष अवस्थामें कोई सता नहीं सकता। संसारमें जीव चार गतियोंमें बँटे हुए हैं, कोई नारकी, कोई तिर्यंच, कोई मनुष्य और कोई देव है। नारकी जीवका तो इस मध्यलोकमें कभी आना होता ही नहीं है। देवता लोग इस मध्यलोक में आ सकते हैं कदाचित् कभी। या तो किसी विशिष्ट पुरुषसे स्नेह हो, भक्ति हो तो आते हैं, अथवा कोई खोटे देव किसीसे बैर रखते हों तो आते हैं। यहाँ तो मनुष्य और तिर्यंच ही विशेष करके रहा करते हैं। तीन गतिके जीव यहाँ हो सकते हैं देव, मनुष्य और तिर्यञ्च। किसी किसीको देव भी बाधा देते हैं मनुष्य और तिर्यञ्च तो विशेष बाधक हैं ही। सिद्धोंको कोई बाधा नहीं दे सकता।

ससारकी दुःखरूपता—ससार दुःखोंसे भरा हुआ है, भले ही पुण्यके उदयमें कुछ दिन कोई बाधा न आये, उपसर्ग न आये, लेकिन इसका विश्वास क्या ? एक माह भी क्या, एक दिन भी पूरा ऐसा किसी का नहीं गुजरता जिसमें कोई चिन्ता न आये, कोई विपदा अनुभव न करे, कुछ अपनेमें व्यग्रता न आने दे। ऐसा एक दिन भी नहीं कटता किसीका। सब अपनी-अपनी बात जान सकते हैं, कोई कितनी ही ऊँची स्थितिमें हो लौकिक दृष्टिसे, पर इस रोगमें तो सब एक समान हैं। गरीब हो, रईस हो अशिक्षित

हो, शिक्षित हो सब पर दुःख चिन्ता शोक, शल्य हर्ष विशाद ये सब दौड़ते हुए सब पर मंडरा रहे हैं। और ऐसी स्थितिमें हम किसी भी दूसरे जीवकी कोई हरकत देख कर हम उपसर्ग समझने लगते हैं। इसने तो मुझ पर बड़ा सितम ढाया है। अपनी कल्पना बनाकर हम अपनेमें उपसर्ग अनुभव करते हैं और कभी-कभी उपसर्ग जैसी घटना भी आ जाती हैं, लेकिन भगवानके किसी भी प्रकारका उपसर्ग नहीं है। न उन्हें देव उपसर्ग कर सकें, न मनुष्य उपसर्ग कर सकें और न पशुपक्षी। प्रभु उपसर्गरहित हैं।

आत्मतत्त्वकी विविक्तता व निर्बाधता—अब जरा अपने आपके स्वरूपमे भी निहारो। जो हम आप स्वयं स्वतः सहज अपने स्वरूप हैं उस स्वरूपको निहारो, अन्य बातें उसके साथ न देखना। देह मैं नहीं हूं, देहकी दृष्टि करके, देहका मिश्रण करके अपने आपको न देखना। इस देह देवालयमें विराजमान् यह मैं आत्मतत्त्व ऐसा शुद्ध चित्प्रकाशमात्र हूं कि जिसमें किसी दूसरे पदार्थका प्रवेश ही नहीं है, इस आत्म-स्वभावमें भी उपसर्ग नहीं है, इसे कोई सता नहीं सकता। किसी को कोई दूसरा सताता नहीं है। खुद ही खुदको सताया करता है यह बात यथार्थ सत्य है। यह सोचना कि मुझे अमुकने सताया है कोरा भ्रम है, कोई सता ही नहीं सकता है। हम अपनी कल्पना बनाते हैं, हम अपनी इस पर्यायपर दृष्टि डालते हैं, हम अपने अज्ञानका नृत्य करते हैं और उस अज्ञान दशामें हम यह अनुभव करने लगते हैं कि मुझे अमुकने सताया है, मुझे दूसरा कोई सता ही नहीं सकता।

परके द्वारा परमें बाधाका अभाव—आप कहेंगे वाह! कोई गाली देकर सता तो सकता है, पर कोई नहीं सता सकता। यदि कोई दूसरा पुरुष हमें सता सकता है तो वह सबको सता सकेगा, किन्तु कोई कल्पना करके अपना उपसर्ग अनुभव करता और कोई विशिष्ट ज्ञानी अपनेमें उपसर्ग नहीं अनुभव करता जितने भी क्लेश होते हैं अपने को वे अपने अज्ञानसे होते हैं, यह बात अपने उपयोगमें निर्णय करके रखलो। यह चिन्तन, यह भावना सदा काम देगी। आप किसी भी स्थितिमें हों, किसी भी जगह हों, जब कभी कोई व्यग्रता आये तो इस मन्त्रको सामने रखलो कि मुझे यह व्यग्रता हुई है तो उसमें मेरा अज्ञान ही अपराध है, मैं किसी दूसरी वस्तुसे अपना सम्बन्ध जोड़ रहा हूं और उसीसे राग और द्वेषकी स्थिति मुझमे घट रही है, इसीसे व्यग्रता है।

अपने अपराधका ही क्लेशानुभव—अब इस स्वतन्त्रताके मन्त्रका आधार लेकर अपने आपमें झुकें और अपनी गलती खोजें। प्रत्येक उपसर्गमे गल्ती अपनी है। यह भी बात एक प्रमाणभूत है। प्रत्येक क्लेशमें अपराध हमारा ही है। हम दूसरोंसे कोई आशा रक्खें, सम्मानकी आयकी, रोजिगारकी, अथवा अन्य विषयके साधनोंकी और उनकी पूर्ति न हो सके तो हम ही तो अकेले कल्पना बनाकर दुखी हो जाते हैं। सभी जीव अपने-अपने स्वरूपके राजा हैं, कोई जीव किसी दूसरेके आधीन नहीं है। जो आधीन बनता है वह भी अपनी स्वतंत्रतासे परतंत्र बनता है। किसी जीवका गुण, पर्याय, शक्ति दूसरे पर आ जाय ऐसा नहीं होता है। हम ही रागके वश होकर अपने आपके आधीन बन जायें। हमारी परतंत्रता हमारी स्वतंत्रतासे ही होती है, जब भी जो क्लेश हों उन सब क्लेशोंमें अपने अपराधको ढूंढिये, यह मार्ग शान्ति देगा। दुखी तो हुए हम, दूसरेके अपराध ढूंढे, इसने यों किया, यों कष्ट पहुंचाया। अरे उसने तो अपनी बुद्धिके अनुसार अपना परिणमन किया, मेरेमें कुछ नहीं किया, इसी को कहते हैं अद्वैत मार्गका अनुसरण। हम अपने आपमें अपनी ही गल्ती देखें और उस गल्तीको दूर करें और अपने इन गुणोंके उपवनमें विहार करें तो अशान्ति दूर होगी। इस आत्मामें देव, मनुष्य, तिर्यञ्च किसी भी चेतनके द्वारा उपसर्ग नहीं होता।

निर्वाणमें विस्मयादिक दोषोंका अभाव—इस आत्मामें मोह नहीं है। मोह तो बनाया जाता है। मोह करना मेरे आत्माका स्वरूप नहीं है। यह जीव निर्मोह है, प्रभु ही निर्मोह है। इस जीवमे स्वभावसे कोई

आश्चर्यकी दशा नहीं है। कोई जीव बाह्य प्रपंचोंमें लगे तो उसे आश्चर्य होगा, पर जो बाह्य प्रपचोंसे विमुख है उसके कोई आश्चर्य नहीं। प्रभुमें निद्रा नहीं, उनका ज्ञान तो सदा जगा हुआ है। असाता वेदनीयका विनाश हो जाने से उनमें क्षुधा और तृषाका रोग नहीं है। यों इस परम ब्रह्मस्वरूपमें निर्वाण बसा हुआ है। जो विशेषता भगवानकी है वह विशेषता हम आपके अन्तरमें स्वभावसे पड़ी हुई है। हम उस स्वभावका उपयोग करें तो हम सबमें प्रभुकी प्रभुता प्रकट हो सकती है। भगवानमें रोग जन्म मरण बुढ़ापा किसी भी प्रकारकी वेदना नहीं है। अब उनका आवागमन भी संसारमें न होगा, वह शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्दके पिण्ड हुए हैं।

गुरुचरणकमल प्रसाद—जो निर्मल चित्त वाले पुरुष हैं, जिन्हें सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ है वे इस देहमें रहकर भी इस तत्त्वका अनुभव कर लेते हैं। यह सब गुरुवोंके चरण कमलोंकी सेवाका प्रसाद है। जैसे कितनी ही बातें पुस्तकोंमें लिखी हैं, पर मास्टर उन्हें न बताये तो उनका विशद बोध नहीं होता है। केवल पुस्तक देखनेसे जो बोध होता है उससे भी अधिक बोध कोई बताए और इस आधार पर कुछ समझाये तो विशेष बोध होता है। ऐसे ही हमारी आचार्य परम्पराके जो शास्त्र हैं उनमें सब बातें लिखी हैं फिर भी उनके मर्मका अनुभव कोई गुरु समझाये तो वहाँ विशेष अनुभव जगता है। यों यह आत्मतत्त्व का अनुभव हमें गुरुवोंके चरण कमलकी सेवाके प्रसादसे प्राप्त होता है। जिस ब्रह्ममें, जिस आत्मतेजमें जो कि अनुपम गुणोंसे अलंकृत है, जहां ज्ञान, दर्शन, आनन्द चैतन्य प्रकाश ये समस्त चमत्कार पडे हुए हैं, जो शुद्धरूपमें विकसित हो तो समस्त विश्वको भूल जाय, ऐसा जिसका ज्ञान है, ऐसे सिद्ध भगवंतोंमें इन्द्रियकी विषमता रंच नहीं है, यहाँ राग द्वेषका कलंक रंच नहीं है, केवल एक निर्वाण ही है, ऐसे ब्रह्म-स्वरूपमें मेरी बुद्धि निरन्तर बसो।

ज्ञानमय उपयोगका निवास्य धाम—भैया! हम अपना चित्त कहाँ स्थापित करें कि हमको परम शान्तिका अनुभव हो, उसकी बात यहां कही जा रही है। एक तो परमात्मामें अर्थात् शुद्ध ज्ञानानन्दके पिंडमें अपना चित्त बसावो और एक अपने इस अंतःस्वरूपमें जो स्वभावसे प्रतिभासमात्र है वहाँ अपना चित्त बसावो। आत्मा और परमात्मा—इन दोनोंके स्वरूपमें चित्त रहेगा तो अशान्ति उपसर्ग संकट विह्वलता ये सब समाप्त होंगे।

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

उपाधियोंका संसारी जीवोंके सद्भाव व निर्वाणमें अभाव—जीवोंके २ प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं—एक संसार अवस्था और एक मुक्त अवस्था। हम आप सब जीव संसार अवस्थामें हैं। संसार अवस्था उसे कहते हैं जहां जीवके साथ कर्म लगा हो, शरीर लगा हो, रागद्वेष विषय कषाय, चिन्ता अनेक प्रकार की अन्तरमें बाधाएँ चल रही हों वह संसार अवस्था है और मुक्त अवस्था उसे कहते हैं जहाँ कर्म शरीर सक्लेश, क्लेश सुख दुःख जीवनमरण आदिक दोष एक भी नहीं रहते हैं। संसार अवस्था निकृष्ट अवस्था है। इस अवस्थामें हम आप कुछ सुयोगवश आज अच्छी स्थितिमें आये हैं, मनुष्य हुए हैं, श्रेष्ठ मन मिला है। दूसरेके भावको हम समझ सकते हैं, अपने भावको हम दूसरेको बता सकते हैं। इतनी श्रेष्ठ अवस्था मिली तो है, किन्तु इसका विश्वास नहीं है कि यह अवस्था हमे आगे भी मिलेगी। देखिये पशु पक्षी आपसमे कहीं बैठ भी जाये तो भी एक दूसरेको अपना भाव जताने में असमर्थ हैं, न वे कहीं भाषण दे सकते हैं, न आपसमें बातें कर सकते हैं। इस नरदेहमें अनेक कलायें विकसित हैं, किन्तु उस सुखका हम क्या हर्ष मानें जो सुख आसक्तिसे भोगे जानेके कारण आगे कोई बड़े दुःख रूपमें प्रकट होगा। मोही जीवोंको भविष्यके दुःखोंका ध्यान नहीं है इस कारण सुखमें हर्ष मानते हैं। ध्यान आ जाय

कि इसका फल बहुत बुरा है तो उस सुखमें आसक्ति न हो सकेगी।

मुग्ध मानवका अशुभ ध्यान और प्रयत्न—इस मनुष्यभवमें कितने प्रकारके नाना मौज माने जा रहे हैं, यह मौज भी क्षोभरूप है इनमें विशुद्ध आनन्द नहीं है, बाहरी तत्त्वोंमें इनका उपयोग फँसता है। बाहरी तत्त्वोंसे भीख मांगते हैं, आशा बनाते हैं, मुझे विषयोंसे सुख मिलेगा, मुझे लौकिक यशसे आराम मिलेगा, सो जनताके भी आधीन बनना है अन्तरङ्गसे व नाना क्लेश पाया करता है। वर्तमानमें भी तो इन सासारिक सुखोंमें आनन्द नहीं है। भावी कालमें तो इन छोटे मौजों के मानने का फल अति भयानक होगा। न हुए मनुष्य, हो गये पशु पक्षी अथवा कीड़े मकौडे तो वहाँ क्या स्थिति होगी? आज तू अपनी झूठी पोजीशन सभाल रहा है, आगा पीछा कुछ नहीं विचारता है, दूसरे के सम्मानकी भी अवहेलना कर देता है, जिस प्रकारसे यश बढ़े, अथवा विषय साधन बनें वैसा ही यत्न किया करता है।

विमोच्य विभावपरिणमन—हे आत्मन्! अब उद्दण्डतासे विराम ले, देख तेरी अवस्था दो प्रकारकी होती है—एक ससार अवस्था और एक मुक्त अवस्था। तू संसार अवस्थामें आराम मत मान। तेरे आराम का साधन मुक्त अवस्था ही है। अपने आपमें ऐसी भावना बना कि मुझे ससारके सकटोंसे मुक्त होना है; शरीर और कर्मोंके बन्धनसे विमुक्त होना है। उस मुक्त स्थितिमें क्या रहेगा? उसका इस गाथामें वर्णन चल रहा है। निर्वाणमें कर्म नहीं हैं, कर्म उसे कहते हैं जो बनावटका परिणाम करे। जो स्वाभाविक चीज होती है, वह की नहीं जाती वह तो होती है। जो की जाने वाली बात है वह बनावटी होती है। कौन राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, काम विकार ये स्वभावतः किया करता है, ये आत्मामें नहीं होते हैं, होने वाली बात अच्छी है और की जाने वाली बात अच्छी नहीं होती है। किन्हीं प्रतिपक्षी तत्त्वोंकी प्रेरणासे करना पडता है। वह स्वाभाविक चीज नहीं है।

कर्म और क्लेश—जो परिणाम किया जाय उसका नाम कर्म है, आत्मा जानता है इसका नाम कर्म नहीं है क्योंकि आत्माका जाननेका स्वभाव है। आत्मामें जानन अपने आप हो रहा है। इस ससार अवस्थामें इस कमजोर स्थितिमें हम आप जान बूझ कर प्रयत्न लगाकर दिमाग लगाकर जो जानते हैं यह जानना तो कर्म बन गया है, पर प्रयत्न लगाये बिना कुछ तरंग उठाये बिना अपने आपमें जो स्वयं जानन होता है वह जानन कर्म नहीं है। कर्मोंकी प्रकृति क्लेश पहुचानेकी होती है। हम विकल्पपूर्वक जानें उससे भी क्लेश होता है ऐसे जाननके साथ जो रागांश लगा है वह कर्म है। हम विकल्पपूर्वक जानें अनुराग करें, राग विरोध करें उससे भी क्लेश होना है। आत्मामें क्लेश न हो उसका सुगम उपाय आत्मविश्राम है। श्रमसे कष्ट होता है. श्रम दूर करनेसे विश्राम मिलता है, यह मैं आत्मा कर्मोंसे रहित हू, मेरा स्वभावमात्र लोक अलोकको जानने देखनेका है। जानन देखनेके अपने बड़प्पनसे कुछ और आगे बढे, परपदार्थोंमें कुछ चाह की, बस वहीं बन्धन हो गया।

ज्ञानाश्रय बिना सर्वत्र ठोकरें—यह मैं आत्मस्वरूप स्वय अपने आप कैसा हू, इसका इस समय वर्णन चल रहा है। यह अपने अन्तस्तत्त्वके एक मर्मका प्रतिपादन है, जब हम अपने आपमें भीतरी तत्त्वको नजरमें न ले सकेंगे, ज्ञानदृष्टिमें न सभाल सकेंगे तब तक फुटबालकी तरह यहाँसे वहाँ ठोकर खा-खा कर भटकना ही पडेगा। हम जिन बाह्य पदार्थोंको अपने समीप लेना चाहते हैं, जिन जीवोंकी हम शरण पहुँचना चाहते हैं सुखकी आशासे उन सब जीवोंसे उन सब पदार्थोंसे हमें ठोकर ही मिलती है, शान्ति नहीं मिलती। कोई ठोकर सुहावनी लग रही है, कोई असुहावनी लग रही है, किन्तु बाह्य पदार्थोंके संग प्रसगसे इस आत्माको ठोकर ही मिलती हैं। शान्ति तो इस आत्मामें अपने आप मौजूद है, उल्टा जो कदम बढ़ाया है उसे बंद करदें तो शान्ति आनन्द अभी भी स्वय अपने आप है।

न कुछ सी बातपर विसवादका तूमाल—मैं आत्मा तो केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हू, पर मान रक्खा है

देहको लक्ष्यमें लेकर कि 'यह मैं हूं।' बस इस बड़ी भूलके मूल पर यह विशाल संसारवृक्ष खड़ा हो गया है, जैसे कभी-कभी न कुछ सी बातपर यहाँ भी झगड़ा बढ़-बढ़ कर बहुत बड़ा हो जाता है, यहाँ तक कि किन्हीं दो भाइयोंमें यदि झगड़ा बढ़ जाय तो दोनों अपनी लाखोंकी जायदाद बरबाद कर डालें। उनसे पूछा जाय बादमें कि क्यों भाई! इतना झगड़ा क्यों बढ़ गया? तो वे बतावेंगे। अच्छा इसका कारण क्या हुआ, ऐसा पूछते जावो तो अन्तमें उसका कारण ऐसा तुच्छ मिलेगा कि जिसको सुनकर आपको हँसी आयेगी। तुच्छ कारणसे प्रारम्भ होकर यह झगड़ा खड़ा होता है और बढ़ बढ़कर बहुत बड़ी विपदावोंका रूप रख लेता है। जैसे मान लो दो भाइयोंके बँटवारे पर दो चार इंच भूमि पर विवाद हो गया, बड़ी-बड़ी चीजोंका झगड़ा तो निपट गया पर तीन चार इंच भूमिपर मैं मैं तू तू हो गया, विवाद बढ़ गया, मारपीट हो गयी, मुकदमा चल गया। बढ़ते-बढ़ते दोनोंने अपनी लाखोंकी जायदादको बरबाद कर डाला। इतनी बड़ी विपदाका सबसे मूलमें कारण कितना था? बहुत छोटा, जिसको सुनकर हँसी आ सकती है।

काल्पनिक मूल त्रुटिपर ससरणजालका प्रसार—हम आप सबका कितना बड़ा झगड़ा बढ़ गया है? कहाँ तो यह सारे लोकको जानने की शक्ति रखने वाला, अनन्त आनन्दमें मग्न रह सकने वाला आत्मा भगवान है और कहाँ आज यह स्थिति है कि नाना शरीरोंमें, देहोंमें जन्म और मरण करना पड़ता है और उस जीवनमें अनगिनते दुःखोंको भोगना पड़ता है। इतनी दयनीय अवस्था हम आप आत्मावोंको क्यों हो गयी, इसका कारण क्या है? कारण बताने चलें। हम लोग कषाय करते हैं इस कारण इतना झगड़ा खड़ा हो गया है। कषाय क्यों करते हो? हम लोगोंकी जो इच्छा है उसकी पूर्ति नहीं हो पाती है इसलिए कषाय करते हैं। भाई इच्छा क्यों करते हो? अजी इच्छा किए बिना विषयोंके साधन भी तो नहीं जुटाये जा सकते। इच्छा करनी पड़ती है, विषयोंके साधन जुटाने पड़ते हैं। यह भी क्यों? इस देहको पोषनेके लिए और दुनियामें इस देहकी इज्जत रखने के लिए, लोग कह दें कि यह भी कोई व्यक्ति है। इतने दो शब्द सुनने के लिये इतनी बड़ी आकुलतावोंमें पड़ना पड़ता है। यह भी क्यों? 'यह देह मैं हूं' ऐसी बुद्धि हुई है। तो मूलमें भूल इतनी है कि हम अपने विशुद्ध स्वरूपको नहीं मान सके कि यह मैं हूं और उन तत्त्वोंसे जो भिन्न है, जो उसके लिए कलकरूप हैं, मान लिया कि यह मैं हू, इस देहमें 'मैं हूं' ऐसी श्रद्धा हुई कि एक इस मामूली भूलके ऊपर इतने सारे सकटोंकी विपदा खड़ी हो गयी है। जन्म मरण बढ़ते चले जा रहे हैं।

शान्तिके अर्थ यथार्थ श्रद्धाकी अनिवार्यता—बतावो भैया! जगत्के नाना जीवोंमें से दो चार जीवोंको मान लिया कि ये मेरे हैं—मेरी स्त्री है, मेरा पुत्र है, यह भी कैसा पागलपन है? अरे जैसे जगतके सब जीव हैं ऐसे ही ये भी हैं। हालांकि इस स्थितिमें व्यवस्था करना है, मानना भी पड़ता है पर भीतर श्रद्धामें तो यह बात नहीं रहनी चाहिए कि मेरे तो सब कुछ ये ही हैं। भीतरी श्रद्धा इतनी स्पष्ट होनी चाहिए, जो श्रद्धा साधुवोंमें स्पष्ट रहती है, योगीश्वरोंके स्पष्ट रहती है उतनी विशुद्ध श्रद्धा गृहस्थावस्था में भी होनी चाहिए। करनेकी बात अलग है। कौन किस अवस्थामें कहाँ तक साधना कर सकता है? यह उसकी स्थितिकी बात है, किन्तु श्रद्धा उतनी ही निर्मल होनी चाहिए जितनी निर्मल योगीश्वरोंके होती है। ज्ञानमात्र हम हैं, बड़े-बड़े योगीश्वर भी ज्ञानमात्र हैं। ज्ञानका काम जाननेका है। जो बात यथार्थ है उसको हम जानना चाहें तो कौन रोक सकता है।

आत्मतत्त्वकी कर्म नोकर्मसे विविक्तता—भैया! अपने आत्मस्वरूपका परिज्ञान हुए बिना ससारके संकटोंसे हम मुक्त नहीं हो सकते। भला क्या कष्ट है सही बातको जाननेमें? कोई शरीरमें वेदना होती है कि रोग बढ़ता है? कुछ भी तो कष्ट नहीं है। अरे अपनी विचारधारा तो वस्तुके सही स्वरूपमें लगाने

की होनी चाहिए। यदि हो सके तो यह सच्चा बड़प्पन करलें। इस आत्मतत्त्वके कर्म नहीं हैं व इन कर्मों का कारणभूत पौद्‌गलिक कर्म भी नहीं है। यह मैं आत्मा त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप हूं। प्रत्येक पदार्थ स्वयंके रूप हैं, वे खुद जैसे हैं तैसे ही हैं। प्रत्येक पदार्थ प्योर, केवल, खालिस रहते हैं। प्योरका अर्थ भावरूपसे पवित्र मान रक्खा है, पर प्योरका सीधा अर्थ पवित्र नहीं है। खालिस, केवल, वहीका वही अर्थ है। चौकी पर किसी पक्षीका बीट पड़ा हो तो आप किसी को आज्ञा देते हैं कि चौकीको पवित्र कर दो, शुद्ध कर दो। शुद्ध करने वाला क्या करेगा ? यह करेगा कि चौकीके अलावा जो गैर तत्त्व इस पर लिपटा है उसको अलग कर देगा, धो धा देगा। लो चौकी शुद्ध हो गयी। इस शुद्धका अर्थ क्या है ? चौकीमें चौकी ही रही। चौकीके अलावा किसी चीजका सम्बन्ध नहीं रहा, इसही के मायने शुद्ध करना है। आत्माको शुद्ध करलो, इस शुद्ध करनेका अर्थ क्या है, आत्मामें आत्मा ही रहो। आत्माकी बात आत्मामें ही रहे। जो गैर बात लग गयी है उसे दूर कर दिया जाय, इसीके मायने आत्माका शुद्ध करना है।

आत्मनिजभाव व आत्मपरभाव—आत्मामें गैर चीज क्या लगी है ? यह समझनेके लिए आत्मामें आत्माकी चीज क्या हुआ करती है, यह जानना होगा। आत्मामें जो अपनी बात है वह निरन्तर रहेगी और एकस्वरूप रहेगी। जो गैर वाली बात है वह नाना रहेगी और कभी रहे, कभी न रहे। बस इस ही स्वरूपके आधार पर निर्णय कर लीजिए। आत्माका स्वरूप क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोंरूप रहना है क्या ? इनमें घटाव बढ़ाव होता है, ये क्या सदा रहते हैं ? अभी क्रोध हुआ, थोड़ी देरमें मान हुआ, माया हुआ, लोभ हुआ। ये बदलते रहते हैं, सदा नहीं रहते। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, किन्तु ज्ञानस्वभाव एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश ये आत्मामें सदा रहते हैं। कोई भी स्थिति हो, आत्मा ज्ञानसे शून्य नहीं रहता है, इस कारण ज्ञान तो हमारा धर्म है, किन्तु क्रोधादिक भाव अधर्म हैं। हम अधर्मको प्रोत्साहन न दें, अधर्मसे दूर होनेकी भावना रक्खे, धर्मके अभिमुख हों, धर्मको समझें तो इस ही से हमारा विकास होगा। इसमें ही बड़प्पन होगा।

आत्मतत्त्वमें असहज भावोंका अभाव—मुझ आत्मामें कोई उपाधि ही नहीं लगी है, इसलिए शरीर भी मुझमें नहीं है, प्रभु तो व्यक्त ही शरीररहित हैं, कर्मरहित हैं, वे सर्वज्ञ हैं, मनकी प्रवृत्ति उनमें नहीं है इस कारण वहाँ चिन्ता नहीं है। यहाँ भी मेरे स्वरूपमें चिन्ता शोकका काम नहीं है, ये सब बनाये जाते हैं, मुझमें होते नहीं हैं। कल्पनाएँ करते हैं और बनाते रहते हैं। इसमें औदयिक आदि कोई विभाव नहीं, आर्तध्यान, रौद्रध्यान इस आत्मामें नहीं हैं, धर्मध्यान व शुक्लध्यान भी इसके सहज भाव नहीं हैं। दुःखमयी ध्यानको आर्तध्यान कहते हैं। झूठे मौजके ध्यानको रौद्रध्यान कहते हैं। इष्टका वियोग होने पर, अनिष्टका संयोग होने पर, शारीरिक वेदना आने पर तृष्णा और इच्छाके बढ़ानेपर रौद्रध्यान होता है। ये सब इस मुझ आत्मामें स्वभावरूप नहीं हैं, ये बनावटी हैं। मुग्ध प्राणी हिंसा करते हुए मौज मान रहे हैं। झूठी गवाही देनेमें मौज मान रहे हैं, किसीकी चीज चोरी करनेमें, अथवा जबरदस्ती छीन लेनेमें मौज मान रहे हैं, विषयोंके साधनोंमें परिग्रहोंके संचयमें खुशी मान रहे हैं। ये सब रौद्रध्यान हैं, ये सब खोटे ध्यान हैं। इन ध्यानोंको यह जीव मोहकी प्रेरणा बनाकर किया करता है। मुझ आत्माका स्वरूप इन खोटे ध्यानोंका नहीं है।

अपने परमार्थ कुलकी उज्ज्वलताका यत्न—भैया ! अपने कुलकी बातको पहिचानो। हमारा कुल है चैतन्यस्वरूप, जिस कुलमें बड़े-बड़े तीर्थंकर पुराण पुरुष हो गए हैं उस कुलमें हम आप आज अच्छी स्थितिमें आये हैं। अपने पुराण पुरुषोंके कुलमें विकारमें ही जीवन बितानेकी परम्परा नहीं रही है। और की बात तो जाने दो, जिन्हें लोग बड़ी अच्छी वृत्ति बताते हैं। दया परोपकार, धर्मध्यान, पूजन,

वृदन ये सब भी मेरे आत्मामें स्वभावतः नहीं हैं। कोई बनावट सुहावनी होती है, कोई बनावट असुहावनी होती है। जहाँ एक भी दोष नहीं रहा उसे निर्वाण कहते हैं। निर्वाणमें ही महान् आनन्द है। संसार अवस्थामें आनन्द नहीं है, इस कारण केवल विषय भोगोंके लिए ही अपना जीवन न समझें किन्तु धर्म-ध्यान करके उस ज्ञानकी उपासना करके सदाके लिए इन झंझटोंसे मुक्ति पानेका उद्यम बनाएँ।

निर्वाणकी निर्दोषता—जो पुरुष निर्वाणमें स्थित है, जिसने पापांधकारका विनाश किया है, जो विशुद्ध है, उस परमब्रह्ममें एक भी अवगुण नहीं है। भगवान ज्ञानपुञ्जका नाम है। हाथ पैर मुँह शकल का नाम भगवान नहीं है, भले ही चूँकि मनुष्य ही भगवान बनते हैं या मनुष्य देहसे भगवत्ता प्राप्त होती है लेकिन वह देह ही स्वयं भगवान नहीं है। उस देहमें स्थित पवित्र आत्मा कर्मोंका विनाश करके प्रभुता पा गया है, पर प्रभु तो विशुद्ध ज्ञान और आनन्दका नाम है, जहाँ रंच भी आकुलता नहीं, जहां समस्त विश्वका जाननहार ज्ञानप्रकाश होता है ऐसा जो ज्ञानप्रकाश है उसे प्रभु कहते हैं।

प्रभुदर्शनका उद्यम—निर्दोष, गुणपुञ्ज प्रभुकी पूजा आराधना करना है तो हम भी अपना उपयोग ज्ञानप्रकाशरूप बनाएँ तो हम उनके दर्शन कर सकते हैं। हम मोह ममतारूप तो अपना चित्त बनाएँ और प्रभुके दर्शनकी आशा रक्खें, यह तो बालूमें तेल निकालने की तरह है। हम प्रभुके दर्शन करना चाहते हैं तो जैसे प्रभु ज्ञानानन्दस्वरूप हैं, निर्विकल्प हैं, हम भी अपनी शक्ति माफिक व अपनी पदवी माफिक विकल्पोंको दूर करके किसी क्षण आत्मविश्राम लें, मैं ज्ञानमात्र हूं, आनन्दमय हूं ऐसी बारबार भावना बनाएँ, इस ही ओर अपना झुकाव बनाएँ तो इस अन्तरंग वृत्तिमें जो निर्विकल्प स्थिति होगी, उस स्थिति में इस शुद्ध ज्ञानपुञ्ज प्रभु भगवानका दर्शन होगा।

प्रभुनैकट्यमें संकटोंका विघटन—हम मोहियोंके निकट बस कर कुछ हस्तगत नहीं कर पावेंगे और इस प्रभुताके निकट रहें तो अनुभव करके देख लो कि बहुतसे संकट आपके तुरन्त समाप्त हो जावेंगे। जिस प्रभुकी चर्चामें ही इतना आनन्द बसा है फिर उस प्रभुके ध्यानमें जो अनुभव हो जाय उसके आनन्द का क्या कहना है? हमारा कर्तव्य है कि इस संसार अवस्थामें संतोष न मानें। कितना ही सुखका समागम मिला हो। आत्मीय आनन्द जो ज्ञानके अनुभवमें प्रकट होता है, उस आनन्दके पानेका पुरुषार्थ करो।

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥१८२॥

निर्वाण प्रभुके केवलज्ञान है, केवल सुख है, केवल वीर्य और केवल दर्शन है। प्रभुमें ये सब गुण उत्कृष्ट विकसित हुए हैं और अमूर्तत्व केवल अस्तित्व, सप्रदेशत्व आदि भी स्पष्ट शुद्ध विकासमान हो चुके हैं। भगवान सिद्धके स्वभावगुणोंका स्वरूप इसमें बताया है।

अनन्त ज्ञान—भगवानके अनन्त ज्ञान है अर्थात् वह ज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकको जानते हैं और तीन कालके समस्त परिणमनोंको भी एक साथ जानते हैं, जब कि हम लोगोंका ज्ञान केवल सामनेकी वस्तु नियत बुद्धि और कुछ नियत काल तकका ही ज्ञान होता है। ज्ञान कला तो है। यदि सत्पथ मिल जाय और उस ज्ञानके विकासका योग मिल जाय तो यही ज्ञान प्रभुवत् पूर्ण केवलज्ञान हो सकता है। जैसे कोई घोड़ा कुपथपर चलता हो, जिसे लोग ऊधमी कहते हैं, कुढंगा चलता है, सही रास्तेपर नहीं चलता है पर चलनेकी उसमें कला तो है, चल तो सकता है। जिसमें चलनेकी कला है उसकी उस कुपथकी चालको बदलकर सुपथकी चाल लाई जा सकती है किन्तु जो काठका घोड़ा है जिससे बच्चे खेलते हैं या एक लाठी ले लो, टांगोंके बीच और कह दिया कि यह घोड़ा है, उस घोड़ेमें तो चाल ही नहीं है, उसे न सुपथ पर चलाया जा सकता है और न कुपथपर। जिस घोड़ेमें चाल है वह

आज कुपथपर है तो कभी सुपथपर हो जायेगा, ऐसे ही हम आपके आत्मामें चाल तो यही है। जानते तो हैं पर कम जानते हैं, पराधीन होकर जानते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा जानते हैं, कभी हम इन्द्रियोंके बिना भी केवल आत्मीय शक्तिसे अपनेको पहिचान जायेंगे तो आत्मस्थिरता द्वारा अनन्तज्ञानी होवेंगे।

आत्माश्रित परमध्यानके प्रसादसे अनन्त विकास—जब यह निकटभव्य जीव, जीव-निजको निज परको पर जाननेके बलसे परपदार्थोंसे उपेक्षा करके समस्त प्रयत्नोंके साथ अपने अतस्तत्त्वकी ओर झुकता है तब वहाँ आत्माके ही आश्रयसे निश्चय धर्मध्यान प्रकट होता है। शुक्लध्यानका अर्थ है सफेदध्यान। अर्थात् जहाँ कोई दोष नहीं, कोई धब्बा नहीं, साफ स्वच्छ केवल आत्माश्रित ध्यान है। ध्यानके होने पर ज्ञानावरणादिक ८ कर्मोंका विलय हो जाता है। तब भगवान सिद्ध परमेष्ठीके केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य, केवल आनन्द, पूर्ण अमूर्तपना अर्थात् पहिले संसारावस्थामें शरीरके सम्बन्धसे और औपचारिक मूर्तता थी वह भी अब नहीं रही, अब तो वे सिद्ध हो गये, समस्त स्वाभाविक गुण सिद्ध प्रभुके प्रकट हो चुके हैं।

शुद्ध उपयोगका प्रताप—भैया! किससे रागद्वेष करते हो, ये राग द्वेष खुद असहाय हैं, बहुत देर तक टिकने वाले नहीं हैं, जिस काल रागरूप परिणाम हुआ, हो गया, बादमें निकल गया। अब मलिन परिणाम है, लो मिट गया कि दुबारा राग परिणाम बना, पर सिद्ध प्रभुके तो स्थिर भाव है। वह शुद्ध ज्ञान जो सदा एक समान ही प्रकट रहेगा। बधके छेद होने पर भगवानके यह केवलज्ञान अत्यन्त विकास के साथ प्रकट हुआ है, यह सब शुद्धोपयोगका माहात्म्य है। रागद्वेष करनेका यह माहात्म्य है जो संसारमें दिख रहा है—दुःख, क्लेश, संक्लेश विडम्बना, विपदा। अपना उपयोग शुद्ध करनेसे, रागद्वेषसे रहित केवलज्ञान प्रकाशमात्र अपने आपको अनुभवमें लेनेसे प्रकट होती है यह सिद्ध पर्याय। इस शुद्धोपयोग अधिकारमें शुद्धोपयोगका स्वरूप और शुद्धोपयोगका फल इन दोनोंका वर्णन चल रहा है।

संसारसमागमकी अरम्यता—हम आप संसार अवस्थामें हैं, निकृष्ट दशामें हैं। इस निकृष्ट दशामें जब तक घृणा नहीं होती है अर्थात् यह हेय है जब तक यह बुद्धि न जगे तब तक मुक्त दशाकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। जो पुरुष अपनी इन अहित दशावोंमें ही मस्त हैं वे उससे ऊपर कैसे उठ सकेंगे? हमें यह चाहिए कि हम जिन परिणामोंमें रहा करते हैं उन परिणामोंमें मग्न न हों। यह सब धोखा है, इससे भविष्यकालमें क्लेशजाल सहने की परम्परा रहेगी। हम अपनी इस स्थितिमें संतोष न मानें और जो अन्तःस्वरूप है उसके दर्शनके लिए प्रयत्नशील रहें। मोह तो रंच आना ही न चाहिए गृहस्थको भी। साधुजनोंकी निर्मोहताकी बात तो सही है ही, मगर जो सद्गृहस्थ हैं उनके भी परिजनमें मोह नहीं होता है। व्यवस्थाएँ करनी पड़ती हैं, पर मोह उनमें नहीं होता।

राग और मोहका विवेचन—भैया! रागमें और मोहमें तो महान् अन्तर है। मोहमें जहाँ यह विश्वास रहता है कि मेरी जिन्दगी इनके सहारे है मेरा अस्तित्व इनके सहारे है, मेरा सुख, मेरा ज्ञान, मेरा बड़प्पन सब इन लोगोंके कारण है, हम परिवारसे भरे पूरे हैं तो हम बड़े कहलाते हैं। इनसे ही हमारा सुखमय जीवन है। मोहमें ऐसा विश्वास बनता है और इस मुग्ध विश्वासके कारण वह पुरुष पद-पदपर दुःखी होता है, क्योंकि उसने अपनेको परका अधिकारी माना। जब उसने यह देखा कि मेरे अनुकूल नहीं चलता तो कर्तृत्वबुद्धि बनानेके कारण उसे खेद होता है। अज्ञानी पुरुष तो अपनी इच्छाके प्रतिकूल परिणमन देखकर दुःखी होता है और अपनी इच्छाके अनुकूल परिणमन देखे तो वहाँ क्षोभ करता है।

अन्तःपुरुषार्थ बिना प्रभुदर्शनकी अशक्यता—पूर्ण आनन्दका धाम तो भगवान है। यदि भगवान आनन्द के धाम हैं ऐसा ख्याल नहीं रखते, ये शुद्ध ज्ञानके विकास हैं, ऐसा ध्यान नहीं करते तो हमें फिर यह

बतलावो कि भगवानको पूजा कहाँ ? जैसे गृहस्थोंमें कोई बड़ा ऊँचा धनी हो या इतिहासमें प्रसिद्ध कोई बड़ा कर्मठ नेता हो उनको जैसे लोग आज प्रभुके रूपमें मानने लगे हैं ऐसा ही कोई प्रभु होगा जिसका कि आप ध्यान करते होंगे। प्रभु ज्ञान और आनन्दका शुद्ध विकास है। उसकी उपासना हम सब ही कर सकते हैं। जब हमारा लक्ष्य भी शुद्ध ज्ञान और आनन्दके विकास करनेका बन जाय। जब तक हमें शुद्ध ज्ञान और आनन्दके विकासका प्रयोजन नहीं जगता तब तक हम प्रभुकी पूजाके वास्तविक पात्र नहीं हैं। जब तक चित्तमें कुटुम्ब पोषण, धनवृद्धि, इज्जतका लाभ, लोगोंमें सम्मान, इन मौजोंका ही प्रयोजन रहता है तब तक न प्रभुको हम पहिचान पाये हैं और न प्रभुकी पूजा करनेके पात्र हैं। जब तक संसार शरीर और भोगोंसे विरक्ति नहीं जगती है तब तक हम धर्मके कहाँ पात्र हैं।

आनन्दकी साधना—अच्छा अब चलो अपने मनकी बात सुनो, देखो धर्म सुखके लिए होता है शान्तिके लिए होता है। यदि विषय समागम, वैभव समागम ये सुखके लिए हों तो यही धर्म है, निर्णय कर लो यदि विषयसाधनोंका समागम शान्ति करने वाला है तो शास्त्रोंके पन्ने खूब रंग डालो कि विषय साधन ही धर्म हैं, कोई हर्ज नहीं। किन्तु निर्णय तो करो कि विषय साधन शान्तिके लिए हो भी पाते हैं क्या ? प्रथम तो जिस कालमें विषय साधन किए जा रहे हों उस कालमें ही महान् क्षोभ है, आकुलता है और थोड़ी ही देर बाद तो वह एक बड़ा दुःखका रूप रख लेता है और फिर भावी कालमें कर्मबंध होनेसे विशेष ही वह दुर्गतिमें और सक्लेशमें पड़ेगा। ये विषय समागम, वैभवके समागम यह सब अधर्म हैं, ये सब अपने आपको बरबाद करनेके साधन हैं। गृहस्थ तो इतने साहसी होते हैं कि वे अपने प्रोग्राम प्रत्येक परिस्थितिमें ठीक बना लेते हैं, वे परिस्थितिके दास नहीं हैं, किन्तु समस्त परिस्थितिमें अपनी सुविधा बना लेते हैं। कोई पुरुष तो अपनी जरूरतें बहुत बड़ी बनाकर उसकी पूर्तिके लिए चिन्ता करते हैं, किन्तु ज्ञानी गृहस्थ जो भी साधन मिले हैं उनके ही अन्दर व्यवस्था बनाकर अपना जीवन चलाते हैं और धर्ममें अपने जीवनको लगाते हैं।

यथार्थ ज्ञान व निष्परिग्रहताका महत्त्व—प्रभु भगवान तो अकिञ्चन हैं, उनके पास कुछ भी नहीं है। अरे तुम यदि परिग्रहके कारण अपनेको बड़ा मानते हो तो इसका अर्थ है कि तुम भगवान्‌से भी बड़ा बनना चाहते हो, भगवानके तो कुछ भी परिग्रह नहीं है, केवल आत्मा ही आत्मा रह गया। शरीर भी नहीं, धन वैभव भी नहीं, कुछ भी अन्य वस्तु समीपमें नहीं है, तुम उनसे भी बडे बनना चाहते हो। और भी देखो—भगवान जानते हैं पर भगवान वही जानते हैं जो चीज है, जो चीज थी, जो चीज होगी, पर ये मोहीजन जो चीज नहीं है, जो बात न होगी उसकी भी कल्पना करते हैं। तो यह क्या है ? जैसे कहते हैं कि बडेके मुँह लगना। यह तो इससे भी और आगे बढ़ गया, बडेसे होड़ करता, प्रभु सत पदार्थको ही जानते हैं, यह मोही असत्‌को भी जानकर सम्भव करना चाहता है। मकान मेरा नहीं है, पर हम जानते हैं कि यह मकान मेरा है, प्रभु भी नहीं जानते कि यह मकान इस चंदका है, लेकिन अमुक ऐसा ही सोचते कि मकान मेरा है। प्रभु तो आनन्द में मग्न हैं, वे नहीं जानते कि यह मकान अमुकका है। प्रभु तो जो है सो ही जानते हैं, तो अज्ञानी पुरुष कल्पनाओंमें प्रभुसे भी आगे बढ़ना चाहते हैं और इस होड़का ही यह फल है कि संसारमें रुल रहे हैं। बड़ेसे होड़ करना कोई भली बात नहीं है। प्रभु विशुद्ध ज्ञान दर्शन वीर्य और आनन्दके धाम हैं, उनका स्तवन उनका स्मरण करनेसे अपने आपमें शुद्धविकास प्रकट होता है।

> णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिति समुद्दिट्ठा।
> कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥१८३॥

निर्वाण और सिद्धका अभेदाख्यान—निर्वाण और निर्वाणको प्राप्त हुए जीव इन दोनोंमें अन्तर नत

देखो। उन जीवोंको छोड़कर निर्वाण किसी अन्य वस्तुका नाम है क्या ? जो निर्वाण है सो भगवान है भगवान है सो निर्वाण। जैसे यहाँ भी साहित्यकार किसी पुरुषका नाम न लेकर पुरुषके भावका नाम लेकर वर्णन किया करते हैं। जैसे कुछ उनके साथ ऐसे खोटे तत्त्व लग गये कि वे हमको बरबाद करने पर तुले हैं ऐसा बोलते हैं लोग। उस तत्त्वके मायने क्या ? खोटे आदमी। आदमीका नाम लेनेकी जगह लोग तत्त्वका नाम लेकर बोलते हैं अथवा किसी साधुके बारेमें कहते हैं—साधुका नाम न लेकर उसका व्यक्तित्व कहते हैं। यह बड़ा व्यक्ति है। व्यक्ति भी नहीं बोलते, यह अपूर्व व्यक्तित्व है जिससे हम लोग शान्ति प्राप्त करते हैं। लोग साधुका नाम नहीं लेते, भावका नाम लेते हैं। यह अहिंसाकी मूर्ति हैं, यह साक्षात् सत्य हैं, यह साक्षात् सदाचार हैं इस प्रकार भावका भी नाम लेकर लोग पुरुषकी बात किया करते हैं, तो यहाँ भगवानका नाम न लेकर, जीवका नाम न लेकर केवल निर्वाण, निर्वाण ही कहा जाय तो उसमें भी प्रभु परमात्मा ही आते हैं, निर्वाणकी पूजा करो, ऐसा कहा जाय तो किसकी पूजा करोगे ? निर्वाण और निर्वाणको प्राप्त हुए भगवान इन दोनोंमें भेद मत देखो, निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है।

निर्वाणधाम—निर्वाण कहाँ है, मोक्ष कहाँ है ? व्यवहारदृष्टि वाले कहेंगे कि मोक्ष लोकके शिखर पर है, भगवान मोक्षमें रहते हैं। जैसे कि हम आप घरमें रहते हैं बोलते हैं ना ? आप कहाँ रहते हैं ? घरमें, दुकानमें। भगवान कहां रहते हैं ? मोक्षमें तो इसमें कौनसी खूबी निकली ? वह तनिक और अच्छी दुकानमें पहुंच गए होंगे। मोक्ष नाम स्थानका नहीं है, मोक्ष नाम है शुद्धस्वरूपका। भगवान कहाँ रहते हैं ? शुद्ध स्वरूपमें रहते हैं, इस उत्तरमें कुछ अध्यात्मकी उपासना जगी है। यहाँ केवल बातचीत हुई है भगवान मोक्षमें रहते हैं, प्रभु शुद्धस्वरूपमें रहते हैं, अब उसका व्यवहारदृष्टिसे विवरण किया जाय तो यह अर्थ आता है कि उनका निवास लोकके अग्रभागपर है। परमार्थतः जानना चाहो तो उत्तर मिलेगा नहीं, वह तो बाह्य स्थान है, प्रभु तो सदा अपने शुद्ध स्वरूपमें ही रहते हैं। यहाँ कोई आपसे पूछे कि आप कहां रहते हैं ? तो आप बतायें कि हम घरमें रहते हैं, यह व्यावहारिक उत्तर है। हम विषयोंमें रहते हैं, यह वास्तविक उत्तर है। आप कषायमें रहते हैं हम कषायमें रहते हैं, कोई शुद्ध भावोंकी बात बने तो कह सकते हैं कि इस समय हम प्रभुभक्तिमें रह रहे हैं। आत्मा है भावात्मक। इस भावात्मक आत्मतत्त्व का निवास भी भावात्मक है, इस भावात्मक आत्मतत्त्वका स्थान भी भावात्मक है, इसका घर भी भावात्मक है, इसका प्रयत्न, परिश्रम, व्यायाम सब कुछ भावात्मक है।

व्यक्तिमें व्यक्तित्वका वाग्व्यवहार—परमार्थतः भगवान सिद्ध स्वरूपमें ही रहते हैं। वे सिद्ध क्षेत्रमें ठहरते हैं, यह व्यवहारकथन है। निर्वाण ही सिद्ध है, सिद्ध ही निर्वाण है। किसी नेताकी प्रशंसा नाम लेकर भी की जा सकती है। महात्मा गांधी ने यों किया, और यों भी कह सकते है कि गाँधीके व्यक्तित्वने यह किया। दोनोंमें अन्तर क्या है ? व्यक्तित्वने किया इससे बात और स्पष्ट हो जाती है, गांधी तो एक आदमी है हम जैसे, इनके हाथ पैरोंने क्या किया, व्यक्तित्वने किया। वह व्यक्तित्व और यह गाँधी जिसके बारेमें बात कही जाय कोई जुदी चीज है क्या ? किसी पदार्थका भावरूपसे वर्णन करना यह तो उसके मर्मका और विशद व्याख्यान है। निर्वाण ही सिद्ध है, सिद्ध ही निर्वाण है—इन दोनों शब्दोंका एकत्व है।

परमभावकी भावनाका प्रसाद—कोई भी आसन्न भव्यजीव परमगुरुके चरण कमलका प्रसाद पाये उससे परमभावकी भावना बनती है। मैं ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकार अपने आपके ज्ञानस्वरूपका पोषण करे तो समस्त कर्मकलंक बंधसे मुक्त होकर यह जीव उत्कृष्ट आत्मा होता हुआ लोकके अग्र भाग तक जाता है। जैसे तूम्बीमें कीचड़ भरी हो भीतर और उसे पानीमें डाल दें तो वह तूम्बी डूबी रहती है और जब उसका कीचड़ बिखर जाता है तो वह तूम्बी पानीमें ऊपर उठकर उतराने लगती है। ऐसे ही संसारी

जीव कर्मकीचड़से पगे हुए हैं इसलिए वे इस संसारसागरमें डूबे हैं, यहां वहां भटकते हैं। अब आपका कीचड़ बिखर जाय, केवल शुद्ध ज्ञानमात्र रह जाय, द्रव्यकर्म, शरीर व विभाव सब दूर हो जा और पवित्र एकाकी बन जाय तो हम स्वभावतः ऊपर ही आ जायेंगे। कहां तक ऊपर जायेंगे जहां त जीवका निवास है। प्रभुमें और गुण विकासमें हम अन्तर नहीं मानते। उस मुक्तमें और परमात्म. हम अन्तर नहीं मानते हैं, जो निर्वाण है उसीका नाम सिद्ध है, जो सिद्ध है उसीका नाम निर्वाण है यदि कोई भव्य जीव समस्त कर्मोंको निर्मूल कर देता है, अपनी उपाधियोंसे अपनेको दूर कर लेत तो वह भी मुक्तिमय हो जाता है, निर्वाणस्वरूप हो जाता है।

भावनापर भविष्य—भैया! अपनेको जैसा बनाना है वैसा स्वभाव अभीसे न माने तो वैसे बन कै सकते हैं। हमें बनना है सिद्ध, ज्ञानमात्र। यही तो सिद्धका स्वरूप है, जब हम अभीसे अपने आपक शुद्ध ज्ञानमात्र निरखा करें तो हम शुद्ध ज्ञानमात्र बन सकते हैं। जिस तत्त्वकी हम भावना ही न बनाए उसकी सिद्धि हमें कैसे हो सकती है? हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने आपमें ऐसी सामर्थ्य बनाए कि जब चाहे तब हम अपनेको सबसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र प्रतीतिमें ले सकें। यदि यह कला प्रकट हो गयी तो जब हम व्यवहारदृष्टिसे कभी किसी विपत्तिमें फँस गये हों तब हम तुरन्त विविक्त निज स्वरूपमात्र अपने आपपर दृष्टि डालें तो उसी समय संकटोंसे निवृत्ति हो सकती है। लोग वैभव इसलिए जोड़ते हैं कि वक्त मौके पर काम आये, अरे वक्त मौके पर वैभव काम न देगा, ज्ञानबल काम आयेगा इसलिए प्रत्येक सम्भव उपायोंसे अपना ज्ञानबल बढ़ावें तो विकट परिस्थितिमें कष्टके अवसरमें यह ज्ञान बल सहायक होगा और अपनेको संकटोंसे दूर कर देगा।

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थि कायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८४॥

सिद्धक्षेत्रसे ऊपर जीव व पुद्गलोंके गमनके अभावका वर्णन—जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंका गमन लोकमें ऊपर सर्वत्र वहां तक है जहां तक धर्मास्तिकाय नामका द्रव्य है। सिद्ध भगवान लोकके अग्रभागसे ऊपर क्यों नहीं हैं, उसका उत्तर इस गाथामें दिया गया है। धर्मास्तिकायका अभाव होने पर उससे ऊपर सिद्ध भगवान नहीं जाते हैं। लोक उसे कहते हैं जहां तक छहों द्रव्य देखे जायें। लोकसे बाहर केवल आकाश ही आकाश है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है। वैसे भी विचारो कि ये स्कंध कहीं न कहीं तो अपनी सीमा रखते होंगे यह समस्त महास्कंध अर्थात् स्कंधोंका समूह भी किसी हद तक है, उससे बाहर केवल आकाश ही आकाश है। न स्कंध है, न जीव है, न धर्म अधर्मकाल है। जीवके गमनमें सहकारी धर्मद्रव्य है, वह धर्मद्रव्य जहाँ तक है वहाँ तक ही सिद्धभगवानकी गति है।

जीवकी स्वभावगति व विभावगति—जीवमें स्वाभाविक क्रिया तो सिद्धगति है और वैभाविकी गति रूप क्रिया ६ उपक्रम वाली क्रिया है। संसार अवस्थामें यह जीव एक देह त्यागकर जब दूसरे देहको ग्रहण करने जाता है तो उसकी गति पूर्वसे पश्चिम, पश्चिमसे पूर्व, उत्तरसे दक्षिण, दक्षिणसे उत्तरसे ऊपरसे नीचे, नीचेसे ऊपर यों ६ क्रमोंसे गति होती है। इन ६ क्रमोंका नाम अपक्रम है अर्थात जीवकी गतिका शुद्ध क्रम तो नीचेसे ऊपरका है। जब यह जीव कर्मोंसे, शरीरसे रहित होता है तो इसकी गति स्वभावतः नीचेसे ऊपरकी ओर हो जाती है पर कर्मबन्धन बद्ध होनेसे इस जीवके उस शुद्ध क्रमकी पद्धति बिगड़ गई है। इस संसार अवस्थामें भी जब कभी ऊपर उत्पन्न होना हो और यहांसे ऊपर भी जायें तो भी उसकी यह ऊर्ध्वगति स्वाभाविकी गति नहीं है। जैसे यह संसारी जीव कर्मोंका प्रेरा मरण करके ऊपरसे नीचेकी ओर जाता है अथवा पूर्वसे पश्चिम, पश्चिमसे पूर्व, दक्षिणसे उत्तर, उत्तरसे दक्षिणकी ओर जाता है इस ही प्रकार कर्मोंसे प्रेरा हुआ ही यह जीव संसार अवस्थामें नीचेसे ऊपरकी ओर भी जाता है संसार

अवस्थामें जो ऊर्ध्वगति है वह भी स्वभावगति नहीं है, यों जीवमे दो प्रकारकी गति हुई, स्वभावगति विभाव गति। सिद्ध जीवोंकी गति स्वभाव गति है और संसारी जीवोंकी गति विभाव गति है।

पुद्गल द्रव्यकी स्वभावगति व विभावगति—पुद्गल द्रव्यमें भी दो प्रकारकी गति है—स्वभा और विभावगति। पुद्गलमें शुद्ध पदार्थ है पुद्गल परमाणु। पुद्गल परमाणुकी गति स्वभावगं पुद्गलमें स्वभावगतिकी यह विशेषता नहीं है कि वह ऊपर ही जाय, ऊपर जाय, नीचे जाय, दिश जाय। दूसरे द्रव्यके सम्बन्धके विना एक समूहात्मककी प्रेरणा बिना जो अविभागी पुद्गल परम गति होती है वह पुद्गलकी स्वभावगति है और परमाणुवोंके मेलसे बने हुए इन स्कंधोंका जो होता है वह विभाव गति है। सबसे छोटा स्कन्ध द्व्यणुक कहलाता है, अर्थात् दो परमाणुवोंके बने हुए स्कंध और बडे स्कंध अनन्त परमाणुवोंके मेलसे बने हुए होते हैं, इनके मध्यमें अनेक प्र सख्यामें मिले हुए परमाणुवोंका भी स्कध होता है। उन सब स्कंधोंकी गति विभावगति है। चाहे गोल चलें, तिरछे चले, किसी भी दिशाकी ओर चलें वह सब गमन पुद्गलकी विभावग गमन है।

सिद्धकी गतिका कथन—इस प्रकरणमें मुख्य बात यह कही जा रही है कि धर्मद्रव्य चूंकि काशके ही भीतर है बाहर नहीं है, इस कारण जो भी निकटभव्य जीव चारघातिया कर्मोका नाश अरहंत हुआ और फिर शेष चारघातिया कर्मोका भी क्षय करके जब सिद्ध होता है, गुणस्थानातीत है तो वह स्वभावसे ऊपर चला जाता है। वह कहाँ तक ऊपर जाता है? इसका उत्तर इस गाथा जहाँ तक धर्मद्रव्य है वहाँ तक सिद्ध भगवान जाते हैं। सिद्ध प्रभुको लोकके शिखर तक जानेमें समय नहीं लगता। एक समय ही लगता है, अथवा इसी कारण इसे गति भी नहीं कहिये। जहाँ भी समय लगे वहाँ तो गतिका अनुमान बन सकता है। पहिले समयमें यह चला और दूसरे समय पहुंच गया। जहाँ यह वर्णन हो कि पहिले ही समयमें गया और पहिले ही समयमें पहुंच गया वहाँ स्पष्ट अन्दाजा नहीं होता।

सिद्धोंकी उर्ध्वगतिका प्रथम कारण—प्रभु कर्ममुक्त होकर ऊपर ही क्यों जाते हैं? इसका तत्त्वार्थसूत्रके दशम अध्यायमें दिया गया है। इसके चार कारण और चार दृष्टान्त बताये ग पहिला कारण तो यह है कि मुनि अवस्थामें इस महात्माने सिद्ध लोकमें विराजे हुए, सिद्ध प्रभुवोंका किया था। सिद्ध प्रभु लोकके अग्र भागमें विराजे हैं, वहाँ तक भावना और दृष्टि बनी रहा करत इस पूर्वप्रयोगके कारण लोकके शिखर पर इसका ध्यान बना रहा करता था। इस संस्कारके कार यह जीव अभी मुक्त हुआ है तो वहां ही सीधा पहुंचता है, इसका दृष्टान्त दिया है कि जैसे कुम्हा के बर्तन बनानेके लिए मिट्टीको जिस चाकपर रखता है उस चाकको एक डंडेसे घुमाता है। एक तक तेज घुमा लेनेके बाद डंडेको छोड़ देता है और वह अपना काम करता रहता है वह चाक ती मिनट तक घूमता रहता है। चाकको अब घुमाया नहीं जा रहा है। चाकको पहिले घुमाया था, प चाकके घूमनेमें उसकी वासनाके कारण अब वह चाक स्वयमेव घूम रहा है, ऐसे ही साधुसंत मह ने सिद्धप्रभु लोकके अग्रमे विराजमान हैं इस रूपसे ध्यान किया था और वहा ही उनका चित्त रहता था तो अब कर्ममुक्त होनेके बाद यह स्वभावतः उसी दिशाको ऊपरकी ओर ही जाता है।

सिद्धोंकी ऊर्ध्वगतिके तीन अन्य कारण—सिद्ध प्रभु पूर्ण निःसंग हो गये हैं, इस कारण सिद्धोंक ऊर्ध्व ही होती है। जैसे कीचड़से लिपटा हुआ तूमा पानीमे मग्न रहता है जब तूमासे कीचड़का जाता है, तूमा निःसंग हो जाता है तब तूमा ऊपर ही जल पर आ जाता है। प्रभुके अष्टकर्मोका दूर हो गया है सो बन्धच्छेदके कारण वे ऊपर ही जाते है, जैसे कि एरण्डबीजका छिलका फटे

ऊपरको उचटता है। अथवा आत्माकी स्वभावतः ऊपर ही गति होती है, या तो कर्मप्रेरित होकर यत्र तत्र जाता था, अब विरुद्ध प्रेरणा रही नहीं इससे स्वभावतः यह पावन आत्मा ऊपर ही जाता है, जैसे अग्नि ज्वालाकी गति स्वभावतः ऊपर ही चलती है।

सिद्धक्षेत्रकी सिद्धभगवंतोंसे व्यापकता—जो आत्मा सिद्ध हुए हैं वे ढाई द्वीपके क्षेत्रमें से ही हुए हैं। जितना ढाई द्वीपका विस्तार है उतना ही विस्तार सिद्ध लोकका है। वह मुड़कर या कुछ अगल बगल होकर ऊपर नहीं जाता। जो साधु जिस प्रदेशसे मुक्त हुए हैं उस ही के ठीक ऊपर प्रदेश पर ऊपर विराजमान होते हैं। इस ढाई द्वीपमें कोई भी ऐसी जगह नहीं बची जिस जगहमें अनगिनते सिद्ध मोक्ष न पधारे हों। लोकव्यवहारमें ताजी स्मृति रखने के लिए और कुछ अपने धर्मका साधन बनाने के लिए सिद्धक्षेत्र माने गये हैं। इतने महाराज सोनागिरिसे मुक्त हुए, इतने महाराज शिखर जी से मुक्त हुए इत्यादिरूपसे यों अनेक तीर्थस्थानोंका वर्णन आता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि और जगहोंसे कोई मोक्ष ही नहीं गया। जहा आप इस समय बैठे हैं, जहां आपकी रसोई बनती है, जहा आप अपनी बैठकमें बैठते हैं कहां तक कहा जाय—इस ढाई द्वीपके अन्दर प्रत्येक प्रदेशपर से अनगिनते मुनि महात्मा संत मोक्ष गये हैं। इसलिए हम लोगोंका यह निवास क्षेत्र एक एक कण सिद्धक्षेत्र स्थान है। हम जिस तीर्थस्थान पर जाकर वहां भावना भाते हैं—यहांसे अनन्ते संत मुनि मोक्ष पधारे हैं वैसे ही यहां भी बैठ कर यह भावना भायें कि इस जगहसे अनन्ते मुनि साधु सत महाराज मोक्ष पधारे हैं।

सिद्धभगवतोंकी त्रिलोकशिखरराजमानता—ढाई द्वीपमें जिस जगहसे भी जो मुनिजन मुक्त हुए हैं वे ठीक सीधे उसके ऊपर लोकके अन्तमें जाकर विराजमान हो जाते हैं, वह स्थान तीन लोकका शिखर है। वैसे भी बात बड़ी अच्छी बन गयी—जो पूज्य आत्मा हुए हैं उनका आसन ऊपर ही होना चाहिए। जो तीन लोकके अधिपति हैं, समस्त जीवोंमें उत्कृष्ट हैं उनका निवास इस लोकमें बिल्कुल अन्तमें हुआ तो यह बड़ी योग्य बात है। हम लोग भी आदरपूर्वक सर्वोपरि विराजमान सिद्ध प्रभुको नमस्कार करने में अपना विनय ही बढ़ा सकेंगे। तीन लोकके शिखरसे ऊपर गति क्रिया साधु संत महतोंकी सिद्धदशा होने पर भी नहीं है, क्योंकि उसके ऊपर गमनका कारणभूत जो धर्मास्तिकाय द्रव्य है वह नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक धर्मास्तिकायकी विशिष्टताका समर्थन—धर्मास्तिकायके लक्षणके दृष्टान्तमें यह बताया गया है कि जैसे जलका निमित्त पाकर मछलियोंकी गति होती है और जलका अभाव होने पर मछलियों की गति क्रिया नहीं होती है ऐसे ही धर्मद्रव्य होनेपर जीव, पुद्गलोंकी गति होती है और धर्मास्तिकायका अभाव होने पर उस अभाव क्षेत्रमें जीव और पुद्गलकी गति क्रिया नहीं होती है। जैसे पानीमें मछली चलती है बड़ी कलासहित किलोल करती हुई बड़ी वेग सहित। क्या कभी जलके बाहर भी इस तरह तैरती हुई, किलोल करती हुई, कला सहित तैरती हुई, क्रीड़ा करती हुई मछली देखी है? अरे गमन करने की बात तो दूर रहो, जलको छोड़कर मछली बहुत देर तक जिन्दा भी नहीं रह सकती। तो जैसे मछली के गमनमें सहकारी पानी है, वह पानी जबरदस्ती मछलीको चलाता नहीं, वह जल प्रेरणा नहीं करता कि तू यहां खड़ी क्यों रह गयी? तेरे गमनका कारणभूत यह मैं जल, यहां उपस्थित हू, तू यहा क्यों खड़ी है, ऐसी कोई जबरदस्ती नहीं है। वह पानी तो मछलीको चलानेमें निमित्तभर है। मछली चलना चाहे तो उस जलमें चल सकती है, ऐसे ही इस लोकमें धर्मास्तिकाय नामका द्रव्य है। तो यह धर्मास्तिकाय इस जीव पुद्गलको जबरदस्ती चलाता नहीं है, किन्तु सुविधा है एक। जीव और पुद्गल जब किसी कारणसे चलने लगे तो उनके चलनेमें यह धर्मास्तिकाय सहायक होता है।

अधर्मास्तिकायकी विशिष्टता—जैसे इस लोकमें धर्मास्तिकाय नामका द्रव्य है जो जीव और पुद्गल के चलनेमें सहायक है, ऐसे ही इस लोकमें अधर्मास्तिकाय नामका द्रव्य है जो जीव और पुद्गलको

ठहरनेमें सहायक है, जीवपुद्गल चलते जा रहे हैं, वे चलते हुए जीव पुद्गल ठहरना चाहें, ठहरें तो ठहर सकते हैं। इस ठहरनेमें निमित्त कारण है अधर्मद्रव्य। यों जैसे धर्मद्रव्य जबरदस्ती जीव पुद्गल को चलाता नहीं है ऐसे ही अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलको जबरदस्ती ठहराता नहीं हैं। यदि यह धर्मद्रव्य चलानेमें जबरदस्ती करे, अधर्मद्रव्य ठहरानेमें जबरदस्ती करे तो किसकी जबरदस्ती की विजय हो, जीव पुद्गलकी क्या स्थिति बने ? एक जबरदस्ती ढकेले, एक जबरदस्ती रोके तो कुछ व्यवस्था भी बन सकेगी क्या ? यह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलके गमनमें और ठहरनेमें सहायक मात्र है। यह उदासीन निमित्त है।

लोकशिखरस्थ होनेपर भी सिद्धोंकी सिद्धत्वके कारण विशिष्टता—सिद्ध प्रभु उस क्षेत्र तक गमन करते हैं एक ही समयमें जिस क्षेत्र तक धर्मास्तिकाय द्रव्य स्थित है। यों ही कोई अशुद्ध जीव संसारी जीव मर कर अपने उपार्जित कर्मके उदयानुकूल लोकके अग्र भाग तक निगोद देह पानेके लिए गमन करे तो वह भी लोकके अग्र भाग तक पहुचता है। यों जीव स्वभावगतिसे भी लोकके शिखर तक पहुचे हुए हैं और विभाव गतिसे भी लोकके शिखर तक पहुचे हुए हैं। भावोंकी विचित्रता देखिये, उस ही स्थानमें सिद्ध भगवान तो अनन्त आनन्दमें मग्न हुए विराजे हैं और उसही स्थानमें निगोदिया जीव एक श्वासमें १८ बार जन्ममरण करते हैं और संकट भोगते हुए व ॉ तड़फते रहते हैं, उसी क्षेत्रमें प्रभु विराजमान हैं, उसही क्षेत्रमें निगोदिया जीव दुःखी हो रहे हैं, यह सब अपने अपने कर्मोंकी और भावोंकी महिमा है, विचित्रता है।

पुद्गलोंकी गति—पुद्गलमें स्वभाव गति हो तो वह भी अधिकसे अधिक लोकके शिखर तक पहुंच जाता है। पुद्गल परमाणुवोंकी गतिको स्वभावगति कहते हैं, क्योंकि, वह अणु असहाय केवल अकेला ही गमन कर रहा है। और इस पुद्गलकी विभावगति भी लोकके शिखर भाग तक हो जाती है। पुद्गल स्कंधोंकी गतिको विभावगति कहते हैं। दो अणु वाले स्कंध तथा इससे अधिक अणु वाले स्कंध भी लोक के अन्त तक गमन करते हैं। जीवके साथ जो तैजस शरीर, कार्माणशरीर गमन कर रहा है वह तो अनन्त परमाणुवोंका समूह रूप स्कंध है। यों पुद्गलकी स्वभावगति भी लोकके अग्रभाग तक होती है और पुद्गलकी विभावगति भी लोकके अग्रभाग तक होती है।

लोकानुप्रेक्षण—इस प्रकरणसे हमें अपने ज्ञान और वैराग्यकी प्रेरणाके लिए कुछ इस ओर भी दृष्टि डालनी चाहिए कि हम आप जीवोंने अपने ही मिथ्यात्व और कषायकी वेदनाको सहकर इस लोकमें प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार जन्म लिया है और अनन्त बार मरण किया है। इस लोकमें एक भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ हम आपने अनन्तवार जन्म न लिया हो और मरण न किया हो। उन अनन्त जन्म मरणोंकी कुछ आज सुध नहीं है। उन अनन्त भवोंमें जो कुछ समागम संग कुटुम्ब पाया, उसकी भी आज कोई सुध नहीं है। फिर यह जीव इन चंद दिनोंके लिए कुछ समागम पाता है। इससे इसमें इतनी आसक्ति हो जाती है कि इसे किसी अन्यमें दया भी नहीं है, किसी अन्यका कोई ख्याल भी नहीं होता है। अपने ही विषयसाधनोंकी पूर्ति हो, बस एक यही भाव सुहाता रहता है, जैसे चंद दिनोंको यह समागम मिला है और इस समागममें इतनी अधिक आसक्ति हो रही है, ऐसे-ऐसे अनन्त बार अनेक भवोंमें समागम पाया था और उस जीवनकालमें इससे भी बढ़-बढ़ कर आसक्त होकर उनको माना था, अपनाया था, लेकिन उनमें से आज कोई साथ नहीं हैं और साथ भी हो तो अन्य पर्यायोंको लेकर साथ है। तो पहिले जैसी प्रीतिकी बात अब क्या निभाई जा सकती है ?

प्रतिकूल उदयमें परिजन द्वारा विघात—पुराणमें एक कथानक आया है कि एक सेठ जी धर्मात्मा थे, उन्होंने एक रात्रिको मंदिरमें विराजे हुए सामायिक जापके समय एक दीपक सामने जलाया और यह

नियम किया कि यह दीपक जब तक जलता रहेगा तब तक हम ध्यान न करेंगे। उसने ख्याल किया कि इसमें इतना घी है कि चालीस पचास मिनटमें समाप्त हो जायेगा, दीप बुझ जायेगा, तब तक अपने ध्यानका काम भी पूरा कर लेंगे। वह तो यह प्रतिज्ञा करके ध्यानमें बैठ गया। जब आधा घंटा गुजरनेको हुआ तो स्त्रीने देखा कि यह दीपक बुझ जाने वाला है तो उसने घी डाल दिया। फिर आध पौन घन्टा बाद देखा कि यह दीपक बुझने वाला है तो फिर घी डाल दिया और यहाँ सेठने व्याकुल होकर अपना खोटा ध्यान बनाया और इतना ही नहीं, दिनमें भी यही क्रम रहा, रातको भी यही क्रम रहा। वह बेचारा रात दिन भूखा रहकर, वेदनारत रहकर मर गया और मरकर हुआ कुएका मेंढक। अपने ही महलमें जो कुआ था चूँकि प्यासा होकर मरा था, वहां मेंढक बन गया।

भिन्न पर्यायमें प्रीतिसत्कारकी अशक्यता—जब सेठानीने दूसरे तीसरे दिन कुएमें से पानी निकाला तो वह मेंढक बार-बार सेठानीकी गोदमें आजाये, वह हटाए फिर भी उछलकर गोदमें आए। तो सेठानीने एक साधुसे पूछा कि यह मेंढक क्यों हमारे पास उचक-उचक कर आता है? तो उस साधुने बताया कि यह तुम्हारा पूर्वजन्मका पति है। तब सेठानीने मेंढकको बड़े प्रेमसे रक्खा, मगर क्या प्रेम करे? मनुष्य भवमें जो वचनव्यवहार आदि किया जाता है मेंढकके साथ क्या हो सकेगा? अरे थोड़ा सा कुछ खानेको डाल दिया और क्या करेगा कोई? इसी प्रकार अपने जितने पूर्वभवमें कुटुम्बीजन थे वे चाहे आज भी मौजूद हों लेकिन दूसरी पर्यायमें हैं। हम उनसे क्या प्रेम निभाएँ? लोकमें सभी जीव कुटुम्बी हुए, सभी प्रदेशों पर जन्म लिया, फिर भी तृष्णा पिशाचिनी ऐसी लगी हुई है कि न इसे किसी क्षेत्रसे संतोष है, न इसे किसी जीवसे संतोष है। राग और विरोध करके यह अपनी दुर्दशा बना रहा है।

सिद्ध भगवंतोंका अभिवन्दन—एक निज शुद्ध स्वभावका आश्रय लें जिसके प्रतापसे कर्मकलंकोंसे मुक्त होकर निर्वाण लोकके शिखरपर शुद्ध स्थितिमें रहते हुए विराजमान रहेंगे, ऐसा इस शुद्धोपयोग अधिकारमें शुद्धोपयोगके फलको पाने वाले सिद्ध प्रभुका स्मरण किया गया है और साथ ही यह सिद्धान्त बताया गया है कि जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्योंका गमन तीन लोकके शिखरसे ऊपर नहीं होता है, क्योंकि गतिका उदासीन हेतुभूत धर्मास्तिकाय नामका द्रव्य लोकके ऊपर याने बाहर नहीं है। शुद्धका जो उपयोग करता है वह ऐसे शुद्धोपयोग वाला होता है जो अपने ज्ञानसे तीन लोक, तीन कालके पदार्थों के जाननहार होते हैं, उनका अन्तमें निवास तीनों लोकके शिखर पर हो जाता है। ऐसे वहां विराजमान समस्त सिद्ध भगवंतोंको हमारा वंदन हो।

णियम णियमस्स फलं णिद्दिट्ठ पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयतु समयण्हा ॥१८५॥

प्रवचन परमागमकी भक्तिसे इस ग्रन्थमें नियम और नियमके फलका निर्देश किया है। यदि इस ग्रन्थमें पूर्व और ऊपरमें कहीं कोई त्रुटि हो तो उसे दूर करके जो विद्वज्जन हैं, सिद्धान्तवेत्ता हैं वे उसकी पूर्ति करें।

नियम और नियमके फलका निर्देश—नियमसार ग्रन्थमें अब ग्रन्थ समाप्तिके प्रकरणको लेकर तीन गाथाएँ आयेंगी। उन गाथावोंमें से यह प्रथम गाथा है। नियमसार ग्रन्थमें नियमका वर्णन किया गया है, नियमका अर्थ है रत्नत्रय। अपने आत्माको अपने आत्मामें ही नियत कर देना सो नियम है। जब जीवको निज सहज विशुद्ध ज्ञानदर्शनात्मक अन्तस्तत्त्वका श्रद्धान होता है और इसका ही यथार्थ परिज्ञान होता है एवं ऐसा ही ज्ञानदर्शनस्वरूप शुद्ध चिदात्मक आत्मतत्त्वमें उपयोगका अनुष्ठान होता है तब इस जीवके नियमकी सिद्धि होती है। उस नियमको पालनेका फल प्राप्त होता है, परमनिर्वाण।

परसम्पर्कका विपाक—इस जीवकी हितकारी अवस्था मुक्त अवस्था है। संसार अवस्थामें दुःख ही

वैभव मिले, कुछ भी पुण्य समागम मिले उस पर आस्था न करिये। ये सब दुःखी करने के लिए हैं। बाह्य पदार्थोंका समागम और तद्विषयक अभिलाषा ये आनन्दके लिए नहीं मिले हैं, किन्तु क्लेश उत्पन्न करने के लिए मिले हैं। एक आत्माके विशुद्ध ध्यानके विना जो भी विकल्पजाल उत्पन्न होता है वह सब क्लेशके लिए ही होता है। धनार्जनका उद्यम करनेमें कितने विकल्पजाल गूँथे जाते हैं, उससे पहिले, उद्यमके समय और अर्जनके बाद सर्वदा दुःखी होना पड़ता है याने इसके प्रारम्भमें भी क्लेश, इसकी प्राप्तिमें भी क्लेश और इसके अन्तकालमें भी क्लेश है। जो कुछ वैभव जुड़ा है इसका अन्तिम फल तो वियोग ही है, चाहे यह वैभव अपने जीवनमें अपनेसे बिछुड़ जाय या मरण कालमें एक साथ ही सब बिछुड़ जाय, पर जो संयोग हुआ है, जिसका समागम है उसका नियमतः वियोग है।

सद्भावना और असद्भावनाका प्रभाव—जो जीव इस समागमको पुण्यानुसारी नहीं मान सकता है और अपने इस झूठे बलका गर्व करता है मैं कमाने वाला हू, मेरे करने से ही यह सब होता है, इस तरह की जो कर्तृत्वबुद्धि लगाये हैं उनका यह सोचना बिलकुल भ्रमपूर्ण है, बल्कि ऐसे भ्रमके पाप करनेसे पुण्यका क्षय होता है और पुण्य विनाशसे सम्पदा आनी हो तो भी नहीं आती है। लोगोंका आज यह ख्याल बन गया है कि धनका अर्जन बेईमानी और अन्यायसे ही हुआ करता है, अर्जन तो पुण्यके अनुसार होता है। यदि सद्भावना रक्खो तब भी आयेगा, असद्भावना करो तब पुण्यानुसार आयेगा। सद्भावनासे लाभ यह होता है कि कुछ समय तक ये समागम और रह सकते थे, किन्तु असद्भावना, झूठ, छल धोखेबाजी आदिसे संचित किया हुआ धन बहुत काल तक नहीं टिक सकता है। जैसे कि लोग यह देख रहे हैं कि अन्यायसे कमाया हुआ धन जरा सी देरमें न जाने कितने टिल्ले लग जाते हैं, क्या अचानक उपद्रव आ जाता है कि वह सचित धन समाप्त हो जाता है और जो न्यायवृत्तिसे अपना जीवन गुजारा करते हैं चाहे उनकी आय कम हो लेकिन जीवन स्थिरतापूर्ण होता है।

धर्मभावनाका परिणाम—भैया! इन बाह्य पदार्थोंको भिन्न असार अहितकर जानकर इनसे उपेक्षा भाव करो। उनके पीछे आसक्तिका परिणाम रहेगा तो क्लेश ही रहेगा, आनन्द नहीं मिल सकता है। आनन्द इन बाह्य पदार्थोंमें हो, तो मिले। ये तो केवल रूप, रस, गंध, स्पर्शके पिंड हैं। इनमें आनन्द अथवा ज्ञान नामका तत्त्व ही नहीं है, वहां फिर आनन्दकी आशा करना एक भ्रम ही है। अच्छा, प्रभु की वंदना पूजा करना किस लिए है? उसका सही प्रयोजन तो बतावो? कुल पद्धतिसे अथवा अपना जीवन विषय सुखपूर्ण व्यतीत हो, इस भावनासे यदि हम पूजन करने आते हैं तो हमने न उससे पुण्य पाया और न शान्ति पायी। अधर्मभावनाका फल वर्तमानमें भी आकुलता करना है और भविष्यकालमें भी आकुलता करने वाला है, किन्तु धर्मभावना तत्काल भी शान्ति देती है और भविष्यकालमें भी शान्ति देती है।

मूलमें धर्मपालन—धर्म मायने हैं आत्माका स्वभाव। आत्मामें केवल प्रतिभासका स्वभाव है। जो जैसा है तैसी मुझमें झलक आजाय यही मेरा स्वभाव है और स्वाभाविक कार्य है, इस धर्मकी दृष्टि रखना। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हू और स्वाभाविक कार्य हैं इस धर्मकी दृष्टि रखना। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूं, समस्त परपदार्थोंसे न्यारा हू, ऐसा सबसे विविक्त अपने आपमें तन्मय अपने आपकी सुध लेना सो ही धर्मका पालन है। धर्म वहाँ होता है जहा अहंकार और ममकार नहीं है।

अहकार व ममकारसे विविक्तताकी दृष्टि—अहकार व ममकार, ये दोनों ही मिथ्यात्व हैं। जो मैं नहीं हू उस रूप अपनेको मानना यह मिथ्यादर्शन है। मैं देहरूप नहीं हू पर देहरूप ही अनुभव करना यह मिथ्यात्व है, कुछ थोड़ासा लोगोंके द्वारा अपमान हो जाय, कोई झूठ बात कह दे, गाली गलौजकी बात कह दे तो यह क्लेश अनुभव करना है। यह मोह और मिथ्यात्वका ही तो प्रताप है। जरा विचार तो

करो कि उस कहने वाले ने किसे कहा ? इस देहको देखकर कहा है तो देह तो जानता भी नहीं कुछ, फिर अपमान अनुभव करनेका कहाँ अवसर है ? वह यदि आत्माको देखकर कहता है तो ऐसा कह ही नहीं सकता था इसलिए जो भी अपमान, अपयश, निन्दा आदि कुछ भी परिणमन करता है वह खुदका ही भ्रम करता है मेरा कुछ नहीं करना है। मैं तो ज्ञानानन्दमात्र एक शुद्ध चेतन हू, इस प्रकार अपनेको जो ज्ञानस्वरूप निहारता है, देहमें अहकार नहीं करता वह पुरुष सम्यग्दृष्टि है इस ही प्रकार अहकार न होने के कारण समस्त बाह्य पदार्थोंमें ममकारका भी अभाव हो जाता है। मेरा तो मात्र मेरा स्वरूप है, मेरे तो मात्र ज्ञान दर्शनादिक गुण ही मेरे हैं, ये जड़ धन वैभव राज्य ये सब मेरी कुछ भी वस्तु नहीं हैं। इनमें ममकार करना केवल क्लेश और पाप बंधका ही कारण है, यों जो पुरुष अहकार और ममकारसे रहित हो जाता है उसका नियम पालता है।

रत्न—यहाँ नियमका अर्थ है शुद्ध रत्नत्रय। रत्न कहते हैं सारभूत वस्तुको। जो जिस जातिमें उत्कृष्ट है वह उस जातिका रत्न कहलाता है। रत्नका अर्थ हीरा जवाहिरात नहीं है। रत्नका अर्थ है श्रेष्ठ तत्त्व। जब मोही जीवोंकी दृष्टि पौद्गलिक वैभवमें ही फसी तो उनके लिए तो श्रेष्ठ तत्त्व हीरा जवाहिरात ही जचे और उन्होंने उनका नाम रत्न रख लिया। रत्न शब्दका शुद्ध अर्थ है सारभूत चीज। ज्ञानी पुरुषोंको सारभूत तत्त्व अपने आत्माका श्रद्धान, अपने आत्माका ज्ञान और इसही रूप आचरण करना जंचा है। ज्ञानियों की दृष्टिमें रत्न है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। इसका फल है परमनिर्वाण, जहाँ किसी भी प्रकारका क्लेश नहीं है, न शारीरिक वेदना है, न मानसिक बाधा है और न कोई प्रकारका विसम्वाद है। शुद्ध आनन्दकी स्थिति है जो अपनेको केवल निरखने से प्राप्त होती है। ज्ञानीके यही एक मात्र निर्णय है।

आशापरिहारसे ही यथार्थ विश्राम—भैया ! इस मनुष्य जीवनको पाकर एक शुद्ध पंथमें अपने को न लगा पाया और इस जड़ असार वैभव समागम प्रसंगोंमें ही अपने को फँसाया जाता रहा तो मनुष्य जन्म तो यों ही निकल ही रहा है। कुछ ही दिनोंमें मनुष्य भव छूटेगा, फिर नहीं पता कि कीड़े मकौड़ेकी क्या स्थितियां बनेंगी, फिर क्या कर लेंगे? कैसी मोहकी लीला है—यह जो समागम मिला है उसमें भी संतोष नहीं है। तृष्णाका ऐसा प्रसार बना हुआ है कि अनेकोंसे अनेक गुना प्राप्त होने पर भी जो पाया है उसका भी आराम नहीं पाया जा सकता है क्योंकि दृष्टि तृष्णावश और आगेकी हो गई है। कभी किसी की तृष्णाकी पूर्ति हो सकती है क्या ? यह आशारूपी गड्ढा इतना विशाल है कि इसमें तीन लोकके पुद्गलोंका कूड़ा करकट भी भर दिया जाय तो भी आशाका गड्ढा पूरा नहीं हो पाता. बल्कि ज्यों-ज्यों इसमें वैभव भरा जाय त्यों त्यों यह आशाका गड्ढा चौड़ा होता जाता है।

संतोंके अनुभवका लाभ—अहो ! पवित्र जैन शासनको पाकर इसके लाभसे वंचित रह जायें अपन, तो इससे बढ़कर विषादकी बात और कुछ हो ही नहीं सकती, जिन ऋषि संतोंने बड़ा राज्य वैभव त्याग कर तपस्याके बाद ध्यान और अनुभव किया उन्होंने हम सब जीवोंपर करुणा करके अनुभूत तत्त्व ग्रन्थों में लिख दिया। जो बड़ी कठिन तपस्याका अनुभव हो सकता था वह जब हमें सीधे सादे स्पष्ट शब्दोंमें आज मिल रहा है तिस पर भी हम इसकी उपेक्षा करें और ज्ञानार्जनकी ओर अपना प्रयत्न न बनाएँ तो इससे बढ़कर विषादकी बात और क्या हो सकती है ?

आत्मविश्वास और प्रभुके महत्त्वका अङ्कन—यह भौतिक समागम अविश्वसनीय है, इसका कुछ भरोसा नहीं है, आज है कल नहीं, अथवा जब हैं तब भी दु:खके लिए हैं, वैभव कभी-कभी तो मनुष्यके प्राण हरनेका कारण बन जाता है। वैभवमें कौनसी शान्ति है ? शान्ति तो मात्र एक आत्माके स्पर्शमें है। बाह्य विकल्पोंसे छूट कर अपने आपके अन्तरङ्गमें अपने ज्ञानका प्रवेश हो, स्पर्श हो तो वहाँ आनन्द

मिलेगा, अन्यत्र आनंद नहीं है, हम इस बात पर यदि विश्वास नहीं करते हैं तो प्रभुका पूजन करना, दर्शन करना यह सब कोरा ढोंग है। जब हम प्रभुकी महत्ताको महत्त्व ही नहीं देते हैं, प्रभुमें क्या गुण प्रकट हुआ है, उसका जब तक चित्तमें महत्त्व नहीं है, महत्त्व बसा हो जड़ भौतिक पदार्थोंमें तो हमने प्रभुको क्या पूजा ? किसीका महत्त्व समझना ही उसकी वास्तविक उपासना और भक्ति है। प्रभु समस्त कर्मोंसे मुक्त हैं, उनके ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ है कि समस्त लोकालोकको एक साथ स्पष्ट जानते हैं इन प्रभुके ऐसी परमनिर्दोषता है, रागद्वेषकी तरंग अब त्रिकाल भी भविष्यमें कदाचित न उठ सकेगी। पूर्ण शुद्ध हो गये हैं, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा ही रह गये हैं। इस ही स्थितिमें वास्तविक आनन्द है, इसके बिना जो हम आपकी स्थितियां गुजर रही हैं ये धर्मकी स्थितियां नहीं हैं। दुःखपूर्ण स्थितियोंको सुख माननेका भ्रम बनाये रहे तो इससे लाभ कुछ न होगा। नियम शुद्ध आत्माका श्रद्धान ज्ञान और आचरण है, और इस नियमके पालनका फल परमनिर्वाण है। जहाँ किसी भी प्रकारका क्लेश नहीं है, न कोई कलुषता है। यह आत्मा निर्वाणमें विशुद्ध परम पदार्थ हो जाता है।

ग्रन्थरचनाका सत् उद्देश्य—इस ग्रन्थकी समाप्तिके प्रसंगमें आचार्यदेव यह कह रहे हैं कि इस ग्रन्थमें यदि कदाचित् कहीं पूर्वापरविरोध हो तो विद्वत्जन उसकी पूर्ति करें। विद्वत्ताके घमंडसे इस ग्रन्थ का प्रतिपादन हमने नहीं किया है या कवित्वके अभिमानसे इन गाथाओंको नहीं रचा है, किन्तु एक प्रवचनकी भक्तिसे भगवान सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत जो परमागम है उसमें मुझे तीव्र भक्ति हुई, इस परमागममें क्या रत्न भरे हुए हैं संकटोंसे मुक्त होनेका इसमें कैसा सुगम उपाय कहा गया है, उन सब श्रेष्ठ तत्त्वोंके दर्शनसे प्रेरित होकर इस ग्रन्थका प्रतिपादन किया है। जिस जीवकी जो लगन हो जाती है वह अपनी लगनके अनुसार अपनी धुनिमें अपना काम करता है। इन आचार्यसंतोंके एक शुद्ध पथ प्रकाश करनेकी लगन लगी थी, इन्हें अपने पूजन वदनकी चाह नहीं थी, केवल एक ही धुन थी, जो वस्तुस्वरूप है, जो मोक्षका विशुद्ध मार्ग है, शान्ति पानेका परमार्थभूत उपाय है—वह सबको विदित हो, और सब अपने इस सहजस्वरूपके दर्शनसे संकटोंसे मुक्त हों, इस ही धुनिको लिए हुए आचार्य संतोंका ध्यान था। उनकी कृति फिर किसी अभिमानके लिए कैसे हो सकती है ? जिसे एक विशुद्ध कार्य बनानेकी ही धुन हो उसको घमंडका अवसर कैसे हो सकता है ? इसीलिए वे यहाँ यह कह रहे हैं कि यदि पूर्वापर कोई दोष हो तो उसे दूर करके जो उत्तम तथ्यकी बात हो उस पद रूप कर देवें।

आचार्यदेवकी निरभिमानता—देखिये, आचार्यदेवकी कितनी निरभिमानता है ? इतने महान् ऋषि संत कुन्दकुन्दाचार्यदेवके सम्बन्धमें उनकी विद्वत्ताका कौन वर्णन कर सकता है और आध्यात्मिकताकी भी कौन थाह पा सकता है, जिसमें अध्यात्मरस इतना विशाल पड़ा हुआ है। यदि ऐसे ऐसे ये ग्रन्थ न होते तो आज हम सब कैसे उस अध्यात्मशान्तिके मार्ग पर आ सकते थे, इतनी विशाल विद्वत्ताके बावजूद भी वह अपनी लघुता प्रकट कर रहे हैं। समयसारमें ऐसी लघुता भूमिकामें ही सर्वप्रथम प्रकट की गयी है। समयसारमें उन्होंने आत्माका शुद्ध एकत्व बताया है अर्थात् अपने स्वरूपसे तो सत् है और परके स्वरूपसे सत् नहीं है ऐसा जो आत्मस्वरूप है उसको बतानेके प्रकरणमें कहा है कि मैं इस शुद्ध आत्माको दिखाऊँगा। यदि दिखा दूं तो तुम सब अपने ज्ञानसे प्रमाण करके मान लेना और यदि न दिखा सकूँ तो छल ग्रहण न करना कि अध्यात्म कुछ चीज नहीं है, ऐसा दोष न ग्रहण करना, आगे कोशिश करना।

प्रत्येक वस्तुकी विविक्तता—इन बाहरी चीजोंके प्रेममें तुम कुछ लाभ भी पाओगे क्या ? अपने आपका स्वरूप ही न जान पाया तो तुम्हारा झुकाव फिर कहाँ रहेगा ? किसी बाहरी पदार्थकी ओर जाओगे, वहा शरण ढूंढोगे तो वह तो ऐसा अलग है जैसे पानीके ऊपर मिट्टीका तेल तैरता है। पानीसे

मिट्टीका तेल बिलकुल विमुख रहता है। तेल पानीके स्वरूपको जरा भी ग्रहण नहीं कर सकता, वह बिलकुल भिन्न रहता है। एक पात्रमें रहकर भी तैल तैलकी ओर रहता है, पानी पानीकी ओर रहता है। ऐसे ही समझिए कि एक ही जगहमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छहों द्रव्य हैं। जहाँ आप विराजे हैं वहाँ भी छहों द्रव्य हैं, पर वे छहोंके छहों द्रव्य अपने अपने स्वरूपकी ओर ही बने हुए हैं, किसी दूसरे स्वरूपकी ओर नहीं हैं—ऐसी स्वतन्त्रता है प्रत्येक पदार्थमें। तू उसका भान न करके अपने में अहंकार और ममकार यदि बनाता है तो इसका फल उत्तम नहीं है। जहाँ भी तू अपना उपयोग जोडेगा, जिस परपदार्थमें अपना चित्त लगायेगा, वह पदार्थ तो खुदके स्वरूपकी ओर झुका है, तेरी ओर तो कुछ ख्याल भी नहीं करता। फिर तेरा उससे उत्थान कैसे होगा? देख मत झुक बाहरी पदार्थोंकी ओर। यह भोग कठिन रोग है। सर्पके विषसे भी कठिन विष है। उन विषयोंकी ओर, भोगोंकी ओर, साधनकी ओर अपनी दृष्टि न फँसाकर धर्मकी ओर दृष्टि कर।

धर्माश्रय बिना जीवनकी शून्यता— भैया! धर्मका तो कुछ ख्याल प्रत्येक मनुष्य करता है, पर सही रूपमें कर सके तो लाभ है। किसी भी मनुष्यका धर्मका कुछ भी बाना पहिने बिना गुजारा नहीं हो सकता। कोई दोषको जाहिर करते रहते हुए ही २४ घण्टे नहीं व्यतीत कर सकता। किसी न किसी रूपमें प्रत्येक मनुष्य धर्मका सहारा लेता है, परन्तु यथार्थरूपमें धर्मका सहारा मिल जाए तो बेड़ा पार हो जाता है। यथार्थस्वरूप क्या है? अपने आपको खोजो। मैं स्वयं अपने आप क्या हूं? बस इतने निर्णयमें ही आपको धर्मका दर्शन होगा। यह आत्मा भगवान साक्षात् सहजस्वयं धर्मस्वरूप है। इस धर्मस्वरूप आत्मतत्त्वका दर्शन करना ही धर्मका पालन है और इस धर्मपालनके प्रसादसे अन्तिम शुद्ध अवस्था उत्कृष्ट ज्ञानमय होनेकी है।

शुद्ध उपयोगके यत्नका अनुरोध— इस ग्रन्थमें अन्तिम अधिकार है शुद्धोपयोगका। अपना उपयोग शुद्ध रखा जाए। निज शुद्ध तत्त्वका उपयोग किया जाए तो यह उपयोग इतना विशुद्ध हो जाता है कि समस्त लोकालोकका जाननहार हो जाता है। यहाँ हम कितना जानते हैं और उसी पर गर्व मचाते हैं। हम यहाँ क्या आनन्द पाते हैं? झूठा मौज, भ्रम भर हर्ष। केवल भ्रममें ही उछलकूद मचाते रहते हैं। तेरा स्वभाव अनन्त आनन्दका है, जो सीमारहित है, जिसका कभी विनाश भी नहीं हो सकता। पूर्ण निराकुलताका तेरा स्वभाव है। अपने उस स्वभावको न देखकर बाहरी पदार्थोंमें दृष्टि फँसाकर व्यर्थ क्लेश कर रहा है। यह नियमसार अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय मुक्तिका कारणभूत है। इस नियमसारका फल परमनिर्वाण है। इसकी रचना कुन्दकुन्दाचार्यदेवने प्रवचनकी भक्तिसे की है। जिस परमागमसे उनका उपकार हुआ है, उस परमागमके प्रति कृतज्ञ होकर परमागमकी भक्तिसे उनकी यह रचना हुई है। इस मार्ग पर जो चलेगा वह भव्य जीव निर्वाणको प्राप्त करेगा। हम आचार्यजनोंके करुणामयी श्रमका लाभ उठायें, अपने शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि करें और इस शुद्ध आत्मतत्त्वके दर्शनसे अपने इस दुर्लभ धर्मसमागम को सफल करें।

ईसाभावेणपुणो केई णिंदंति सुंदरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥१८६॥

कितने ही अनेक पुरुष ईर्ष्या भाव करके ऐसे सुन्दर जैनमार्गकी आत्मसिद्धि के मार्गकी निन्दा करते हैं। हे भव्य जीवों! उनके उन अश्रद्धापूर्ण वचनोंको सुनकर तुम जैनशासनसे अप्रीति मत करो।

अज्ञानी जनोंकी दशा— जो मन्द बुद्धि हैं, जिनका होनहार अथवा संसार बहुत विकट पड़ा हुआ है—ऐसे पुरुष मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रमें लीन रहा करते हैं। जीवका स्वरूप ज्ञानदर्शन

स्वरूप, अमूर्तिक, सबसे न्यारा है, लेकिन मोहमें यह प्राणी अपने आपको देहमय मानता है और सब पदार्थोंमें रलामिला हुआ समझता है। शरीर उत्पन्न होता है तो मान लेता है कि मैं उत्पन्न हुआ। शरीर मरण करता है तो मान लेता है कि मैं मरा। जो रागद्वेषादिक भाव विषय कषाय इस जीवको दु:ख देने वाले हैं उन्हें सुखमयी मानता है। किसी पर रोष आ जाय तो रोष करनेमें चैन मानता है, रोषको समाप्त नहीं कर पाता है। घमंडका परिणाम आ जाय तो मान कषायके बनानेमें यह अपना हित समझता है, मायाचार छल कपटके परिणाममें यह अपना हित और बड़प्पन मानता है, तृष्णा लोभके वशीभूत होकर यह चैन समझता है, ऐसी मिथ्या जिसकी बुद्धि हो गयी वह पुरुष ज्ञान और वैराग्यसे प्रीति कहांसे करेगा? आत्माको आनन्द देने वाला परिणाम ज्ञान और वैराग्य है। उससे तो इसकी विमुखता है और विषय कषायोंकी ओर यह झुकता है।

मोही जगतकी रुचि—यह सारा जगत् पुण्य पापका फल है। यहां यह मोही जीव पुण्यका फल वैभव समागम पाकर अपनी जीत समझता है। मैं सबसे श्रेष्ठ हूं, विजयी हूं और पापके फल जो दरिद्रता रोग इष्टवियोग अनिष्ट संयोग या तिर्यञ्च आदिकके जन्म लेना आदि हैं, इनको पाकर यह जीव दु:खी होता है और पापके फलमें अपनी हार समझता है। इच्छा भी इन समस्त क्लेशोंकी जनक है। लोग इच्छा करके अपनेको मौजमें समझते हैं। उन इच्छाओंकी पूर्तिके लिए भारी श्रम भी करते रहते हैं, इन्हें आत्मीय आनन्दकी कुछ खबर नहीं है। यह मैं आत्मा स्वभावत: जिस स्वरूपमें हूं तैसा उसका व्यक्तरूप भी प्रकट हो सकता है, इसकी ओर इसकी दृष्टि नहीं है और यह आकुलतामय संसारमें ही रमनेकी इच्छा रखता है। यों मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञानसे पीड़ित यह संसारी प्राणी विषयभोगोंमें ही रमण कर रहा है। ऐसे कुबुद्धिजन संसार बढ़ाने वाले दुराचार की ही तो प्रशंसा करेंगे और संसारके संकटोंसे छुटाने वाले जैनमार्गकी निन्दा करेंगे। उनको सदाचारसे ईर्ष्या होती है और व्यसनोंसे पापोंसे प्रीत जगती है।

अज्ञानियोंका बुद्धिव्यामोह—जैसे कोई शिकारी पुरुष मार्गमें किसी साधुके दर्शन करले तो वह साधुसे ईर्ष्या करता है, आज मेरा शकुन बिगड़ गया, मुझे शिकार न मिलेगा। वह साधुसे ईर्ष्या करने लगता है। पर साधु जो संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त है, जिसकी केवल आत्मकल्याणकी ही धुन है क्या वह ईर्ष्याका पात्र है? लेकिन शिकारीजन पापीजन साधुवोंसे भी ईर्ष्या करते हैं। यों ही यह सारा जगत जो मायाजालसे वेढ़ा हुआ है वह जैनमार्गकी निन्दा कर ही रहा है। यह सब मिथ्यात्व कर्मके उदयका प्रताप है। उन मुग्ध जीवोंको आत्माके शुद्ध रत्नत्रय धर्मकी खबर नहीं है। खुदमें ही क्या प्रताप पड़ा है, खुद ही में क्या रत्न भरे हुए हैं, इसकी सुध इन अज्ञानीजनोंको नहीं है। इसीसे शुद्ध आत्मधर्मकी ये निन्दा करते हैं।

आत्माका विकल्पमय स्वरूप—यह मैं आत्मा त्रिकाल निरावरण हू, अर्थात् अपने सत्त्वके कारण जैसा स्वभाव रखता हूं उस चैतन्यस्वभावमय हूं। इस स्वभावका परिवर्तन नहीं हुआ करता है। यह मैं आत्मा नित्य आनन्दस्वरूप हूं। मुझमें क्लेशोंका नाम भी नहीं है स्वभावत:। क्लेश तो बना-बना कर किए जाते हैं। स्वरसत: मैं आनन्दघन हू। यह मैं आत्मतत्त्व निर्विकल्प हू, रागद्वेष संकल्प विकल्पका इस आत्मतत्त्वमें अभाव है। ये विकल्प मायारूप बनकर प्रकट हो रहे हैं। मैं तो निरुपाधि हू, यह मैं कारण परमात्तत्त्व समस्त शुद्ध विकासके प्रकट करनेमें एक धातु स्वरूप हू। ऐसे इस शुद्ध परमात्मतत्त्वका जब सम्यक् श्रद्धान हो, यथार्थ परिज्ञान हो और ऐसा ही ज्ञाताद्रष्टारूप रहनेका पुरुषार्थ जगे तो यह रत्नत्रय सत्य आनन्दको प्रकट करने वाला है।

अज्ञानियोंके निन्दित वचनोंसे हितमार्गमें अभक्ति न करनेका संदेश—मिथ्यादृष्टि जीवको शिवस्वरूप शुद्ध

रत्नत्रयकी सुध नहीं है सो सहज स्वरूपकी दृष्टि न होनेसे यह जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयके कारण ईर्ष्याभावसे इस जैनमार्गकी निन्दा किया करता है। ओह ! इस मार्गमें कष्ट ही कष्ट है, क्यों वर्तमान सुखको छोड़कर तप करें, संयम करें, कष्ट सहें। अरे मौजसे जब चाहें खायें पियें। ये सब इसीलिए तो हुए हैं। ऐसी मनकी स्वच्छन्दता बनाकर जैन मार्गकी, संयम धर्मकी विषयासक्त जन निन्दा करते हैं। लेकिन हे भव्य पुरुषों ! उनके इन वचनोंको सुनकर तुम जैनमार्गमें अभक्ति मत करो। यह मार्ग पाप कार्योंका परिहार कराने वाला है।

जैनमार्गका मूल अनुशासन—जैनमार्गका मूल भाव यह है कि हे भव्य जीवो ! अपने स्वरूपको संभालो और समस्त पाप क्रियावोंका परिहार करो। देखो जो तुम्हारे स्वभावकी बात है वह तो धर्म है और स्वभावसे विरुद्ध जो भी क्रिया चलती है जिसमें शुद्ध चैतन्यका चमत्कार नहीं बसा है किन्तु तरंगें उठती हैं वे सब अधर्मभाव हैं। सर्वज्ञ वीतरागका मार्ग यह ज्ञानमार्ग है, निर्दोषमार्ग है। कषायोंका त्याग और शुद्ध ज्ञानप्रकाशका परिणमन इसही की शिक्षा यह जैनधर्म देता है। यह धर्म परमार्थसे तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप है, पर इसकी प्राप्तिके लिए जो ७ तत्त्वोंका श्रद्धान् किया जाता है जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन ७ तत्त्वोंका जो यथार्थस्वरूप श्रद्धामें लिया जाता है और इसका यथार्थ परिज्ञान करके जो हेयतत्त्व हैं उनका त्याग किया जाता है और जो उपादेय तत्त्व हैं उनको ग्रहण किया जाता है। यही व्यवहारधर्म है, ऐसे व्यवहारधर्म और निश्चयधर्मरूप जैनमार्गकी अबुद्धिजन जिन्हें विषय कषायोंमें ही अपना महत्त्व नजर आता है वे अपवाद करते हैं।

विशुद्ध मार्गकी भक्तिका अनुरोध—आत्मश्रद्धाहीन पुरुष स्वयं विकल हैं। उन्हें अपने स्वरूपका भान ही नहीं है। इसी कारण वे खोटे तर्क, खोटी दृष्टियां लगा लगा कर कुतर्क पैदा करते हैं। उनके वचनोंको सुनकर हे हितैषी जीवो ! तुम आत्महितके मार्गमें अभक्ति मत करो, जिनेश्वरकी दिव्यध्वनि की परम्परा से चले आये हुए इस शुद्ध रत्नत्रयके मार्गमें भक्ति ही बनाओ। इस लोकमें हमारा शरण साथी कोई नहीं है, केवल एक हमारा शुद्ध आत्मा ही शरण है। एक निर्णय बनावो अपने जीवनमें। पालन हम उस निर्णयका कितना कर पाते हैं ? जितना बने सो करें, पर निर्णयमें कभी भी भूल न करें। मेरा निर्मल परिणाम होगा तो मुझे कहीं क्लेश नहीं है, मेरा ही स्वयं मलिन परिणाम होगा तो चाहे कोई क्लेश देने का निमित्त भी न मिले तो भी मुझे अतःमें दुःख ही रहेगा। अपने आपको आनन्दमय बनानेके लिए सर्वप्रथम यह कर्तव्य है कि अपनी श्रद्धा व ज्ञान अटल बनायें।

संसार महावन—यह लोक देहोंके समूह रूप वृक्ष पंक्तियोंसे भयंकर है। जैसे वन भयानक वही होता है जिसमें अनेक वृक्ष खड़े हुए हैं, ऐसा ही हमारा यह संसार वन है। इस वनमें ये सब जो देह नजर आ रहे हैं ये वृक्ष-पंक्तियोंकी तरह बड़े भयंकर हैं। इस संसाररूपी वनमें, दुःख परम्परारूपी जंगली पशु रहा करते हैं। यहाँ दुःखोंका कुछ ठिकाना है क्या ? दुःख कल्पनासे ही तो होते हैं और कल्पना जब चाहे जैसी उठा लो। उसी कल्पनासे दुःख उत्पन्न होने लगेगा। बचपनमें ये कल्पनाएँ रहीं, हम बड़े नहीं हुए, हम हर बातको तरसते रहते हैं। ये किस ठाठसे कैसा अपने बड़प्पनमें रह रहे हैं। बड़ोंकी बात देख-देखकर यह मन ही मन कुढ़ता रहा। बड़े हुए तो बड़ेके दुःख बड़े ही जानें। कितनी गृहस्थीकी चिन्ता, कोई अनुकूल प्रतिकूल हुए तो उनका विषाद और जैसे जैसे घरमें फँसते जाते हैं, गृह के सदस्योंकी संख्या बढ़ती जाती है तो विपत्तियाँ बढ़ती जाती हैं। पहिले तो बच्चेको तरसते थे, हमारे बच्चे नहीं हैं और अब चार ६ बच्चे हो गये तो अब उनके न्यारे-न्यारे करनेके समयमें कितना क्लेश उठाना पड़ता है। बच्चोंकी मांग अटपटी रहती है, सारा वैभव मुझे मिल जाय ऐसा चाहते हैं। उनका कषाय, उनका वचनव्यवहार सुन सुनकर देख देख कर इसे बड़ा दुःखी रहना पड़ता है और भी इस

जीवनमें अनेक कष्ट समय समय पर होते रहते हैं। कोई कष्ट समाजकी ओरसे है, कोई कष्ट पञ्चोंकी ओरसे है, कोई कष्ट स्त्री-पुत्रकी ओरसे है, कोई कष्ट पड़ौसियोंकी ओरसे है। और मान लो सब कुछ सम्पन्नता हो तो यही सोचकर वह अपना कष्ट बढ़ा लेता है कि इस लोकमें सर्वत्र मेरा एकछत्र यश नहीं फैल रहा है। दुःख तो सर्वत्र भरे ही पडे हैं ना ? ऐसे इन दुःख परम्परारूपी जंगली पशुवोंका जहाँ निवास है—ऐसे देहरूप वृक्षसे भयकर यह वन है।

ढाकके तीन पात— इस ससार वनमें यह कालरूपी अग्नि सबका भक्षण कर रही है। होता ही क्या है यहाँ ? जन्मे, तरसे, मरे। तीन ही तो यहाँ काम हैं—जन्म लें, तृष्णा कर करके विषय कषाय करके दुःखी हों और मरण करें। फिर जन्म ले, फिर दुःखी हों, फिर मरण करें। इन तीन बातोंके सिवाय और यहाँ रक्खा क्या है ? इस ससारवनमें बुद्धिरूपी जल सूख रहा है। ज्ञान तो ठीक ठीक काम ही नहीं करता। अज्ञानके वश होकर विषय कषाय देहका आराम देहका सुखियापन इन सभी बातोंकी तृष्णामें अपने आपको दुःखी कर डाला है। इन जीवोंके सम्यक् श्रद्धान नहीं है, इनकी बुद्धि हुई है।

कल्याणार्थीकी मुख्य असुविधा— इस संसारवनमें कोई कल्याणकी, सत्यानन्दकी भी चाह करे, विषय कषायोंके दुःखसे ऊबकर कुछ यह भी भावना बनाए कि मैं सब दंदफंदोंको त्यागकर आत्माका कल्याण करूँ तो आत्मकल्याणके लिए यह जब उद्यम करता है तो नाना धर्म, नाना बातें, नाना मार्ग सामने आते हैं। कोई शास्त्र, कोई गुरु कुछ कहते हैं और कोई शास्त्र, कोई गुरु कुछ कहते हैं, यह परेशान हो जाता है। यहाँ कुनय मार्गोंका बड़ा फैलाव है। जैसे कोई भयानक जगलमें फंस गया हो और उस जगलसे निकलनेका मनमें भाव करता हो तो वहाँ छोटी-छोटी अनेक पगडंडियाँ हैं, वे कभी किसी पगडडीसे चलते हैं, कभी किसी पगडंडीसे चलते हैं, यों घूम-घूमकर जहाँका तहाँ ही रहा करता है। उसे उस भयानक जगलसे छुट्टी नहीं मिलती है। ऐसे ही इस ससाररूपी भयानक वनमें कुछ कल्याणकी यह चाह करे तो यहाँ कुनयकी पगडंडियाँ अनेक पड़ी हुई हैं। कोई कभी किसी मार्ग पर चलता है, थोड़ी देरमें उस पर विश्वास नहीं जमता सो दूसरे मार्ग पर चलता है। विश्वास कहीं नहीं जमता तो यों मार्गों को बदल-बदलकर अपना जीवन खो देता है।

अपना शरण— महान् दुर्गमतम इस संसाररूपी वनमें अन्य कौन शरण है ? सो बतावो। किस जीवकी शरण जाय ? कहीं भी जायें तो शरण नहीं मिलती है, बल्कि धोखा ही मिलता है। शान्ति नहीं मिल पाती है। किसकी शरण जाएँ कि आत्माको शान्ति मिले ? खूब सब पदार्थोंकी खोज तो कर लो। स्त्रीकी शरण जावो तो शान्ति मिलेगी क्या ? अरे, वहाँसे भी ऊब जावोगे, वह थोड़ी देरका रागभरा एक प्रवाह है, इसलिए उस ओर झुकाव होता है, किन्तु कुछ समय उस झुकावमें रहकर खुद ही अनुभव कर लोगे कि यहाँ शांति नहीं है, ऊब हो जायगी। कौनसा पद ऐसा है इस लोकमें कि जहाँ जायो तो अपना सच्चा शरण मिल जाए ? कहीं कुछ शरण नहीं है। एक मात्र रागद्वेषके जीतनहारे भगवानके द्वारा प्रणीत यह जैनदर्शन ही शरण है, जो दर्शन वस्तुकी स्वतंत्रताको दर्शाता है।

वस्तुस्वातन्त्र्यके निष्पक्ष दर्शनसे मोहियोंको अरुचि— प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप किलेको मजबूत बनाए हुए है। इसमें किसी भी परपदार्थके द्रव्यगुणपर्यायका त्रिकाल भी प्रवेश नहीं हो सकता है। स्वयं स्वरक्षित समस्त पदार्थ हैं। यह मैं आत्मा भी ज्ञानदर्शनस्वरूप अपने ही प्रदेशोंमें शाश्वत रहने वाला स्वय स्वरक्षित हूं। मेरी सत्ताका कौन विघटन कर देगा ? यह मैं ही अपने आपको अरक्षित मानकर परपदार्थोंसे मुझे सुख होता है, परपदार्थोंके सम्पर्कसे मेरेको ज्ञान बढ़ता है, ऐसी भ्रमबुद्धि करके मैं स्वय आकुलित होता हूं। परन्तु मैं आत्मा सदैव स्वरक्षित हू। ऐसे वस्तुस्वातन्त्र्यकी सुध करने वाला यह दर्शन परमसमाधिका सत्य उपाय बताने वाला यह दर्शन है। इस दर्शनकी मोहीजन कैसे प्रशंसा कर

सकेंगे ? पापियोंको पापियोंकी गोष्ठीमें ही रहना सुहाता है, धार्मिकोंको धार्मिकोंकी गोष्ठीमें ही रहना सुहाता है। यह जगत मोहियोंका जाल है। इस मोही जीवका शुद्ध मार्गमें प्रेम नहीं हो सकता।

अपनी और पुराण पुरुषोंकी सुध— भैया ! अपने आपकी सुध कराने वाला यह जैनदर्शन भले ही मोहियोंके द्वारा निन्दित हो रहा हो, लेकिन तुम यदि आनन्द चाहते हो, अपने आत्माका उत्थान चाहते हो तो उस निन्दाके वातावरणको देखकर इस जैनमार्गमें अशक्ति मत करो। इस मार्गका अनुसरण करने वाले जो अपने कुलपरम्पराके पुराण पुरुष हुए हैं उनकी भी सुध लो। इस तीर्थ परम्परामें वर्तमान अवसर्पिणीकालके तीर्थंकरोंमें सर्वप्रथम श्रीऋषभदेव हुए हैं, उनसे लेकर श्रीमहावीर पर्यन्त तीर्थंकर हुए हैं। इस परम्पराको देख लो और तीर्थंकरकालके अनेक सेठ, राजाओं, महाराजाओंको देख लो, जिन्होने इस जैनदर्शनका, तपश्चरणका आदर किया था, उसके प्रतापसे वे सदाके लिए निर्वाण पधारे। इन जैनेश्वरों का स्तवन करनेमें बड़ी सामर्थ्य है। यदि इनका अभ्युदय न होता तो आज हम इन आध्यात्मिक वचनों को कहाँ सुनते, कहाँ धारण कर सकते थे ?

शुद्ध मार्गके अनुसरणकी शिक्षा— जैसे जगतके अन्य मनुष्य निरन्तर विषय कषायोंमें उन्मत्त हो रहे हैं—ऐसी उन्मत्त अवस्था तो अपनी भी थी। उससे छूटकर आज जो इतने धर्मके वातावरणमें आए हैं, ज्ञान और वैराग्यके बलसे कभी-कभी शान्ति पानेके पानेके पात्र होते हैं, यह सब जिनेश्वरोंकी अपार अनुकम्पाका फल है। हम भक्तिपूर्वक प्रभुका वन्दन करते रहें और अपने आत्मामें नित्य-अन्तःप्रकाशमान इस शुद्ध चैतन्य ज्योतिका स्मरण करते रहें। इन छोटे विषय भोगोंमें संसारसमागममें न बँध जायें, अपने आपको संभाल लें तो इससे अपना कल्याण है। इस नियमसार ग्रन्थके अन्तिम प्रकरणमें इस गाथामें शिक्षा दी गई है भव्य जीवोंको कि तुम शुद्ध मार्गका निर्णय करो और उस पर दृढ़ताके साथ चलो, फिर किसीके डिगाए हुए भी मत डिगो। इस प्रकार जैनमार्गका अनुसरण करनेका शिक्षण इस गाथामें किया गया है।

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥१८७॥

ग्रन्थनिर्माणमें ग्रन्थकर्ताका आशय— नियमसार ग्रन्थकी यह अन्तिम गाथा है। इसमें कुन्दकुन्दाचार्य देवने ग्रन्थनिर्माणका अपना आशय बताया है। मैंने यह नियमसार नामका शास्त्र अपनी आत्मभावनाके लिए बनाया है और वह भी पूर्वापर दोषसे रहित है जैसा कि जैनेन्द्रका उपदेश है। इससे पहिले १८५ वीं गाथामें कुन्दकुन्दाचार्यदेवने अपनी नम्रता प्रकट करते हुए कहा था कि मैंने नियम और नियमके फलका वर्णन किया है, रत्न व रत्नके फलका वर्णन किया है। यदि इसमें पूर्वापर कोई विरोध हो तो सिद्धान्तवेत्ता साधुजन उसकी पूर्ति करें। यह उनका एक अपनी लघुता अपने मुखसे दर्शित करने वाला वाक्य है। पूर्वापर दोष न होने पर भी कितनी विनयशीलताका इसमें परिचय दिया गया है। अब इस श्लोकमें जो बताया है कि पूर्वापर दोषसे रहित है, वह अपनी महत्ता बतानेके लिए नहीं बताया है। यहाँ आचार्यदेव ने अपने लिए यह विशेषण नहीं कहा है कि मैंने पूर्वापरदोषसे रहित ग्रन्थ बनाया है, किन्तु जो परम्परासे आगत जिनेन्द्रका उपदेश है, वह पूर्वापरदोषसे रहित है।

नयवादके योग्य उपयोगसे रहित श्रोताओंकी दृष्टिमें पूर्वापरविरोधकी सम्भावना— पूर्व गाथासे हम आपको यह भाव लेना चाहिए कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्यके वचनोंमें पूर्वापर दोष नहीं है, किन्तु शब्द स्वयं अपना अर्थ तो बताते नहीं हैं। शब्द तो शब्द ही हैं। उनके अर्थके जाननहार हम आप सभी हैं। किसी शब्दका कुछ भी अर्थ लगाया जा सकता है अथवा जैनसिद्धान्तमें नयवादपूर्वक ही व्याख्या होती है। तो नयोंकी खींचातानी अथवा शब्दोंकी द्व्यर्थकता अथवा जाननहारकी अल्पबुद्धि आदि कारणोंसे ग्रन्थमें पूर्वापर

विरोध मालूम हो सकता है और इसी कारण विवाद हो जाता है। इस ही ग्रन्थमें समयसार और प्रवचनसार ग्रन्थमें भी जगह-जगह ऐसा देखनेको मिलेगा जैसे कि अब इस गाथामें यह कह रहे थे, अब इस गाथामें यह कहा गया है अथवा एक ही गाथामें पहिली पंक्तिमें यह बताया है, दूसरी पंक्तिमें यह बताया है। सुननेमें सीधा विरोधसा मालूम होता है, लेकिन विरोध रंच नहीं है। नयवादका ठीक ढंगसे प्रयोग करने पर, समझने पर सब विरोध मिट जाता है।

पूजाका ही एक प्रकरण ले लो। इस पर ही व्याख्यान दिया जाए, पूजाके गुण बताए जायें—ऐसा भी प्रकरण हो सकता है और ऐसा भी प्रकरण हो सकता है कि देखो यदि आत्मदर्शनकी बात बीच-बीचमें नहीं आती है। तो यह पूजा करना केवल परिश्रम है, ऐसा भी प्रकरण आ सकता है। अब इन दो बातोंमें से एक बातको लोग अपने-अपने लिए पुष्ट करेंगे। एकका विरोध करेंगे। तो इस प्रकार विरोध सम्भव है, यहाँ तो उनकी लघुतामें बतायी गयी बातका अर्थ लेना चाहिए।

योग्य कृतिसे कृतार्थताका अनुभव— कुन्दकुन्दाचार्यदेव करीब-करीब १०० अध्यात्मशास्त्रोंके कर्ता होंगे। ८४ पाहुड़ तो प्रसिद्ध ही हैं। ऐसे परम अध्यात्मशास्त्रोंके परिज्ञान और रचनामें कुशल कुन्दकुन्दाचार्यदेवने जो यह नियमसार नामका शास्त्र बनाया है, सो उसमें अन्तमें मानों एक बड़े संतोषके साथ यह अन्तिम गाथा बोल रहे हैं। कोई काम प्रारम्भ किया जाए और उस कार्यकी सफलता मिल जाए, अन्त तक उसे निभा ले। प्रारम्भ किए हुए सभी कामोंका यदि अन्त तक निभाव होता है तो अपने आपमें कृतार्थताका अनुभव होता है।

तीन प्रकारके व्यवहारी— जघन्य श्रेणीके पुरुष विघ्नोंके भयसे कामका प्रारम्भ नहीं करना चाहते। उनके ऐसा संदेह बना रहता है कि इनमे ऐसा विघ्न आए तो क्यों करना? विघ्नके भयसे कार्य प्रारम्भ न करो। मध्यम श्रेणीके जन कार्यका प्रारम्भ करते हैं, विघ्नोंका भय भी नहीं करते, किन्तु दृढ़ताके साथ अन्त तक नहीं निभा पाते और उत्कृष्टजन जिस कामकी उनकी धुन हो जाए, जो हितकारी हो, उसको अन्त तक निभाते हैं।

ग्रन्थरचनाका मूल लक्ष्य— कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इस नियमसारनामक श्रुतको प्रारम्भ किया और जो उनका वक्तव्य था, शुद्ध चैतन्यस्वभावकी दृढ़ दृष्टि करते हुए निश्चयाचारमें कुशल बनकर निर्वाण प्राप्त करना बताने जैसा उपदेश था, बताया और उससे सन्तुष्ट होकर अब अन्तिम गाथामें यह कह रहे हैं कि मैंने इस ग्रन्थको आत्मभावनाके लिए बनाया है। मर्मपूर्वक ज्ञान किसी कुशल गुरुके प्रसाद बिना नहीं प्राप्त होता है, सो यह भी प्रकट करते जा रहे है कि श्री परमगुरुके चरणकमलके गुरुके प्रसादसे तत्त्वको जानकर यह श्रुत भाषा है। देखिए भैया! श्रद्धामें यह है कि कलममें कलम है, स्याहीमें स्याही है, देहमें देहकी क्रिया है, आत्मामें आत्मभावकी परिणति है, पर निमित्तनैमित्तिक योगका फैलाव तो देखो, सभी वस्तुवोंमें काम उनमें अपनी-अपनी योग्यतासे चल रहा है। एक आत्महितकारी धर्ममार्ग पर चलनेकी जिसके भी धुन हुई हो, जो काम निर्दोष निश्छल है, उसी काममें जो प्रवीण पुरुष हो, वह वस्तुतत्त्वका जो ज्ञाता है, उस कल्याणपथ पर जो चलना चाह रहे हैं—ऐसे श्रीकुन्दकुन्ददेव कह रहे हैं कि परमगुरुवोंके प्रसादसे इस जिनोपदेश तत्त्वको जान करके यह नियमसार श्रुत किया गया है।

परमागमकी प्रामाणिकता—यह भगवानका उपदेश परमप्रामाणिक है, क्योंकि इसकी परम्परा एक निर्दोष वीतराग स्रोतसे निकली है। अरहत प्रभु सर्वज्ञ हैं और वीतराग हैं, जिनकी मूर्ति पंचकल्याणक समारोहसे प्रतिष्ठित करके हम आप उस मूर्तिके समक्ष अपना धार्मिक भाव बढ़ाते हैं। भला बतावो जिसकी मूर्ति बनाकर पूजें, उनके प्रति हमारी कितनी बड़ी आस्था कहलायेगी? जब प्रभुके प्रति भक्ति तीव्र जगती है तो प्रभुकी मूर्ति बनाकर हम अपनेको भक्ति करके कृतार्थ मानते हैं। भला जब लौकिक

कार्योंमें भी पिता दादा बाबा आदि जो घर-गृहस्थीके सुधारमें उपयोगी हुए हैं, उनके गुणोंके स्मरण से प्रेरित होकर फोटो, तैलचित्र बनाये बिना नहीं रहते। जो तीन लोकके गुरु हैं, तीन लोकके इन्द्रों द्वारा जो वदनीय हैं--ऐसे प्रभुकी भक्तिमें यह मूर्तिकी परम्परा अनादिसे चली आयी है। जिस प्रकार अबका बीता चतुर्थकाल था, उसमें धर्मपरम्परा चल रही थी--ऐसे चतुर्थकाल अनेक बार हो चुके हैं और यह धर्मपरम्परा भी अनादिसे है।

जैनदर्शनकी सर्वव्यापकता-- जैनधर्मका दूसरा नाम आप वस्तुधर्म कहें अथवा आत्मधर्म कहें तो वह भी युक्तिसंगत है। जैसे पदार्थ अनादि कालसे हैं, वैसे ही पदार्थोंका स्वभाव अर्थात् धर्म भी अनादि कालसे है। आत्मा अनादिकालसे है तो आत्माका स्वभाव अर्थात् धर्म भी अनादिकालसे है। उस धर्मकी दृष्टि करना, रुचि करना, धर्मरूप अपना परिणमन करना यही धर्म है और इसीको जिनेन्द्रदेवने प्रतिपादित किया है, इसी कारण इस उपदेशका नाम, इस शासनका नाम जैनधर्म हो गया है। जो वस्तुमें बात हो, उसको बताना, यह जैनशासनका प्रण है। इसी कारण जैनशासनमें पूर्वापर कहीं विरोध नहीं आता। हम अपनी कल्पनासे कोई नियम बनाएँ, कोई वस्तुकी चर्चा करें और उसमें उसके अनुसार बाहरमें व्यवस्थाएँ बनाएँ तो अनेक बार पूर्वपर विरोध आएगा।

जैनदर्शनका वस्तुगत तत्त्वके निरूपणका प्रण-- जैसे जनताकी निर्विघ्नताके लिए जो योग्य वृत्ति चलती है और चलना चाहिए, उसे देखकर जो कानून बनाया जाता है, वह कानून तो निर्विरोध सफल होता है और अपनी स्वच्छन्दतासे कानून बनाए जाएँ, जनता में ठीक बैठें या न बैठें, देशके अनुकूल न्याय हो अथवा न हो, ऐसा कानून बनाकर पालन कराया जाए तो वह मुश्किल हो जाता है। जो पदार्थमें धर्म, शील, स्वभाव हो, उसीको जैनधर्म बताता है; आत्मामें, परमात्मामें जो गुण और परिणमन है, उसको बताता है यह जैनशासन; तथा अपनी भलाईके लिए हमें किस गुण और परिणमनकी रुचि करनी चाहिए इसे बताता है जैनशासन, इस कारण इस जिनेन्द्र उपदेशमें पूर्व अथवा ऊपरमें कहीं भी दोष नहीं पाया जाता। बच्चोंको पढ़ाई जाने वाली बालबोध जैसी छोटी किताब और बड़े धुरन्धर विद्वानोंकी चर्चामें आने वाले बहुत बड़े शास्त्र उनमें भी कहीं परस्पर विरोध नहीं है। यह सब नयकी कुशलताका परिणाम है।

धर्मपरिज्ञानमें जैनी पद्धतिकी उपयोगिता— भैया ! कहीं भले ही कुछ ऐसा जंचे कि समयसार ग्रन्थमें तो यों लिखा है कि एक चैतन्यस्वभाव ही जीव है। त्रस और स्थावर, एकेन्द्रिय आदिक बादर सूक्ष्म आदिक ये सब जीव नहीं हैं। और बालबोधमें तो यों पढ़ा है कि जो चले-फिरे, उठे-बैठे वह जीव है, जो खाये-पिये वह जीव है और समयसारमें यह लिखा है कि यह जीव नहीं है, एक चैतन्यस्वभावी जीव है। तो यह विरोध हुआ ना ? विरोध नहीं है, नयवादका उचित प्रयोग करें। व्यवहारदृष्टिसे ये सब जीव हैं जो खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते बढ़ते हैं। निश्चयदृष्टिसे जीव वह है जो शाश्वत रहा करे, ये तो परिणमन मिट जाते हैं, ये परिणमन जीव नहीं हैं। बालकजन अथवा धर्मकी जानकारीमें प्रथम प्रवेश करने वाले जन इस ही पहिली पदवीमें हैं कि उन्हें व्यवहारदृष्टिके कथन द्वारा समझाया जाए। बादमें कुछ प्रवीणता होने पर परमार्थदृष्टिसे समझाया जाए। फिर वे व्यवहार परमार्थ दोनोंका अपने अपने स्थानमें उपयोगकी श्रद्धा कराकर दोनों पक्षोंको छोड़कर एक शुद्ध निर्विकल्प समाधिभावमें लगें, यह है जैनी पद्धतिकी उपयोगिता।

आप्तवचनकी निर्दोषता-- यह जिनेन्द्र-उपदेश भगवान आप्तके मुखसे निकला हुआ है अर्थात् प्रभुकी दिव्यध्वनिसे चला हुआ है। आप्तका हिन्दीमें अर्थ है पहुंचे हुए और संस्कृतमें अर्थ है आप्त। किसी मनुष्यकी प्रशंसा करनी हो तो साहब यह तो बहुत पहुंचे हुए पुरुष हैं अर्थात् बड़े ज्ञानी हैं और उपकारके

क्षेत्रमें भी यह साहब उलझनोंसे रहित सुलझे हुए दिमागके हैं, यह अर्थ पहुंचे हुए लोग समझते हैं। ये अरहंत भगवान तो सर्वोत्कृष्ट पहुंचे हुए हैं, वीतराग होनेसे इनके कोई दमन नहीं रही और सर्वज्ञ होनेसे कोई अयथार्थ वचनोंका संदेह नहीं, पूर्वापर दोष तो वहाँ हो जाता है जहाँ मोह रागद्वेष बर्त रहा हो जिससे कभी कुछ कह दें कभी कुछ कह दें। इस कारण जिनके ज्ञानकी निर्मलता न बनी हो उनके ही सम्भव है कि पूर्वापर दोष आ जाय। पर प्रभु वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं अतएव उनकी जो वाणी है, दिव्य-ध्वनि है और उसकी परम्परासे चला आया हुआ आगम आज भी जो हम पढ़ा करते हैं वह सब निर्दोष है।

जैनदर्शनमे विपरीतकथनका अप्रतिकाव—यद्यपि दुर्भाग्यसे अनेक पुरुषोंने इस निर्दोष शासनमें भी अपने मनसे मनगढंत बातें लिख दी हैं लेकिन जैसे असली रत्नमें नकली रत्न छुपते नहीं हैं, प्रकट हो जाते हैं ऐसे ही थोड़ा भी विवेक बनायें तो उसमें भी यह प्रकट हो जायेगा कि इस पुस्तकमें इतनी बात रागद्वेषवश लिखी है और यह बात शुद्ध है। कदाचित् यह शंका की जा सकती है कि न जान सकें हम इतना तो? न सही, मगर नकली चीज की परम्परा न चल सकेगी। कहीं पर अगर रागद्वेष बढ़ानेका कथन हो तो उसकी परम्परा नहीं चल सकती। जो वीतरागताको पुष्ट करने वाला कथन है, जो भगवान आप्त द्वारा कथित कथन है उसकी परम्परा चलती है। एक तो यह पहिचान है। दूसरी पहिचान यह है कि जो स्याद्वादकी मुद्रासे मुद्रित वचन हो, जिन वचनोंपर स्याद्वादकी छाप लगी तो वे प्रभुकी परम्पराके वचन हैं और जिनमें स्याद्वादकी छाप न हो वे अमान्य वचन हैं।

आत्मभावना—कुन्दकुन्ददेवने इस नियमसार शास्त्रमें क्या कहा है, उस सबका वर्णन अभी संक्षेपमें थोड़ासा किया जायेगा, जिससे एक बार उसका आलोडन करनेसे गत समस्त प्रतिपादन सामने आ जायें। यहां तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव अपने कार्यसिद्धि की प्रसन्नतामें संतोषकी श्वासके साथ यह बता रहे हैं कि मैंने यह ग्रन्थ आत्मभावनाके निमित्त किया है, जो बात कही जा रही हो उसके साथ अपने भाव चलते हैं, जो आत्माके आन्तरिक मर्मकी बात कही जायेगी उसमें अपना उपयोग बहुत विशुद्ध बनाए बिना यह काम न हो सकेगा। जैसे कि आत्माके आन्तरिक गुणोंकी बात जब हम सुनने बैठते हैं तो कितना विशुद्ध उपयोग बनाना पड़ता है, फिर जो प्रतिपादन करे उसे तो विशुद्ध उपयोग बनाना ही होता है। और उसमें यह भावना उस समय नियमसे रहती है कि मैं आत्माकी भावना चिरकाल तक बनाये रहूं। केवल आत्मकल्याणकी धुन और आत्मभावना वहा रहती है। नियमसार नामक शास्त्रका नाम लेकर शास्त्रका उपसंहार इस अंतिम गाथामें किया गया है। अब यह शास्त्र कैसा है और इस शास्त्र को किस विधिसे हमे समझना चाहिए और इस शास्त्रके परिज्ञानसे हम लाभ क्या पायेंगे, इन तीन बातों का वर्णन आगे आयेगा।

प्रायोजनिक तत्त्वके प्रतिपादनकी विशेषता—नियमसार ग्रन्थमें नियमका और नियमके फलका वर्णन किया है, आत्माका वास्तविक नियम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप परिणमन करना है। और इस नियमका फल है, बाधावोंसे रहित शाश्वत आनन्दमय निर्वाणको प्राप्त करना। ऐसे नियम और नियमफलका वर्णन करने वाला यह ग्रन्थ समस्त आगमोंके अर्थसमूहका प्रतिपादन करने में समर्थ है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ६ जातिके द्रव्योंका भी इसमें प्रसग पा पा कर वर्णन किया गया है। विशुद्ध मोक्षमार्गका अर्थात् नियमका इसमें विशेषतया प्रतिपादन है। जब तक यह जीव वस्तुकी स्वतन्त्रता न ज्ञात करले, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमात्र है इतना जब तक श्रद्धानमें न आये तब तक इसको कल्याणका मार्ग शुरू भी नहीं होता है। उसके लिए पच अस्तिकायोंका और काल सहित छहों द्रव्योंका ज्ञान होना चाहिए, उसका वर्णन इस ग्रन्थमें है।

आन्तरिक और व्यवहार आचारोंके वर्णनकी विशेषता—जीव ज्ञान, आनन्द आदिक अपने ही गुणोंमें तन्मय है। इस जीवका काम जीवसे बाहर कुछ करनेका नहीं है। कल्पनाएँ भले ही कोई करता जाय कि मैं अमुक काम करता हू, किन्तु यह आत्मा अपने गुणोंके परिणमनके सिवाय अन्य कुछ नहीं करता। यह बात दृष्टिमें आ जाय तो अभी अनेक दुःखोंके बोझ दूर हो जायेंगे। यह ही अपनी स्वच्छन्दता बनाकर स्वयं दुःखका बोझ बढ़ा रहा है। स्वयं कैसा है, इसका भान हो तो संकट इस पर नहीं मँडरा सकते। इस ग्रन्थमें इस शुद्ध आत्माकी उपलब्धिका कारण बताते हुए, उपाय कहते हुए ५ आचारोंका विशेष वर्णन है, जिसका पालन करके यह आत्मा शुद्ध सर्वज्ञ वीतराग बन जाता है। वे ५ आचार हैं—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। ये आचार आत्मामें हैं। लोकव्यवहारमें जिसे लोक सदाचार कहते हैं उसका सम्बन्ध मनुष्योंसे है, यद्यपि उन आचरणोंमें भी आत्मासे सम्बन्ध है, पर उस का प्रधान सम्बन्ध मनुष्य पर्यायसे है और इन आचरणोंका सम्बन्ध आत्मासे है।

मूलानुभवका प्रतिपादन व ज्ञानीकी निःशंकता व निर्वाञ्छता—६ द्रव्य, ७ तत्त्व, ६ पदार्थोंका सही परिज्ञान करके बाह्यकी उपेक्षा करके अपने आपको ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभव किया जाय तो इस परम विश्राममें जो शुद्ध निराकुलताका अनुभव होता है वह है आत्मानुभव। उस आत्मानुभवसे सम्यक्त्व प्रकट होता है। उस सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके उपायमें अथवा उस सम्यक्त्वकी स्थितिमें ८ अंगोंका पालन किया जाता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष निःशंक होता है, उसे कभी किसी बातका शोक नहीं होता है, वह तो जानता है कि मेरे स्वरूपमें दुःखोंका प्रवेश ही नहीं है, जहाँ यह दृष्टि बनी है कि मेरे धन आदि बढ़ें, संकट तो वहाँ ही अनुभवमें आते हैं। और जहां इतना विशुद्ध ज्ञान हुआ कि मैं तो स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप हू, स्वरक्षित हू, अब पर्यायकी जो बात बीतनी होगी बीत जायेगी, यदि ज्ञानबल बना हुआ है तो दुःखों का कहीं नाम नहीं है। सम्यग्दृष्टि पुरुष विषयोंके साधनोंका निदान नहीं बाँधता, धर्म करके विषयोंकी वाञ्छाएँ नहीं करता। उनका धर्मकार्य भी शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए होता है। यदि यह उद्देश्य नहीं है तो शान्तिका मार्ग न मिल सकेगा। मुझे तो समस्त कर्मबन्धोंसे छूटना है ऐसा हमारा उद्देश्य होना चाहिए। इतना होने पर भी हमारा उद्देश्य केवल यही है कि मैं आत्मा अकेला जिस स्वरूपमें हूं तैसा ही बनकर रहू, मेरा यही एक उद्देश्य है, श्रम कुछ हो, पर उद्देश्य एक ही है।

निर्विचिकित्सादि अङ्गोंकी भावना—सम्यग्दृष्टि पुरुष बाह्य पदार्थोंका जैसा स्वरूप है वैसा जानते हैं। वे तो परभावोंमें राग, द्वेष, क्षुधा, तृषा, वेदना आदिकमें भी ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं, वे उनमें आसक्त नहीं होते। ये दर्शनाचारके अंग कहे जा रहे हैं। ये कभी भी मिथ्यादृष्टियोंके कुछ चमत्कारोंको निरखकर उनकी ओर झुकते नहीं हैं इन्हें दृढ़ श्रद्धान है कि मेरे आत्माका आनन्द मुझमें ही है। मेरा सर्वस्व अपने में अपने आपके लिए है। सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्मके अपवादको नहीं सह सकते। धर्मका दोष जगत में जाहिर नहीं कर सकते। धर्ममें दोष नहीं होता, किन्तु कोई अज्ञानी किसी प्रकार चूक जाय और वह धर्म वेषमें चल रहा हो तो सम्यग्दृष्टि पुरुष उसके दोष दूर करेंगे, जहाँ तक हो सकेगा उसकी असमर्थतावो वे दूर करेंगे। धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि पुरुष दूसरे धर्मात्माओंको देखकर प्रेमसे हर्षविभोर हो जाते हैं। और उसपर कोई आपत्ति आए तो उसके वे सहायक बनते हैं, जिस प्रकार अपने आचरणसे धर्ममें प्रभावना हो सकती है प्रभावना करते हैं, ऐसे दर्शनाचारके ८ अंगोंका पालन करते हुए भी ये ज्ञानी पुरुष उन बाह्य प्रवृत्तियोंसे उपेक्षित रहते हैं और शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपनेको अनुभवनेमें ही प्रयत्नशील रहते हैं।

ज्ञानाचारादिकोंका प्रतिपादन—ऐसे ही ज्ञानके अनेक आचार हैं। ज्ञानकी बहुत-बहुत विधिया मिला करके भी ध्यान यह रहता है कि एक शुद्ध ज्ञानका ही अनुभवन करते रहें। चारित्रपालन करते हुए भी याने बाह्यमें अनेक चारित्र प्रवृत्तिया पालन कर रहे हैं, पर ध्यान इस ओर है कि मैं केवल

जाननहार ही रहूं। उपवास आदिक अनेक व्रत करके भी मुझे अपने चैतन्यस्वरूप में ही मग्न होकर तपना है, इस परमार्थ तत्त्वको भूलते नहीं हैं और जो भी वर्तमानमें सामर्थ्य मिली है इसका उपयोग अपने आत्माकी उन्नतिमें ही करते हैं। ऐसे ५ आचारोंका इस ग्रन्थमें वर्णन किया है।

तत्त्वनिर्णय—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये ७ तत्त्व तो मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत हैं। मैं जीव हू, मेरे साथ जो उपाधिकर्म लगे हैं वे अजीव हैं। मैं जब बिगड़ता हूं, विकार करता हूं तो ये कर्मबन्धन आते हैं और कर्म बँधते हैं। जब मैं अपने आपको संभालता हू, भेदविज्ञान करता हूं, अपने निकट पहुचता हू, तो कर्म आने रुक जाते हैं, कर्मप्रकृतियां सब झड़ जाती हैं, ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुष अति निकट कालमें ही समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं। ऐसे ७ तत्त्वोंका और उसमें भी परमार्थ पद्धतिसे अपने आपमें इन ७ तत्त्वोंका उन्हें यथार्थ निर्णय रहता है।

पञ्च भावोंका वर्णन—भैया! यहाँ इस जीवका क्या है? धन तो इसका है नहीं, वह तो प्रकट भिन्न है। देह है क्या इस जीवका? अरे यह देह भी इस जीवका नहीं है। फिर इस जीवका तत्त्व क्या है, इसका वर्णन ५ भावोंमें बताया गया है। कर्मोंके उदयसे जो जीवमें भाव उत्पन्न होते हैं वे औदयिक भाव हैं, वे मेरे परमार्थभूत नहीं हैं, रागद्वेष मोह आदिक भाव ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। ये तो मेरी बरबादीके लिए होते हैं। जैसे पलासके पेड़में लाख लग जाय तो वह लाख यद्यपि बाहरसे आयी हुई चीज नहीं है, पेड़में से ही निकली हुई चीज है, किन्तु वह लाख उस पेड़को बरबाद करके रहती है, ऐसे ही ये रागद्वेष मोह कहीं पुद्गलकी चीज नहीं हैं ये मेरे ही प्रदेशोंमें से निकल कर आये हैं उपाधि पाकर, किन्तु ये मुझे बरबाद करनेके लिए आये हैं आनन्द देनेके लिए नहीं। ये औदयिक भाव मेरे परमार्थ स्वरूप नहीं हैं। औदयिक भाव थोड़े समयको उत्पन्न होते हैं, फिर क्षयको प्राप्त होते हैं। ये औदयिक भाव भी मेरे स्वरूप नहीं हैं। कर्मोंके उपशमसे जो निर्मलता प्रकट होती है वह अध्रुव होने से मेरा स्वरूप नहीं है। कर्मोंके क्षयसे जो निर्मलता प्रकट होती है वह निर्मलता यद्यपि मेरी ही है लेकिन क्षयसे प्रकट होती है इस नाते से मेरी नहीं है। कर्मोंके कुछ दबाने से कुछ विनाशसे, कुछ उदय आनेसे जो एक गंदला परिणाम होता है ऐसी भी वृत्ति मेरी नहीं है। मैं तो साफ स्वच्छ परमपारिणामिक भाव स्वरूप हू। यों ५ भावोंका इस ग्रन्थमें वर्णन किया है।

प्रतिक्रमणादिकोंका वर्णन—ससारमें रहते हुए हम आप सबके अनादिसे दोष लगे आ रहे हैं, उन दोषोंको दूर करनेका उपाय निश्चयसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित, आलोचना, नियम उत्सर्ग ये अन्त कार्य हैं। मैं केवल ज्ञानानन्द स्वरूप हू, मेरे स्वभावमें दोष नहीं है। या शुद्ध दृष्टि करके अपने निर्दोष सहज स्वरूपका अवलोकन करना सो प्रतिक्रमण है। यों अपने ज्ञानस्वरूपको निरखकर यह साहस करो कि मेरेमें दोष आनेका अवसर ही न रहे। मैं निर्दोष रहू। मैं अपना निर्दोष उपयोग रक्खूँगा और वर्तमानमें इस अपने सहजस्वरूप की भावनासे अपने आपको प्रसन्न रखने का यत्न करूँगा। ये सब उपाय हैं अपने आत्माको समर्थ बनानेके लिए।

तात्पर्य—परमार्थभूत जो पदार्थ हैं उनका यथार्थ निरूपण करने वाले इस भागवत उपदेशके दो तात्पर्य देखने हैं—एक सूत्रतात्पर्य दूसरा शास्त्रतात्पर्य। सूत्रतात्पर्य तो जब जो गाथासूत्र कहा गया है उस ही समय वहीं बता दिया गया है। शास्त्रतात्पर्य यह है कि इस शास्त्रोपदेशको जो स्याद्वादसे जाने उसको शाश्वत शुद्ध जो निर्वाण है उस निर्वाणकी प्राप्ति होगी। ये शास्त्र भगवान जिनेन्द्रदेवकी परम्परा से चले आये हैं, इनका नाम है भागवत शास्त्र। भगवान जिनेन्द्रदेवकी परम्परासे जो चला आया है उसका नाम भागवत है। जैसे जो जिनके द्वारा कहा गया है वह जैन है ऐसे ही जो भगवानकी परम्परा से आगत है उसे भागवत कहते हैं। जो मुक्तिके परमआनन्दको करने वाले हैं और जो निरञ्जन निज

कारण परमात्मा है उसके भावनेका उपाय दिखाने वाला यह नियमसार ग्रन्थ है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने ८४ पाहुड़ रचे हैं और उनमें भी आज प्रसिद्ध मुख्य ग्रन्थ हैं समयसार प्रवचनसार, नियमसार पचास्तिकाय आदि इनमें जो निजकारण परमात्मा है उसकी उपासनाकी बात कही गई है, भैया ! जगत्‌में कोई परपदार्थ ऐसा नहीं है जिसकी शरणमें हम पहुंचें और हमें शान्ति रहे। खूब अनुभवसे सोच लो। स्त्री पुत्र वैभव कुटुम्ब कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है कि जिसकी शरण गहें तो शान्ति मिले। परसम्पर्कसे एक न एक उपद्रव इस आत्मामें लगते रहते हैं एक परमात्मतत्त्वका आश्रय ही शरण है।

परमात्मतत्त्वका परमार्थ शरण—इस ग्रन्थमें समस्त नयवादोंका उचित उपयोग किया गया है। इस से इसके अनुशासनमें कहीं भी धोखाका सन्देह नहीं है। इसका जो अध्ययन करता है उसके ज्ञानभावना जगती है, समता परिणाम उत्पन्न होता है, रागद्वेष मोह हटते हैं और वह निर्वाणका पात्र होता है। समस्त धार्मिक प्रसंगोंमें रागद्वेष मोहको दूर करने का प्रयत्न करो। किसी प्रकारका राग अथवा द्वेष रख कर अपने को पापबंधमें मत बांधो। समस्त अध्यात्मशास्त्रोंके हृदयको जानने वाला, वीतराग सुखकी अभिलाषा रखने वाला जो पद है उस पदमें निर्ग्रन्थ होकर इस ज्ञानमय आत्मस्वरूपकी भावना रखलेंगे तो नियमसे निर्वाण प्राप्त होगा। जब यहां भी हम आप कुछ कार्य किया करते हैं तो करनेका वहा फल मिलता है ना, यदि हम परमार्थभूत आत्मस्वरूपकी भावनाका कार्य निरन्तर बनाये रहें तो निर्वाण न प्राप्त हो, यह कैसे हो सकता है ? अपना लक्ष्य केवल एक ही रखना है। मुझे मुक्ति प्राप्त करना है। जैसे स्वतंत्रताके आन्दोलनमें एक उनका नारा था—चलो आगे बढे चलो, दिल्ली चलो, ऐसे ही नारा लगावो मुक्तिके लिए चलो, मुक्तिके लिये चलो। व्यवहारमें पचासों बातें आयेंगी। रागद्वेषकी जहाँ कुछ घटनाएँ आयें, उनमें उपयोग न दो और एक अपने निर्वाण मार्गकी प्राप्तिकी धुन बनावो। जो पुरुष इस प्रकार निरावरण निज परमात्मतत्त्वकी श्रद्धा रखता है, ज्ञान करता है, आचरण करता है, जो अपने हिततरूप में स्थिर रहता है वह अवश्य निर्वाणका फल पायेगा।

शब्दब्रह्म—ब्रह्मको भैया ! तीन पद्धतियोंमें देखो—ज्ञानब्रह्म, अर्थब्रह्म व शब्दब्रह्म। ज्ञानब्रह्म, ज्ञानस्वरूप अथवा ब्रह्मके सम्बन्धमें जो हमने ज्ञान किया है वह समस्त अनुभवन ज्ञानब्रह्म है और जो त्रिकाल निरुपाधि निरञ्जन ज्ञायकस्वरूप है वह अर्थब्रह्म है। इस अर्थब्रह्मके परिचयके लिये जो शब्द रचे गये हैं वह है शब्दब्रह्म। बड़े सुन्दर शब्दोंमें यह शास्त्र बनाया गया है जो अपने आत्माका विशुद्ध कल्याण चाहते हों तो साहस धारणकर इसका मर्म जानेंगे उनको, अवश्य निर्वाण प्राप्त होगा।

लघुताप्रदर्शन—इस शास्त्रमें यदि कोई पूर्वापर दोष हुआ हो तो आचार्यजन, सिद्धान्तवेत्ता जिन उसे शुद्ध करें, ऐसा कहते हुए आचार्यका मार्दव धर्म व्यक्त हो रहा है। यहां तो चाहे अपने ही ज्ञानमें आ जाय मैंने जो कुछ चर्चाकी है वह गलत की है, परन्तु मोहमत्त जन इसे गलत स्वीकार नहीं कर सकते हैं और यहाँ ऐसे धुरन्धर विद्वान् आचार्यकुन्दकुन्दाचार्यदेव अन्तमें अपनी लघुता ही प्रकट कर रहे हैं।

अन्तिम शिक्षण—ग्रन्थकी समाप्तिके प्रसंगमें एक यह भावना भावो कि जो समस्त कर्मकलंकोंसे मुक्त है, शुद्ध भगवंत है वह मेरे हृदयकमलमें सदा विराजा रहे और मेरा जो शुद्ध आत्मस्वरूप है, ज्ञानानन्दस्वभाव है, यद्यपि इस मुझमें परद्रव्योंके सम्बन्धके कारण कलंक आया है तो भी उस कलंकसे रहित है, उसको और अपने आपके ही अस्तित्वके कारण जो मुझमें स्वरसतः है ज्ञान और आनन्द भाव है उसको अपने अनुभवमें लेते रहो। मैं अमुक नामका हूं, अमुक परिवारका हूं, अमुक गाँवका हूं, अमुक जातिका हूं, इस प्रकारसे अपने आपको अनुभवमें न ले। इस प्रकारसे अपनेको अनुभव करनेमें क्लेश ही आयेगा। अपना ध्येय शरीरसे रहित होनेकी स्थिति पाने का रखें और इस स्थितिके पानेके उद्यममें शरीररहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको भावना करें। यह पुरुषार्थ सब नियमोंका मूल नियामक है।

कारणसमयसारका जयवाद—हे कारणसमयसार ! तुम प्रति व्यक्ति सदा जयवत प्रवर्तो। तुम्हारे आश्रयसे यह कार्यपरमात्मतत्त्व प्रकट होता है, जहाँ अनन्त ज्ञान दर्शन आनन्द व वीर्यका विकास है। हे आनन्दघन ! तुम्हारा स्वच्छ यशःप्रसार निर्बाध प्रवर्तो। तुम्हारी दृष्टिके प्रतापसे एक भी संकट स्थान नहीं पाता। हे ज्ञानस्वरूप शुद्ध अन्तस्तत्त्व ! तुम उपयोगमें सदा विराजो। तुम्हारे उपयोगके प्रसादसे यह आत्मलोक अलौकिक प्रकाश पाकर सहज आनन्दसे सुरभित हो जाता है। हे सच्चिदानन्दस्वरूप कारणपरमब्रह्म ! तेरी भक्तिकी धुनमें ऐसा आन्तरिक साहस जगे जिससे समस्त परद्रव्योंका विकल्प छोड़कर निर्विकल्प होकर तेरी अभिन्न उपासना कर लूँ। हे प्रवचनके वक्तव्यके सारभूत, आत्मनियमन के सार आश्रयभूत समयसार परमब्रह्म ! तुम अन्तर्दृष्टिमें सदा समक्ष रहो। ॐ शान्तिः।

❀ नियमसार प्रवचन ग्यारहवां भाग समाप्त ❀
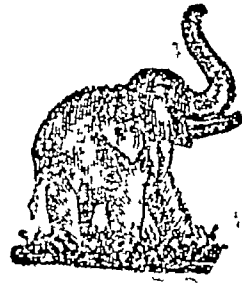
ध्यानमयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

❁ शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ❁

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्रापुर्लभन्त अचल सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमन्त्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतन्त्रम् ।
यत्र प्रयाति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूर, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
सद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्ध चिदस्मिसहज परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रभवतिप्रभुमोक्षमार्गः, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्प यः ।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥

•••○◉○•••